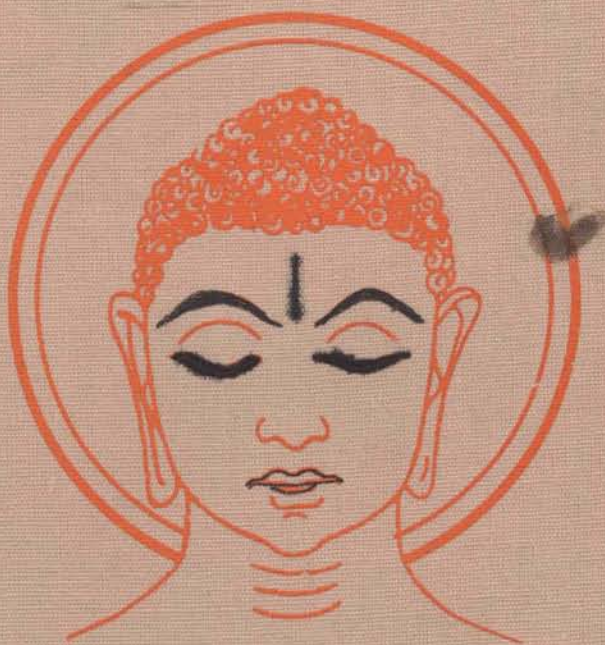


आचार्य भद्रबाहु कृत

आवश्यक निर्युक्ति

(खण्ड - १)



सम्पादिका :
डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

आवश्यक निर्युक्ति

(खण्ड-१)

संपादिका

डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ-३४१३०६ (राज०)

प्रकाशक : जैन विश्व भारती संस्थान
लाडनू—३४१३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनू

सौजन्य : राष्ट्रीय अभिलेखागार, भारत सरकार, नई दिल्ली
के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : विक्रम संवत् २०५८
सन् २००१

पृष्ठांक सं : ६००

मूल्य : ४००.०० रु.

मुद्रक : कला भारती,
नवीन शाहदरा, दिल्ली—३२

Āvaśyaka Niryukti

(Vol. I)

Editor

Dr. Samaṇī Kusumprajñā

Jain Vishva Bharati Institute
Ladnun-341306 (Raj.)

Publisher : **Jain Vishva Bharati Institute**
Ladnun-341306 (Raj.)

© Jain Vishva Bharati, Ladnun

First Edition: **Vikram Samvat 2058**
Year-2001

Pages : **600**

Price : **400.00**

Printed by : **Kala Bharti,**
Naveen Shahdara, Delhi-32

अंतस्तोष

अंतस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का, जो अपने हाथों से उम्र और सिंचित द्रुमनिकुंज को पल्लवित-पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का, जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का, जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन आगमों का शोधपूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगें। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्मपरिवार इस कार्य में संलग्न हो गया अतः मेरे इस अंतस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूं, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं।

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूं और कामना करता हूं कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

**गणाधिपति तुलसी
आचार्य महाप्रज्ञ**

आशीर्वचन

आगम के व्याख्या-साहित्य में निर्युक्ति का स्थान सर्वोपरि है। निर्युक्तियों की रचना-शैली अद्भुत है। थोड़े में बहुत कहा गया है। उसके आधार पर विशालकाय टीकाओं का निर्माण हुआ है।

समणी कुसुमप्रज्ञा ने आवश्यक निर्युक्ति के पाठ का व्याख्या ग्रंथों और प्राचीन प्रतियों के आधार पर निर्धारण किया है। यह दुष्कर कार्य है फिर भी उन्होंने निष्ठा से इस कार्य का संपादन किया है। इस कार्य में निष्ठा के साथ उनका श्रम भी बोल रहा है। भविष्य में अन्य निर्युक्तियों के संपादन में भी वह अपनी शक्ति का नियोजन करती रहे।

बीदासर

१२.०९.२००१

आचार्य महाप्रज्ञ

प्रकाशकीय

भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक तपस्या से लब्ध कैवल्य, ऋषित्व, मुनित्व, बुद्धत्व को प्राप्त महात्माओं की अतीन्द्रिय प्रज्ञा से निःसृत ज्ञान-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा व आचार-मीमांसा के आधार पर अपने उद्भव काल से आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। उन ऋषि मुनियों की वाणी को संस्कृत, पालि, प्राकृत वाङ्मय में लिपिबद्ध किया गया। पालि व प्राकृत वाङ्मय में बौद्ध एवं जैन परम्परा का साहित्य मिलता है तथा संस्कृत में वैदिक परम्परा का। वैदिक वाङ्मय में निरुक्त का जो स्थान है, आगमों में वही स्थान निर्युक्ति का है। आगमों के गूढ़ अर्थ को परवर्ती आचार्यों ने कालक्रम के आधार को ध्यान में रखते हुए व्यक्त करने का प्रयत्न किया। उन्होंने क्रमशः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, अवचूर्णि आदि व्याख्या ग्रंथों का निर्माण किया। आगम ग्रंथों की भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत है और निर्युक्तियों की भाषा भी प्राकृत ही है किन्तु इनकी भाषा में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव भी दिखलाई पड़ता है। मुख्यतः दस आगम-ग्रंथों पर निर्युक्तियाँ लिखी गई हैं—१. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५. सूत्रकृतांग, ६. दशाश्रुतस्कंध, ७. बृहत्कल्प, ८. व्यवहार, ९. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०. ऋषिभाषित। निर्युक्ति के रचनाकार के रूप में भद्रबाहु स्वामी का नाम उल्लिखित है किन्तु इस बात का समाधान अभी तक भी गवेषणा का विषय बना हुआ है कि निर्युक्ति के रचनाकार प्रथम भद्रबाहु स्वामी हैं या द्वितीय।

दस निर्युक्तियों में प्रथम है आवश्यक निर्युक्ति। इसके मुख्य रूप से छह अध्ययन हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इसलिए आवश्यक को षडावश्यक भी कहते हैं। आवश्यक आत्म-शुद्धीकरण के अनिवार्य अंग हैं इसलिए इनका विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये अणुव्रती और महाव्रती दोनों के द्वारा अवश्य आचरणीय हैं इसलिए इनका नाम आवश्यक पड़ा।

आवश्यक सूत्र पर लिखी प्रथम व्याख्या आवश्यक निर्युक्ति है। वस्तुतः इस ग्रंथ का सम्पादन एक जटिल कार्य था। कारण यह है कि एक ही गाथा को किसी व्याख्याकार ने निर्युक्ति गाथा के रूप में अंगीकार किया है तो किसी ने भाष्य गाथा के रूप में। किसी व्याख्याकार ने प्रक्षिप्त या अन्यकर्तृकी माना है तो अन्य व्याख्याकार ने गाथा का संकेत ही नहीं किया। समस्त विसंगतियों को दृष्टिगत रखते हुए ग्रंथ के सम्पादन में केवल शब्दों के पाठान्तर पर ही ध्यान नहीं दिया गया अपितु गाथाओं के पूर्वापर पर भी ध्यान दिया गया है। गाथाओं पर समीक्षात्मक पादटिप्पणी भी की गयी है अतः यह कार्य एक ऐतिहासिक अनुशीलन के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

ग्रंथ के पांच परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट में गाथाओं का समीकरण प्रस्तुत किया गया है। संपादित एवं व्याख्या ग्रंथों की निर्युक्ति गाथाओं में शताधिक गाथाओं का अंतर है। उक्त परिशिष्ट में सभी व्याख्या ग्रंथों के क्रमांक दे दिए हैं। दूसरा परिशिष्ट गाथाओं के पदानुक्रम से संबंधित है। तीसरे परिशिष्ट में आवश्यक निर्युक्ति में निर्दिष्ट कथाओं का व्याख्या ग्रंथों के आधार पर अनुवाद किया गया है। चौथे परिशिष्ट में अन्य ग्रंथों के तुलनात्मक संदर्भ प्रस्तुत किए हैं तथा पांचवां परिशिष्ट प्रयुक्त ग्रंथ सूची का निर्देश करने वाला है।

आगम अनुसंधान के प्रति सतत समर्पित समणी श्री कुसुमप्रज्ञा जैन विद्या, आगम-साहित्य एवं

प्राकृत भाषा की विदुषी समणी हैं। उन्होंने अपने समस्त वैदुष्य को आवश्यक सूत्र पर लिखी प्रथम व्याख्या आवश्यक निर्युक्ति के संपादन में फलीभूत किया है। आगम एवं उससे संबंधित व्याख्या साहित्य का संपादन कार्य कठिन एवं श्रम-साध्य तो है ही, साथ ही इसमें संबंधित विषय की भाषा-शैली और विषय-वस्तु का गहन ज्ञान भी आवश्यक है। विभिन्न हस्तलिखित आदर्शों में जो पाठान्तर प्राप्त होते हैं, उनकी प्रासंगिकता और उनके पौर्वापर्य का विमर्श कर मूल पाठ का निर्धारण संपादक की सूक्ष्म मनीषा का परिचायक है। समणी श्री कुसुमप्रज्ञा ने गूढ, नीरस, दुरुह शोधकार्य के दायित्व को अपनी बौद्धिक विनयशीलता, निष्ठाशील अध्यवसायी चेतना, ज्ञानगम्भीरता एवं समरसता के लय से जिस तरह निर्विघ्न संपादित किया है, अनुसंधान और अनुशीलन के क्षेत्र में यह भावी पीढ़ी के लिए नए पदचिह्न बनेगा। एक ही शब्द का अनुवाद प्रसंगानुसार परिवर्तित भी होता है अतः आगमों का अनुवाद भी अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। अनुवाद कार्य में मुनि श्री दुलहराजजी का श्रम एवं सहयोग उल्लेखनीय एवं प्रशंसनीय रहा है।

ग्रंथ विद्वानों के मध्य पहुंचकर चिंतन-मनन का केन्द्र बिन्दु बने, इससे समणी कुसुमप्रज्ञा के प्रयत्न की सार्थकता बढ़ेगी। ऐसा प्रयास ही वस्तुतः एक सर्वस्वीकार्य और साधु प्रयत्न होता है, जिसके अन्तर्गत विचार-विनिमय का मार्ग खुलता है तथा आचार-विचार, भाषा तथा भावों की सूक्ष्मताओं को समझने और समझाने का अवकाश मिलता है। वस्तुतः यह विद्वानों के चिन्तन को आकर्षित करने का साधु प्रयास है। ऐसे गुरुतर कार्य को करने के लिए समणीजी बधाई व साधुवाद की पात्र हैं। हम आशा करते हैं कि आप इसी प्रकार आगम-परम्परा के व्याख्या साहित्य पर काम करके जैन विद्या की सूक्ष्मताओं से सामान्य तथा विद्वज्जन समुदाय को परिचित कराती रहेंगी।

अंत में मैं आचार्यप्रवर महाप्रज्ञजी को पूर्ण श्रेयोभागी मानकर यह कहना चाहता हूं कि वे स्वयं महाप्रज्ञा के धनी हैं और अपने संघ को भी गुरुतर कार्यों में नियोजित कर उसमें प्रज्ञा का अवतरण करना चाहते हैं। वे अपने इस प्रयास में अत्यंत सफल हुए हैं और हो रहे हैं। शुभं भवतु।

लाडनूँ

१६ जुलाई, २००१

प्रो. भोपालचन्द लोढा

कुलपति, जैन विश्वभारती संस्थान,

(मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूँ-३४१३०६

ग्रंथानुक्रम

१. प्रकाशकीय	
२. संकेत-निर्देशिका	१३
३. भूमिका	१५
• आगमों का वर्गीकरण	१५
• आगमों का कर्तृत्व एवं रचनाकाल	१५
• सूत्र प्रवर्तन का क्रम	१६
• आगमों की वाचनाएं	१७
• आवश्यक सूत्र	१७
• आवश्यक के एकार्थक	१८
• आवश्यक का रचनाकाल	१९
• आवश्यक के कर्ता	२०
• आवश्यकों का क्रम एवं वैशिष्ट्य	२१
• आवश्यकों का प्रयोजन	२१
• आवश्यक में पाठ-भेद एवं विधि-भेद	२२
• सामायिक आवश्यक	२३
• सामायिक के प्रकार	२४
• सामायिक का निर्गम (उद्भव)	२४
• सामायिक की निरुक्ति	२४
• सामायिक के अधिकारी	२५
• सामायिक और क्षेत्र	२६
• निर्युक्ति : एक परिचय	२७
• निर्युक्ति का प्रयोजन	२७
• निर्युक्ति के भेद	२८
• सामायिक निर्युक्ति	३३
• सामायिक निर्युक्ति की गाथा-संख्या : एक अनुचिन्तन	३६
• कुछ गाथाओं पर पुनः विमर्श	४२
• व्याख्या ग्रंथ	४२
• भाष्य	४३
• विशेषावश्यक भाष्य	४४
• स्वोपज्ञ टीका	४४

• कोट्याचार्य कृत टीका	४५
• मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका	४५
• जिनदास कृत चूर्णि	४६
• टीकाएं	४६
• हारिभद्रिया टीका	४७
• मलयगिरीया टीका	४७
• आवश्यक निर्युक्ति दीपिका	४८
• आवश्यक टिप्पणकम्	४८
• आवश्यक निर्युक्ति अवचूर्णि	४९
• पाठभेद के कारण	४९
• पाठ-संपादन की प्रक्रिया	५१
• संपादन के कुछ विमर्शनीय बिंदु	५४
• संपादन में प्रयुक्त प्रतियों का परिचय	५६
• आवश्यक निर्युक्ति के संपादन का इतिहास	५७
• कृतज्ञता-ज्ञापन	
४. गाथाओं का विषयानुक्रम	२
५. आवश्यक निर्युक्ति : मूलपाठ	२३
६. आवश्यक निर्युक्ति : अनुवाद	१५९
७. परिशिष्ट	
• गाथाओं का समीकरण	२६९
• गाथाओं का पदानुक्रम	३०८
• कथाएं	३२५
• तुलनात्मक संदर्भ	५१९
• प्रयुक्त ग्रंथसूची	५२४

संकेत-निर्देशिका

अनुद्धा	अनुयोगद्वार
अनुद्धाचू.	अनुयोगद्वार चूर्णि
अपा	अप्रति पाठांतर
आचू.	आचारांग चूर्णि
आटी	आचारांग टीका
आनि	आचारांग निर्युक्ति
आवचू.	आवश्यक चूर्णि
आवटि	आवश्यकटिप्पणकम्
आवनि	आवश्यकनिर्युक्ति
आवनिदी	आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका
आवभा	आवश्यक भाष्य
आवमटी	आवश्यक मलयगिरि टीका
आवहाटी	आवश्यक हारिभद्रीय टीका
उ	उत्तराध्ययन
उगा	उद्धृत गाथा
उनि	उत्तराध्ययन निर्युक्ति
उशांटी	उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका
ओनि	ओघनिर्युक्ति
औ.	औपपातिक
कुव.	कुवलयमाला
को.	कोट्याचार्य कृत टीका वाला विशेषावश्यक भाष्य
कोटी.	कोट्याचार्य कृत टीका (विशेषावश्यक भाष्य)
गा.	गाथा
गो. जी.	गोम्मटसार जीवकाण्ड
चंप्र	चंदावेज्जय प्रकीर्णक
चू.	चूर्णि
जंबू	जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति
जीभा.	जीतकल्पभाष्य

जैन	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास
ज्ञा.	ज्ञाताधर्मकथा
तु.	तुलना
दश.	दशवैकालिक
दशअचू.	दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
दशजिचू.	दशवैकालिक जिनदास चूर्णि
दशनि	दशवैकालिक निर्युक्ति
दशहाटी	दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका
दश्रुनि	दशश्रुतस्कंध निर्युक्ति
दी/दीपिका	आवश्यक निर्युक्ति दीपिका
दीपा.	आवश्यक निर्युक्ति दीपिका के पाठान्तर
देप्र.	देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक
द्र.	द्रष्टव्य
नंदीचू.	नंदीचूर्णि
नंदीमवृ	नंदी मलयगिरि टीका
निगा	निर्युक्ति गाथा
निचू	निशीथ चूर्णि
निभा	निशीथ भाष्य
पंकचू.	पंचकल्प चूर्णि
पंचभा.	पंचकल्प भाष्य
प	पण्णवणा
पिंनिटी	पिंडनिर्युक्ति टीका
पु.	पुस्तक
बपा	बप्रति पाठान्तर
बृभा	बृहत्कल्पभाष्य
बृभापी	बृहत्कल्पभाष्य पीठिका
भ.	भगवती
भआटी.	भगवती आराधना टीका
भा.	भाष्य

भागा	भाष्य गाथा
म/मटी	मलयगिरि टीका (आवश्यक)
मटीपा	मलयगिरि टीका के पाठान्तर
मप्र.	मरणविभक्ति प्रकीर्णक
महे.	मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका (विशेषावश्यक भाष्य)
महेटी.	मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका (विशेषावश्यक भाष्य)
मूभा.	मूलभाष्य
मूला.	मूलाचार
राजटी.	राजप्रश्नीय टीका
विभा	विशेषावश्यक भाष्य
विभाकोटी	विशेषावश्यक भाष्य कोट्याचार्यकृत टीका
विभामहे	मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका वाला विशेषावश्यक भाष्य
विभामहेटी	विशेषावश्यक भाष्य की मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका
वीरनि.	वीरनिर्वाण

व्यभा.	व्यवहार भाष्य
षट्	षट्खंडागम
सपा	सप्रति पाठान्तर
सम	समवायांग
समप्र.	समवायांग प्रकीर्णक
सू.	सूत्रकृतांग सूत्र
सूटी	सूत्रकृतांग टीका
सूनि	सूत्रकृतांग निर्युक्ति
स्था.	स्थानांग
स्थाटी.	स्थानांग टीका
स्वो	स्वोपज्ञ (विशेषावश्यक भाष्य)
स्वोटि.	स्वोपज्ञ टीका वाले भाष्य के टिप्पण
स्वोभा.	स्वोपज्ञ भाष्य
हा	हारिभद्रीय टीका (आवश्यक)
हाटी	आवश्यक हारिभद्रीय टीका
हाटीपा	आवश्यक हारिभद्रीय टीका के पाठान्तर
हाटीभा	आवश्यक हारिभद्रीय (भाष्य)
हाटीमूभा	आवश्यक हारिभद्रीय टीका के अन्तर्गत मूलभाष्य

भूमिका

वैदिक परम्परा में वेद तथा बौद्धों में त्रिपिटक की भांति जैन परम्परा में आगम का महत्त्व है। आगम ज्ञान के अक्षय कोष हैं। आत एवं सर्वज्ञ वचन होने के कारण आगमों में वर्णित ज्ञान की विविध धाराएं अनेक रहस्यों को खोलने वाली हैं। धर्म, दर्शन, समाज, संस्कृति, इतिहास, भूगोल एवं खगोल की विस्तृत जानकारी जैन आगमों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। जीवन को परिष्कृत करने के जो अमूल्य सूत्र जैन आगमों में मिलते हैं, अन्यत्र दुर्लभ हैं। आगमों के रूप में प्राप्त महावीर-वाणी समाज, राष्ट्र एवं परिवार की अनेक समस्याओं को समाहित करने में उपयोगी बन सकती है।

आगमों का वर्गीकरण

दिगम्बर परम्परा आगमों का लोप मानती है किन्तु आचार्यों द्वारा रचित कुछ ग्रंथों को आगम के समान महत्त्व देती है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर-वाणी आज भी ११ अंगों के रूप में सुरक्षित है। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानकवासी एवं तेरापंथ ३२ आगमों को प्रमाणभूत मानता है—

१. अंग ११	४. मूल ४
२. उपांग १२	५. आवश्यक १
३. छेद ४	

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ ग्रंथों को आगम के रूप में स्वीकार करती है, जिसकी सूची इस प्रकार है—

१. अंग ११	४. मूल ४
२. उपांग १२	५. प्रकीर्णक १०
३. छेद ६	६. चूलिका २

कुछ परम्परा ८४ आगमों को भी स्वीकार करती है।^१

आगमों का प्राचीनतम वर्गीकरण अंग एवं पूर्व—इन दो भागों में मिलता है। समवायांग में केवल द्वादशांगी का निरूपण है।^२ आर्यरक्षित ने आगम-साहित्य को चार अनुयोगों में विभक्त किया—

१. चरणकरणानुयोग २. धर्मकथानुयोग ३. गणितानुयोग ४. द्रव्यानुयोग।^३ आगम-संकलन के समय आगमों को दो वर्गों में विभक्त किया गया—अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य। नंदी में आगम की सारी शाखाओं का वर्णन मिलता है। उसमें काल की दृष्टि से भी आगमों का विभाग किया गया है। दिन और रात्रि के प्रथम एवं अंतिम प्रहर में पढ़े जाने वाले आगम कालिक तथा सभी प्रहरों में पढ़े जाने वाले आगम उत्कालिक कहलाते हैं।^४ सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण में आगमों के चार विभाग मिलते हैं—१. अंग २. उपांग ३. मूल ४. छेद। वर्तमान में आगमों का यही वर्गीकरण अधिक प्रसिद्ध है।

आगमों का कर्तृत्व एवं रचनाकाल

वैदिक परम्परा में वेदों को अपौरुषेय माना गया है अतः उनका रचनाकाल निर्धारित नहीं है।

१. विस्तार के लिए देखें—दसवेआलियं भूमिका पृ. २३-२५।

२. सम. १/२।

३. दशअचू. पृ. २।

४. नंदी ७७, ७८।

अनादिकाल से ज्ञान की परम्परा के रूप में वे संक्रमित होते रहे हैं। विद्वानों ने वर्तमान में उपलब्ध जैन आगमों का काल-निर्धारण किया है फिर भी नंदीसूत्र में जहां समवायांग का परिचय दिया है, वहां स्पष्ट उल्लेख है कि द्वादशांग रूप गणिपिटक कभी नहीं था, ऐसा नहीं कहना चाहिए। कभी नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए तथा कभी नहीं होगा, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, गणिपिटक था, है और रहेगा। यह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है।^१ इसका तात्पर्य यह है कि द्वादशांगी आर्थिक रूप से अनादि है पर शाब्दिक रूप से परिवर्तित होती रहती है। सत्य एक ही होता है पर उसकी प्रतिपादन-शैली हर युग में भिन्न होती है।

बृहत्कल्पभाष्य में शिष्य जिज्ञासा प्रस्तुत करता है कि नय, निक्षेप, निरुक्त आदि का जो व्याख्यान ऋषभ आदि २३ तीर्थंकरों ने प्रस्तुत किया, वही वर्णन महावीर ने कैसे किया क्योंकि २३ तीर्थंकरों की शरीर-अवगाहना बड़ी थी और महावीर सप्तरत्नि प्रमाण ही थे। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि शरीर-प्रमाण में भिन्नता होने पर भी धृति, संहनन और ज्ञान में सभी तीर्थंकर तुल्य हैं अतः प्रज्ञापनीय भाव में कोई अंतर नहीं रहता। कालभेद से भी प्रज्ञापनीय भावों के प्रतिपादन में कोई अंतर नहीं रहता। केवल ज्ञाताधर्मकथा के आख्यान, ऋषिभाषित और प्रकीर्णक आदि सूत्रों में अंतर आता है।^२ आयारो में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जितने अर्हत् अतीत में हुए, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, वे सभी इसी सत्य की व्याख्या करते हैं कि किसी भी प्राण, भूत, जीव एवं सत्त्व की हत्या मत करो, उनके ऊपर अपनी सत्ता मत जमाओ, उनको गुलाम मत बनाओ और उनको सत्ताओ मत, यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और सनातन है।^३

वर्तमान में उपलब्ध आगमों के रचनाकाल के विषय में अनेक मतव्य मिलते हैं। फिर भी सामान्यतया कहा जा सकता है कि महावीर-काल से लेकर वि. सं. ५२३ तक भिन्न-भिन्न कालों में आगम ग्रंथों का निर्युहण एवं रचना हुई है।

आगमों के कर्तृत्व के बारे में विद्वानों में काफी ऊहापोह है। अंगसाहित्य तीर्थंकरों द्वारा उद्गीर्ण और गणधरों द्वारा संदृब्ध है। लेकिन ठाणं एवं समवाओ जैसे अंग आगमों में अनेक विषय बाद में प्रक्षिप्त हुए हैं। अनंग प्रविष्ट में कुछ ग्रंथ स्थविर आचार्यों द्वारा प्रणीत हैं, जैसे—प्रज्ञापना-सूत्र आदि। कुछ पूर्वों से उद्धृत हैं, जैसे—दशवैकालिक सूत्र आदि।

सूत्र प्रवर्तन का क्रम

आवश्यक निर्युक्ति में सूत्र-प्रवर्तन के क्रम का सुंदर निरूपण हुआ है। अर्हत् भगवान् अर्थ रूप में तत्त्वों और सत्य का निरूपण करते हैं तथा गणधर उसे शासनहित के लिए सूत्र रूप में गुम्फित करते हैं।^४ इसे रूपक के माध्यम से बताते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि तप, नियम और ज्ञान के वृक्ष पर आरूढ़ होकर अमितज्ञानी तीर्थंकर भव्यजनों को संबोध देने हेतु ज्ञान की वर्षा करते हैं, गणधर अपने बुद्धिमय पट से उस सम्पूर्ण ज्ञान-वर्षा को ग्रहण कर लेते हैं। तीर्थहित एवं प्रवचनहित के लिए गणधर उस वाणी को सूत्र

१. नंदी १२६।

२. बृभा. २०२-२०४।

३. आयारो ४/१।

४. आवनि ८६;

अत्थं भासति अरहा, सुतं गंथंति गणहरा निउणं।

सासणस्स हियद्वाए, ततो सुतं पवत्तई॥

रूप में गूँथते हैं।^१ ज्ञान की अविच्छिन्न परम्परा के लिए ऐसा होना आवश्यक है।

आगमों की वाचनाएं

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग ८००-१००० वर्ष तक आगमों का व्यवस्थित संकलन/संपादन नहीं हुआ। आगमों की मौखिक परम्परा चली। अंजलि में रखे पानी की भांति मौखिक परम्परा से ज्ञान की परम्परा का क्रमशः क्षीण होना स्वाभाविक ही था। जैसे बुद्ध के उपदेश को व्यवस्थित करने हेतु भिक्षुओं ने भिन्न-भिन्न समयों में तीन संगितियां कीं। उसी प्रकार महावीर-वाणी की सुरक्षा एवं उसको व्यवस्थित रूप देने के लिए मुख्य रूप से तीन वाचनाएं हुईं। भगवान् के निर्वाण के १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में जैन श्रमणसंघ एकत्रित हुआ, उस समय अनावृष्टि आदि के कारण अंगों का अव्यवस्थित होना सहज था। आपस में एक दूसरे से पूछकर श्रमणों ने ११ अंग व्यवस्थित किए। दृष्टिवाद का ज्ञाता कोई नहीं था। आचार्य भद्रबाहु चतुर्दशपूर्वी थे लेकिन वे महापान (महाप्राण) ध्यान की साधना हेतु नेपाल गए हुए थे। संघ की प्रार्थना पर उन्होंने स्थूलिभद्र आदि मुनियों को दृष्टिवाद की वाचना देनी प्रारंभ की लेकिन ऋद्धि आदि का प्रयोग करने से उन्होंने उनको अंतिम चार पूर्वों के अर्थ का ज्ञान नहीं दिया। आर्थी दृष्टि से अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु हुए।

द्वादशवर्षीय दुष्काल के बाद वीर-निर्वाण नौवीं शताब्दी में आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में मथुरा में श्रमणसंघ एकत्रित हुआ और स्मृति के आधार पर कालिक श्रुत को व्यवस्थित किया।^२ यह वाचना मथुरा में हुई अतः माथुरी वाचना कहलाई।

आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में वलभी में श्रमणसंघ द्वारा आगमों को व्यवस्थित किया गया। इसका भी वही काल है, जो माथुरी वाचना का है। इसे नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं।

वीर निर्वाण के ९८०^३ वर्ष बाद वलभी में आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने स्मृतिबल की क्षीणता को देखकर आगमों को लिपिबद्ध करने का साहसिक कार्य किया। नंदीसूत्र में उन आगमों की सूची मिलती है। उस समय दोनों वाचनाओं में हुए पाठभेदों में समन्वय करके महत्त्वपूर्ण पाठभेदों का उल्लेख कर दिया गया।^४ नंदी में उल्लिखित अनेक ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं। वर्तमान में उपलब्ध आगम प्रायः वलभी वाचना के हैं।

आवश्यक सूत्र

आवश्यक जैन साधना का प्रायोगिक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। यह अपने दोषों का पर्यालोचन करने तथा उनके परिमार्जन की सुंदर प्रक्रिया प्रस्तुत करता है इसलिए इसे अध्यात्म का उत्कृष्ट ग्रंथ कहा जा सकता है। श्वेताम्बर परम्परा में श्रमणों के लिए यह ध्रुवयोग/नित्यकर्म है। पर्व तिथियों में श्रावक भी आवश्यक का अनुष्ठान करते हैं। आवश्यक के वैशिष्ट्य एवं महत्त्व का ज्ञान इस बात से किया जा सकता है कि इस पर सर्वाधिक व्याख्या ग्रंथ प्राप्त होते हैं तथा आचार्य भद्रबाहु ने भी सर्वप्रथम इसी ग्रंथ पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की थी।

निर्युक्तिकार के अनुसार श्रमणों एवं श्रावकों के लिए यह अवश्यकरणीय अनुष्ठान है, इसलिए

१. आवनि ८३, ८४।

२. नंदी चूर्णि पृ. ९।

३. मतान्तर से कुछ विद्वान् वीरनिर्वाण के ९९३ वर्ष बाद स्वीकार करते हैं।

४. वीरनि. पृ. ११०।

इसका नाम आवश्यक पड़ा।^१ आचार्य तुलसी ने इसे ध्रुवयोग के अन्तर्गत माना है। आवश्यक का एक नाम प्रतिक्रमण भी प्रसिद्ध है। प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के तीर्थ में सायं और प्रातः दोनों समय प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है क्योंकि उनके शासन में सप्रतिक्रमण धर्म का निरूपण था।^२

अनुयोगद्वारा सूत्र में आवश्यक के चार निक्षेप मिलते हैं—१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. भाव।^३ द्रव्य आवश्यक का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो श्रमण श्रामण्य योग्य गुणों से रहित हैं, छह कार्यों के प्रति करुणा रहित हैं, हाथी और घोड़े की भांति निरंकुश हैं, आसक्त हैं तथा तीर्थंकर देव की आज्ञा के विपरीत स्वच्छंद होकर विहार करते हैं, उनका आवश्यक लोकोत्तरिक द्रव्य आवश्यक है।^४ इसके विपरीत जो तच्चित्त, तन्मय एवं एकाग्र होकर दोनों समय आवश्यक करता है, वह लोकोत्तरिक भाव आवश्यक है।^५ द्रव्य आवश्यक में मन कहीं और रहता है। केवल मौखिक रूप से आवश्यक का उच्चारण होता है। इसमें मन की एकाग्रता आवश्यक के साथ नहीं जुड़ती, मात्र बाह्य क्रिया चलती है। भाव आवश्यक में क्रिया के साथ चेतना जुड़ जाती है।

आवश्यक के एकार्थक

अनुयोगद्वारा सूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम मिलते हैं—१. आवश्यक, २. अवश्यकरणीय, ३. ध्रुवनिग्रह, ४. विशोधि, ५. अध्ययनषट्कवर्ग ६. न्याय, ७. आराधना, ८. मार्ग। ये एकार्थक न होकर आवश्यक के स्वरूप, महत्त्व एवं उसके विविध गुणों को प्रकट करने वाले हैं—

आवश्यक—ज्ञानादि गुणों को वश में करने वाला अथवा भोग और कषाय को चारों ओर से वश में करने वाला। 'आवस्सग' की 'आवासक' संस्कृत छाया करके इसका एक अर्थ गुणों से आत्मा को वासित करना भी किया गया है।^६

अवश्यकरणीय—अवश्यकरणीय अनुष्ठान।

ध्रुवनिग्रह—अनादि संसार का निग्रह करने वाला। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आवश्यक दिनचर्या और रात्रिचर्या का निश्चित रूप से नियमन करने वाला है, इसलिए इसका नाम ध्रुवनिग्रह है।^७ दशवैकालिक सूत्र में मुनि के लिए ध्रुवयोग का विधान है।^८ आवश्यक भी ध्रुवयोग का एक अंग

१. विभामहे गा. ८७३, अनुद्धा. २८/ गा. २;

समणेण सावएण य, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा।
अंतो अहो निसिस्स उ, तम्हा आवस्सयं नाम ॥

२. आवनि. १२४४; (अप्रकाशित संख्या आवनि ८६८)।

सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं ॥

३. अनुद्धा. ८-२७।

४. अनुद्धा. २१।

५. अनुद्धा. २७।

६. विभामहे गा. ८७२, अनुद्धा. २८/गा. १;

आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं, ध्रुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयणछक्कवग्गो, नाओ आराहणा मग्गो ॥

७. विभामहेटी. पृ. २०७।

८. अणुओगदाराई पृ. ३८।

९. दश. १०/१०।

है, इसलिए इसे ध्रुवयोग कहा गया है। अनुयोगद्वार चूर्णि में कर्म, कषाय और इंद्रिय को ध्रुव माना है। आवश्यक के द्वारा इनका निग्रह होता है अतः इसे ध्रुवनिग्रह कहा है। ध्रुव का दूसरा अर्थ अवश्य भी किया है।^१ विशेषावश्यकभाष्य की मलधारी हेमचन्द्र की टीका में ध्रुव और निग्रह को अलग-अलग शब्द मानकर व्याख्या की गयी है। उसके अनुसार अर्थ की दृष्टि से ध्रुव या शाश्वत होने के कारण आवश्यक का एक नाम ध्रुव तथा इंद्रिय-विषय और कषायरूप भावशत्रु का निग्रह करने से आवश्यक का एक नाम केवल निग्रह है।^२

विशोधि—कर्म मलिन आत्मा को विशुद्ध करने वाला।

अध्ययनषट्कवर्ग—सामायिक आदि छह अध्ययनों से युक्त। टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र ने 'अज्झयणछक्क' और 'वग्ग'—इन दोनों को अलग-अलग मानकर व्याख्या की है। उनके अनुसार सामायिक आदि छह अध्ययनों से युक्त होने के कारण आवश्यक का एक नाम अध्ययनषट्क तथा रागादि दोषों को दूर से ही परिहार करने के कारण एक नाम वर्ग या वर्ज है।^३

न्याय—अभीष्टार्थ की सिद्धि में सहायक। मलधारी हेमचन्द्र ने इसका वैकल्पिक अर्थ जीव और कर्म के संबंध का अपनयन करने वाला भी किया है।^४

आराधना—मोक्ष की आराधना का हेतु।

मार्ग—मोक्ष तक पहुंचाने का मार्ग। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आत्मालोचन और आत्मनिरीक्षण की ओर ले जाने के कारण आवश्यक का एक नाम मार्ग है।^५

जो क्रोधादि कषायों को दूर कर ज्ञानादि गुणों से आत्मा को भावित या वशीभूत करता है, वह आवश्यक है। दिग्म्बर मत के अनुसार जो राग तथा द्वेषादि विभावों के वशीभूत नहीं होता, वह अवश है, उस अवश का आचरण या कार्य आवश्यक कहलाता है।^६ जो आत्मा में रत्नत्रय का वास कराती है, वह क्रिया आवश्यक है।^७ यद्यपि प्रतिक्रमण चौथा आवश्यक है लेकिन वर्तमान में पूरा आवश्यक सूत्र प्रतिक्रमण के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है।

आवश्यक का रचनाकाल

आवश्यक में जो शाश्वत आध्यात्मिक तत्त्व निबद्ध हैं, वे प्रवाह रूप से अनादि हैं। आवश्यक के कर्ता एवं रचनाकाल के बारे में इतिहास में कोई सामग्री नहीं मिलती। पंडित सुखलालजी के अनुसार आवश्यक सूत्र ईस्वी सन् से पूर्व पांचवीं शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचा होना चाहिए।^८ इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि ईस्वी सन् से पूर्व पांच सौ छब्बीसवें वर्ष में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। वीर निर्वाण के २० वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी का निर्वाण हुआ। आवश्यक सूत्र न तो तीर्थंकर की

१. अनुद्गाच्छू. पृ. १४, विभामहेटी. पृ. २०८।

२. विभामहेटी. पृ. २०८।

३. विभामहेटी. पृ. २०८; सामायिकादिषडध्ययनात्मकत्वाद-
ध्ययनषट्कम्। वृजो वर्जने वृज्यन्ते दूरतः परिह्रियन्ते
रागादयो दोषा अनेनेति वर्गः।

४. विभामहेटी. पृ. २०८; जीवकर्मसम्बन्धापनयनाद् न्यायः।

५. अणुओगदाराई पृ. ३९।

६. (क) मूलाचार ५१५;

ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावसस्यं ति बोधव्वा।

(ख) नियमसार १४९;

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स हु कम्मं भण्णंति आवासं।

कम्मविणासणजोगो, णिव्वुदिमगो ति णिव्वुतो॥

७. भआटी पृ. ११६;

आवासयं ति रत्नत्रयमपि इति आवश्यकः।

८. दर्शन और चिंतन, खंड २ पृ. १९६।

कृति है और न ही गणधर की। तीर्थंकर की कृति इसलिए नहीं क्योंकि वे अर्थ का उपदेश मात्र करते हैं, सूत्र नहीं रचते। आवश्यक सूत्र गणधर रचित न होने का एक कारण यह है कि इस सूत्र की गणना अंगबाहु सूत्र में है अतः यह सुधर्मा के बाद किसी बहुश्रुत आचार्य द्वारा रचित माना जाना चाहिए।

आवश्यक सूत्र उतना ही पुराना होना चाहिए जितना नमस्कार महामंत्र क्योंकि आवश्यक निर्युक्ति में नमस्कार मंत्र के पाँचों पदों की लगभग १३९ गाथाओं में विस्तृत व्याख्या है। इससे पूर्ववर्ती किसी ग्रंथ में नमस्कार मंत्र पर इतना विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। आवश्यक निर्युक्ति में ६४५/२ गाथा में पंच परमेष्ठी के नमस्कारपूर्वक सामायिक करने का निर्देश है। यद्यपि इस गाथा से यह फलित निकलता है कि नमस्कार मंत्र भी उतना ही पुराना होना चाहिए जितना सामायिक सूत्र या आवश्यक सूत्र। लेकिन यह गाथा मूल निर्युक्ति की न होकर भाष्यकार की होनी चाहिए क्योंकि चूर्णि में इसकी कोई व्याख्या नहीं है तथा टीकाकार ने इसके लिए संबंध गाथा का संकेत किया है।

आवश्यक के कर्त्ता

आवश्यक के कर्त्ता के बारे में इतिहास मौन है और विद्वानों में भी मतैक्य नहीं है। यह सूत्र किसी एक स्थविर आचार्य की कृति है अथवा अनेक आचार्यों की, इस बारे में स्पष्टतया कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान् इसे किसी एक आचार्य की कृति नहीं मानते। आचार्य भद्रबाहु के सामने भी इसके कर्तृत्व के बारे में कोई जानकारी नहीं थी अन्यथा वे दशवैकालिक की भांति इसके कर्त्ता के नाम का उल्लेख भी अवश्य करते। दशवैकालिक निर्युक्ति में उन्होंने आचार्य शय्यंभव को दशवैकालिक के कर्त्ता के रूप में याद किया है।^१ गणधरवाद की भूमिका में पंडित मालवणियाजी ने आवश्यक के कर्त्ता के बारे में विचार करते हुए इसे गणधर प्रणीत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।^२

आचार्य भद्रबाहु ने जिन दश ग्रंथों पर निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा की है, उन ग्रंथों को यदि कालक्रम से रचित मानें तो आवश्यक आचार्य शय्यंभव से पूर्व किसी स्थविर की कृति होनी चाहिए। लेकिन यह विकल्प उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसमें उत्तराध्ययन के बाद आचारांग का क्रम है। आचारांग प्रथम अंग आगम है तथा गणधर द्वारा संदृब्ध है अतः निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा से जिन आगमों का उल्लेख किया गया है, उन्हें ऐतिहासिक क्रम से रचित नहीं माना जा सकता। आचारांग टीका में उल्लेख मिलता है कि 'आवश्यकान्तर्भूतश्चतुर्विंशतिस्तवारातीयकालभाविना भद्रबाहुस्वामिनाऽकारि'^३ आचार्य शीलांक के इस उद्धरण से स्पष्ट है चतुर्विंशतिस्तव की रचना आचार्य भद्रबाहु द्वारा की गयी। इससे यह फलित निकलता है कि आवश्यक किसी एक आचार्य की रचना न होकर आचार्य भद्रबाहु एवं उनके समकालीन अनेक बहुश्रुत, स्थविर आचार्यों के चिंतन एवं ज्ञान की फलश्रुति है। चूंकि इस ग्रंथ को आत्मालोचन का उत्कृष्ट ग्रंथ बनाना था इसलिए अनेक आचार्यों का सुझाव और चिंतन का योग अपेक्षित था। यदि आवश्यक सूत्र किसी एक आचार्य की कृति होती तो दशवैकालिक के कर्त्ता की भांति इसके कर्त्ता का नाम भी अत्यंत प्रसिद्ध होता क्योंकि यह प्रतिदिन सुबह और सायं स्मरण की जाने वाली कृति है। निष्कर्षतः आवश्यक को अनेक आचार्यों की संयुक्त कृति स्वीकार करना चाहिए।

१. दशनि १३, १४।

२. गणधरवाद, भूमिका पृ. ५-१०।

३. आटी पृ. ५६।

आवश्यकों का क्रम एवं वैशिष्ट्य

आवश्यक छह हैं—१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वंदना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान। मूलाचार में कुछ नाम-भेद के साथ छह आवश्यकों के नाम मिलते हैं—१. समता, २. स्तव, ३. वंदन, ४. प्रतिक्रमण, ५. प्रत्याख्यान, ६. विसर्ग।^१ छहों आवश्यकों का क्रम बहुत वैज्ञानिक और क्रमबद्ध है। टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार विरति सहित व्यक्ति के ही सामायिक संभव है। विरति और सामायिक दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। जब तक हृदय में समता का अवतरण नहीं होता, तब तक समता के शिखर पर स्थित वीतराग के गुणों का उत्कीर्तन कर उनके गुणों को अपनाने की दिशा में प्रस्थान नहीं हो सकता। प्रमोदभाव या गुणग्राहकता का विकास होने पर ही व्यक्ति अपने से ज्ञानी या वंदनीय व्यक्ति के चरणों में सिर झुकाता है। झुकने वाला व्यक्ति स्वतः नम्र एवं सरल बन जाता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना कर सकता है अतः वंदना के बाद प्रतिक्रमण आवश्यक का क्रम उपयुक्त है। पंडित सुखलालजी के अनुसार वंदन के पश्चात् प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि आलोचना गुरु के समक्ष की जाती है। जो गुरु-वंदन नहीं करता, वह आलोचना का अधिकारी ही नहीं।^२ दोषों के परिमार्जन में कायोत्सर्ग आवश्यक है। तन और मन की स्थिरता सधने पर प्रतिक्रमण अर्थात् दोषों का परिमार्जन स्वतः हो जाता है। व्यक्ति के भीतर जब स्थिरता एवं एकाग्रता सधती है, तभी वह वर्तमान में अकरणीय का प्रत्याख्यान करता है अथवा भविष्य में भोगों की सीमा हेतु संयमित होने का व्रत लेता है। संभव है इसीलिए प्रत्याख्यान को अंतिम आवश्यक के रूप में रखा है। सभी आवश्यक आपस में कार्य-कारण की शृंखला से बंधे हुए हैं अतः एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। पंडित सुखलालजी ने आवश्यक के क्रम के बारे में विस्तार से चर्चा की है।^३ कुंदकुंद के साहित्य में षडावश्यक के नाम भिन्न मिलते हैं—१. प्रतिक्रमण २. प्रत्याख्यान ३. आलोचना ४. कायोत्सर्ग ५. सामायिक ६. परमभक्ति।

आवश्यकों का प्रयोजन

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के अधिकारों का प्रयोजन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।^४ प्रथम सामायिक आवश्यक में पापकारी प्रवृत्ति से दूर रहकर समता पूर्वक जीवन जीने का संकल्प किया जाता है। दूसरे चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में सर्वोच्च शिखर पर स्थित महापुरुषों के गुणों की स्तवना की जाती है, इससे अंतःकरण की विशुद्धि होने के कारण दर्शन की विशुद्धि होती है।^५ अनुयोगद्वार चूर्ण के अनुसार दर्शनविशोधि, बोधिलाभ और कर्मक्षय के लिए तीर्थकरों का उत्कीर्तन करना चाहिए।^६ तृतीय वंदना आवश्यक गुणयुक्त गुरुजनों की शरण एवं उनकी वंदना की बात कहता है, जिससे उनके गुण

१. मूला. २२;

समदा थवो य वंदण, षाडिक्कमणं तहेव णादब्बं।
पच्चक्खाण विसग्गो, करणीयावासया छप्पि॥

२. पंच प्रतिक्रमण, प्रस्तावना पृ. १४।

३. दर्शन और चिंतन, खंड २ पृ. १८०-१८२।

४. अनुद्वा ७४/१;

सावज्जजोगविरई, उक्किक्कण गुणवओ य पडिक्कती।
खलियस्स निंदणा, वणत्तिगिच्छा गुणधारणा चेव॥

५. उ. २९/१०; चउब्बीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

६. (क) अनुद्वाचू. पृ. १८; बित्तिए दरिसणविसोहिनिमित्तं
पुण बोधिलाभत्थं च कम्मखवणत्थं च
तित्थगराणामुक्किक्कणा कता।

(ख) मूला. ५७१; भतीए जिणवराणं,
पुव्वसंचियं कम्मं खीयदिजं।

व्यक्ति के भीतर संचरित हो सकें और अहंकार का विलय हो सके। जयधवल के अनुसार तीर्थंकर को नमस्कार करना वंदना है।^१ उत्तराध्ययन सूत्र में वंदना से जीव सौभाग्य, अप्रतिहत आज्ञाफल और सबके मन में अपने प्रति अनुकूलता का भाव पैदा करता है। साथ ही निम्न गोत्र का क्षय कर उच्च गोत्र का बंधन करता है।^२ चौथे प्रतिक्रमण में कृत दोषों की आलोचना की जाती है, जिससे प्रतिदिन होने वाले प्रमाद का परिष्कार और शोधन होता रहे। प्रतिक्रमण से जीव व्रत के छिद्रों को ढकता है।^३ कायोत्सर्ग से संयमी जीवन के व्रणों की चिकित्सा होती है, साथ ही भेदविज्ञान की धारणा पुष्ट होती है। कायोत्सर्ग व्यक्ति को निर्भार और प्रशस्त ध्यान में उपयुक्त करता है।^४ आगमों में कायोत्सर्ग को सब दुःखों से मुक्त करने का हेतु माना है।^५ अंतिम प्रत्याख्यान आवश्यक के माध्यम से भविष्य में गलती न करने के संकल्प की अभिव्यक्ति की जाती है, जिससे इच्छाओं का निरोध तथा संवर की शक्ति का विकास होता रहे।^६ प्रत्याख्यान गुणधारण करने का उत्तम उपाय है। आचार्य कुंदकुंद के अनुसार आवश्यक के बिना श्रमण चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है।^७

आवश्यक में पाठ-भेद एवं विधि-भेद

ऋषभ के समय में प्रतिदिन आवश्यक होता था, बीच के बावीस तीर्थंकरों के मुनि स्खलना होने पर आवश्यक करते थे, इस उल्लेख से यह तो स्पष्ट है कि आवश्यक की परम्परा अति प्राचीन है लेकिन इसका स्वरूप बदलता रहा है। वर्तमान में आवश्यक का जो पाठ मिलता है, उसमें भिन्न-भिन्न परम्पराओं में काफी अंतर है। आवश्यक की विधि में भी मंदिरमार्गी, स्थानकवासी, तेरापंथी और दिगम्बर परम्परा में बहुत अंतर आ गया है। वर्तमान में इसमें मूल कितना है और प्रक्षेप कितना है, इसका निर्णय निर्युक्तिकार द्वारा की गयी पाठों की व्याख्या के आधार पर किया जा सकता है।

निर्युक्ति की व्याख्या के अनुसार कुछ परम्पराओं में प्रतिक्रमण से पूर्व किए जाने वाले चैत्य-वंदन आदि तथा नमोत्थुण के बाद किए जाने वाले सज्जाय, स्तवन, स्तोत्र आदि आवश्यक के अन्तर्गत नहीं हैं, इनका बाद में प्रक्षेप हुआ है क्योंकि गुजराती, अपभ्रंश, राजस्थानी या हिन्दी का पाठ मौलिक नहीं माना जा सकता। मूल आवश्यक में भी इनका उल्लेख नहीं है।

सामान्य जन द्वारा प्राकृत भाषा को न समझने की कठिनाई देखकर आचार्य तुलसी ने श्रावक प्रतिक्रमण के अतिचारों का हिन्दी पद्यों में सरस रूपान्तरण कर दिया तथा साधु प्रतिक्रमण के अतिचारों का भी न केवल हिन्दी रूपान्तरण किया बल्कि उन अतिचारों को आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में भी प्रस्तुत किया है।

मूल पाठियों के रूपान्तरण से मौलिकता की सुरक्षा नहीं रहती इसलिए उनको यथावत् रखा है। जैसे मंत्रों का अनुवाद उतना प्रभावक नहीं होता, वैसे ही आवश्यक के मूलपाठ का अनुवाद नहीं किया। दूसरी बात अनुवाद से आवश्यक की विधि में भी एकरूपता नहीं रहती। अतिचार तो आत्मालोचन के हेतु हैं अतः किसी भी भाषा में बोले जा सकते हैं। ऐसा संभव लगता है कि अतिचारों का स्वरूप समय-समय पर बदलता रहा है। बहुश्रुत आचार्य देश, काल और परिस्थिति के अनुसार इनमें परिवर्तन करते रहे हैं।

१. तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा नाम।

२. उ. २९/११।

३. उ. २९/१२ ; पडिक्कमणेणं वयच्छिद्दाइं पिहेइ।

४. उ. २९/१३।

५. उ. २६/४६।

६. उ. २९/१४; पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निहंभइ।

७. नियमसार गा. १४८;

आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।

सामायिक आवश्यक

आवश्यक के छह भेद हैं, उनमें प्रथम आवश्यक सामायिक का विशेष महत्त्व है। आचार्य भद्रबाहु ने जितना विस्तार सामायिक का किया, उतना अन्य आवश्यकों का नहीं किया। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने तो सामायिक आवश्यक एवं उसकी निर्युक्ति पर ही अपनी विशिष्ट कृति लिखी, जो विशेषावश्यक भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। सामायिक की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि सम अर्थात् एकत्व रूप से आत्मा का आय—लाभ समाय है। समाय का भाव ही सामायिक है। इसका दूसरा निरुक्त इस प्रकार भी किया जा सकता है—‘हिंसा के हेतुभूत जो आय—स्रोत हैं, उनका त्याग कर प्रवृत्ति को संयत करना समाय है। इस प्रयोजन से होने वाला प्रयत्न सामायिक है। वट्टकेर के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है, वह समय है, उसे ही सामायिक जानना चाहिए।^१ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने समय के स्थान पर समाय शब्द का प्रयोग करके सामायिक की यही व्याख्या की है। विशेषावश्यकभाष्य में सामायिक की व्याख्या अनेक निरुक्तों के माध्यम से की गयी है।^२

समता का महत्त्व हर धर्म में उद्गीत हुआ है। भगवान् महावीर के अनुसार समता में आर्य धर्म प्रज्ञप्त है। गीता में समत्व को योग कहा है।^३ योगशास्त्र में आचार्य हरिभद्र स्पष्ट कहते हैं कि न हि साम्येन विना ध्यानम् अर्थात् साम्ययोग के बिना ध्यान-साधना के क्षेत्र में चरणन्यास नहीं किया जा सकता।^४ चूर्णिकार जिनदासगणि कहते हैं कि जैसे आकाश सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही सामायिक सब गुणों का आधार भूमि है। समभाव विशिष्ट लब्धियों का हेतुभूत है तथा सब पापों पर अंकुश लगाने वाला है।^५ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण इसके माहात्म्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि षडावश्यक में सामायिक प्रथम आवश्यक है। चतुर्विंशति आदि शेष पांच आवश्यक एक अपेक्षा से सामायिक के ही भेद हैं क्योंकि सामायिक ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप है और चतुर्विंशति आदि में इन्हीं गुणों का समावेश हुआ है।^६ उन्होंने सामायिक को चौदह पूर्वों का सार माना है।^७

समता का अर्थ है—मन की स्थिरता, राग-द्वेष का शमन और सुख-दुःख में निश्चलता। विषम भावों से स्वयं को हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना समता है।

सामायिक चारित्र्य की अवस्थिति सभी तीर्थकरों के समय में होती है किन्तु अन्य चारित्र्यों की अवस्थिति आवश्यक नहीं है। श्रावक के १२ व्रतों में सामायिक नौवें व्रत के रूप में प्रसिद्ध है तथा चार शिक्षाव्रतों में प्रथम स्थान सामायिक को प्राप्त है। आचार्य वट्टकेर के अनुसार जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख आदि में राग-द्वेष न करके इनमें समभाव रखना सामायिक है।^८

१. मूला. ५१९;

सम्पत्त-णाण-संजम-तवेहि जं तं पसत्थसमगमणं।

समयं तु तं तु भणिदं, तमेव सामाइयं जाण॥

२. विभामहे गा. ३४७७-३४८६।

३. गीता २/४८; समत्वं योग उच्यते।

४. योगशास्त्र ४/११४।

५. अनुद्धाचू. पृ. १८; समभावलक्खणं सव्वचरणादिगुणाधारं
चोमं पिव सव्वदव्वाणं सव्वविसेसलद्धीणं य हेतुभूतं पायं

पावअंकुसदानं।

६. विभा ९०६, महेटी पृ. २१४।

७. (क) विभा २७९६; सामइयं संखेवो, चोदसपुव्वत्थपिंडो त्ति।
(ख) तत्त्वार्थ वृत्ति १/१।

८. मूला. २३;

जीविद-मरणे लाभालाभे संजोय-विप्पओगे य।

बंधुरि-सुह-दुक्खादिसु, समदा सामाइयं णाम॥

जिनदासगणि महत्तर ने सामायिक आवश्यक को आदि मंगल के रूप में स्वीकार किया है। उत्तराध्ययन सूत्र में गौतम भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं कि सामायिक करने से जीव को क्या लाभ होता है? इसके उत्तर में महावीर कहते हैं कि सामायिक से सावद्य योग अर्थात् पापकारी प्रवृत्ति से जीव की निवृत्ति होती है।^१ भगवती में पार्श्वपत्नीय कालास्यवेसी अनगार के पृष्ठने पर स्थविर साधुओं ने कहा कि आत्मा ही सामायिक है।^२ आचार्य तुलसी के अनुसार मन, वाणी और क्रिया में संतुलन का अभ्यास ही सामायिक है।

सामायिक के प्रकार

सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र द्वारा समभाव में स्थिर रहा जा सकता है अतः सामायिक के तीन भेद हैं—१. सम्यक्त्वसामायिक २. श्रुतसामायिक ३. चारित्रसामायिक। चारित्र सामायिक के दो भेद हैं—अगार सामायिक और अनगार सामायिक।^३ अगार सामायिक श्रावकों के तथा अनगार सामायिक साधुओं के होती है। अगार सामायिक अल्पकालिक एवं अनगार सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है। श्रुत सामायिक के भी तीन भेद हैं—१. सूत्र सामायिक २. अर्थ सामायिक ३. तदुभय सामायिक।^४

सामायिक का निर्गम (उद्भव)

वैशाख शुक्ला एकादशी को पूर्वाह्न काल में महासेनवन उद्यान में भगवान् महावीर ने प्रथम बार सामायिक का निरूपण किया।^५ कर्त्ता के बारे में चर्चा करते हुए जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कहते हैं कि व्यवहार दृष्टि से सामायिक का प्रतिपादन तीर्थंकर और गणधरों ने किया पर निश्चय दृष्टि से सामायिक का अनुष्ठान करने वाला ही सामायिक का कर्त्ता है।^६ प्रथम और अंतिम तीर्थंकर को छोड़कर शेष बावीस तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं।^७

सामायिक के निरुक्त

निर्युक्तिकार ने श्रुतसामायिक आदि तीनों सामायिकों की निरुक्तियों का उल्लेख किया है। आचार्य हरिभद्र ने निरुक्ति शब्द का अर्थ क्रिया, कारक, भेद और पर्यायों द्वारा शब्दार्थ-कथन को निरुक्ति कहा है।^८ मलधारी हेमचन्द्र ने निश्चित उक्ति को निरुक्ति कहा है।^९ यहां निरुक्ति शब्द से निर्युक्तिकार का क्या अभिप्राय था, यह आज स्पष्ट नहीं है लेकिन इन शब्दों को आंशिक पर्यायवाची कहा जा सकता है। सम्यक्त्व सामायिक की सात निर्युक्तियां सम्यक्त्व की विविध विशेषताओं की द्योतक हैं। निर्युक्तिकार ने अक्षर, संज्ञा आदि श्रुत के चौदह भेदों को ही श्रुतसामायिक की निरुक्ति कहा है। इन्हें एकार्थक नहीं कहा जा सकता लेकिन यहां श्रुत के भेदों को ही उसके निरुक्त के रूप में स्वीकृत किया है।^{१०} चारित्रसामायिक के छह और आठ निरुक्त क्रिया पर आधारित हैं। यहां चारित्रसामायिक प्राप्त करने के साधनों को ही उसकी निरुक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। सम्यक्त्वसामायिक के सात निरुक्त हैं—सम्यग्दृष्टि, अमोह,

१. उ २९/९, आवनि. ५०३।

२. भ. १/४२६ आया पे अज्जो सामाइए आवनि ४९४; आया खलु सामइयं.....

३. आवनि. ४९९।

४. आवनि. ५००।

५. आवनि. ४४७;

वइसाहसुइएक्कारसीय, पुव्वण्हदेसकालम्मि।

महसेणवणुज्जाणे, अणंतरं-परंपरं सेसं॥

६. विभामहे ३३८२;

केण कयं ति य ववहारओ जिणंदेण गणहेहि च।
तस्सामिणो उ निच्छयनयस्स ततो जओऽणनं॥

७. मूला ५३५।

८. आवहाटी. १ पृ. २४२; क्रियाकारक-भेद-पर्यायैः
शब्दार्थकथनं निरुक्तिः।

९. विभामहेटी पृ. ३२०; निश्चितोक्तिनिरुक्तिः।

१०. आवनि. ५६२।

शोधि, सद्भावदर्शन, बोधि, अविपर्यय, सुदृष्टि।^१

चारित्रसामायिक के दो भेद हैं—देशविरति और सर्वविरति। देशविरति सामायिक के ६ निरुक्त हैं—विरताविरति, संवृतासंवृत, बालपंडित, देशैकदेशविरति, अणुधर्म^२ और अगारधर्म^३। सर्वविरति सामायिक की आठ निरुक्तियां हैं^४—

१. सामायिक—सम—मध्यस्थभाव की आय—उपलब्धि।
२. समयिक—सभी जीवों के प्रति दया का भाव।
३. सम्यग्वाद—राग-द्वेष रहित यथार्थ-कथन।
४. समास—जीव की संसार-समुद्र से पारगामिता अथवा कर्मों का सम्यक् क्षेपण।
५. संक्षेप—महान् अर्थ का अल्पाक्षरों में कथन।
६. अनवद्य—पापशून्य प्रक्रिया।
७. परिज्ञा—पाप के परित्याग का सम्पूर्ण ज्ञान।
८. प्रत्याख्यान—गुरु की साक्षी से हेय प्रवृत्ति से निवृत्ति।

आचार्य भद्रबाहु ने इन आठ निरुक्तियों में क्रमशः दमदंत, मुनि मेतार्य, कालकपृच्छा, चिलातपुत्र, ऋषि आत्रेय, धर्मरुचि, इलापुत्र और तेतलिपुत्र आदि आठ अनुष्ठानकर्त्ताओं के कथानक दिए हैं। ये आठों कथानक उत्कृष्ट समताभाव के निदर्शन हैं। कथानकों के विस्तार हेतु देखें—परि. ३, कथा संख्या ११२-११७, इलापुत्र के कथानक हेतु देखें कथा सं. १११।

सामायिक के अधिकारी

सामायिक का अधिकारी कौन होता है? इसकी विस्तृत चर्चा आवश्यकनिर्युक्ति, मूलाचार आदि ग्रंथों में मिलती है। एक चिंतनीय प्रश्न यह है कि षडावश्यक में वर्णित सामायिक और श्रावक के नित्यक्रम में की जाने वाली सामायिक में अंतर है या नहीं? इस बारे में आचार्यों ने विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया लेकिन संभव यही लगता है कि षडावश्यक में वर्णित सामायिक का ही प्रायोगिक रूप यह सामायिक है। आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि सामायिक करते हुए श्रावक श्रमण की भांति हो जाता है।^५ वट्टकेर ने इस प्रसंग में एक उदाहरण देते हुए कहा है कि सामायिक करते हुए श्रावक के पास बाणों से विद्ध हरिण आकर मर गया फिर भी श्रावक ने सामायिक को भंग नहीं किया।^६

सामायिक करने की अर्हता का वर्णन करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में जागरूक है, उसके सामायिक होती है। जो त्रस और स्थावर सब प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, उसके सामायिक होती है।^७ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार प्रियधर्मा, दृढधर्मा, संविग्न, पापभीरू, अशठ, क्षान्त, दान्त, गुप्त, स्थिरव्रती, जितेन्द्रिय, ऋजु, मध्यस्थ, समित और साधुसंगति में रत—इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति सामायिक ग्रहण करने के योग्य होता है।^८

१. आवनि. ५६१।

२. विभामहेटी पृ. ५५४; बृहत्साधुधर्मापेक्षयाऽणुरूपो धर्मोऽणुधर्मः।

३. आवनि. ५६३।

४. आवनि. ५६४।

५. आवनि. ५०५, मूला. ५३३।

६. मूला ५३४।

७. आवनि. ५०१, ५०२, मूला. ५२५, ५२६।

८. विभामहे ३४१०, ३४११।

आचार्य वट्टकेर के अनुसार सामायिक में परिणत वही जीव होता है, जिसने परीषह और उपसर्ग को जीत लिया है, जो भावना और समितियों में उपयुक्त है^१, जो स्व तथा अन्य आत्माओं में समान है, सब महिलाओं में जिसकी दृष्टि मातृवत् है तथा जो प्रिय-अप्रिय एवं मान-अपमान आदि परिस्थितियों में समान है।^२ सैद्धान्तिक ज्ञान के आधार पर जो द्रव्य, गुण और पर्यायों के समवाय एवं सद्भाव को जानता है, उसके उत्तम सामायिक सिद्ध होती है।^३ जो सर्व सावद्य योगों से विरत, तीन गुणियों से गुप्त एवं जितेन्द्रिय होता है, वह संयमस्थान रूप उत्तम सामायिक में परिणत हो जाता है^४ फिर सामायिक और सामायिक-कर्त्ता में कोई भेद नहीं रहता।

निर्युक्तिकार ने स्थिति, अन्तरकाल, विरहकाल, अविरहकाल, भव, आकर्ष, ज्ञान, उपयोग, कर्मस्थिति, आयुष्य, गति, संहनन, संस्थान, अवगाहना आदि अनेक दृष्टियों से भी सामायिक का विस्तृत विमर्श किया है। महत्त्वपूर्ण होने के कारण यहां केवल सामायिक का क्षेत्र और क्षेत्रस्पर्शना इस विषय का वर्णन किया जा रहा है।

सामायिक और क्षेत्र

सम्यक्त्वसामायिक की प्राप्ति तीनों लोकों में होती है। देशविरतिसामायिक की प्राप्ति केवल तिर्यक् लोक में तथा सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति मनुष्यलोक में होती है।^५ श्रुतसामायिक, सम्यक्त्वसामायिक तथा देशविरतिसामायिक के पूर्वप्रतिपन्नक नियमतः तीनों लोकों में होते हैं। सर्वविरति सामायिक के पूर्वप्रतिपन्नक अधोलोक और तिरछे लोक में नियमतः होते हैं। ऊर्ध्वलोक में इसकी भजना है।^६

महाविदेह क्षेत्र में सदैव चौथा अर रहता है अतः वहां चारों सामायिक की प्रतिपत्ति हो सकती है। समय क्षेत्र के बाहर केवल तिर्यञ्च होते हैं अतः वहां सर्वविरति सामायिक को छोड़कर शेष तीन सामायिक की प्रतिपत्ति संभव है। नंदीश्वर आदि द्वीपों में विद्याचारण मुनियों के जाने से तथा देवों द्वारा संहरण होने से वहां सर्वविरति सामायिक पूर्वप्रतिपन्नक हो सकता है।^७

देवकुरु, उत्तरकुरु आदि अकर्मभूमियों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का अभाव होने से वहां केवल श्रुतसामायिक और सम्यक्त्वसामायिक का सद्भाव होता है।^८

निर्युक्तिकार ने सामायिक का क्षेत्रस्पर्शना की दृष्टि से भी विचार किया है। सम्यक्त्वसामायिक और सर्वविरतिसामायिक से सम्पन्न जीव केवली समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करता है। श्रुतसामायिक और सर्वविरतिसामायिक से युक्त जीव इलिका गति से अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है, तब वह लोक के सप्त चतुर्दश ७/१४ भाग का स्पर्श करता है। सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक से उपपन्न जीव छठी नारकी में इलिका गति से उत्पन्न होता है। इस अपेक्षा से वह लोक के पंच चतुर्दश ५/१४ भाग का स्पर्श करता है। देशविरतिसामायिक से सम्पन्न जीव यदि इलिका गति से अच्युत देवलोक में उत्पन्न होता है तो ५/१४ भाग का स्पर्श करता है। यदि अन्य देवलोकों में उत्पन्न होता है तो वह द्वि चतुर्दश २/१४ आदि भागों का स्पर्श करता है।^९

१. मूला. ५२०।

२. मूला. ५२१।

३. मूला. ५२२।

४. आवभा. १४९, हाटी. १ पृ. २१८, मूला. ५२४।

५. आवनि. ५१०।

६. आवनि. ५११।

७. विभामहे २७१०, महेटी. पृ. ५३९।

८. विभामहेटी पृ. ५३९।

९. आवनि. ५५९, हाटी. १ पृ. २४२।

निर्युक्ति : एक परिचय

निर्युक्ति जैन आगमों का प्रथम पद्यबद्ध व्याख्या-साहित्य है। आर्या छंद में निबद्ध इस विधा में आचार्य भद्रबाहु ने विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की है। हरिभद्र ने इसे निरुक्ति नाम से भी अभिहित किया है। निर्युक्ति का अर्थ है—शब्द का सही अर्थ प्रकट करना। तत्कालीन प्रचलित शब्द के अनेक अर्थों को बताकर अंत में प्रस्तुत अर्थ का प्रकटीकरण ही निर्युक्ति का प्रयोजन है। इसके लिए निर्युक्तिकार ने निक्षेप पद्धति का आश्रय लिया है। इस पद्धति से उस समय में प्रचलित शब्द के अनेक अर्थों को बताकर प्रस्तुत अर्थ की सूत्र में आए शब्द के साथ सम्यक् योजना की गयी है।

निर्युक्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य भद्रबाहु कहते हैं—‘निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ निज्जुत्ती’^१—अर्थात् सूत्र के साथ अर्थ का निर्णय जिसके द्वारा होता है, वह निर्युक्ति है। आचार्य जिनदास के अनुसार निर्युक्ति का अर्थ है—सूत्र में निर्युक्त अर्थ की व्याख्या करने वाली रचना।^२ आचार्य शीलान्क भी प्रकारान्तर से यही बात कहते हैं। उनके अनुसार निश्चय रूप से सम्यक् अर्थ का निरूपण तथा सूत्र में ही परस्पर संबद्ध अर्थ को प्रकट करना निर्युक्ति का प्रयोजन है।^३ कोट्याचार्य के अभिमत से विषय और विषयी के निश्चित अर्थ का संबंध जोड़ना निर्युक्ति है।^४ टीकाकारों ने विविध प्रकार से निर्युक्ति शब्द के अनेक निरुक्त किए हैं।^५

डॉ. नथमल टांटिया के अनुसार निर्युक्तियां व्याख्यात्मक विषय-सूचियां या अर्थकथाएं हैं। जो आगम सूत्राकार में मिलते हैं, उनमें प्राचीनकाल में छोटे-छोटे उपोद्घात थे, जो सूत्रों की उत्थानिका के रूप में थे। स्थानांग आदि सूत्रों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। शूब्रिंग आदि कुछ विद्वानों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि स्थानांग जैसे सूत्रों में संगृहीत विषयों की पृष्ठभूमि संक्षेपीकरण के उद्देश्य से निकाल दी गई है। जर्मन विद्वान् शार्पेन्टियर इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं—‘निर्युक्तियां प्रधान रूप से केवल इंडेक्स का काम करती हैं। ये सभी विस्तृत घटनावर्णियों का संक्षेप में उल्लेख करती हैं।’ विशेषावश्यक भाष्य में व्याख्यान-विधि के तीन प्रकार हैं, उनमें निर्युक्ति का दूसरा स्थान है।^६ कहा जा सकता है कि व्याख्या साहित्य में निर्युक्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। निर्युक्ति का कर्तृत्व, रचनाकाल आदि के बारे में हम अगले खंड में विस्तार से चर्चा करेंगे।

निर्युक्ति का प्रयोजन

सूत्र में निर्युक्त अर्थ की व्याख्या करना निर्युक्ति है। चूर्णिकार एवं टीकाकार ने प्रश्न उपस्थित किया है कि सूत्र में अर्थ सम्यक् रूप से निबद्ध हैं ही फिर अलग से निर्युक्तियां लिखने की आवश्यकता क्यों हुई? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं निर्युक्तिकार देते हुए कहते हैं—‘तह वि य इच्छावेइ, विभासिउं

१. आवनि ८२; आवमटी. प. १००; सूत्रार्थयोः परस्परं निर्योजनं संबंधनं निर्युक्तिः।

२. आवचू. १ पृ. ९२; सुत्तनिज्जुत्तात्थनिज्जुहणं निज्जुत्ती।

३. सूटी पृ. १; योजनं युक्तिः—अर्थघटना निश्चयेनाधिक्येन वा युक्ति निर्युक्तिः सम्यगर्थप्रकटनम्। निर्युक्तानां वा सूत्रेष्वेव परस्परसंबद्धानामर्थानामविर्भावानं युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिः।

४. विभाकोटी पृ. २७६; नियोजनं निश्चितं सम्बन्धनं तयो

विषयविषयिणो निर्युक्तिरभिधीयते।

५. दशहाटी प. २;

(अ) निर्युक्तानामेव सूत्रार्थानां युक्तिः—परिपाठ्या योजनं निर्युक्तियुक्तिरिति वाच्ये युक्तशब्दलोपान्निर्युक्तिः।

(ब) ओनिटी प. ४।

६. विभासहे ५६३; पंचभा २३७४;

सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमोसओ भणिओ।

तइओ य निरवसेसो, एस विही होति अणुओगे॥

सुत्तपरिवाडी^१ सूत्र-पद्धति की विविध प्रकार से व्याख्या करके शिष्यों को समझाने हेतु निर्युक्ति की रचना की जा रही है। उदाहरण देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे मंख चित्रफलक पर लिखित वस्तु को भी अंगुलि, शलाका आदि से इशारा करके तथा मुंह से बोलकर समझाता है। इसी प्रकार श्रोता को सुखपूर्वक समझाने के लिए उन पर अनुग्रहबुद्धि से सूत्र में निर्युक्त अर्थ की भी आचार्य व्याख्या करते हैं।^२ आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि 'इच्छावेइ' शब्द से निर्युक्तिकार का तात्पर्य है कि शिष्य ही सूत्र को सम्यग् न समझने के कारण गुरु को प्रेरित करके सूत्र-व्याख्या करने की इच्छा उत्पन्न करते हैं।^३ भाष्यकार के अनुसार बिना इच्छा के भी शिष्य आचार्य को सूत्र-परिपाटी अर्थात् सूत्र की व्याख्या रूप निर्युक्ति लिखने को प्रेरित करते हैं।^४

पिंडनिर्युक्ति की टीका में मलयगिरि स्पष्ट कहते हैं कि स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में कुछ लिखना निर्युक्तिकार का प्रयोजन नहीं था। सूत्र में निबद्ध अर्थ को व्याख्यायित करना ही उनको अभीष्ट था।^५ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी निर्युक्ति लिखने का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मंदबुद्धि शिष्य व्याख्या के बिना सारे अर्थों को नहीं जान पाते अतः सूत्र में कहे गए अर्थों को निर्युक्ति के द्वारा व्याख्यात किया जाता है।^६

निर्युक्ति के भेद

मुख्यतः निर्युक्ति के तीन भेद मिलते हैं—१. निक्षेप निर्युक्ति २. उपोद्घात निर्युक्ति ३. सूत्र-स्पर्शिक निर्युक्ति।^७ सर्वप्रथम निक्षेप निर्युक्ति में निक्षेप द्वारा पारिभाषिक शब्दों का अर्थकथन होता है। निर्युक्ति और निक्षेप का भेद स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि निर्युक्ति में सूत्र की व्याख्या होती है और निक्षेप में सूत्र का न्यास मात्र होता है।^८ उपोद्घात निर्युक्ति में २६ प्रकार से उस विषय या शब्द की मीमांसा होती है।^९

व्याख्येय सूत्र को व्याख्या-विधि के निकट लाना, जिस सूत्र की जिस प्रसंग में जो व्याख्या करनी हो, उसकी पृष्ठभूमि तैयार करना उपोद्घात कहलाता है। उपोद्घात के अर्थ का कथन उपोद्घात निर्युक्ति है। यहां सामायिक के माध्यम से उपोद्घात के छब्बीस द्वारों की व्याख्या की जा रही है—

१. उद्देश—सामान्य रूप से नाम कथन करना^{१०}, जैसे—आवश्यक।

२. निर्देश^{११}—विशेष नाम का निर्देश करना^{१२}, जैसे—सामायिक।

१. आवनि ८२।

२. विभामहे १०८९, महेटी पृ. २५०।

३. आवहाटी. १ पृ. ४५।

४. विभामहे १०८८;

तो सुयपरिवाडि च्चिय, इच्छावेइ तमणिच्छमाणं पि।

निज्जुते वि तदत्थे, वोत्तुं तदणुगहट्टाए॥

५. पिंनिटी. प. १; निर्युक्तयो न स्वतंत्रशास्त्ररूपाः किंतु तत्तत्सूत्रपरतंत्राः तथा तद्व्युत्पत्त्याश्रयणात्, तथाहि सूत्रोपात्ता अर्थाः स्वरूपेण संबद्धा अपि शिष्यान् प्रति निर्युज्यन्ते—निश्चितं संबद्धा उपदिश्य व्याख्यायते यकाभिस्ताः निर्युक्तयः।

६. विभामहे १०८७;

सुत्ते निज्जुत्ताणं, निज्जुत्तीए पुणो किमत्थाणं ?।

निज्जुत्ते वि न सव्वे, कोइ अवक्खाणिए मुणइ॥

७. विभामहे ९६७; निज्जुत्तित्तिकप्पा, णासोवग्धातसुत्तवक्खाणं।

८. विभामहे ९६५; निज्जुत्ती वक्खाणं, निक्खेवो नासमेत्तं तु।

९. आवनि. १२५, १२६।

१०. विभामहेटी पृ. ३१९; वस्तुनः सामान्याभिधानमुद्देशः।

११. उद्देश निर्देश की विस्तृत जानकारी हेतु देखें, विभामहे ९७५-९८४।

१२. विभामहेटी पृ. ३१९; निर्देशनं वस्तुन एव विशेषाभिधानं निर्देशः, यथा—सामायिकम्।

३. निर्गम—उत्पत्ति के मूल स्रोत की खोज करना, जैसे सामायिक का निर्गम महावीर से हुआ।
४. क्षेत्र—महासेनवन नामक उद्यान में सामायिक की उत्पत्ति हुई।^१
५. काल—सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक की प्रतिपत्ति सुषम-सुषमा, सुषमा आदि छहों कालखंडों में होती है। देशविरतिसामायिक व सर्वविरतिसामायिक की प्रतिपत्ति उत्सर्पिणी के दुःषम-सुषमा और सुषम-दुःषमा तथा अवसर्पिणी के सुषम-दुःषमा, दुःषम-सुषमा और दुःषमा इन कालखंडों में होती है।^२
६. पुरुष—व्यवहार दृष्टि में सामायिक का प्रतिपादन तीर्थंकर और गणधरों ने किया। निश्चय नय के अनुसार सामायिक का कर्ता है—सामायिक का विधिवत् अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति।^३
७. कारण—तीर्थंकर नामगोत्र कर्म का वेदन करने के लिए तीर्थंकर सामायिक अध्ययन की प्ररूपणा करते हैं।^४ गौतम आदि ग्यारह गणधर ज्ञानवृद्धि के लिए तथा सुंदर और मंगल भावों की उपलब्धि के लिए सामायिक का श्रवण करते हैं।^५
८. प्रत्यय—‘मैं केवलज्ञानी हूँ’ इस प्रत्यय से अर्हत् सामायिक का कथन करते हैं। सुनने वालों को यह प्रत्यय होता है कि ‘ये सर्वज्ञ हैं’ इसलिए वे सुनते हैं।^६
९. लक्षण—
- सम्यक्त्वसामायिक का लक्षण है—तत्त्वश्रद्धा।
 - श्रुतसामायिक का लक्षण है—जीव आदि का परिज्ञान।
 - चारित्रसामायिक का लक्षण है—सावधयोग से विरति।^७
१०. नय—विभिन्न नयों के अनुसार सामायिक क्या है ?
- नैगम नय के अनुसार सामायिक अध्ययन के लिए उद्दिष्ट शिष्य यदि वर्तमान में सामायिक का अध्ययन नहीं कर रहा है, तब भी वह सामायिक है।
 - संग्रह नय और व्यवहार नय के अनुसार सामायिक अध्ययन को पढ़ने के लिए गुरु के चरणों में आसीन शिष्य सामायिक है।
 - ऋजुसूत्र के अनुसार अनुयोगपूर्वक सामायिक अध्ययन को पढ़ने वाला शिष्य सामायिक है।
 - शब्द आदि तीनों नयों के अनुसार शब्दक्रिया से रहित सामायिक में उपयुक्त शिष्य सामायिक है क्योंकि इनके अनुसार विशुद्ध परिणाम ही सामायिक है।^८
११. समवतार—किस सामायिक का समवतार किस करण में होता है ?
- द्रव्यार्थिक नय के अनुसार गुणप्रतिपन्न जीव सामायिक है अतः उसका समवतार द्रव्यकरण में होता है। पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशविरतिसामायिक और सर्वविरतिसामायिक जीव के गुण हैं अतः इनका समवतार भावकरण में होता है। भावकरण

१. आवनि. ४४७।

२. आवनि. ५१४, महेटी पृ. ५३९।

३. विभा ३३८२, महेटी पृ. ६४४।

४. आवनि ४५५।

५. आवनि ४५८।

६. आवनि. ४६३।

७. विभा महेटी पृ. ३९९।

८. विभा ३३९१-३३९४, महेटी पृ. ६४६।

के दो भेद हैं—श्रुतकरण और नोश्रुतकरण।^१ श्रुतसामायिक का समवतार मुख्यतः श्रुतकरण में होता है। शेष तीन सामायिकों—सम्यक्त्वसामायिक, देशविरतिसामायिक और सर्वविरतिसामायिक का समवतार नोश्रुतकरण में होता है।

१२. अनुमत—नय की दृष्टि से कौन सी सामायिक मोक्ष मार्ग का कारण है, इसका विचार करना अनुमत कहलाता है।

- ज्ञाननय को सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक दोनों अनुमत हैं। क्रियानय को देशविरतिसामायिक और सर्वविरतिसामायिक—ये दोनों अनुमत हैं। क्रियारूप होने के कारण ये मुक्ति के कारण हैं। सम्यक्त्व सामायिक और श्रुतसामायिक इनके उपकारी मात्र होने से गौण हैं।^२

१३. किम्—सामायिक क्या है ?

- द्रव्यार्थिक नय से गुण-प्रतिपन्न जीव सामायिक है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जीव का वही गुण सामायिक है।^३

१४. कतिविध—सामायिक के कितने प्रकार हैं ?

- सामायिक के तीन प्रकार हैं—१. सम्यक्त्वसामायिक २. श्रुतसामायिक और ३. चारित्रसामायिक।^४

१५. कस्य—सामायिक किसके होता है ?

- देखें सामायिक का अधिकारी, भूमिका पृ. २५।

१६. क्व—सामायिक कहाँ होता है ?

- सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक की प्राप्ति तीनों लोकों—ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग्लोक में होती है। देशविरतिसामायिक की प्राप्ति केवल तिर्यग्लोक में होती है। सर्वविरतिसामायिक की प्राप्ति तिर्यग्लोक के एक भाग—मनुष्य लोक में होती है।^५ विस्तार हेतु देखें सामायिक और क्षेत्र, भूमिका पृ. २६।

१७. केषु—सामायिक किन द्रव्यों में होता है ?

- नैगम नय के अनुसार सामायिक केवल मनोज्ञ द्रव्यों में ही संभव है क्योंकि वे मनोज्ञ परिणाम के कारण बनते हैं। शेष नयों के अनुसार सब द्रव्यों में सामायिक संभव है।^६

१८. कथम्—सामायिक की प्राप्ति कैसे होती है ?

- श्रुतसामायिक की प्राप्ति मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा दर्शन मोह के क्षयोपशम से होती है। सम्यक्त्वसामायिक की प्राप्ति दर्शनसप्तक के क्षयोपशम, उपशम और क्षय से होती है। देशविरतिसामायिक की प्राप्ति अप्रत्याख्यानावरण के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से होती है। सर्वविरतिसामायिक की प्राप्ति प्रत्याख्यानावरण के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से होती है।^७

१९. कियच्चिरम्—सामायिक की स्थिति कितने समय तक रहती है ?

- सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक की लब्धि की दृष्टि से उत्कृष्ट स्थिति छासठ सागरोपम से कुछ अधिक है।^८ देशविरतिसामायिक और सर्वविरतिसामायिक की उत्कृष्ट स्थिति देशोन

१. विभामहे ३३६१, ३३६२।

२. विभा ३५९२, महेटी पृ. ६७५।

३. आवनि. ४९६।

४. आवनि. ४९९।

५. आवनि. ५१०।

६. विभा ३३८५, ३३८६।

७. विभा ३४१७, महेटी पृ. ६४९।

८. आवनि. ५४९, हाटी. १ पृ. २४१।

पूर्वकोटि है। सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक और देशविरतिसामायिक की लब्धि की दृष्टि से जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और सर्वविरति सामायिक की एक समय है। उपयोग की अपेक्षा सबकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः नाना जीवों की अपेक्षा से सर्व काल है।^१

२०. कति—सामायिक के प्रतिपत्ता कितने हैं ?

- सम्यक्त्वसामायिक व देशविरतिसामायिक के प्रतिपत्ता एक काल में उत्कृष्टतः क्षेत्र पल्योपम के असंख्येय भाग में जितने आकाश-प्रदेश होते हैं, उतने हैं। देशविरतिसामायिक के प्रतिपत्ता से सम्यक्त्वसामायिक के प्रतिपत्ता असंख्येय गुण अधिक होते हैं। जघन्यतः एक या दो प्रतिपत्ता उपलब्ध होते हैं। श्रुतसामायिक के प्रतिपत्ता श्रेणी के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उत्कृष्टतः उतने होते हैं। जघन्यतः एक अथवा दो होते हैं। सर्वविरति सामायिक के प्रतिपत्ता उत्कृष्टतः सहस्रपृथक् (दो से नौ हजार) तथा जघन्यतः एक अथवा दो होते हैं।^२ (विशेष विवरण हेतु देखें विभामहे २७६४-७४)

२१. अंतर—जीव द्वारा सम्यक्त्व आदि सामायिक प्राप्त करने पर उसके परित्याग के बाद जितने समय पश्चात् पुनः उसकी प्राप्ति होती है, उसे अंतरकाल कहते हैं।

श्रुतसामायिक के प्रतिपत्ता का अंतरकाल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टतः अनंतकाल है। शेष तीन सामायिकों के प्रतिपत्ता का अंतरकाल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टतः देशोन अपार्थ पुद्गलपरावर्त जितना है। आशातनबहुल जीवों के उत्कृष्ट अंतर काल होता है। यह अंतरकाल एक जीव की अपेक्षा से है, नाना जीवों की अपेक्षा से अंतरकाल नहीं होता।^३

२२. अविरहित—जिस काल में सामायिक का प्रतिपत्ता कोई नहीं होता, वह उसका विरहकाल है। यहाँ अविरहकाल की विवक्षा है। सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक एवं देशविरतिसामायिक के प्रतिपत्ता आवलिका के असंख्येय भाग समयों तक निरंतर एक या दो आदि मिलते हैं, तत्पश्चात् उनका विरहकाल प्रारम्भ हो जाता है। चारित्रसामायिक के प्रतिपत्ता का अविरहकाल आठ समय तक होता है। उस समय में एक, दो आदि प्रतिपत्ता मिलते हैं, तत्पश्चात् उनका विरहकाल प्रारम्भ हो जाता है। सामायिक चतुष्क का जघन्यतः अविरहकाल दो समय का होता है।^४

२३. भव—सम्यक्त्वसामायिक और देशविरतिसामायिक के प्रतिपत्ता क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने आकाश-प्रदेश होते हैं, उत्कृष्टतः उतने भव करते हैं तथा जघन्यतः एक भव करते हैं। तत्पश्चात् मुक्त हो जाते हैं। चारित्रसामायिक का प्रतिपत्ता उत्कृष्ट आठ भव तथा जघन्यतः एक भव करता है। श्रुतसामायिक का प्रतिपत्ता उत्कृष्टतः अनंत भव तथा सामान्य रूप से जघन्यतः एक भव करता है। जैसे—मरुदेवी माता।^५

२४. आकर्ष—एक या अनेक भवों में सामायिक कितनी बार उपलब्ध होती है ?

- सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक और देशविरतिसामायिक का एक भव में सहस्रपृथक्त्व

१. विभामहे २७६३।

२. आवनि. ५५०, ५५१, हाटी. १ पृ. २४१।

३. आवनि. ५५३।

४. आवनि. ५५४, हाटी. १ पृ. २४१, २४२।

५. आवनि. ५५६, हाटी. १ पृ. २४२।

(२००० से ९०००) बार तक आकर्ष उपलब्ध हो सकता है। सर्वविरतिसामायिक का आकर्ष एक भव में शतपृथक्त्व (२०० से ९००) बार तक हो सकता है। यह उत्कृष्ट आकर्ष का उल्लेख है। न्यूनतम आकर्ष एक भव में एक बार होता है।^१

- सम्यक्त्वसामायिक और देशविरतिसामायिक का नाना भवों में उत्कृष्टतः असंख्येय हजार बार आकर्ष होता है। चारित्रसामायिक का प्रतिपत्ता उत्कृष्टतः नाना भवों में २ से ९ हजार तक आकर्ष करता है^२ तथा जघन्यतः एक भव करता है। श्रुतसामायिक का प्रतिपत्ता उत्कृष्टतः अनंत भवों में अनंत आकर्ष करता है तथा जघन्यतः एक भव करता है।

२५. स्पर्श—सामायिक का कर्ता कितने क्षेत्र का स्पर्श करता है ?

- सम्यक्त्वसामायिक और सर्वविरतिसामायिक से सम्पन्न जीव केवली-समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करता है। श्रुतसामायिक और सर्वविरतिसामायिक से सम्पन्न जीव इलिका गति से अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है, तब वह लोक के सप्त चतुर्दश (७/१४) भाग का स्पर्श करता है। सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक से सम्पन्न जीव छद्दी नारकी में इलिका गति से उत्पन्न होता है तब वह लोक के पंच चतुर्दश (५/१४) भाग का स्पर्श करता है। देशविरतिसामायिक से सम्पन्न जीव यदि इलिका गति से अच्युत देवलोक में उत्पन्न होता है तो वह पंच चतुर्दश (५/१४) भाग का स्पर्श करता है। इसका दूसरा विकल्प यह है कि यदि अन्य देवलोकों में उत्पन्न होता है तो वह द्वि चतुर्दश (२/१४) आदि भागों का स्पर्श करता है।^३

भावस्पर्शना की दृष्टि से श्रुतसामायिक संव्यवहार राशि के सब जीवों द्वारा स्पृष्ट है। सम्यक्त्व सामायिक और सर्वविरतिसामायिक सब सिद्धों द्वारा स्पृष्ट है। देशविरतिसामायिक असंख्येय भाग न्यून सिद्धों के द्वारा स्पृष्ट है। सब सिद्धों को बुद्धि से कल्पित असंख्येय भागों में विभक्त करने पर यह जाना जा सकता है। कोई-कोई जीव देशविरतिसामायिक का स्पर्श किए बिना भी मुक्त हो जाते हैं।^४

२६. निरुक्त—सामायिक के निरुक्त कितने होते हैं ?

- सम्यक्त्वसामायिक के सात, श्रुतसामायिक के चौदह, देशविरतिसामायिक के छह तथा सर्वविरतिसामायिक के आठ निरुक्त हैं।^५ विस्तार हेतु देखें सामायिक के निरुक्त भूमिका पृ. २४।

तीसरी सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति में अस्खलित, अन्य वर्णों से अमिश्रित, अन्य ग्रंथों के वाक्यों से अमिश्रित, प्रतिपूर्ण, घोषयुक्त, कंठ और होठ से निकला हुआ, गुरु की वाचना से प्राप्त सूत्र का उच्चारण करना होता है। इससे स्वसमयपद, परसमयपद, बंधपद, मोक्षपद, सामायिकपद और नोसामायिकपद—ये सब जाने जाते हैं।^६

१. विभा २७८०, महेटी पृ. ५५३;

तिण्ह सहस्सपुहत्तं, सयपुहत्तं च होइ विरईए।

एणभवे आगरिसा, एवइया हुंति नायव्वा॥

२. विभा २७८१, महेटी पृ. ५५३;

तिण्ह पुहत्तमसंखा, सहस्सपुहत्तं च होइ विरईए।

नाणभवे आगरिसा, सुए अणंता उ नायव्वा॥

३. आबनि. ५५९, हाटी. १ पृ. २४२।

४. आबनि. ५६०।

५. आबनि. ५६१-५६४।

६. अनुद्वा. ७१४।

सामायिक निर्युक्ति

षडावश्यक में प्रथम स्थान सामायिक को प्राप्त है। निर्युक्तिकार ने अंतिम पांच आवश्यकों पर जितना विस्तार नहीं किया उससे भी अधिक गाथाओं में सामायिक आवश्यक की व्याख्या की है। श्रुतज्ञान के प्रसंग में भी उन्होंने सामायिक को प्रथम एवं बिंदुसार को अंतिम स्थान दिया है।^१

निर्युक्ति-रचना के क्रम में भद्रबाहु ने सर्वप्रथम आवश्यक निर्युक्ति की रचना की अतः इसमें उन्होंने अनेक विषयों का प्रतिपादन कर दिया है। बाद में लिखी जाने वाली निर्युक्तियों में अनेक विषयों की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने सामायिक निर्युक्ति में प्रतिपादित विषयों की ओर संकेत किया है। सामायिक निर्युक्ति में मंगलाचरण के रूप में उन्होंने किसी इष्टदेव को वंदन नहीं किया। पंचज्ञान रूपी नंदी के विस्तृत विवेचन से ग्रंथ का प्रारम्भ होता है। पांच ज्ञान का संक्षिप्त किन्तु सांगोपांग वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। ज्ञानमीमांसा का जो गहन विवेचन इस ग्रंथ में हुआ है, वह सम्पूर्ण दार्शनिक परम्परा की अपूर्व धरोहर है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विस्तृत व्याख्या के साथ ज्ञान के विषय में प्रचलित उस समय के मत-मतान्तरों का उल्लेख भी विशेषावश्यक भाष्य में कर दिया है।^२

ज्ञान की प्रस्तुति के बाद अभितज्ञानी भगवान् महावीर, गणधर, आचार्य एवं उपाध्यायों को वंदना की गयी है। भद्रबाहु ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि पांच ज्ञानों में श्रुत ज्ञान ही परम उपकारक एवं दीपक की भांति स्व पर प्रकाशक है। श्रुतज्ञान के द्वारा ही सब ज्ञानों का निरूपण हो सकता है अतः वे प्रतिज्ञा करते हैं—‘सुयनाणस्स भगवओ, निज्जुत्तिं कित्तइस्सामि’^३ अर्थात् मैं श्रुतज्ञान की निर्युक्ति कहूंगा। यहां उनके द्वारा उल्लिखित श्रुतज्ञान का तात्पर्य उन आगमों से हैं, जिन पर वे निर्युक्तियां लिखना चाहते हैं। आगे उन्होंने प्रतिज्ञात ग्रंथों का नामोल्लेख भी किया है।

आचार्य भद्रबाहु को आगम ग्रंथों के प्रथम व्याख्याकार होने का सौभाग्य प्राप्त है। उन्होंने अपनी व्याख्या का नाम निर्युक्ति रखा है तथा निर्युक्ति शब्द का वाच्यार्थ भी स्पष्ट किया है।^४ निर्युक्ति की व्याख्या प्रस्तुत करके आचार्य भद्रबाहु ने श्रुतज्ञान अर्थात् आगमग्रंथ के उद्भव को बहुत सरस रूपक से समझाया है। तीर्थंकर केवलज्ञान रूप पुण्यों की वृष्टि करते हैं और गणधर उसे अपने बुद्धि-पट में धारण करके माला आदि का संग्रथन करते हैं।^५ तीर्थंकर केवल अर्थ रूप में देशना देते हैं तथा गणधर उसको सूत्र रूप में प्रस्तुत करते हैं।^६

आचार्य भद्रबाहु जिन दश निर्युक्तियों को लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं, उनमें प्रथम स्थान आवश्यक निर्युक्ति को प्राप्त है।^७ आवश्यक निर्युक्ति में भी निर्युक्तिकार सामायिक निर्युक्ति की रचना का विशेष रूप से संकल्प करते हैं क्योंकि यह गुरु परम्परा से उपदिष्ट है।^८ निर्युक्तिकार स्पष्ट संकेत करते हैं कि श्रुतज्ञान का सार चारित्र है और चारित्र का सार निर्वाण है।^९ इस प्रसंग में साहित्यिक शैली में अंधे और पंगु की उपमा द्वारा ज्ञान और चारित्र के संयोग की पुष्टि की है। उनके अनुसार चारित्र रहित ज्ञान निरर्थक है।

निर्युक्तिकार ने आगम ग्रंथों में प्रथम स्थान सामायिक को तथा अंतिम स्थान बिंदुसार को दिया है।

१. आवनि. ८७।

२. विभामहे ७९-८३६।

३. आवनि. ७९।

४. आवनि. ८२।

५. आवनि. ८३-८५।

६. आवनि. ८६।

७. आवनि. ८०।

८. आवनि. ८१/२।

९. आवनि. ८७।

डॉ. मोहनलाल मेहता ने एक प्रश्न उठाया है कि जैन आगम ग्रंथों में आचारांग सर्वप्रथम माना जाता है किन्तु यहां आचार्य भद्रबाहु सामायिक को सम्पूर्ण श्रुत के आदि में रखते हैं, ऐसा क्यों? इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि श्रमण के लिए सामायिक का अध्ययन सर्वप्रथम अनिवार्य है। सामायिक का अध्ययन करने के बाद ही वह दूसरे ग्रंथों का अध्ययन करता है क्योंकि चारित्र का प्रारम्भ भी सामायिक से होता है। चारित्र की पांच भूमिकाओं में प्रथम भूमिका सामायिक चारित्र की है।^१ आगमग्रंथों में भी जहां भगवान् महावीर के श्रमणों के श्रुताध्ययन की चर्चा है, वहां अनेक जगह अंग ग्रंथों के आदि में सामायिक का निर्देश है।^२

इसके पश्चात् सामायिक के अधिकारी का निरूपण है, जिसमें बताया गया है कि किस कर्म के क्षय, उपशम और क्षयोपशम से क्या उपलब्धि होती है? जीव केवलज्ञान या मोक्ष की प्राप्ति कैसे करता है? इसका भी उपशम और क्षपक—इन दो श्रेणियों के द्वारा सर्वांगीण तात्त्विक विवेचन किया गया है। आचार्य के इस विस्तृत विवेचन का अभिप्राय यही है कि श्रुतसामायिक का अधिकारी ही मोक्षगमन के योग्य बनता है। इस प्रसंग में सामायिक—प्राप्ति के नौ दृष्टान्त भी बहुत रोचक और प्रेरक हैं। प्रत्येक तीर्थंकर सर्वप्रथम श्रुत का उपदेश देते हैं, उसी से गणधर सूत्र का प्रवर्तन करते हैं। इस प्रकार जिन-प्रवचन की उत्पत्ति के संदर्भ में प्रवचन, सूत्र, तीर्थ एवं अनुयोग के पर्यायों का कथन किया गया है। अनुयोग का निक्षेप करते हुए अनुयोग और अननुयोग को दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है। सातों दृष्टान्त लौकिक एवं व्यावहारिक हैं। तत्पश्चात् निर्युक्तिकार भाषक, विभाषक आदि में भेद स्पष्ट करते हुए शिष्य के गुण-दोषों की चर्चा करते हैं।^३ व्याख्यान-विधि के २६ उपोद्घात^४ द्वारों का उल्लेख भी आज की अध्यापन-विधि को नया दिशाबोध देने वाला है तथा किसी भी पुस्तक की प्रस्तावना में जिन बातों की चर्चा आवश्यक है, उसकी सुंदर चर्चा प्रस्तुत करता है।

उद्देश एवं निर्देश के निक्षेपों के बाद निर्गम की विस्तृत चर्चा की गयी है। निर्गम के प्रसंग में भगवान् महावीर का मिथ्यात्व आदि से निकलना किस प्रकार हुआ, इस बहाने से उनके पूर्वभवों का वर्णन किया गया है।^५ भगवान् ऋषभ के पूर्वभव, इक्ष्वाकु वंश की स्थापना तथा कुलकरों की उत्पत्ति का भी रोचक वर्णन प्राप्त होता है। कुलकरों से संबंधित नाम, संहनन, प्रमाण आदि अनेक बातों का वर्णन करने के पश्चात् ऋषभ के जीवन का सर्वांगीण वर्णन मिलता है। ऋषभ के साथ-साथ अन्य तीर्थंकरों से संबंधित वर्ण, प्रमाण, संहनन, संबोधन आदि २१ द्वारों का वर्णन किया गया है।

इन सब बातों का सामायिक निर्युक्ति में वर्णन क्यों किया गया, इसका स्पष्टीकरण करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि निर्गम द्वार की चर्चा में भगवान् महावीर के पूर्वभव की चर्चा का प्रसंग आया। पूर्वजन्म के प्रसंग में मरीचि का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। मरीचि का संबंध सीधा ऋषभ से जुड़ता है क्योंकि वह ऋषभ का पौत्र था। ऋषभ के जीवन के विविध प्रसंग तथा भरत-बाहुबलि के युद्ध का भी वर्णन है। इसके पश्चात् मरीचि के द्वारा त्रिदंडी सम्प्रदाय के प्रवर्तन का भी रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक अनेक तथ्यों की क्रमबद्ध सुरक्षा का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य भद्रबाहु को है। सामायिक

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ३ पृ. ६७।

४. आवनि. १२५, १२६।

२. ज्ञाता।

५. आवनि. १३१।

३. आवनि. १२०-१२४।

निर्युक्ति में उन्होंने इतिहास के अनेक तथ्यों की सुरक्षा की है।

ऋषभ के बाद महावीर के जीवन के विविध प्रसंग, साधनाकाल के कष्ट आदि का स्थान एवं व्यक्ति के नाम सहित विस्तृत विवेचन है। महावीर के जीवन को स्वप्न, गर्भापहार आदि १३ द्वारों से निरूपित किया है। कैवल्य-प्राप्ति के बाद भगवान् महावीर महासेन वन उद्यान में पहुंचे, वहां दूसरा समवसरण हुआ। उस समय सोमिल ब्राह्मण की यज्ञवाटिका में यज्ञ का आयोजन हो रहा था। यज्ञवाट के उत्तर में देवताओं द्वारा भगवान् की स्तुति की जा रही थी। दिव्य ध्वनि से चारों दिशाएं गूंज रही थीं। उसी यज्ञवाटिका में धुरंधर विद्वान् इन्द्रभूति गौतम आदि ११ ब्राह्मण विपुल शिष्य-संपदा के साथ आए हुए थे। इस प्रसंग में निर्युक्तिकार ने गणधरों का महावीर के पास आना, उनकी शंकाओं का निराकरण होने पर महावीर के चरणों में शिष्य-मंडली के साथ प्रव्रजित होने का सुंदर वर्णन किया है। गणधरों की शंकाएं क्रमशः इस प्रकार थीं—१. जीव का अस्तित्व २. कर्म का अस्तित्व ३. जीव और शरीर का अभेद ४. भूतों का अस्तित्व ५. इहभव-परभव सादृश्य ६. बंध-मोक्ष ७. देवों का अस्तित्व ८. नरक का अस्तित्व ९. पुण्य-पाप १०. परलोक की सत्ता ११. निर्वाण का अस्तित्व। ये सारी शंकाएं गणधरों के मनोगत थीं। कोई उन्हें जान नहीं पाया था। महावीर ने उन शंकाओं को प्रकाशित कर, उनके ही ग्रंथों से उनका समाधान प्रस्तुत किया। गणधरों एवं उनकी शंकाओं का सबसे प्राचीन उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में मिलता है। निर्युक्तिकार ने वेदपदों के आधार पर गणधरों के माध्यम से शंकाओं को उभारा और जैन दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। यहां एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि निर्युक्तिकार ने महावीर के मुख से केवल संशय प्रस्तुत करवाए हैं, उनका समाधान क्यों नहीं दिया? इस प्रश्न के संदर्भ में यह बात संभव है कि प्रत्येक गणधर की शंका का समाधान प्रस्तुत करने वाली गाथा भाष्य में मिल गयी हो अथवा निर्युक्तिकार ने इस प्रसंग को अछूता ही छोड़ दिया हो।

निर्गम द्वार की चर्चा के प्रसंग में ही सामायिक का निर्गम कब हुआ, इसका उल्लेख मिलता है। सामायिक के अर्थकर्ता तीर्थंकर तथा सूत्रकर्ता गणधर हैं। इसके पश्चात् निर्गम के काल आदि अन्य निक्षेपों का वर्णन है। निर्गम के पश्चात् उपोद्घात निर्युक्ति के क्षेत्र, काल, पुरुष आदि द्वारों का वर्णन मिलता है। नय के प्रसंग में आर्य वज्र के जीवन-प्रसंगों का विस्तृत उल्लेख है तथा आर्य रक्षित के जीवन प्रसंग के साथ उन्होंने चारों अनुयोगों का पृथक्करण किया, इसका भी वर्णन प्राप्त है। निहवों का सम्पूर्ण वर्णन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

इसके पश्चात् सामायिक, सामायिक के भेद, उसके अधिकारी की योग्यता, सामायिक कहां आदि विविध द्वारों का समाधान दिया गया है। अंतिम निरुक्ति द्वार में सामायिक के निरुक्तों का उल्लेख कर सर्वविरति के आठ निरुक्त एवं उनसे सम्बन्धित आठ ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन-प्रसंगों का संकेत दिया गया है, जिन्होंने समता का विशेष अभ्यास किया था।

सामायिक का प्रारम्भ नमस्कार मंत्र (परमेष्ठी नमस्कार) से होता है अतः निर्युक्तिकार ने अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनका विवेचन करते हुए नमस्कार की उत्पत्ति, पद, पदार्थ, प्ररूपणा, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन, फल आदि ११ द्वारों का निरूपण किया है। इसमें सिद्धों का स्वरूप-वर्णन बहुत विस्तृत एवं महत्वपूर्ण हुआ है। सिद्ध से संबंधित निर्युक्ति की गाथाएं प्रज्ञापना एवं औपपातिक सूत्र में भी मिलती हैं। बुद्धिसिद्ध के प्रसंग में औत्पत्तिकी आदि चार बुद्धियों का स्वरूप एवं उनके दृष्टान्तों का संकेत

भी दिया गया है। नमस्कार का विस्तृत विवेचन होने के कारण इसका नमस्कारनिर्युक्ति—यह स्वतंत्र नाम भी प्रसिद्ध हो गया है।

इसके पश्चात् करण, भंते, सामायिक, सर्व, सावद्य, योग, प्रत्याख्यान और यावज्जीवन आदि सामायिक के पदों की व्याख्या की गयी है। कहा जा सकता है कि इस निर्युक्ति में सामायिक पर तो सांगोपांग विवेचन मिलता ही है, साथ ही अन्य अनेक विषयों पर भी विशिष्ट जानकारी प्राप्त होती है। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस ग्रंथ की विषय-वस्तु का समायोजन ग्रंथकार ने बहुत सुंदर एवं व्यवस्थित ढंग से किया है।

सामायिक निर्युक्ति की गाथा संख्या : एक अनुचिन्तन

प्रायः प्राचीन रचना के साथ अनधिकृत या प्रक्षिप्त अंश जुड़ने की समस्या जुड़ी रहती है। इस समस्या का समाधान जितना आवश्यक है, उतना ही कठिन भी है। प्रक्षिप्त अंश को जानने के लिए उस रचना की पांडुलिपि एवं उसके व्याख्या ग्रंथों का गंभीरता से पारायण करना पड़ता है। सामायिक निर्युक्ति की उपलब्धि के चार स्रोत प्राप्त होते हैं—१. निर्युक्ति की हस्तलिखित प्रतियां २. चूर्णि ३. भाष्य ४. तथा टीका-साहित्य।

तीनों छेद सूत्रों के भाष्य निर्युक्ति गाथाओं के साथ मिलकर एक ग्रंथ रूप हो गए हैं। आवश्यक निर्युक्ति पर लिखे गए भाष्य का स्वतंत्र अस्तित्व मिलता है लेकिन उसमें भी निर्युक्ति गाथाओं का सम्मिश्रण हो गया है। सामायिक निर्युक्ति की जितनी भी हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हुई, उनमें भाष्य और निर्युक्ति की गाथाएं तथा अन्य अनेक प्रक्षिप्त गाथाएं भी साथ में लिखी हुई मिलीं अतः उनके आधार पर गाथाओं का निर्णय संभव नहीं था। प्रतियों का लेखन प्रायः मुनि या यति लोग करते थे। वे व्याख्यान की सामग्री के लिए अथवा प्रसंगवश कुछ गाथाएं स्मृति हेतु हासिए में लिख देते थे। कालान्तर में वे मूल सूत्र के साथ जुड़ जाती थीं। सामायिक निर्युक्ति में भी ऐसा अनेक स्थलों पर हुआ है। सामायिक निर्युक्ति पर लिखे गए विशेषावश्यक भाष्य पर तीन टीकाएं मिलती हैं—१. स्वोपज्ञ, २. कोट्याचार्यकृत तथा ३. मलधारी हेमचन्द्रकृत। इन तीनों में भी भाष्य-संख्या एवं निर्युक्ति-संख्या में पर्याप्त अंतर है। सामायिक निर्युक्ति की गाथा-संख्या के निर्धारण में चूर्णि को भी पूर्णतया प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें भाष्य गाथाओं की भी व्याख्या है। दूसरी बात, चूर्णि में गाथाओं का केवल संकेत मात्र है। अनेक स्थलों पर तो चूर्णिकार ने 'सुगमा' 'नवरं चत्तारि गाहाओ भाणियव्वाओ' मात्र इतना ही उल्लेख किया है। कहीं-कहीं गाथा की व्याख्या है पर उसका संकेत नहीं है। अनेक स्थलों पर चूर्णि में पूरी गाथा मिलती है पर व्याख्या नहीं है। वहां संभवतः गाथा संपादक द्वारा जोड़ दी गयी हो ऐसा प्रतीत होता है।

सामायिक निर्युक्ति के बारे में हमारा मतव्य है कि मूल रूप में इसमें बहुत कम गाथाएं थीं लेकिन बाद में आचार्यों ने प्रसंगवश अनेक गाथाओं की रचना कर उनको इसके साथ संयुक्त कर दिया अथवा अन्य गाथाओं का संग्रह कर दिया। साथ ही भाष्य की अनेक गाथाएं भी निर्युक्ति गाथा के रूप में प्रसिद्ध हो गयीं।

सामायिक निर्युक्ति पर मुख्यतः तीन संस्कृत व्याख्याएं मिलती हैं—१. हारिभद्रीया टीका

१. प्रकाशित मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका में निर्युक्ति के क्रमांक अलग से दिए हुए नहीं हैं।

२. मलयगिरीया टीका ३. आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका। इन तीनों में भी गाथा-संख्या में अनेक स्थलों पर विसंवादिता या विप्रतिपत्ति मिलती है। एक ही गाथा किसी व्याख्या ग्रंथ में निर्युक्ति गाथा के क्रमांक में है तो किसी में भाष्य गाथा के क्रम में। किसी ने उसे अन्यकर्तृकी के रूप में दर्शाया है तो किसी ने उसे प्रक्षिप्त गाथा के रूप में उल्लिखित किया है। प्रस्तुत ग्रंथ में गाथा-संख्या में इतना अंतर कैसे आया तथा व्याख्याकारों में इतना मतभेद कैसे रहा, यह ऐतिहासिक दृष्टि से शोध का विषय है। हमने पाठ-संपादन में केवल शब्दों पर ही ध्यान नहीं दिया परन्तु हर गाथा के पौर्वापर्य का भी गहराई से अनुचिंतन किया है। कौन गाथा बाद में प्रक्षिप्त हुई अथवा भाष्य की कौन गाथा निर्युक्ति के साथ जुड़ गयी, इस बारे में पाठ-संपादन में समालोचनात्मक पाद-टिप्पण प्रस्तुत कर दिए हैं। गाथा-निर्णय में मुख्यतः विशेषावश्यक भाष्य, उनकी टीकाएं एवं चूर्णि की सहायता महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। इन व्याख्या ग्रंथों के अभाव में गाथाओं पर जो समालोचनात्मक टिप्पण लिखे गए, वे संभव नहीं हो पाते।

भाषा-शैली एवं विषय की क्रमबद्धता भी प्रक्षिप्त अंशों को अलग करने में सहायक बनी है। अनेक स्थलों पर स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि इतना अंश अनधिकृत रूप से बाद में प्रक्षिप्त हो गया है, इसका मूल ग्रंथ के साथ कोई संबंध नहीं है। गाथाओं के क्रम में उन गाथाओं को न जोड़ने पर भी चालू विषय-वस्तु के क्रम में कोई अंतर नहीं आता।

पादटिप्पण में अनेक स्थलों पर हमने 'दोनों भाष्यों' इस शब्द का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य कोट्याचार्य कृत टीका वाला भाष्य एवं स्वोपज्ञ टीका वाले भाष्य से है। प्रकाशित मलयगिरि टीका में अनेक निर्युक्ति गाथाओं के आगे भाष्य गाथा के क्रमांक लगे हैं तथा अनेक भाष्य गाथाएं निर्युक्ति के क्रमांक में जुड़ गयी हैं। संभवतः प्रकाशन की त्रुटि से ऐसा हुआ है। हमने पादटिप्पण में इसका उल्लेख कर दिया है।

आवश्यक निर्युक्ति की गाथा संख्या का निर्धारण आज तक की प्रचलित अवधारणाओं से हटकर हुआ है। विस्तृत चर्चा हम पाठ-संपादन के दौरान पादटिप्पणों में कर चुके हैं फिर भी अनुसंधाताओं की सुविधा के लिए एक ही स्थान पर संक्षेप में उन बिन्दुओं को प्रकट कर रहे हैं—

१. कहीं-कहीं विशेषावश्यक भाष्य की गाथाएं भी निर्युक्ति के क्रमांक में जुड़ गयी हैं। जैसे २२/१ और २२/२—ये दोनों गाथाएं भाष्य की थीं लेकिन कालान्तर में निर्युक्तिगाथाओं के साथ जुड़ गयीं। इनको मूल गाथा के क्रमांक से न जोड़ने पर भी चालू विषयक्रम में कोई अंतर नहीं आता। इसी प्रकार गा. १००/१ भी भाष्यकार द्वारा द्वारगाथा के रूप में लिखी गयी थी लेकिन महत्त्वपूर्ण होने के कारण कालान्तर में टीकाओं में निर्युक्तिगाथा के क्रमांक में जुड़ गयी। चूर्णिकार ने इस गाथा का संकेत एवं व्याख्या नहीं की है। गा. ३६९/१ स्वी. १९७७, को. १९९५ में भाष्य गाथा के क्रम में है तथा बाद में को. २०१३ क्रमांक में यही गाथा निगा के क्रमांक में है। यह गाथा स्पष्टतया भाष्यकार की प्रतीत होती है। इसी प्रकार देखें—गाथा १३१/१, २।

२. कहीं-कहीं चूर्णि में गाथा का संकेत एवं व्याख्या न होने पर भी यदि सभी व्याख्या ग्रंथों में गाथा निर्युक्ति गाथा के क्रम में मिली है तो उसको निगा के क्रमांक में जोड़ा है, जैसे—आवनि गा. ३८। लेकिन जहां कहीं गाथा संपूर्ति रूप या व्याख्यात्मक लगी, वहां सभी व्याख्या ग्रंथों में मिलने पर भी चूर्णि में संकेत न होने से गाथा को निर्युक्तिगाथा के क्रमांक में नहीं जोड़ा है, जैसे—६५/१।

३. कहीं-कहीं चूर्ण अथवा भाष्य में गाथाओं का कोई संकेत अथवा व्याख्या नहीं है। उन्हीं गाथाओं के बारे में टीकाकार हरिभद्र 'निर्युक्तिकारेणाभ्यधायि' तथा आचार्य मलयगिरि 'चाह निर्युक्तिकृद्' का उल्लेख करते हैं। इससे स्पष्ट है कि हरिभद्र तथा मलयगिरि के समय तक ये गाथाएं निर्युक्ति गाथा के रूप में प्रसिद्ध हो गयी थीं। व्याख्यात्मक एवं उपसंहारात्मक लगने पर ऐसी गाथाओं को हमने निर्युक्ति गाथा के मूल क्रमांक में नहीं जोड़ा है, जैसे—गा. ७५/१।
४. जहां एक भी व्याख्या ग्रंथ में गाथा निर्युक्ति के रूप में स्वीकृत है, वह गाथा यदि हमें निर्युक्ति की प्रतीत नहीं हुई तो उस गाथा को निर्युक्ति गाथा के क्रम में तो रखा है लेकिन क्रमांक के साथ नहीं जोड़ा है, जैसे—७५/२, ३, ५१२/१-४। इसी प्रकार निहव से सम्बन्धित ४८७/१-२३—इन २३ गाथाओं के लिए केवल आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने निर्युक्ति गाथा का संकेत किया है। ये गाथाएं स्पष्टतया भाष्य की प्रतीत होती हैं क्योंकि ४८२-८७—इन छह गाथाओं में निर्युक्तिकार ने गणधर संबंधी संक्षिप्त जानकारी दे दी है।
५. चूर्ण एवं भाष्य की व्याख्या के अलावा विषय की क्रमबद्धता के आधार पर भी प्रक्षिप्त या बाद में जोड़ी गयी गाथाओं का निर्धारण किया गया है। ११०/१, २—ये दोनों गाथाएं पुनरुक्त एवं व्याख्यात्मक सी लगती हैं तथा ११०/३ गाथा सूक्ति रूप है। इन तीनों गाथाओं को निर्युक्ति के क्रमांक में नहीं रखने से विषय की क्रमबद्धता ठीक बैठती है।
६. अनेक स्थलों पर चूर्ण में पूरी गाथा प्रकाशित है पर उसकी व्याख्या नहीं है। ऐसी गाथाएं अधिकांशतया संपादक के द्वारा प्रकाशित चूर्ण में जोड़ दी गयी हैं। ये गाथाएं बाद के आचार्यों द्वारा व्याख्या रूप में प्राचीन कर्मग्रंथों से जोड़ दी गयी हैं। भाष्य में भी इनका निर्युक्ति गाथा के रूप में संकेत नहीं है, जैसे—१११/१, २।
७. हस्तप्रतियों में निर्युक्तिगाथा के क्रम में मिलने वाली गाथाओं के लिए यदि किसी व्याख्याकार ने अन्यकर्तृकी का उल्लेख किया है और भाष्य में भी जिनका उल्लेख नहीं है, उन गाथाओं को प्रायः हमने निर्युक्तिगाथा के मूल क्रमांक में नहीं जोड़ा है। जैसे १११/३-५—ये तीनों गाथाएं भाष्य में भी अनुपलब्ध हैं तथा मलयगिरि ने इनके लिए अन्यकर्तृकी गाथा का उल्लेख किया है।
८. कहीं-कहीं एक टीकाकार के समक्ष गाथाएं भाष्य गाथा के रूप में थीं लेकिन दूसरे व्याख्याकार ने उनको निर्युक्ति के रूप में व्याख्यायित किया है। वहां हमने विषय की क्रमबद्धता एवं निर्युक्ति की भाषा के आधार पर गाथा का निर्णय किया है। जैसे १३५/१-१७—इन सतरह गाथाओं के लिए मलयगिरि ने स्पष्ट रूप से भाष्य गाथा का उल्लेख किया है लेकिन दीपिका, हाटी एवं स्वोविभा में ये निर्युक्ति गाथा के क्रमांक में हैं। यहां ये गाथाएं १३५ वीं गाथा की व्याख्या रूप हैं। विषय की क्रमबद्धता की दृष्टि से १३५ वीं गाथा १३६ वीं गाथा से संबद्ध लगती है अतः हमने इन्हें निर्युक्तिगाथा के मूल क्रमांक में नहीं जोड़ा है।
९. छंद के आधार पर भी प्रक्षिप्त एवं व्याख्यात्मक गाथाओं की पहचान की गयी है। जैसे १३७ वीं गाथा द्वारगाथा है और अनुष्टुप् छंद में रचित है। इसके बाद १६ गाथाएं व्याख्यात्मक हैं। १३८-१४१—ये चार द्वारगाथाएं अनुष्टुप् छंद में हैं। १३७ वीं गाथा का सीधा संबंध १३८ वीं गाथा से जुड़ता है। ये पांचों

द्वारगाथाएं निर्युक्तिकार द्वारा रचित हैं। निर्युक्तिकार बीच में सब द्वारों की व्याख्या न करके केवल एक गाथा के द्वारों की ही व्याख्या क्यों करते? इसलिए १३७/१-१६—ये सोलह गाथाएं स्पष्टतया भाष्यकार या अन्य आचार्यों द्वारा रचित होनी चाहिए।

इसी प्रकार १४१/१ वीं गाथा भाष्य में भाष्यगाथा के क्रम में है लेकिन निर्युक्ति की तीनों टीकाओं में यह निर्युक्ति गाथा के क्रम में है। इस गाथा के आधार पर भी १३७/१-१६—इन सोलह गाथाओं को प्रक्षिप्त माना जा सकता है।^१

१०. भाष्य गाथा को पहचानने का एक तरीका यह भी था कि जहां भाष्यकार सभी द्वारों की व्याख्या कर रहे हैं, वहां एक द्वार की व्याख्या वाली गाथा निर्युक्ति की कैसे हो सकती है? जैसे १४१/१ गाथा में शिल्प द्वार की व्याख्या है। जब आहार, कर्म आदि द्वारों की भाष्यकार ने विस्तृत व्याख्या की है तब केवल एक शिल्पद्वार की व्याख्या वाली गाथा निर्युक्ति की कैसे हो सकती है? यद्यपि यह गाथा सभी टीकाओं में निगा के क्रम में है लेकिन हमने इसे निर्युक्ति के मूल क्रमांक में नहीं जोड़ा है।
११. भाष्य और चूर्ण में जिन गाथाओं की व्याख्या नहीं है, वे गाथाएं प्रायः बाद में प्रक्षिप्त हुई हैं। १४७/१-१०—ये दस गाथाएं भाष्य और चूर्ण में व्याख्यात नहीं हैं। ये व्याख्यात्मक एवं अतिरिक्त सी प्रतीत होती हैं क्योंकि 'संबोधन' और 'परित्याग' द्वार की व्याख्या गा. १४६, १४७ में हो चुकी है तथा तीसरे 'प्रत्येक' द्वार की व्याख्या आगे १४८ वीं गाथा में है अतः बीच की ये १० गाथाएं विषय को स्पष्ट करने के लिए बाद में जोड़ दी गयी हैं।

अनेक स्थलों पर चूर्ण में अव्याख्यात एवं अनिर्दिष्ट गाथा को भी चालू विषय की क्रमबद्धता के आधार पर निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा है, जैसे—गा. १५१—१५७—ये सात गाथाएं चूर्ण में व्याख्यात नहीं हैं लेकिन हमने इनको निर्युक्ति के क्रमांक में रखा है।

१२. जहां निर्युक्तिकार ने किसी द्वार की संक्षेप में व्याख्या कर दी है, वहां उसी द्वार की यदि विस्तृत व्याख्या करने वाली गाथाएं आई हैं तो वे स्पष्टतया भाष्य गाथाएं हैं। जैसे गा. १६४, १६५ में 'उप्यया नाण' द्वार की संक्षिप्त व्याख्या आ गयी है। फिर १६३/१-१२ तक की बारह गाथाओं में कौन से मास और किस तिथि में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, इसका वर्णन है। ये गाथाएं महेटी और कोटी में भी निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं हैं अतः स्पष्टतया भाष्य की होनी चाहिए। इसी प्रकार १८६/१-२५ इन पच्चीस गाथाओं में 'पर्याय' द्वार की व्याख्या है। पर्यायद्वार की व्याख्या निर्युक्तिकार १८२—८६—इन पांच गाथाओं में कर चुके हैं। भाष्य में भी ये गाथाएं निगा के क्रम में नहीं हैं।
१३. जिन गाथाओं के बारे में संदेहास्पद स्थिति थी, उनके बारे में व्याख्यात्मक होने या बाद में जोड़ने का पादटिप्पण में निर्देश दे दिया है लेकिन उन्हें मूल क्रमांक में जोड़ा है। जैसे २००-२०२ तक की तीन गाथाएं व्याख्यात्मक प्रतीत हुईं लेकिन संदेहास्पद होने के कारण उनको निर्युक्ति गाथा के क्रम में रखा है।
१४. कहीं-कहीं चरण की पुनरावृत्ति के आधार पर भी गाथाओं का निर्णय किया है। जैसे २०७ वीं गाथा का चरण उपपणमि अणंते २०७/१ गाथा में पुनरावृत्त हुआ है। सामान्यतः कोई भी रचनाकार इस प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं करते। ग्रंथ के व्याख्याकार अवश्य व्याख्या के समय मूल ग्रंथ के चरण या

१. विशेष विस्तार हेतु देखें गाथा १४१/१ का टिप्पण।

पाद की पुनरावृत्ति कर सकते हैं। इस गाथा की चूर्ण में व्याख्या भी नहीं है अतः २०७/१ गाथा भाष्य की होनी चाहिए।

१५. अनेक स्थलों पर हमने अपने चिंतन के आधार पर भी गाथाओं का निर्णय किया है। २३२/१ गाथा टीकाओं में निर्युक्ति गाथा के क्रम में व्याख्यात है लेकिन इसके निर्युक्तिगाथा न होने के निम्न कारण हो सकते हैं—

- २३२/१ में जिस शैली में उत्तर है, उसी शैली में भाष्य में इस उत्तर का प्रश्न दिया हुआ है।^१ प्रश्न भाष्यकार का और उत्तर निर्युक्तिकार का हो यह संभव नहीं है।
- निर्युक्तिकार ने गा. २३२ में द्वार गाथा के माध्यम से तीर्थंकर, चक्रवर्ती और वासुदेव आदि द्वारों के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की है। पुनः गाथा के माध्यम से प्रश्न करना कि कितने तीर्थंकर या चक्रवर्ती हुए, यह बात अटपटी लगती है।
- इस प्रकार की प्रश्नात्मक गाथाएं आगे भाष्य के क्रम में और भी आई हैं। देखें, गा. कोविभा १७५५, १७५६।
- यदि २३२/१ गाथा को निर्युक्ति की माने तो उसमें 'होहिंति' क्रिया का प्रयोग करके पुनः २३३ में निर्युक्तिकार होही क्रिया का प्रयोग नहीं करते अतः स्पष्ट है कि २३२/१ भाष्य की गाथा है।

१६. कहीं-कहीं गाथाओं के बारे में निर्णय करना अत्यन्त दुष्कर कार्य था। जैसे २३४/१, २—ये दोनों गाथाएं टीकाओं में निर्युक्तिगाथा के क्रम में प्रकाशित हैं। स्वी. में ये दोनों गाथाएं भाष्य और निर्युक्ति दोनों क्रम में न होकर नीचे पादटिप्पण में दी हुई हैं। कोट्याचार्य कृत भाष्य की टीका में ये भाष्यगाथा के क्रम में हैं। भाषा-शैली एवं विषयवस्तु के आधार पर ये भाष्यगाथाएं ही होनी चाहिए।

१७. कहीं-कहीं निर्युक्ति की गाथाएं भी भाष्य गाथाओं के क्रमांक में जुड़ गयी हैं। उनको हमने विषयवस्तु के आधार पर निर्युक्ति गाथा के क्रम में रखा है। गा. २३८, २३९ ये दोनों भाष्यगाथा के क्रम में हैं लेकिन ये गाथाएं विषयवस्तु की दृष्टि से २३७ वीं गाथा के साथ जुड़ती हैं। कौन से तीर्थंकर के अंतर में कौन-कौन चक्रवर्ती हुए, इसका उल्लेख गा. २३७ में है। यही वर्णन आगे २३८ एवं २३९ वीं गाथा में है अतः ये दोनों गाथाएं निर्युक्ति की होनी चाहिए।

१८. चालू विषयक्रम एवं पौर्वापर्य के आधार पर भी प्रक्षिप्त गाथाओं का निर्धारण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि तीर्थंकरों के बारे में विस्तृत जानकारी देने वाली गाथाएं भाष्य से निर्युक्ति गाथाओं में जुड़ गई हैं। २३६/१-४० तक की ४० गाथाओं में बीच की दश गाथाओं के अलावा तीस गाथाएं तीनों टीकाओं वाले भाष्य में नहीं हैं। हमने २३६/१-४०—इन ४० गाथाओं को निर्युक्ति गाथा के मूल क्रमांक में नहीं जोड़ा है क्योंकि २३६ वीं गाथा विषय-वस्तु की दृष्टि से २३७ वीं गाथा के साथ सीधी जुड़ती है। इसी प्रकार गा. ५८० के अंतिम चरण में 'पंच भवे तेसिमे हेतू' अर्थात् पंच परमेष्ठी को नमस्कार करने के ये पंच हेतु हैं। यह बात ५८१ वीं गाथा से जुड़ती है। ५८०/१ में आरोपण आदि का वर्णन अतिरिक्त विस्तार सा लगता है।

१९. आवश्यक निर्युक्ति में अनेक गाथाएं पुनरावृत्त हुई हैं। वहां जिस क्रम में गाथा का जो क्रम उचित

१. स्वीविभा १७४०; जारिसगा लोगगुरु, भरधे वासम्मि केवली तुब्बे।

एरिसया कति अण्णे, ताता ! होहिन्ति तित्थकरा ॥

लगा, वहां उस गाथा को मूल निर्युक्तिगाथा के क्रमांक में जोड़ा है। दूसरे स्थान पर उनको गाथा के क्रम में रखा है पर मूल निर्युक्ति गाथा के क्रमांक में नहीं जोड़ा, जैसे—२४५ वाली गाथा २४८/१ क्रमांक में पुनरुक्त हुई है पर उसे मूल क्रमांक में नहीं जोड़ा है। इसी प्रकार २११/३ गा. २१४ में पुनरुक्त हुई है, वहां उसे मूल क्रमांक में जोड़ा है। ऐसी पुनरावृत्ति और भी गाथाओं की हुई है।

२०. संवादी गाथाएं एक ही ग्रंथकार की रचना नहीं हो सकती। जहां कहीं एक ही भाव वाली पाठभेदयुक्त संवादी गाथाएं हैं, वहां हमने चूर्ण एवं भाष्य के आधार पर मूल निर्युक्ति का निर्णय किया है। जैसे ३३० वीं गाथा स्वोविभा और चूर्ण में है। लेकिन उन्हीं भावों वाली ३३०/१, २ ये दो गाथाएं टीकाओं में निगा के क्रम में मिलती हैं। कोविभा में ३३०/१ भाष्यगाथा (१९६७) के क्रम में तथा ३३०/२ निर्युक्ति गाथा (को ३९८/१९६८) के क्रम में है। यहां चूर्ण का क्रम संगत प्रतीत हुआ क्योंकि ३३०/१, २ ये दोनों गाथाएं ३३० वीं गाथा की संवादी एवं व्याख्यात्मक हैं।

२१. कहीं-कहीं अन्य ग्रंथ की गाथाएं भी आवश्यक निर्युक्ति का अंग बन गयी हैं। समवसरण वक्तव्यता के प्रसंग में निर्युक्तिकार ने ३५७-६२ इन छह गाथाओं में समवसरण का संक्षिप्त वर्णन कर दिया है। ३५६/१, २, ३६०/१, २ तथा ३६२/१-३८—ये ४२ गाथाएं समवसरण से सम्बन्धित होने के कारण बृहत्कल्पभाष्य से लेकर यहां जोड़ दी गयी हैं। ये व्याख्यात्मक सी प्रतीत होती हैं अतः हमने इनको मूल निर्युक्तिगाथा के क्रमांक में नहीं जोड़ा है।

विषय की स्पष्टता के लिए भी अन्य ग्रंथों की गाथाएं प्रसंगवश बाद के आचार्यों या लिपिकारों द्वारा जोड़ दी गयी हैं। जैसे ४३६/१-५७—ये ५७ गाथाएं सामाचारी को स्पष्ट करने के लिए अन्य ग्रंथ से यहां जोड़ी गयी हैं। भाष्य में ये गाथाएं अव्याख्यात हैं। टीकाओं में ये निगा के क्रम में हैं। इनको निगा के क्रम में रखने से चालू व्याख्या-क्रम में व्यवधान आता है। दूसरी बात जब ४३२ वीं द्वारगाथा के द्वारों की निर्युक्तिकार एक या दो गाथाओं में व्याख्या कर रहे हैं तो फिर 'उवक्कम द्वार' की व्याख्या ५७ गाथाओं में क्यों करेंगे? ये गाथाएं स्पष्टतया बाद में प्रक्षिप्त लगती हैं।

२२. कुछ संग्रह गाथाएं भी प्रसंगवश निर्युक्ति गाथाओं के साथ जुड़ गई हैं। जैसे—४३३/१ गाथा असम्बद्ध सी प्रतीत होती है।

२३. कहीं-कहीं मूलभाष्य की गाथा को भी विषय की क्रमबद्धता की दृष्टि से निर्युक्ति के क्रमांक में रखा है। गाथा ५०० हाटी, मटी और दीपिका में 'मूलभाष्यकृद्' उल्लेख के साथ मूलभाष्य के क्रमांक में है। अ, ब और ला प्रति में भी इसके लिए मूलभाष्य गाथा का संकेत है लेकिन हमने विषय की क्रमबद्धता के आधार पर इसे निर्युक्ति गाथा के क्रम में रखा है। विशेषावश्यक भाष्य में भी यह निगा के क्रम में है।

२४. भाष्य में निर्युक्ति गाथा के क्रम में होने पर भी हमने कहीं-कहीं गाथा को निर्युक्ति गाथा के क्रम में नहीं रखा है। जैसे ३६३/१, २ ये दोनों गाथाएं भाष्य में निर्युक्तिगाथा के क्रम में हैं। लेकिन ये अतिरिक्त एवं प्रक्षिप्त सी लगती हैं। इन दोनों गाथाओं से विषय की क्रमबद्धता में भी अवरोध सा आता है।

२५. आर्य वज्र के जीवन से सम्बन्धित ४७६/१-९—ये नौ गाथाएं स्पष्ट रूप से प्रसंगवश बाद में जोड़ी गयी प्रतीत होती हैं। ४७६ वीं गाथा से ४७७ वीं गाथा का सीधा सम्बन्ध जुड़ता है।

२६. कहीं-कहीं सभी व्याख्याग्रंथों में निर्युक्ति के क्रम में होने पर भी हमने उसको निर्युक्ति गाथा के क्रमांक

में नहीं जोड़ा। जैसे ५४७/१ गाथा स्पष्टतया भाष्यकार अथवा अन्य आचार्यों द्वारा जोड़ी गयी प्रतीत होती है क्योंकि गा. ५४६, ५४७ में निर्युक्तिकार ने सामायिक-प्राप्ति के ११ हेतु एवं उससे सम्बन्धित कथाओं का संकेत किया है। ५४७/१ में प्रथम 'वैद्य' कथा का उल्लेख है। निर्युक्तिकार अन्य कथाओं का विस्तार न करके केवल एक कथा का ही उल्लेख करें यह बात तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती।

इसी प्रकार ५६५/१-१४—ये चौदह गाथाएं भी कथाओं के विस्तार रूप हैं अतः निर्युक्ति की नहीं होनी चाहिए।

२७. प्रायः निर्युक्तिकार किसी एक गाथा की अधिक विस्तृत व्याख्या नहीं करते। ५८८ वीं गाथा की व्याख्या पच्चीस गाथाओं में हुई है। ५८८/१-२५ इन पच्चीस गाथाओं में औत्पत्तिकी आदि बुद्धि संबंधी कुछ गाथाएं नंदीसूत्र से ली गयी हैं तथा कुछ भाष्य गाथाएं भी हो सकती हैं।
२८. कुछ सम्बन्ध गाथाएं भी आवश्यक निर्युक्ति के साथ जुड़ गयी हैं। ६४५/१, २ इन दोनों गाथाओं में मंगलाचरण की बात कही है, जबकि आवश्यक निर्युक्ति के प्रारंभ में भी निर्युक्तिकार ने मंगलाचरण नहीं किया है। महे. और स्वोविभा. में इन गाथाओं का उल्लेख नहीं है। ये दोनों सम्बन्ध गाथाएं हैं और बाद के किसी आचार्य द्वारा जोड़ी गयी प्रतीत होती हैं।
२९. कुछ गाथाएं किसी व्याख्या ग्रंथ में नहीं मिलतीं, मात्र हस्त आदर्शों में ही मिलती हैं। वहां हमने विषय के पौर्वापर्य एवं संबद्धता के आधार पर गाथा का निर्णय किया है।

कुछ गाथाओं पर पुनः विमर्श

प्रकाशित होने के कारण कुछ गाथाओं के बारे में हम पादटिप्पण में विमर्श प्रस्तुत नहीं कर सके। यहां उनके बारे में कुछ चिंतनीय बिंदु प्रस्तुत हैं—

- निर्युक्तिकार ने ग्यारह गणधरों के प्रसंग में महावीर के मुख से केवल संशय प्रस्तुत करवाए हैं, उनका समाधान प्रस्तुत नहीं किया। इस संदर्भ में हमारा चिंतन है कि समाधान प्रस्तुत करने वाली एक मुख्य गाथा निर्युक्ति की थी लेकिन कालान्तर में वह भाष्य के साथ जुड़ गयी क्योंकि भाष्यकार ने गणधरवाद पर विस्तार से विमर्श प्रस्तुत किया है।
- गा. ३२०, ३२१—ये दोनों गाथाएं निर्युक्ति की नहीं होनी चाहिए। संगमदेव के उपसर्ग के बीच ये दोनों गाथाएं विषय के प्रसंग की दृष्टि से अतिरिक्त और अप्रासंगिक प्रतीत होती हैं। सभी व्याख्या ग्रंथों में निर्युक्ति गाथा के क्रम में होने के कारण हमने इनको निर्युक्ति गाथा के क्रमांक में रखा है।
- ५३६ वीं गाथा भी निर्युक्ति की नहीं होनी चाहिए क्योंकि दश दृष्टान्तों में निर्युक्तिकार ने 'जुग' दृष्टान्त की ही व्याख्या क्यों की? यदि वे व्याख्या करते तो सभी दृष्टान्तों की करते, केवल एक की नहीं।

यद्यपि गाथा-निर्धारण में हमने प्राचीन ग्रंथों को अधिक महत्त्व दिया है लेकिन एकान्त रूप से न हमने चूर्ण को प्रमाण माना है और न ही भाष्य अथवा टीका को। कहीं-कहीं स्वतंत्र चिंतन का उपयोग भी किया है। गाथा-निर्धारण का यह प्राथमिक प्रयास है, दावा नहीं किया जा सकता कि यह निर्धारण सही ही हुआ है। इस क्षेत्र में अभी गहन चिंतन की पर्याप्त संभावनाएं हैं।

व्याख्या-ग्रंथ

निर्युक्तियां संक्षिप्त शैली में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। बिना व्याख्या ग्रंथों के

निर्युक्ति गाथाओं के हार्द को समझना सरल काम नहीं है। प्रायः निर्युक्ति-साहित्य पर भाष्य, चूर्ण एवं टीका आदि व्याख्या ग्रंथ मिलते हैं।

सामायिक निर्युक्ति की प्रसिद्धि, लोकप्रियता एवं वैशिष्ट्य का स्वयंभू प्रमाण है इस पर सर्वाधिक व्याख्या-साहित्य का लिखा जाना। इस पर मुख्यतः निम्न व्याख्या ग्रंथ मिलते हैं—१. भाष्य, २. आचार्य जिनदास कृत चूर्ण, ३. हारिभद्रा टीका, ४. मलयगिरी कृत टीका, ५. आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका ६. आवश्यक निर्युक्ति अवचूर्ण, ७. आवश्यकटिप्पणकम्।

भाष्य

निर्युक्ति के बाद दूसरी व्याख्या भाष्य है। आवश्यक पर दो भाष्य मिलते हैं—आवश्यक मूलभाष्य एवं विशेषावश्यक भाष्य। डॉ. मोहन लाल मेहता के अनुसार आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं—१. मूलभाष्य २. भाष्य ३. विशेषावश्यक भाष्य। वर्तमान में भाष्य नाम से अलग न गाथाएं मिलती हैं और न ही कोई स्वतंत्र कृति अतः दो भाष्यों का ही अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए। मूलभाष्य की अनेक गाथाएं विशेषावश्यक भाष्य की अंग बन चुकी हैं फिर भी हारिभद्रा एवं मलयगिरिकृत टीका में मूलभाष्य के उल्लेख से अलग गाथाएं मिलती हैं। इसका नाम मूलभाष्य क्यों पड़ा? इसके दो हेतु हो सकते हैं—

- यह विशेषावश्यक भाष्य से पहले लिखा गया इसलिए इसको अलग करने के लिए इसका नाम मूलभाष्य रख दिया गया।

- यह निर्युक्ति की कुछ मुख्य एवं महत्वपूर्ण गाथाओं की व्याख्या करता है अतः इसका नाम मूलभाष्य प्रसिद्ध हो गया।

आवश्यक निर्युक्ति की हस्तप्रतियों में मूलभाष्य की गाथाओं के आगे मूलभाष्या अथवा मूलभाव्या का उल्लेख है। लेकिन विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओं के आगे अन्या व्या अथवा अन्याष्या का उल्लेख है अर्थात् वहां विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओं के लिए अन्यकर्तृकी गाथा का उल्लेख मिलता है। चूर्ण में दोनों भाष्यों की गाथाओं की व्याख्या है पर वहां भाष्य या मूलभाष्य जैसा कोई संकेत नहीं है।

मूलभाष्य और विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता एक हैं या दो इस बारे में गहन चिंतन की आवश्यकता है। विशेषावश्यक भाष्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा लिखा गया लेकिन आवश्यक निर्युक्ति की गाथाओं को स्पष्ट करने के लिए द्वितीय भद्रबाहु द्वारा मूलभाष्य लिखा गया, ऐसा संभव लगता है। इसकी पुष्टि निशीथ चूर्ण से होती है। इमा भद्रबाहुसामिकता प्रायश्चित्तव्याख्यान गाथा^१ इस उल्लेख से स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति की व्याख्या रूप गाथाएं भी लिखी थीं।

मूलभाष्य एवं विशेषावश्यक भाष्य की कुछ गाथाएं निर्युक्ति की थीं लेकिन कालान्तर में भाष्य के साथ जुड़ गयीं। इसी प्रकार दोनों भाष्यों की कुछ गाथाएं भी आवश्यक निर्युक्ति के साथ जुड़ गयीं। हमने पादटिप्पण में सहेतुक इसका निर्देश किया है। मूलभाष्य आकार में लघु है। उसमें प्रसंगवश कुछ मुख्य विषय संबंधी गाथाओं की व्याख्या है लेकिन विशेषावश्यक भाष्य का स्वतंत्र अस्तित्व है।

१. निपीचू पृ. ७६।

विशेषावश्यक भाष्य

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने सामायिक आवश्यक पर भाष्य लिखा, जो विशेषावश्यक भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसे सामायिक भाष्य भी कहते हैं। यह ग्रंथ विशेष रूप से आवश्यक निर्युक्ति के अन्तर्गत सामायिक निर्युक्ति की व्याख्या के रूप में लिखा गया है। तर्क को सुरक्षित रखते हुए भी जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने आगमिक परम्परा को सुरक्षित रखा इसलिए ये आगमवादी आचार्य कहलाते हैं। सैद्धान्तिक एवं तात्त्विक दृष्टि से यह ज्ञान का आकर ग्रंथ है। इसे दार्शनिक चर्चा का प्रथम एवं उत्कृष्ट कोटि का ग्रंथ कहा जा सकता है। ज्ञान के वर्णन में अनेक मतान्तरों का उल्लेख भी भाष्यकार ने किया है। परवर्ती आचार्यों की रचना पर सर्वाधिक प्रभाव इस ग्रंथ का पड़ा है। इसमें आगम में वर्णित लगभग सभी महत्वपूर्ण विषयों का वर्णन है। आचार्य तुलसी ने इस ग्रंथ के माहात्म्य को काव्यात्मक शैली में प्रकट किया है—

आगम का वह कौन सा, सुविशद व्याख्या ग्रंथ।

क्षमाश्रमण जिनभद्र का, जो न बना रोमन्थ॥

इस ग्रंथ के अनेक ऐसे प्रकरण हैं, जो स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में हैं, जैसे—पंच ज्ञान, गणधरवाद, पंच नमस्कार आदि। भाष्यकार ने अत्यंत कुशलता से अन्य अनेक विषयों की चर्चा भी इसमें की है। पंडित मालवणियाजी के अनुसार जैन परिभाषाओं को स्थिर रूप प्रदान करने में इस ग्रंथ को जो श्रेय प्राप्त है, वह शायद ही अन्य अनेक ग्रंथों को एक साथ मिलाकर मिल सके।^१

इस ग्रंथ पर तीन टीकाएं मिलती हैं—१. स्वोपज्ञ टीका^२, २. कोट्याचार्य कृत टीका, ३. मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका। मालवणियाजी द्वारा संपादित स्वोपज्ञ एवं कोट्याचार्य वाली टीका में कुल ४३२९ गाथाओं की व्याख्या है, जिनमें ७३५ निर्युक्तिगाथाएं हैं। मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका वाले विशेषावश्यक भाष्य में ३६०३ गाथाएं हैं, इसमें निर्युक्ति के क्रमांक अलग से लगाए हुए नहीं हैं। इस ग्रंथ में लगभग ३६०० गाथाएं हैं। इस ग्रंथ के बारे में आश्चर्य का विषय यह है कि इसकी तीनों टीकाओं में गाथा-संख्या में काफी अंतर है। ऐसा संभव लगता है कि टीकाकार ने जिस गाथा की व्याख्या नहीं की, उसका उल्लेख भी नहीं किया इस कारण गाथा-संख्या में अंतर आ गया।

डॉ. मोहनलाल मेहता विशेषावश्यक भाष्य को आचार्य जिनभद्र की अंतिम कृति मानते हैं क्योंकि इस पर लिखी स्वोपज्ञ टीका उनके दिवंगत होने के कारण अधूरी रही। लेकिन इस संदर्भ में हमारा चिंतन है कि विशेषावश्यक भाष्य की रचना के बाद भी उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथ अवश्य लिखे होंगे। शिष्यों ने जब विशेषावश्यक भाष्य का अध्ययन किया तब उन्हें यह अत्यंत गरिष्ठ और प्रौढ़ ग्रंथ लगा अतः उन्होंने आचार्य जिनभद्रगणि से इसकी टीका लिखने का निवेदन किया। शिष्यों के निवेदन पर उन्होंने स्वोपज्ञ टीका लिखनी प्रारंभ की लेकिन बीच में ही दिवंगत होने के कारण वह अधूरी रह गई।

स्वोपज्ञ टीका

आगम अथवा व्याख्या साहित्य पर सबसे प्राचीन संस्कृत टीका जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा

१. गणधरवाद, भूमिका पृ. ३५।

२. यह अधूरी है, इस टीका को कोट्याचार्य ने पूरा किया है।

लिखी गयी, जो विशेषावश्यक भाष्य पर है। यह स्वोपज्ञ टीका के नाम से प्रसिद्ध है। यह टीका अधूरी लिखी गयी है। आचार्य जिनभद्र ने गा. १८६३ तक इसकी व्याख्या की। बाद में दिवंगत होने पर यह अधूरी टीका कोट्यार्य द्वारा पूरी की गयी। इसके दो भागों का संपादन पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने तथा तीसरे भाग का संपादन पंडित बेचरदास जोशी द्वारा किया गया है। इसमें ४३२९ भाष्यगाथाएं हैं, जिनमें ७३५ निर्युक्तिगाथाएं हैं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने २३१८ गाथा तक अर्थात् छठे गणधर की वक्तव्यता तक स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी। उसके बाद कोट्यार्य ने इस टीका की सम्पूर्ति की। टीका का प्रारंभ करते हुए वे निम्न श्लोक लिखते हैं—

निर्माप्य षष्ठगणधरवक्तव्यं किल दिवंगताः पूज्याः ।

अनुयोगमार्गदेशिकजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः ॥१॥

तानेव प्रणिपत्यातः परमविशिष्टविवरणं क्रियते ।

कोट्यार्यवादिगणिना मन्दधिया शक्तिमनपेक्ष्य ॥२॥^१

कोट्यार्य उल्लेख करते हैं कि छह गणधर की वक्तव्यता का वर्णन पूज्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने किया। अब उन्हीं को प्रणाम करके मैं (कोट्यार्यवादिगणी) विशिष्ट विवरण लिख रहा हूँ।

कोट्याचार्य कृत टीका

कोट्याचार्य ने विशेषावश्यक भाष्य पर मलधारीहेमचन्द्र से पूर्व टीका लिखी थी। मलधारी हेमचन्द्र ने अपनी टीका में कहीं-कहीं ‘कोट्याचार्यटीकायां विवृतं’ ऐसा उल्लेख किया है।^२

यह टीका प्रारंभ की गाथाओं की विस्तृत व्याख्या करती है लेकिन बाद में कुछ संक्षिप्त हो गई है। डॉ. नथमल टाटिया ने कोट्याचार्य कृत टीका युक्त विशेषावश्यक भाष्य का संपादन किया है किन्तु उन्होंने प्रथम खंड का ही संपादन किया, जो अधूरा है। इसमें २०८० गाथाएं भाष्य की हैं, जिनमें निर्युक्ति की ४४४ गाथाएं हैं। पंडित सुखलालजी के अनुसार शीलांक का ही अपर नाम कोट्याचार्य था लेकिन इसका खंडन करते हुए डॉ. मोहनलाल मेहता कहते हैं कि आचार्य शीलांक का समय विक्रम की नवीं-दसवीं शताब्दी है जबकि कोट्याचार्य का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी ही सिद्ध होता है। दूसरी बात शीलांक सूरि और कोट्याचार्य को एक ही व्यक्ति मानने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।^३

इसमें लगभग कथाएं प्राकृत भाषा में हैं लेकिन कहीं-कहीं कथा का प्रारंभ प्राकृत भाषा में हुआ है फिर पूरी कथा संस्कृत भाषा में दी हुई है। देखें—कुब्जा^४ कथा सं. १०।

कथा सं. १३ ग्रामीण^५ की कथा चूर्णि, हाटी और मटी में प्राकृत गद्य में है लेकिन कोट्याचार्य ने इस कथा को विस्तार से प्राकृत पद्यों में दिया है। इस टीका का ग्रंथमान १३७०० श्लोक प्रमाण है।

मलधारी हेमचन्द्रकृत टीका

यह विशेषावश्यक भाष्य पर विस्तृत एवं गंभीर टीका है। इसमें टीकाकार ने विस्तार से सभी विषयों की व्याख्या की है। मलधारी हेमचन्द्र का गृहस्थावस्था का नाम प्रद्युम्न था। उन्होंने विशेषावश्यक

१. स्वोटी पृ. ४१३।

२. विभामहेटी पृ. २९९।

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३ पृ. ३४९।

४. विभाकोटी पृ. ३४३।

५. विभाकोटी पृ. ३४४-३४६।

के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रंथों पर टीकाएं लिखी हैं। अभयदेव सूरि इनके दीक्षा गुरु थे। विशेषावश्यकभाष्य पर लिखी इनकी वृत्ति का अपर नाम शिष्यहितावृत्ति भी है। उन्होंने इस टीका में सरल-सुबोध भाषा में दार्शनिक मंतव्यों को स्पष्ट किया है। इस टीका की विशेषता है कि स्वयं ग्रंथकार ने अनेक प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान दिया है, जिससे सरसता आद्योपान्त बनी हुई है। इस टीका के माध्यम से विशेषावश्यक जैसे गंभीर ग्रंथ को पढ़ने में सुविधा हो गयी है अतः यह इस ग्रंथ की कुंजी कही जा सकती है। यह टीका राजा जयसिंह के राज्य में वि. सं. ११७५ को कार्तिक शुक्ला पंचमी के दिन समाप्त हुई। यद्यपि यह टीका अत्यन्त विस्तृत शैली में लिखी गयी है लेकिन बीच की सैकड़ों निर्युक्ति गाथाओं एवं उनसे सम्बन्धित भाष्य गाथाओं की इसमें व्याख्या नहीं है। पंथं किर.... (आवनि १३१) से लेकर प्रथम गणधर की वक्तव्यता तक की गाथाएं इसमें अव्याख्यात हैं। इस का ग्रंथाग्र २८००० श्लोक परिमाण है।

जिनदासकृत चूर्णि

निर्युक्ति और भाष्य की भांति चूर्णि साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इसमें विस्तार से गाथाओं की व्याख्या की गयी है। यह संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में निबद्ध है। आवश्यक चूर्णि मुख्यतः निर्युक्ति की व्याख्या करती है लेकिन कहीं-कहीं भाष्य गाथाओं की भी व्याख्या मिलती है। जिनदासगणि महत्तर ने अनेक ग्रंथों पर चूर्णियां लिखीं पर आवश्यक पर लिखी गयी चूर्णि परिमाण में बृहत्तम है। यह छहों आवश्यक पर लिखी गयी है। बीच-बीच में आचार्य ने अन्य ग्रंथों के उद्धरण भी दिए हैं। भाषा शैली की दृष्टि से भी यह चूर्णि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भरत की दिग्विजय, महावीर का जन्म कल्याणक, सनत्कुमार चक्रवर्ती आदि का वर्णन समासबहुल, विस्तृत एवं साहित्यिक शैली में किया गया है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण एवं अप्रचलित एकार्थक और देशीशब्दों का प्रयोग हुआ है। निर्युक्ति में निर्दिष्ट कथाओं की विस्तृत व्याख्या चूर्णिकार ने की है। कथाओं की दृष्टि से यह अत्यंत समृद्ध ग्रंथ है। यह चूर्णि सांस्कृतिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर संकेत करती है। चूर्णिकार ने प्रारंभ की गाथाओं की विस्तृत व्याख्या की है लेकिन बाद में अत्यंत संक्षिप्त शैली अपनाई है। इसमें चारों बुद्धि विषयक कथाओं का संकेत मात्र हुआ है।

टीकाएं

टीकाएं चूर्णि से भी अधिक विस्तार से लिखी गयी हैं। आगम एवं निर्युक्ति साहित्य के रहस्य को समझने में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। टीका साहित्य संस्कृत भाषा में लिखा गया है लेकिन कथा का विस्तार प्राकृत भाषा में है। टीकाकारों ने अधिकांश कथाएं चूर्णि से उद्धृत की हैं। आचार्य शीलांक आदि कुछ आचार्यों ने कथाओं को भी संस्कृत भाषा में ही निबद्ध किया है। मूल टीकाकार का उल्लेख आचार्य हरिभद्र ने अनेक स्थानों पर किया है। इस संदर्भ में हमारा अभिमत है कि वे चूर्णिकार को ही मूल टीकाकार के रूप में उल्लिखित करते हैं। आचार्य हरिभद्र कहते हैं—‘मूलटीकाकृताभ्यध्यायि-‘असोगपायवं जिणउच्चत्ताओ बारसगुणं सक्को विउव्वइ।’^१ चूर्णि में असोगपायवं के स्थान पर असोगवरपायवं पाठ है और पूरा पाठ टीका से मिलता है।^२ इससे स्पष्ट है कि मूलटीकाकार से हरिभद्र का तात्पर्य चूर्णिकार से था।

१. आवहाटी १ पृ. १५७।

२. आवचू २ पृ. ३२५।

इसी प्रकार—‘मूलटीकाकारेण भवनपतिदेवीप्रभृतीनां स्थानं निषीदनं वा स्पष्टाक्षरैर्नोक्तम्’^१ यह उल्लेख भी चूर्णि की ओर संकेत करता है, वहां समवसरण में भवनपति आदि देवियों के बैठने के स्थान का स्पष्टता से उल्लेख नहीं है।

हारिभद्रीया टीका

आचार्य हरिभद्र जैन आगमों के प्रथम टीकाकार हैं। आचार्य हरिभद्र के जीवन से संबंधित अनेक घटना-प्रसंग हैं। उन्होंने अनेक ग्रंथों पर टीकाएं लिखीं पर उनमें आवश्यक एवं उसकी निर्युक्ति पर लिखी गयी टीका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हरिभद्र ने इस टीका में मूल भाष्य की गाथाओं की भी व्याख्या की है। टीका का प्रयोजन बताते हुए वे कहते हैं—

यद्यपि मया तथान्यैः कृतास्य विवृतिस्तथापि संक्षेपात्।

तद्वचिसत्त्वानुग्रहहेतोः क्रियते प्रयासोऽयम्॥

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि इस टीका से पूर्व उन्होंने तथा किसी अन्य आचार्य ने एक बृहद् टीका का निर्माण किया था, जो आज हमारे सामने उपलब्ध नहीं है। बृहद् टीका लिखने के बाद उन्होंने यह संक्षिप्त टीका लिखी। हरिभद्र ने यह टीका वैदुष्यपूर्ण लिखी है। उन्होंने निर्युक्तिगाथाओं के अनेक पाठान्तरों का उल्लेख किया है साथ ही अनेक गाथाओं के बारे में विमर्श भी प्रस्तुत किया है, जैसे ‘इयमन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगा च।’ अनेक स्थलों पर व्याकरण विमर्श भी प्रस्तुत किया है। यह टीका २२००० श्लोक प्रमाण है। टीकाकार ने अनेक स्थलों पर चूर्णि का अंश भी उद्धृत किया है। प्राकृत कथाओं का तो लगभग अंश चूर्णि से उद्धृत है। इस टीका के लिए टीकाकार ने शिष्यहिता^२ नाम का उल्लेख किया है।

मलयगिरीया टीका

आचार्य मलयगिरि महान् टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके जीवन वृत्त के बारे में इतिहास में विशेष सामग्री नहीं मिलती और न ही उनकी गुरु-परम्परा का कोई उल्लेख मिलता है। ये आचार्य हेमचन्द्र के समवर्ती थे। इनका समय विद्वानों ने बारहवीं शताब्दी के आसपास का माना है।

टीकाओं के अतिरिक्त उन्होंने एक शब्दानुशासन भी लिखा। शब्दानुशासन के प्रारंभ में वे ‘आचार्यो मलयगिरिः शब्दानुशासनमारभते’ का उल्लेख करते हैं। आगम ग्रंथों पर सरल एवं प्रसन्न भाषा में लिखी सहस्रों पद्य-परिमाण टीकाएं उनकी सूक्ष्ममेधा का निदर्शन हैं। मलयगिरि की टीकाएं मूलस्पर्शी अधिक हैं। अपनी टीका में उन्होंने लगभग सभी शब्दों की सटीक एवं संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है।

आचार्य मलयगिरि द्वारा विरचित आवश्यकनिर्युक्ति, नंदी, राजप्रश्नीय, पिंडनिर्युक्ति आदि २५ टीका ग्रंथों का उल्लेख मिलता है।^३ कर्मप्रकृति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि की टीकाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे केवल आगमों के ही नहीं वरन् गणितशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं कर्मशास्त्र के भी गहरे विद्वान् थे। कहा जा सकता है कि टीकाकारों में इनका स्थान प्रथम कोटि का है।

१. आवहाटी १ पृ. १५६।

२. शिष्यहितायां कायोत्सर्गाध्ययनं समाप्तम्, समाप्ता चेयं शिष्यहितानामावश्यकटीका।

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग. ३ पृ. ३८७।

मलयगिरि ने व्यवहार एवं उसके भाष्य जैसे बृहद् ग्रंथ पर टीका लिखी लेकिन आवश्यक पर उनकी अधूरी टीका मिलती है। दूसरे आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव की १०९९ गाथा तक की टीका उन्होंने लिखी है। ११०० वीं गाथा के पूर्वार्द्ध की व्याख्या मिलती है, उसके बाद साम्प्रतमरः अर्थात् अब अरनाथ का उल्लेख है, ऐसा संकेत है। आगे न गाथा का उत्तरार्ध दिया हुआ है और न ही उसकी कोई व्याख्या है। लगता है जीवन के सान्ध्यकाल में उन्होंने यह टीका लिखनी प्रारम्भ की और वह अधूरी रह गयी।

आवश्यक निर्युक्ति पर लिखी गयी उनकी टीका अनेक रहस्यों को खोलने वाली है। व्याकरण संबंधी अनेक विमर्श भी टीकाकार ने प्रस्तुत किए हैं। अनेक कथाएं जो आचार्य हरिभद्र की टीका एवं चूर्णि में स्पष्ट नहीं हैं लेकिन मलयगिरि की टीका में विस्तार से दी हुई हैं। यद्यपि मलयगिरि ने भी चूर्णि से ही कथाओं को उद्धृत किया है लेकिन अनेक अस्पष्ट स्थलों पर उसे विस्तार देकर स्पष्ट भी किया है। अपनी टीका में उन्होंने आवश्यक पर लिखे मूलभाष्य की गाथाओं की भी व्याख्या की है।

आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका

यह व्याख्या आचार्य माणिक्यशेखरसूरि कृत है। इसे टीका के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता क्योंकि टीका में लगभग प्रत्येक शब्द की विस्तृत व्याख्या की जाती है। दीपिका जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, आवश्यक निर्युक्ति पर विशेष रूप से लिखी गयी है। आवश्यक निर्युक्ति का संक्षिप्त अर्थ समझने में यह अत्यंत उपयोगी है। इसमें कथानकों का सार संस्कृत भाषा में अत्यंत संक्षिप्त शैली में प्रस्तुत किया है। कोई-कोई कथा तो दीपिका से ही स्पष्ट हो सकी है, जैसे—वैनयिकी बुद्धि के अन्तर्गत अर्थशास्त्र (राजनीति) की कथा।^१ दीपिकाकार ने ग्रंथ के प्रारंभ में भगवान् महावीर एवं अपने गुरु मेरुतुंगसूरि को नमस्कार किया है। ग्रंथ के प्रारंभ में आचार्य संकल्प व्यक्त करते हुए कहते हैं—‘श्रीआवश्यकसूत्र-निर्युक्तिविषयः प्रायो दुर्गपदार्थः कथामात्रं निर्युक्त्युदाहृतं च लिख्यते’^२ इससे स्पष्ट है कि उन्होंने कठिन शब्दों की ही व्याख्या की है।

ग्रंथ के प्रारंभ में मंगलाचरण के रूप में नंदी सूत्र के प्रारंभ की लगभग ५० गाथाओं की व्याख्या है। उन्होंने अन्य ग्रंथों पर भी टीकाएं लिखी हैं। इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी के आसपास का है। दीपिका के अंत में लिखी प्रशस्ति के आधार पर ज्ञात होता है कि ये अंचलगच्छीय महेन्द्रप्रभसूरि के शिष्य मेरुतुंगसूरि के शिष्य थे।

आवश्यकटिप्पणकम्

यह ग्रंथ न व्याख्या रूप है और न टीका रूप ही। इसमें क्लिष्ट एवं दुर्बोध शब्दों का स्पष्टीकरण किया गया है। इसमें प्रचुरमात्रा में देशीशब्द एवं उनका स्पष्टीकरण मिलता है। यह व्याख्या ग्रंथ परिभाषात्मक अधिक है। अनेक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएं इसमें मिलती हैं। इसके लेखक मलधारी हेमचन्द्र ने इसका ‘आवश्यक टिप्पण’ नाम का उल्लेख किया है। लेकिन प्रशस्ति में ‘आवश्यकवृत्ति-प्रदेशव्याख्यानकम्’ नाम का भी उल्लेख मिलता है। यह आचार्य हरिभद्र कृत वृत्ति पर आधारित है अतः इसे हारिभद्रीयावश्यकवृत्ति टिप्पणक भी कहते हैं।

१. देखें कथा सं. १८१।

२. दीपिका प. १।

आवश्यक निर्युक्ति अवचूर्णि

टीका के बाद व्याख्या साहित्य में दीपिका, अवचूर्णि आदि की रचना हुई। आवश्यक निर्युक्ति पर भट्टारक ज्ञानसागर सूरि द्वारा अवचूर्णि लिखी गयी। हमने संपादन आदि में अवचूर्णि का प्रयोग नहीं किया है।

पाठभेद के कारण

कोई भी हस्तप्रति प्रतिलिपि होने पर भी हुबहू दूसरी प्रति से नहीं मिलती। प्रतियों में आए पाठान्तर के मुख्य चार कारण हैं—१. परम्परा-भेद २. लिपिदोष ३. मूलपाठ एवं व्याख्या ग्रंथ का सम्मिश्रण ४. प्राकृतिक एवं भौगोलिक कारण।

भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा वाचनाएं हुई अतः परम्परा भेद के कारण पाठभेद आना स्वाभाविक हो गया। आगमपाठ के लिए तो अनेक स्थानों पर ‘नागार्जुनीयास्तु एवं पठंति’ ‘केई तु एवं इच्छंति’ आदि उल्लेख मिलते हैं। आवश्यक निर्युक्ति की हस्तप्रतियों में ‘पाठान्तरं वा’ उल्लेख के साथ पाठभेद का संकेत है।

जब तक मुद्रित प्रणाली प्रचलित नहीं थी, प्राचीन लोकप्रिय ग्रंथों की सैकड़ों प्रतिलिपियां करवाई जाती थीं। आगमों एवं उनके व्याख्या-साहित्य की प्रतिलिपि करने वाले प्रायः वैतनिक होते थे, उन्हें भाषा का पूरा ज्ञान नहीं होता था। लिपि को पूरा न समझने के कारण भी पाठान्तरों की संख्या बढ़ जाती थी। क्षेत्रीय उच्चारण-भेद का प्रभाव भी लिपि पर पड़े बिना नहीं रहता था। जैसे मारवाड़ का व्यक्ति च को स कहता है और कहीं-कहीं लेखन में भी च के स्थान पर स लिख देता है। दृष्टिभ्रम, प्रमाद और अनवस्था के कारण भी पाठ में अशुद्धि एवं पाठभेद हो गए। मात्रा न लगाने के प्रमाद से अर्थभेद एवं पाठभेद हो गया। उदाहरणार्थ ‘पुव्वुद्धिद्वो उ विही’ के स्थान पर ‘पुव्वुद्धिद्वो उवही’ हो गया। हस्तप्रति में शब्दों को तोड़े बिना लिखा जाता है अतः ‘उ विही’ के स्थान पर ‘उ वही’ हो गया। इन पाठभेदों से मूल अर्थ में महान् परिवर्तन आ जाता है। टीका एवं पूर्वापर संबंध के बिना ऐसे पाठभेदों को समझना अत्यन्त कठिन होता है। विराम या अर्द्धविराम चिह्न न होने से तथा खड़ी मात्रा लगने से भी हस्तप्रतियों में पाठभेदों की संख्या बढ़ गई।

विकृति एवं पाठभेद का एक बहुत बड़ा कारण है—अन्य पाठों का प्रक्षेपण। प्राचीन काल में आगमों को कंठस्थ करने की परम्परा थी। उनकी व्याख्याएं भी साथ में कंठस्थ रहती थीं। कुछ संवादी या विषय से सम्बद्ध गाथाएं कालान्तर में एक दूसरे ग्रंथ के मूल-पाठ के साथ जुड़ जाती थीं। आवश्यक निर्युक्ति में भाष्य की अनेक गाथाएं मिल गई हैं। आवश्यक निर्युक्ति में ऐसे प्रक्षेप प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

लिखते समय संक्षेपीकरण की मनोवृत्ति से भी पाठभेद की परम्परा चल पड़ी। एक जैसे पाठ वाली गाथाओं को लिपिकार संकेत करके छोड़ देते थे जिससे कालान्तर में प्रसंग का ध्यान न रहने से वहां से वह गाथा लुप्त हो जाती थी।

कहीं-कहीं पाठभेद का कारण आचार्यों द्वारा शब्द-परिवर्तन या पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी है। अनेक स्थलों पर पर्यायवाची शब्द को प्रकट करने वाले पाठान्तर मिलते हैं जैसे—‘मयगहणं आयरिओ’ का पाठभेद ‘इच्छागहणं गुरुणो’ मिलता है। यद्यपि दोनों का भावार्थ समान है पर पाठ में पूरा परिवर्तन है। आज यह निर्णय कर पाना कठिन है कि मूल पाठ कौन-सा था और बाद में प्रक्षिप्त पाठ

कौन सा है। निर्युक्ति-साहित्य में ऐसे पाठान्तर अनेक स्थलों पर मिलते हैं।

पाठान्तर का एक बहुत बड़ा कारण प्राकृत भाषा में लचीलापन तथा उसका लोकभाषा के साथ जुड़ना है। अलग-अलग प्राकृत भाषाओं का प्रभाव पाठों में आने से उसमें अनेक पाठान्तर आ गए। भाषाविदों के अनुसार प्राचीन अर्धमागधी प्राकृत संस्कृत भाषा के निकट थी। व्यञ्जन का लोप होकर यकार-श्रुति की प्रवृत्ति कम थी पर समय के अंतराल से उच्चारण लाघव हेतु हेमचन्द्र की प्राकृत व्याकरण की यकार-श्रुति का प्रभाव आगम एवं उसके व्याख्या-साहित्य में आने लगा।

वर्णसाम्य की त्रुटि भी पाठान्तर का कारण बनती है। कभी-कभी लिपि को पूर्ण रूप से नहीं जानने के कारण अनुमान का सहारा लेकर भी लिपिक कई शब्द लिख देते थे। कुछ व्यञ्जन समान लिखे जाने के कारण उनका भेद करना कठिन होता है। जैसे—

च > व	त > न	तू > त्त
ठ > व	म > स	त्थ > च्छ
द > व	फ > क	न्त > त्त
ए > य	घ > ध	ज्झ > च्छ

कहीं-कहीं वर्णसाम्य के कारण अनवधानता से लिपिकारों द्वारा बीच का एक वर्ण छूट गया जैसे अववाय के स्थान पर अवाय, आययण के स्थान पर आयण, सममणइ के स्थान पर समणइ आदि।

वर्ण-विपर्यय या व्यत्यय के कारण भी पाठों में विकृति का समावेश हो गया। जैसे—बितिओ > तिबिओ, अहिगारो > अहिरागो, अहवा > अवाह, मूलदेवो > देवमूलो, मय > यम, मामगं > मागमं आदि। व्यञ्जन ही नहीं स्वर संबंधी विपर्यय एवं परिवर्तन से होने वाली विकृतियां भी प्रतियों में मिलती हैं। जैसे—मुणी > मणी, अइसेसी > अइसीसा, महुर् > मुहर आदि।

कहीं-कहीं लिपिकार के अनध्यवसाय या दृष्टिदोष से भी पाठ में बहुत अंतर आ गया। अनेक स्थानों पर प्रथम गाथा की प्रथम लाईन तथा दूसरी गाथा की दूसरी लाईन लिखकर नम्बर लगा दिए हैं, बीच की दो लाइनें छूट गयीं अथवा गाथाएं आगे पीछे स्थानान्तरित करके लिख दी गयीं। आवश्यक निर्युक्ति की हस्तप्रतियों में अनेक स्थानों पर गाथाओं का क्रमव्यत्यय मिलता है।

प्राकृतिक कारणों से भी प्रति के पाठों का लोप एवं उनमें विकृति का समावेश हो गया। दीमक लगने से, सीलन से अथवा असावधानी से प्रति के किनारे का भाग फटने से भी पाठ की सुरक्षा नहीं हो सकती।

कभी-कभी लेखक अपने जीवन-काल में ही अपनी कृति का परिमार्जन एवं संशोधन कर देता है। पुरानी और नयी प्रति का भेद न होने से कालान्तर में वे ही पाठभेद के कारण बन जाते हैं। आवश्यक निर्युक्ति की प्रतियों में भी पाठभेद के इन कारणों का प्रभाव मिलता है।

अनेक प्रतियों में लिपिकार स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने के लिए प्रति के अंत में निम्न श्लोक लिख देते थे—

यादृशं पुस्तके दृष्टं, तादृशं लिखितं मया।

यदि शुद्धमशुद्धं वा, मम दोषो न दीयते ॥

पाठ-संपादन की प्रक्रिया

आधुनिक विद्वानों ने पाठानुसंधान के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला है। पाश्चात्य विद्वान् इस कार्य को चार भागों में विभक्त करते हैं—१. सामग्री संकलन २. पाठचयन ३. पाठसुधार ४. उच्चतर आलोचना। प्रस्तुत ग्रंथ के संपादन में हमने चारों बातों का ध्यान रखने का प्रयत्न किया है।

पाठ-संशोधन के लिए तीन आधार हमारे सामने रहे—

१. आवश्यक निर्युक्ति की हस्तलिखित प्रतियां।
२. आवश्यक निर्युक्ति का व्याख्या-साहित्य (चूर्णि, भाष्य, टीका आदि)।
३. आवश्यक निर्युक्ति की अनेक गाथाएं, जो अन्य ग्रंथों में मिलती हैं।

बृहत्काय ग्रंथ होने के कारण आवश्यक निर्युक्ति की ताड़पत्रीय प्रतियां कम लिखी गयीं अतः चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दी में कागज पर लिखी प्रतियों का ही हमने उपयोग किया है। पाठ-संशोधन में हस्तप्रतियां मुख्य रही हैं। पाठ-चयन में हमने प्रतियों के पाठ को प्रमुखता दी है किन्तु किसी एक प्रति को ही पाठ-चयन का आधार नहीं बनाया है और न ही बहुमत के आधार पर पाठ का निर्णय किया है। अर्थ-मीमांसा का औचित्य, टीका की व्याख्या एवं पौर्वापर्य के आधार पर जो पाठ संगत लगा, उसे मूल-पाठ के अन्तर्गत रखा है।

सामायिक निर्युक्ति के पाठ-निर्धारण एवं पाठ-संपादन में विशेषावश्यकभाष्य, चूर्णि, हरिभद्र तथा मलयगिरि की टीकाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अनेक पाठ हस्तप्रतियों में स्पष्ट नहीं थे लेकिन टीका की व्याख्या से उनकी स्पष्टता हो गई। कहीं-कहीं सभी प्रतियों में समान पाठ मिलने पर भी पूर्वापर के आधार पर भाष्य या टीका का पाठ उचित लगा तो उसे हमने मूल-पाठ में रखा है तथा प्रतियों के पाठ को पाठान्तर में दिया है।

अनेक स्थलों पर जहां प्रतियों एवं टीका में एक ही अर्थ के दो पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है, वहां हमने टीका की व्याख्या में मिलने वाले पाठ को प्राथमिकता दी है। च के स्थान पर उ या तु जैसे पाठभेद भी हमने टीका की व्याख्या के आधार पर निर्धारित किए हैं।

सामायिक निर्युक्ति की सैंकड़ों गाथाएं अन्य ग्रंथों में संक्रान्त हुई हैं अतः अनेक स्थलों पर अन्य ग्रंथों के पाठ के आधार पर भी पाठ का निर्धारण किया है। टिप्पण में अनेक ऐसी गाथाएं हैं, जो न टीका में व्याख्यात हैं, न अन्य ग्रंथों में, वहां केवल प्रतियों तथा अर्थ की समीचीनता के आधार पर पाठ-संशोधन किया है, पाठान्तर नहीं दिए हैं।

कहीं-कहीं किसी प्रति में कोई शब्द, चरण या गाथा नहीं है, उसका निर्देश पादटिप्पण में x चिह्न द्वारा किया है। जहां पाठान्तर एक से अधिक शब्दों पर या एक चरण में है उसे ' ' चिह्न द्वारा दर्शाया गया है।

डा. ए. एन. उपाध्ये का अभिमत है कि आधुनिक व्याकरण के नियमों के अनुसार आगम एवं उसके व्याख्या-साहित्य का पाठ-संपादन करना अनुचित है। आज हेमचन्द्र की व्याकरण का व्यापक प्रभाव है। आचार्य हेमचन्द्र ने व्यापक दृष्टि से व्याकरण की रचना की थी। उनके व्याकरण में जैन आगमों के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। लगभग उदाहरण अन्यान्य ग्रंथों के हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है

कि उन्होंने आगमिक आधार पर व्याकरण की रचना नहीं की।^१

डॉ. के. आर. चन्द्रा आदि भाषाविदों के अनुसार प्राचीन अर्धमागधी संस्कृत के निकट थी लेकिन समय के अंतराल के साथ तथा हेमचन्द्राचार्य की प्राकृत व्याकरण के प्रभाव से यकार श्रुति का प्रयोग होने लगा। प्राचीनता की दृष्टि से जहां कहीं मूल व्यञ्जनयुक्त पाठ मिला, उसे हमने मूल में स्वीकार किया है लेकिन पाठ न मिलने पर यकार श्रुति वाले पाठ को भी स्वीकृत किया है। तकारश्रुति वाले पाठ को स्वीकार नहीं किया जैसे—विणओ > विणतो, कगो > कातो आदि।

प्राकृत व्याकरण के अनुसार संयुक्त व्यंजन से पूर्व का स्वर ह्रस्व हो जाता है। दोनों रूप मिलने पर प्राचीनता की दृष्टि से दीर्घ रूप को स्वीकार किया है, कहीं-कहीं न मिलने पर ह्रस्व स्वर भी स्वीकृत किया है, जैसे—हुंति > दिंति आदि।

हेमचन्द्र के व्याकरण से प्रभावित व्यञ्जन विशेष एवं स्वरविशेष से जुड़े पाठान्तरों का प्रायः उल्लेख नहीं किया है क्योंकि वर्णों एवं व्यञ्जनों के पाठान्तर देने से ग्रंथ का कलेवर बढ़ जाता। जैसे—

ग > क	तित्थगरे तित्थकरे	भ > ह	पभू	पहू
ध > ह	तथा तहा	त > य	कतं	कयं
न > ण	अन्न अण्ण			

मात्रा संबंधी पाठान्तरों का भी उल्लेख कम किया है—

अ > इ	परिसडंति > परिसडिंति	ओ > उ	परोक्ख > परुक्ख
ए > इ	देंति > दिंति	ए > इ	णेव्वाण > णिव्वाण आदि।
इ > ई	साहइ > साहई		

सप्तमी आदि विभक्ति के लिए 'य' का प्रयोग प्राचीन है। जहां भी हमें 'य' विभक्ति वाले पाठ मिले, वहां उनको प्राथमिकता दी है। इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति के अर्थ में जहां अंसि और म्मि दोनों रूप मिले वहां अंसि विभक्ति वाले रूप को प्राचीन मानकर स्वीकार किया है जैसे—पुव्वंसि, सव्वंसि आदि।

अनेक स्थलों पर स्पष्ट प्रतीत होता था कि हस्तप्रतियों में लिपिकर्ता द्वारा लिपि संबंधी भूल से पाठभेद हुआ है, उन पाठान्तरों का उल्लेख प्रायः नहीं किया है पर कहीं-कहीं उसके दूसरे रूप बनने की संभावना थी, वहां ऐतिहासिक दृष्टि से उन पाठान्तरों का उल्लेख किया है।

नीचे टिप्पण में दी गयी गाथाओं के पाठान्तरों का उल्लेख नहीं किया है पर उनके पाठशोधन का लक्ष्य अवश्य रखा है।

टीकाकार की विशेष टिप्पणी का भी हमने पादटिप्पण में उल्लेख कर दिया है। देशी शब्दों के लिए जहां कहीं 'देशीत्वात्' 'देशीवचनमेतत्' आदि का उल्लेख हुआ है, उनका भी टिप्पण में उल्लेख कर दिया है। जैसे—निहूयं ति देशीवचनमकिंचित्करार्थे (हाटी)।

यत्र-तत्र टीकाकारों ने अलाक्षणिक मकार या पादपूर्ति रूप जे, इ, र आदि का उल्लेख किया है, उसका भी हमने पादटिप्पण में उल्लेख किया है। जैसे जे इति पादपूरे (मटी)। अन्य व्याकरण संबंधी

१. जैन भारती, ५ मई १९६८।

विशिष्ट निर्देशों का उल्लेख भी पादटिप्पण में किया है जैसे—सूत्रे विभक्तिलोप आर्षत्वाद्। ईसाण इति प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपः^१, सव्वामयप्पसमणी प्राकृतशैल्या स्त्रीलिंगनिर्देशः।^२

हस्तप्रतियों में अनेक गाथाओं के आगे 'दारं' का उल्लेख है पर उन सबको द्वारगाथा नहीं माना जा सकता। इसलिए हमने किसी भी गाथा के आगे दारं का संकेत नहीं किया है।

पाठभेद में छंद के नियमों का भी ध्यान रखा गया है। अनेक स्थलों पर तो छंद के कारण ही मूलपाठ की गलती पकड़ में आयी है।

सामायिक निर्युक्ति में जहां कहीं एक सी गाथाएं पुनरुक्त हुई हैं, वहां लिपिकर्ताओं ने पूरी गाथा न लिखकर गाथा का संकेत मात्र किया है पर हमने उसकी पूर्ति कर दी है जैसे पंच परमेष्ठी की संवादी गाथाएं। ऐसा संभव लगता है कि पाठ का संक्षेपीकरण कंठस्थ करने की परम्परा एवं लिपि की सुविधा के कारण हुआ। आगम-साहित्य की भांति निर्युक्ति साहित्य में 'जाव' एवं 'वण्णग' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और न ही अधिक संक्षेपीकरण हुआ है।

सामायिक निर्युक्ति में अनेक स्थलों पर गाथाएं पुनरुक्त हुई हैं। कहीं-कहीं उनमें पाठभेद भी है। लगता है लिपिदोष या भिन्न-भिन्न वाचनाओं के कारण यह अंतर आया है, जहां जैसा पाठ मिला उसे उसी रूप में सुरक्षित रखा है। हमने प्रामाणिकता की दृष्टि से अपनी ओर से पाठ को संवादी बनाने का प्रयत्न नहीं किया है। नीचे टिप्पण में संवादी संदर्भस्थल भी दे दिए हैं।

हस्त आदर्शों में यति या पूर्ण विराम नहीं होने से अनेक स्थलों पर पूर्वाद्ध के शब्द उत्तरार्ध में या एक चरण के शब्द दूसरे चरण में मिल गए हैं, वहां छंद या टीका के आधार पर पाठ शुद्धि की है। जैसे—'उसभस्स गिहावासो अ। सक्कओ आसि आहारो' इस चरण में असक्कओ शब्द एक साथ है।

गाथा-निर्धारण में हमने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि जो भी गाथा निर्युक्ति की भाषा-शैली से प्रतिकूल या विषय से असंबद्ध लगी, उसे हमने मूल क्रमांक के साथ नहीं जोड़ा है। अनेक गाथाओं के बारे में टिप्पणी सहित विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है कि किस कारण से वह गाथा निर्युक्ति की न होकर बाद में प्रक्षिप्त हुई है अथवा भाष्य की गाथा निर्युक्ति में जुड़ गई।

सामायिक निर्युक्ति में अनेक स्थलों पर गाथाओं का क्रम-व्यत्यय मिलता है। इसका संभवतः एक कारण यह रहा होगा कि प्रति लिखते समय लिपिकार द्वारा बीच में एक गाथा छूट गई। बाद में ध्यान आने पर वह गाथा दो या तीन गाथा के बाद लिख दी गई। प्रति की सुंदरता को ध्यान में रखते हुए इस बात का संकेत नहीं दिया गया कि क्रम-व्यत्यय हुआ है। ऐसे संदर्भों का निर्णय व्याख्या साहित्य एवं विषय के पौर्वापर्य के आधार पर किया है जैसे—देखें गा. १६४, १६५।

आदर्शों का लेखन प्रायः मुनि या यतिवर्ग करते थे। वे व्याख्यान की सामग्री के लिए प्रसंगवश कुछ संवादी एवं विषय से सम्बद्ध गाथाओं को स्मृति हेतु हासिए में लिख देते थे। कालान्तर में अन्य लिपिकों द्वारा जब उस आदर्श की प्रतिलिपि की जाती तब हासिए में लिखी गाथाएं मूल में लिख दी जातीं। सामायिक निर्युक्ति में अनेक गाथाएं प्रसंगवश प्रक्षिप्त हुई हैं। अनेक स्थलों पर तो लिपिकार ने संकेत भी कर दिया है अन्या व्या. अर्थात् यह गाथा अन्यकर्तृकी है पर टीका में व्याख्यात है। प्रक्षिप्त गाथाओं के बारे में विशेष विमर्श पहले कर दिया गया है।

प्राचीन काल में पूर्ववर्ती आचार्यों की रचना को उत्तरवर्ती आचार्य आंशिक रूप से अपनी रचना के साथ बिना किसी नामोल्लेख के जोड़ लेते थे। अथवा कुछ पाठभेद के साथ अपनी रचना का अंग बना लेते थे। आवश्यक निर्युक्ति प्रारंभ से ही बहुचर्चित एवं विषयबहुल रचना रही है अतः अनेक आचार्यों ने इसकी गाथाओं को अपनी रचना में स्थान दिया है। जैसे आवश्यक निर्युक्ति की अस्वाध्याय संबंधी गाथाएं ओघनिर्युक्ति, निशीथभाष्य और व्यवहारभाष्य में मिलती हैं। इस पूरे प्रकरण को रचनाकार ने अपने ग्रंथ का अंग बना लिया है साथ ही गाथाओं में परिवर्तन एवं परिवर्धन भी किया है। कहीं-कहीं चरण एवं श्लोक का पूर्वाद्ध तथा उत्तरार्ध भी परिवर्तित एवं आगे-पीछे मिलता है। संभव है वाचनाभेद, स्मृतिभ्रंश या लिपिगत अशुद्धि के कारण यह अंतर आया हो। यह भी संभव है कि गाथाओं को अपने ग्रंथ का अंग बनाते समय संशोधन की दृष्टि से ग्रंथकार ने कुछ पाठभेद कर दिया हो। हमने पादटिप्पण में संवादी गाथाओं के केवल संदर्भस्थल दिए हैं। कहीं-कहीं महत्वपूर्ण पाठान्तरों का उल्लेख भी कर दिया है। सब पाठान्तरों को देने से ग्रंथ का कलेवर बढ़ जाता।

पाठभेद के अनेक कारणों का प्रभाव आवश्यक निर्युक्ति की प्रतियों पर भी पड़ा है अतः कोई भी प्रति ऐसी नहीं मिली जिसके सभी पाठ दूसरी प्रति से मिलते हों। संपादन के समय पग-पग पर यह अनुभव हो रहा था कि यह कार्य अत्यन्त दुरूह है क्योंकि प्राचीन साहित्य को आज की संपादन-कसौटियों के अनुरूप संपादित करना अत्यंत जटिल कार्य है। आज से हजार वर्ष पूर्व नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि ने भी कुछ कठिनाइयों की चर्चा की थी—

- सत् सम्प्रदाय (अर्थ-बोध की सम्यक् गुरु-परम्परा) प्राप्त नहीं है।
- सत् ऊह (अर्थ की आलोचनात्मक स्थिति) प्राप्त नहीं है।
- अनेक वाचनाएं हैं।
- पुस्तकें अशुद्ध हैं।
- कृतियां सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गंभीर हैं।
- अर्थ विषयक मतभेद भी हैं।

इन सब कठिनाइयों के बावजूद भी उन्होंने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और वे श्रुत की उपासना कर गए। उन्हीं को आदर्श मानकर हस्तप्रतियों से इस ग्रंथ के संपादन का कार्य प्रारंभ किया और यत्किंचित् सफलता हासिल की।

संपादन के कुछ विमर्शनीय बिंदु

• विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ टीका २३१८ गाथा तक ही है। उसके बाद संपूर्ति रूप कोट्याचार्यगणिकृत विवरण है। हमने एकरूपता की दृष्टि से पादटिप्पण में क्रमांक देने की दृष्टि से अंतिम गाथा तक 'को' का संकेत न करके 'स्वो' ही किया है। इसका एक कारण यह भी था कि विशेषावश्यक भाष्य पर कोट्याचार्यकृत एक टीका और है अतः भ्रम और विसंवादिता से बचने के लिए ऐसा किया।

• डॉ. टांटिया द्वारा संपादित कोट्याचार्य कृत टीका अधूरी संपादित है अतः हमने उनके द्वारा संपादित गाथाओं तक का ही संकेत किया है तथा 'गाथाओं का समीकरण' में भी उतने ही क्रमांकों का संकेत दिया है।

• कहीं-कहीं व्याख्या ग्रंथों में गाथाओं में क्रम-व्यत्यय भी है। उन गाथाओं का क्रम हमने विषय

की क्रमबद्धता के आधार पर रखा है। जैसे १६४, १६५—इन दोनों गाथाओं में हा, म, दी में क्रमव्यत्यय है। हस्त प्रतियों में भी यही क्रम मिलता है। लेकिन हमें भाष्य का क्रम अधिक संगत लगा अतः उसी क्रम को स्वीकार किया। कहीं-कहीं हमने भाष्य के क्रम को स्वीकार न करके टीका और चूर्ण के क्रम को भी स्वीकार किया है। देखें गाथा १९४ और १९८ का टिप्पण

• कथाओं में कहीं-कहीं चूर्ण और टीका के नामों में अंतर है। जैसे चूर्ण में कमलामेला की कथा में उग्रसेन के पौत्र धनदेव से कमलामेला की सगाई हुई जबकि टीका में उग्रसेन के पुत्र नभसेन से उसकी सगाई हुई है। देखें कथा सं. १८।

• हमने पादटिप्पण में लगभग कोट्याचार्य कृत टीका एवं स्वोपज्ञ टीका वाले भाष्य के बारे में ही अधिक विमर्श किया है क्योंकि उन दोनों में भाष्य के साथ निर्युक्ति संख्या अलग से लगायी हुई हैं। महेटी वाले भाष्य में बोच की सैंकड़ों गाथाएं नहीं हैं साथ ही उसमें निर्युक्ति की संख्या का भी अलग से उल्लेख नहीं है।

• एक गाथा के स्थान पर दूसरे व्याख्या ग्रंथ में जहां दूसरी या उसके स्थान पर दो तीन उसी की संवादी गाथाएं मिली हैं, उनको हमने निर्युक्ति गाथा के क्रम में तो रखा है पर निर्युक्ति क्रमांक के साथ नहीं जोड़ा। उन गाथाओं को नीचे पादटिप्पण में देने से वे अनुक्रमणिका के क्रमांक में नहीं आ सकती थीं। जैसे आलभिय हरि (गा. ३३०) गाथा को मूल क्रमांक में रखा है तथा आलभियाय हरि तथा हरिसह सेयवियाए—ये दो गाथाएं ३३०/१, २ क्रमांक में हैं।

प्रकाशित मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका वाले भाष्य में निर्युक्ति गाथा के क्रमांक अलग से लगाए हुए नहीं हैं। टीकाकार ने लगभग गाथाओं के बारे में 'निर्युक्तिगाथासमासार्थः, निर्युक्तिगाथार्थः' आदि का उल्लेख किया है। कहीं-कहीं एनां भाष्यकारो विस्तरतः स्वयमेव व्याख्यास्यति आदि का भी उल्लेख है। इसी आधार पर जहां निर्युक्ति का संकेत है, वहां गाथाओं का समीकरण परिशिष्ट में भाष्यगाथा के क्रमांक के आगे ✓ चिह्न कर दिया है। निर्युक्ति गाथा का संकेत न होने पर केवल गाथा मिलती है, वहां भाष्यगाथा के क्रमांक के आगे ० का संकेत कर दिया है। यदि गाथा अनुपलब्ध है तो × के चिह्न से दर्शाया है।

• कथाओं में महावीर से संबंधित जीवन घटनाओं में नीचे टिप्पण में कथाओं का संकेत अनेक स्थलों पर है लेकिन पीछे कथाओं में हमने उतने शीर्षक न बनाकर कम शीर्षकों में ही उन घटनाओं का समाहार कर दिया है। जैसे गोशालक से संबंधित अनेक घटना-प्रसंगों को तीन चार शीर्षकों में ही समाहित कर दिया है।

प्राचीनता की दृष्टि से चूर्ण प्राचीन है लेकिन हमने कथा के अनुवाद का मुख्य आधार हारिभद्रीय टीका को बनाया है। कहीं-कहीं जो कथा टीका में स्पष्ट नहीं है, उनका अनुवाद चूर्ण एवं मलयगिरि टीका से भी किया है। औत्पत्तिकी आदि बुद्धि से सम्बन्धित कथाएं मलयगिरि टीका में विस्तार से हैं अतः अनुवाद के समय उसको भी सामने रखा है। भगवान् ऋषभ, भरत एवं महावीर से संबंधित अनेक प्रसंग चूर्ण से भी अनूदित किए हैं। इसी प्रकार सर्वांगसुंदरी कथा सं. (१२६) तथा शुक कथा सं. (१२७) आदि की कथाओं का अनुवाद आचार्य मलयगिरि की टीका एवं चूर्ण से किया है। कुछ कथाएं केवल दीपिका में स्पष्ट थीं उनका हमने दीपिका के आधार पर भी अनुवाद किया है, जैसे—कथा सं. १८१।

• जहां गाथा में कथा का संकेत नहीं है लेकिन चूर्ण एवं टीका में यदि कथाएं हैं तो उन कथाओं का अनुवाद भी हमने परिशिष्ट में दे दिया है। ऐसी कथाओं के अनुवाद के नीचे पादटिप्पण में गाथा-संख्या का संकेत दे दिया है, जिससे ज्ञात हो जाए कि किस गाथा की व्याख्या में चूर्णिकार एवं टीकाकार ने कथाओं का उल्लेख किया है।

संपादन में प्रयुक्त हस्तप्रतियों का परिचय

पाठ-संपादन में हमने निम्न हस्तप्रतियों को आधार बनाया है लेकिन व्याख्या ग्रंथों में प्रकाशित गाथाओं के पाठ को भी ध्यान में रखा है।

(अ) यह प्रति लाडनू जैन विश्व भारती पुस्तकालय से प्राप्त है। इसकी लम्बाई २७ सेमी. और चौड़ाई ११ सेमी. है। इसकी पत्र संख्या ५८ है। यह प्रति साफ-सुथरी है। इसके अंत में पच्चक्खाणनिज्जुत्ती समाप्ता चेयं आवश्यकसूत्रनिर्युक्ति ऐसा उल्लेख मिलता है। इसमें समय का कोई उल्लेख नहीं है किन्तु यह प्रति पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी की होनी चाहिए।

(ब) यह सरदारशहर गधैया पुस्तकालय से प्राप्त है। यह २५.८ सेमी. लम्बी और ११.२ सेमी. चौड़ी है। इसमें ४४ पत्र हैं। यह प्रति बीच में ही समाप्त हो जाती है। अंतिम २½ गाथाएं इसमें लिखी हुई नहीं हैं। संभव है पत्र समाप्त होने के कारण लिपिकार ने ये अंतिम गाथाएं नहीं लिखी हैं। यह प्रति भी साफ सुथरी है, अक्षर स्पष्ट हैं। इसमें बीच-बीच में भाष्य गाथा तथा अन्यकर्तृकी गाथाओं का उल्लेख भी लिपिकार ने किया है। इसके दोनों किनारों तथा हासिए में लाल बिन्दु हैं।

(स) यह सरदारशहर गधैया पुस्तकालय से प्राप्त है। यह २६ सेमी. लम्बी और ११.२ सेमी. चौड़ी है। इसमें ५७ पत्र हैं। प्रति के अंत में “श्रीमदावश्यकं समाप्तमिति १४९४ वर्षे चैत्रमासे शुक्ले पक्षे पंचम्याम् रोहिण्याम् श्रीपत्तननगरे लिलिखातं। शुभम् भवतु श्रीचूर्तविधसंघक्षमम् भूयात्॥ श्री त्रिणावेकंठ लिखितः॥” यह प्रति बहुत साफ-सुथरी है। अक्षर स्पष्ट हैं तथा दोनों ओर हासिया हैं। इस प्रति में भाष्य एवं अन्य अनेक अन्यकर्तृकी गाथाओं का भी समावेश है किन्तु लिपिकार ने इसका कहीं भी संकेत नहीं किया है।

(रा) यह प्रति राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान से प्राप्त है। यह २६.५ सेमी. लम्बी और ११ सेमी. चौड़ी है। इसकी पत्र संख्या ४३ है। यह प्रति साफ सुथरी है तथा इसके अक्षर बहुत छोटे-छोटे हैं। प्रति के अंत में पच्चक्खाणनिज्जुत्ती सम्मत्ता। आवश्यकं सम्मत्तं। संवत् १४८४ आश्विन सुदि ६ शुके धवलके लिखितं ऐसा उल्लेख मिलता है।

(ला) यह प्रति लाडनू जैन विश्व भारती से प्राप्त है। यह २६.५ सेमी. लम्बी और ९.६ सेमी. चौड़ी है। इसकी पत्र संख्या ५७ है। यह प्रति अपूर्ण है। इसकी क्रमांक संख्या १२८९ है। यह प्रति स्पष्ट तथा सुंदर है।

आवश्यक निर्युक्ति की लगभग प्रतियों में अन्यकर्तृकी गाथाओं का समावेश है। संभवतः अन्यकर्तृकी गाथाओं का इतना समावेश इसी निर्युक्ति की प्रतियों में मिलता है।

आवश्यक निर्युक्ति के संपादन का इतिहास

एकार्थक कोश के संपादन के पश्चात् पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञ (वर्तमान आचार्य) ने मुझे निर्युक्तियों का कार्य करने का इंगित दिया। पाठ-संपादन क्या होता है, इसका कोई अनुभव नहीं था इसलिए उस समय मन में अवधारणा थी कि यह अत्यंत सरल कार्य है। दो-तीन महीने में काम पूरा हो जाएगा। लगभग दो-तीन महीनों में टीका में प्रकाशित निर्युक्ति गाथाओं की प्रतिलिपि कर उनमें जो क्रमांक आदि की त्रुटियां थीं उन्हें ठीक करके फाइलें गुरुदेव को निवेदित कीं। कार्य देखकर गुरुदेव ने फरमाया—‘एक बार तुम अहमदाबाद में पंडित दलसुखभाई मालवणिया को यह कार्य दिखाओ क्योंकि उन्होंने निर्युक्ति, भाष्य आदि के संपादन के क्षेत्र में कार्य किया है।’

मालवणियाजी ने कार्य देखकर कहा—‘हस्तप्रतियों से पाठ-संपादन और समालोचनात्मक टिप्पणी के बिना पाठ-संपादन का कार्य अधूरा होता है। आपका यह कार्य रद्दी की टोकरी में डालने जैसा है। आप हस्तलिखित प्रतियों से निर्युक्तियों का पाठ-संपादन एवं गाथा संख्या का निर्धारण करें क्योंकि अभी तक इस क्षेत्र में कोई कार्य नहीं हुआ है। उन्होंने लाईब्रेरी से निर्युक्ति की हस्तलिखित प्रतियां निकलवाई और प्राचीन आदर्शों से पाठ मिलाकर किस प्रकार संपादन किया जाता है, यह कला भी बताई। वहां चार महीने रहकर हस्त आदर्शों से निर्युक्तियों का पाठ-संपादन किया। हम लोग सवेरे ८ बजे से सायं पांच बजे तक लाईब्रेरी रहते। पहले एक महीने समणी सुप्रज्ञाजी (साध्वी शुभप्रभाजी) एवं बाद में तीन महीने तक समणी सरलप्रज्ञाजी (साध्वी सरलयशाजी) साथ रहीं। काम की धुन थी। रात-दिन एक करके इस कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया। वहां जिन पांच निर्युक्तियों का कार्य किया था, वह **निर्युक्ति पंचक** के रूप में प्रकाशित हो चुका है। वहां से आने के बाद सन् १९८६ में आवश्यक निर्युक्ति के पाठ-संपादन का कार्य प्रारंभ किया।

शोध कार्यों में पाठ-संपादन का कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण है, पर श्रमसाध्य भी है क्योंकि पाठ-निर्धारण का अर्थ मात्र इतना ही नहीं कि प्राचीन प्रतियों के विभिन्न पाठों में एक पाठ को मुख्य मानकर अन्य पाठों का पाठान्तर दे दिया जाए। पाठ-निर्धारण में सूक्ष्मता से अनेक दृष्टियों से विचार करना होता है। अनेक व्याख्या ग्रंथ और उनमें भी विसंगतियां होने के कारण आवश्यक निर्युक्ति का कार्य अत्यंत जटिल था। टीका में प्रकाशित निर्युक्ति की गाथा संख्या और हमारे द्वारा संपादित आवश्यक निर्युक्ति की गाथा संख्या में लगभग ५०० गाथाओं का अंतर है। हमने उन गाथाओं को मूल में क्यों नहीं माना, इसका सहेतुक कारण पादटिप्पण में उल्लिखित कर दिया है। इस कार्य में अनेक बार इतना एकाग्र होना पड़ता कि आहार आया हुआ भी दो तीन घंटे पड़ा रहता। एकाग्रता से सिर इतना गर्म हो जाता ऐसा लगता मानो मस्तिष्क के भीतर बिजली के बल्ब जल रहे हों। कार्य बहुलता और अत्यधिक श्रम के कारण शरीर पर भी असर हुआ। वजन भी काफी घट गया। कार्य की संपूर्ति पर जब पूज्य गुरुदेव के दिल्ली में दर्शन किए तो उन्होंने फरमाया—‘मासखमण करके आई हो क्या?’ आवश्यक निर्युक्ति के संपादन का कार्य लगभग सन् १९८७ में पूरा हो गया था लेकिन प्रकाशन का कार्य नहीं हो सका। बीच में व्यवहार भाष्य, निर्युक्ति पंचक तथा गुरुदेव के साहित्य पर कार्य किया।

पहले पूरी आवश्यक निर्युक्ति को ही एक साथ प्रकाशित करने की योजना थी लेकिन उसका एक अंश ‘**सामायिक निर्युक्ति**’ का कलेवर ही बहुत अधिक हो गया अतः महाश्रमणी साध्वी प्रमुखाजी

के सुझाव से अन्य पांच आवश्यकों की निर्युक्ति गाथाओं को दूसरे खंड में रखने का विचार किया गया।

इस ग्रंथ का संपादन इतना सरल कार्य नहीं था क्योंकि इस पर विपुल मात्रा में व्याख्या साहित्य मिलता है। गाथाओं के बारे में भी सभी व्याख्याकार एकमत नहीं हैं। सभी व्याख्याकारों के अभिमतों पर गहन चिंतन करके पादटिप्पण तैयार किए गए हैं। सामायिक निर्युक्ति की गाथा संख्या में हर व्याख्याकार में विसंवादित है अतः दूसरे परिशिष्ट में हमने 'गाथाओं का समीकरण' इस शीर्षक से चार्ट प्रस्तुत कर दिया है जिससे किसी भी टीका की व्याख्या को सुगमता से खोजा जा सके। कथा की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यंत समृद्ध है। इस ग्रंथ की कथाओं पर एक विस्तृत शोध प्रबंध लिखा जा सकता है। हमने परिशिष्ट ३ में सारी कथाओं का हिन्दी में अनुवाद कर दिया है। यह अनुवाद जहां सामान्य जनता के लिए प्रेरक बनेगा वहां कथा के क्षेत्र में काम करने वालों के लिए भी उपयोगी बनेगा। कथा का विस्तार प्रायः व्याख्या ग्रंथों में हुआ है अतः उनके संदर्भ स्थलों का भी संकेत कर दिया है। चौथे परिशिष्ट में तुलनात्मक संदर्भों का संकेत है।

मैं अपना सौभाग्य मानती हूं कि दीक्षित होने से पूर्व ही पूज्य गुरुदेव एवं आचार्य प्रवर ने मुझे आगम के कार्य में जोड़ दिया। तब से अब तक लगभग २२ सालों से कभी धीमी गति से तो कभी तीव्र गति से आगम का कार्य चलता रहा है। आगम कार्य करते हुए मेरे मस्तिष्क में सदैव गुरुदेव की ये पंक्तियां गूंजती रहती हैं— 'आज साहित्य की ऐसी स्थिति बन गयी है कि पुराने साहित्य को भुला दिया गया है, जो जीवन का अमर संदेश देता था एवं मानवता के राजपथ की ओर अग्रसर करता था। प्राचीन आगम-साहित्य एवं उनके व्याख्या ग्रंथों को समालोचनात्मक दृष्टिकोण से संपादित करके जनता के समक्ष रखा जाए, यह मेरी हार्दिक इच्छा है क्योंकि इससे भारतीय साहित्यिक निधि की सहज अवगति और प्राचीन आचार्यों की सूक्ष्म मेधा का ज्ञान होता है। इस कार्य के बीच में अनेक अवरोध आए लेकिन गुरु-कृपा से सारे अवरोध दूर होते गए और मार्ग प्रशस्त होता गया। मेरा निश्चित विश्वास है कि ऐसे गुरुतर कार्य गुरु एवं संघ की शक्ति से ही संभव हैं। पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा से डॉ. नथमल टांटिया के निर्देशन में सन् १९९६ में मैंने इस ग्रंथ को पी-एच.डी. के लिए प्रस्तुत किया था।

पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी की अभीक्ष्ण स्मृति और उनका अप्रत्यक्ष सहयोग मेरे मार्ग को प्रशस्त करता रहा है। यह निर्विवाद सत्य है कि आचार्यवर और युवाचार्यश्री की कृपा दृष्टि, आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है। आचार्य प्रवर ने घोषित यात्रा को स्थगित कर मुझ पर जो कृपा की, उसे व्यक्त करने के लिए मेरे पास कोई शब्द नहीं है। निराशा के क्षणों में साध्वी प्रमुखाजी ने जिस उत्साह और स्नेह का संचार किया, समय समय पर प्रोत्साहन दिया वह मेरे लिए अविस्मरणीय है। पिछले १९ वर्षों से मुनिश्री दुलहराजजी का मार्गदर्शन मुझे मिलता रहा है। इस बार प्रत्यक्ष सन्निधि का मार्गदर्शन भले ही न मिला हो पर अनुवाद का अधिकांश कार्य उनकी लेखनी से सम्पन्न हुआ है। मुनिश्री हीरालालजी स्वामी का आत्मीय सहयोग भी मूल्यार्ह रहा है। आदरणीय नियोजिकाजी, सहयोगिनी समणीजी एवं समस्त समणी परिवार की शुभकामना मेरे पथ को प्रशस्त करती रही है। जैन विश्व भारती संस्थान के कुलपति की प्रेरणा इस कार्य की शीघ्र संपूर्ति में सहायक बनी है। मैं प्राकृत एवं जैनगम विभाग के विभागाध्यक्ष भट्टाचार्यजी एवं सभी प्राध्यापकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं, जिन्होंने मुझे अध्यापन के कार्य से मुक्त रखकर इस कार्य के लिए पूरा समय दिया। बहिन कुसुमलता ने अत्यन्त परिश्रम एवं एकाग्रता से इस जटिल कार्य को कम्प्यूटर पर सेटिंग किया है। प्रूफ रीडिंग में बहिन अलका सिन्हा के सहयोग ने भी कार्य को हल्का किया है।

आवश्यक निर्युक्ति

मूल-पाठ

गाथाओं का विषयानुक्रम

१. ज्ञान के भेद
२. आभिनिबोधक/मतिज्ञान के भेद।
३. अवग्रह, ईहा आदि का स्वरूप।
४. अवग्रह, ईहा आदि का समय।
५. प्राप्य तथा अप्राप्य इंद्रियों के नाम।
६. शब्द-श्रवण का नियम।
- ७, ८. भाषा वर्गणा के पुद्गलों के ग्रहण एवं विसर्जन का नियम
९. भाषा वर्गणा के ग्रहण के साधन—तीन शरीर।
- १०, ११. शब्द की गति और व्याप्ति का समय।
१२. मतिज्ञान के एकार्थक।
१३. नौ अनुयोगद्वार के नाम।
- १४, १५. मतिज्ञान को समग्रता से जानने के लिए गति आदि २० द्वारों का कथन।
१६. मतिज्ञान की २८ प्रकृतियां।
१७. श्रुतज्ञान की प्रकृतियों का संकेत।
- १८, १९. श्रुतज्ञान के चौदह भेदों के नाम।
२०. अनक्षरश्रुत का स्वरूप।
२१. श्रुतज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी।
२२. बुद्धि के आठ गुण।
- २२/१. श्रवणविधि का प्रतिपादन।
- २२/२. व्याख्यानविधि का विवेचन।
२३. अवधिज्ञान की असंख्य प्रकृतियां एवं उसके दो भेद।
- २४-२६. अवधिज्ञान की व्याख्या के चौदह द्वारों का नामोल्लेख।
२७. अवधिज्ञान के सात निक्षेप।
२८. अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र।
२९. परमावधि ज्ञान का क्षेत्रनिर्देश।
- ३०-३३. अवधिज्ञान का मध्यमक्षेत्र।
३४. अवधिज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र आदि की वृद्धि-अवृद्धि की समीक्षा।
३५. काल की अपेक्षा क्षेत्र की सूक्ष्मता का निर्देश।
३६. अवधिज्ञान के परिच्छेद योग्य द्रव्य का निर्देश।
- ३७, ३८. जघन्य अवधि के प्रमेय के उपचय का निर्देश
३९. औदारिक आदि द्रव्यों की गुरु-लघुता एवं अगुरु-लघुता।

- ४०, ४१. अवधिज्ञानी की मनोद्रव्य, कर्मद्रव्य, तैजस-कर्मशरीर, तैजसद्रव्य, भाषाद्रव्य आदि को जानने की इयत्ता।
- ४२, ४३. परमावधिज्ञान का विषयक्षेत्र।
४४. तिर्यग्योनि के अवधिज्ञान का स्वरूप।
४५. नारक के अवधिज्ञान का क्षेत्र।
- ४६-५०. देवताओं के अवधिज्ञान का क्षेत्र।
५१. उत्कृष्ट एवं जघन्य अवधिज्ञान के स्वामी।
- ५२, ५३. अवधिज्ञान के संस्थान।
५४. आनुगामिक अवधिज्ञान के स्वामी।
- ५५, ५६. अवधिज्ञान की स्थिति।
५७. क्षेत्र, काल की वृद्धि-हानि के चार, द्रव्य की वृद्धि-हानि के दो तथा पर्याय की वृद्धि-हानि के छह प्रकार।
- ५८, ५९. स्पर्धकों के आधार पर अवधिज्ञान की तीव्रता-मंदता।
- ६०, ६१. अवधिज्ञान का उत्पाद और प्रतिपात।
६२. द्रव्य और पर्याय का उत्पाद और प्रतिपात।
६३. देवताओं में अवधि और विभंग की स्थिति।
६४. नारक, देव और तीर्थकरों के अवधिज्ञान की एकरूपता।
६५. अवधिज्ञान का क्षेत्र।
- ६५/१. गति द्वार के अवयवों के प्रतिपादन का संकेत तथा अवधिज्ञान एक लब्धि का निरूपण।
- ६६, ६७. आमर्षौषधि आदि लब्धियों के नामोल्लेख।
- ६८, ६९. वासुदेव के बल का उदाहरण।
- ७०, ७१. चक्रवर्ती के बल का उदाहरण।
७२. तीर्थकरों के बल का निरूपण।
७३. मनःपर्यवज्ञान का स्वरूप।
७४. केवलज्ञान का स्वरूप।
७५. तीर्थकरों की देशना वाग्योग द्वारा।
- ७५/१. प्रस्तुत प्रसंग में श्रुतज्ञान के अधिकार का निर्देश।
- ७५/२, ३. उपोद्घात निर्युक्ति के छब्बीस द्वार।
- ७६-७८. तीर्थकर, गणधर आदि की स्तुति।
७९. निर्युक्ति-कथन की प्रतिज्ञा।
- ८०-८१/१. दस आगमों की निर्युक्ति करने की प्रतिज्ञा।
- ८१/२. आवश्यक निर्युक्ति कथन की प्रतिज्ञा।
८२. निर्युक्ति का स्वरूप।

८३. तीर्थंकरों द्वारा ज्ञानवृष्टि का उल्लेख।
- ८४, ८५. गणधर द्वारा जिनवाणी का संग्रथन।
८६. सूत्र और अर्थ के संग्रथन का प्रयोजन।
८७. श्रुतज्ञान और चारित्र का सार।
- ८८-९०. तप-संयम के बिना केवल श्रुतज्ञान से मोक्ष नहीं, पोत और नाविक का दृष्टान्त।
- ९१-९३. चारित्र की गुरुता का प्रतिपादन।
९४. चारित्रविकल ज्ञानी को चंदन भारवाही गधे की उपमा।
- ९५, ९६. ज्ञान और क्रिया के समन्वय में अंधे और पंगु का दृष्टान्त।
९७. ज्ञान, तप और संयम द्वारा मोक्षप्राप्ति।
९८. श्रुतज्ञान क्षायोपशमिकभाव तथा केवलज्ञान क्षायिकभाव।
- ९९, १००. सामायिक की प्राप्ति-अप्राप्ति में कर्मों की प्रकृतियों की स्थिति।
- १००/१. सामायिक की उपलब्धि के नौ दृष्टान्त।
१०१. अनंतानुबंधी कषायोदय से सम्यक्त्व की अप्राप्ति।
१०२. अप्रत्याख्यानवरण से देशविरति की अप्राप्ति।
१०३. प्रत्याख्यानवरण के उदय से सर्वविरति की अप्राप्ति।
१०४. संज्वलन कषायोदय से यथाख्यात चारित्र की अप्राप्ति।
१०५. सभी अतिचारों का घटक-संज्वलन कषाय।
१०६. चारित्र-प्राप्ति के मूलभूत तत्त्व।
- १०७, १०८. सामायिक आदि छह चारित्रों का नामोल्लेख एवं उनकी फलश्रुति।
१०९. प्रकृतियों के उपशम का क्रम।
११०. सूक्ष्म संपराय की अवस्था।
- ११०/१, २. उपशान्त कषाय वाले का प्रतिपात।
- ११०/३. ऋण, व्रण आदि अल्प होने पर भी महान् अनर्थकारी।
- १११-१११/५. क्षपकश्रेणी में कर्म प्रकृतियों के क्षय का क्रम।
११२. केवली के ज्ञान का माहात्म्य।
११३. जिन-प्रवचन की उत्पत्ति आदि के कथन की प्रतिज्ञा।
- ११४, ११५. प्रवचन तथा श्रुत के एकार्थक।
११६. अनुयोग के एकार्थक।
११७. अनुयोग के निक्षेप।
११८. द्रव्य अनुयोग एवं अननुयोग के सात दृष्टान्त।
११९. भाव अनुयोग एवं अननुयोग के सात दृष्टान्त।
१२०. भाषक, विभाषक व्यक्तिकरण आदि के उदाहरण।
१२१. आचार्य और शिष्य से सम्बन्धित व्याख्यानविधि के सात उदाहरण।

- १२२, १२३. शिष्य के गुण एवं दोषों का उल्लेख ।
 १२४. शिष्य की परीक्षा हेतु दृष्टान्तों का कथन ।
 १२५, १२६. व्याख्यानविधि के २६ उपोद्घातों का नामोल्लेख ।
 १२७, १२८. उद्देश एवं निर्देश का स्वरूप एवं निक्षेपों का कथन ।
 १२९. उद्देश एवं निर्देश में नयों का व्यवहरण ।
 १३०. निर्गम के निक्षेपों का कथन ।
 १३१. निर्गम के संदर्भ में महावीर के पूर्वजन्म और सम्यक्त्व-प्राप्ति का उल्लेख ।
 १३१/१, २. महावीर का पूर्वजन्म ।
 १३२. इक्ष्वाकु कुल की उत्पत्ति ।
 १३३, १३४. कुलकरों की उत्पत्ति का काल और क्षेत्र ।
 १३५. कुलकरों के प्रमाण, संहनन संबंधी द्वारागाथा ।
 १३५/१, २. कुलकरों के पूर्वभवों का उल्लेख ।
 १३५/३. कुलकरों के नामों का कथन ।
 १३५/४. कुलकरों का शरीर-प्रमाण ।
 १३५/५. कुलकरों का संहनन ।
 १३५/६. कुलकरों का वर्ण ।
 १३५/७. कुलकरों की पत्नियों के नाम ।
 १३५/८. कुलकर-पत्नियों के संहनन, संस्थान आदि का निर्देश ।
 १३५/९. कुलकरों का आयु-परिमाण ।
 १३५/१०. कुलकर-पत्नियों तथा हाथियों का आयुष्य ।
 १३५/११. कुलकरों का कुलकर-काल ।
 १३५/१२, १३. कुलकरों का उपपात ।
 १३५/१४. कुलकर-पत्नियों तथा हाथियों का उपपात, मरुदेवा की सिद्धि ।
 १३५/१५, १६. कुलकरों द्वारा प्रवर्तित दंडनीतियां ।
 १३५/१७. ऋषभ का आहार ।
 १३६. नाभि की वक्तव्यता ।
 १३६/१-८. ऋषभ का पूर्वभव—सम्यक्त्व प्राप्ति, तीर्थंकर नामगोत्र का बंध आदि ।
 १३६/९-११. तीर्थंकरनामगोत्र बंधन के बीस स्थान ।
 १३६/१२. कौन से तीर्थंकर ने तीर्थंकर नामगोत्र के कौन-कौन से स्थानों का स्पर्श किया ?
 १३६/१३, १४. तीर्थंकर नामगोत्र का वेदन कैसे तथा इसके बंध की गति ।
 १३६/१५. ऋषभ का सर्वार्थसिद्धदेवलोक से च्यवन ।
 १३७. ऋषभ का जन्म, नाम, विवाह, राज्यसंग्रह आदि की सूचक द्वारागाथा ।
 १३७/१. ऋषभ का जन्मकाल ।

- १३७/२. जन्म के समय दिक्कुमारियों का कर्तव्य।
- १३७/३. ऋषभ द्वारा अंगुष्ठपान का उल्लेख।
- १३७/४. शक्र द्वारा इक्ष्वाकु वंश की स्थापना तथा इक्ष्वाकु का निर्वचन।
- १३७/५. ऋषभ का बचपन।
- १३७/६. ऋषभ का शरीर-सौन्दर्य।
- १३७/७. ऋषभ का जातिस्मरण ज्ञान।
- १३७/८. एक यौगलिक के बालक की अकाल मृत्यु।
- १३७/९. ऋषभ का विवाह।
- १३७/१०, ११. ऋषभ की संतान।
- १३७/१२, १३. नीति का अतिक्रमण होने पर ऋषभ का राज्याभिषेक।
- १३७/१४. अयोध्या का विनीता नामकरण क्यों?
- १३७/१५, १६. ऋषभ का उग्र, भोग आदि चार प्रकार का राज्य-संग्रह।
- १३८-१४१. ऋषभ द्वारा शिल्प, गणित, व्यवहार आदि लोकस्थिति एवं कलाओं का प्रवर्तन।
- १४१/१. पांच शिल्प तथा उनके भेद-प्रभेद।
- १४२-१४५. तीर्थकरों का संबोधन, गृहपरित्याग तथा तपस्या आदि २१ द्वारों का उल्लेख।
- १४६, १४७. तीर्थकरों को संबोध और सांवत्सरिक महादान।
- १४७/१, २. तीर्थकरों को संबोध देने वाले देव।
- १४७/३-७. सांवत्सरिक दान कब, कितना और कहाँ?
- १४७/८. कितने तीर्थकरों का राज्याभिषेक?
- १४७/९. कुमारवास में प्रव्रजित तीर्थकरों का उल्लेख।
- १४७/१०. कितने तीर्थकर चक्रवर्ती तथा कितने मांडलिक राजा?
- १४८, १४९. कौन से तीर्थकर कितने व्यक्तियों के साथ अभिनिष्क्रान्त।
- १४९/१. प्रथम तथा अंतिम वय में प्रव्रजित तीर्थकरों का नामोल्लेख।
१५०. सभी तीर्थकर एक दूष्य से प्रव्रजित।
१५१. प्रव्रज्या के समय तीर्थकरों की तपस्या।
- १५२-१५४. तीर्थकरों के अभिनिष्क्रमण का स्थान।
१५५. तीर्थकरों के अभिनिष्क्रमण का काल।
१५६. कुमारावस्था में प्रव्रजित तीर्थकरों के अतिरिक्त सभी तीर्थकरों द्वारा अब्रह्म सेवन का उल्लेख।
१५७. तीर्थकरों की विहारभूमि।
१५८. तीर्थकरों का परीषहविजय एवं अभिनिष्क्रमण के समय नवपदार्थ का ज्ञान।
१५९. प्रथम तीर्थकर के द्वादशांग तथा शेष तीर्थकरों के एकादशांग श्रुत की उपलब्धि, प्रथम एवं अंतिम तीर्थकर के पांच महाव्रत तथा शेष के चतुर्थांग।

१६०. तीर्थकरों का प्रत्याख्यान एवं सामायिक आदि संयम ।
- १६१-१६३. तीर्थकरों का छद्मस्थ-काल ।
- १६३/१-१२. तीर्थकरों की ज्ञानोत्पत्ति का नक्षत्र एवं तिथि ।
१६४. तीर्थकरों की ज्ञानोत्पत्ति का स्थान ।
१६५. तीर्थकरों की ज्ञानोत्पत्ति का समय ।
१६६. ज्ञानोत्पत्ति के समय तीर्थकरों का तप ।
- १६७-१७४. तीर्थकरों की शिष्य-संपदा ।
- १७४/१. तीर्थकरों के श्रावक आदि का प्रथमानुयोग में निर्देश ।
१७५. सभी तीर्थकरों के तीर्थ की स्थापना प्रथम समवसरण में, महावीर की द्वितीय समवसरण में ।
- १७६-१७८. किस तीर्थकर के कितने गण ?
१७९. तीर्थकरों के गणधरों की संख्या ।
- १८०, १८१. तीर्थकर के धर्मोपाय का स्वरूप ।
- १८२-१८६. तीर्थकरों की दीक्षा-पर्याय का काल ।
- १८६/१-२५. तीर्थकरों के कुमारकाल एवं राज्यकाल का उल्लेख ।
- १८७-१९०. तीर्थकरों का आयुष्य-काल ।
१९१. निर्वाण के समय किस तीर्थकर के कितनी तपस्या ?
१९२. तीर्थकरों का निर्वाण-स्थल ।
- १९२/१-४. तीर्थकरों के साथ कितने-कितने व्यक्तियों का निर्वाण ।
१९३. सभी तीर्थकरों का वर्णन प्रथमानुयोग से ज्ञातव्य ।
१९४. ऋषभ का समुत्थान तथा मरीचि का उत्थान आदि..... ।
- १९४/१. ऋषभ से सम्बन्धित द्वारगाथा ।
१९५. ऋषभ की दीक्षा कब ? कहाँ ?
१९६. ऋषभ के साथ प्रव्रजित चार हजार मुनियों का संकल्प ।
१९७. ऋषभ का घोर अभिग्रह और विहारचर्या ।
१९८. नमि-विनमि को राज्य एवं विद्यादान ।
१९९. भगवान् का वर्षोत्तप और भिक्षार्थ घर-घर में गमन ।
२००. तीर्थकरों की प्रथम भिक्षा कब ?
२०१. तीर्थकरों के पारणक में प्राप्त द्रव्यों का उल्लेख ।
२०२. प्रथम पारणक के समय देवों द्वारा दिव्यवृष्टि एवं दिव्यघोष ।
२०३. ऋषभ का प्रथम पारणक एवं अनेक विधियों का प्रारम्भ ।
- २०३/१-३. तीर्थकरों के प्रथम पारणक के नगर ।
- २०३/४-७. तीर्थकरों के प्रथम दानदाताओं के नाम ।

- २०३/८-१०. तीर्थकरों की प्रथम भिक्षा के समय दिव्य वृष्टि एवं वसुधारा का परिमाण।
- २०३/११, १२. प्रथम दानदाताओं की गति, उपपात आदि।
२०४. ऋषभ को पूजने का बाहुबलि का चिन्तन, धर्मचक्र का निर्माण।
- २०४/१, २. ऋषभ का विहारक्षेत्र।
२०५. ऋषभ का उपसर्गरहित विहरण।
- २०६, २०७. छद्मस्थपर्याय-काल और कैवल्य-प्राप्ति।
- २०७/१. देवों द्वारा कैवल्य-महोत्सव।
२०८. ऋषभ को कैवल्य तथा आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति का भरत को निवेदन।
२०९. पहले पूजार्ह कौन ? ऋषभ या चक्ररत्न ?
२१०. ऋषभसेन तथा ब्राह्मी आदि की दीक्षा।
२११. ऋषभ के पुत्र एवं पौत्रों की दीक्षा।
- २११/१, २. मरीचि की प्रव्रज्या के कारण का निर्देश।
२१२. भरत की विजय-यात्रा एवं द्वादशवर्षीय अभिषेक।
२१३. बाहुबलि द्वारा प्रतिमाग्रहण।
२१४. मरीचि द्वारा सामायिक आदि ११ अंगों का अध्ययन।
- २१५-२१७. संयम में शिथिल होने पर मरीचि का चिन्तन।
२१८. मरीचि द्वारा त्रिदंडी परिव्राजक होने का चिन्तन।
- २१९-२२४. त्रिदंडी परिव्राजक का स्वरूप और परिव्राजक परंपरा का सूत्रपात।
२२५. मरीचि द्वारा धर्मोपदेश।
२२६. मरीचि का भगवान् ऋषभ के साथ-साथ विचरण.....।
२२७. अष्टापद पर्वत पर समवसरण, ध्वजोत्सव का प्रारम्भ, माहण आदि को काकिणी रत्न से चिह्नित।
- २२८, २२८/१. अर्धभरत के अधिष्ठाता राजाओं के नाम तथा उनके द्वारा जिनेन्द्रमुकुट को धारण करना।
२२९. छह-छह महीनों में श्रावकों की परीक्षा, नौवें जिनान्तर के समय मिथ्यात्व का प्रवर्तन।
२३०. माहणों की दान आदि से संबंधित द्वारगाथा।
२३१. अष्टापद पर्वत पर भरत द्वारा पृच्छा।
२३२. जिन, चक्रवर्ती, वासुदेव के वर्ण, नाम, गोत्र आदि विषयक द्वारगाथा।
- २३२/१-२३४. भगवान् ऋषभ द्वारा भावी तीर्थकरों का नामोल्लेख।
- २३४/१-२३६. भरत के पूछने पर भावी चक्रवर्तियों के नामोल्लेख।
- २३६/१-५. तीर्थकरों के वर्ण एवं शरीर-अवगाहना।
- २३६/६. तीर्थकरों के गोत्र।
- २३६/७-९. तीर्थकरों की जन्मभूमि।
- २३६/१०, ११. तीर्थकरों की माताओं के नाम।

- २३६/१२-१४. तीर्थकरों के पिताओं के नाम ।
 २३६/१५. सभी तीर्थकरों का मोक्षगमन ।
 २३६/१६-१८. चक्रवर्तियों का वर्ण और शरीर-प्रमाण ।
 २३६/१९. चक्रवर्तियों के गोत्र ।
 २३६/२०, २१. चक्रवर्तियों का आयुष्य ।
 २३६/२२. चक्रवर्तियों की नगरी के नाम ।
 २३६/२३-२५. चक्रवर्तियों के माता-पिता के नाम ।
 २३६/२६. चक्रवर्तियों की गति ।
 २६६/२७, २८. बलदेव, वासुदेवों का वर्ण तथा उनका देह-परिमाण ।
 २३६/२९. बलदेव, वासुदेवों के गोत्र ।
 २३६/३०-३२. बलदेव, वासुदेवों का आयुष्य ।
 २३६/३३-३६. बलदेव, वासुदेवों के नगर एवं माता-पिता के नाम ।
 २३६/३७. वासुदेव के संयम-पर्याय का निषेध, बलदेव के संयम-पर्याय की वक्तव्यता ।
 २३६/३८, ३९. बलदेव, वासुदेवों की गति ।
 २३६/४०. वासुदेव अधोगामी तथा बलदेव ऊर्ध्वगामी क्यों ?
 २३७-२३९. तीर्थकरों एवं चक्रवर्तियों का अंतर-काल ।
 २४०, २४१. किस तीर्थकर के काल में कौन वासुदेव ?
 २४२. चक्रवर्ती और वासुदेव के अंतरकाल का निर्देश ।
 २४३-२४५. आदि परिव्राजक मरीचि के भावी जन्मों का कथन ।
 २४६-२४९. भरत द्वारा मरीचि की वंदना एवं स्तुति ।
 २५०. भरत का अयोध्यागमन ।
 २५१-२५३. भावी जन्मों को सुनकर मरीचि का गर्वोन्माद ।
 २५४, २५५. भगवान् ऋषभ का अष्टापद पर्वत पर दस हजार मुनियों के साथ निर्वाणगमन ।
 २५६. तीर्थकरों के निर्वाण के पश्चात् देवताओं द्वारा की जाने वाली क्रियाएं ।
 २५७. भरत को आदर्शगृह में केवलज्ञान ।
 २५८-२७१. मरीचि के विभिन्न भव अर्थात् महावीर के सत्ताईस पूर्वभवों का वर्णन ।
 २७१/१-३. तीर्थकर नाम गोत्र कर्मबंध के बीस कारण ।
 २७१/४. कौन से तीर्थकर ने तीर्थकर नामगोत्र के कौन-कौन से स्थानों का स्पर्श किया ।
 २७१/५, ६. तीर्थकर नामगोत्र का वेदन कैसे तथा इसके बंध की गति ।
 २७२. महावीर का देवानंदा के गर्भ में अवतरण ।
 २७३. महावीर के जीवन संबंधी स्वप्न, गर्भापहरण आदि १३ द्वारों का उल्लेख ।
 २७४. कुंडग्राम में त्रिशला की कुक्षि से महावीर का जन्म ।
 २७५. महावीर की प्रव्रज्या ।

२७६. ग्वाले के द्वारा ताड़ना देने पर इंद्र का आगमन, कोल्लाग सन्निवेश में बहुल ब्राह्मण के यहां प्रथम पारणा।
- २७७, २७८. दूतिज्जंतक आश्रम में प्रथम वर्षावास, पांच अभिग्रह, अस्थिकग्राम में शूलपाणि यक्ष के आयतन में प्रतिमा का स्वीकरण।
२७९. शूलपाणि यक्ष द्वारा रौद्र वेदना, महावीर को निद्रा में दस स्वप्नों का दर्शन, उत्पला द्वारा फलनिरूपण तथा अच्छंदक द्वारा महावीर की अवहेलना।
- २८०, २८१. सिद्धार्थ द्वारा महावीर को दिए गए विविध कष्ट एवं अन्य जीवन-प्रसंग।
२८२. उत्तरवाचाला में चंडकौशिक सर्प को जातिस्मृति।
२८३. उत्तरवाचाला में नागसेन द्वारा भिक्षा और श्वेतविका में पंचरथी नैयक राजाओं द्वारा भगवान् को स्तुति।
- २८४-२८६. महावीर का गंगा पार करने हेतु नौका-विहार एवं उपद्रव।
- २८७-२९६. भगवान् महावीर के साथ गोशालक के विविध प्रसंग।
२९७. लाढ प्रदेश में अनार्य लोगों द्वारा विविध उपसर्ग।
- २९८-३०६. गोशालक से संबंधित महावीर के विविध प्रसंग।
३०७. गोशालक द्वारा तिलस्तंभ के बारे में प्रश्न तथा भगवान् का उत्तर।
३०८. वैश्यायन बाल तपस्वी का विवरण।
३०९. महावीर का वैशाली नगरी में प्रतिमाग्रहण, नदी पार करने हेतु महावीर का नौका-गमन।
३१०. वाणिज्यग्राम में आनंद श्रावक को अवधिज्ञान, श्रावस्ती नगरी में भगवान् का दसवां वर्षावास एवं विचित्र तपोऽनुष्ठान।
३११. सानुलष्टिक ग्राम में महावीर द्वारा भद्र, महाभद्र तथा सर्वतोभद्र प्रतिमा का अनुष्ठान।
३१२. दृढभूमि के पेढाल उद्यान में एकरात्रिकी महाप्रतिमा।
३१३. इंद्र द्वारा सुधर्मा सभा में महावीर की दृढ़ता की प्रशंसा।
- ३१४-३२८. संगम देव के मन में ईर्ष्या और महावीर को छह मास तक विविध मारणांतिक कष्ट।
३२९. इंद्र द्वारा संगम का देवलोक से निष्कासन तथा मंदरचूला पर उसका निवास।
- ३३०-३३०/२. आलभिका नगरी में विद्युत्कुमार इंद्र का आगमन और महावीर को केवलज्ञान की पूर्वसूचना।
३३१. कौशाम्बी नगरी के समवसरण में चंद्र और सूर्य का अवतरण।
३३२. भूतानंद को प्रतिबोध, सुंसुमारपुर में चमर का उत्पात, भोगपुर में उपसर्ग।
३३३. नदिग्राम में महावीर का आगमन तथा मेंढिकग्राम में ग्वाले का उपद्रव।
- ३३४, ३३५. कौशाम्बी नगरी में चंदनबाला का घटना-प्रसंग तथा महावीर का अभिग्रह।
३३६. सुमंगलाग्राम में सनत्कुमार का आगमन, सुच्छित्तिग्राम में माहेन्द्र द्वारा प्रियपृच्छा, वाइलवणिक द्वारा भगवान् पर प्रहार।
३३७. चंपानगरी के वर्षावास में यक्षों द्वारा प्रश्न।

३३८. जृम्भिकग्राम में शक्र का आगमन तथा मेंढिकग्राम में चमरदेव द्वारा सुखपृच्छा ।
३३९. छम्माणि गांव में महावीर द्वारा प्रतिमाग्रहण, ग्वाले द्वारा कानों में कीले ठोकना और सिद्धार्थ वणिक् द्वारा चिकित्सा ।
३४०. जृम्भिकग्राम में शालवृक्ष के नीचे बेले की तपस्या में महावीर को कैवल्यप्राप्ति ।
- ३४१-३५०. महावीर की छद्मस्थकालीन तपस्या एवं प्रतिमाओं का विवरण ।
३५१. महावीर का छद्मस्थकाल ।
३५२. महावीर नामकरण क्यों ?
३५३. कैवल्य-प्राप्ति के बाद उसी रात महावीर का महासेन वन के उद्यान में आगमन ।
३५४. प्रथम समवसरण में देवताओं द्वारा पूजित तथा पावा में द्वितीय समवसरण की सार्थकता ।
३५५. सोमिलब्राह्मण का यज्ञवाटिका में आगमन ।
३५६. यज्ञवाटिका की उत्तरदिशा में देवों द्वारा कैवल्य-उत्सव ।
- ३५६/१. समवसरण संबंधी द्वारगाथा ।
- ३५६/२. समवसरण-निर्माण की सामान्य विधि ।
- ३५७-३६२/११. समवसरण की निर्माण-विधि, उसका वैशिष्ट्य, उसमें देव, मनुष्य आदि विभिन्न वर्गों का प्रवेश तथा उनकी अवस्थिति आदि का वर्णन ।
- ३६२/१२, १३. समवसरण में सामायिक की प्रतिपत्ति ।
- ३६२/१४. तीर्थ को प्रणाम और भगवान् की देशना का वैशिष्ट्य ।
- ३६२/१५. तीर्थकर द्वारा तीर्थ को प्रणाम क्यों ?
- ३६२/१६. साधु-साध्वियों के समवसरण में आने की इयत्ता और न आने पर प्रायश्चित्त ।
- ३६२/१७, १८. तीर्थकर के रूप का वैशिष्ट्य एवं उसकी तुलना ।
- ३६२/१९. तीर्थकर के संहनन, संस्थान आदि का उल्लेख ।
- ३६२/२०. तीर्थकर के श्रेष्ठतम प्रकृतियों का उदय ।
- ३६२/२१. तीर्थकर के असाता वेदनीय की भी शुभता ।
- ३६२/२२. भगवान् के रूप-वैशिष्ट्य का प्रयोजन ।
- ३६२/२३. भगवान् की देशना से संशय की व्यवच्छिन्ति कैसे ?
- ३६२/२४. भगवान् का युगपद् व्याकरण क्यों और उसका माहात्म्य ।
- ३६२/२५. जिनेश्वर की वाणी सब भाषाओं में परिणत ।
- ३६२/२६. तीर्थकर वाणी के सौभाग्य गुण का प्रतिपादन ।
- ३६२/२७. भगवद्वाणी के श्रवण की निरंतर आकांक्षा ।
- ३६२/२८. चक्रवर्ती के प्रीतिदान का द्रव्य-परिमाण ।
- ३६२/२९-३१. वासुदेव मांडलिक आदि का प्रीतिदान तथा उसके गुण ।
- ३६२/३२-३५. देवमाल्य की विधि, उसके कर्ता, ग्रहण और उसके रोगोपशमन की शक्ति का वर्णन ।
- ३६२/३६. भगवान् की देशना के बाद गणधर के प्रवचन का उपक्रम क्यों ?

- ३६२/३७. गणधर की देशना दूसरे प्रहर में क्यों ? कैसे ?
- ३६२/३८. गणधर की वाणी का अतिशय ।
३६३. दिव्य देवघोष को सुनकर यज्ञ-वाट में प्रशंसा ।
- ३६३/१, २. सिंहासन पर उपविष्ट भगवान् की चंवर आदि से देवताओं द्वारा उपासना ।
३६४. ग्यारह गणधरों का यज्ञ-वाट में आना ।
- ३६५, ३६६. गणधरों के नामों का उल्लेख ।
३६७. गणधरों के निष्क्रमण का कारण, सुधर्मा से तीर्थ का प्रारम्भ, शेष गणधर निरपत्य ।
३६८. गणधरों की संशय संबंधी द्वारगाथा ।
३६९. गणधरों का शिष्य-परिवार ।
- ३६९/१. भवनपति आदि देवों द्वारा परिषद् सहित भगवान् की केवलज्ञान-उत्पत्ति का उत्सव ।
३७०. महावीर की महिमा सुनकर इंद्रभूति का अहंकारपूर्वक आगमन ।
३७१. महावीर द्वारा नाम-गोत्र पूर्वक गौतम को आह्वान ।
३७२. सर्वज्ञ महावीर द्वारा गौतम की शंका का कथन एवं उसका निवारण ।
३७३. संशय छिन्न होने पर गौतम का ५०० शिष्यों के साथ महावीर के पास प्रव्रजित होना ।
३७४. गौतम की प्रव्रज्या सुनकर अमर्षवश अग्निभूति का आगमन ।
- ३७५-३७७. महावीर द्वारा अग्निभूति के संशय का कथन, उसका निवारण एवं अग्निभूति का शिष्यों के साथ महावीर के शासन में प्रव्रजन ।
- ३७८-४१३. शेष गणधरों का संशय निवारण होने पर अपने-अपने शिष्य-परिवार सहित भगवान् के शासन में प्रव्रजन ।
४१४. गणधरों के क्षेत्र, काल, जन्म एवं गोत्र आदि से संबंधित द्वारगाथा ।
- ४१५-४१७. गणधरों के क्षेत्रों का कथन ।
४१८. गणधरों से संबंधित नक्षत्रों का कथन ।
- ४१९, ४२०. गणधरों के माता-पिता के नाम ।
४२१. गणधरों के गोत्र ।
- ४२२, ४२३. गणधरों की गृहवास-पर्याय ।
४२४. गणधरों की छद्मस्थ-पर्याय ।
- ४२५, ४२६. गणधरों की केवली-पर्याय ।
- ४२७, ४२८. गणधरों का आयु-परिमाण ।
४२९. सभी गणधर ब्राह्मण, उपाध्याय तथा चतुर्दशपूर्वी ।
४३०. महावीर के जीवन-काल में नौ गणधरों का परिनिर्वाण, इंद्रभूति एवं सुधर्मा का राजगृह में परिनिर्वाण ।
४३१. गणधरों का तप, संहनन एवं संस्थान ।
४३२. काल के निक्षेप ।

४३३. द्रव्यकाल का स्वरूप।
- ४३३/१. कालसापेक्ष जीव-अजीव की चतुर्भंगी की स्थिति।
४३४. अद्भुतकाल के भेद।
४३५. यथायुष्ककाल का विवरण।
४३६. उपक्रमकाल का स्वरूप।
- ४३६/१, २. इच्छाकार आदि दशविध सामाचारियों का नामोल्लेख।
- ४३६/३-१६. इच्छाकार सामाचारी का स्वरूप एवं उसके विकल्प।
- ४३६/१७-२०. मिथ्याकार सामाचारी का स्वरूप।
- ४३६/२१, २२. 'मिच्छा मि दुक्कडं' का निरुक्त।
- ४३६/२३, २४. तथाकार सामाचारी का स्वरूप एवं विषय।
- ४३६/२५. इच्छाकार, मिच्छाकार एवं तथाकार का फल।
- ४३६/२६-३०. आवश्यकी और नैवेधिकी सामाचारी का स्वरूप एवं प्रयोजन।
- ४३६/३१. आपृच्छा आदि सामाचारियों का वर्णन।
- ४३६/३२, ३३. उपसंपदा सामाचारी के भेद एवं स्वरूप-वर्णन।
- ४३६/३४. उपसंपदा किसको?
- ४३६/३५, ३६. वर्तना आदि का स्वरूप।
- ४३६/३७. सूत्रार्थग्रहण विधि की द्वारगाथा।
- ४३६/३८. प्रमार्जन एवं निषद्या का कथन।
- ४३६/३९. मात्रक का परिमाण तथा गुरु को वंदन।
- ४३६/४०. वाचना के समय कायोत्सर्ग क्यों और कैसे?
- ४३६/४१-४४. गुरु के वचन को सुनने की विधि।
- ४३६/४५-५०. निश्चय और व्यवहार नय के अनुसार वंदन-विधि किसके प्रति?
- ४३६/५१. सूत्रार्थ भाषक ही ज्येष्ठ।
- ४३६/५२-५५. चारित्र उपसम्पदा का विवरण।
- ४३६/५६, ५७. दशविध सामाचारी का उपसंहार एवं फलश्रुति।
४३७. आयुष्य क्षय के सात कारण।
- ४३८., ४३९. आयुष्य भेद के निमित्तों का कथन।
- ४४०-४४२. प्रशस्त और अप्रशस्त देश-काल का विवरण।
४४३. प्रमाणकाल का स्वरूप।
४४४. वर्णकाल का स्वरूप।
४४५. भावकाल का स्वरूप।
४४६. प्रमाणकाल के प्रसंग में अन्यान्य भेद क्यों?
४४७. ✓ भगवान् द्वारा सामायिक का निर्देश कब? कहां?

४४८. भावनिर्गम का प्रतिपादन।
 ४४९. पुरुष शब्द के निक्षेप।
 ४५०. कारण के निक्षेप।
 ४५१. द्रव्यकारण के भेद, कर्ता के प्रकार।
 ४५२-४५४. भावकारण के भेद।
 ४५५-४५७. तीर्थंकर द्वारा सामायिक की देशना क्यों?
 ४५८-४६१. गौतम आदि गणधर द्वारा भगवान् की देशना का श्रवण क्यों?
 ४६२. प्रत्यय के चार निक्षेप।
 ४६३. भावप्रत्यय का स्वरूप।
 ४६४, ४६५. लक्षण के निक्षेप।
 ४६६. भावलक्षण के चार प्रकार।
 ४६७. नय के सात प्रकार।
 ४६८. नैगम नय का निरुक्त।
 ४६९. संग्रह और व्यवहार नय का निर्वचन।
 ४७०. ऋजुसूत्र एवं शब्द नय का स्वरूप।
 ४७१. समभिरूढ तथा एवंभूत नय का स्वरूप।
 ४७२. सात सौ अथवा पांच सौ नय।
 ४७३. दृष्टिवाद की प्ररूपणा विभिन्न नयों से, कालिक सूत्र में श्रोताओं के आधार पर नयों की प्ररूपणा।
 ४७४. तीर्थंकर का कोई वचन नय रहित नहीं।
 ४७५. नयों का समवतार कहाँ और कैसे?
 ४७६. आर्यवज्र तक अपृथक्त्व-अनुयोग, उनके पश्चात् पृथक्त्व-अनुयोग का प्रवर्तन।
 ४७६/१. स्तुति द्वारा आर्यवज्र के जीवन का कथन।
 ४७६/२. बालक आर्यवज्र का संस्मरण।
 ४७६/३. जृम्भक देवों द्वारा स्तुत तथा अक्षीणमहानसिक विद्या से पुरस्कृत आर्यवज्र।
 ४७६/४. पदानुसारी लब्धि के धारक आर्यवज्र की स्तुति।
 ४७६/५. आर्यवज्र को कन्या द्वारा विवाह के लिए निमंत्रण।
 ४७६/६. महापरिज्ञा अध्ययन से आकाशगामिनी विद्या के उद्धारक तथा अन्तिम श्रुतधर आर्यवज्र।
 ४७६/७. गगनगामिनी विद्या का प्रयोग कहाँ तक?
 ४७६/८. गगनगामिनी विद्या को देने का निषेध।
 ४७६/९. माहेश्वरी नगरी का उद्धार।
 ४७७. अपृथक्त्व-अनुयोग में चारों अनुयोग एक साथ तथा पृथक्त्व-अनुयोग में अलग-अलग।
 ४७८. आर्यरक्षित द्वारा पृथक्त्वानुयोग के प्रवर्तन का कारण।

- ४७९, ४८०. आर्यरक्षित का जीवन-वृत्तान्त ।
४८१. महाकल्पश्रुत एवं छेदसूत्र कालिकश्रुत के अन्तर्गत क्यों ?
- ४८२-४८७. सात निहवों की मान्यता एवं उनसे सम्बन्धित नगरों आदि का विवरण ।
- ४८७/१, २. बहुमतवाद की उत्पत्ति का विवरण ।
- ४८७/३, ४. जीवप्रादेशिक मत की उत्पत्ति एवं उसका विवरण ।
- ४८७/५, ६. अव्यक्तवाद की उत्पत्ति का कारण एवं उसका समय ।
- ४८७/७, ८. समुच्छेदवाद की उत्पत्ति का समय एवं उसका विवरण ।
- ४८७/९, १०. द्विक्रियवाद की उत्पत्ति का कारण एवं उसका समय ।
- ४८७/११-१५. त्रैराशिकवाद की उत्पत्ति का विवरण ।
- ४८७/१६-१९. अबद्धिकमत की उत्पत्ति का वर्णन एवं उसका समय ।
- ४८७/२०-२३. बोटिक मत की उत्पत्ति का वर्णन ।
४८८. भगवान् महावीर के शासन में ही निहव, शेष तीर्थंकरों के शासन में नहीं ।
४८९. गोष्ठामाहिल के अतिरिक्त सभी निहवों की यावज्जीवन दृष्टि ।
४९०. निहवों की दृष्टियां संसार-भ्रमण का कारण ।
४९१. निहव साधु या असाधु ? विमर्श ।
४९२. बोटिकों के अशनादि का विमर्श ।
४९३. मोक्षमार्ग में सत्तनय की समन्विति ।
४९४. सामायिक जीव या अजीव ?
४९५. महाव्रतों की सर्वद्रव्यविषयता का विमर्श ।
४९६. सामायिक जीव का गुण अतः जीव ।
४९७. उत्पाद, व्यय और परिणमन गुणों का न कि द्रव्यों का ।
४९८. द्रव्यार्थिक नय से सामायिक का विमर्श ।
४९९. सामायिक के तीन प्रकार ।
५००. अध्ययन के तीन प्रकार ।
- ५०१, ५०२. सामायिक का अधिकारी कौन ?
५०३. सामायिक का स्वरूप और निष्पत्ति ।
५०४. श्रावक के पूर्ण प्रत्याख्यान क्यों नहीं ?
- ५०५, ५०५/१. श्रावक के लिए बार-बार सामायिक करना आवश्यक क्यों ?
५०६. मध्यस्थ कौन ?
- ५०७-५०९. सामायिक से संबंधित द्वारगाथाएं ।
- ५१०, ५११. सम्यक्त्व आदि सामायिक का क्षेत्र-विमर्श ।
५१२. दिशा के निक्षेप ।
- ५१२/१. तापक्षेत्र दिशा का वर्णन ।

- ५१२/२. प्रज्ञापक एवं भावदिशा का स्वरूप ।
- ५१२/३, ४. अठारह भाव दिशाओं के नाम ।
५१३. सामायिक के संदर्भ में क्षेत्रदिक् का प्रतिपादन ।
५१४. सम्यक्त्व तथा श्रुत सामायिक की प्रतिपत्ति का काल ।
५१५. किस गति में कौन सी सामायिक ?
५१६. भव्य और संज्ञी जीव द्वारा सामायिक की प्रतिपत्ति ।
५१७. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति की अपेक्षा सामायिक की प्रतिपत्ति का निषेध तथा दो नयों के आधार पर प्रतिपत्ति का विमर्श ।
५१८. आहारक एवं पर्याप्तक आदि के सामायिक की प्रतिपत्ति ।
५१९. सुप्त, जागृत एवं जन्म से संबंधित सामायिक की प्राप्ति का विमर्श ।
५२०. स्थिति की अपेक्षा सामायिक पर विचार ।
५२१. सामायिक से संबंधित वेद, संज्ञा एवं कषायद्वार का विमर्श ।
५२२. आयु एवं ज्ञान के आधार पर सामायिक की प्राप्ति ।
५२३. सामायिक में योग एवं उपयोग का विचार ।
५२४. सामायिक संबंधी संस्थान, संहनन एवं अवगाहना का प्रतिपादन ।
५२५. सामायिक और लेश्या का संबंध ।
५२६. परिणाम के आधार पर सामायिक का विमर्श ।
५२७. सात-असात वेदना, समुद्घात तथा असमुद्घात अवस्था में कौन-कौनसी सामायिक की प्राप्ति ?
- ५२८-५३१. सामायिक से संबद्ध निर्वेष्टन, उद्वर्तना, आश्रव आदि शेष द्वारों का वर्णन ।
५३२. केश, अलंकार आदि को छोड़ने वाले के कितनी सामायिक की प्राप्ति ?
५३३. द्रव्य और पर्याय के आधार पर सामायिक का विमर्श ।
५३४. लोक में दुर्लभ क्या ?
५३५. मनुष्य जन्म-प्राप्ति के दस दृष्टान्त ।
- ५३६-५३६/२. युग दृष्टान्त की व्याख्या ।
- ५३७-५४०. मनुष्य जन्म में जो परलोक-हित नहीं सोचता उसको मनुष्य-जन्म की पुनः प्राप्ति दुर्लभ, इस विषयक अनेक दृष्टान्तों का उल्लेख ।
५४१. मनुष्य जन्म प्राप्त कर प्रमाद करने वाला कापुरुष ।
- ५४२, ५४३. मनुष्य जन्म में भी सामायिक एवं श्रुति की प्रतिपत्ति दुर्लभ क्यों ?
५४४. युद्ध में जय प्राप्त करने वाले योद्धा की सामग्री ।
५४५. बोधि-प्राप्ति के उपाय ।
- ५४६, ५४७. सामायिक प्राप्ति के अनुकंपा, अकामनिर्जरा आदि विविध कारण तथा उनसे संबंधित वैद्य और महावत आदि के उदाहरण ।

- ५४७/१. वानर यूथपति को अनुकंपा से देवत्व की प्राप्ति ।
५४८. सम्यक्त्व सामायिक की प्राप्ति के अभ्युत्थान, विनय आदि अन्य हेतु ।
५४९. सम्यक्त्व आदि सामायिकों की स्थिति ।
- ५५०-५५२. सम्यक्त्व सामायिक आदि के प्रतिपत्ता और प्राक्प्रतिपन्न की संख्या का विमर्श ।
- ५५३-५५५. सामायिक की पुनः प्राप्ति का अंतरकाल और अविरहकाल ।
५५६. एक जीव द्वारा सामायिक चतुष्टय कितने भवों तक ?
- ५५७, ५५८. सामायिक संबंधी आकर्ष का विचार ।
- ५५९, ५६०. सामायिकयुक्त जीव द्वारा क्षेत्र स्पर्श का विमर्श ।
५६१. सम्यक्त्व सामायिक के एकार्थक ।
५६२. श्रुत सामायिक के निरुक्त ।
५६३. देशविरति सामायिक के एकार्थक ।
५६४. सर्वविरति सामायिक के एकार्थक ।
५६५. सामायिक के आठ उदाहरण ।
- ५६५/१. मुनि का स्वरूप ।
- ५६५/२, ३. समण का स्वरूप ।
- ५६५/४, ५. मेतार्थ मुनि की समता एवं संयम में दृढ़ता का वर्णन ।
- ५६५/६. आर्य कालक का सम्यग्वाद एवं यज्ञफल का यथार्थ-कथन ।
- ५६५/७-१०. चित्तातिपुत्र का कथानक एवं उसका गुणानुवाद ।
- ५६५/११. चार लाख श्लोकों का एक श्लोक में संक्षेपीकरण ।
- ५६५/१२. धर्मरुचि अनगार का अहिंसकभाव ।
- ५६५/१३. इलापुत्र की परिज्ञा ।
- ५६५/१४. तेतलिपुत्र द्वारा सावद्ययोग का प्रत्याख्यान ।
- ५६५/१५. सूत्र के लक्षण ।
- ५६५/१६-१९. सूत्र के बत्तीस दोष ।
- ५६५/२०, २१. सूत्र के आठ गुण ।
५६६. नमस्कार के उत्पत्ति आदि व्याख्या-द्वार ।
५६७. नमस्कार की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति का नयों के आधार पर निरूपण ।
५६८. नमस्कार की उत्पत्ति के समुत्थान आदि तीन कारण ।
५६९. नमस्कार के निक्षेप, पद एवं पदार्थ का वर्णन ।
५७०. नमस्कार की प्ररूपणा के दो प्रकारों में षट्पदप्ररूपणा का स्वरूप एवं विवरण ।
५७१. नमस्कार की प्राप्ति किसको ?
५७२. ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से नमस्कार की सिद्धि ।
५७३. उपयोग एवं लब्धि की अपेक्षा नमस्कार की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति ।

५७४. नमस्कार के नवपदप्ररूपणा के द्वारों की व्याख्या।
 ५७५, ५७६. सत्पद प्रतिपन्न तथा प्रतिपद्यमान की मार्गणा के बीस द्वार।
 ५७७. नमस्कार प्रतिपन्नक जीवों की संख्या।
 ५७८, ५७९. कालद्वार एवं भावद्वार का विभर्श।
 ५८०. भावद्वार एवं वस्तुद्वार का निरूपण।
 ५८०/१. नमस्कार की नवविध प्ररूपणा का संकेत।
 ५८१. पंचविध नमस्कार करने के हेतु।
 ५८२. अर्हत् के तीन गुण।
 ५८२/१-१३. अर्हत् के गुणों का विस्तृत वर्णन।
 ५८३. अर्हत् के तीन गुण।
 ५८४-५८७. अर्हत् को नमस्कार करने की फलश्रुति।
 ५८८. सिद्ध शब्द के चौदह निक्षेप।
 ५८८/१, २. कर्मसिद्ध की व्याख्या एवं उदाहरण।
 ५८८/३. शिल्पसिद्ध का उदाहरण।
 ५८८/४, ५. विद्यासिद्ध का स्वरूप एवं उदाहरण।
 ५८८/६. मंत्रसिद्ध का स्वरूप एवं उदाहरण।
 ५८८/७. योगसिद्ध का स्वरूप एवं उदाहरण।
 ५८८/८. आगमसिद्ध एवं अर्थसिद्ध का उदाहरण।
 ५८८/९. यात्रासिद्ध का उदाहरण।
 ५८८/१०. बुद्धिसिद्ध का प्रतिपादन।
 ५८८/११. औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की बुद्धियों का नामोल्लेख।
 ५८८/१२-१५. औत्पत्तिकी बुद्धि के लक्षण एवं उदाहरण।
 ५८८/१६-१८. वैयक्तिकी बुद्धि के लक्षण एवं उदाहरण।
 ५८८/१९, २०. कार्मिकी बुद्धि के लक्षण एवं उदाहरण।
 ५८८/२१-२४. पारिणामिकी बुद्धि के लक्षण एवं उदाहरण।
 ५८८/२५. तपःसिद्ध एवं कर्मक्षयसिद्ध का प्रतिपादन।
 ५८९. सिद्धत्व की प्राप्ति कैसे?
 ५९०. केवली द्वारा समुद्घात कब? कैसे और क्यों?
 ५९१. समुद्घात की प्रक्रिया।
 ५९२. समुद्घात से विशिष्ट कर्मक्षय कैसे?
 ५९३. सिद्धों की ऊर्ध्वगति के तर्कसंगत दृष्टान्त।
 ५९४, ५९५. सिद्धों की अवस्थिति विषयक प्रश्न और समाधान।
 ५९५/१-५. लोकान्त की अवस्थिति और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी का निरूपण।

- ५९५/६-८. सिद्धों की अवगाहना कहां? कैसे?
- ५९५/९. भिन्नाकार का संबंध कर्म से लेकिन सिद्ध कर्म-मुक्त।
- ५९५/१०, ११. सिद्धों का संस्थान।
- ५९५/१२-१४. सिद्धों की उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अवगाहना।
५९६. सिद्धों के संस्थान का लक्षण।
- ५९७, ५९८. सभी सिद्ध अन्योन्य समवगाढ तथा सबके द्वारा लोकान्त का स्पर्श।
५९९. सिद्धों के लक्षण।
६००. केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय की अनंतता।
६०१. क्या केवलज्ञान एवं केवलदर्शन युगपद् होते हैं?
- ६०२-६०८. सिद्धों के अव्याबाध सुख का निरूपण एवं तुलना।
६०९. गुण के आधार पर सिद्धों के पर्यायवाची शब्द।
६१०. सिद्धों का वैशिष्ट्य।
- ६११-६१४. सिद्धों को नमस्कार का लाभ।
६१५. आचार्य के चार निक्षेप।
- ६१५/१. आचार्य का निरुक्त।
६१६. भाव आचार्य का स्वरूप।
- ६१७-६२०. आचार्य के नमस्कार का फल।
६२१. उपाध्याय शब्द के चार निक्षेप।
६२२. उपाध्याय का स्वरूप।
- ६२३, ६२४. उपाध्याय शब्द का निरुक्त।
- ६२५-६२८. उपाध्याय के नमस्कार की फलश्रुति।
६२९. साधु शब्द के चार निक्षेप।
६३०. द्रव्य साधु का स्वरूप।
६३१. भाव साधु का स्वरूप।
- ६३२-६३४. भाव साधु को नमस्कार क्यों?
- ६३५-६३८. साधु के नमस्कार की फलश्रुति।
- ६३८/१. पंच नमस्कार सभी मंगलों में उत्कृष्ट।
६३९. पंचपद नमस्कार न संक्षिप्त है और न विस्तृत।
६४०. पंचविध नमस्कार का सहेतुक निरूपण।
६४१. नमस्कारपद का क्रम—न पूर्वानुपूर्वी और न पश्चानुपूर्वी।
६४२. अर्हत् को वंदना पहले क्यों?
- ६४३, ६४४. नमस्कार करने का प्रयोजन एवं लाभ।
६४५. नमस्कार की फलश्रुति के दृष्टान्त।

- ६४५/१. नंदी, अनुयोगद्वार आदि आगमग्रंथों का प्रारम्भ नमस्कारपूर्वक।
- ६४५/२. पंच नमस्कार सामायिक का ही अंग।
- ६४५/३. सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का कथन।
६४६. सामायिक के करण आदि दस द्वारों का निरूपण।
६४७. करण के छह निक्षेप।
- ६४७/१. क्षेत्रकरण का निरूपण।
- ६४७/२. कालकरण का विवेचन।
- ६४७/३, ४. भावकरण की व्याख्या।
- ६४७/५. शब्दकरण का स्वरूप।
- ६४७/६, ७. अग्नेयीयपूर्व के पाठ का उल्लेख तथा छह बद्ध एवं पांच सौ अबद्ध आदेशों का कथन।
- ६४७/८. नोश्रुतकरण के भेद-प्रभेद।
- ६४७/९. योजनाकरण की व्याख्या।
- ६४७/१०. भावश्रुतकरण की व्याख्या।
६४८. सामायिककरण के कृताकृत आदि सात अनुयोगों की व्याख्या।
६४९. आलोचना आदि नय के आठ प्रकारों का कथन।
६५०. सामायिककरण में गुरु एवं शिष्य विषयक करण कितने ?
६५१. सामायिक की प्राप्ति कैसे ?
६५२. भावकरण की व्याख्या।
- ६५३, ६५४. 'भंते' शब्द की व्याख्या।
६५५. सामायिक के एकार्थक एवं निरुक्त।
६५६. द्रव्यसाम आदि के उदाहरण।
६५७. भावसाम का प्रतिपादन।
६५८. सामायिक शब्द के पर्याय।
- ६५९, ६६०. सामायिक के कर्त्ता, कर्म आदि विषयक प्रश्न एवं उत्तर।
६६१. कर्त्ता, कर्म एवं करण में अभेद का दृष्टान्त।
६६२. सर्व शब्द के निरुक्त।
६६३. सावद्य शब्द की व्याख्या।
६६४. योग शब्द का विवरण।
६६५. प्रत्याख्यान का निरुक्त तथा निक्षेप।
६६६. द्रव्य प्रत्याख्यान आदि की व्याख्या।
६६७. प्रत्याख्यान के भेद।
६६८. 'यावज्जीवन' शब्द की व्याख्या।
६६९. जीवित (जीवन) शब्द के दस निक्षेप।

- ६६९/१. भोगजीवित, संयमजीवित आदि का वर्णन।
६७०. साधु एवं गृहस्थ के प्रत्याख्यान का भेद।
६७१. सामायिक में तीनों कालों का ग्रहण।
६७२. अर्थविकल्पना एवं गुणभावना में पुनरुक्ति दोष नहीं।
६७३. द्रव्य एवं भाव प्रतिक्रमण में कुम्भकार एवं भृगावती का उदाहरण।
६७४. निंदा शब्द की व्याख्या, निक्षेप तथा उदाहरण।
६७५. गर्हा शब्द की व्याख्या, निक्षेप तथा उदाहरण।
६७६. द्रव्य एवं भाव व्युत्सर्ग में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का उदाहरण।
६७७. सामायिक के कर्त्ता का वर्णन।
६७८. ज्ञान एवं क्रिया नय में सभी नयों का समवतार।
६७९. नय की परिभाषा।
६८०. साधु की सर्वनयशुद्ध परिभाषा।

आवश्यक निर्युक्ति

१. आभिणिबोहियनाणं, सुतनाणं चेव ओधिनाणं च।
तथ मणपज्जवनाणं^१, केवलनाणं^२ च पंचमयं^३ ॥
२. 'उग्गह ईहाऽवाओ'^४, य धारणा एव होंति चत्तारि।
आभिणिबोहियनाणस्स, भेयवत्थू समासेणं^५ ॥
३. अत्थाणं ओगहणम्मि^६, उग्गहो^७ तथ वियारणे^८ ईहा^९।
'ववसायं च'^{१०} अवाओ, 'धरणं पुण धारणं बेति'^{११} ॥
४. उग्गह^{१२} एक्कं समयं, ईहावाया मुहुत्तमद्धं^{१३} तु।
कालमसंखं संखं च, धारणा होति नातव्वा^{१४} ॥
५. पुट्ठं सुणेति सद्दं, रूवं पुण पासती अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं, च बद्धपुट्ठं वियागरे^{१५} ॥
६. भासासमसेढीओ^{१६}, सद्दं जं सुणति मीसयं^{१७} सुणती।
वीसेढी^{१८} पुण सद्दं, सुणेति नियमा पराघाए^{१९} ॥
७. गिण्हति^{२०} य काइएणं^{२१}, निसिरति^{२२} तह वाइएण जोगेणं।
एगंतरं च गिण्हति, णिसिरति^{२३} एगंतरं चेव^{२४} ॥

'पज्जय' (बपा)।

केवलि^२ (अ)।

पंचमयं (अ), स्‍वो १/७९ आवश्यक निर्युक्ति की प्रायः सभी हस्तप्रतियों के प्रारंभ में नंदीसूत्र के मंगलाचरण एवं स्थविरावली की लगभग ४३ गाथाएं मिलती हैं। वस्तुतः ये आवश्यक निर्युक्ति की गाथाएं नहीं हैं क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका को छोड़कर किसी भी व्याख्याकार ने इन गाथाओं का उल्लेख एवं व्याख्या नहीं की है। मुद्रित दीपिका में भी इन गाथाओं को आवश्यक निर्युक्ति की संख्या के साथ नहीं जोड़ा है।

(गाथाओं के लिए देखें नंदी १-४३),

उग्गहो ईह अवाओ (म), ओग्गह ईह अवाओ (स्‍वो)।

नंदी ५४/१, स्‍वो. २/१७७।

उग्गहणं (म), उग्गहम्मो (चू), उग्गहणम्मि (स्‍वो, हाटीपा),

सप्तमो प्रथमार्थे द्रष्टव्या (हाटी)।

अवगगहं (म), ओग्गहो (स्‍वो)।

वियालणा (रा), 'लणे (अ, स, स्‍वो), 'लणं (म)।

१. ईहं (म)।

१०. 'सायम्मि (अ, स, हा, दी, स्‍वो)।

११. धरणम्मि य धारणं बिंति (हा), नंदी ५४/२, स्‍वो ३/१७८।

१२. ओग्गहो (स्‍वो)।

१३. 'त्तमंतं (अ, म, दी, हाटीपा, स्‍वो)

१४. नंदी ५४/३, स्‍वो ४/३३१।

१५. नंदी ५४/४, स्‍वो ५/३३४।

१६. 'सेढीयं (चू)।

१७. मीसियं (अ, रा)।

१८. वीसेढिं (वपा)।

१९. नंदी ५४/५, तु. षट् पु. १३ पु. २४४, स्‍वो ६/३४९।

२०. गेण्हइ (चू)।

२१. काइएणं (अ)।

२२. निससरइ (हा)।

२३. निसीरइ (अ)।

२४. स्‍वो ७/३५३।

८. तिबिधम्मि सरीरम्मी^१, जीवपदेसा हवन्ति जीवस्स ।
जेहि तु गिण्हति गहणं, तो भासति भासओ भासं^२ ॥
९. ओरालिय-वेउव्विय-आहारओ^३, गिण्हति मुयति भासं ।
सच्चं 'सच्चामोसं, मोसं'^४ च असच्चमोसं च^५ ॥
१०. कतिहि^६ समएहि लोगो, भासाइ निरंतरं तु होति फुडो ।
लोगस्स य कतिभागे, कतिभागे होति भासाए^७ ॥
११. 'चतुहि समएहि'^८ लोगो, भासाइ निरंतरं तु होति फुडो ।
लोगस्स य चरमन्ते^९, चरमन्तो^{१०} होति भासाए^{११} ॥
१२. 'ईहा अपोह'^{१२} वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सण्णा सती मती पण्णा, सच्चं आभिणिबोहियं^{१३} ॥
१३. संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं^{१४} च खेत्तफुसणा य ।
'कालो य अंतरं भाग, भाव अप्पाबहुं चेव'^{१५} ॥
१४. गति इंदिए य काए, जोगे वेदे कसाय-लेसासु^{१६} ।
सम्मत्त-नाण-दंसण, संजय उव्वयोग आहारे^{१७} ॥
१५. भासग परित्त पज्जत्त, सुहुम सण्णी य होंति 'भव-चरिमे'^{१८} ।
'आभिणिबोहियनाणं, मग्गिज्जति एसु ठाणेसु'^{१९} ॥

१. सरीरम्मि (अ, हा, दी) ।
२. स्त्रो ८/३७२ ।
३. आहारो (हा, दी) ।
४. मोसं सच्चामोसं (अ, हा) ।
५. स्त्रो ९/३७३ ।
६. कइएहि (अ) ।
७. अ प्रति में गाथा का उत्तरार्ध नहीं है, स्त्रो १०/३७६ ।
८. चउहिं समएहिं (म, दी) ।
९. १०. चरिमन्ते (अ, रा, दी, म) ।
११. अ प्रति में गाथा का पूर्वार्ध नहीं है, स्त्रो ११/३७७ ।
१२. ईहापोह (चू), ईहा अप्पोह (अ)
१३. नंदी ५४-६, स्त्रो १२/३९४ ।
१४. दव्वप्पं (अ) ।

१५. चूर्णि में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
कालो अंतरभागो, भावो अप्पबहुकं ति, अनुद्वा १२१/१, स्त्रो १३/४०४
महेटी में इस गाथा की व्याख्या में निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः का उल्लेख
है । इस उल्लेख के अनुसार प्रकाशित विभामहेटी (४०५) में निम्न
गाथा को निर्युक्तिगाथा के रूप में स्वीकार किया है—
आएसो त्ति व सुत्तं, सुउवल्लेसो तस्स मइनाणं ।
पसरइ तब्बावणया, विणा वि सुत्ताणुसारेणं ॥
१६. लेसा य (चू) ।
१७. स्त्रो १४/४०७ ।
१८. भविय चरिमे य (दी, स्त्रो) ।
१९. पुव्वपडिवन्नए वा मग्गि (दी), एतेहिं तु पदेहिं संतपदे होंति वक्खणं
(चू) पुव्वपडिवन्नए वा पडिवज्जंते य मग्गणता (स्त्रो १५/४०८) ।

१६. आभिणिबोहियणाणे, अट्ठावीसं^१ हवन्ति पगडीओ।
सुतनाणे पगडीओ, वित्थरतो यावि वोच्छामिं^२ ॥
१७. पतेयमक्खराइं, अक्खरसंजोग जत्तिया लोए।
एवइया 'पगडीओ, सुयणाणे'^३ होंति णातव्वा^४ ॥
१८. कत्तो मे वण्णेउं, सत्ती सुतनाणसव्वपगडीओ।
चउदसविधनिकखेवं^५, सुतनाणे यावि वोच्छामिं^६ ॥
१९. अक्खर सण्णी सम्मं, सादीयं खलु सपज्जवसितं च।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि^७ एते सपडिवक्खा^८ ॥
२०. ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च।
निस्सिंधियमणुसारं^९, अणक्खरं^{१०} छेलियादीयं^{११} ॥
२१. आगमसत्थग्गहणं, जं बुद्धिगुणेहि अट्ठहिं दिट्ठं।
बेंति सुतनाणलंभं, तं पुव्वविसारदा धीरा^{१२} ॥
२२. सुस्सुसति पडिपुच्छति, सुणेति गिण्हति य ईहते यावि^{१३}।
तत्तो अपोहते वा^{१४}, धारेति करेति वा सम्मं^{१५} ॥
- २२/१. मूयं हुंकारं वा, बाढक्कार^{१६}-पडिपुच्छ मीमंसा^{१७}।
तत्तो पसंगपारायणं च परिणिट्ठ सत्तमए^{१८} ॥

१. 'वीसइ (हा, दी)।

२. यह गाथा स्वोपज्ञटीका में निगा के क्रम में निर्दिष्ट नहीं है किन्तु विषयवस्तु की दृष्टि से यह गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए। प्रकाशित महेटी में भी यह गाथा नहीं है किन्तु टीकाकार ने 'अत्र चान्तरे आभिणिबोहियणाणे अट्ठावीसं इत्यादि गाथा निर्युक्तौ दृश्यते तां च सुगमा उक्तार्था च मन्यमानोऽतिक्रम्य विहितसंबंधामेवाप्रेतनगाथामाह' का उल्लेख किया है। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि मलधारी हेमचन्द्र के समक्ष यह गाथा निर्युक्ति के रूप में थी।

३. सुयणाणे पगडीओ (म)।

४. स्‍वो १६/४४२।

५. चोइस' (म)।

६. स्‍वो १७/४४७।

७. व (अ)

८. नंदी १२७/१, कर्मग्रंथ भा. १ गा. ६, ७, स्‍वो १८/४५२।

९. णीसिंधिय' (हा, दी)।

१०. 'क्खरे (अ)।

११. नंदी ६०/१, स्‍वो १९/४९९।

१२. नंदी १२७/२, स्‍वो २०/५५५।

१३. वावि (म, हा, दी)।

१४. या (हा)।

१५. नंदी १२७/३, स्‍वो २१/५५८।

१६. बाढकार (हा, दी)।

१७. वीमंसा (ब, स, म, दी)

१८. बृभा २१०, नंदी १२७/४, स्‍वो २२/५६२।

- २२/२. सुत्तथो खलु पढमो, बितिओ निज्जुत्तिमीसओ भणितो ।
ततिओ य निरवसेसो, एस विधी होति^१ अणुयोगे^२ ॥
२३. संखातीताओ खलु ओधीनाणस्स सव्वपगडीओ ।
काओ^३ भवपच्चइया, खओवसमिथाउ काओ वि ॥
२४. कत्तो मे वण्णेउं, सत्ती ओधिस्स सव्वपगडीओ ।
चउदसविधनिकखेवं^४, इड्ढीपत्ते य वोच्छामि^५ ॥
२५. ओही खेतपरिमाणे, संठाणे आणुगामिए ।
अवट्टिए चले तिव्व-मंद-पडिवाउप्पया इय^६ ॥
२६. नाण-दंसण विब्भंगे, देसे खेत्ते गती इय ।
इड्ढीपत्ताणुओगे य, एमेता पडिवत्तिओ^७ ॥
२७. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले भवे य भावे य ।
एसो खलु 'निकखेवो, ओधिस्सा'^८ होति सत्तविहो^९ ॥
२८. जावइया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स ।
ओगाहणा^{१०} जहण्णा, ओधीखेत्तं जहणं तु^{११} ॥
२९. सव्वबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं^{१२} भरिज्जंसु^{१३} ।
खेत्तं सव्वदिसागं, परमोधी खेत्तनिदिट्ठो^{१४} ॥
३०. अंगुलमावलियाणं, भागमसंखेज्ज दोसु संखेज्जा ।
अंगुलमावलियंतो, आवलिया अंगुलपुहत्तं^{१५} ॥

१. भणिय (हा) ।

२. नंदी १२७/५, बृभा २०९, स्वर २३/५६३, कोष्ठकवर्ती गाथाओं (२२/१, २) का चूर्ण में कोई उल्लेख नहीं है। ये दोनों गाथाएं सभी टीकाओं में निर्युक्ति गाथा के क्रम में हैं। ये गाथाएं बाद में जोड़ी गई प्रतीत होती हैं क्योंकि २२ वीं गाथा में श्रुतज्ञान का विषय समाप्त हो जाता है तथा २३ वीं गाथा में अवधिज्ञान का प्रकरण प्रारम्भ होता है। बीच में श्रवणविधि और व्याख्यानविधि से सम्बन्धित ये दोनों गाथाएं प्रक्षिप्त सी लगती हैं। इन दोनों को निगा के क्रम में न रखने पर भी विषय की क्रमबद्धता में कोई अन्तर नहीं आता। २२/२ के निगा न होने का एक प्रमाण यह भी है कि स्वयं निर्युक्तिकार अपनी व्याख्या में 'बीओ निज्जुत्तिमीसओ' का उल्लेख नहीं करते। संभव है ये गाथाएं विशेषावश्यकभाष्य से कालान्तर में आवश्यकनिर्युक्ति के साथ जुड़ गईं। इस विषय में और भी गहन चिंतन की आवश्यकता है।

३. कादी (स्वर २४/५६५) ।

४. चोदस (म) ।

५. स्वर २५/५६६ ।

६. स्वर २६/५७४ ।

७. 'वत्तीओ (अ, द), स्वर २७/५७५ ।

८. ओहिस्सा निकखेवो (अ, ब, म, स) ।

९. स्वर २८/५७८ ।

१०. उग्गा (अ, स) ।

११. नंदी १८/१, स्वर २९/५८५ ।

१२. जित्तियं (ब) ।

१३. भरिज्जासु (हा, दी) ।

१४. नंदी १८/२, स्वर ३०/५९५ ।

१५. नंदी १८/३, स्वर ३१/६०४ ।

३१. हत्थम्मि मुहुत्तंतो, दिवसंतो गाउयम्मि बोधव्वो।
जोयण दिवसपुहत्तं, पक्खंतो पण्णवीसाओ^१ ॥
३२. भरहम्मि अद्धमासो, जंबूदीवम्मि^२ साहिओ मासो।
वासं च मणुयलोए, वासपुहत्तं च रुयगम्मि^३ ॥
३३. संखेज्जम्मि तु काले, दीवसमुदा वि^४ होति संखेज्जा।
कालम्मि असंखेज्जे, दीवसमुदा तु भइयव्वा^५ ॥
३४. काले चतुण्ह वुड्ढी, कालो भइयव्वु खेत्तवुड्ढीए।
वुड्ढीइ दव्वपज्जव, भइतव्वा खेत्तकाला उ^६ ॥
३५. सुहुमो य होति कालो, तत्तो सुहुमतरयं^७ हवति खेत्तं।
अंगुलसेढीमित्ते, ओसप्पिणिओ असंखेज्जा^८ ॥
३६. तेया-भासादव्वाण, अंतरा^९ एत्थ लभति पट्टवगो।
गुरुलहुयअगुरुलहुयं, तं पि य तेणेव निट्ठाति^{१०} ॥
३७. आहार-तेय-भासा, मण-कम्मग दव्ववग्गणासु कमो।
कम्मग-मण-भासाए, य तेय आहारए खेत्ते^{११} ॥
३८. कम्मोवरि धुवेतर, सुण्णेतरवग्गणा अणंताओ।
चउधुवणंतर तणुवग्गणा, य मीसो तहाऽचितो^{१२} ॥
३९. तेयाऽऽहारग विकुव्वणोरालसरीर गुरु-लहू दव्वा।
कम्मग-मणाऽऽणपाणू भासा य अगुरुय-लहुयाइ^{१३} ॥

१. नंदी १८/४, स्वो ३२/६०५।

२. जंबुदी^१ (म, ब), जंबुदीवे य (स्वो)

३. नंदी १८/५, स्वो. ३३/६०६।

४. य (म)

५. भयणिज्जा (स्वो. ३४/६११), नंदी १८/६।

६. यह गाथा मुद्रित मलयगिरि टीका में निगा के क्रमांक में नहीं है, नंदी १८/७, स्वो. ३५/६१३।

७. मयरं (हा, अ)।

८. नंदी १८/८, स्वो. ३६/६१७।

९. मंतरा (चू), अंतरे (मटीपा, हाटीपा, बपा)।

१०. स्वो ३७/६२३।

११. प्रायः सभी टीकाओं तथा स्वोपज्ञ वृत्ति (३८/६२७) में इस गाथा के स्थान पर निम्न गाथा मिलती है—

ओराल-विउव्वाहार-तेय भासाणपाण-मण-कम्मे।

अह दव्ववग्गणाणं, कमो विवज्जासतो खेत्ते ॥

हमने प्राचीनता की दृष्टि से चूर्णि को मुख्य मानकर उसी गाथा को मूल रूप में स्वीकृत किया है।

१२. स्वो ३९/६३४, चूर्णि में इस गाथा का संकेत नहीं है। विषय की दृष्टि से भी यह अतिरिक्त व्याख्यात्मक सी प्रतीत होती है। सभी व्याख्याग्रंथों में यह गाथा निगा के क्रम में है अतः इसे निर्युक्तिगाथा के क्रम में रखा गया है।

१३. प्रायः सभी टीकाओं तथा प्रकाशित स्वोपज्ञवृत्ति (४०/६५४) में यह गाथा कुछ शाब्दिक अंतर के साथ इस प्रकार मिलती है—

ओरालिय-वेउव्विय, आहारग-तेय-गुरुलहू दव्वा।

कम्मग-मण-भासाइ, एताइ अगुरुलहुयाइ ॥

विषय की स्पष्टता की दृष्टि से हमने चूर्णि की गाथा को मूल रूप में स्वीकृत किया है।

४०. संखेज्ज मणोदब्बे, भागो लोगपलियस्स बोधव्वो ।
संखेज्ज कम्मदब्बे, लोगे धोवूणं पलियं^१ ॥
४१. तेयाकम्मसरीरे, तेयादब्बे य भासदब्बे य ।
बोधव्वमसंखेज्जा, दीवसमुद्दा य कालो य^२ ॥
४२. एगपदेसोगाढं, परमोधी लभति कम्मगसरीरं ।
लभति य अगुरुयलहुयं^३, तेयसरीरे भवपुहत्तं^४ ॥
४३. परमोहि असंखेज्जा, लोगमेत्ता समा असंखेज्जा ।
रूवगत लभति सव्वं, खेतोवमियं अगणिजीवां^५ ॥
४४. आहार-तेयलंभो, उक्कोसेणं तिरिक्खजोणीसु ।
गाउयजहण्णमोधी^६, नरएसु^७ तु जोयणुक्कोसो^८ ॥
४५. चत्तारि गाउयाइं, अद्दुद्दाइं तिगाउयं^९ चेव ।
अद्दुइज्जा दोन्नि य, दिवड्डुमेणं च निरएसु^{१०} ॥
४६. सक्कीसाणा पढमं, दोच्चं च सणंकुमार-माहिंदा ।
तच्चं च बंध-लंतग, सुक्क-सहस्सारग चउत्थिं^{११} ॥
४७. आणत-पाणत कप्पे, देवा पासंति पंचमिं पुढविं^{१२} ।
तं चेव आरणऽच्चुत^{१३}, ओहीनाणेण पासंति^{१४} ॥
४८. छट्ठिं^{१५} हेट्ठिम-मज्झिमगेवेज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला ।
संभिण्णलोगनालिं, पासंति अणुत्तरा देवा^{१६} ॥
४९. एतेसिमसंखेज्जा, तिरियं दीवा य सागरा चेव ।
बहुतरगं^{१७} उवरिमगा, उट्ठं च सकप्पधूभाई^{१८} ॥

१. स्‍वो ४१/६६५ ।

२. स्‍वो ४२/६६९ ।

३. अगुरुलं (ब) ।

४. स्‍वो ४३/६७१ ।

५. स्‍वो ४४/६८१ ।

६. ण्ण ओही (चू) ।

७. निरएसु (चू) ।

८. स्‍वो ४५/६८६ ।

९. तिगाउया (स, हा, दी) ।

१०. नरएसु (ब, म, चू), स्‍वो ४६/६८९ ।

११. चउत्थी (हा), चउत्थी (दी), स्‍वो ४७/६९१ ।

१२. पुढवीं (अ, हा, दी) ।

१३. आरणु (अ) ।

१४. स्‍वो ४८/६९२ ।

१५. छट्ठं (अ, चू) ।

१६. स्‍वो ४९/६९३ ।

१७. बहुअरि (अ) ।

१८. सगक (दी, हा), धूभाई (म), स्‍वो ५०/६९४ ।

५०. संखेज्जजोयणा खलु, देवाणं अद्धसागरे ऊणे ।
तेण परमसंखेज्जा, जहण्णयं पण्णवीसं^१ तु^२ ॥
५१. 'उक्कोसो मणुएसुं'^३, मणुस्सतेरिच्छिएसु^४ य जहण्णो ।
उक्कोस लोगमित्तो, पडिवाइ^५ परं अपडिवाइ^६ ॥
५२. थिबुगागार^७ जहण्णो, वट्ठो उक्कोसमायतो किंची ।
अजहण्णमणुक्कोसो, य^८ खेतओऽण्णेगसंठाणो^९ ॥
५३. तप्पागारे पल्लग-पडहग-झल्लरि-मुडुंग पुप्फ-जवे ।
तिरियमणुएसु ओधी, नाणाविहसंठितो भणितो^{१०} ॥
५४. अणुगामिओ उ^{११} ओधी, नेरइयाणं तधेव देवाणं ।
'अणुगामि अणुगामी'^{१२}, मीसो य मणुस्सतेरिच्छे^{१३} ॥
५५. खेतस्स अवट्ठाणं, तेत्तीसं सागरा तु कालेणं ।
दव्वे भिण्णमुहुत्ते, पज्जवलंभे य सत्तट्ठु^{१४} ॥
५६. अद्धाइ अवट्ठाणं, छावट्ठी^{१५} सागरा तु कालेणं ।
उक्कोसगं तु एतं, एक्को समयो जहण्णेणं^{१६} ॥
५७. वुड्ढी वा हाणी वा, चउव्विधा होति खेतकालाणं ।
दव्वेसु होति दुविधा, छाव्विह पुण पज्जवे होति^{१७} ॥
५८. फड्डाई^{१८} असंखेज्जा^{१९}, संखेज्जा यावि एगजीवस्स ।
एगप्फड्डुवओगे^{२०}, नियमा सव्वत्थ उवउत्तो ॥

१. पंचवीसं (स, हा, दी) ।

२. स्‍वो ५१/६९५ ।

३. उक्कोस मणुस्सेसु (चू), उक्कोसो मणुस्सेसु (अ, ब, रा) ।

४. 'तिरिएसु (हा, दी, स) ।

५. पडिवाति (स्वो) ।

६. अपडिवादी (स्वो ५२/६९९) ।

७. 'गारु (चू) ।

८. उ (ब, अ), x (स) ।

९. स्‍वो ५३/७००, इस गाथा के बाद हस्तप्रतियों में 'गाथाद्वयं अन्यकर्तृकं अव्याख्यातं च' उल्लेख के साथ निम्न दो गाथाएं मिलती हैं—

णेरइय-भवण-वणयर, जोइस-कप्पालयाणमोहिस्स ।

गेविज्जऽणुत्तराण य, हुंतागिइओ जहासंखं ॥

भवणवइ-वणयराणं, उड्डुं बहुओ अहोऽवसेसाणं ।

नारय-जोइसियाणं, तिरियं ओरालिओ चित्तो ॥

हाटी (पृ. २८) में ये गाथाएं टिप्पण में 'भाष्यकृतकृते अव्याख्याते' उल्लेख के साथ मिलती हैं ।

१०. स्‍वो ५४/७०२ ।

११. य (चू)

१२. अणुगामियऽणुगामी (स्वो ५५/७१०) ।

१३. अ प्रति में इस गाथा का उत्तरार्थ नहीं है ।

१४. स्‍वो ५६/७१३ ।

१५. छावट्ठिं (म) ।

१६. स्‍वो ५७/७१४ ।

१७. स्‍वो ५८/७२४ ।

१८. फड्डा य (स, म, हा, दी), फद्दा य (स्वो) ।

१९. 'ज्जे (म) ।

२०. 'प्फड्डुव' (स्वो ५९/७३४) ।

५९. फड्डाई^१ आणुगामी, अणुगामी य मीसगा चेव।
पडिवाति अपडिवाती, 'मीसो य'^२ मणुस्सतेरिच्छे^३ ॥
६०. बाहिरलंभे भज्जो, दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
उप्पा पडिवाओ वि य, तं उभयं^४ चेगसमएणं^५ ॥
६१. अब्भंतरलद्धीए^६, उ तदुभयं नत्थि एगसमएणं।
उप्पा पडिवाओ वि य, एगतरो एगसमएणं^७ ॥
६२. दव्वाओ असंखेज्जे^८, संखेज्जे यावि पज्जवे लभति।
दो पज्जवे दुगुणिते, लभति य एगाउ दव्वाओ^९ ॥
६३. सागारमणागारा, ओहिविभंगा जहण्णगा तुल्ला।
उवरिमगेवेज्जेसु उ, परेण ओही असंखेज्जे^{१०} ॥
६४. नेरइय-देव-तित्थंकरा य ओहिस्सबाहिरा होंति।
पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति^{११} ॥
६५. संखेज्जमसंखेज्जे^{१२}, पुरिसमबाहाइ खेत्तओ ओही।
संबद्धमसंबद्धो, लोगमलोगे य संबद्धो^{१३} ॥
- ६५/१. गति-नेरइयाईया, हेट्ठा जह वण्णिता तहेव इहं।
इट्ठी एसा वण्णिज्जइ त्ति तो सेसियाओ वि^{१४} ॥
६६. आमोसहि विप्पोसहि, खेलोसहि^{१५} जल्लमोसही^{१६} चेव।
'संभिन्नसोय उज्जुमइ'^{१७}, सव्वोसहि चेव बोधव्वा^{१८} ॥

१. फड्डा य (म, स, दी, हा, चू)।

२. मीसाणि (अ)।

३. मणुयं (अ), स्त्रो ६०/७३५।

४. तदुभयं (अ, ब, रा, म)।

५. एग (स, हा, दी), स्त्रो ६१/७४४।

६. अब्भंतरं (हा, म, दी, ब, चू)

७. अ प्रति में इस गाथा का उत्तरार्ध नहीं है, स्त्रो ६२/७४८।

८. 'खेज्जा (चू)

९. स्त्रो ६३/७५६।

१०. स्त्रो ६७/७५९।

११. नंदी २२/२, स्त्रो ६५/७६२।

१२. 'खेज्जा (चू)।

१३. स्त्रो ६६/७६८।

१४. स्त्रो ६७/७७२, इस गाथा का चूर्ण में कोई संकेत नहीं है। किन्तु सभी टीकाओं में यह निगा के क्रम में है। यह गाथा संपूर्ति रूप एवं सूचनात्मक है अतः बाद में जोड़ी गई प्रतीत होती है। चूर्ण में इस गाथा के स्थान पर इसी निर्युक्ति की १३, १४ एवं १५ वीं गाथा का पुनः संकेत किया गया है। पुनरावर्तन होने के कारण इन्हें पुनः मूल गाथा के क्रमांक में नहीं जोड़ा है।

१५. 'सही (म)।

१६. 'मोसहि (म)।

१७. 'सो उज्जुमइ (हा)।

१८. स्त्रो ६८/७७५।

६७. चारण-आसीविस^१ केवली य भणनाणिणो य पुव्वधरा ।
अरहंत^२ चक्कवट्ठी, बलदेवा वासुदेवा य^३ ॥
६८. सोलस रायसहस्सा, सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं ।
अंछंति^४ वासुदेवं, अगडतडम्मी ठितं संतं^५ ॥
६९. घेतूणं संकलं सो, वामगहत्थेण अंछमाणाणं ।
भुंजेज्ज विलिंपेज्ज^६ व, मधुमहणं ते न चाएति^७ ॥
७०. दो सोला बत्तीसा, सव्वबलेणं तु संकलनिबद्धं ।
अंछंति चक्कवट्ठिं, अगडतडम्मी ठितं संतं^८ ॥
७१. घेतूणं संकलं सो, वामगहत्थेण अंछमाणाणं ।
भुंजेज्ज विलिंपेज्ज^९ व, चक्कहरं ते न चाएति^{१०} ॥
७२. जं केसवस्स उ बलं, तं दुगुणं होति चक्कवट्ठिस्स ।
तत्तो बला बलवगा, अपरिमितबला जिणवरिदा^{११} ॥
७३. मणपज्जवनानं पुण, जण-मणपरिचिंतियत्थपागडणं ।
माणुसखेत्तनिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवओ^{१२} ॥
७४. अहं सव्वदव्वपरिणाम, भावविण्णत्तिकारणमणंतं ।
ससयमण्णडिवाई^{१३}, एगविहं 'केवलं' नाणं^{१४} ॥
७५. केवलनाणेणऽत्थे, णाडं जे तत्थ पण्णवणजोगे ।
ते भासति तित्थगरो, 'वइजोग'^{१५} सुतं हवति सेसं^{१६} ॥

१. 'विसा (म) ।

२. अरिहंत (म) ।

३. स्वो ६९/७७६ ।

४. देशीवचनमेतत् आकर्षन्ति (मटी), मुद्रित आवश्यकनिर्युक्ति
हारिभट्टीय टीका में ६८ से ७२ तक की गाथाएं प्रकाशित
नहीं हैं ।

५. स्वो ७०/७९० ।

६. व लिंपिज्ज (दी, स) ।

७. चायंति (दी), स्वो ७१/७९१ ।

८. स्वो ७२/७९२ ।

९. व लिंपिज्ज (स, दी) ।

१०. चायंति (दी), स्वो ७३/७९३ ।

११. स्वो ७४/७९४ ।

१२. नंदी २५/१, स्वो ७५/८०६ ।

१३. 'पडिवायं (म, ब)' 'पडिवाई (अ)', 'पडिवाइ (दी, स) ।

१४. केवलं इति वा (ब), नंदी ३३/१, स्वो ७६/८१८ ।

१५. वयजो (स, हा, दी)

१६. अन्ये त्वेवं पठंति—वयजोगसुयं हवइ तेसिं (हाटीपा, मटीपा),
नंदी ३३/२, स्वो ७७/८२४ ।

- ७५/१. इत्थं पुण अहिगारो, सुतनाणेणं जतो सुतेणं तु।
सेसाणमप्पणो वि य, अणुयोगु पदीवदिट्ठतो^१ ॥
पेढिया सम्मत्ता
- ७५/२. उद्देसे निद्देसे, य निग्गमे खेत-काल-पुरिसे य।
कारण-पच्चय-लक्खण, नए समोतारणाऽणुमए^२ ॥
- ७५/३. किं कतिविहं कस्स कहिं, केसु कहं केच्चिरं हवति कालं।
कति संतरमविरहितं, भवागरिस-फासण^३-निरुत्ती^४ ॥
७६. तित्थगरे भगवंते, अणुत्तरपरक्कमे अमितनाणी।
तिण्णे सुगतिगतिगते, सिद्धिपहपदेसए^५ वंदे^६ ॥
७७. वंदामि महाभागं, महामुणि-महायसं महावीरं।
अमर-नर-राय-महितं, तित्थगरमिमस्स तित्थस्स^७ ॥
७८. एक्कारस वि गणधरे, पवायए पवयणस्स वंदामि।
सब्बं गणहरवंसं, वायगवंसं पवयणं च^८ ॥

१. इस गाथा का चूर्ण में संकेत नहीं है किन्तु इसकी संक्षिप्त व्याख्या मिलती है। हरिभद्र ने इसके लिए “निर्युक्तिकारेणाभ्यधायि” तथा मलयगिरि ने “चाह निर्युक्तिक्कद्” का उल्लेख किया है। विशेषावश्यक भाष्य में यह गाथा निगा के रूप में निर्दिष्ट नहीं हुई है अतः हमने इसे निर्युक्ति गाथा के क्रम में नहीं जोड़ा है। ऐसा अधिक संभव लगता है कि उपसंहार रूप में इस गाथा की रचना बाद में की गई हो और वह निर्युक्तिगाथा के रूप में प्रसिद्ध हो गई हो।

२. स्त्रो ७८/९६८, अनुद्धा ७१३/१।

३. फोसण (महे)।

४. स्त्रो ७९/९६९, अनुद्धा ७१३/२, ७५/२, ३—ये दोनों गाथाएं उपोद्घातनिर्युक्ति के रूप में प्रसिद्ध हैं। स्वोपज्ञवृत्ति सहित भाष्य, कोट्याचार्य एवं मलधारीहेमचन्द्र वृत्ति सहित भाष्य में भी ये निगा के क्रमांक में हैं। किन्तु वहां टीकाकारों ने इसके निर्युक्तिगाथा होने की कोई सूचना नहीं दी है। ये दोनों गाथाएं मूल में अनुयोगद्वारा की हैं। आवश्यकनिर्युक्ति की सभी टीकाओं में ये गाथाएं यहां निर्युक्ति के क्रम में नहीं हैं। आगे हरिभद्रिय टीका (गा. १४०, १४१), मलयगिरि टीका (गा. १३७, १३८) तथा दीपिका में (गा. १४०, १४१) के क्रमांक में ये गाथाएं निर्युक्ति गाथा के क्रम में आई हैं। विशेषावश्यकभाष्य में भी पुनः इन्हीं गाथाओं का पुनरावर्तन निगा के क्रम में हुआ है। (स्त्रो १३५/१४८२, १३६/१४८३), (को १३५/१४८७, १३६/१४८८) तथा (महे १४८४, १४८५) इन गाथाओं को यहां निगा के क्रम में नहीं जोड़ा है क्योंकि यहां ये प्रासंगिक प्रतीत नहीं होतीं। आगे गाथाओं के क्रम में जहां ये गाथाएं आई हैं, वहां आगे की गाथाओं में इनकी व्याख्या भी है तथा प्रासंगिक भी हैं। चूर्ण में यहां इन गाथाओं का कोई संकेत नहीं है। (देखें टिप्पण गा. १२६ का)

५. सिद्धपह^८ (चू)।

६. स्त्रो ८०/१०२२।

७. स्त्रो ८१/१०५४।

८. स्त्रो ८२/१०५९।

७९. ते बंदिऊण सिरसा, अत्थपुहत्तस्स^१ तेहिं कहियस्स ।
सुतनाणस्स भगवतो, निज्जुत्तिं कित्तइस्सामि^२ ॥
८०. आवस्सगस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे^३ ।
सूयगडे निज्जुत्तिं, वोच्छामि तहा दसाणं च^४ ॥
८१. कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमनिउणस्स ।
सूरियपण्णत्तीए, वोच्छं इसिभासिताणं च^५ ॥
- ८१/१. एतेसिं निज्जुत्तिं, वोच्छामि अहं जिणोवदेसेणं ।
आहरण-हेतु-कारण-पय निवहमिणं समासेणं^६ ॥
- ८१/२. सामाइयनिज्जुत्तिं, वोच्छं उवदेसितं गुरुजणेणं ।
आयरियपरंपरण, आगतं आणुपुक्वीए^७ ॥
८२. निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होति निज्जुत्ती ।
तह वि य इच्छावेती^८, विभासितुं^९ सुत्तपरिवाडी^{१०} ॥
८३. तव-नियम-नाणरुक्खं, आरूढो केवली अमितनाणी ।
तो मुयति नाणवुट्ठिं, भवियजणविबोहणट्ठाए^{११} ॥
८४. तं बुद्धिमएण पडेण, गणहरा गेण्हितुं^{१२} निरवसेसं ।
तित्थगरभासिताइं, गंथंति तओ पवयणट्ठा^{१३} ॥

१. 'पुहत्तस्स' (अ)
२. कित्तइस्सामि (अ), स्वो ८३/१०६६ ।
३. मोऽलाक्षणिकः (दी) ।
४. स्वो ८४/१०७१ ।
५. स्वो ८५/१०७२, ८०, ८१ इन दोनों गाथाओं का संकेत चूर्णि में नहीं है किन्तु संक्षिप्त व्याख्या है ।
६. स्वो ८६/१०७३ ।
७. स्वो ८७/१०७७, ८१/१, २—इन दोनों गाथाओं का चूर्णि में कोई उल्लेख नहीं है । सभी टीकाओं एवं भाष्य में ये गाथाएं निगा के क्रम में हैं । निर्युक्तिकार ने ७९-८१ तक की गाथाओं में निर्युक्तिकथन की प्रतिज्ञा तथा जिन सूत्रों पर निर्युक्ति लिखनी है, उनका उल्लेख कर दिया है अतः ये गाथाएं

व्याख्यात्मक एवं पुनरुक्त सी लगती हैं । यहां इन गाथाओं की प्रासंगिकता नहीं लगती । इनको निगा न मानने पर भी चालू विषयवस्तु के क्रम में कोई अंतर नहीं आता । दूसरी बात, आचार्य भद्रबाहु आवश्यकनिर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं वहां सामायिकनिर्युक्ति नाम का उल्लेख स्पष्ट करता है कि ये गाथाएं बाद में जोड़ी गई हैं ।

८. इच्छावेइ (म, ब, हा, दी) ।
९. विभासियं (अ) ।
१०. 'परिवाडिं (बपा, मटीपा, हाटीपा), स्वो ८८/१०८२ ।
११. स्वो ८९/१०९१ ।
१२. गिण्हितं (अ, म, हा, दी) ।
१३. स्वो ९०/१०९२ ।

८५. 'घेतुं च'^१ सुहं सुहगुण^२, धारणा दाउ पुच्छिउं चव ।
एतेहिं कारणेहिं, जीतं^३ ति कतं गणहरेहिं^४ ॥
८६. अत्थं भासति अरहा^५, सुत्तं गंधंति गणहरा निउणं^६ ।
सासणस्स हियट्ठाए, ततो सुत्तं पवत्तई^७ ॥
८७. सामाइयमादीयं, सुतनाणं जाव बिंदुसाराओ ।
तस्स वि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वानं^८ ॥
८८. सुतनाणम्मि वि जीवो, वट्ठतो सो न पाउणति मोक्खं ।
जो तव-संजममइए, जोए न चएति वोढुं जे^९ ॥
८९. जह छेदलद्धनिज्जामओ वि वाणियग इच्छियं भूमिं ।
वातेण विणा पोओ, न चएति महण्णवं तरिउं^{१०} ॥
९०. तह नाणलद्धनिज्जामओ वि सिद्धिवसहिं न पाउणति ।
निउणो वि जीवपोतो, तव-संजममारुयविहूणो^{११} ॥
९१. संसारसागराओ, उब्बुड्डो^{१२} मा पुणो निबुड्डेज्जा ।
'चरणगुणविप्पहीणो, बुड्डुति'^{१३} सुबहुं पि जाणंतो^{१४} ॥
९२. सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काही? चरणविप्पहीणस्स^{१५} ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसतसहस्सकोडी वि^{१६} ॥
९३. अप्पं पि सुयमहीयं, पगासयं होति चरणजुत्तस्स ।
एक्को वि जह पदीवो, सचक्खुयस्सा पगासेति^{१७} ॥

१. घेतुण (चू) ।

२. सुहगुण (म, हाटी), गुणनं—एतावदधीतं एतावच्चाध्येतव्य-
मिति (हाटी १ पृ. ४६), गुणनं परावर्तनम् (मटी प. १०६),
आचार्य हरिभद्र ने गुणन पाठ मानकर उसका अर्थ श्रुत की
गणना या परिमाण किया है। आचार्य मलयगिरि ने गुणन शब्द
मानकर इसका अर्थ परावर्तना किया है।

३. जियं (रा), जीवितं.....जीयं ति प्राकृतशैल्या (हाटी) ।

४. स्‍वो ९१/१११०।

५. अरिहा (अ, रा, ला) ।

६. 'निउणा (मटीपा, लापा, बपा), पाठांतरं वा गणहरा निपुणा
निगुणा वा (हाटीपा) ।

७. पवत्तई (म, स, ब, हा, दी,), गाथा के पूर्वार्द्ध में आया

तथा उत्तरार्ध में अनुष्टुप् छंद है, स्‍वो ९२/१११६।

८. स्‍वो ९३/११२३।

९. जे इति पादपूरणे, इजेरा: पादपूरणे इति वचनात् (हाटी, मटी),
जे पादपूर्व्ये (दी), स्‍वो ९४/११४०।

१०. तरियं (अ), स्‍वो ९५/११४२।

११. 'विहीणो (म, ब), स्‍वो ९६/११४३।

१२. निबुड्डो (अ) ।

१३. चरणमणाढायमाणो निबुड्डुति (चू) ।

१४. स्‍वो ९७/११४४।

१५. 'विप्पहूणस्स (ला) ।

१६. स्‍वो ९८/११४५।

१७. स्‍वो ९९/११५२।

९४. जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सुग्गतीए^१ ॥
९५. हतं नाणं कियाहीणं, हता अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो^२ दड्ढो, धावमाणो य^३ अंधओ^४ ॥
९६. संजोगसिद्धीय^५ फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाति।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा^६ ॥
९७. णाणं पयासगं सोहओ तवो संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाजोगे, मोक्खो जिणसासणे भणितो^७ ॥
९८. भावे खओवसमिते, दुवालसंगं पि होति सुतनाणं।
केवलियनाणलंभो, नन्तथ खए कसायारण^८ ॥
९९. अट्ठण्हं पगडीणं, उक्कोसठिईइ^९ वट्ठमाणो उ।
जीवो न लभति सामाइयं चउण्हं पि एगतरं^{१०} ॥
१००. सत्तण्हं पगडीणं^{११}, अब्भितरओ^{१२} तु^{१३} कोडिकोडीए^{१४}।
काऊण सागराणं, जइ^{१५} लहति चउण्हमण्णतरं^{१६} ॥
- १००/१. पल्लग-गिरि-‘सरि-उवला’^{१७}, पिबिलिया पुरिस पह^{१८} जग्गहिया।
कोहव जल वत्थाणि य, सामाइयलाभदिट्ठं ता^{१९} ॥

१. स्‍वो १००/११५५।

२. पंगलो (अ)।

३. X (अ)।

४. स्‍वो. १०१/११५६।

५. ‘सिद्धीइ (म, रा, ला, हा, दी)।

६. स्‍वो १०२/११६२।

७. स्‍वो १०३/११६६।

८. स्‍वो १०४/११७७।

९. ‘ठिइइ (हा), ठिईए (म)।

१०. स्‍वो १०५/११८३।

११. पगदीणं (ला)।

१२. अब्भितरओ (अ, ला)।

१३. य (स)।

१४. ‘कोडीणं (स, हा, दी), ‘कोडको’ (स्‍वो)।

१५. ठिइ (हाटीपा, मटीपा, लापा, बपा)।

१६. चउण्हमेगतरं (ला), स्‍वो १०६/११९०।

१७. सरि^१ (अ, रा), सरिओवल (म)।

१८. पहं (ला)।

१९. स्‍वो १०७/१२०१, इस गाथा का चूर्ण में कोई संकेत एवं व्याख्या नहीं है। विशेषावश्यक भाष्य में इस गाथा की व्याख्या २१ गाथाओं में है। प्रस्तुत गाथा में सामायिक के लाभ से सम्बन्धित नौ दृष्टांतों का उल्लेख है। यहां आवश्यकनिर्युक्ति के विषयक्रम में यह गाथा असम्बद्ध सी लगती है अतः ऐसा अधिक संभव लगता है कि द्वारगाथा के रूप में भाष्यकार ने यह गाथा लिखकर उसकी व्याख्या की हो और कालान्तर में यह गाथा निर्युक्ति गाथा के रूप में जुड़ गई हो। चूर्णिकार के समक्ष यह गाथा निगा के रूप में नहीं थी अन्यथा वे इतनी महत्त्वपूर्ण गाथा की व्याख्या या संकेत किये बिना नहीं रहते। बृहत्कल्पभाष्य (गा. ९६) में सम्पक्त्व-प्राप्ति के प्रसंग में पल्यक को छोड़कर शेष आठ दृष्टान्त दिए गए हैं। वह गाथा कुछ अंतर के साथ इस प्रकार है—

नदि-पह-जर-वत्थ-जले, पिबिलिया पुरिस कोहवा चेव।

सम्मदंसणलंभे, एते अट्ठ उ उदाहरणा ॥

१०१. पढमिल्लुगाण^१ उदए, नियमा संजोयणा कसायाणं ।
सम्मदंसणलंभं, भवसिद्धीया वि न लभंति^२ ॥
१०२. बितियकसायाणुदए^३, अप्पच्चक्खाणणामधेज्जाणं ।
सम्मदंसणलंभं, विरताविरतिं न तु लभंति^४ ॥
१०३. ततियकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधेज्जाणं ।
देसेक्कदेसविरतिं, चरित्तलंभं न तु^५ लभंति^६ ॥
१०४. मूलगुणाणं लंभं, न लभति मूलगुणघातिणो^७ उदए ।
'संजलणाणं उदए'^८, न लभति चरणं अहक्खातं^९ ॥
१०५. सव्वे वि य अतियारा^{१०}, संजलणाणं तु उदयओ होति ।
मूलच्छेज्जं पुण होति, बारसणहं कसायाणं^{११} ॥
१०६. बारसविहे कसाए, खविए^{१२} उवसामिए व जोगेहिं ।
लब्भति चरित्तलंभो, तस्स विसेसा इमे पंच^{१३} ॥
१०७. सामाइयत्थ^{१४} पढमं, छेदोवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च^{१५} ॥
१०८. ततो य अहक्खातं, खातं सव्वम्मि जीवलोगम्मि ।
जं चरिऊण सुविहिता, 'वच्चंतऽयरामरं ठाणं'^{१६} ॥
१०९. अण-दंस-नपुंसित्थीवेयच्छक्कं च पुरिसवेयं^{१७} च ।
दो दो एगंतरिए^{१८}, सरिसे सरिसं उवसमेति^{१९} ॥

१. प्रथमिल्लुकाः देशीवचनतो (हाटी) ।

स्वो १०८/१२२३ ।

बीयं (म) ।

सम्मदंसणं (चू), 'लाभं (ला) ।

स्वो १०९/१२२८ ।

हु (अ) ।

स्वो ११०/१२३१ ।

'घाइणं (हा, दी), 'घाइणे (स) ।

उदए संजलणाणं (हा, दी, स) ।

२. स्वो १११/१२३५, चूर्णि में इस गाथा का संकेत नहीं है किन्तु व्याख्या उपलब्ध है ।

११. अईयारा (स) ।

१२. स्वो ११२/१२४६ ।

१३. खइए (ब, म, हा, दी) ।

१४. स्वो ११३/१२५२ ।

१५. सामाइयं च (अ, हा, दी, स) ।

१६. उ २८/३२, स्वो ११४/१२५७ ।

१७. वच्चंति अणुत्तरं मोक्खं (ला), स्वो ११५/१२५८ ।

१८. पुरुसं (रा, हा, दी) ।

१९. एगंतरिए (ला, चू) ।

२०. स्वो ११६/१२८१ ।

११०. 'लोभाणुं वेदंतो', जो खलु उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसंपराओ, अहखाता ऊणओ किंची^१॥
- ११०/१. उवसामं पुवणीया^२, गुणमहता जिणचरितसरिसं पि।
पडियायंति कसाया, किं पुण सेसे सरागत्ये^३?॥
- ११०/२. जइ उवसंतकसाओ, लभति अणंतं पुणो वि पडिवायं^४।
न हु भे वीससियव्वं, थेवे^५ वि^६ कसायसेसम्मि^७॥
- ११०/३. अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च।
ण हु भे वीससियव्वं, थेवं पि हु तं बहुं होति^८॥
१११. अण-मिच्छ-मीस सम्मं^९, अट्ट नपुंसिस्थिवेदछक्कं^{१०} च।
पुमवेयं^{११} च खवेती^{१२}, कोहाइए^{१३} य संजलणे^{१४}॥
- १११/१. गति आणुपुव्वि^{१५} दो दो, जातीनामं च जाव चउरिदी।
आयावं उज्जोयं, थावरनामं च सुहुमं च॥

१. लोभाणू वेदंतो (चू), लोभाणू वेयंतो (म, ब, रा, ला)।
२. खमओ (अ, लापा)।
३. किंची (म), स्त्रो ११७/१२९९।
४. उवणीया (अ, म, हा, दी), अपि उपनीता (मटी, हाटी)।
५. स्त्रो ११८/१३०३।
६. पडिवातिं (ला)।
७. थोवे (ला)।
८. व (दी, हा)।
९. स्त्रो ११९/१३०६।

१०. स्त्रो १२०/१३०७, चूर्णि में कोष्ठकवर्ती (११०/१-३) इन तीनों गाथाओं का कोई संकेत एवं उल्लेख नहीं है। गा. ११०/१, २ ये दो गाथाएं तो ११० वीं गाथा की व्याख्या के रूप में लिखी गई हैं तथा ११०/३ गाथा सूक्त्यात्मक है। चूर्णि में गा. ११० के बाद 'उवसामगसेढी सम्मत्ता, इयाणिं खवगसेढी भण्णति' उल्लेख के साथ अण-मिच्छ...(गा. १११) वाली गाथा है। सभी मुद्रित टीकाओं में ये गाथाएं निर्युक्तिगाथा के क्रम में व्याख्यात हैं। हरिभद्र

ने 'औपदेशिकद्वयमाह निर्युक्तिकारः' का उल्लेख किया है। ये गाथाएं मूल में निर्युक्ति की प्रतीत नहीं होतीं क्योंकि निर्युक्तिकार किसी भी बात को इतने विस्तार से नहीं कहते हैं। इसके अतिरिक्त यदि इन गाथाओं को निर्युक्तिगाथा के क्रम में न भी रखें तो चालू विषयवस्तु में कोई अंतर नहीं आता। इस गाथा के बाद सभी हस्तप्रतियों में निम्न भाष्यगाथा मिलती है—

दासतं देइ रिणं, अचिरा मरणं वणो विसप्पंतो।

सव्वस्स दाहमग्गी, दंति कसाया भवमणंतं॥

(को १३०८, स्त्रो १३१३, महे १३११)

११. सम्मा (स)।
१२. नपुंसिस्थीं (हा, दी)।
१३. पुमवेयं (ला, म)।
१४. खवेइ (स, म, हा, दी)।
१५. कोहाइए (स, हा, दी)।
१६. स्त्रो १२१/१३१०।
१७. 'पुव्वी (अ, ब, हा, दी)।

- १११/२. साहारमपज्जत्त^१, निद्धानिद्दं च पयलपयलं च।
थीणं खवेति ताहे, अवसेसं जं च अट्ठणहं^२॥
- १११/३. वीसमिऊण नियंठो, दोहि उ^३ समएहि केवले सेसे।
पढमे निद्दं पयलं, नामस्स इमाओ पगडीओ^४॥
- १११/४. देवगति आणुपुब्बी, विउव्वि संघयण पढमवज्जाइं।
अन्नतरं संठाणं, तित्थयराहारनामं च॥
- १११/५. चरमे नाणावरणं, पंचविहं दंसणं चउविगप्पं।
पंचविहमंतरायं, खवइत्ता^५ केवली होति॥
११२. संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वतो सव्वं।
तं नत्थि जं न पासति^६, भूतं भव्वं भविस्सं च^७॥
११३. 'जिण-पवयणउप्पत्ती'^८, पवयणएगट्ठिया विभागो य।
दारविधी य नयविधी, वक्खाणविधी य अणुओगे^९॥
११४. एगट्ठियाणि तिन्नि तु, पवयण सुत्तं तहेव अत्थो य।
एक्केक्कस्स य एत्तो, नामा एगट्ठिया पंच^{१०}॥

१. साहारणमं (अ, ब, हा, दी,),

२. कोष्ठकवर्ती दोनों गाथाएं (१११/१, २) विशेषावश्यक भाष्य में निर्युक्तिगाथा के रूप में नहीं हैं। मुद्रित चूर्ण में ये दोनों गाथाएं हैं किन्तु इनकी व्याख्या नहीं है। संभव लगता है कि ये संपादक द्वारा जोड़ दी गई हों। यद्यपि टीका की सभी मुद्रित पुस्तकों में ये गाथाएं निगा के क्रम में हैं किन्तु टीकाकार ने इन गाथाओं के बारे में यह निर्युक्ति की है, ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है। हमने इनको निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं जोड़ा है। ऐसा अधिक संभव लगता है कि विषय को स्पष्ट करने के लिए व्याख्याकारों या लिपिकारों द्वारा ये प्राचीन कर्मग्रंथों से लेकर बाद में जोड़ दी गई हो।

३. य (रा)।

४. कोष्ठकवर्ती तीनों गाथाएं (१११/३-५) विशेषावश्यकभाष्य में निर्युक्तिगाथा के क्रम में व्याख्यात नहीं हैं। चूर्णिकार ने भी 'अण्णे भणंति जत्थ निद्दं पयलं'..... कहकर संक्षेप में गाथाओं का भावार्थ दिया है। ब प्रति में इन गाथाओं के बारे में अन्यकर्तृकी का उल्लेख है। टीकाकार मलयगिरि इन गाथाओं के संबंध में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—'अत्रार्थे च तन्मतेन तिस्रो अन्यकर्तृका इमा गाथा—वीसमिऊण.....एतच्चमतमसमीचीनं, चूर्णिकृतो भाष्यकृतः सर्वेषां व कर्मग्रंथकाराणामसम्मतत्वात्, केवलं वृत्तिकृता केनाप्यभिप्रायेण लिखितमिति, सूत्रेऽप्येता गाथाः प्रवाहपतिताः निर्युक्तिकारकृतास्त्वेता न भवन्ति, चूर्णी भाष्ये चाग्रहणादिति' (मटी प १२८) इससे स्पष्ट है कि ये गाथाएं अन्यकर्तृकी हैं किन्तु विषयवस्तु की स्पष्टता के लिए बाद में निगा के क्रम में जोड़ दी गई हैं। हरिभद्र की टीका एवं दीपिका में ये गाथाएं व्याख्यात हैं। १११/५ के बाद कुछ हस्तप्रतियों में वज्जरिसहनारायं....., चउरंसे पागोहे.....तुल्लं वित्थइवहुलं तीन अन्यकर्तृकी गाथाएं और मिलती हैं।

५. खविइत्ता (स), खविता (तापा)।

६. पासए (अ)।

७. स्खो १२२/१३३९।

८. 'यणुप्पत्ती (च)।

९. स्खो १२३/१३४७।

१०. स्खो १२४/१३६३, ११४-१६ इन तीनों गाथाओं के प्रतीक चूर्ण में नहीं हैं किन्तु व्याख्या एवं भावार्थ प्राप्त है।

११५. सुयधम्म तित्थ मग्गो, पावयणं पवयणं च एगद्धा।
सुत्तं तत्तं^१ गंथो, पाढो सत्थं च एगद्धा^२ ॥
११६. अणुयोगो य नियोगो, भास विभासा य वत्तियं चेव।
'अणुयोगस्स तु एते'^३, नामा एगद्धिया पंच^४ ॥
११७. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य वयण भावे य।
एसो 'अणुयोगस्स तु', निक्खेवो होति सत्तविहो^५ ॥
११८. वच्छग गोणी खुज्जा, सज्झाए चेव बहिरउल्लावे^६।
गामेल्लए^७ य वयणे, सत्तेव य होति भावम्मि^८ ॥
११९. सावगभज्जा 'सत्तवइए य'^९, कुंकणगदारगे नउले।
कमलामेला संबस्स, साहसं सेणिए कोवे^{१०} ॥
१२०. कट्ठे पोत्थे चित्ते, सिरिघरिए पुंड^{११} देसिए चेव।
भासग विभासए वा^{१२}, वत्तीकरणे^{१३} य आहरणा^{१४} ॥
१२१. गोणी चंदणकंथा, चेडीओ सावगे बहिरगोहे।
टंकणओ ववहारो, पडिवक्खे आयरिय-सीसे^{१५} ॥
१२२. कस्स न होही^{१६} वेसो^{१७}, अणुभुवगतो^{१८} य निरुवगारी य।
अप्पच्छंदमतीओ, पट्ठियओ^{१९} गंतुकामो य^{२०} ॥
१२३. विणओणतेहि कयपंजलीहि^{२१} छंदमणुयत्तमाणेहिं।
आराहिओ गुरुजणो, सुत्तं बहुविधं लहुं देति^{२२} ॥

१. तत्तं (ला)।

२. स्‍वो १२५/१३७५।

३. एए अणुओगस्स उ (म, स, ला, बृभा)।

४. बृभा १८७, स्‍वो १२६/१३८२।

५. 'ओगस्सा (म)।

६. स्‍वो १२७/१३८५।

७. 'बहिरुल्लावे च (रा)।

८. गामिल्लुए (ला, ब)।

९. बृभा १७१, स्‍वो १४०९, प्रकाशित स्‍वो में भूल से ११८-२०
(स्‍वो १२८-१३०) इन तीन गाथाओं के आगे निर्युक्ति के क्रमांक
नहीं लगे हैं। आगे १३१ से संख्या का क्रम ठीक चलता है।

१०. 'वईए (अ, ब, म, रा, ला)।

११. बृभा १७२, स्‍वो १४१०।

१२. बोंड (ब, ला, म)।

१३. या (दी), वि य (ला)।

१४. वित्ती (अ, म, स)।

१५. स्‍वो १४२३।

१६. स्‍वो १३१/१४३२।

१७. होई (रा)।

१८. देसो (म), वेस्‍सो (ला)।

१९. अणुभुव (अ)।

२०. पत्थियओ (म)।

२१. स्‍वो १३२/१४४५।

२२. पंजलियडेहिं (म), कयंज (अ), पंजलीउडेहिं (स)

२३. स्‍वो १३३/१४४९।

१२४. सेलघण-कुडग-चालणि^१, परिपूणग-हंस महिस-मेसे य।
मसग-जलूग-विराली, जाहग गो भंरि आभीरो^२ ॥
१२५. उदेसे निदेसे, य^३ निगमे खेत-काल-पुरिसे य।
कारण पच्चय लक्खण, नए समोतारणाऽणुमए^४ ॥
१२६. किं कतिविहं कस्स कहिं, केसु कहं केच्चिरं^५ हवति कालं।
कति संतरमविरहितं, भवाऽऽगरिस फासण^६ निरुत्ती^७ ॥
१२७. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले समास उदेसे।
उदेसुदेसम्मि य, भावम्मि य होति अट्टमओ^८ ॥
१२८. एमेव य निदेसो, अट्टविहो सो वि होइ नायव्वो।
अविसेसियमुदेसो, विसेसिओ^९ होति निदेसो^{१०} ॥
१२९. दुविधं पि नेगमणयो, निदिदुं^{११} संगहो य ववहारो।
निदेसगमुज्जुसुतो, उभयसरित्थं^{१२} च सदस्स^{१३} ॥
१३०. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो उ निगमस्सा, निक्खेवो छव्विहो होति^{१४} ॥
१३१. पंथं किर देसित्ता, साधूणं अडविविप्पणट्ठाणं।
सम्मत्तपढमलंभो, बोधव्वो वट्ठमाणस्स^{१५} ॥

१. चालिणि (वृषा)।

२. आभीरो (ला, म), नंदी १/गा. ४४, वृषा ३३४, स्वी १३४/१४५२, इस गाथा के बाद चूर्णि में 'खीरमिव रायहंसो' मात्र इतना ही गाथा का प्रतीक मिलता है।

३. X (रा, हा, दी)।

४. अनुट्ठा ७१३/१, स्वी १३५/१४८२।

५. किच्चरं (ला, रा)।

६. फोसण (रा, ला)।

७. अनुट्ठा ७१३/२, स्वी १३६/१४८३, उदेसे निदेसे..... (गा. १२५) एवं किं कइविहं.... (गा. १२६) ये दोनों गाथाएं स्वी (७८/१६८, ७९-१६९) में निर्युक्ति गाथा के रूप में आदृत हैं किन्तु चूर्णि एवं प्रायः सभी टीकाओं में ये गाथाएं इसी क्रम में मिलती हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से भी ये यहीं संगत लगती हैं क्योंकि उपोद्घात निर्युक्ति के रूप में ये दोनों गाथाएं प्रसिद्ध हैं। भाष्यकार ने दोनों स्थलों पर इन्हें निर्युक्तिगाथा के क्रम में जोड़ा है। (द. टिप्पण गा. ७५/३ का)।

स्वी १३७/१४८५।

८. परिदेमिओ (अ)।

९. स्वी १३८/१४९५, चूर्णि में इस गाथा का गाथा रूप में प्रतीक नहीं

है पर व्याख्या प्राप्त है।

११. निदेसं (स, हा, दी)।

१२. *सरिच्छं (म, ब)।

१३. स्वी १३९/१५०३।

१४. स्वी १४०/१५३१।

१५. स्वी १४१/१५४७, यह गाथा चूर्णि एवं प्रायः सभी टीकाओं में निर्युक्तिगाथा के क्रम में व्याख्यात है। किन्तु मलधारी हेमचन्द्र द्वारा व्याख्यात विशेषावश्यक भाष्य में यह निगा के रूप में सम्मत नहीं है। वहां पंथं किर..... (गा. १३१) से लेकर प्रथम गणधर से संबंधित तक की गाथाएं व्याख्यात एवं निर्दिष्ट नहीं हैं। टीकाकार ने उल्लेख किया है—'देसित्ता इत्यादिका सर्वापि निर्गमवक्तव्यता सूत्रसिद्धैव। यच्चेह दुःखगमं तद् मूलावश्यकविवरणादवर्गतव्यं तावद् यावत् प्रथमगणधरवक्तव्यतायां भाष्यम्।' इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में अवरविदेहे (स्वी १५४८, को १५५३, हाटीमूषा. १) दाणण्ण (स्वी १५४९, को १५५४, हाटीमूषा. २) ये दोनों गाथाएं प्रतियों में मूषा. व्या. अर्थात् मूल भाष्य एवं व्याख्यात उल्लेख के साथ मिलती हैं। किन्हीं-किन्हीं हस्तप्रतियों में केवल गाथाएं हैं, भा. व्या. का उल्लेख नहीं है।

- १३१/१. लद्धण य सम्मत्तं, अणुकंपाए उ सो सुविहिताणं।
भासुरवरबोदिधरो, देवो वेमाणो जातो^१ ॥
- १३१/२. चइऊण देवलोगा, इह चेव य भारहम्मि वासम्मि।
इक्खागकुले जातो, उसभसुयसुतो मरीइ^२ ति^३ ॥
१३२. इक्खागकुले जातो, इक्खागकुलस्स होति उप्पत्ती।
कुलगरवंसेऽतीते, भरहस्स सुतो मरीइ^३ ति^४ ॥
१३३. ओसप्पिणी इमीसे, ततियाएँ समाय पच्छिमे भागे।
पलितोवमट्टभागे, 'सेसम्मि उ'^५ कुलगरुप्पत्ती^६ ॥
१३४. अट्ठभरहस्स^७ मज्झिल्लतिभागे^८ गंग-सिंधुमज्झम्मि।
एत्थ बहुमज्झदेसे, उप्पन्ना कुलगरा सत्त^९ ॥
१३५. पुव्वभव 'जम्म-नामं, पमाण'^{१०}-संघयणमेव संठाणं।
वणिणत्थियाउ भागा, भवणोवाओ य णीती य^{११} ॥

१. १३१/१, २ कोष्ठकवर्ती दोनों गाथाएं हा, म, दी इन तीनों टीकाओं में निर्युक्तिगाथा के क्रम में व्याख्यात हैं। मलधारी हेमचन्द्र द्वारा व्याख्यात विभा में ये गाथाएं निर्युक्ति रूप में निर्दिष्ट नहीं हैं तथा स्वोपज्ञवृत्ति वाले भाष्य में भी ये निगा के रूप में स्वीकृत नहीं हैं। किन्तु वहां नीचे टिप्पण में ये दोनों गाथाएं दी हुई हैं। कोट्याचार्य कृत टीका वाले विभा में ये भाष्यगाथा के क्रम में व्याख्यात हैं। चूर्णि में इन गाथाओं का गाथा रूप में कोई प्रतीक नहीं दिया है किन्तु कथा के रूप में इनका भावार्थ गद्य में प्राप्त है। ये दोनों गाथाएं प्रक्षिप्त-सी प्रतीत होती हैं। यदि इन्हें निगा के क्रम में न भी रखें तो भी चालू विषयवस्तु के क्रम में कोई व्यवधान नहीं आता है। संभव है ये गाथाएं भाष्य की थीं किन्तु कालान्तर में ये निगा के क्रम में जुड़ गई इसीलिए लद्धण (१३१/१) गाथा की व्याख्या में हरिभद्र एवं मलयगिरि की टीका में इति निर्युक्तिगाथार्थः का उल्लेख मिलता है।

२. मिरिइ (ला, स)।

३. मिरिइ (स)।

४. स्‍वो १४२/१५५०।

५. 'म्मि य (म, ब), 'म्मी (अ)।

६. स्‍वो १४३/१५५१।

७. 'भरह (म, अ, हा, दी)।

८. मज्झिल्लु (हा, दी, स)।

९. स्‍वो १४४/१५५२, इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में निम्न गाथा मिलती है। व्याख्या ग्रंथों में यह गाथा अनुलिखित एवं अव्याख्यात है। ला, अ और ब प्रति में ऽन्‍या, अव्‍या (अन्‍या, अव्‍याख्यात) का उल्लेख है। यह गाथा व्याख्यात्मक एवं प्रक्षिप्त सी लगती है—

पुव्वभव कुलगराणं, उसभजिणिंदस्स भरहरन्नो उ।
इक्खागकुलुप्पत्ती, नेयव्वा आणुपुव्वीए ॥

१०. 'नामप्प' (अ, ला)।

११. स्‍वो १४५/१५५३।

- १३५/१. अवरविदेहे दो वणिय, वयंसा माइ उज्जुगे चेव ।
कालगता इह भरहे, हत्थी मणुओ य आयाता^१ ॥
- १३५/२. दट्ठुं सिणेहकरणं, गयमारुहणं^२ च नामनिष्फत्ती^३ ।
परिहाणि गेहिकलहो, सामत्थण^४ विण्णवण हत्ति^५ ॥
- १३५/३. पढमेत्थ^६ विमलवाहण, चक्खुम जसमं चउत्थमभिचंदे ।
तत्तो य पसेणइए^७, मरुदेवे चेव नाभी य^८ ॥
- १३५/४. नव धणुसताइ^९ पढमो, अट्ठ य सत्तद्धसत्तमाइं च ।
छच्चेव अट्ठछट्ठा, पंचसता 'पण्णवीसा य'^{१०} ॥
- १३५/५. वज्जरिसभसंघयणा, समचतुरंसा य होति संठाणे ।
वण्णं पि य वोच्छमी^{११}, पत्तेयं जस्स जो^{१२} आसी^{१३} ॥

१. स्‍वो १४६/१५५४, गा. १३५ द्वारगाथा है। गा. १३५/१-१७ तक की सतरह गाथाओं में इसी गाथा की व्याख्या है। टीकाकार मलयगिरि के अनुसार ये सभी भाष्य गाथाएं हैं। वे स्पष्ट लिखते हैं—‘अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं भाष्यकारः स्वयमेव वक्ष्यति’। हरिभद्र ने ‘अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं वक्ष्यति’ का उल्लेख किया है। संभव लगता है कि यहां हाटी में भाष्यकार शब्द बीच में छूट गया हो। इस विषय में हस्तप्रतियों को प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि हस्त आदर्शों में निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएं साथ में लिखी हुई हैं। चूर्णिकार भाष्यगाथाओं की व्याख्या भी करते हैं अतः उसके आधार पर निर्युक्ति और भाष्य गाथा के पृथक्करण का निर्णय नहीं किया जा सकता। चूर्ण में दो तीन गाथाओं के अलावा प्रतीक किसी भी गाथा के नहीं मिलते किन्तु संक्षिप्त व्याख्या प्रायः सभी गाथाओं की है। भाष्य की तीनों संपादित पुस्तकों में भी बहुत मतभेद है। कुछ भिन्नता तो संपादकों द्वारा हुई है तथा कुछ हस्तप्रतियों के आधार पर भी हुई है। मलधारी हेमचन्द्र द्वारा व्याख्यायित विभा में पंथं किर देसिन्ता से प्रथम गणधर की वक्तव्यता से पूर्व तक की गाथाएं अव्याख्यात हैं। वहां मात्र इतना उल्लेख है—पंथं किर.....इत्यादिका सर्वापि निर्गमवक्तव्यता सूत्रं सिद्धैव। यच्चेह दुःखगमं तद् मूलावश्यकविवरणादवगंतव्यं तावद् यावत् प्रथमगणधरवक्तव्यतायां भाष्यम्। (महेटी पृ. ३३२) निर्युक्तिगत शैली के अनुसार निर्युक्तिकार किसी भी विषय की इतने विस्तार से व्याख्या नहीं करते अतः ये गाथाएं भाष्य की अधिक संभव लगती हैं। विषय की क्रमबद्धता की दृष्टि से भी १३५ के बाद १३६ वीं गाथा सम्बद्ध लगती है।

२. मोऽलाक्षणिकः (दी)।
३. ‘निव्वुत्ती (अ, ब), ‘निप्पत्ती (स)।
४. सामत्थणं ति देशीवचनमेतत् पर्यालोचनमित्यर्थः (मटी), सामत्थणं देशीवचनतः पर्यालोचनं भण्यते (हाटी)।
५. स्‍वो. १४७/१५५५।
६. पढमेत्थ (अ, ला), पढमित्थ (ह, दी)।
७. ‘णइए (अ)।
८. ठाणं ७/६२, स्‍वो १४८/१५५६।
९. ‘सया य (स, हा, दी)।
१०. ‘वीसं तु (स, हा, दी), ‘वीसाओ (म, ब), ‘वीसहिया (लापा, अपा), स्‍वो १४९/१५५७।
११. वोच्छमि (हा, ला, दी)।
१२. जं (लापा)।
१३. आसि (अ, रा, ला), स्‍वो १५०/१५५८।

- १३५/६. चक्खुम जसमं^१ च 'पसेणई य'^२ एते पियंगुवण्णाभा।
अभिचंदो ससिगोरो, निम्मलकणगप्पभा सेसा^३ ॥
- १३५/७. चंदजस-चंदकंता, सुरूव^४ पडिरूव 'चक्खुकंता य'^५।
सिरिकंता मरुदेवी, 'कुलगरपत्तीण नामाई'^६ ॥
- १३५/८. संघयणं संठाणं, उच्चतं चेव कुलगरेहि समं।
वण्णेण एगवण्णा, सव्वाओ पियंगुवण्णाओ^७ ॥
- १३५/९. पलितोवमदसभागे, पढमस्साउं^८ ततो असंखेज्जा।
ते आणुपुव्विहीणा, पुव्वा नाभिस्स संखेज्जा^९ ॥
- १३५/१०. जं चेव आउयं कुलगराण तं चेव होति तासिं पि।
जं पढमगस्स आउं, तावइयं होति^{१०} हत्थिस्स^{११} ॥
- १३५/११. जं जस्स आउगं खलु, तं दसभागे समं विभइऊणं^{१२}।
मज्झिल्लट्ठतिभागे^{१३}, कुलगरकालं वियाणाहि^{१४} ॥
- १३५/१२. पढमो य कुमारत्ते, भागो चरमो^{१५} य बुड्ढभावम्मि।
ते पतणुपिज्जदोसा^{१६}, सव्वे देवेसु उववण्णा^{१७} ॥
- १३५/१३. दो चेव सुवण्णेसुं, उदधिकुमारेसु होति दो चेव।
दो दीवकुमारेसु, एगो नागेसु उववन्नो^{१८} ॥
- १३५/१४. हत्थी छच्चित्थीओ, नागकुमारेसु होति उववन्ना।
एगा सिद्धिं पत्ता, मरुदेवी^{१९} नाभिणो पत्ती^{२०} ॥
- १३५/१५. हक्कारे मक्कारे, धिक्कारे चेव दंडनीतीओ।
वोच्छं तासि विसेसं, जहक्कमं आणुपुव्वीए^{२१} ॥

१. जसुमं (ला)।

२. पसेणइयं (स, हा, दी)।

३. स्त्रो १५१/१५५९।

४. सुरूव (अ, हा, रा, दी)।

५. 'कंताई (अ)।

६. इत्थीणं नामधेज्जाई (ला), 'गरइत्थीणं' (ठाणं ७/६३), स्त्रो १५२/१५६०।

७. स्त्रो १५३/१५६१।

८. 'साओ (ब)।

९. स्त्रो १५४/१५६२।

१०. चेव (स, हा, रा, ला, दी)।

११. स्त्रो १५५/१५६३।

१२. विभईऊणं (रा)।

१३. 'ट्ठातिभाए (ला)।

१४. स्त्रो १५६/१५६४।

१५. चरिमो (ब, म, रा)।

१६. 'णुपेम्मदोसा (ला)।

१७. स्त्रो १५७/१५६५।

१८. स्त्रो १५८/१५६६।

१९. 'देवा (ला)।

२०. स्त्रो १५९/१५६७।

२१. स्त्रो १६०/१५६८।

- १३५/१६. पढम-बितियाणं पढमा, ततिय चउत्थाण अभिणवा बितिया।
पंचम छट्ठस्स य सत्तमस्स ततिया 'अभिणवा तु'^१ ॥
- १३५/१७. सेसा^२ तु दंडनीती, माणवगनिहीउ होति^३ भरहस्स।
'उसभस्स गिहावासे, असक्कतो आसि आहारो'^४ ॥
१३६. नाभो विणीयभूमी, मरुदेवी 'उत्तरा य साढा य'^५।
राया य वइरनाभो^६, विमाण सव्वट्ठसिद्धाओ^७ ॥
- १३६/१. धणसत्थवाहघोसण, जइग्मणं अडविवासठाणं च।
बहुवोलीणे वासे, चिंता घतदाणमासि तदा^८ ॥

१. 'बीयाण (ब, रा, हा, दी), 'बितियस्स (चू)।

२. अहिणवाओ (म), स्‍वो १६१/१५६९।

३. सेसं (अ)।

४. हुंति (रा)।

५. गिहिवासे उसभस्स तु असक्कतो आसि आहारो (चू), स्‍वो १६२/१५७०, अ, ला प्रति और हाटी में इस गाथा के बारे में 'इयं मूलनिर्युक्तिगाथा' का संकेत है। यह गाथा १३५ वीं गाथा के शेष 'नीतिद्वार' की व्याख्या रूप है। इसके लिए मलयगिरि ने भाष्यगाथा का संकेत किया है। इसके बाद हस्तप्रतियों में परिभाषणा (स्‍वो १५७१, को १५७८, हाटीमूभा ३) मूल भाष्यगाथा मिलती है। यह इसी १३५/१७ की व्याख्या रूप है। संभव लगता है कि इसी अपेक्षा से इसे मूल निर्युक्तिगाथा माना है। हाटी के संपादक ने भी टिप्पण में ऐसा ही उल्लेख किया है— 'भाष्यकारेण व्याख्यानादस्याः मूलत्वं तन्न पाश्चात्यभागकल्पनानिर्युक्तेः'। यह भाष्यगाथा ही अधिक संभव लगती है क्योंकि निर्युक्तिकार अन्य द्वारों को छोड़कर केवल एक ही द्वार की व्याख्या नहीं करते। चूर्णि में इसकी संक्षिप्त व्याख्या मिलती है।

६. उत्तरासाढा उ (अ), उत्तराहि साढा य (स, दी)।

७. वयरणाहो (म, रा, ला)।

८. स्‍वो १६३/१५७२, हरिभद्र एवं मलयगिरि की टीका में यह गाथा 'इयं हि निर्युक्तिगाथाप्रभूतार्थप्रतिपादिका' इस उल्लेख के साथ मिलती है। इस गाथा के पश्चात् मटी में द्वारागाथा के रूप में निम्न गाथा व्याख्यात है—

धण मिहुण सुर महब्बल, ललियंग य वइरजंघ मिहुणे य।

सोहम्मविज्ज अच्चुय, चक्की सव्वट्ठ उसभे य॥

यह गाथा भगवान् ऋषभ के पूर्वभव से सम्बन्धित है। चूर्णि में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह गाथा प्रायः सभी हस्तप्रतियों में अन्यकर्तृकी उल्लेख के साथ मिलती है।

९. स्‍वो १६४/१५७३, १३६/१-१२ तक की गाथाएं यद्यपि सभी मुद्रित टीकाओं में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं। किन्तु टीकाकारों ने अपनी व्याख्या में कहीं भी निर्युक्तिगाथा का संकेत नहीं किया है। चूर्णि में १३६/१-८ तक की गाथाओं के प्रतीक नहीं हैं किन्तु कथारूप में सभी गाथाओं का भावार्थ मिलता है। अन्य निर्युक्ति-गाथाओं की शैली देखते हुए ये सभी गाथाएं अतिरिक्त विस्तार से प्रतीत होती हैं। १३६/१-८ तक की गाथाएं गा. १३५ की पुञ्जभव द्वार की व्याख्या रूप हैं तथा गा. १३६/१-१२ तक की चार गाथाओं में तीर्थकर नाम गोत्र बंध के कारणों का तथा कौन तीर्थकर कितने स्थानों का स्पर्श करता है, इसका वर्णन है। यह प्रसंग यहां अप्रासंगिक सा लगता है क्योंकि तीर्थकर नाम गोत्र बंध के कारणों का उल्लेख करने वाली गाथाएं आगे भी मिलती हैं। चूर्णि में इन गाथाओं के प्रतीक एवं व्याख्या मिलती है। ये सभी गाथाएं भाष्यकार या अन्य आचार्य द्वारा बाद में जोड़ी गई हैं, ऐसा अधिक संभव है। आचार्य हरिभद्र ने भी १३६/१ की व्याख्या में इसी बात की पुष्टि की है— "अन्या अपि उक्तसंबंधा द्रष्टव्या तावद् यावत् 'यत्तमेण पच्छिमेण' किन्तु यथावसरमसंमोहनिमित्तमुपन्यासं करिष्यामः।" इसका फलित यही है कि विषय की स्पष्टता की दृष्टि से इनका संग्रहण बाद में किया गया है।

- १३६/२. उत्तरकुरु सोधम्मे, विदेह तेगिच्छियस्स तत्थ सुतो।
रायसुत सेट्टिऽमच्चा^१, सत्थाहसुता वयंसा से^२॥
- १३६/३. वेज्जसुतस्स य गेहे, किमिकुट्टोवहुतं जइं दट्ठुं।
बेंति य ते वेज्जसुतं, करेहि^३ एतस्स तेगिच्छ^४॥
- १३६/४. तेल्लं^५ तेगिच्छसुतो, कंबलगं चंदणं च वाणियगो।
दाउं अभिणिक्खंतो, तेणेव भवेण अंतगडो^६॥
- १३६/५. साहुं तिगिच्छऊणं, सामणं देवलोगगमणं च।
पुंडरिगिणीय^७ य^८ चुया, तओ सुता वइरसेणस्स^९॥
- १३६/६. पढमोत्थ^{१०} वइरनाभो^{११}, बाहु^{१२} सुबाहू य पीढ-महपीढे^{१३}।
तेसि पिया तित्थगरो, निक्खंता ते वि तत्थेव^{१४}॥
- १३६/७. पढमो चउदसपुब्बी, सेसा एक्कारसंगविउ^{१५} चउरो।
बितिओ^{१६} वेयावच्चं, किइकम्मं तइयओ कासी^{१७}॥
- १३६/८. भोगफलं बाहुबलं^{१८}, पसंसणा^{१९} जेड्ड इतर अचियत्तं^{२०}।
पढमो तित्थयरत्तं^{२१}, वीसहि ठाणेहि कासी य^{२२}॥
- १३६/९. अरहंत^{२३}-सिद्ध-पवयण-गुरु थेर बहुस्सुते^{२४} तवस्सीसु^{२५}।
'वच्छल्लया य तेसिं'^{२६}, अभिक्खनाणोवयोगे य^{२७}॥

१. X(अ)।

२. स्वर १६५/१५७५, १३६/२ इस गाथा के पूर्व निम्न गाथा प्रायः सभी हस्तप्रतियों में इयं अन्यकर्तृकी व्या. उल्लेख के साथ मिलती है। हाटी पृ. ७७ में इयं अन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगा च तथा दीपिका में 'एषा अन्यकृता गाथा' का उल्लेख है। को एवं स्वरों में यह भाष्य गाथा (स्वर १५७४, को १५८१) के क्रम में मिलती है। चूर्ण में इस गाथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। केवल कोष्ठक में संक्षिप्त भावार्थ दिया हुआ है। गाथा इस प्रकार है—

उत्तरकुरु सोधम्मे, महाविदेहे महब्बलो राया।

ईसाणे ललियंगे, महाविदेहे वइरजंघो॥

३. करेह (ला, रा)।

४. स्वर १६६/१५७६।

५. तिल्लं (अ, हा, रा, दी)।

६. स्वर १६७/१५७७।

७. पुंडरिगिणी (स, हा, दी), पुंडरिगिणी (ब, म)।

८. उ (हा)।

९. वयर (म), स्वर १६८/१५७८।

१०. पढमित्थं (स, दी)।

११. वयर (रा)।

१२. बाहु (अ)।

१३. महिपीढे (ला), 'पीढा (अ)।

१४. स्वर १६९/१५७९।

१५. 'गवी (म, ब, ला)।

१६. बीओ (दी, हा, स)।

१७. स्वर १७०/१५८०।

१८. बाहुफलं (रा, ला, दी, स)।

१९. 'सणं (अ)

२०. 'यत्ता (ला)।

२१. X(अ)।

२२. स्वर १७१/१५८१।

२३. अर (अ, ब, म)।

२४. बहुस्सुए इत्यत्र एकारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकः (मटी)।

२५. तवस्सीणं वा पाठांतरं (हाटी)।

२६. वच्छल्लया य एसिं (ब, म), वच्छल्लया तेसिं (दी, म),

'ल्लयाइ एसिं (रा, ला)।

२७. ज्ञा १/८/१८ गा. १, स्वर १७२/१५८२।

- १३६/१०. दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वते निरइयारे।
खण-लव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाधी य^१ ॥
- १३६/११. अप्पुव्वनाणगहणे, सुतभत्ती पवयणे पभावणया^२।
एतेहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लभति जीवो^३ ॥
- १३६/१२. पुरिमेण^४ पच्छिमेण य, एते सव्वे वि फासिता ठाणा।
मज्झिमएहि जिणेहिं, एणं दो तिणिण सव्वे वा^५ ॥
- १३६/१३. तं च कहं वेइज्जति, अगिलाए धम्मदेसणादीहिं।
बज्झति तं तु भगवतो, ततियभवोसक्कइत्ताणं^६ ॥
- १३६/१४. नियमा मणुयगतीए^७, इत्थी पुरिसेयरो व^८ सुहलेसो^९।
आसेवियबहुलेहिं, वीसाए^{१०} अन्नयरएहिं^{११} ॥
- १३६/१५. उववातो सव्वट्ठे, सव्वेसिं पढमओ चुतो उसभो।
रिक्खेणासाढाहिं^{१२}, असाढबहुले चउत्थीए^{१३} ॥
१३७. जम्मणे 'नाम वुड्डी य'^{१४}, 'जातीए सरणे इय'^{१५}।
वीवाहे य अवच्चे य, अभिसेए रज्जसंगहे^{१६} ॥

१. ज्ञा. १/८/१८ गा. २, स्वर १७३/१५८३।

२. पहाव" (ब, म)।

३. सो उ, (ज्ञा. १/८/१८ गा. ३), स्वर १७४/१५८४।

४. पढमेण (ला, को, स्वर)।

५. स्वर १७५/१५८५, इस गाथा के बाद को (१५९३) में नाभी विणीय.....(निगा १३६) का भाष्यगाथा के क्रम में पुनरावर्तन हुआ है।

६. ततियभव ओसक्कतिसाणं (चू), १३६/१३, १४ ये दोनों गाथाएं टीकाओं में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु टीकाकार ने इनके लिए निर्युक्तिगाथा का उल्लेख नहीं किया है। स्वर. में ये दोनों गाथाएं अप्राप्त हैं। संपादक ने नीचे टिप्पण में इनका उल्लेख किया है। को (१५९४, १५९५) में इन दोनों गाथाओं को भाष्यगाथा के क्रम में रखा है। महेटी में भी ये गाथाएं अप्राप्त हैं। रचना-शैली की दृष्टि से भी ये निर्युक्ति गाथाएं प्रतीत नहीं होतीं।

७. "गई (अ)।

८. य (स, हा, दी)।

९. "लेस्सो (ला), "लेसे (अ)।

१०. तीसाए (अ)।

११. "येरेहिं (अ, रा, ला)।

१२. "खेण असा" (म, स, हा, दी)।

१३. स्वर १७६/१५८६, यह गाथा प्रायः सभी व्याख्या ग्रंथों में उपलब्ध है किन्तु पुनरुक्त-सी प्रतीत होती है क्योंकि गा. १३६ के अंतिम चरण में "विमाण सव्वट्ठसिद्धाओ" में इसी बात की संक्षेप में अभिव्यक्ति है। विषय की क्रमबद्धता की दृष्टि से भी १३६ के बाद १३७ वीं गाथा अधिक संगत प्रतीत होती है।

१४. य विवड्डी य (हाटोपा, मटीपा)।

१५. जातीसरणे ति य (ला), जाई सरणेण य (रा), जाई सरणेण ईय (स), जाइस्सरणे इय (म, ब)।

१६. स्वर १७७/१५८७, यह द्वारगाथा है। इनमें सात द्वारों का उल्लेख है। इन सातों द्वारों की व्याख्या १६ गाथाओं में हुई है। १३७/१-१६—ये १६ गाथाएं व्याख्यात्मक सी प्रतीत होती हैं। चूर्ण में इनमें कुछ गाथाओं की व्याख्या मिलती है तथा छप्पुव्व.... १३७/१० का प्रतीक मिलता है। कुछ गाथाओं के संकेत एवं व्याख्या दोनों नहीं मिलती। अन्य सभी व्याख्या ग्रंथों में ये निगा के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु इन सभी गाथाओं के लिए व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्या में कहीं भी निगा का उल्लेख नहीं किया है। विषयक्रम एवं छंद की दृष्टि से भी १३७ के बाद १३८ वीं गाथा प्रसंगोचित लगती है।

- १३७/१. चेतबहुलट्टमीए, जातो उसभो असाढ-नक्खते।
जम्मणमहो य सव्वो, णेयव्वो जाव घोसणयं^१ ॥
- १३७/२. संवट्ट मेह आदंसगा^२ य भिंगार तालियंटा य।
चामर जोती रक्खं, 'करेंति एतं'^३ कुमारीओ^४ ॥
- १३७/३. 'देसूणं च वरिसं'^५, सक्कागमणं 'च वंसठवणा य'^६।
आहारमंगुलीए, ठवेति देवा मणुणं तु^७ ॥
- १३७/४. सक्को वंसठवणे, इक्खु अगू तेण होंति इक्खागा।
जं च जहा जम्मि वए, जोगं कासीय तं सव्वं^८ ॥
- १३७/५. 'अह वड्ढति सो भयवं'^९, दियलोगचुतो अणोवमसिरीओ^{१०}।
देवगणसंपरिवुडो, नंदा य सुमंगलासहितो^{११} ॥
- १३७/६. असिरसिरओ सुनयणो, बिंबोडो धवलदंतपंतीओ।
वरपउमगब्भगोरो, फुल्लुप्पलंगंधनीसासो^{१२} ॥
- १३७/७. जाइसरो^{१३} य^{१४} भगवं, अप्परिवडिएहि तिहि उ^{१५} नाणेहिं।
'कंतीहि य बुद्धीहि य'^{१६}, अब्भहितो तेहि मणुएहिं^{१७} ॥
- १३७/८. पढमो अकालमच्छू, तहि तालफलेण दारगो पहतो^{१८}।
कन्ना य कुलगरेणं^{१९}, सिद्धे गहिता उसभपत्ती^{२०} ॥

१. स्वी १७८/१५८८, इस गाथा के बाद प्रायः सभी प्रतियों में
मरुय अह....गाथा अन्यकर्तृकी उल्लेख के साथ मिलती है।

२. आर्यसिगा (अ)।

३. करेंतेयं (स)।

४. स्वी १७९/१५८९, यह गाथा मटी में नहीं है।

५. देसूणगम्मि वरिसे (स्वी), 'णगं च वासं (को)।

६. वंसठवणा य (अ), 'ठवणट्टा (स्वी)

७. को (१८०/१६००) और स्वी १८०/१५९० में इसका उत्तरार्थ
इस प्रकार है—

जं च जहा जिणजोगं, सव्वं तं तस्स कासी य। (को)

जं च जहा जम्मि वए, जोगं कासी य तं सव्वं। (स्वी)

८. तु. स्वी १८१/१५९१, गाथा के उत्तरार्थ के पाठान्तर इस
प्रकार मिलते हैं—

तालफलाहय भगिणी, होही पत्ति ति सारवणा (अपा, लापा,

हाटीपा) भगिणी भविस्स पत्ती य सा (मटीपा) होहि पत्तीति
सा. (दीपा.)।

९. सो वड्ढती भगवंतो (चू)।

१०. य अणुवम (म)।

११. स्वी १८२/१५९२।

१२. फुल्लफलंगं (अ), स्वी १८३/१५९३।

१३. जाइस्सरो (अ, स, दी, हा)।

१४. उ (म, ब)।

१५. हु (अ)।

१६. कंतीए बुद्धीए य (म)।

१७. स्वी १८४/१५९४।

१८. उ हतो (म, ब)।

१९. 'गरेहि य (म, ब), 'रेहिं (अ)।

२०. स्वी १८५/१५९५।

- १३७/९. भोगसमत्थं नाउं, वरकम्मं तस्स कासि^१ देविंदो।
दोण्हं वरमहिलाणं, बहुकम्मं कासि देवीओ^२ ॥
- १३७/१०. छप्पुव्वसतसहस्सा, पुव्विं जातस्स जिणवरिंदस्स।
तो भरह-बंधि-सुंदरि, बाहुबली चेव जायाइं^३ ॥
- १३७/११. अउणापन्नं जुयले, पुत्ताण सुमंगला पुणो पसवे।
नीतीणमतिक्कमणे^४, निवेदणं उसभसामिस्स^५ ॥
- १३७/१२. राया करेति दंडं, सिट्ठे ते बेत्ति^६ अम्ह वि स होउ।
मग्गह य कुलगरं सो, य बेति उसभो य भे राया^७ ॥
- १३७/१३. आभोएउं सक्को, उवागतो^८ तस्स कुणति^९ अभिसेयं।
मउडाइअलंकारं, नरिंदजोगं च से कुणति^{१०} ॥
- १३७/१४. भिसिणापत्तेहितरे, 'उदयं घेतुं'^{११} छुहंति पाएसु।
साधु विणीता पुरिसा, विणांतनगरी अह निविट्ठा^{१२} ॥
- १३७/१५. आसा हत्थी गावो, गहिताइं रज्जसंगहनिमित्तं।
घेतूण एवमादी, चउव्विहं संगहं कुणति^{१३} ॥
- १३७/१६. उग्गा भोगा रायण्ण, खत्तिया संगहो भवे चउहा।
आरक्खि^{१४}-गुरु-वयंसा, सेसा जे खत्तिया ते उ^{१५} ॥
१३८. आहारे सिप्पकम्मे य, मामणा^{१६} य विभूसणा।
लेहे गणिते य रूब्रे य, लक्खणे माण पोतए^{१७} ॥
१३९. ववहारे नीति जुट्ठे य, ईसत्थे^{१८} य उवासणा।
तिगिच्छा अत्थसत्थे य, बंधे घाते य मारणा^{१९} ॥

१. फासु (अ)।

२. स्वी १८६/१५९६।

३. स्वी १८७/१५९७, इस गाथा के बाद प्रायः सभी प्रतियों में
देवी सुमंगलाए (स्वी १५९८, को १६०८, हाटीमूभा. ४)
गाथा 'मूल भा. व्या.' उल्लेख के साथ मिलती है।

४. नीतीण अति (ला, म)।

५. सूत्रे चतुर्थ्यर्थे षष्ठी प्राकृतत्वात् (मटी), स्वी १८८/१५९९।

६. प्राकृतशैल्या छंदसत्वाच्च बेत्ति इति उक्तवन्तः (हाटी)।

७. स्वी १८९/१६००।

८. आगंतु (अपा, लापा, हाटीपा)।

९. कासि (अपा, लापा, मटीपा, हाटीपा)।

१०. कासि (अपा, लापा, मटीपा), कासी (हाटीपा), स्वी १९०/१६०१।

११. घेतूणदयं (ला)।

१२. स्वी १९१/१६०२।

१३. कासी (अपा, लापा, मटीपा, हाटीपा), स्वी १९२/१६०३।

१४. 'क्ख (अ, ला)।

१५. स्वी १९३/१६०४।

१६. मामण ति ममीकरार्थे देशोवचनम् (हाटी)।

१७. स्वी १९४/१६०५।

१८. ईसत्थे य ति प्राकृतशैल्या सुकारलोपात् इषुशास्त्रं (हाटी)।

१९. स्वी १९५/१६०६।

१४०. जण्णूसव समवाए, मंगले^१ कोउगे ति य।
वत्थे गंधे य मल्ले य, अलंकरे तहेव य^२ ॥
१४१. चोलोवण विवाहे य, दत्तिया^३ मडगपूयणा।
झावणा^४ श्रूभ सद य, छेलावणग^५ पुच्छणा^६ ॥
- १४१/१. पंचेव य सिप्पाइ, घड लोहे चित्त णंत^७ कासवए।
एक्केक्कस्स य एत्तो, वीस वीस भवे भेदा^८ ॥
१४२. उसभचरियाहिगारे, सव्वेसिं जिणवराण सामण्णं।
संयोहणाइ वोत्तुं, वोच्छं पत्तेयमुसभस्सं^९ ॥
१४३. संवोधण^{१०} परिच्चाए, पत्तेयं उवहिम्मि य।
अन्नलिंगे कुलिंगे य, गामायार परीसहे^{११} ॥
१४४. जायावल्लभ सुतलंभे, पच्चक्खाणे य संजमे।
छउमत्थ तवाकम्म, उप्पया नाण संगहे^{१२} ॥

१. मंगले ति एकारः अलाक्षणीको मुखसुखोच्चारणार्थः (हाटी)।

२. स्वर १९६/१६०७।

३. दत्तिय (अ)।

४. झावणा (ला)।

५. छेलापनकमिति देशीवचनमुत्कृष्टबालक्रीडापनकं सेण्डिताद्यर्थवाचकमिति (हाटी)।

६. स्वर १९७/१६०८, इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में आसी य कंदहारा से लेकर पक्खेव डहणमोसहि तक की सात मूल भाष्य की गाथाएं मिलती हैं। (देखें स्वर १६०९-१६१५, को १६१९-१६२५, हाटी मूभा. ५-११) ये गाथाएं हाटी एवं दी में मूल भाष्य के क्रमांक में हैं लेकिन प्रकाशित मटी (२०३-२०९) में ये निगा के क्रमांक में निर्दिष्ट हैं। ये क्रमांक संपादक द्वारा लगाए गए हैं अतः इनको प्रमाण नहीं माना जा सकता। इन सात गाथाओं के बाद निम्न दो अन्यकर्तृकी गाथाएं प्रायः सभी हस्तप्रतियों में मिलती हैं—

मिंठेण हत्थिपिंडे, मट्ठियपिंडं गहाय कुडगं च। निव्वत्तेसि य तइया, जिणोवड्ढेण भग्गेण ॥

निव्वत्तिए समाणे, भण्णइ राया तओ बहुजणस्स। एवइया भे कुव्वह, पयट्ठियं पढमसिप्पं तु ॥

७. णंतमिति देशीवचनं (हाटी), णंतमिति देशीवचनं वस्त्रवाचकं (मटी), अनन्तं देश्ययुक्त्या वस्त्रं (दी)।

८. स्वर १६१६, यह गाथा सभी टीकाओं में निगा के क्रम में व्याख्यात है किन्तु यह गाथा भाष्य की ही होनी चाहिए क्योंकि जब 'आहारद्वार' की सात गाथाओं में तथा अन्य 'कर्म' आदि द्वारों की १९ गाथाओं में भाष्यकार ने व्याख्या की है तब केवल 'शिल्पद्वार' की व्याख्या करने वाली गाथा की ही निगा क्यों मानी जाए? यह भी भाष्यकृद् ही होनी चाहिए। स्वर और को दोनों भाष्यों में भी यह भाष्य गाथा के क्रम में व्याख्यात है। चूर्ण में इस गाथा का प्रतीक नहीं है किन्तु संक्षिप्त व्याख्या है। इस गाथा के बाद कम्मं किसि.....से लेकर किंचिच्च.....(स्वर १६१७-१६३५, को १६२७-१६४५, हाटी मूभा. गा. १२-३०) ये १८ गाथाएं मूभा. व्या. उल्लेख के साथ प्रायः सभी हस्तप्रतियों में मिलती हैं। हाटी और दीपिका में ये मूलभाष्य के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु मटी में निगा (गा. २११-२९) के क्रम में व्याख्यात हैं। यह संख्या संपादक द्वारा लगाई गई प्रतीत होता है। इनमें कुछ भाष्य गाथाएं चूर्ण में भी व्याख्यात हैं।

९. स्वर १९८/१६३६, इस गाथा का चूर्ण में प्रतीक नहीं है किन्तु संक्षिप्त भावार्थ दिया हुआ है।

१०. x (अ)।

११. स्वर १९९/१६३७, १४३ से १४७ तक की ५ गाथाओं का चूर्ण में संकेत एवं व्याख्या नहीं है।

१२. स्वर २००/१६३८।

१४५. तित्थं गणो गणधरा, धम्मोवायस्स देसगा ।
परियाय अंतकिरिया, कस्स केण तवेण वा ?^१ ॥
१४६. सव्वे 'वि सयंबुद्धा'^२, लोगंतिथबोहिया य 'जीतं ति'^३ ।
सव्वेसि परिच्चाओ, संवच्छरियं महादाणं^४ ॥
१४७. रज्जादिच्चाओ वि य, पत्तेयं को व^५ कित्तियसमगो^६ ।
को कस्सुवधी को वा, ऽणुण्णातो केण सीसाणं^७ ॥
- १४७/१. सारस्सयमाइच्चा^८, वण्ही-वरुणा य गद्धतोया य ।
तुसिया अव्वाबाहा, अगिगच्चा चेव रिट्ठा य^९ ॥
- १४७/२. एते देवनिकाया, भगवं बोहिंति 'जिणवरिदं तु'^{१०} ।
सव्वजगज्जीवहियं, भगवं ! तित्थं पवत्तेहि ॥
- १४७/३. संवच्छरेण होही, अभिणिक्खमणं तु जिणवरिदाणं ।
तो अत्थसंपयाणं, पवत्तए पुव्वसूरम्मि^{११} ॥
- १४७/४. एगा हिरण्णकोडी, अट्टेव अणूणगा सयसहस्सा ।
सूरोदयमादीयं, दिज्जति जा पायरासाओ^{१२} ॥
- १४७/५. संघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउमुह-महापह-पहेसु ।
दारेसु पुरवराणं, रत्थामुहमज्झयारेसु ॥
- १४७/६. वरवरिया घोसिज्जति, किमिच्छयं^{१३} दिज्जयं बहुविहीयं ।
सुर-असुर-देव-दाणव, नरिदमहियाणं^{१४} निक्खमणे^{१५} ॥

१. स्‍वो २०१/१६३९ ।

२. सयं पबुद्धा (स्‍वो) ।

३. जीएणं (हाटी), जीवंति (अ) ।

४. स्‍वो २०२/१६४० ।

५. वि (रा) ।

६. कित्तियं (हाटी), कित्तियं (रा) ।

७. स्‍वो २०३/१६४१ ।

८. अनुस्‍वारस्‍त्‍वलाक्ष्‍णिकः (हाटी), मकारोऽलाक्ष्‍णिकः (मटी) ।

९. भ. ६/११०, ज्ञा. १/८/२०२, १४७/१-१० ये दस गाथाएं हाटी, मटी एवं दी में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं। चूर्णि में इन गाथाओं का कोई उल्लेख नहीं है। प्रकाशित स्‍वोपज्ञ एवं कोटी में ये गाथाएं निगा के क्रम में व्याख्यात नहीं हैं। ये गाथाएं

अतिरिक्त सी प्रतीत होती हैं अतः बाद में प्रक्षिप्त हुई हैं, यह अधिक संभव लगता है क्योंकि द्वारगाथा १४३ के संबोधन और परित्याग द्वार की व्याख्या १४६, १४७ गाथा में हो चुकी है तथा तीसरे द्वार 'प्रत्येक' की व्याख्या आगे १४८ वीं गाथा में है।

१०. 'वरं वीरं (आचू. १५/२६/६) ।

११. आचू. १५/२६/१ ।

१२. 'रासो ति (आचू. १५/२६/२) ।

१३. किमिच्छियं (म, रा, ब) ।

१४. 'याणु (अ) ।

१५. ज्ञा. १/८/२०० ।

- १४७/७. तिण्णेव य कोडिसया, अट्टासीति^१ च होंति कोडीओ।
असिति^२ च सयसहस्सा, 'एयं संवच्छरे दिण्ण'^३ ॥
पढमा वरवरिया समत्ता
- १४७/८. वीरं अरिट्टनेमिं, पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एते मोत्तूण जिणे, अवसेसा आसि रायाणो ॥
- १४७/९. रायकुलेसु वि जाया, विसुद्धवंसेसु खत्तियकुलेसु।
न य इच्छियाभिसेया^४, कुमारवासम्मि पव्वइया ॥
- १४७/१०. संती कुंथू य अरो, अरहंता^५ चेव चक्कवट्टी य।
अवसेसा तित्थयरा, मंडलिया आसि रायाणो ॥
१४८. एगो भगवं वीरो, पासो मल्ली य तिहि तिहि स्तेहि।
भयवं च वासुपुज्जो, छहि पुरिससतेहि निक्खंतो^६ ॥
१४९. उग्गाणं भोगाणं, रायणाणो^७ च खत्तियाणं च।
चउहि सहस्सेहुसभो^८, सेसा उ सहस्सपरिवारा^९ ॥
- १४९/१. वीरो अरिट्टनेमी, पासो मल्ली य वासुपुज्जो य।
पढमवए पव्वइया, सेसा पुण पच्छिमवयम्मि^{१०} ॥
१५०. सव्वे वि एगदूसेण, निग्गता जिणवरा चउव्वीसं।
न य नाम अण्णालिंगे, नो गिहिलिंगे कुलिंगे वा^{११} ॥
१५१. 'सुमतित्थ निच्चभत्तो, वसुपुज्जो निग्गतो चउत्थेण'^{१२}।
पासो मल्ली वि य अट्टमेण सेसा तु छट्ठेण^{१३} ॥

१. 'सीई' (म, ब)।

२. असोयं (अ), असियं (म)।

३. इदा दलर्यति अरहाणं (ज्ञा. १/८/१९४), आचू. १५/२६/३।

४. इत्थिया" (हाटी) हाटी में इत्थियाभिसेया पाठ है। टीकाकार हरिभद्र ने इसकी कोई व्याख्या नहीं की लेकिन नीचे टिप्पण में 'स्त्रीपाणिग्रहणराज्याभिषेकोभयरहिता' का उल्लेख है। मटी में इच्छियाभिसेया पाठ के आधार पर टीकाकार मलयगिरि ने 'ईप्सिताभिषेका—अभिलषित राज्याभिषेकाः' अर्थ किया है। यहां मटी का पाठ सम्यक् लगता है। चूर्णि में इसकी कोई व्याख्या नहीं है।

५. अरि" (अ, रा)।

६. समप्रसू. २२७/१, स्को २०४/१६४२।

७. राइ" (ला)।

८. "स्तेहिं उसभो (अ, स, रा)।

९. समप्रसू. २२७/२, स्को २०५/१६४३।

१०. मज्झिम" (म, ब), कुछ प्रतियों में तथा चूर्णि में यह गाथा अप्राप्त है। विशेषावश्यकभाष्य में भी इस गाथा का उल्लेख नहीं मिलता है। आचार्य हरिभद्र के निम्न उल्लेख से स्पष्ट है कि यह गाथा प्रसंगवश यहां जोड़ दी गई है—'साम्प्रतं प्रसंगतोऽत्रैव ये यस्मिन् वयसि निष्क्रान्ता इत्येवमभिधत्सुराह' (हाटी पृ. ९१)। यह गाथा निर्युक्ति की नहीं होनी चाहिए।

११. स्को २०६/१६४४, समप्रसू. २२६/१ इस गाथा का चूर्णि में केवल संक्षिप्त भावार्थ है, गाथा का प्रतीक नहीं है।

१२. सुमइत्थ निच्चभत्तेण निग्गओ वासुपुज्ज जिण चउत्थेण (म, अ, हा, दी) १५१-१५७ तक की गाथाओं का चूर्णि में कोई संकेत एवं व्याख्या नहीं है।

१३. स्को २०७/१६४५, समप्रसू. २२८/१।

१५२. उसभो य विणीताए, बारबतीए अरिट्टवरनेमी।
अवसेसा तित्थयरा, निक्खंता जम्मभूमीसु^१ ॥
१५३. उसभो सिद्धत्थवणम्मि, वासुपुज्जो विहारगेहम्मि।
धम्मो य वप्पगाए, नीलगुहाए य मुणिनामा^२ ॥
१५४. आसमपयम्मि पासो, वीरजिणिंदो य णातसंडम्मि।
अवसेसा निक्खंता^३, सहसंबवणम्मि उज्जाणे^४ ॥
१५५. पासो अरिट्टनेमी, सिज्जंसो सुमति मल्लिनामो य।
पुव्वण्हे निक्खंता, सेसा पुण पच्छिमण्हम्मि^५ ॥
१५६. गामायारा विसया, निसेविता ते कुमारवज्जेहिं।
गामागरादिएसु व^६, केसु^७ विहारो भवे कस्स^८? ॥
१५७. मगहा-रायगिहादिसु, मुणओ^९ खेत्तारिएसु विहरिंसु।
उसभो नेमी पासो, वीरो य अणारिएसुं पि^{१०} ॥
१५८. उदिता^{११} परीसहा सिं, पराइया ते य^{१२} जिणवरिदेहिं।
नवजीवादिपयत्थे, उवल्लभिऊणं^{१३} च^{१४} निक्खंता^{१५} ॥
१५९. पढमस्स बारसंगं, सेसाणिक्कारसंगसुतलंभो^{१६}।
पंच जमा पढमंतिमजिणाण सेसाण चत्तारि^{१७} ॥
१६०. पच्चक्खाणमिणं संजमो य पढमंतिमाण दुविगप्पो।
सेसाणं सामइओ, सत्तरसंगो य सव्वेसिं^{१८} ॥
१६१. वाससहस्सं बारस, चउदस अट्ठार^{१९} वीसवरिसाई^{२०}।
मासा छण्णव तिनि य, चउ तिग दुग इक्का^{२१} दुगं च^{२२} ॥

१. समप्र सू. २२५/१, स्‍वो २०८/१६४६।

१३. उवल्लभेऊणं (रा), उवल्लभिं (म)।

२. *मुणी नाम (ब, म), स्‍वो २०९/१६४७।

१४. x (रा)।

३. पव्वइया (ब, म)।

१५. स्‍वो २१४/१६५२, १५८ से १६० तक की तीन गाथाओं का चूर्णि में संक्षिप्त भावार्थ मिलता है किन्तु प्रतीक नहीं मिलता।

४. स्‍वो २१०/१६४८।

१६. सुयलाभो (अ)।

५. स्‍वो २११/१६४९।

१७. स्‍वो २१५/१६५३।

६. वि (स)।

१८. स्‍वो २१६/१६५४।

७. केस (स), केसि (म, ब)।

१९. *रस (स, ला)।

८. स्‍वो २१२/१६५०।

२०. वरीसाई (अ)।

९. मणुओ (अ, स)।

२१. मैक्कग (म), मिक्कग (हा, दी, रा)।

१०. स्‍वो २१३/१६५१।

११. उईया (स)।

२२. स्‍वो २१७/१६५५, चूर्णि में गा. १६१-६३—इन तीन गाथाओं का प्रतीक एवं संकेत नहीं है मात्र 'को वा केच्चिरं कालं छउमत्थो' का उल्लेख है।

१२. उ (स)।

१६२. 'तिग दुग एक्कग सोलस', वासा तिण्णि य तहेवऽहोरत्तं ।
मासेक्कारस नवगं, चउपण्णादिणाइ^२ चुलसीइ^३ ॥
१६३. तध बारसवरिसाई^४, जिणाण छउमत्थकालपरिमाणं ।
उगं च तवोकम्मं, विसेसतो वद्धमाणस्स^५ ॥
- १६३/१. फग्गुणबहुलेक्कारसि, उत्तरसाढाहि नाणमुसभस्स ।
पोसेक्कारसि सुद्धे, रोहिणिजोगेण^६ अजियस्स^७ ॥
- १६३/२. कत्तियबहुले पंचमि, मिगसिरजोगेण^८ संभवजिणस्स ।
पोसे सुद्धचउदसि^९, 'अभीइ'^{१०} अभिणंदणजिणस्स^{११} ॥
- १६३/३. चित्ते सुद्धेक्कारसि, महाहि सुमइस्स नाणमुप्पन्नं ।
चेतस्स पुण्णिमाए, पउमाभजिणस्स चित्ताहिं ॥
- १६३/४. फग्गुणबहुले छट्ठी, विसाहजोगे सुपासनामस्स ।
फग्गुणबहुले सत्तमि, अणुराह ससिप्पभजिणस्स ॥
- १६३/५. कत्तियसुद्धे^{१२} तत्तिया, मूले सुविहिस्स पुप्फदंतस्स ।
पोसे बहुलचउदसि, पुव्वासाढाहि सीयलजिणस्स ॥
- १६३/६. पण्णरसि माहबहुले, सिज्जंसजिणस्स सवणजोगेणं ।
सयभिसय^{१३} वासुपुज्जे, बीयाए माहसुद्धस्स ॥
- १६३/७. पोसस्स सुद्धछट्ठी, उत्तरभइवय विमलनामस्स ।
वइसाहबहुलचउदसि, रेवइजोगेण ऽणंतस्स ॥
- १६३/८. पोसस्स पुण्णिमाए, नाणं धम्मस्स पुत्सजोगेणं ।
पोसस्स सुद्धनवमी, भरणीजोगेण संतिस्स ॥

१. ति दु इक्क सोलसगं (रा), 'मिक्कग सोलस (अ, ब, हा, दी) ।

२. 'दिणा य (अ, ला, रा), 'दिणाई (म) ।

३. 'सीई (ब, म), स्‍वो. २१८/१६५६ ।

४. 'वासाई (स, हा, दी, ला) ।

५. स्‍वो. २१९/१६५७ ।

६. 'जोगेसु (म, ब) ।

७. १६३/१-१२—ये १२ गाथाएं टीकाओं में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु दोनों भाष्य तथा चूर्ण में इन गाथाओं का कोई उल्लेख नहीं है। पंडित मालवणियाजी द्वारा संपादित स्‍वो में ये गाथाएं टिप्पण में दी हुई हैं। इन गाथाओं में १४४ वीं द्वारगाथा में वर्णित

उप्यया नाण (ज्ञानोत्पत्ति) द्वार की व्याख्या है। इस द्वार की व्याख्या निर्युक्तिकार ने १६४, १६५ इन दो गाथाओं में की है अतः ये प्रक्षिप्त एवं व्याख्यात्मक सी लगती हैं।

८. मग (स, रा) ।

९. बहुल चउदसी (दीपा) ।

१०. अभीई (स) ।

११. अदिती अभिणंदणस्स पाठः स च संगतः (दीपा) ।

१२. कत्तिय (म, स) ।

१३. सयभिसिय (अ) ।

- १६३/९. चित्तस्स सुद्धतइया, कत्तियजोगेण^१ नाण कुंथुस्स ।
कत्तियसुद्धे बारसि^२, अरस्स नाणं तु रेवइहिं^३ ॥
- १६३/१०. 'मग्सिर सुद्धिक्कारसीए'^४, मल्लिस्स अस्सिणीजोगे ।
फग्गुणबहुले बारसि, सवणेणं सुव्वयजिणस्स ॥
- १६३/११. मग्सिर सुद्धेक्कारसि, अस्सिणिजोगेण नमिजिणिंदस्स ।
आसोयऽभावसाए, नेमिजिणिंदस्स चित्ताहिं ॥
- १६३/१२. चित्ते बहुलचउत्थी, विसाहजोगेण पासनामस्स ।
वइसाहसुद्धदसमी, हत्थुत्तरजोगि वीरस्स ॥
१६४. उसभस्स पुरिमताले, वीरस्सुजुवालिया नदीतीरे ।
सेसाण केवलाइं, जेणुज्जाणेसु पव्वइता^५ ॥
१६५. तेवीसाए नाणं, उप्पण्णं जिणवराण पुव्वणहे ।
वीरस्स पच्छिमणहे, पमाणपत्ताए^६ चरिमाए^७ ॥
१६६. अट्ठमभत्तंतम्मी^८, पासोसभ-मल्लि-रिट्ठनेमीण ।
वसुपुज्जस्स चउत्थेण छट्ठभत्तेण सेसाणं^९ ॥
१६७. चुलसीतिं च सहस्सा, एणं च दुवे य तिण्णि लक्खइं ।
तिण्णि य वीसहियाइं, तीसहियाइं च तिण्णेव^{१०} ॥
१६८. तिण्णि य अइइज्जा, दुवे य एणं च सतसहस्साइं ।
चुलसीतिं च सहस्सा, बिसत्तरिं अट्ठसट्ठिं च^{११} ॥
१६९. छावट्ठिं चउसट्ठिं^{१२}, बावट्ठिं^{१३} सट्ठिमेव पण्णासं ।
चत्ता तीसा वीसा, अट्ठारस सोलससहस्सा^{१४} ॥

१. कित्ति^१ (अ, हा, दी) ।

२. बारस्स (अ) ।

३. इहात्र नाम्नि बहुवचनं प्राकृतत्वात् (दी) ।

४. मग्सिरसुद्धेक्का^४ (म, ब), मग्सिरसुद्धिक्का^४ (अ, दी) ।

५. स्वर २२०/१६५८, १६४ और १६५ इन दोनों गाथाओं में हा, म, दी में क्रमव्यत्यय है। पहले १६५ की तथा बाद में १६४ की गाथा है। हस्तप्रतियों में भी यही क्रम मिलता है। किन्तु विषय की क्रमबद्धता की दृष्टि से भाष्य का क्रम अधिक संगत लगता है। हमने उसी क्रम को स्वीकृत किया है। चूर्ण में केवल १६४ वीं गाथा की कुछ भेद के साथ संक्षिप्त व्याख्या मिलती है।

६. स्वर २२१/१६५९ ।

७. तम्मि य (स, रा) ।

८. स्वर २२२/१६६०, गा. १६६-१७४/१ तक की दस गाथाओं का चूर्ण में कोई संकेत या प्रतीक नहीं मिलता। मात्र ऋषभ, पार्श्व एवं अरिष्टनेमो के साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविकाओं की संख्या का उल्लेख है।

९. स्वर २२३/१६६१ ।

१०. स्वर २२४/१६६२ ।

११. चोवट्ठिं (म, रा), चउवट्ठिं (ला) ।

१२. बासट्ठिं (म) ।

१३. स्वर २२५/१६६३ ।

१७०. चउदस^१ य सहस्साइं, जिणाण जतिसीस-संगहपमाणं।
अज्जा संगहमाणं, उसभादीणं अतो वोच्छं^२ ॥
१७१. तिण्णेव य लक्खाइं, तिण्णि य 'तीसा य'^३ तिण्णि छत्तीसा।
'तीसा य'^४ छच्च पंच य, तीसा चउरो य 'वीसा य'^५ ॥
१७२. चत्तारि य तीसाइं, 'तिण्णि य असिताइ'^६ तिन्निमेत्तो^७ य।
वीसुत्तरं^८ छलहियं^९, तिसहस्सऽहियं च लक्खं च^{१०} ॥
१७३. लक्खं अट्ठसताणि य, बावट्टिसहस्स^{११} चउसयसमग्गा।
एगट्ठी^{१२} छच्च सता, सट्टिसहस्सा सता छच्च^{१३} ॥
१७४. सट्ठि पणपण्ण पण्णेगचत्त^{१४} चत्ता तधऽट्ठतीसं च।
छत्तीसं च सहस्सा, अज्जाणं संगहो एसो^{१५} ॥
- १७४/१. पढमाणुयोगसिद्धो, पत्तेयं सावयादियाणं पि।
नेयो सव्वजिणाणं, 'सीसाणं संगहो'^{१६} कमसो^{१७} ॥
१७५. तित्थं चाउव्वण्णो, संघो सो पढमए समोसरणे।
उप्पण्णो तु^{१८} जिणाणं, वीरजिणिंदस्स बित्थियम्मि^{१९} ॥
१७६. चुलसीति पंचनउती, बिउत्तरं सोलसुत्तरसत्तं च।
सत्तऽहियं पण्णउती, तेणउती अट्ठसीती य^{२०} ॥
१७७. एक्कासीई बावत्तरी^{२१} य छावट्टि सत्तवण्णा य।
पण्णा तेयालीसा, छत्तीसा चेव पण्णतीसा^{२२} ॥

१. चोदस (म)।

२. स्‍वो २२६/१६६४।

३. तीसाइं (म)।

४. तीसाइं (रा, ला)।

५. वीसाइं (म, रा, ला), स्‍वो २२७/१६६५।

६. असिउत्तर तिण्णि (म)।

७. तिण्ह (हा, रा)।

८. 'त्तरि (स)।

९. छ अहियं (दी)।

१०. स्‍वो २२८/१६६६।

११. बासट्टि (म, ला)।

१२. एगट्ठि (रा, ला)।

१३. स्‍वो २२९/१६६७।

१४. वण्णेग (हा)।

१५. स्‍वो २३०/१६६८।

१६. सीसाणं परिग्गहो (स, हा, दी)।

१७. स्‍वो २३१/१६६९, यह गाथा चूर्णि के अतिरिक्त सभी व्याख्या ग्रंथों में निगा के क्रम में उल्लिखित है। किन्तु यह बाद में जोड़ी हुई एवं अतिरिक्त सी प्रतीत होती है। दीपिकाकार ने भी इस गाथा से पूर्व 'क्वाप्यन्यथापि साध्वीसंख्या दृश्यते' का उल्लेख किया है।

१८. अ (अ, रा, हा दी)।

१९. स्‍वो २३२/१६७०, चूर्णि में १७५ से १९२ तक की गाथाओं का तीन चार पंक्तियों में संक्षिप्त संकेत मात्र है, गाथाओं के प्रतीक एवं व्याख्या नहीं हैं।

२०. स्‍वो २३३/१६७१।

२१. छावत्तरी (ब, स)।

२२. स्‍वो २३४/१६७२।

१७८. 'तेतीस अट्टवीसा'^१, अट्टारस चेव तह य सत्तरस।
एक्कारस दस नवगं, गणाण माणं जिणिंदाणं^२ ॥
१७९. एक्कारस उ गणधरा, 'जिणस्स वीरस्स'^३ सेसयाणं तु।
जावतिया जस्स गणा, तावइथा गणहरा तस्स^४ ॥
१८०. धम्मोवाओ पवयणमधवा पुव्वाइ देसगा तस्स।
सव्वजिणाण गणधरा, 'चउदसपुव्वी व जे जस्स'^५ ॥
१८१. सामाइयादिया वा, वय-जीवनिकाय-भावणा पढमं।
एसो धम्मोवाओ, जिणेहि सव्वेहि उवदिट्ठो^६ ॥
१८२. उसभस्स पुव्वलक्खं, पुव्वंगूणमजितस्स तं चेव।
चउरंगूणं लक्खं, पुणो पुणो जाव सुविधि त्ति^७ ॥
१८३. पणवीसं^८ तु सहस्सा, पुव्वाणं सीतलस्स परियाओ।
लक्खाइ एक्कवीसं, सेज्जंसजिणस्स वासाणं^९ ॥
१८४. चतुपण्णं^{१०} पण्णरसं, तत्तो अट्ठट्टमाइ लक्खाइं।
अट्ठाइज्जाइ^{११} ततो^{१२}, वाससहस्साइ पणवीसं^{१३} ॥
१८५. तेवीसं च सहस्सा, सताणि अट्ठट्टमाणि य हवन्ति।
इगवीसं^{१४} च सहस्सा, वाससऊणा^{१५} य पणपण्णा^{१६} ॥
१८६. अट्ठट्टमा सहस्सा, 'अट्ठाइज्जा य'^{१७} सत्त य सताइं।
सयरो^{१८} बि चत्तवासा, दिक्खाकालो जिणिंदाणं^{१९} ॥
- १८६/१. उसभस्स कुमारत्तं, पुव्वाणं वीसई^{२०} सतसहस्सा।
तेवट्ठी रज्जमी^{२१}, अणुपालेऊण निक्खंतो^{२२} ॥

१. तेतीसट्ठा (म, रा)।

२. स्वो २३५/१६७३।

३. वीरजिणिंदस्स (म)।

४. स्वो २३६/१६७४।

५. चोदसपुव्वी उ ते तस्स (म), स्वो. २३७/१६७५।

६. स्वो २३८/१६७६।

७. स्वो २३९/१६७७।

८. पणु (म, स)।

९. स्वो २४०/१६७८।

१०. चउपन्नं (म)।

११. 'इज्जाण (ला)।

१२. ततो (म)।

१३. पणु (म, स) सर्वत्र, स्वो २४१/१६७९।

१४. इगतीसं (रा)।

१५. 'सउणा (हा, दी)।

१६. 'पन्नं (ब, स, म, रा, ला), स्वो २४२/१६८०।

१७. 'इज्जाइ (म, रा, ला)।

१८. सत्तरि (ला)।

१९. स्वो २४३/१६८१।

२०. वीसई (ला)।

२१. रज्जम्मि उ (म, रा)।

२२. १८६/१-२५ ये पच्चीस गाथाएं हा, म, दी में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं। भाष्य तथा चूर्णि में इन गाथाओं का उल्लेख नहीं है। ये गाथाएं द्वारगाथा १४५ के पर्यायद्वार की व्याख्या रूप हैं। निर्युक्तिकार १८२-८६ तक की पांच गाथाओं में 'पर्यायद्वार' की व्याख्या कर चुके हैं। इनमें कुमारवस्था के पर्यायकाल का उल्लेख है। ये सब गाथाएं व्याख्यात्मक एवं बाद में प्रक्षिप्त सी प्रतीत होती हैं।

- १८६/२. अजितस्स कुमारत्तं, अट्टारस पुव्वसतसहस्साइं ।
तेवण्णं रज्जम्मी^१, पुव्वंगं चेव बोधव्वं ॥
- १८६/३. पण्णरस सतसहस्सा, कुमारवासो य संभवजिणस्स ।
चोयालीसं रज्जे, चउरंगं चेव बोधव्वं ॥
- १८६/४. अट्ठत्तेरस लक्खा, पुव्वाणऽभिणंदणे कुमारत्तं ।
छत्तीसा अट्ठं चिय, अट्ठंगा चेव रज्जम्मि ॥
- १८६/५. सुमइस्स कुमारत्तं, हवंति दसपुव्वसतसहस्साइं ।
अउणातीसं^२ रज्जे, बारस 'अंगा य'^३ बोधव्वा ॥
- १८६/६. पउमस्स कुमारत्तं, पुव्वाणऽद्धट्टमा सतसहस्सा ।
अट्ठं च एगवीसा^४, सोलस 'अंगा य'^५ रज्जम्मि ॥
- १८६/७. पुव्वसयसहस्साइं, पंच सुपासे कुमारवासो उ ।
चउदस^६ पुण रज्जम्मी, वीसं अंगा य बोधव्वा ॥
- १८६/८. अट्ठाइज्जा^७ लक्खा, कुमारवासो^८ ससिप्पभे होति ।
अट्ठं छच्चिय रज्जे, 'चउवीसंगा य'^९ बोधव्वा ॥
- १८६/९. पण्णं पुव्वसहस्सा, कुमारवासो उ^{१०} पुप्फदंतस्स ।
तावइयं रज्जम्मी, अट्ठावीसं च पुव्वंगा ॥
- १८६/१०. पणवीससहस्साइं, पुव्वाणं सीयले कुमारत्तं ।
तावइयं परियाओ, पण्णासं चेव रज्जम्मि ॥
- १८६/११. वासाण कुमारत्तं, इगवीसं लक्ख होंति सेज्जंसे ।
तावइयं परियाओ, बायालीसं च रज्जम्मि ॥
- १८६/१२. गिहवासे अट्टारस, वासाणं सतसहस्स नियमेणं ।
चउपण्णसतसहस्सा, परियाओ^{११} होति वसुपुज्जे ॥
- १८६/१३. पण्णरस सतसहस्सा, कुमारवासो उ^{१२} तीसई रज्जे ।
पण्णरस सतसहस्सा, परियाओ होति विमलस्स ॥

१. रज्जम्मि उ (रा) ।

२. अउणातीसं (म, रा) ।

३. अंगाइं (म) ।

४. एक्क (म) ।

५. अंगाइं (अ, रा) ।

६. चोहस (ला) ।

७. अट्ठट्ठा (दी) ।

८. 'वासो उ (म) ।

९. 'संगाइ (ता, ब) ।

१०. य (अ) ।

११. 'यार्य (अ) ।

१२. य (ब अ हा दी) ।

- १८६/१४. अद्धुमलक्खाइं, वासाणमणंतई कुमारत्तं ।
तावइयं^१ परियाओ, रज्ज्मि^२ होति पण्णरस ॥
- १८६/१५. धम्मस्स कुमारत्तं, वासाणऽड्ढाइयाइ लक्खाइं ।
तावइयं परियाओ, रज्जे पुण होति पंचेव ॥
- १८६/१६. संतिस्स कुमारत्तं, 'मंडलि-चक्किपरियाय'^३ चउसुं पि ।
पत्तेयं पत्तेयं, वाससहस्साणि पणवीसं ॥
- १८६/१७. एमेव य कुंथुस्स वि, चउसु वि ठाणेसु होति पत्तेयं ।
तेवीससहस्साइं, 'वरिसाणऽद्धुमसया य'^४ ॥
- १८६/१८. एमेव अरजिणिंदस्स, चउसु वि ठाणेसु होति पत्तेयं ।
इगवीससहस्साइं, वासाणं होति नायव्वा ॥
- १८६/१९. मल्लिस्स वि वाससत्तं, गिहवासे सेसयं तु परियाओ ।
चउपण्णसहस्साइं, नव चेव सयाइ पुण्णाइं ॥
- १८६/२०. अद्धुमा सहस्सा, कुमारवासो उ सुव्वयजिणस्स ।
तावइयं परियाओ, पण्णरससहस्स रज्ज्मि ॥
- १८६/२१. नमिणो कुमारवासो, वाससहस्साइ दोणिण अद्धं च ।
तावइयं परियाओ, पंचसहस्साइ रज्ज्मि ॥
- १८६/२२. तिण्णेव य वाससता, कुमारवासो अरिट्ठनेमिस्स ।
सत्त य वाससताइं, सामण्णे होति परियाओ ॥
- १८६/२३. पासस्स कुमारत्तं, तीसं परियाय सत्तरी होति ।
तीसा य वद्धमाणे, बायालीसा उ^५ परियाओ ॥
- १८६/२४. उसभस्स पुव्वलक्खं, पुव्वंगूणमजितस्स तं चेव ।
चउरंगूणं लक्खं, पुणो पुणो जाव सुविधि ति^६ ॥
- १८६/२५. सेसाणं परियाओ, कुमारवासेण सहियतो भणितो ।
पत्तेयं पि य पुव्वं, सीसाणमणुग्गहट्ठाए ॥

१. तावइयं (अ, रा) ।

२. रज्ज्मि य (म, ला) ।

३. मंडलियं च' (हा, दी), 'परियाओ (ब, ला), 'याइ (स) ।

४. वरसा' (अ), 'सयाइ (रा, ला, स) ।

५. य (अ, म, रा) ।

६. इस गाथा की पुनरावृत्ति हुई है (देखें गा. १८२) । प्रायः सभी हस्तप्रतियों में इसका प्रथम चरण ही मिलता है । यह गाथा यहां अतिरिक्त से प्रतीत होती है । दोनों भाष्यों तथा चूर्ण में भी यह गाथा यहां निगा के क्रम में निर्दिष्ट नहीं है ।

१८७. छउमत्थकालमेत्तो, सोधेउं सेसओ उं जिणकालो ।
सव्वाउयं पि एत्तो, उसभादीणं निसामेहं ॥
१८८. चउरासीइ^३ बिसत्तरि, सट्ठी^४ पण्णासमेव लक्खाइं ।
चत्ता तीसा वीसा, दस दो एगं च पुव्वाणं^५ ॥
१८९. चउरासीती बावत्तरी^६ य सट्ठी य होति वासाणं ।
तीसा य दस य एगं, च एवमेए सतसहस्सा^७ ॥
१९०. पंचाणउति^८ सहस्सा, 'चउरासीती य'^९ पंचवण्णा य ।
तीसा य दस य एगं, सयं^{१०} च बावत्तरी चेव^{११} ॥
१९१. निव्वाणमंतकिरिया, सा चउदसमेण^{१२} पढमनाहस्स ।
सेसाण मासिएणं, वीरजिणिंदस्स छट्ठेणं^{१३} ॥
१९२. अट्ठावय-चंपुज्जितं^{१४}, पावा सम्मेयसेलसिहरेसु ।
उसभ-वसुपुज्ज-नेमी, वीरो सेसा य सिद्धिगतो^{१५} ॥
- १९२/१. एगो भगवं वीरो, तेत्तीसाइ सह निव्वुतो पासो ।
छत्तीसेहिं^{१६} पंचहि, सतेहि नेमी उ सिद्धिगतो^{१७} ॥
- १९२/२. पंचहि समणसतेहिं, मल्ली संती उं^{१८} नवसतेहिं तु ।
अट्ठसतेणं धम्मो, 'सतेहि छहि'^{१९} वासुपुज्जजिणो ॥
- १९२/३. सत्तसहस्साऽणंतइजिणस्स विमलस्स छस्सहस्साइं ।
पंचसताइ सुपासे, पउमाभे तिण्णि अट्ठसता ॥
- १९२/४. दसहि सहस्सेहुसभो^{२०}, सेसा उ सहस्सपरिवुडा सिद्धा ।
कालाइ जं न भणितं, पढमऽणुयोगा उ तं नेयं ॥

१. य (रा) ।

२. स्‍वो २४४/१६८२ ।

३. 'सीई (म) ।

४. सट्ठि (ला) ।

५. स्‍वो २४५/१६८३ ।

६. बिसत्तरी (म) ।

७. स्‍वो २४६/१६८४ ।

८. पंचाणुई (रा) ।

९. 'सीई च (म) ।

१०. सगं (स) ।

११. स्‍वो २४७/१६८५ ।

१२. चोदसं (म) ।

१३. स्‍वो २४८/१६८६ ।

१४. चंपोज्जितं (ला, ब), चंपुज्जितं (म) ।

१५. स्‍वो २४९/१६८७ ।

१६. छत्तीसएहिं (हा, रा), छत्तीससएहिं (ब, दी) ।

१७. १९२/१-४ ये चारों गाथाएं हा, म, दी में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु चूर्णि तथा भाष्य में इन गाथाओं का कोई उल्लेख नहीं है । इन चार गाथाओं में तीर्थकरों के साथ कितने व्यक्ति सिद्ध हुए, इसका वर्णन है । ये गाथाएं प्रसंगानुसार यहां जोड़ दी गई हैं अतः इनको निगा के क्रम में नहीं जोड़ा है ।

१८. x (स) ।

१९. छएहिं सएहिं (अ) ।

२०. सहस्सेहिं उसभो (अ, ब, ला, हा, दी) ।

१९३. इच्चेवमादि सच्चं, जिणाण पढमाणुयोगतो जेयं।
ठाणासुण्णत्थं पुण, भणितं पगतं अतो वोच्छं^१ ॥
१९४. उसभजिणसमुद्धानं^२, उट्ठाणं^३ जं ततो मरीइस्स।
सामाइयस्स एसो, जं पुच्चं निग्गमोऽहिगतो^४ ॥
- १९४/१. संबोधण निक्खमणं, णमिविनमी^५ विज्जधरण वेतङ्गे।
उत्तरदाहिणसेढी, सट्ठी^६ पण्णासनगराईं^७ ॥
१९५. चेतबहुलट्टमीए, चउहि सहस्सेहि सो उ अवरणहे।
सीया सुदंसणाए, सिद्धत्थवणम्मि छट्ठेणं^८ ॥
१९६. चउरो साहस्सीओ, लोयं काऊण अप्पणा चेव।
जं एस जहा काही^९, तं तथ अम्हे वि काहामो^{१०} ॥
१९७. उसभो वरवसभगती^{११}, घेतूणमभिग्गहं^{१२} परमघोरं^{१३}।
वोसट्टचत्तेहो, विहरति गामाणुगामं तु^{१४} ॥
१९८. नमिविनमीणं^{१५} जायण, नागिंदो विज्जदाण^{१६} वेयङ्गे।
उत्तरदाहिणसेढी, सट्ठी पण्णासनगराईं^{१७} ॥
१९९. 'भगवं अदीणमणसो'^{१८}, संवच्छरमणसिओ विहरमाणो।
कण्णाहि निमंतिज्जति^{१९}, वत्थाभरणासणेहिं च^{२०} ॥

१. स्‍वो २५०/१६८८, इस गाथा का चूर्ण में मात्र संक्षिप्त भावार्थ मिलता है, प्रतीक एवं व्याख्या नहीं है।
२. 'समुत्थाणं (म, रा, स्‍वो)।
३. उत्थाणं (म, ब, स्‍वो)।
४. स्‍वो २५१/१६८९, चूर्ण में यह गाथा अव्याख्यात है।
५. नागिंदो (को)।
६. सट्ठि (स्‍वो)।
७. स्‍वो २५२/१६९०, यह गाथा दोनों भाष्यों में इसी क्रम में मिलती है। चूर्ण तथा हा, म, दो में उसभो वर.....गाथा १९७ के बाद मिलती है (हा, ३१७, म ३४०)। विषयवस्तु की क्रमबद्धता की दृष्टि से चूर्ण एवं टीका का क्रम संगत प्रतीत होता है। (द्र. टिप्पण १९८)
८. स्‍वो २५३/१६९१, चूर्ण में १९५, १९६ दोनों गाथाएं अव्याख्यात हैं।
९. काहिति (ला, स्‍वो)।
१०. काहामो (स्‍वो २५४/१६९२)।
११. 'वसभसमगती (स्‍वो, ला), 'वसभाई (स)।
१२. घेतूण अभि (म), घेतूण अभि (स्‍वो)।
१३. 'गोरं (स्‍वो)।
१४. स्‍वो २५५/१६९३, इस गाथा के बाद ण वि ताव....(स्‍वो १६९४,

को १७०४) गाथा मूल भाष्य के रूप में हा, दो (मूभा. ३१) टीकाओं में मिलती है। टीकाकार हरिभद्र ने इसके लिए चाह मूल-भाष्यकारः का उल्लेख किया है। हस्तप्रतियों में भी यह मूभा. उल्लेख के साथ मिलती है। मुद्रित मटी (गा. ३३९) में यह निगा के क्रम में व्याख्यात है पर टीकाकार ने इसके लिए निगा का उल्लेख नहीं किया है। यह संख्या संपादक के द्वारा लगाई गयी है। आगे गा. ३२ से यह संख्या भाष्य गाथा के क्रम में जुड़ गयी हैं। चूर्ण में यह भाष्य गाथा नमिविनमीणं..... (गा. १९८) के बाद उल्लिखित है।

१५. निमि (स), 'नमीण (म)।

१६. जिणदाण (अ)।

१७. चाह निर्युक्तिकारः (हाटी), तु. स्‍वो २५२/१६९०, यह गाथा कुछ अंतर के साथ दोनों भाष्यों में उसभजिण (गा. १९४) के बाद मिलती है। किन्तु चूर्ण एवं टीकाओं में इसी क्रम में व्याख्यात है। (द्र. टिप्पण १९४/१)

१८. भयवमदी (म), भगवं पदीण (अ, रा, ला, चू, को)।

१९. 'तिज्जो (अ)।

२०. स्‍वो २५६/१६९५।

२००. संवच्छरेण भिक्खा, लद्धा उसभेण लोगनाहेण।
सेसेहि बितियदिवसे, लद्धाओ पढमभिक्खाओ^१ ॥
२०१. उसभस्स तु 'पारणए, इक्खुरसो'^२ आसि लोगनाहस्स।
सेसाणं परमण्णं, अमयरसरसोवमं आसी^३ ॥
२०२. घुट्ठं च अहोदाणं, दिव्वाणि य आहताणि तूराणि।
देवा य संनिवइया, वसुहारा चेव वुट्ठा य^४ ॥
२०३. गयपुर 'सेज्जंसो खोयरसदाण'^५ वसुहार-पीढ^६-गुरुपूया।
तक्खसिलायलगमणं, बाहुबलिनिवेयणं चेव^७ ॥
- २०३/१. हत्थिणपुरं अयोज्झा, सावत्थी 'चेव तह य'^८ साकेयं।
विजयपुर बंभथलयं^९, पाडलिसंडं पउमसंडं^{१०} ॥
- २०३/२. सेयपुरं^{११} रिट्ठपुरं, सिद्धत्थपुरं^{१२} महापुरं चेव।
धण्णकड वद्धमाणं, सोमणसं मंदिरं चेव ॥
- २०३/३. चक्कपुरं रायपुरं, मिहिला रायगिहमेव बोधव्वं।
वोरपुरं बारवती, कोवकडं^{१३} कोल्लयगामो^{१४} ॥
- २०३/४. एतेसु पढमभिक्खा, लद्धाओ जिणवरेहि सव्वेहिं।
दिण्णाउ जेहि पढमं, तेसिं 'नामाणि वोच्छामि'^{१५} ॥
- २०३/५. सेज्जंस बंभदत्ते, सुरेददत्ते य^{१६} इंददत्ते य।
पउमे य सोमदेवे, महिंद तह सोमदत्ते य^{१७} ॥

१. समप्र २३०/१, स्को २५७/१६९६।

२. खोतरसो पारणए (स्को, को), पढमभिक्खा खोयरसो (समप्र)।

३. आसि (म, स्को २५८/१६९७), समप्र २३०/२।

४. स्को २५९/१६९८, भाष्य, टीका तथा सभी हस्तप्रतियों में (२००-२०२) ये तीनों गाथाएं निगा के क्रम में मिलती हैं। किन्तु चूर्णि में भगवं.....(गा.१९९) के बाद गयपुर (२०३) गाथा का संकेत मिलता है। विषयवस्तु की दृष्टि से चूर्णि का क्रम संगत लगता है क्योंकि ये तीनों गाथाएं व्याख्यात्मक सी प्रतीत होती हैं।

५. सिज्जंसिक्खुरसदाण (ब, रा, ला, हा, दी)।

६. पेढ (अ, रा, ला)।

७. स्को २६०/१६९९।

८. तह य चेव (अ, ब, रा, हा, दी)।

९. बम्ह (म)।

१०. २०३/१-१२ तक की १२ गाथाओं का दोनों भाष्यों तथा चूर्णि में

उल्लेख नहीं है। स्को. में ये गाथाएं पादटिप्पण में हैं। ये गाथाएं प्रसंगवश यहां जोड़ दी गई हैं क्योंकि गा. २०२ में पारणे में वसुधारा की वृष्टि का तथा गा. २०१ में किस तीर्थंकर को प्रथम पारणे में क्या प्राप्ति हुई, इसका उल्लेख आ चुका है। २०३/१-१२—इन बारह गाथाओं में प्रथम दानदाता, उनके नगर तथा उनकी गति का वर्णन है। ये सब गाथाएं यहां व्याख्यात्मक प्रतीत होती हैं।

११. सीह (स)।

१२. सिद्धपुरं (ब)।

१३. कोअगडं (ब, रा, हा, दी)।

१४. कुल्लगामो (अ)।

१५. वोच्छामि नामाणि (अ)।

१६. X (अ)।

१७. समप्र (२२९/१) में इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—
तत्तो य धम्मसीहे, सुमिते तह धम्ममित्ते य।

- २०३/६. पुस्से^१ पुणव्वसू पुण, नंद सुनंदे जए य विजए य।
ततो य धम्मसीहे, सुमित्त तह वग्घसीहे^२ य^३ ॥
- २०३/७. अपराजिय विस्ससेणे^४, वीसइमे होति बंधदत्ते य।
दिण्णे वरदिण्णे पुण, धण्णे बहुले य^५ बोधव्वे^६ ॥
- २०३/८. एते कयंजलिउडा, भत्ती-बहुमाण-सुक्कलेसागा^७।
तक्कालपहट्टमणा^८, पडिलाभेसुं जिणवरिदे^९ ॥
- २०३/९. सव्वेहिं पि जिणेहिं, जहियं लद्धाउ पढमभिकखाओ।
तहियं वसुहाराओ, 'वुद्धाओ पुण्णवुद्धीओ'^{१०} ॥
- २०३/१०. अद्धत्तेरसकोडी, उक्कोसा तत्थ होति वसुहारा।
अद्धत्तेरसलक्खा, जहन्निया होति वसुहारा ॥
- २०३/११. सव्वेसिं पि जिणाणं, जेहिं^{११} दिण्णाउ पढमभिकखाओ।
ते पतणुपिज्जदोसा, दिव्ववरपरक्कमा जाया ॥
- २०३/१२. केई^{१२} तेणेव भवेण, निव्वुया सव्वकम्मउम्मुक्का।
अन्ने^{१३} तइयभवेणं, सिज्झिस्संती^{१४} जिणसगासे ॥
२०४. कल्लं सव्विड्डीए, पूएमऽहददु^{१५} धम्मचक्कं तु।
विहरति सहस्समेगं, छउमत्थो भारहे वासे^{१६} ॥
- २०४/१. बहली^{१७} अडंब-इल्ला-जोणगविसओ सुवण्णभूमी य।
आहिंडिता भगवता, उसभेण तवं चरतेणं^{१८} ॥

१. पूसे (ला, ब)।

२. वग्ग (म)।

३. समप्र (२२९/२) में इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—
पठमे य सोमदेवे, वीसतिमे होइ उसभसेणे य।

४. वीस (म)।

५. X (अ)।

६. तु. समप्र २२९/३।

७. सुद्धलेस्सागा (ला, रा), सिद्धले (अ)।

८. तं काल (ला)।

९. समप्र (२२९/४) में यह गाथा कुछ अंतर के साथ इस प्रकार मिलती है—

एते विसुद्धलेसा, जिणवरभत्तीए पंजलिउडा य।

तं कालं तं समयं, पडिलाभेई जिणवरिदे ॥

१०. सरीरमेत्तीओ बुद्धाओ (समप्र २३०/३)।

११. जेहि उ (म, रा, ला)।

१२. केति (ला, ब)।

१३. केई (ब, स, म)।

१४. "स्संति (हा, दी, रा)।

१५. पूएहमद (दी, रा)।

१६. स्त्रो २६१/१७००, चूर्ण में इसकी संक्षिप्त व्याख्या मिलती है, किन्तु गाथा का प्रतीक नहीं है।

१७. बहुली (रा)।

१८. स्त्रो २६२/१७०१, २०४/१, २ चूर्ण में इन दोनों गाथाओं का कोई उल्लेख नहीं है। भाष्य तथा टीकाओं में ये निगा के क्रम में व्याख्यात हैं। ये गाथाएं अतिरिक्त एवं व्याख्यात्मक सी लगती हैं। इन दोनों को निगा के क्रम में न मानने से भी चालू विषयक्रम में कोई अंतर नहीं आता।

- २०४/२. बहली य जोणगा पल्हगा^१ य जे भगवता समणुसिद्धा^२ ।
अन्ने य मेच्छजाती, ते तइया भइया जाता^३ ॥
२०५. तित्थगराणं पढमो, उसभरिसी^४ विहरितो निरुवसगं^५ ।
अट्ठावओ^६ नगवरो, 'अग्गाभूमी जिणवरस्स'^७ ॥
२०६. छउमत्थप्परियाओ^८, वाससहस्सं ततो पुरिमताले^९ ।
णगोहस्स^{१०} य हेट्ठा, उप्पन्नं केवलं नाणं^{११} ॥
२०७. 'फग्गुणबहुले एक्कारसीइ'^{१२} अह अट्ठमेण भत्तेणं^{१३} ।
उप्पन्नम्मि अणंते, महव्वया पंच पण्णवए^{१४} ॥
- २०७/१. उप्पण्णम्मि अणंते, नाणे जर-मरण-विप्पमुक्कस्स ।
तो देव-दाणविंदा, करेति महिमं जिणिंदस्स^{१५} ॥
२०८. उज्जाणपुरिमताले, पुरी विणीयाइ तत्थ नाणवरं ।
चक्कुप्पया य भरहे, निवेदणं चेव दोणहं पि^{१६} ॥
२०९. तातम्मि^{१७} पूइते चक्कपूयितं^{१८} पूयणारिहो तातो^{१९} ।
इहलोइयं तु चक्कं, परलोगसुहावओ तातो^{२०} ॥
२१०. सह मरुदेवाइ^{२१} निग्गतो, कधणं पव्वज्ज उसभसेणस्स ।
बंभी मरीइदिक्खा^{२२}, सुंदरिओरोध^{२३} सुतदिक्खा^{२४} ॥

१. पल्हगा (म), पण्हवा (स्वो), पण्हगा (को) ।

२. 'णुसिद्धा (ब, स, स्वो, को) ।

३. स्वो २६३/१७०२ ।

४. 'सिरी (म, रा, ला, को) ।

५. 'सगो (अ, ब, हा, दी) ।

६. 'वओ य (रा) ।

७. अग्गाभूमी जिण' (स्वो २६४/१७०३), जा जिणिंदस्स (को)

८. 'त्थपरि' (रा), 'त्थपरी' (स्वो) ।

९. पुरम' (अ) ।

१०. लग्गोधस्स (स्वो.), निग्गो' (म) ।

११. स्वो २६५/१७०४ ।

१२. 'बहुलेकारसी य (स्वो) ।

१३. पुव्वण्हे (स्वो) ।

१४. स्वो. २६६/१७०५ ।

१५. स्वो. २६७/१७०६, जिणंदस्स (अ), यह गाथा भाष्य तथा टीकाओं में निगा के क्रम में उल्लिखित है किन्तु चूर्ण में

इसका संकेत नहीं है । यह गाथा भाष्य की प्रतीत होती है क्योंकि २०७ की गाथा के 'उप्पण्णम्मि अणंते' इस पूरे चरण का इसमें पुनरावर्तन हुआ है ।

१६. स्वो २६८/१७०७, इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में अन्यकर्तृकी उल्लेख के साथ निम्न गाथा अतिरिक्त मिलती है—

आउहवरसालाए, उप्पन्नं चक्करयण भरहस्स ।

जक्खसहस्सपरिवुडं, सव्वं रयणामयं चक्कं ॥

१७. ताइम्मि (अ) ।

१८. 'पूयं (अ, ब) ।

१९. चक्कं (अ) ।

२०. स्वो. २६९/१७०८ ।

२१. 'देवीइ (म, रा) ।

२२. मरीइ' (स) ।

२३. सुंदरी' (ला, हा, दी) ।

२४. स्वो २७०/१७०९, २०८-१० तक की तीन गाथाओं का प्रतीक चूर्ण में नहीं मिलता मात्र संक्षिप्त भावार्थ मिलता है ।

२११. पंच य पुत्तसयाइं, भरहस्स य 'सत्त नत्तुयसयाइं'^१।
सयराहं^२ पव्वइता, तम्मि कुमारा समोसरणे^३ ॥
- २११/१. भवणवति^४-वाणमंतर-जोइसवासी-विमाणवासी य।
सव्विड्डीइ^५ सपरिसा^६, कासी नाणुप्पयामहिमं^७ ॥
- २११/२. दट्ठूण कीरमाणिं^८, महिमं देवेहि खत्तिओ मरिई^९।
सम्मत्तलद्धबुद्धी, धम्मं सोऊण पव्वइओ^{१०} ॥
- २११/३. सामाइयमाईयं, एक्कारसमाउ जाव अंगाओ।
उज्जुतो भत्तिगतो, अहिज्जितो सो गुरुसगासे^{११} ॥
२१२. मागहमादी विजओ, 'सुंदरिपव्वज्ज बारसभिसेओ'^{१२}।
'आणवण भाउगाणं, समुसरणे'^{१३} पुच्छ दिट्ठतो^{१४} ॥
२१३. बाहुबलिकोवकरणं^{१५}, निवेदणं चक्कि^{१६} देवताकहणं।
नाहम्मेणं जुज्जे, दिक्खा पडिमा पतिण्णा य^{१७} ॥

१. पत्त नत्तुसयाइं (अ)।

२. सयराहमिति देशीवचनं युगपदर्थभिधायकं त्वरिताभिधायकं वेति मटी।

३. स्वी २७१/१७१०

४. 'वई (म)।

५. सव्विड्डीइ (ब, दी, हा), 'ड्डीई (म)।

६. सपुरि (अ)।

७. स्वी २७२/१७११, २११/१, २ ये दोनों गाथाएं व्याख्या ग्रंथों में निगा के क्रम में उल्लिखित हैं किन्तु चूर्णि में इनका कोई उल्लेख नहीं है। यहां ये गाथाएं प्रक्षिप्त सी लगती हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से भी ये क्रमबद्ध नहीं लगती।

८. 'माणो (स)।

९. मिरीयी (स्वी २७३/१७१२), मिरीई (को)।

१०. इस गाथा के बाद सभी हस्तप्रतियों में निम्न अन्यकर्तृकी गाथा मिलती है—

मागह-वरदाम पभास, सिंधु खंडप्पवायतमिसगुहा।

सट्ठिं वाससहस्से, ओयविउं आगओ भरहो ॥

११. 'सगासि (को), स्वी २७४/१७१३, यह गाथा दोनों भाष्यों में निगा के क्रम में उल्लिखित है। टीकाओं में यह अह अन्यथा... (गा. २१५) से पूर्व भाष्य गाथा (हाटीभा ३७) के

क्रम में व्याख्यात है। चूर्णि में बाहुबलि..... (गा. २१३) के बाद इसका संक्षिप्त भावार्थ मिलता है। (द्र. टिप्पण २१४)

१२. 'रिउवरोध' (स्वी), बारसभिसेय सुंदरीदिक्खा (स, दी)।

१३. आगमण भातुआणं ओसरणे (स्वी)।

१४. स्वी २७५/१७१४।

१५. 'कोध' (स्वी)।

१६. चक्क (अ, ब)।

१७. स्वी (२७६/१७१५, इस गाथा के बाद पठमंदिट्ठीजुद्धं.... (स्वी १७१६, को १७२६, हाटीभा ३२) तथा सो एवं.... (स्वी १७१७, को १७२७, हाटीभा ३३) ये दो मूल भाष्य गाथाएं मिलती हैं। हस्त प्रतियों में इन गाथाओं के बाद निम्न दो अन्यकर्तृकी गाथाएं मिलती हैं—

ताहे चक्कं मणसीकरेइ पते य चक्करयणम्मि।

बाहुबलिणा य भणियं, धिरत्थु रज्जस्स तो तुज्झं ॥

चिंतेइ य सो मज्झं, सहोयरा पुव्वदिक्खिया नाणी।

अहयं केवलि होउं, वच्चेहामी टिओ पडिमं ॥

इन दो गाथाओं के बाद संवच्छरेण.... से लेकर सामाइयमादीयं (स्वी १७२८-२९, को १७२८-३१, हाटीभा ३४-३७) तक की चार मूल भाष्य गाथाएं मिलती हैं। टीकाकार हरिभद्र ने इन गाथाओं के लिए भाष्यगाथा का उल्लेख किया है। छठी 'सामाइयमादीयं' गाथा को हमने निगा के क्रम में जोड़ा है। (देखें टिप्पण २१४ गा. का)

२१४. सामाड्यमाईयं, एक्कारसमाउ जाव अंगाओ।
उज्जुतो भतिगतो, अहिज्जितो सो गुरुसगासे^१ ॥
२१५. अह अन्नया कयाई, गिम्हे उण्हेण परिगयसरीरो।
अण्हाणएण चइओ, इमं कुलिगं विचिंतेइ^२ ॥
२१६. मेरुगिरीसमभारे, न हुमि^३ समत्थो मुहुत्तमवि वोढुं।
सामण्णए गुणे गुणरहितो संसारमणुकंखी^४ ॥
२१७. एवमणुचिंतयंतस्स, तस्स नियगा मती समुप्पण्णा।
लद्धो मए उवाओ, जाता मे सासता बुद्धी^५ ॥
२१८. समणा तिदंडविरता, भगवंतो निहुयसंकुचितगत्ता^६।
अजिइंदियदंडस्स तु होउ तिदंडं महं^७ चिंधं ॥
२१९. लोइंदियमुंडा संजता उ अहगं खुरेण ससिहो य।
थूलगपाणिवहाओ, वेरमणं मे सया होउ^८ ॥
२२०. निक्किंचणा य समणा, अकिंचणा मज्झ किंचणं होउ।
सीलसुगंधा समणा, अहयं सीलेण दुग्गंधो^९ ॥
२२१. ववगतमोहा समणा, मोहच्छण्णस्स छत्तयं होउ।
अणुवाणहा^{१०} य समणा, मज्झं तु^{११} उवाणहा^{१२} होंतु^{१३} ॥
२२२. सुक्कंबरा य समणा, निरंबरा मज्झ धाउरत्ताइं।
होंतु इमे^{१४} वत्थाइं, अरिहो मि^{१५} कसायकलुसमती^{१६} ॥

१. यह गाथा दोनों भाष्यों में दृष्टान्त....(२११/२) के बाद निगा के क्रम में उल्लिखित है। किन्तु वहां विषयवस्तु की दृष्टि से अप्रासंगिक सी लगती है। हा, म और दो में यह गाथा मूलभाष्य (हाटीभा ३७) के क्रम में मिलती है। दोनों भाष्यों में भी यह गाथा भाष्यगाथा (स्वो १७२१, को १७३१) के क्रम में पुनरुक्त हुई है। चूर्ण में बाहुबलि....(२१३) की व्याख्या के बाद इस गाथा की संक्षिप्त व्याख्या मिलती है। इसके साथ वाली पांच भाष्य-गाथाओं का वहां कोई उल्लेख नहीं है अतः हमने चूर्ण के क्रम को संगत मानकर इस गाथा को यहां निगा के क्रम में जोड़ा है। इस गाथा को यहां निगा के क्रम में न जोड़ने से बाहुबलि (२१३) के बाद अह अन्नया (२१५) की गाथा का संबंध नहीं बैठता है। देखें गा. २११/३ का टिप्पण।

२. स्वो २७७/१७२२।

३. हुम (अ, रा), हुवि (म)।

४. स्वो २७८/१७२३, इसका उत्तरार्ध विभा में इस प्रकार है—

समणगुणे गुणरहिओ, अहगं संसारमणुकंखी (को)
सामण्णए गुणो गुणरहितो अहयं संसारं (स्वो)

५. स्वो २७९/१७२४।

६. "चियअंगा (अ, ब, म, हा, दी)।

७. ममं (स्वो २८०/१७२५)।

८. स्वो २८१/१७२६।

९. स्वो २८२/१७२७।

१०. "वाहणा (अ, ब, स, हा, दी)।

११. च (रा, ला)।

१२. "वाहणा (अ, ब, स, हा, दी)।

१३. हुतं (स), स्वो २८३/१७२८।

१४. य मे (को)।

१५. मे (अ, रा, हा), स्वो २८४/१७२९।

१६. इस गाथा का उत्तरार्ध स्वो में इस प्रकार है—
अरिहा कासाईओ, कसायकलुसाउलमतस्स।

२२३. वज्जंतऽवज्जभीरू^१, बहुजीवसमाउलं जलारंभं ।
होउ मम परिमितेणं, जलेण ण्हाणं च पियणं च^२ ॥
२२४. एवं सो रुइयमती^३, नियगमतिविगप्पियं इमं लिंगं ।
तद्धितहेउसुजुत्तं, पारिव्वज्जं पवत्तेति^४ ॥
२२५. अह तं पागडरूवं, दट्ठं पुच्छेइ^५ बहुजणो धम्मं ।
'कहइ जईणं तो सो'^६, वियालणे तस्स परिकहणा ॥
२२६. धम्मकहाअक्खित्ते, उवट्ठिते देति^७ भगवओ^८ सीसे ।
गाम-नगराइयाइ^९, विहरति सो सामिणा^{१०} सद्धिं^{११} ॥
२२७. समुसरण भत्त उग्गह, अंगुलि झय सक्क सावया अहिया ।
'जेया वट्ठति'^{१२} कागिणिलंछण अणुसज्जणा अट्ठ^{१३} ॥
२२८. राया आदिच्चजसे, महाजसे अतिबले स बलभदे ।
बलविरिए कत्तविरिए, जलविरिए^{१४} दंडविरिए य^{१५} ॥
- २२८/१. एतेहि अद्धभरहं, सयलं भुत्तं सिरेण धरिओ य ।
पवरो जिणंदमउडो, सेसेहि न चाइओ वोदुं^{१६} ॥
२२९. अस्सावगपडिसेधे, छट्ठे छट्ठे य मासि अणुयोगो^{१७} ।
कालेण य मिच्छत्तं, जिणंतरे साधुवोच्छेदो^{१८} ॥
२३०. दाणं च माहणाणं, वेए कासी य पुच्छ निव्वाणं ।
कुंडा थूभ जिणहरे, कविलो भरहस्स दिक्खा य^{१९} ॥

१. वज्जेति* (चू), वज्जंति* (स्वो) ।

२. स्वो २८५/१७३० ।

३. भइत* (चू) ।

४. ततो कासी (अपा, लापा, बपा, मटीपा, हाटीपा), स्वो २८६/१७३१ ।

५. पुच्छिंसु (बपा, अपा, लापा, मटीपा, हाटीपा), पुच्छे (स्वो) ।

६. कहती सुजतीणं सो (मटीपा, हाटीपा), कहइ सुजईणं सो (अपा, लापा, बपा), कहयइ जं ताणं तो (को), कधयति जतीणं तो सो (स्वो २८७/१७३२) ।

७. देउ (अ) ।

८. सामिणो (को, स्वो) ।

९. नगरागरीदी (अ, स्वो), 'गराई (म) ।

१०. सामिणो (रा) ।

११. स्वो २८८/१७३३ ।

१२. जेया वट्ठई ति प्राकृतशैल्या जितो (मटी) ।

१३. स्वो २८९/१७३४ ।

१४. x (रा) ।

१५. स्वो २९०/१७३५ ।

१६. इस गाथा का उत्तरार्ध को में इस प्रकार है—जिणसंतिओ य मउडो, सेसेहिं न चाइओ वोदुं, यह गाथा हा, म, दी टीका में निगा के क्रम में व्याख्यात है। चूर्ण में इस गाथा का प्रतीक नहीं मिलता किन्तु संक्षिप्त भावार्थ है। स्वो में यह टिप्पण में दी हुई है। को में यह भाष्यगाथा १७४६ के रूप में संकेतित है। यह गाथा भाष्य की ही प्रतीत होती है।

१७. अणियोगो (स्वो) ।

१८. स्वो २९१/१७३६ ।

१९. स्वो २९२/१७३७, चिरंतणगाहा (चू) ।

२३१. पुणरवि य समोसरणे, पुच्छीय^१ 'जिणं तु'^२ चक्किणो भरहे।
अप्पुट्ठो य दसारे, तित्थयरो को इहं भरहे^३? ॥
२३२. जिण-चक्कि-दसाराणं, वण्ण-पमाणाइ नाम-गोत्ताइ।
आउ-पुर-माइ-पितरो, परियाय-गतिं च साहीय^४ ॥
- २३२/१. अह भणति जिणवरिदो, 'भरहे वासम्मि जारिसो अहयं'^५।
एरिसया तेवीसं, अन्ने होहिंति तित्थयरा^६ ॥
२३३. होही^७ अजितो संभव, अभिनंदण सुमति सुप्पभ सुपासो।
ससि-पुप्फदंत-सीतल, सेज्जंसो वासुपुज्जो य^८ ॥
२३४. विमलमणंतइ धम्मो, संती कुंथू अरो य मल्ली य।
मुणिसुब्बय नमि नेमो, पासो तह वद्धमाणो य^९ ॥
- २३४/१. अह भणति नरवरिदो, भरहे वासम्मि जारिसो 'उ अहं'^{१०}।
तारिसया^{११} कइ अण्णे, ताया! होहिंति रायाणो^{१२}? ॥
- २३४/२. अह भणति जिणवरिदो, जारिसओ तं नरिंदसदूलो।
'तारिसया'^{१३} एक्कारस'^{१४}, अण्णे होहिंति रायाणो ॥
२३५. होही^{१५} सगरो मच्चवं, सणंकुमारो य रायसदूलो।
संती कुंथू य अरो, होइ सुभूमो^{१६} य कोरव्वो^{१७} ॥

१. पुच्छई य (रा)।

२. जिणे य (बपा, लापा)।

३. स्‍वो २९३/१७३८।

४. साहीया(को), आहेया (स्‍वो २९४/१७३९), इस गाथा के बाद जारिसगा.....(स्‍वो १७४०, को १७५१, हाटीभा ३८) गाथा मूभा. उल्लेख के साथ सभी हस्तप्रतियों एवं टीकाओं में मिलती है। चूर्ण में भी इसकी संक्षिप्त व्याख्या मिलती है।

५. जारिसओ नाणदंसणेहि अहं (को), जारिसओ नाणदंसणेण अहं (स्‍वो)।

६. स्‍वो २९५/१७४१, यह गाथा भाष्य तथा टीकाओं में निगा के क्रम में व्याख्यात है किन्तु यह गाथा भाष्य की प्रतीत होती है। क्योंकि भाष्यगाथा जारिसगा.....(स्‍वो १७४०) में शिष्य ने जो प्रश्न किया है उसी का उत्तर इस गाथा में है अतः यह भाष्यगाथा से जुड़ती है। निर्युक्तिकार भाष्यकार के पूर्व हुए हैं अतः यह गाथा भाष्य की होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त इसी शैली में लिखी हुई आगे आने वाली गाथाओं को दोनों विभा में निगा के क्रम में स्‍वीकृत नहीं किया है। इसके निर्युक्ति न होने का एक

कारण यह भी है कि २३२ की द्वारागाथा सीधी २३३ से जुड़ती है।

७. होहिंति (म, स्‍वो)।

८. स्‍वो २९६/१७४२।

९. स्‍वो २९७/१७४३,

१०. अहयं (रा)।

११. तारिसिया (हाटी), एरिसिया (रा)।

१२. २३४/१, २ ये दोनों गाथाएं टीकाओं में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं। चूर्ण में इन दोनों गाथाओं का एक पंक्ति में संकेत मात्र है। स्‍वो में ये दोनों गाथाएं निगा के क्रम में उल्लिखित नहीं हैं किन्तु टिप्पण में दी हुई हैं। को में ये भाष्य गाथा के क्रम में हैं। ये भाष्य की गाथाएं ही प्रतीत होती हैं। (द्र. टिप्पण २३२/१)

१३. एरिसया (अ, ब, दी, हा)।

१४. तारिसया उ इगारस (म)।

१५. होहिंति (स्‍वो), भरहो (को)।

१६. सुधम्मो (स्‍वो)।

१७. स्‍वो २९८/१७४४, समग्र २३६/१।

२३६. नवमो य महापउमो, हरिसेणो चेव रायसडूलो।
जयनामो य नरवती, बारसमो बंभदत्तो य' ॥
- २३६/१. पउमाभ-वासुपुज्जा, रत्ता ससि-पुण्फदंत ससि-गोरा।
सुव्वयनेमी काला, पासो मल्ली पियंगाभा' ॥
- २३६/२. 'वर-कणगतवियगोरा'^१, सोलसतित्थंकरा मुणेयव्वा।
एसो वण्णविभागो, चउवीसाए जिणवरानं'^२ ॥
- २३६/३. पंचेव अट्ठपंचम, चत्तारऽद्धुत्त तह तिगं चेव।
अड्डाइज्जा दोण्णि य, दिवड्डुमेगं धणुसतं च ॥
- २३६/४. नउई असीइ सत्तरि, सट्ठी पण्णास होति नायव्वा।
पणयाल चत्त पणतीस, तीस पणवीस वीसा य ॥
- २३६/५. पण्णरस दस धणूणि य, नव पासो सत्तरयणिओ वीरो।
नामा पुव्वुत्ता खलु, तित्थगराणं मुणेयव्वा ॥
- २३६/६. मुणिसुव्वओ य अरिहा, अरिड्डुनेमी य गोयमसगोत्ता।
सेसा तित्थगरा खलु, कासवगोत्ता मुणेयव्वा ॥
- २३६/७. इक्खगभूमि उज्झा, सावत्थि' विणीय'^५ कोसलपुरं च।
कोसंबी वाणारसि, चंदाणण तह य काकंदी ॥

१. स्‍वो २९९/१७४५, समप्र २३६/२, इस गाथा के बाद होहिंति से लेकर एते खलु तक की पांच गाथाएं सभी हस्तप्रतियों में मूभा. व्या. उल्लेख के साथ मिलती हैं। (स्‍वो १७४६-५०) एवं (को १७५९-६३) में भी ये भागा के क्रम में हैं। (हाटीभा ३९-४३) तथा (मटीभा. ३९-४३) में ये भाष्य गाथा के क्रम में मिलती हैं। चूर्णि में चविकदुगं (गा. २४२) के बाद इन सभी गाथाओं का संकेत मिलता है।

२. २३६/१-४० तक की ४० गाथाएं हा, म, दी में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु दोनों भाष्यों में यह निगा के रूप में संकेतित नहीं हैं। इन गाथाओं में तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती आदि के वर्ण, प्रमाण, संस्थान आदि का वर्णन है। चूर्णिकार ने मात्र इतना उल्लेख किया है—‘तेसिं वण्णो पमाणां णामं.....वत्तव्वया विभासियव्वा।’ ये सब गाथाएं बाद में प्रक्षिप्त सी लगती हैं क्योंकि निर्युक्तिकार संक्षिप्त शैली में अपनी बात कहते हैं। ये सभी गाथाएं स्‍वो में टिप्पण में दी हुई हैं। इनमें २३६/१७, १८, २०, २१, २६, २८, ३०, ३८, ३९, ४०—ये १० गाथाएं स्‍वो एवं को में भाष्य गाथा के क्रम में हैं तथा चूर्णि में भी इन गाथाओं का संकेत मिलता है। टीका, भाष्य एवं चूर्णि की गाथाओं में बहुत अधिक क्रम व्यत्यय मिलता है। इन सभी गाथाओं को निगा के क्रम में न रखने पर भी २३६ वीं गाथा विषयवस्तु की दृष्टि से गा. २३७ से जुड़ती है।

३. वरतवियकणगं (अ, ला)।

४. इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में अन्‍या. व्या. उल्लेख के साथ निम्न अन्‍यकर्तृकी गाथा मिलती है—
उसभो पंचधणुसयं, नव पासो सत्तरयणिओ वीरो।
सेसट्ठ पंच अट्ठ य, पण्णा दस पंच परिहीणा ॥

५. सावत्थी (ब, स, दी, हा)।

६. विणिय (अ, हा, दी)।

- २३६/८. भदिलपुर^१ सीहपुरं, चंपा कंपिल्ल^२ उज्झ रयणपुरं।
तिण्णेव गयपुरम्मी, मिहिला तह चेव रायगिहं ॥
- २३६/९. मिहिला सोरियनगरं^३, वाणारसि तह य होति कुंडपुरं।
उसभादीण जिणाणं, जम्मणभूमी जहासंखं ॥
- २३६/१०. मरुदेवि विजय सेणा, सिद्धत्था मंगला सुसीमा य।
पुहवी लक्खण रामा^४, नंदा विण्हू जया सामा^५ ॥
- २३६/११. सुजसा सुव्वया^६ अइरा, सिरीदेवी^७ य^८ पभावई।
पउमावई य वप्पा य^९, सिव वप्पा तिसलया^{१०} इय^{११} ॥
- २३६/१२. नाभी जितसत्तू या^{१२}, जियारी संवरे इय।
मेघे धरे पइट्ठे य, महासेणे^{१३} य खत्तिए^{१४} ॥
- २३६/१३. सुग्गीवे दढरहे विण्हू, वसुपुज्जे य खत्तिए।
कयवम्मा सीहसेणे य, भाणू वीससेणे^{१५} इय ॥
- २३६/१४. सूरु सुदंसणे कुंभे, सुमित्तविजए^{१६} समुहविजए य।
राया य अस्ससेणे, सिद्धत्थे वि य खत्तिए^{१७} ॥
- २३६/१५. सव्वे वि गता मोक्खं, जाइ-जरा-मरण-बंधणविमुक्का।
तित्थगरा भावंतो, सासयसोक्खं^{१८} निराबाहं ॥
- २३६/१६. सव्वे वि एगवण्णा, निम्मल-कणगप्पभा मुणेयव्वा।
छक्खंडभरहसामी, तेसि पमाणं अओ वोच्छं ॥
- २३६/१७. पंचसय अद्धपंचम, बायालीसा^{१९} य अद्धधणुगं च।
‘इगुयाल’^{२०} धणुस्सद्धं^{२१}, च चउत्थे पंचमे चत्ता^{२२} ॥

१. 'पुरं' (म)।

२. कप्पिल (अ), कंपिला (रा, ला)।

३. सोरियपुरं (अ)।

४. सामा (हा, दी), नामा (रा)।

५. रामा (हा, दी) समप्र २२१/१।

६. सुव्वय (अ, ब, म)।

७. सिरीदेवी (म), सिरिया देवी (समप्र)।

८. x (हा, दी, रा)।

९. x (अ, म)।

१०. तिसला (अ, रा, दी, हा)।

११. समप्र (२३१/२) में इसका उत्तरार्ध इस प्रकार मिलता है—
पउमा वप्पा सिवा य, वामा तिसला देवी य जिणमाथा।

१२. य (म)।

१३. महसेणे (अ, ब, हा, दी, समप्र २२०/१)।

१४. प्रथम चरण आर्या में तथा तीन चरण अनुष्टुप् में हैं।

१५. विस्स (रा, समप्र २२०/२), विस (हा, दी)।

१६. सुमित्तु (ब, हा, ला, दी)।

१७. प्रथम तथा अंतिम चरण में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग है, समप्र २२०/३,
प्रकाशित मटी में यह गाथा अनुपलब्ध है।

१८. 'मुक्खं' (अ)।

१९. बायाला (को), बाताला, (स्वो)।

२०. अगुयाल (अ), इगुयाल (ब, हा)।

२१. चत्ता दिवड्धणुगं (स्वो, को, चू)।

२२. सत्त (म), स्वो १७५४, देखें गा. २३६/१ टिप्पण।

- २३६/१८. पणतीसा तीसा पुण, अट्ठावीसा य वीसइ^१ धणूणि।
पण्णरस बारसेव य, अपच्छिमो सत्त य^२ धणूणि^३ ॥
- २३६/१९. कासवगुत्ता सव्वे, चउदसरयणाहिवा समक्खाता।
देविंदवंदितेहिं, जिणेहि जितरागदोसेहिं ॥
- २३६/२०. चउरासीती^४ बावत्तरी य 'पुव्वाण सयसहस्साइ'^५।
पंच य तिण्णि य 'एणं, च सतसहस्सा उ वासाणं'^६ ॥
- २३६/२१. पंचाणउतिसहस्सा, चउरासीती य 'अट्ठमे सट्ठी'^७।
'तीसा य दस य तिण्णि य'^८, अपच्छिमे सत्तवाससया^९ ॥
- २३६/२२. जम्मण विणीय उज्झा, सावत्थी पंच हत्थिणपुरम्मि।
वाणारसि कंपिल्ले, रायगिहे चेव कंपिल्ले ॥
- २३६/२३. सुमंगला जसवई भदा सहदेवि अइर सिरिदेवी।
तारा जाला मेरा, 'य वप्पगा तह य चुलणी'^{१०} य'^{११} ॥
- २३६/२४. उसभे सुमित्तविजए, समुद्विजए य अस्ससेणे य।
तह वीससेण^{१२} सूरै, सुदंसणे 'कत्तविरि ए य'^{१३} ॥
- २३६/२५. पउमुत्तरे महाहरि^{१४}, विजए राया तहेव बंधे य।
ओसप्पिणी इमीसे, पिउनामा चक्कवट्ठीणं^{१५} ॥
- २३६/२६. अट्ठेव गता मोक्खं, सुभुमो^{१६} बंधो य सत्तमिं पुढविं।
मघवं सणंकुमारो^{१७}, सणंकुमारं गता^{१८} कप्पं^{१९} ॥
- २३६/२७. वण्णेण वासुदेवा, सव्वे नीला बला य सुक्किलया।
एतेसि देहमाणं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

१. वीस य (स्वो)।

२. तु (स्वो)।

३. स्वो १७५५, द्र. टिप्पण २३६/१।

४. 'सीति (को)।

५. 'णमाहिता एते (स्वो, को)।

६. मेणं तु एवमेते सतसहस्सा (स्वो. १७५६), द्र. टिप्पण गा. २३६/१।

७. सट्ठि तीसा य (स्वो)।

८. दस तिण्णि सहस्साइं (स्वो)।

९. स्वो १७५७, द्र. टिप्पण गा. २३६/१।

१०. चुल्लणी (म), चूलणी (ब, हा, दी)।

११. वप्पा चुलणी अपच्छिमा (समप्र २३५/१)।

१२. विस्स (ला), विस्ससेण (रा)।

१३. कत्ति (रा), समप्र २३४/१।

१४. 'हरी (म)।

१५. तु. समप्र २३४/२।

१६. सुहुमो (अ, म, हा, स्वो)।

१७. 'कुमारा (म)।

१८. गयं (अ)।

१९. स्वो १७५८, द्र. टिप्पण गा. २३६/१।

- २३६/२८. पढमो धणूणसीती^१, सत्तरि सट्ठी य पण्ण पणयाला।
अउणत्तीसं च धणू, छव्वीसा सोलस दसेव^२ ॥
- २३६/२९. बलदेव-वासुदेवा, अट्ठेव हवंति गोयमसगोत्ता।
नारायण-पउमा पुण, कासवगोत्ता मुणेयव्वा ॥
- २३६/३०. चउरासीति बिसत्तरि, सट्ठी तीसा य दस य लक्खाइं।
पण्णट्ठिसहस्साइं, छप्पण्णा बारसेगं च^३ ॥
- २३६/३१. पंचासीई पण्णतरी य पण्णट्ठि पंचवण्णा य।
सत्तरस सतसहस्सा, पंचमए आउगं होति ॥
- २३६/३२. पंचासीइ सहस्सा, पण्णट्ठी 'तह य चेव'^४ पण्णरस।
बारससयाइ आउं, बलदेवाणं जहासंखं ॥
- २३६/३३. पोयण बारवइतिगं, अस्सपुरं तह य होति चक्कपुरं।
वाणारसि रायगिहं, अपच्छिमो जाओं महुराए ॥
- २३६/३४. मिगावती उमा चेव, पुहवी सीया य अम्मया।
लच्छिमई^५ सेसमई, केकई^६ देवई इय^७ ॥
- २३६/३५. 'भद्द सुभद्दा'^८ सुप्पभ, सुदंसणा विजय वेजयंती य।
तह य^९ जयंती अपराजिता य तह रोहिणी चेव^{१०} ॥
- २३६/३६. हवइ पयावति बंभो, रुद्धो सोमो सिवो महसिवो य।
अगिसिहे^{११} य दसरहे, नवमे भणिते य वसुदेवे ॥

१. धणूणमसिति (चू), 'णसीति' (स्वो), धणूसई (ला), धणूणि (रा)।

२. स्वो १७६१, द्र. टिप्पण २३६/१।

३. स्वो १७६२, द्र. टिप्पण २३६/१।

४. चेव तह य (म)।

५. लच्छी (ब, हा, दी), 'वई (रा)।

६. केगमई (अ, दी, ला, हा)।

७. गाथा का अंतिम चरण अनुष्टुप् छंद में है, समप्र २३९/१।

८. भद्दा सुभद्द (म)।

९. X (अ)।

१०. समप्र २४०/१ में इसके स्थान पर निम्न पाठ मिलता है—

भद्दा तह सुभद्दा य, सुप्पभा य सुदंसणा।

विजया य वेजयंती, जयंती अपराइया ॥

णवमिया रोहिणी बलदेवाण मायरो ॥

११. अगिसोहे (म)।

- २३६/३७. परियाओ पव्वज्जाऽभावाओ नत्थि वासुदेवाणं ।
होति बलाणं सो पुण, पढमऽणुयोगाओ नायव्वो^१ ॥
- २३६/३८. एगो य सत्तमाए, पंच य छट्ठीइ पंचमी^२ एगो ।
एगो य चउत्थीए, कण्हो पुण तच्चपुढवीए^३ ॥
- २३६/३९. अट्ठंतगडा रामा, एगो पुण बंभलोगकप्पम्मि ।
उववण्णु तओ चइउं, सिज्झिस्सइ भारहे वासे^४ ॥

१. इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में गाथा 'नवकं ऽन्याऽव्या' उल्लेख के साथ ९ अन्यकर्तृकी गाथाएं मिलती हैं। हाटी में ये टिप्पण दो दृष्ट हैं—

वीसभूइ पव्वइए, धणदत्त समुदत्त सेवाले ।
पियमित्त ललियमित्ते, पुणव्वसू गंगदत्ते य ॥१॥
समप्र २४२ गा. १

एयाइ नामाई, पुव्वभवे आसि वासुदेवाणं ।
इत्तो बलदेवाणं, जहक्कमं कित्तइस्सामि ॥२॥
समप्र २४२ गा. २

विस्सनंदी सुबुद्धी य, सागरदत्ते असोय ललिते य ।
वाराह धणसेणे, अपराइय रायललिते य ॥३॥
समप्र २४२ गा. ३

संभूत सुभद सुदंसणे य सेज्जंस कण्ह गंगे य ।
सागर समुदत्तामे, दमसेणे अपच्छिमे ॥४॥
तु. समप्र २४३ गा. १

एते धम्मायरिया, कितीपुरिसाण वासुदेवाणं ।
पुव्वभवे आसीया, जत्थ निदाणाइ कासी य ॥५॥
समप्र २४३ गा. २

महुरा य कणगवत्थू, सावत्थी पोयणं च रायगिहं ।
कायंदी मिहिला वि य, वाणारसि हत्थिणपुरं च ॥६॥
तु. समप्र २४४ गा. १

गावी जूए संगामे, इत्थी पाराइए य रंगम्मि ।
भज्जाणुराग गुट्ठी, परइट्ठी माउगा इय ॥७॥
समप्र २४५ गा. १

महसुक्का पाणय लंतगा उ सहसारओ य माहिंदा ।
बंभा सोहम्म सणंकुमार नवमो महासुक्का ॥८॥

तिण्णेवणुत्तरेहिं, तिण्णेव भवे तहा महासुक्का ।
अवसेसा बलदेवा, अणंतरं बंभलोगचुया ॥९॥

२. पंचमा (ग, ला) ।

३. स्त्रो १७६३, समप्र २४७/१, द्र. टिप्पण २३६/१ ।

४. इस गाथा के उत्तरार्ध के पाठांतर निम्न प्रकार से मिलते हैं—

उववन्नो तत्थ भोए, भुत्तं अयरोवमं दस उ (म, दो, बपा, लापा)

तत्तो चइं चइत्ताणं, सिज्झिहिती भरधवासम्मि (स्त्रो)

तत्तो वि चइत्ताणं, (को), तु. समप्र २४७/३, स्त्रो १७६५ ।

- २३६/४०. अणिदाणकडा^१ रामा, सव्वे वि य केसवा नियाणकडा ।
उडुंगामी रामा, केसव सव्वे अहोगामी^२ ॥
२३७. उसभो भरहो अजिते, सगरो मघवं सणकुमारो य ।
धम्मस्स य संतिस्स य जिणंतरे चक्कवट्टिदुगं^३ ॥

१. अणिताणकदा (स्वो) ।

२. स्वो १७६४, तु. समप्र २४७/२, २३६/३९, ४० इन दोनों गाथाओं में चूर्णि एवं भाष्य में क्रमव्यत्यय मिलता है। टीका में अट्टित २३६/३९ की गाथा पहले है तथा भाष्य एवं चूर्णि में अणिताण.....२३६/४० वाली गाथा पहले है। इस गाथा के बाद चूर्णि तथा प्रायः सभी टीकाओं में निम्न गाथाएं मिलती हैं—

उसभो वरवसभगती, ततियसमा पच्छिममि कालमि । उप्पण्णो पढमजिणो, भरहपिता भारहे वासे ॥१॥
पण्णासा लक्खेहिं, कोडीणं सागराण उसभाओ । उप्पन्नो अजियजिणो, ततिओ तीसाएँ लक्खेहिं ॥२॥
जिणवसभसंभवाओ, दसहिं लक्खेहि अयरकोडीणं । अभिणंदणो उ भगवं, एवइकालेण उप्पन्नो ॥३॥
अभिणंदणाउ सुमती, णवहिं लक्खेहि अयरकोडीणं । उप्पण्णो सुहपुन्नो, सुप्पभनामस्स वोच्छमि ॥४॥
णउई य सहस्सेहिं, कोडीणं सागराण पुन्नाणं । सुमतिजिणाओ पउमो, एवतिकालेण उप्पन्नो ॥५॥
पउमप्पभनामाओ, नवहिं सहस्सेहि अयरकोडीणं । सुहपुण्णो संपुण्णो, सुपासनामो समुप्पन्नो ॥६॥
कोडीसएहिं नवहि उ, सुपासनामा जिणो समुप्पन्नो । चंदप्पभो पभाए, पभासयंतो उ तेलोक्कं ॥७॥
णउतीएँ कोडीहिं, ससी उ सुविहीजिणो समुप्पन्नो । सुविहिजिणाओ नवहिं, कोडीहिं सीतलो जातो ॥८॥
सीतलजिणाउ भगवं, सेज्जंसो सागराण कोडीए । सागरसयऊणाए, वरिसेहिं तहा इमेहिं तु ॥९॥
छव्वीसाय सहस्सेहि, चेव छावट्टिसयसहस्सेहिं । एतेहि ऊणिया खलु, कोडी मग्गिल्लिया होति ॥१०॥
चउपन्ना अयराणं, सेज्जंसाओ जिणो उ वसुपुज्जो । वसुपुज्जाओ विमलो, तीसहिं अयरेहि उप्पन्नो ॥११॥
विमलजिणो उप्पन्नो, णवहिं तु अयरेहिऽणंतइ जिणो उ । चउसागरनामेहिं, अणंतईओ जिणो धम्मो ॥१२॥
धम्मजिणाओ संती, तिहिं ति-चउभागपलियऊणेहिं । अयरेहिं समुप्पन्नो, पलियद्वेणं तु कुंथुजिणो ॥१३॥
पलियचउब्भागेणं, कोडिसहस्सूणएण वासाणं । कुंथूओ अरणामा, कोडिसहस्सेण मल्लिजिणो ॥१४॥
मल्लिजिणाओ मुणिसुव्वओ य चउपनवासलक्खेहिं । सुव्वयनामातो नमी, लक्खेहिं छहिं तु उप्पन्नो ॥१५॥
पंचहिं लक्खेहिं ततो, अरिट्टनेमी जिणो समुप्पन्नो । तेसीतिसहस्सेहिं, सतेहिं अड्डडुमेहिं वा ॥१६॥
नेमीओ पासजिणो, पासजिणाओ य होति वीरजिणो । अड्डाज्जसएहिं गतेहिं चरिमो समुप्पन्नो ॥१७॥

हा, म, दी में इन १७ गाथाओं के बाद पहले उसभो.....(गा. २३७-३९) आदि तीन गाथाएं हैं। बाद में बत्तीस.....आदि चार निम्न अन्यकर्तृकों गाथाएं हैं। किन्तु चूर्णि तथा सभी हस्तप्रतियों में ये निम्न गाथाएं उपर्युक्त १७ गाथाओं के साथ ही हैं। दीपिकाकार ने भी 'अत्र प्रत्यन्तरे गाथानां व्यत्ययोऽपि दृश्यते' ऐसा उल्लेख किया है—

बत्तीसं धरयाइं, काउं तिरियाययाहि रेहाहिं । उड्डाययाहि काउं, पंच घराइं ततो पढमे ॥१८॥
पन्नरस जिण निरंतर, सुन्न दुगं ति जिण सुन्नतियगं च । दो जिण सुन्न जिणिंदो, सुन्न जिणो सुन्न दोणिजिणा ॥१९॥
दो चक्कि सुण्ण तेरस, पण चक्की सुन्न चक्कि दो सुन्ना । चक्की सुन्न दु चक्की, सुन्नं चक्की दु सुन्नं च ॥२०॥
दस सुन्न पंच केसव, पण सुन्नं केसि सुन्न केसी य । दो सुन्न केसवो वि य, सुन्नदुगं केसव ति सुन्नं ॥२१॥

३. स्वो ३००/१७५१, २३७-३९ ये तीन गाथाएं भाष्य एवं चूर्णि में नवमो य.....(गा. २३६) के बाद कुछ भाष्य गाथाओं के बाद मिलती हैं। किन्तु टीका एवं हस्तप्रतियों में यही क्रम मिलता है।

२३८. संतो कुंधू य अरो, अरहंता चेव चक्कवट्टी य।
‘अर-मल्लि-अंतरे पुण’^१, हवति सुभूमो^२ य कोरव्वो^३ ॥
२३९. मुणिसुव्वते नमिम्मि य, होंति दुवे पडमनाभ-हरिसेणा।
नमि-नेमिसु जयनामो, अरिट्ठपासंतरे^४ बंभो^५ ॥
२४०. पंचऽरहंते^६ वंदंति^७, केसवा पंच आणुपुव्वीए।
सेज्जंस तिविट्ठादी, धम्मपुरिस सीहपेरंता^८ ॥
२४१. अर-मल्लिअंतरे दोण्णि, केसवा पुरिसपोंडरियदत्ता।
मुणिसुव्वयणमिअंतरि, नारायण ‘कण्ह-नेमिसि’^९ ॥
२४२. चक्किदुगं हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव, दुचक्कि केसी य चक्की य^{१०} ॥
२४३. तत्थ मरीईनामं^{११}, आदिपरिव्वायगो उसभनत्ता^{१२}।
सज्झायझाणजुत्तो^{१३}, एगंते झायइ^{१४} महप्पा ॥
२४४. तं दाएति जिणिंदो, एव नरिंदेण पुच्छिओ संतो।
धम्मवरचक्कवट्टी, अपच्छिमो वीरनामो त्ति^{१५} ॥
२४५. आदिगरु^{१६} दसाराणं, तिविट्ठुनामेण^{१७} पोयणाहिवई।
पियमित्तचक्कवट्टी, मूयाइ विदेहवासम्मि^{१८} ॥
२४६. तं वयणं सोऊणं, राया अंचियतणूहसरीरो^{१९}।
अभिवंदिऊण^{२०} पियरं, मरीइमभिवंदओ^{२१} जाति^{२२} ॥

१. ‘मल्ली अंतरे उ (हा, दी), *मल्लिअंतरम्मि य (स्वो)।
२. सुभूमो (स्वो)।
३. स्वो १७५२।
४. रिट्ठं (स)।
५. २३८, २३९—ये दोनों गाथाएं विभा में भाष्य गाथा (को १७६५, १७६६, स्वो १७५२, १७५३) के क्रम में हैं किन्तु ये निर्युक्तिगाथाएं होनी चाहिए क्योंकि २३७ की निर्युक्ति गाथा से ही ये दोनों गाथाएं जुड़ी हुई हैं।
६. ‘रिहंते (हा, अ)।
७. वंदंति (ब), वंदंसु (अपा, लापा, हाटीपा, मटीपा)।
८. स्वो ३०१/१७५९, यह गाथा चूर्णि तथा भाष्य में अट्टेव गया... २३६/२६ के बाद में है। किन्तु हमने टीका एवं हस्तप्रतियों का क्रम स्वीकृत किया है।
९. कण्ह नेमिम्मि (ब, म, स, दी), कण्हो नेमिम्मि (स्वो ३०२/१७६०)।
१०. स्वो ३०३/१७६६, इस गाथा के बाद प्रायः सभी प्रतियों

- में मूलभाष्य की अह भणइ.... (हाटीमूभा. ४४, स्वो १७६७, को १७८०) गाथा मिलती है।
११. ‘नामा (ब, म, हा, दी, ला)।
१२. ‘दत्ता (अ, ला, रा)।
१३. ‘जुओ (म)।
१४. अच्छति (स्वो ३०४/१७६८)।
१५. स्वो ३०५/१७६९।
१६. ‘गरो (चू)।
१७. तिविट्ठं (ब, हा, दी)।
१८. स्वो ३०६/१७७०, द्र. टिप्पण (२४८/१)।
१९. ईंचियं (अ)।
२०. आपुच्छित्तण (स्वो)।
२१. ‘मभिवंदिउं (रा, लापा, बपा, हाटीपा, मटीपा)।
२२. स्वो ३०७/१७७१।

२४७. सो 'विणएण उवगतो', काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो।
वन्दति अभित्थुणंतो, इमाहि महुराहि वग्गूहिं^१॥
२४८. लाभा हुं ते सुलद्धा, जं सि तुमं धम्मचक्कवट्ठीणं।
होहिसि दसचउदसमो, अपच्छिमो वीरनामो ति^२॥
- २४८/१. आदिरु दसाराणं, तिविट्ठुनामेण पोयणाहिवई।
पियमित्तचक्कवट्ठी, 'मूयाइ विदेहवासम्मि'^३॥
२४९. 'णावि य'^४ पारिव्वज्जं, वंदामि अहं इमं च ते जम्मं।
जं होहिसि तित्थगरो, अपच्छिमो तेण वंदामि^५॥
२५०. 'एव ण्हं'^६ थोऊणं, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो।
आपुच्छिऊण पितरं, विणीतनगरिं अह पविट्ठो^७॥
२५१. तव्वयणं^८ सोऊणं, तिवई अप्फोडिऊण तिक्खुत्तो।
अब्भहियजातहरिसो, तत्थ मरीई इमं भणति^९॥
२५२. जइ वासुदेव^{१०} पढमो, 'मूयाइ विदेह'^{११} चक्कवट्ठित्तं।
चरमो^{१२} तित्थगराणं, 'होउ अलं एत्तियं मज्झ'^{१३}॥
२५३. अहगं च दसाराणं, पिता य मे चक्कवट्ठिवंसस्स।
अज्जो तित्थगराणं, अहो कुलं उत्तमं मज्झ^{१४}॥

१. 'एणमुव' (चू)।
२. स्‍वो ३०८/१७७२।
३. हुकारो निपातः स चैवकारार्थः (मवृ)।
४. स्‍वो ३०९/१७७३।
५. मूअविदेहायवासम्मि (स्‍वो ३१०/१७७४), इस गाथा का पुनरावर्तन हुआ है (द्र. गा. २४५), स प्रति के अतिरिक्त प्रायः सभी प्रतियों में इसका प्रथम चरण ही मिलता है। हा, म, दी में इसे पुनः निर्युक्ति गाथा के क्रमांक में नहीं जोड़ा है, मात्र गाथा का संकेत दिया है। दोनों भाष्यों में यह पुनः निगा के क्रम में है (स्‍वो ३०६/१७७०, ३१०/१७७४, को ३०६/१७८३, ३१०/१७८७)।
६. ण वि ते (स्‍वो), णावि अ ते (म)।
७. स्‍वो ३११/१७७५।
८. ण्हं पादपूर्व (दी), ण्हमिति निपातः पूरणार्थो वर्तते (मटी), एवन्नं (चू)।

९. स्‍वो ३१२/१७७६।
१०. तं वयणं (चू)।
११. स्‍वो ३१३/१७७७।
१२. 'देवु (ब, रा, हा, दी)।
१३. मूयविदेहाए (स्‍वो), 'विदेहि (हा, दी). 'विदेहाइ (को)।
१४. चरिमो (म, स, ला)।
१५. स्‍वो ३१४/१७७८, अहो मए एत्तियं लद्धं (हाटीपा, मटीपा, लापा, अपा)
१६. स्‍वो ३१५/१७७९, इस गाथा के बाद अ, ब, ला प्रति में "जारिसया लोगगुरू (हाटीमूभा. ३८) इत्यादारभ्य अंतरा एकादशगाथा विहाय सर्वा अपि भाष्यगाथा संभाव्यन्ते व्या" का उल्लेख मिलता है। जारिसया के बाद हाटी में ६३ निर्युक्ति गाथाएं तथा ५ भाष्य गाथाएं हैं। बीच की कौन सी ११ गाथाएं छोड़ें, यह आज स्पष्ट नहीं है।

२५४. अह भगवं भवमहणो, 'पुव्वाणमणूणं सतसहस्सं'^१ ।
अणुपुव्वि^२ विहरिऊणं, पत्तो अट्ठावयं सेलं^३ ॥
२५५. अट्ठावयम्मि सेले, चउदसभत्तेण सो महरिसीणं ।
दसहि सहस्सेहि समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो^४ ॥
२५६. 'निव्वाण चित्तिगागिई'^५, जिणस्स इक्खवागं सेसगाणं च^६ ।
सकहा धूभ जिणघरे, जायग तेणाहितग्गि ति^७ ॥
२५७. आदंसघरपवेसो, भरहे पडणं च अंगुलीयस्स^८ ।
'सेसाणं उम्मुयणं'^९, संवेगो नाण दिक्खवा य^{१०} ॥
२५८. पुच्छंताण कहेत्ती^{११}, उवट्ठिते^{१२} देइ साहुणो सीसे ।
गेलणि अपडियरणं, कविला इत्थं पि इहयं^{१३} पि^{१४} ॥
२५९. दुब्भासितेण एक्केण, मरीई दुक्खसागरं पत्तो ।
भमिओ कोडाकोडिं^{१५}, सागरसरिनामधेज्जाणं^{१६} ॥
२६०. तम्मूलं संसारो, नीयागोत्तं च कासि तिवइम्मि ।
'अपडिक्कंतो बंधे'^{१७}, कविलो अंतद्धिओ कहए^{१८} ॥
२६१. इक्खागेसु मरीई, चउरासीती^{१९} य बंभलोगम्मि ।
कोसिउ^{२०} कोल्लागम्मी^{२१}, असीतिमाउं^{२२} च संसारे^{२३} ॥
२६२. धूणाइ^{२४} पूसमित्तो, आउं बावत्तरिं च सोहम्मे ।
चेइय अग्गिज्जोओ, चोवट्ठीसाणकप्पम्मि^{२५} ॥

१. संपुण्णं पुव्वसतसहस्सं तु (स्वो, को) ।

२. सामण्णं (स्वो) ।

३. स्वो ३१६/१७८० ।

४. स्वो ३१७/१७८१ ।

५. पेव्वाण चित्तग आगिति (स्वो, को), पेव्वाण चित्ता (ब, चू),
'चित्तगागि (स) ।

६. तु (अ, रा, को) ।

७. स्वो ३१८/१७८२, इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों एवं
टीकाओं में धूभसय... (को १७९६, स्वो १७८३, हाटीमूभा ४५)
मूल भाष्य गाथा मिलती है ।

८. अंगुलेयस्स (स्वो), अंगुलेज्जस्स (को) ।

९. सेसाण य ओमुयणं (स्वो) ।

१०. स्वो ३१९/१७८४ ।

११. कहेइ (हा, दी) ।

१२. उवसंते (स्वो, को) ।

१३. अहयं (अ), इहयं (स्वो) ।

१४. स्वो ३२०/१७८६ ।

१५. °कोडी ।

१६. स्वो ३२१/१७८७ ।

१७. अणालोइए बंभम्मि (स्वो), अणालोइउ बंभम्मि (को) ।

१८. स्वो ३२२/१७८८ ।

१९. चउरासीति (चू) ।

२०. कोसिय (म) ।

२१. कोल्लाएसु य (स्वो) ।

२२. असीई आउं (अ) ।

२३. स्वो ३२३/१७८९ ।

२४. धूणाइ (म) ।

२५. चोवट्ठी चोव ईसाणे (म), चोवट्ठीसाण (अ), चउवट्ठी (ब),
स्वो ३२४/१७९० ।

२६३. मंदिरसु^१ अगिभूती, छप्पण्णाउ^२ सणकुमारम्मि ।
'सेयवि भारद्वाओ'^३, चोयालीसं च माहिंदे ॥
२६४. संसरिय थावरो रायगिहे 'चउतीस बंभलोगम्मि'^४ ।
छस्सु वि पारिव्वज्जं, भमितो ततो य संसारे ॥
२६५. रायगिह विस्सनंदी, विसाहभूती य तस्स जुवराया ।
जुवरण्णो विसभूती^५, विसाहनंदी^६ य इतरस्स^७ ॥
२६६. रायगिह विस्सभूती, विसाहभूइसुतो^८ खत्तिए कोडी ।
वाससहस्सं दिक्खा, संभूतजइस्स पासम्मि ॥
२६७. गोत्तासिउ महराए, सनिदाणो मासिएण भत्तेण ।
महसुक्के उववण्णो, ततो चुओ पोयणपुरम्मि^९ ॥
२६८. पुत्तो पयावइस्सा, मिगावतीदेविकुच्छिसंभूतो^{१०} ।
नामेण तिविडुत्ती, आदी^{११} आसी दसाराणं^{१२} ॥
२६९. चुलसीतिमप्पतिट्ठे^{१३}, सीहो नरगेषु तिरिय-मणुएसु ।
पियमित्त-चक्कवट्ठी, 'मूयाइ विदेहि'^{१४} चुलसीति^{१५} ॥
२७०. पुत्तो धणंजयस्सा, पोट्टिल^{१६} परियाउ कोडि सव्वट्ठे ।
'णंदण छत्तागाए'^{१७}, पणवीसाउं^{१८} सयसहस्सा^{१९} ॥
२७१. पव्वज्ज^{२०} पोट्टिले^{२१} सतसहस्स सव्वत्थ मासभत्तेण ।
पुप्फुत्तरि^{२२} उववण्णो, ततो चुओ माहणकुलम्मि^{२३} ॥

१. मंदिर (अ, म, रा, हा, दी) ।
२. छप्पण्णा उ (हा, दी), छप्पण्णाउं (म, स्वी) ।
३. सेतविय भरद्वायो (स्वी ३२५/१७९१) ।
४. चोतीसं बंभलोगकप्पम्मि, (स्वी ३२६/१७९२) ।
५. विस्सभूई (ब, म, हा, दी स्वी) ।
६. विसाहभूई (अ) ।
७. स्वी ३२७/१७९३ ।
८. 'भूतीसुत (स्वी ३२८/१७९४) ।
९. स्वी ३२९/१७९५ ।
१०. 'संभवो (ब, म, स, रा) ।
११. आई (अ, ब, रा), आई (हा, दी) ।
१२. स्वी ३३०/१७९६ ।
१३. चुलसीई (अ, ब, हा, दी) ।

१४. मूयविदेहाए (स्वी), 'विदेहाई (को), मूया विदेहाइ (म) ।
१५. स्वी ३३१/१७९७ ।
१६. पुट्टिल (ब, म, हा, दी) ।
१७. णंदणो छत्तागाए (स्वी) ।
१८. पणु (स) ।
१९. स्वी ३३२/१७९८ ।
२०. पव्वज्जा (को) ।
२१. पोट्टिल (स), पुट्टिल (अ, म, ब, हा, दी), पोड्डिले (स्वी) ।
२२. पुप्फ (अ), 'त्ते (स्वी) ।
२३. स्वी ३३३/१७९९, २६२-७१ तक को १० गाथाओं का चूर्ण में संकेत नहीं मिलता केवल इन गाथाओं में वर्णित भवान्तरों का संक्षेप में वर्णन मिलता है ।

- २७१/१. अरहंत-सिद्ध-पवयण, गुरु-थेर-बहुस्सुते तवस्सीसुं।
'वच्छलया एतेसि'^१, अभिक्खनाणोवयोगे य॥
- २७१/२. दंसण-विणए आवस्सए य सीलव्वते निरतियारो।
खण-लव-तवच्चियाए, वेयावच्चे समाधी य^२॥
- २७१/३. अप्पुव्वनाणगहणे, सुतभत्ती पवयणे पभावणया।
एतेहि कारणेहिं, तित्थयरत्तं लभति जीवो^३॥
- २७१/४. पुरिमेण^४ पच्छिमेण य, एते सव्वे वि फासिता ठाणा।
मज्झिमाएहि जिणेहिं, एगं दो तिण्णि सव्वे वा॥
- २७१/५. तं च कहं वेइज्जति, अगिलाए धम्मदेसणादीहिं।
बज्झति तं तु भगवतो, ततियभवोसक्कइत्ताणं^५॥
- २७१/६. नियमा मणुयगतीए, इत्थी पुरिसेतरो व सुहलेसो।
आसेवितबहुलेहिं, बीसाए अन्नयरएहिं^६॥
२७२. माहणकुंडगामे, कोडालसगोत्त^७ माहणो अत्थि।
तस्स घरे उव्वण्णो, देवाणंदाइ कुच्छिंसि^८॥
२७३. सुमिणमवहारऽभिग्गह^९, जम्मण अभिसेग बुद्धि सरणं च।
भेसण विवाहऽवच्चे, दाणे संबोध निकखमणे^{१०}॥
२७४. हत्थुत्तरजोगेणं, कुंडगामम्मि खत्तिओ जच्चो।
वज्जरिसभसंघयणो, भवियजणविबोहओ वीरो^{११}॥

१. वच्छल्लता य एसिं (स्वो ३३४/१८००), २७१/१-६ ये छः
गाथाएं पहले भी ऋषभदेव के प्रकरण में आई हुई हैं,
देखें (१३६/९-१४)
२. या (स्वो ३३५/१८०१)।
३. स्वो ३३६/१८०२।
४. पढमेण (स्वो ३३७/१८०३)।
५. स्वो ३३८/१८१६।
६. स्वो ३३९/१८२०।
७. 'गुत्त (ब), 'गुत्ता (म)।
८. स्वो ३४०/१८२१।
९. 'ण ववहार' (अ), सुमिणऽवहारमभि' (म), सुविण' (स्वो)।

१०. स्वो ३४१/१८२२।

११. स्वो ३४३/१८६६, को में यह गाथा निर्युक्ति गाथा के क्रम में
नहीं मिलती है। वहां इस गाथा के स्थान पर निम्नगाथा
मिलती है—

निकखमणकयमतीयं, कुंडगामम्मि खत्तिं वीरं।
हत्थुत्तरजोएणं, लोगतिय आगया एए॥
(को १८८०)

इस गाथा के बाद गय-वसभ से लेकर पंचविहे माणुस्से
(स्वो १८२३, १८२४, १८२७-५९, को १८३६, १८३७,
१८४०-७२, हादीमूभा. ४६-८०) तक की ३५ गाथाएं मूल
भाष्य की हैं। ये गाथाएं सभी हस्तप्रतियों में मिलती हैं।

२७५. सो देवपरिग्गहितो, तीसं वासाइँ वसइ^१ गिहवासे ।
अम्मापितीहि^२ भगवं, देवत्तगतेहि^३ पव्वइतो^४ ॥

२७६. गोवनिमित्तं सक्कस्स, आगमो वागरेति^५ देविंदो ।
कोल्लाग बहुल^६ छट्टस्स, पारणे पयस वसुहारा^७ ॥

‘बीआ वरवरिया समत्ता’

२७७. दूइज्जंतग पितुणो, वयंस तिव्वा अभिग्गहा पंच ।
‘अचियत्तुग्गहि न वसणं’^८, णिच्चं वोसट्टमोणेण^९ ॥

२७८. पाणीपत्तं^{१०} गिहिवंदणं च तह^{११} वड्डमाण^{१२} वेगवती^{१३} ।
धणदेव सूलपाणिंदसम्म वासऽद्वियग्गामे ॥

२७९. रोद्ध^{१४} य सत्तवेदणं^{१५}, धुति दस सुमिणुप्पलऽद्विमासे य ।
मोराए सक्कारं, सक्को अच्छंदए कुवितो^{१६} ॥

२८०. तण^{१७} छेयंगुलि कम्मर, वीरघोस महिसिंदु^{१८} दसपलियं ।
बितियेदसम्म^{१९} ऊरण^{२०}, बदरीए दाहिणुक्कुरुडे^{२१} ॥

१. वसिय (बपा), उषित्वा वा पाठांतरं (हाटी) ।

२. ‘पिईहि (ब, स) ।

३. देवत्ति (ब) ।

४. स्वो ३४२/१८६०, हाटी और मटी में हत्थुत्तरजोगेण तथा सो देव.....निगा २७४, २७५ के बाद भाष्य की ३० गाथाएं हैं लेकिन स्वो एवं को में पहले संबच्छेण आदि ५ भाष्य (स्वो १८६१-६५, को १८७५-७९) गाथाओं के बाद हत्थुत्तरजोगेण (निगा २७४) गाथा है। फिर उसके बाद सारस्सय.....से लेकर बहिया य (स्वो १८६७-९२, को १८८१-१९०८, १८९६ एवं १८९७ को छोड़कर) तक की २५ भाष्य गाथाएं हैं ।

५. वागरिसु (बपा, अपा, लापा, हाटीपा, मटीपा) ।

६. कोल्लाबहुले (हा, दी) ।

७. स्वो ३४४/१८९३ ।

८. ‘त्तुग्गहऽनिवसण (म) ।

९. स्वो ३४५/१८९४ ।

१०. पाणिपत्तं (स्वो) ।

११. तओ (हा, दी) ।

१२. वड्डमाण (म) ।

१३. वेगमदी (स्वो ३४६/१८९५) ।

१४. रुद्धा (ब, म) ।

१५. ‘वेयणि (चू) ।

१६. स्वो ३४७/१८९६, इस गाथा के बाद सभी हस्तप्रतियों में भीमट्टहास (स्वो १८९७, को १९१३, हाटीभा. ११२) तालपिसायं... (स्वो १८९८, को १९१४, हाटीभा. ११३) मोहे य... (स्वो १८९९, को १९१५, हाटीभा. ११४) ये तीन मूभा: की गाथाएं मिलती हैं तथा इसके बाद निम्न अन्यकर्तृकी गाथा मिलती है—

मोरागसन्निवेसे, बाहि सिद्धत्थतीतमाईणि ।

साहइ जणस्स अच्छंद, पओसो छेयणे सक्को ॥

यह गाथा को (१९१६) में भागा के क्रम में है। हाटी (पृ. १२९) में इसके लिए ‘इयं गाथा सर्वपुस्तकेषु नास्ति, सोपयोगा च’ का उल्लेख है तथा दीपिका में ‘इयं चान्यकर्तृकी गाथा’ का उल्लेख है ।

१७. तणु (अ) ।

१८. ‘सिंधु (हा), ‘सिंद (अ, स) ।

१९. बिइयंद (रा, ला) ।

२०. ऊरण (म) ।

२१. ‘क्कुरुडे (अ, ब), स्वो ३४८/१९०० ।

२८१. ततियमवच्चं भज्जा, 'कहिही नाहं ततो'^१ पिउवयंसो।
दक्खिणवाचाल^२ सुवण्णवालुगा कंटए वत्थं^३ ॥
२८२. उत्तरवाचालंतर^४, वणसंडे चंडकोसिओ सप्पो।
न डहे चिंता सरणं, जोतिस कोवाऽहि^५ जातोऽहं^६ ॥
२८३. उत्तरवाचाला^७ नागसेण खीरेण भोयणं दिव्वा^८।
सेतवियाय पदेसी, पंचरहे नेज्जरायाणो^९ ॥
२८४. सुरभिपुर सिद्धजतो^{१०}, गंगा कोसिय^{११} विदू य खेमिलओ^{१२}।
नाग सुदाढे सीहे, कंबल-सबला य^{१३} जिणमहिमा^{१४} ॥
२८५. महुए जिणदासो^{१५}, आभीर^{१६} विवाह गोण उववासे।
'भंडीर मित्तऽवच्चे'^{१७}, भत्ते णागोहि आगमणं^{१८} ॥
२८६. वीरवरस्स भगवतो, नावारूढस्स कासि उवसग्गं।
मिच्छादिट्ठि^{१९} परद्धं, कंबलसबला^{२०} समुत्तरे^{२१} ॥
२८७. थूणाएँ बहिं पूसो, लक्खणमब्भंतरे^{२२} य देविंदो।
रायगिह^{२३} तंतुसाला, मासक्खमणं च गोसालो^{२४} ॥
२८८. मंखलि मंख सुभद्दा, सरवण गोबहुलमेव^{२५} गोसालो।
विजयाणंद सुणंदे, भोयण खज्जे य कामगुणे^{२६} ॥
२८९. कुल्लाग^{२७} बहुल पायस, दिव्वा^{२८} गोसाल 'दडु पव्वज्जा'^{२९}।
बाहिं सुवण्णखलए, पायसथाली नियतिगहणं^{३०} ॥

१. 'ततो य (म), कधेहि' (स्वो), कहए नाहं ततो (म)।

२. दाहिण (हा, दी)।

३. स्वो ३४९/१९०१।

४. 'चोवालंतर (ला), 'चावाल' (म)।

५. कोहो उ (अ, ब)।

६. स्वो ३५०/१९०२।

७. 'चोवाला (ला), 'वाचाल (स्वो)।

८. दिन्न (म)।

९. निज्ज (अ, रा, हा, दी), स्वो ३५१/१९०३।

१०. सिद्धदतो (चू)।

११. कोसी (चू)।

१२. खेमलतो (म)।

१३. सबलाण (म)।

१४. 'महिमं (स्वो ३५२/१९०४)।

१५. जिणयासो (चू)।

१६. आहीर (हा, दी)।

१७. 'रमणमित्त वच्चे (म), भंडीर मित्त धव्वे (स्वो)।

१८. स्वो ३५३/१९०५।

१९. मिच्छादिट्ठि (ला, रा)।

२०. 'संबला य (स)।

२१. स्वो ३५४/१९०६।

२२. 'ण अब्भित्तरे (चू), 'णमब्भित्तरे (म), 'तरं (हा, दी)।

२३. 'गिहि (चू)।

२४. स्वो ३५५/१९०७।

२५. 'लगेह (स्वो, म)।

२६. स्वो ३५६/१९०८।

२७. कोलाए (चू)।

२८. दिव्वं (म), दिव्वाण (अ)।

२९. दडु बाहिं तु (चू)।

३०. चूर्णि और (स्वो ३५७/१९०९) में इसका उत्तरार्ध क्रमशः इस प्रकार है—

सुवन्नखलए पस्सा, थाली नियतीय गमणं च।

बाहिं सुवण्णखल पायसथाली नियतीय गहणं च।

२९०. बंभणगामे नंदोवणंद उवणंद तेय पच्चट्ठे^१ ।
चंपा दुमासखमणे, वासावासं मुणी खमति^२ ॥
२९१. कालाय^३ सुन्नगारे, सीहो विज्जुमति^४ गोट्टिदासीए^५ ।
खंदो दत्तिलियाए^६, पत्तालग^७ सुन्नगारम्मि^८ ॥
२९२. मुणिचंद कुमाराए, कूवणय चंपरमणिज्जउज्जाणे ।
'चोराग चारि'^९ अगडे, सोम जयंती उवसमंती^{१०} ॥
२९३. पिट्ठीचंपा वासं, तत्थ 'मुणी चाउमासखमणेण'^{११} ।
'कयंगलदेउल वरिसे'^{१२}, 'दरिद्वथेरा य'^{१३} गोसाले^{१४} ॥
२९४. सावत्थी सिरिभद्दा^{१५}, 'निंदू'^{१६} पिउदत्त पयस सिवदत्ते^{१७} ।
दारगणी नख-वाले, हलिदु पडिमाअगणी बहिया^{१८} ॥
२९५. तत्तो य णंगलाए^{१९}, डिंभ मुणी अच्छिक्कड्डुणं चेव ।
आवत्ते मुहतासे, मुणिओ^{२०} त्ति य बाहि बलदेवो^{२१} ॥
२९६. चोरा मडंब भोज्जं^{२२}, गोसाले वहण तेय ज्ञामणया^{२३} ।
मेहो य कालहत्थी, कलंबुयाए उ^{२४} उवसग्गा^{२५} ॥
२९७. लादेसु^{२६} य^{२७} उवसग्गा, घोरा पुण्णकलसा^{२८} य दो तेणा ।
वज्जहता सक्केणं, भदिय वासासु चउमासं^{२९} ॥

१. पविट्ठे (चू), पडुट्ठे (म), अद्धच्चे (अ) ।

२. स्वो ३५८/१९१० ।

३. कालाए (हा, दी), कालाइ (अ, ब, स) ।

४. 'मती (चू), 'मई (हा, दी) ।

५. गुट्टिं (ब, म, रा, ला) ।

६. दत्तिलिं (हा, दी, स्वो) ।

७. पत्ताइ (ला), पत्तालइ (ब) ।

८. स्वो ३५९/१९११ ।

९. चोरा चारिअ (म) ।

१०. 'समंति (म), 'समेइ (हा, दी), स्वो ३६०/१९१२ ।

११. 'चाउम्मासिएण खम' (म, हा, दी), 'चाउम्मासि खम' (अ, ब, ला),
'चतुम्मासिएण खम' (स्वो) ।

१२. कयंगलदेउल वासं (चू) ।

१३. 'धेराण (म) ।

१४. स्वो ३६१/१९१३ ।

१५. सिरिभद्दा (अ) ।

१६. निंदू (ब) ।

१७. भोयण पिउदत्त तह य सिव' (चू) ।

१८. स्वो ३६२/१९१४, चूर्णि में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—
दारअगणी णखवाले, हलिदु पडिमा अगणी बहिया ।

१९. णिंग' (स) ।

२०. मुणिउ (म) ।

२१. स्वो ३६३/१९१५ ।

२२. भुज्जं (ब, म, रा, ला) ।

२३. ज्ञावणया (अ, म) ।

२४. य (चू) ।

२५. 'ग्गो (चू), स्वो ३६४/१९१६ ।

२६. कालेसु (अ) ।

२७. व (चू) ।

२८. 'लसी (म) ।

२९. 'मासो (चू), स्वो ३६५/१९१७ ।

२९८. कदलिसमागम भोयण, मंखलि दधिकूर^१ भगवतो पडिमा।
जंबूसंडे गोट्टीय^२, भोयणं भगवतो पडिमा^३ ॥
२९९. तंबाएँ नंदिसेणो, पडिमा 'आरक्खि वहण भयडहण'^४।
कूबिय चारिय मोक्खो^५, विजय पगब्भा य^६ पत्तेयं ॥
३००. तेणेहि पहे^७ गहितो, गोसालो 'मातुलो ति'^८ वाहणया।
भगवं वेसालीए, कम्मर घणेण^९ देविंदो^{१०} ॥
३०१. गामाग बिहेलग जक्ख, 'तावसी उवसमावसाण धुती।
छट्टेण सालिसीसे'^{११}, विसुज्झमाणस्स लोगोधी ॥
३०२. पुणरवि भद्वियनगरे, तवं विचित्तं तु^{१२} छट्टुवासम्मि^{१३}।
मगधाय निरुवसगं, मुणि उडुबद्धम्मि विहरित्था^{१४} ॥
३०३. आलभियाए वासं, कुंडग^{१५} तह देउले^{१६} पराहुत्तो।
'महण देउल 'सागारियं मुहे दोसु'^{१७} वि मुणि ति'^{१८} ॥
३०४. बहुसालग सालवणे, कडपूयण पडिम विग्घणोवसमे^{१९}।
लोहग्गलम्मि चारिय, जियसत्तू उप्पले मोक्खो ॥
३०५. तत्तो य पुरिमताले, वग्गुर ईसाण^{२०} अच्चए पडिमं^{२१}।
मल्लिजिणायणपडिमा^{२२}, 'उण्णाए वंसि बहुगोट्टी'^{२३} ॥
३०६. गोभूमि 'वज्जलाढे ति गोवकोवे'^{२४} स वंसि जिणुवसमो।
रायगिहऽट्टमवासं^{२५}, तु^{२६}, वज्जभूमी बहुवसग्गा^{२७} ॥

१. दधिकूर (चू)।

२. गुट्टिय (ब, म, रा), गोट्टिय (चू), गुट्टी (ला)।

३. स्‍वो ३६६/१९१८।

४. आरक्खित हण भये डहणं (चू)।

५. मोक्खण (स्‍वो ३६७/१९१९)।

६. उ (अ, ला)।

७. पहि (अ, ब)।

८. माउलुत्ति (ब, म), मातुल इति पिशाचः (मटी प. २८३)।

९. यणेण (ब)।

१०. स्‍वो ३६८/१९२०।

११. उवसमे सालिसीसेछट्टेणं। उवसग्ग तावसी तु (स्‍वो ३६९/१९२१)।

१२. च (हा, दी)।

१३. छच्च (अ)।

१४. स्‍वो ३७०/१९२२।

१५. कुंडागे (हा, दी, स्‍वो), कंडाए (को)।

१६. देवले (ब)।

१७. सारिया मुहमूले (ब, चू, हा, दी), सागारि मुहमूले (ला)।

१८. (स्‍वो ३७१/१९२३, को ३७१/१९४०) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

महण देउल समुहि गोसालो दोसु वि मुणि ति।

१९. विग्घमोव (स्‍वो ३७२/१९२४)।

२०. ईसाण इति प्राकृतत्वाद् विभक्तिलोपः (मटी)।

२१. महिमं (चू, म), पडिमा (हा, दी, को)।

२२. 'जिणायतण बहिं (स्‍वो, को)।

२३. वंसकडंगेसि वहु (चू), वण्णाए वंसि (स), स्‍वो ३७३/१९२५।

२४. 'लाढे गोवक्कोवे (हा, दी), 'गोवकोहे (चू)।

२५. 'वासा (हा, दी, को)।

२६. य (स), x (हा, दी)।

२७. स्‍वो ३७४/१९२६।

३०७. अणियतवासं^१ सिद्धत्थपुरं^२ तिलत्थंबं^३ पुच्छं^४ निप्फत्ती ।
उप्पादेति^५ अणज्जो, गोसालो वास बहुलाए^६ ॥
३०८. मगहा गोब्बरगामे, गोसंखी वेसियाण पाणामा ।
कुम्मगामायावणं^७, गोसाले कोवणं^८ पउट्टे^९ ॥
३०९. वेसालीए^{१०} पडिमं, संखो गणराय पितुवयंसो उ^{११} ।
गंडइयासरित्तिनो, चित्तो नावाय भगिणिसुतो^{१२} ॥
३१०. वाणियगामायावण, आणंदोही^{१३} 'परीसह सहि ति'^{१४} ।
सावत्थीए वासं, चित्ततवो साणुलट्ठि^{१५} बहिं^{१६} ॥
३११. पडिमा भद् महाभद्, सव्वतोभद् पढमिया चउरो ।
अट्ट य वीसाणंदे, बहुलिय^{१७} 'तह उज्झिए'^{१८} दिव्वा^{१९} ॥
३१२. दढभूमीए बहिया, 'पेढालं नाम'^{२०} होइ उज्जाणं^{२१} ।
पोलासचेइयम्मी, ठितेगराई^{२२} महापडिमं^{२३} ॥
३१३. सक्को य देवराया, सभागतो^{२४} भणति हरिसितो वयणं ।
तिणिण वि लोगऽसमत्था, जिणवीरमणं^{२५} 'चलेउं जे'^{२६} ॥
३१४. सोहम्मकप्पवासी, देवो सक्कस्स सो अमरिसेणं ।
सामाणिय संगमओ, बेति सुरिदं पडिणिविट्ठो^{२७} ॥

१. अणिययचारं (स्वो) ।

२. 'पुरम्मि (स) ।

३. तिलत्थंभ (म, स्वो), तिलत्थंब (हा, दी, चू) ।

४. गुच्छ (को) ।

५. उप्पादेति (स्वो) ।

६. बहुला य (स्वो ३७५/१९२७) ।

७. कुम्मगामा (म), कुंडगामा (ब) ।

८. कोहण (चू), गोवण (ब, हा, दी) ।

९. पउट्टे (हा, अ), स्वो ३७६/१९२८ ।

१०. वेसालाए (चू) ।

११. य (अ) ।

१२. स्वो ३७७/१९२९ में गाथा का पूर्वार्ध इस प्रकार है—
वेसालीए पूयं, संखो गणराय पितुवयंसो तु ।
यह गाथा अ, स और रा प्रति तथा हा, दी और को
में कुछ अंतर से इस प्रकार मिलती है—
वेसालीए पडिमं, डिंभ मुणिओ ति तत्थ गणराया ।
पूइ संखनामो, चित्तो नावाए भगिणिसुओ ॥

टीकाकार हरिभद्र ने व्याख्या उपर्युक्त पाठ की ही की है, प्रकाशित पाठ की नहीं की है ।

१३. आणंदो ओहि (चू, दी) ।

१४. परिसह सह ति (चू), 'सह सहिति (हा, दी) ।

१५. 'लट्ठ (अ) ।

१६. स्वो ३७८/१९३० ।

१७. बहुली (ब, ला), बहुला (रा), बहुलीय (स्वो) ।

१८. उज्झिति य (रा, स्वो), 'उज्झिया (अ, म), उज्झि दिय (को) ।

१९. स्वो ३७९/१९३१ ।

२०. पेढालुगाम (रा) ।

२१. इस गाथा के पूर्वार्ध का पाठान्तर भी मिलता है—दढभूमी बहुमेच्छा
पेढालगाममागतो भगवं (चू, म अपा, को, ब, स) ।

२२. 'राई (स, हा, दी, को), ट्टिएण' (म) ।

२३. स्वो ३८०/१९३२ ।

२४. सहागओ (म) ।

२५. 'वीरमिणं (म) ।

२६. न चालेउं (ब, हा, दी, को), जे इति पादपूरणे (मटी), स्वो ३८१/१९३३ ।

२७. स्वो ३८२/१९३४ ।

३१५. तेल्लोक्कं^१ असमत्थं, ति 'बेह एतस्स'^२ चालणं काउं।
अज्जेव पासह इमं, मम वसगं भट्टजोगतवं^३ ॥
३१६. अह आगतो तुरंतो, देवो सक्कस्स जो अमरिसेणं।
कासी य उवस्सगं^४, मिच्छादिट्ठी^५ पडिनिविट्ठो ॥
३१७. धूली पिवीलियाओ, उइंसा 'चेव तह य'^६ उण्हेला^७।
विच्छुग^८ नउला सप्पा, च मूसगा चेव अट्टमगा^९ ॥
३१८. हत्थी हत्थिणियाओ^{१०}, पिसायए घोररूववग्घे य।
थेरो 'थेरी सुतो'^{११}, आगच्छति पक्कणो^{१२} य तहा^{१३} ॥
३१९. खरवात कलंकलिया, कालचक्कं तहेव य।
पाभाइयउवसगो^{१४}, वीसइमे होति^{१५} अणुलोमे^{१६} ॥
३२०. सामाणियदेवड्डिं^{१७}, देवो दावेति^{१८} सो विमाणगतो।
भणइ य वरेहि^{१९} महिरिसि^{२०}!, निप्फत्ती^{२१} सगमोक्खाणं^{२२} ॥
३२१. उवहतमतिविण्णाणो^{२३}, ताहे वीरं 'बहुं पसाहेउं'^{२४}।
'ओहीए निज्झायइ'^{२५}, ज्ञायति छज्जीवहितमेव^{२६} ॥
३२२. वालुगपंथे तेणा, माउल पारणग तत्थ काणच्छी^{२७}।
तत्तो सुभोम^{२८} अंजलि^{२९}, सुच्छेत्ताए य विडरूव^{३०} ॥

१. तेल्लोक्कं (अ, म, चू), तेलुक्कं (ब)।
२. बेइ एयस्स (अ, ब, ला), पेह एतस्स (रा, हा, दी, को)।
३. रुद्धजो^३ (को), स्वो ३८३/१९३५।
४. उवसगं (हा, रा, ब)।
५. मिच्छादिट्ठी (स, हा, दी, स्वो ३८४/१९३६)।
६. खलु तहेव (को)।
७. उण्हेला (को, म)।
८. विच्छुय (चू), विंछुय (हा, दी), विच्छग (को)।
९. स्वो ३८५/१९३७।
१०. हत्थिणी (ब, हा, दी)।
११. थेरीइ सुओ (हा, दी, रा)।
१२. पक्कणः शबरः (मटी)।
१३. स्वो ३८६/१९३८।
१४. 'इयमुवसगो (ब, रा)।
१५. तह य (चू)।
१६. स्वो ३८७/१९३९।
१७. 'देवड्डिं (म)।

१८. दाइइ (ब, म)।
१९. वरेह (को, रा, स, हा, दी)।
२०. महिरिसि (अ)।
२१. निप्फत्तिं (अ, ला, को)।
२२. स्वो ३८८/१९४०, चूर्णि में इस गाथा का प्रतीक नहीं है, केवल व्याख्या है।
२३. ओहय (ब, स)।
२४. बहुप्प (हा, दी, रा, ला), बहुं सहावेउं (को, स्वो)।
२५. ओहीय जिणं ज्ञायति (को), ओधीय जिणज्झायति (स्वो), 'निज्झाइ (हा, दी, रा)।
२६. स्वो ३८९/१९४१, यह गाथा मटी में अनुपलब्ध है। टीकाकार ने इस गाथा की व्याख्या भी नहीं की है। दोनों भाष्यों में यह गाथा निर्युक्ति गाथा के क्रम में है। प्रकाशित चूर्णि में यह गाथा मिलती है लेकिन चूर्णिकार ने इस गाथा की व्याख्या नहीं की है।
२७. काणच्छिं (स्वो, म)।
२८. सुभूम (ब, म)।
२९. मंजलि (ब)।
३०. स्वो ३९०/१९४२।

३२३. मलए पिसायरूवं, सिवरूवं हत्थिसीसए^१ चेव^२।
ओहसणं पडिमाए, मसाण^३ सक्को जवणपुच्छा^४ ॥
३२४. तोसलि^५ 'खुड्डा रूवं'^६, संधिच्छेदो इमो त्ति वज्झो य।
मोएति इंदजालिय^७, तत्थ महाभूतिलो^८ नाम^९ ॥
३२५. मोसलि 'संधिसुमागह, मोएती रट्ठिओ'^{१०} पिउवयंसो^{११}।
तोसलिय सत्तरज्जू, वावत्ती^{१२} तोसलिय^{१३} मोक्खो^{१४} ॥
३२६. सिद्धत्थपुरे तेणो त्ति, कोसिओ आसवाणिओ^{१५} मोक्खो।
वयगाम हिंडउणेषण, बितियदिणे^{१६} बेति^{१७} उवसंतो^{१८} ॥
३२७. वच्चह हिंडह न करेमि, किंचि इच्छा न किंचि वत्तव्वो।
तत्थेव वच्छवाली^{१९}, थेरी परमण्ण वसुहारा^{२०} ॥
३२८. छम्मासे अणुबद्धं, देवो कासीय सो 'तु उवसगं'^{२१}।
दट्ठूण वयगामे, वंदिय वीरं पडिनियत्तो^{२२} ॥
३२९. देवो चुतो^{२३} महिड्ढी^{२४}, 'सो मंदरचूलियाइ'^{२५} सिहरम्मि।
'परिवरिओ सुखवूहि'^{२६}, 'तस्स य अयरोवमं सेसं'^{२७} ॥
३३०. आलभिय हरि पियपुच्छ, जितउवसगं त्ति थोवमवसेसं^{२८}।
हरिसह सेयवि सावत्थि खंदपडिमा य सक्को उ^{२९} ॥

१. 'सीसयं (अ, ब)।	१७. देई (अ), बेई (ला)।
२. कासी (म)।	१८. स्‍वो ३९४/१९४६।
३. समाण (अ, चू)।	१९. वत्थवालिय (चू)।
४. जमण (स्‍वो ३९१/१९४३)।	२०. स्‍वो ३९५/१९४७।
५. ओसलि (चू)।	२१. उवस्‍सगं (स्‍वो)।
६. कुसीसरूवं (हा, दी, रा, ला), कुसिस्‍स रूवेण (को)।	२२. स्‍वो ३९६/१९४८।
७. इंदजालिउ (हा, दी), 'जालिओ (अ, ब, रा, ला, स्‍वो), इंदजालि (स), 'जालित (म)।	२३. टिओ (को)।
८. 'भूइओ (को)।	२४. महिड्ढिओ (हा, दी, स), महिड्ढीओ (स्‍वो)।
९. स्‍वो ३९२/१९४४।	२५. वरमंदरचू (ब, स, हा, दी), 'लियाए (को)।
१०. 'समागम मागहओ रट्ठितो (चू), 'मोएइ य रट्ठिओ (को)।	२६. परिवरिओ सुर (चू), 'वारिओ वूहिं (ब, रा, ला)।
११. पिति (को)।	२७. आउम्मि सागरेसे (अ, हा, दी), तस्‍स य सागरेपमं (को), स्‍वो ३९७/१९४९।
१२. वावत्ति (हा, दी, स)।	२८. इसका पूर्वार्ध (स्‍वो ३९८/१९५०) में इस प्रकार है— आलभिया हरि पियपुच्छा जितउवसगं थोवसेसं च।
१३. तोसली (म, स, चू, हा, दी, स्‍वो), मोसली (को)।	यह गाथा हा और दी टीका में अनुपलब्ध है किन्तु स्‍वो तथा चूर्ण में मिलती है। (द्र. टिप्पण ३३०/१)
१४. स्‍वो ३९३/१९४५।	२९. मटी में यह गाथा अनुपलब्ध है।
१५. अस्‍स (अ, ब, ला)।	
१६. बोय (ब, म)।	

- ३३०/१. आलभियाय हरि विज्जू जिणस्स भत्तीइ वंदितं^१ एति।
भगवं पियपुच्छा^२, जितउवसग्गा 'थेवसेसं च'^३ ॥
- ३३०/२. हरिसह सेयवियाए, 'सावत्थी खंदपडिम'^४ सक्को य।
ओयरितं पडिमाए, लोगो आउट्टिओ^५ वंदे^६ ॥
३३१. कोसंबि^७ चंद-सूरोतरणं^८ वाणारसीय^९ सक्को उ^{१०}।
रायगिहे ईसाणो, मिहिला^{११} जणओ य धरणो य^{१२} ॥
३३२. 'वेसालि भूयणंदो'^{१३}, चमरुप्पातो य सुंसुमारपुरे^{१४}।
भोगपुर^{१५} सिंदिकंडग^{१६}, माहिंदो खत्तिओ कुणति^{१७} ॥
३३३. 'वारण सणकुमारे'^{१८}, 'णंदिगामे य'^{१९} 'पिउसहा वंदे'^{२०}।
मिंदियगामे^{२१} गोवो, वित्तासणगं^{२२} च देविंदो^{२३} ॥
३३४. 'कोसंबीइ सयाणिय'^{२४}, अभिगहो पोसबहुलपाडिवए^{२५}।
चाउम्मासि मिगावति^{२६}, विजय सुगुत्तो स 'णंदा य'^{२७} ॥
३३५. तच्चावादी चंपा, दधिवाहण वसुमती बितियनामा^{२८}।
धणवह^{२९} मूलालोयण, संपुल^{३०} दाणे^{३१} य पव्वज्जा ॥

१. वंदओ (अ, रा, हा)।
२. "पुच्छामो (रा)।
३. थेवमव" (हा, म, दी), ३३०/१, २ कोष्ठकवर्ती दोनों गाथाएं हा, म, दी में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं। ३३०/१ गाथा को (१९६७) में भागा के क्रम में निर्दिष्ट है तथा ३३०/२ गाथा को में निगा (३९८/१९६८) के क्रम में स्वीकृत है। चूर्णि तथा स्त्रो में इन दोनों गाथाओं के स्थान पर ३३० वाली गाथा मिलती है। यही गाथा निर्युक्ति की संगत प्रतीत होती है क्योंकि इससे आगे की दो गाथाएं व्याख्यात्मक एवं पुनरुक्त सी प्रतीत होती हैं। स्त्रो में ये दोनों गाथाएं पादटिप्पण में हैं।
४. सावत्थि खंदपडिमाए (को)।
५. आउट्टिओ (ब, स)।
६. वंदे (ब), यह गाथा मटी (प. २९३) में कुछ अंतर के साथ इस प्रकार है—

हरिसह सेयवियाए, सावत्थी खंद ओयरितं पडिमा।
लोगो आउट्टिओ (त्थ), वंदे सक्को उ पडिमाए ॥

७. कोसंबी (हा, दी, रा, चू)।
८. सूरोरण (रा)।
९. वाराणसीइ (रा)।
१०. य (अ, रा)।
११. मिहिला (ब, हा, दी)।
१२. स्त्रो ३९९/१९५१।

१३. "भूयणंदो (ब, स), वेसालिवास भूयणंदे (स्त्रो, को, म)।
१४. सुसुमा" (म), सुसुमा" (स्त्रो)।
१५. "पुरि (हा, दी, स्त्रो)।
१६. सिंदिकंडग (हा, दी), सिंदुकंडग (रा), "कंदय (को)।
१७. स्त्रो ४००/१९५२।
१८. सणकुमारमोयण (को)।
१९. णंदिगामे (हा, दी), णंदियगामे (म)।
२०. पिउसहो नंदी (को), स्त्रो में इसका पूर्वार्ध इस प्रकार है—
सणकुमारमोयण, णंदिगामे य पितुसहो णंदी।
२१. मिंदिय" (हा, दी), मिंदिय" (म)।
२२. "सणियं (ब, स)।
२३. स्त्रो ४०१/१९५३।
२४. कोसंबि सयाणीओ (को), कोसंबीए सत्ताणीओ (स्त्रो ४०२/१९५४)।
२५. "पडिवई (अ, हा, दी)।
२६. "वई (हा, दी, रा)।
२७. णंदाए (रा)।
२८. विजयनामा (हा, दी), बीय" (म), बिइय" (ब, स, रा)।
२९. धणवाहण (अ), धण धवण (चू)।
३०. संपुड (अ, ब)।
३१. दाणं (स्त्रो ४०३/१९५५)।

३३६. 'तत्तो य सुमंगल' सणकुमार 'सुछेत एति'^१ माहिंदो।
पालग^२ वाइलवणिए, अमंगलं अप्पणो^३ असिणा^४ ॥
३३७. चंपा वासावासं^५, जक्खिंदा सातिदत्त पुच्छा य।
वागरण दुहपदेसण^६, पच्चक्खाणे य दुविधे तु^७ ॥
३३८. जंभियगामे नाणस्स, उप्पया^८ वागरेति देविंदो।
मिंदियगामे^९ चमरो, वंदण पियपुच्छणं कुणति^{१०} ॥
३३९. छम्माणि गोव कडसल^{११}, पवेसणं मज्झिमाए पावाए।
खरओ वेज्जो सिद्धत्थवाणिओ^{१२} नीहरावेति^{१३} ॥
३४०. 'जंभिय बहि उज्जुवालिय'^{१४}, तीर^{१५} वियावत्त सामसालअहे।
छट्ठेणुक्कुडुयस्स^{१६} तु, उप्पणं केवलं नाणं^{१७} ॥
३४१. जो य तवो अणुचिण्णो, वीरवरेणं महाणुभावेणं।
छउमत्थकालियाए, अहक्कमं कित्तइस्सामि^{१८} ॥
३४२. नव किर चाउम्मासे, छक्किर दोमासिए उवासीय।
बारस य मासियाइं, बावत्तरि अद्धमासाइं^{१९} ॥
३४३. एगं किर छम्मासं, दो किर तेमासिए उवासीय।
'अड्डाइज्जा य'^{२०} दुवे, दो चेव दिवड्डमासाइं^{२१} ॥
३४४. भदं च महाभदं, पडिमं तत्तो य सव्वतोभदं।
दो चत्तारि दसेव य, दिवसे 'ठासी य अणुबद्धं'^{२२} ॥

१. तत्तो सुमंगलाए (हा, दी, स्त्रो, को), तत्तो सुमंगल (ब, स)।

२. सुच्छित्तएहिं (चू), सुच्छेत एउ (स), सुच्छेतए य (को, स्त्रो)।

३. वालुय (ब, स, म), वालय (रा), वालग (को)।

४. अप्पणा (अ)।

५. अ घणो (चू), स्त्रो ४०४/१९५६।

६. 'वासे (को)।

७. दुधा (स्त्रो), बहु (ब)।

८. उ (दी, हा, रा, को, स्त्रो ४०५/१९५७)।

९. उप्पदा (चू)।

१०. मेदि (ब, स, चू, हा, दी, को)।

११. स्त्रो ४०६/१९५८।

१२. कडसल (स्त्रो), कडसिल (को)।

१३. 'वाणियओ (रा, हा, दी, को)।

१४. स्त्रो ४०७/१९५९।

१५. 'उज्जुवालिय (चू), 'वालुय (अ, ब, ला), जंभियगामुज्जुवालिया (स्त्रो)।

१६. X (स्त्रो)।

१७. छट्ठेण उक्कु (चू)।

१८. स्त्रो ४०८/१९६०।

१९. स्त्रो ४०९/१९६१।

२०. 'मासा य (को), स्त्रो ४१०/१९६२।

२१. 'तिज्जाइया (स्त्रो), 'इज्जाइ (रा, हा, दी, ला)।

२२. स्त्रो ४११/१९६३।

२३. ठासीयणु (म), स्त्रो ४१२/१९६४।

३४५. गोयरमभिगहजुतं, खमणं छम्मासियं च कासी य।
पंचदिवसेहि ऊणं, अव्वहिओ वच्छनयरीए^१ ॥
३४६. दस दो य किर महप्पा, ठाति मुणी 'एगराइयं पडिमं'^२।
अट्टमभत्तेण जती, एक्केक्कं चरमराईयं^३ ॥
३४७. दो चेव य छट्टसए, अउणातीसे^४ उवासिओ^५ भगवं।
न कयाइ निच्चभत्तं, चउत्थभत्तं च से आसी^६ ॥
३४८. बारसवासे अहिए, छट्ठं भत्तं जहण्णयं आसी^७।
सव्वं च तवोक्कम्मं, अपाणगं^८ आसि वीरस्स^९ ॥
३४९. तिण्णि सते दिवसाणं, 'अउणापन्ने य'^{१०} पारणाकालो।
उक्कुडुयनिसेज्जाणं^{११}, ठितपडिमाणं सए बहुए^{१२} ॥
३५०. पव्वज्जाए 'दिवसं, पढमं'^{१३} एत्थं तु पक्खिवित्ताणं।
संकलितम्मि तु संते, जं लद्धं तं निसामेह^{१४} ॥
३५१. बारस चेव य वासा, मासा छच्चेव अट्ठमासो य।
वीरवरस्स भगवतो, एसो छउमत्थपरियाओ^{१५} ॥
३५२. एवं तवोगुणरतो, अणुपुव्वेणं^{१६} मुणी विहरमाणो।
घोरं परीसहच्चमुं, अहियासेत्ता महावीरो^{१७} ॥
३५३. उप्पण्णम्मि अणंते, नट्टम्मि य छाउमत्थिए नाणे।
राईए^{१८} संपत्तो, 'महसेणवणम्मि उज्जाणे'^{१९} ॥
३५४. अमर-नर-रायमहितो, पत्तो धम्मवरचक्कवट्ठित्तं^{२०}।
'बित्थियं पि समोसरणं'^{२१}, पावाए मज्झिमाए उ^{२२} ॥

१. स्वी ४१३/१९६५।

२. एगराइए पडिमे (दी, ब्रपा, लापा)।

३. 'राई य (म), स्वी ४१४/१९६६।

४. अउणातीसे (रा)।

५. 'सिया (ब, हा, दी, रा)।

६. स्वी ४१५/१९६७।

७. आसि (ब, म, हा, दी)।

८. अप्पाणय (को)।

९. स्वी ४१६/१९६८, चूर्णि में इस गाथा का संकेत नहीं मिलता है।

१०. अउणावणं तु (हा, दी, स)।

११. 'निसेज्जाए (म), उक्कुडुय' (को)।

१२. स्वी ४१७/१९६९।

१३. पढमं दिवसं (हा, दी, को)।

१४. स्वी ४१८/१९७०।

१५. स्वी ४१९/१९७१।

१६. 'पुव्वीए (रा)।

१७. स्वी ४२०/१९७२।

१८. रातीए (चू)।

१९. 'वणं तु उज्जाणं (चू), स्वी ४२१/१९७३।

२०. वरधम्मं (म, को)।

२१. बित्थियम्मि समोसरणे (ब, स, ला, स्वी ४२२/१९७४)।

२२. ३५४ से ३५६ तक की तीन गाथाएं चूर्णि में अव्याख्यात एवं अनिर्दिष्ट हैं।

३५५. तत्थ किर^१ सोमिलज्जो, त्ति माहणो तस्स दिक्खकालम्मि ।
पउरा^२ जणजाणवया, समागता जण्णवाडम्मि^३ ॥
३५६. एगंते य विवित्ते, उत्तरपासम्मि जण्णवाडस्स ।
तो देवदाणविंदा, करेति^४ महिमं जिणिंदस्स^५ ॥
- ३५६/१. 'समुसरणे केवतिया'^६, रूव-पुच्छ-वागरण-सोयपरिणामे ।
दाणं च देवमल्ले, मल्लाणयणे^७ उवरि तित्थं^८ ॥
- ३५६/२. जत्थ अपुव्वोसरणं, जत्थ य देवो महिद्धिओ^९ एति ।
वाउदग-पुप्फवद्दल, पागारतिगं च अभियोगा^{१०} ॥
३५७. मणि-कणग-रयणचित्ते, भूमीभागं समंततो सुरभिं^{११} ।
आजोयणंतरेणं, करेति देवा विचित्तं तु^{१२} ॥
३५८. बेंटट्ठाइं^{१३} सुरभिं, जलथलयं दिव्वकुसुमणीहारि ।
पइरिति^{१४} समंतेणं, दसद्ववणं कुसुमवासं^{१५} ॥
३५९. मणि-कणग-रयणचित्ते, चउदिसिं तोरणे विउव्विति^{१६} ।
सच्छत्तसालभंजिय, मगरद्वयचिंधसंठाणे^{१७} ॥

१. किल (हा, दी) ।
२. पउर (रा) ।
३. स्‍वो ४२३/१९७५ ।
४. कासी (बपा, लापा, हाटीपा, मटीपा) ।
५. स्‍वो ४२४/१९७६, इस गाथा के बाद सभी हस्तप्रतियों तथा टीकाओं में भवणवड (हाटीमूभा ११५, स्‍वो १९७७) गाथा मिलती है । मलयगिरि की मुद्रित टीका में यह निगा के क्रम में है किन्तु टीकाकार ने 'अमुमेवार्थं सविशेषं भाष्यकार आह' का उल्लेख किया है ।
६. समुसरण केवइय (को) ।
७. मल्लायणे (चु) ।
८. बृभा ११७६, यह गाथा समवसरण से सम्बन्धित द्वारगाथा है । को (१९९६) में यह गाथा भागा के क्रम में मिलती है । स्‍वो में यह गाथा अनुपलब्ध है । वहां संपादक ने नीचे पादटिप्पण में दी है । चूर्ण में यह गाथा व्याख्यात है । इस गाथा के द्वारों की व्याख्या के रूप में ४२ गाथाएं और हैं (३५६/१, २, ३६०/१, २, ३६२/१-३८) ये गाथाएं बृभा से लेकर प्रसंगवश यहां बाद में जोड़ दी गई हैं । यह बात आचार्य हरिभद्र के इस उल्लेख से भी स्पष्ट होती है— इयं च गाथा केषुचित् पुस्तकेषु अन्यत्रापि दृश्यते, इह पुनर्युक्ते द्वारनियमतोऽसम्‍मोहेन समवसरणवक्तव्यताप्रतीतिनिबन्धनत्वादिति

- (हाटी. पृ. १५४) । इसके अतिरिक्त समवसरण का वर्णन करने वाली जो गाथाएं दोनों भाष्यों में (स्‍वो १९७८-१९८३, को १९९८-२००३) हैं, वे बृभा में समवसरणवक्तव्यता के प्रसंग में नहीं हैं । ३५७ से ३६२—इन छह गाथाओं में संक्षेप में समवसरण का पूरा वर्णन है । वैसे भी निर्युक्तिकार किसी भी विषय का इतने विस्तार से वर्णन नहीं करते अतः इन छह गाथाओं के अतिरिक्त अन्य गाथाएं बाद में प्रक्षिप्त की हुई सी लगती हैं ।
९. महिद्धिओ (म) ।
१०. बृभा ११७७, यह गाथा को (१९९७) में भाष्य गाथा के क्रम में है । स्‍वो में यह भाष्य गाथा और निर्युक्ति दोनों ही क्रम में नहीं है ।
११. सुरहिं (ब, म, स) ।
१२. स्‍वो ४२५/१९७८, ३५७ से ३६० ये चार गाथाएं चूर्ण में अव्याख्यात हैं । द्र. टिप्पण ३५६/१ ।
१३. बिंट (म) ।
१४. पयरिति (म, को) ।
१५. स्‍वो ४२६/१९७९ ।
१६. विउव्विति (ब, स) ।
१७. स्‍वो ४२७/१९८० ।

३६०. तिन्नि य पागारखरे, रयणविचित्ते तहिं सुरगणिंदा।
मणि-कंचण-कविसीसग, विभूसिते ते विगुव्वेति^१ ॥
- ३६०/१. अब्भंतर^२-मज्झ-बहिं, विमाण-जोइ^३-भवणाहिक्कया उ।
पागारा तिन्नि भवे, रयणे कणगे य रयए य^४ ॥
- ३६०/२. मणि-रयण-हेमया वि य, कविसीसा सव्वरयणिया दारा।
सव्वरयणामयच्चिय, पडागधय^५-तोरणविचित्ता^६ ॥
३६१. तत्तो य समंतेणं, कालागरु-कुंदुरुक्कमीसेणं।
गंधेण मणहरेण^७, धूवधडीओ विउव्वेति^८ ॥
३६२. उक्कुट्टिसीहणायं, कलकलसदेण^९ सव्वओ सव्वं।
तित्थगरपायमूले, करेति देवा निवयमाणा^{१०} ॥
- ३६२/१. चेइदुम^{११} पीढछंदय^{१२}, आसण छत्तं च चामराओ य।
जं चऽण्णं करणिज्जं, करेति तं वाणमंतरिया^{१३} ॥
- ३६२/२. साधारणओसरणे, एवं जत्थिद्धिमं तु ओसरति।
एक्कुच्चिय^{१४} तं सव्वं, करेति भयणा उ इतरेसिं^{१५} ॥
- ३६२/३. सूरुदय^{१६} पच्छिमाए, ओगाहंतीए पुव्वओ एति^{१७}।
दोहि पउमेहि पाया, मग्गेण य होति सत्तऽन्ने^{१८} ॥
- ३६२/४. आयाहिण पुव्वमुहो, तिदिसिं पडिरूवगा उ देवकता।
जेडुगणी अण्णो वा, दाहिणपुव्वे अदूरम्मि^{१९} ॥
- ३६२/५. जे ते देवेहि कया, तिदिसिं पडिरूवगा जिणवरस्स।
तेसिं पि तण्णभावा, तयाणुरूवं हवति रूवं^{२०} ॥

१. विउव्वेति (हा, दी), 'व्वेति (ब, ला), स्वर ४२८/१९८१।

२. अब्भिं (रा, म, बृभा)।

३. जोइस (म)।

४. बृभा ११७८, द्र. टिप्पण गाथा ३५६/१का।

५. 'रय (म)।

६. बृभा ११७९।

७. मयमघेता (को, स्वर ४२९/१९८२)।

८. गा. ३६१ और ३६२ चूर्णि में अव्याख्यात है, द्र. टिप्पण ३५६/१।

९. कलयल (ब, हा, दी, म, रा)।

१०. स्वर ४३०/१९८३।

११. चेतिथ (चू)।

१२. पेढ (हा, दी, रा)।

१३. बृभा ११८०, द्र. टिप्पण गाथा ३५६/१ का।

१४. एक्कोच्चिय (बृभा), एक्कुच्चिय (ब)।

१५. इयेहिं (अ), बृभा ११८१।

१६. सूरुदय (हा, दी, स), सूरुदइ (ला)।

१७. ईइ (हा), ईह (दी)।

१८. बृभा ११८२।

१९. बृभा ११८३, चूर्णि में इस गाथा का संकेत नहीं है पर व्याख्या मिलती है।

२०. बृभा ११८४, यह गाथा चूर्णि में अव्याख्यात है।

- ३६२/६. तिथ्याऽतिसेस संजय, देवी वेमाणियाण समणीओ।
भवणवइ-वाणमंतर, जोइसियाणं च देवीओ^१॥
- ३६२/७. केवलिणो तिउण जिणं, तिथपणामं च मग्गओ तस्स।
मणमादी^२ वि नमंता, वयंति सट्ठाणसट्ठाणं^३॥
- ३६२/८. भवणवई-जोइसिया, बोधव्वा वाणमंतरसुरा य।
वेमाणिया य मणुया, पयाहिणं जं च निस्साए^४॥
- ३६२/९. एक्केक्कीय^५ दिसाए, तिगं तिगं होति सन्निविट्ठं तु।
आदि-चरिमे^६ विमिस्सा, थीपुरिसा सेस पत्तेयं^७॥
- ३६२/१०. एतं^८ महिड्डियं पणिवयंति ठितमवि वयंति पणमंता।
ण वि जंतणा न विकहा, न परोप्पर^९ मच्छरो न भयं^{१०}॥
- ३६२/११. बितियम्मि^{११} होंति तिरिया, ततिए पागारमंतरे जाणा।
पागारजडे तिरिया, वि होंति पत्तेय मिस्सा वा^{१२}॥
- ३६२/१२. सव्वं च देसविरतिं^{१३}, सम्मं घेच्छति व होति कहणा उ।
इहरा अमूढलक्खो, न कहेइ भविस्सइ ण तं च^{१४}॥
- ३६२/१३. 'मणुए चउमण्णयरं'^{१५}, तिरिए तिणिण व दुवे व पडिवज्जे।
जइ नत्थि 'नियमसो च्विय'^{१६}, सुरेसु सम्मतपडिवत्ती^{१७}॥
- ३६२/१४. तिथपणामं काउं, कहेति साहारणेण सद्देणं।
सव्वेसिं सण्णीणं, जोयणणीहारिणा^{१८} भगवं^{१९}॥

१. बृभा ११८५।

२. 'माई (म, रा, बृभा)।

३. बृभा ११८६।

४. बृभा ११८७, इस गाथा के बाद सभी हस्तप्रतियों एवं टीकाओं में संजय.....जोइसिय.....अवरेण.....समहिंदा...ये चार मूलभाष्य की गाथाएं मिलती हैं (हाटीभा ११६-१९ पृ. १५६)। स्वी और को में ये गाथाएं अनुपलब्ध हैं। स्वी में ये पादटिप्पण में दी हुई हैं। बृभा में इसी क्रम में 'अत्रान्तरे भाष्यादर्शेषु केषुचिदेता गाथा दृश्यंते' के उल्लेख के साथ चार गाथाएं दी हैं। किन्तु उन गाथाओं में पाठभेद हैं। गाथाओं के अंत में टीकाकार ने "एताश्च द्वयोरपि चूर्ण्योरगृहीतत्वात् प्रक्षेपगाथाः संभाव्यन्ते" का उल्लेख किया है (बृभाटी पृ. ३६९)।

५. इक्किक्काइ (ब, म)।

६. चरमे (ब, स)।

७. बृभा ११८८।

८. इतं (रा, ब, स, बृभा)।

९. परुप्पर (ब, म)।

१०. बृभा ११८९।

११. बीयम्मि (ब, रा)।

१२. बृभा ११९०।

१३. 'विरई (रा)', 'विरयं (अ)।

१४. बृभा ११९१।

१५. पाठांतरं वा मणुओ चउ अनयरं (हाटीपा, बपा, लापा, मटीपा)।

१६. 'मसुच्चिय (ब, रा)।

१७. बृभा ११९२।

१८. 'णीहारणा (अ)।

१९. बृभा ११९३।

- ३६२/१५. तप्पुव्विया अरहया^१, पूइयपूया य विणयकम्म^२ च।
कयकिच्चो वि जह कहं, कहेइ^३ नमए तहा तित्थे^४ ॥
- ३६२/१६. जत्थ अपुव्वोसरणं, अदिट्ठपुव्वं^५ व जेण समणेणं।
बारसहि जोयणेहिं, सो एति अणागए^६ लहुया^७ ॥
- ३६२/१७. सव्वसुरा जइ रूवं, अंगुट्ठपमाणयं विउव्वेज्जा^८।
जिणपायंगुट्ठं पइ, न सोहए तं जहिं गालो^९ ॥
- ३६२/१८. गणहर आहार अणुत्तर य जाव वण चक्कि वासु बला।
मंडलिया जा^{१०} हीणा, छट्ठाणगता भवे सेसा^{११} ॥
- ३६२/१९. संघयण-रूव संठाण^{१२}, वण्ण-गति-सत्त-सार-उस्सासा^{१३}।
एमादऽणुत्तराइ^{१४} हवन्ति नामोदया^{१५} तस्स^{१६} ॥
- ३६२/२०. पगडीणं अण्णासु^{१७} वि, पसत्थ उदया अणुत्तरा होति।
खय-उवसमे वि य तहा, खयम्मि अविगप्पमाहंसु^{१८} ॥
- ३६२/२१. अस्सायमाइयाओ, जा वि य असुहा हवन्ति पगडीओ।
निंवरसलवोव्व पए, न होति ता असुहया तस्स^{१९} ॥
- ३६२/२२. धम्मोदएण रूवं, करेति रूवस्सिणो वि जइ धम्मं।
गण्झवओ^{२०} य सुरूवो, पसंसिमो तेण 'रूवं ति'^{२१} ॥
- ३६२/२३. कालेण असंखेण वि, संखातीताण संसईणं तु।
मा संसयवोच्छिती, न होज्ज कमवागरणदोसा^{२२} ॥
- ३६२/२४. सव्वत्थ अविमत्तं^{२३}, रिद्धिविसेसो अकालहरणं च।
सव्वण्णपच्चओ वि य, अचिंतगुणभूतिओ जुगवं^{२४} ॥

१. अरि (अ, ब, म)।

२. विणयमूलं (बृभा)।

३. कहए (अ, हा, दी)।

४. बृभा ११९४।

५. न दिट्ठपुव्वं (हा, बृभा, दी)।

६. 'गमे' (ब, हा, दी, बृभा)।

७. चूर्णि में यह गाथा अव्याख्यात है, बृभा ११९५।

८. विउव्वंति (रा), विउव्विज्जा (ब)।

९. बृभा ११९६।

१०. ता (ब, हा, दी, ला)।

११. बृभा ११९७।

१२. सट्ठाणे (ब, स)।

१३. ऊसासा (ब, म, रा, ला, बृभा)।

१४. एमाइणु (अ, ब, हा, दी, रा)।

१५. 'दए' (अ, हा, दी)।

१६. बृभा ११९८।

१७. अण्णास (बृभा)।

१८. बृभा ११९९।

१९. बृभा १२००।

२०. गेज्झ (ब, म, स), गिज्झ (हा, दी)।

२१. रूवं तु (हा, दी), रूवम्मि (अ), बृभा १२०१।

२२. बृभा १२०२।

२३. अ समत्तं (म)।

२४. बृभा १२०३।

- ३६२/२५. वासोदगस्स व जहा, वण्णादी होंति भायणविसेसा।
सव्वेसिं पि सभासा^१, जिणभासा परिणमे एवं ॥
- ३६२/२६. साधारणाऽसवत्ते^२, तओवओगो^३ उ गाहगगिराए।
न य निव्विज्जइ^४ सोया, किडिवाणियदासिआहरणा^५ ॥
- ३६२/२७. सव्वाउयं पि सोता, खवेज्ज^६ जइ हु^७ सययं जिणो कहए।
सी-उण्ह-खुप्पिवासा, परिस्समभए अविगणेंते^८ ॥
- ३६२/२८. 'वित्ती उ'^९ सुवण्णस्सा, बारस अद्धं च सयसहस्साइं^{१०}।
तावइयं चिय कोडी, पीतीदाणं तु चक्कीणं^{११} ॥
- ३६२/२९. एतं चेव पमाणं, णवरं रययं तु केसवा देंति।
मंडलियाण सहस्सा, 'वित्ती पीई'^{१२} सयसहस्सा^{१३} ॥
- ३६२/३०. भत्तिविभवाणुरूवं, अण्णे वि य देंति इब्भमादीया।
सोऊण जिणागमणं, निउत्तमणिओइएसुं^{१४} वा^{१५} ॥
- ३६२/३१. देवाणुवित्ति^{१६} भत्ती, पूया-धिरकरण-सत्तअणुकंपा।
सातोदय दाणगुणा, पभावणा चेव तित्थस्स^{१७} ॥
- ३३२/३२. राया व रायऽमच्चो, तस्साऽसइ^{१८} पउरजणवओ^{१९} वा वि।
दुब्बलि^{२०}-'खंडिय-बलिछडिय'^{२१} तंदुलाणाढगं कलमा ॥
- ३६२/३३. भाइय-पुणाणियाणं, अखंडऽफुडियाण फलगसरियाणं।
कीरइ बली सुरा वि य, तत्थेव छुहंति गंधाई^{२२} ॥
- ३६२/३४. बलिपविसणसमकालं, पुव्वहारेण ठाति परिकहणा।
तिगुणं पुरओ पाडण, तस्सद्धं अवडियं देवा^{२३} ॥

१. सभासं (म, बृभा १२०४)।

२. 'सवत्ताइ (ला)।

३. तदुव' (ब, म, हा, दी)।

४. निव्विज्जइ (अ)।

५. बृभा १२०५।

६. इव्वेज्ज (अ, रा), इविज्ज (म)।

७. इह (रा)।

८. 'गणंतो (ब, म), बृभा १२०६।

९. वत्तीओ (चू)।

१०. 'सहस्सा (अ)।

११. चक्किस्स (हा, दी, रा, स), बृभा १२०७।

१२. पीईदाणं (अ, स, हा, दी)।

१३. चूर्णि में इस गाथा का संकेत नहीं है पर व्याख्या प्राप्त है, बृभा १२०८।

१४. 'इएसिं (ब)।

१५. यह गाथा चूर्णि में अव्याख्यात है, बृभा १२०९।

१६. देवाणुवित्ति (हा, दी)।

१७. बृभा १२१०।

१८. तस्सऽसइ (हा, दी, ला)।

१९. 'जाणवउ (म)।

२०. दुब्बल (ला)।

२१. खंडि बलिच्छ' (म), कंडिय बलि' (बृभा १२११)।

२२. गंधाई (म), बृभा १२१२।

२३. बृभा १२१३।

- ३६२/३५. अद्धं अहिवङ्गो, 'अवसेसं हवइ'^१ पागयजणस्स ।
सव्वाययप्पसमणी^२, कुप्पइ णऽण्णो य छम्मासे^३ ॥
- ३६२/३६. खेदविणोदो सीसगुणदीवणा पच्चओ उभयतो वि ।
सीसायरियकमो वि य, गणहरकहणे गुणा होति^४ ॥
- ३६२/३७. 'राओवणीयसीहासणे निविट्ठो व पायपीढम्मि'^५ ।
जेट्ठो अन्नयरो वा, 'गणहारि कहेइ'^६ बीयाए ॥
- ३६२/३८. संखातीते वि भवे, साहइ जं^७ वा परो उ पुच्छेज्जा ।
न य^८ णं^९ अणाइसेसी, वियाणई एस छउमत्थो^{१०} ॥

समवसरणं सम्मत्तं

३६३. तं दिव्वदेवघोसं, सोऊण माणुसा^{११} तहिं तुट्ठा ।
अहो जण्णिण्ण जट्ठं^{१२}, देवा किर आगया इहइ^{१३} ॥
- ३६३/१. सीहासणे निसण्णो, रत्तासोगस्स हेट्ठओ भगवं ।
सक्को सहेमजालं, सयमेव य गेण्हते छत्तं^{१४} ॥
- ३६३/२. दो होति चामराओ, सेयाओ मणिमएहि दंडेहिं ।
ईसाणचमरसहिता, 'देवेहिं पहिट्ठचित्तेहिं'^{१५} ॥
३६४. एक्कारस वि गणहरा, सव्वे उण्णतविसालकुलवंसा ।
पावाएँ मज्झिमाए, समोसडा जण्णवाडम्मि^{१६} ॥
३६५. पढमेत्थ इंदभूती, 'बितिए पुण'^{१७} होति अग्गिभूति त्ति ।
ततिए य वाउभूती, तओ वियत्ते सुहम्मे च^{१८} ॥

१. तद्धं मो होइ (बृभा) ।

२. प्राकृतशैल्या स्त्रीलिंगनिर्देशः (हाटी, मटी, दी) ।

३. बृभा १२१४ ।

४. बृभा १२१५ ।

५. 'सणोवविट्ठो य पायपीढे वा (म, रा, बृभा) ।

६. 'हारी कहइ (अ, हा, दी), बृभा १२१६ ।

७. जे (ब) ।

८. उ (म) ।

९. णमिति वाक्यालंकारे (हाटी, मटी, दी) ।

१०. बृभा १२१७ ।

११. माहणा (म) ।

१२. जुट्ठं (रा) ।

१३. इहयं (म, रा), इहं (अ), स्त्रो ४३१/१९८४ ।

१४. ३६३/१, २—ये दोनों गाथाएँ स्त्रो (४३२/१९८५, ४३३/१९८६) और को (४३२/२००५, ४३३/२००६) में निर्युक्ति गाथा के क्रम में हैं। हा, म, दी आदि टीकाओं में ये निगा के क्रम में नहीं मिलती हैं। चूर्ण में भी इन गाथाओं का कोई संकेत एवं व्याख्या नहीं मिलती है। ये गाथाएँ अतिरिक्त सी प्रतीत होती हैं अतः हमने इनको निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं जोड़ा है।

१५. धरेति ते णातवच्छस्स (स्त्रो ४३३/१९८६) ।

१६. स्त्रो ४३४/१९८७ ।

१७. बिइओ उण (हा, दी), बीए (ब, रा, ला), 'पुणो (स) ।

१८. स्त्रो ४३५/१९८८, नंदी २० ।

३६६. मंडिय-मोरियपुत्ते, अकंपिए चेव अयलभाता य।
मेयज्जे य पभासे, गणहरा होंति वीरस्स^१॥
३६७. 'जं कारण'^२ निक्खमणं, वोच्छं एतेसि आणुपुब्बीए।
तित्थं च सुहम्माओ, णिरवच्चा गणधरा सेसा^३॥
३६८. जीवे कम्मे तज्जीव भूते^४ तारिसय बंधमोक्खे य।
देवा 'णेइया वा'^५, पुण्णे परलोग निव्वाणो^६॥
३६९. पंचणहं पंचसया, अट्ठुसया य होंति दोण्ह गणा।
दोण्हं तु जुवल्याणो^७, तिसतो तिसतो हवति^८ गच्छो^९॥
- ३६९/१. भवणवति-वाणमंतर, जोतिसवासी विमाणवासी य।
सव्विड्ढिए सपरिसा, कासी नाणुप्पयामहिमं^{१०}॥
३७०. दट्ठूण'^{११} कीरमाणि'^{१२}, महिमं देवेहि जिणवरिदस्स।
अह एति अहम्माणी, अमरिसओ^{१३} इंदभूति^{१४}॥

१. स्‍वो ४३६/१९८९, नंदी २१।

२. एक्‍कारस (चू)।

३. स्‍वो ४३७/१९९०।

४. भूय (हा, दी, म, स)।

५. 'इए या (ब, स, हा, दी)।

६. गेव्वाणे (अ, ब, स, हा, दी, स्‍वो ४३८/१९९१), निर्युक्‍तिकार ने ग्यारह गणधरों के प्रसंग में महावीर के मुख से केवल संशय प्रस्‍तुत करवाए हैं, उनका समाधान नहीं। यहां एक प्रश्‍न उठता है कि निर्युक्‍तिकार ने महावीर के मुख से समाधान प्रस्‍तुत क्यों नहीं किया? इस संदर्भ में यह संभव है कि समाधान प्रस्‍तुत करने वाली गाथा भाष्य में मिल गयी हो अथवा निर्युक्‍तिकार ने इस प्रसंग को अछूता ही छोड़ दिया हो।

७. जुयल (म)।

८. भवे (हा, दी)।

९. स्‍वो ४३९/१९९२, यह गाथा चूर्णि में अव्याख्यात है।

१०. यह गाथा केवल स्‍वो (४४०/१९९३) और को (४४०/२०१३) में निर्युक्‍ति गाथा के क्रम में मिलती है। हा, म, दी तथा हस्‍तप्रतियों में इस क्रम में यह गाथा नहीं मिलती। चूर्णि में भी इस गाथा का संकेत एवं व्याख्या नहीं है। यह गाथा पहले भाष्यगाथा के क्रम में आई हुई है। (स्‍वो १९७७, को १९९५)

११. अ, ब और ला प्रति तथा हाटी आदि टीकाओं में 'दट्ठूण' के स्‍थान पर 'सोऊण' पाठ मिलता है।

१२. 'माणों (अ, हा, दी)।

१३. अमरिसओ (म)।

१४. स्‍वो ४४१/१९९४, इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्‍तप्रतियों में पांच गाथाएं 'गाथापंचकं ऽन्या ऽव्या' उल्लेख के साथ मिलती हैं। हा में इन गाथाओं का कोई उल्लेख नहीं है किन्‍तु मटी में 'एतदेव सविस्‍तरं भाष्यकार आह' उल्लेख के साथ ये गाथाएं व्याख्यायित हैं। दी में निम्‍न पांच गाथाएं गणधरवाद की समाप्ति के बाद 'अत्र क्षेपकगाथा' उल्लेख के साथ मिलती हैं (दी प १२०)। वे गाथाएं इस प्रकार हैं—

मोत्तूण ममं लोगो, किं वच्‍चइ एस तस्‍स पामूले।
अन्नो वि जाणइ मए, ठियम्मि कत्तुच्चियं एयं॥१॥
वच्‍चेज्ज व मुक्‍खजणो, देवा कहऽणेण विम्‍हयं णीया।
वंदंति संथुणंति य, जेण सव्वण्णुबुद्धीए॥२॥
अहवा जारिसओ च्चिय, सो नाणी तारिसा सुर ते वि।
अणुसरिसो संजोगो, गामनडाणं व मुक्‍खाणं॥३॥
काउं हयप्‍पयावं, पुरतो देवाण दाणवाणं च।
नासेहं नीसेसं, खणेण सव्वण्णुवायं से॥४॥
इय वुत्तूणं पत्तो, दट्ठुं तेत्तुक्‍कपरिवुडं वीरं।
चउत्तीसाइसयनिहिं, स संकिओ चिट्ठओ पुरओ॥५॥
स्‍वो तथा को में ये पांचों गाथाएं भागा के क्रम में हैं, (स्‍वो १९९५-१९९९, को २०१५-२०१९)।

३७१. आभट्टो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू-सव्वदरिसीणं^१॥
३७२. किं मन्नि अत्थि जीवो, उदाहु नत्थि ति संसओ तुज्झ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो^२॥
३७३. छिण्णम्मि संसयम्मी^३, जिणेण जर-मरण-विप्पमुक्केणं।
सो समणो पव्वइओ, पंचहि सह खंडियसएहिं^४॥
३७४. तं पव्वइयं सोउं, बित्तिओ^५ आगच्छती अमरिसेणं।
वच्चांमि णमाणेमी^६, पराजिणित्ता ण^७ तं समणं^८॥
३७५. आभट्टो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं^९।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू-सव्वदरिसीणं^{१०}॥
३७६. किं मन्नि अत्थि कम्मं, उदाहु णत्थि ति संसओ तुज्झ।
वेयपयाण च अत्थं, ण जाणसी^{११} तेसिमो अत्थो^{१२}॥

१. 'दरिसिणा (म), स्वी ४४२/२०००, इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में दो अन्यकर्तृकी गाथाएं मिलती हैं। किन्तु अ, ब, स और ला प्रति में 'गाथाद्वयं ऽन्याऽव्या' का उल्लेख है। मटी में ये भागा के क्रम में निर्दिष्ट हैं—

हे इंदभूतिगोतम! सागतमुत्ते जिणेण चिंतैई।
नामं पि मे वियाणइ, अहवा को मं न याणेइ ॥१॥
इ वा हि ऽयगयं मे, संसय मन्निज्ज अहव छिंदेज्जा।

ता हुज्ज विम्हओ मे, इय चिंतैतो पुणो भणिओ ॥२॥
दोनों भाष्यों में ये गाथाएं भागा के क्रम में हैं (स्वी २००१, २००२, को २०२१, २०२२)। दी में ये गाथाएं गणधर से सम्बन्धित गाथाओं के बाद हैं (दी प १२१)। हाटी में इन गाथाओं का उल्लेख नहीं है।

२. स्वी ४४३/२००३।

३. 'यम्मि य (म)।

४. स्वी ४४४/२०५९।

५. बीओ (म, रा)।

६. णमिति वाक्यालंकारे आनयामि (हाटी, दी, मटी)।

७. णमिति वाक्यालंकारे (मटी), इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में 'गाथाद्वयं ऽन्याऽव्या' उल्लेख के साथ दो अन्यकर्तृकी गाथाएं मिलती हैं। दोनों भाष्य तथा मटी में ये भागा के क्रम में हैं। दी में ये गाथाएं गणधरवाद से सम्बन्धित गाथाओं के

बाद हैं (दी प १२१)। हाटी में ये गाथाएं नहीं हैं।

छलितो छलाइणा सो, मन्ने मा इंदजालिओ वावि।
को जाणति कह वत्तं, इत्ताहे वट्टमाणी से ॥१॥
सो पक्खंतरमेगं, पि जाति जइ मे ततो मि तस्सेव।
सीसत्तं होज्ज गतो, वोत्तुं पत्तो जिणसगासं ॥२॥
(मटीभा १२७, १२८, स्वी २०६२, २०६३)

८. स्वी ४४५/२०६१।

९. गा. ३७५-४१३ तक की गाथाएं गणधरों से सम्बन्धित होने के कारण कुछ अंतर के साथ पुनरावृत्त हुई हैं अतः प्रायः सभी हस्तप्रतियों में कहीं गाथा का एक चरण कहीं दो चरण तथा कहीं-कहीं गाथा का संकेत मात्र है। इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में 'गाथाद्वयं ऽन्याऽव्या' उल्लेख के साथ निम्न दो अन्यकर्तृकी गाथाएं हैं। मटी में ये भागा (१२९, १३०) के क्रम में हैं—

हे अग्गिभूइगोयम! सागयमुत्ते जिणेण चिंतैई।
नामं पि मे वियाणइ, अहवा को मं न याणेइ ॥१॥
जइ वा हि ययगयं मे, संसय मन्निज्ज अहव छिंदेज्जा।
ता हुज्ज विम्हओ मे, इय चिंतैतो पुणो भणितो ॥२॥

१०. स्वी ४४६/२०६४।

११. याणसी (म)।

१२. स्वी ४४७/२०६५।

३७७. छिण्णम्मि संसयम्मी^१, 'जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केण'^२।
सो समणो पव्वइओ, पंचहि सह खंडियसएहिं^३ ॥
३७८. ते पव्वइए सोउं, ततिओ आगच्छती जिणसगासं।
वच्चांमि ण वंदामी^४, वंदित्ता पज्जुवासामि^५ ॥
३७९. आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं^६ ॥
३८०. तज्जीवतस्सरीरं ति संसओ न वि य पुच्छसे^७ किंचि^८।
वेयपयाण य अत्थं, ण जाणसी^९ तेसिमो अत्थो ॥
३८१. छिण्णम्मि संसयम्मी, 'जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केण'^{१०}।
सो समणो पव्वइतो, पंचहि सह खंडियसएहिं^{११} ॥
३८२. ते पव्वइए सोउं, वियत्तु^{१२} आगच्छती जिणसगासं।
वच्चांमि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि^{१३} ॥
३८३. आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं^{१४} ॥
३८४. किं 'मग्नि पंचभूता'^{१५}, 'अत्थि व'^{१६} नत्थि ति संसओ तुज्झ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो^{१७} ॥
३८५. छिण्णम्मि संसयम्मी, 'जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केण'^{१८}।
सो समणो पव्वइतो, पंचहि सह खंडियसएहिं^{१९} ॥

१. 'यम्मि (चू)।

२. जाइ-जरा मरण' (म)।

३. स्‍वो ४४८/२०९९।

४. वंदामि (म), वंदामिं (स्‍वो ४४९/२१००)।

५. इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में 'गाथाद्वयं ऽन्याऽव्या' उल्लेख के साथ दो अन्यकर्तृकी गाथाएं मिलती हैं। मटी में ये भागा (१३१, १३२) के क्रम में निर्दिष्ट हैं—

सीसत्तेणोवगता, संपइ इंदगिभूइणो जस्स।

तिभुवणकयप्पणामो, स महाभागोऽभिगमणिज्जो ॥१॥

तदभिगम-वंदण नमंसणाइणा होज्ज पूतपावोऽहं।

वोच्छिन्नसंसओ वा, वोत्तुं पत्तो जिणसगासं ॥२॥

६. स्‍वो ४५०/२१०३।

७. पुच्छए (स)।

८. कंचि (ला)।

९. याणसी (म) सर्वत्र, याणसे (स्‍वो ४५१/२१०४)।

१०. जाइ-जरा मरण' (म)।

११. स्‍वो ४५२/२१४१।

१२. वियत्त (म), वियत्तो (स्‍वो, हा, दी, स)।

१३. स्‍वो ४५३/२१४२।

१४. स्‍वो ४५४/२१४३।

१५. मण्णे अत्थि भूया (महे)।

१६. अत्थो (ब, ला), अत्थि (हा, दी, म), उदाहु (महे)।

१७. स्‍वो ४५५/२१४४।

१८. जाइ-जरा-मरण' (म)।

१९. स्‍वो ४५६/२२२४।

३८६. ते पव्वइए सोउं, सुहम्म^१ आगच्छती जिणसगासं।
वच्चांमि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि^२ ॥
३८७. आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं^३ ॥
३८८. किं मन्नि जारिसो इहभवम्मि सो तारिसो परभवे वि।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी^४ तेसिमो अत्थो^५ ॥
३८९. छिण्णम्मि संसयम्मी, 'जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केणं'^६।
सो समणो पव्वइतो, पंचहि सह खंडियसएहिं^७ ॥
३९०. ते पव्वइए सोउं, मंडित^८ आगच्छती^९ जिणसगासं।
वच्चांमि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि^{१०} ॥
३९१. आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं^{११} ॥
३९२. किं मन्नि बंधमोक्खा, 'अत्थि व नत्थि ति'^{१२} संसओ तुज्झ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो^{१३} ॥
३९३. छिण्णम्मि संसयम्मी, 'जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केणं'^{१४}।
सो समणो पव्वइतो, अट्ठुट्ठहिं^{१५} सह खंडियसएहिं ॥
३९४. ते पव्वइए सोउं, मोरिय^{१६} आगच्छती जिणसगासं।
वच्चांमि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि^{१७} ॥
३९५. आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं^{१८} ॥

१. सुहमो (हा, दी, अ), सुहम्म (म)।
२. 'सामी (हा, दी), स्वर ४५७/२२२५।
३. स्वर ४५८/२२२६।
४. याणसी (म, स्वर ४५९/२२२७)।
५. जाइ-जरा-मरण (म)।
६. स्वर ४६०/२२५६।
७. मंडिओ (ब, हा, दी)।
८. 'च्छइ (स, ला, हा, दी)।
९. 'गासे (म)।
१०. स्वर ४६१/२२५७।
११. स्वर ४६२/२२५८।

१२. अत्थि ण अत्थि ति (हा, दी), अत्थो नत्थि ति (ब, म, ला), संति न संति ति (महे)।
१३. स्वर ४६३/२२५९।
१४. जाइ-जरा-मरण (म) सर्वत्र।
१५. अट्ठुट्ठहिं (ला, स्वर ४६४/२३१८)।
१६. मोरिओ (ब, स, हा, दी)।
१७. स्वर ४६५/२३१९, पंडित मालवणियाजी द्वारा सम्पादित विशेषावश्यक भाष्य में गा. ३९४ से कोट्यार्य कृत टीका है पर हमने आगे पाद-टिप्पण में स्वर का ही संकेत दिया है।
१८. स्वर ४६६/२३२०।

३९६. 'किं मन्ति संति देवा, उदाहु नत्थि ति'^१ संसओ तुज्झ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो^२ ॥
३९७. छिण्णम्मि संसयम्मी, जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केणं।
सो समणो पव्वइतो, अद्दुद्दिहि^३ सह खंडियसएहिं^४ ॥
३९८. ते पव्वइए सोउं, अकंपिओ आगच्छती^५ जिणसगासं।
वच्चांमि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि^६ ॥
३९९. आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं^७ ॥
४००. किं मन्ने नेरइया, 'अत्थि व नत्थि ति'^८ संसओ तुज्झ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो^९ ॥
४०१. छिण्णम्मि संसयम्मी, जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केणं।
सो समणो पव्वइतो, तिहिं उ सह खंडियसएहिं^{१०} ॥
४०२. ते पव्वइए सोउं, 'अयलो आगच्छती'^{११} जिणसगासं।
वच्चांमि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि^{१२} ॥
४०३. आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं^{१३} ॥
४०४. किं मन्ति पुण्णपावं^{१४}, 'अत्थि व नत्थि ति'^{१५} संसओ तुज्झ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो^{१६} ॥
४०५. छिण्णम्मि संसयम्मी, जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केणं।
सो समणो पव्वइतो, तिहिं उ सह खंडियसएहिं^{१७} ॥

१. किम्मण्णे अत्थि देवो^१ (स्वो, म, महे), किं मन्ति संति देवा
उदाहु न संतीति (हा, दी), किं मन्ति अत्थि देवा^२ (ब, स)।

२. स्वो ४६७/२३२१।

३. अद्दुद्दिहिं (स्वो ४६८/२३३९)।

४. "च्छइ (म)।

५. स्वो ४६९/२३४०।

६. स्वो ४७०/२३४१।

७. अत्थो नत्थि (ब, स), अत्थि न अत्थि (हा, दी)।

८. स्वो ४७१/२३४२।

९. स्वो ४७२/२३५९।

१०. अयलभाया आगच्छइ (ब, हा, दी)।

११. स्वो ४७३/२३६०।

१२. स्वो ४७४/२३६१।

१३. "पावा (ब, स)।

१४. अत्थो नत्थि (ब, स, म), अत्थि न अत्थि (ला)।

१५. स्वो ४७५/२३६२।

१६. स्वो ४७६/२४०३।

४०६. ते पव्वइए सोउं, मेयज्जो^१ आगच्छती जिणसगासं।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि^२ ॥
४०७. आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं^३ ॥
४०८. किं मन्ने परलोगो, 'अत्थी नत्थि ति'^४ संसओ तुज्झ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो^५ ॥
४०९. छिण्णम्मि संसयम्मी, जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केणं।
सो समणो पव्वइतो, तिहिं उ सह खंडियसएहिं^६ ॥
४१०. ते पव्वइए सोउं, पभास आगच्छती जिणसगासं।
वच्चामि ण वंदामी, वंदित्ता पज्जुवासामि^७ ॥
४११. आभट्ठो य जिणेणं, जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्कस्स।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसीणं^८ ॥
४१२. किं मने निव्वाणं^९, 'अत्थी नत्थि ति'^{१०} संसओ तुज्झ।
वेयपयाण य अत्थं, न जाणसी तेसिमो अत्थो^{११} ॥
४१३. छिण्णम्मि संसयम्मी, जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केणं।
सो समणो पव्वइतो, तिहिं उ सह खंडियसएहिं^{१२} ॥
४१४. खेत्ते काले जम्मे, गोत्तमगार-छउमत्थपरियाए।
केवलिय आउ आगम, परिनिव्वाणे^{१३} तवे चेव ॥
४१५. मगहा गोब्बरगामे^{१४}, जाता तिण्णेव गोयमसगोत्ता।
कोल्लागसन्निवेसे^{१५}, जातो वियत्तो सुहम्मो य^{१६} ॥

१. मेयज्जु (ब)।

१२. स्‍वो ४८४/२४७९।

२. स्‍वो ४७७/२४०४।

१३. 'नेव्वाणे (ब, स, हा, दी, स्‍वो ४८५/२४८०)।

३. स्‍वो ४७८/२४०५।

१४. गुब्बर (ब, म, रा, ला), गोबर (स्‍वो)।

४. अत्थि नत्थि (हा, दी), अत्थि ण अत्थि (स्‍वो, महे)।

१५. कुल्लाग (ब, म, रा)।

५. स्‍वो ४७९/२४०६।

१६. स्‍वो ४८६/२४८१, गा. ४१५-३१ तक की १७ गाथाएं महे में व्याख्यात नहीं हैं।

६. स्‍वो ४८०/२४२६।

टीकाकार ने कुछ गाथाओं का संकेत देकर कहा है कि इत्येवमेता अष्टादशानिर्युक्ति गाथाः प्रोक्ताः। यद्यपि ये १७ गाथाएं ही होती हैं पर मलधारी हेमचन्द्र ने खेत्ते काले (गा. ४१४) को मिलाकर १८ गाथाओं का संकेत किया है। ये गाथाएं गणधर के क्षेत्र, जन्म, उनके माता-पिता के नाम तथा आयु आदि द्वारों से सम्बन्धित हैं। महे में खेत्ते गा. ४१४ को भाष्यगाथा के रूप में स्‍वीकृत किया है। इसके लिए निर्युक्ति गाथा आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है।

७. स्‍वो ४८१/२४२७।

८. स्‍वो ४८२/२४२८।

९. णेव्वाणं (स्‍वो)।

१०. अत्थि नत्थि (हा, दी, स)।

११. स्‍वो ४८३/२४२९।

४१६. मोरीयसन्निवेसे, दो भायर^१ मंडि-मोरिया^२ जाता।
अयलो य कोसलाए, मिहिलाएँ अकंपिओ^३ जातो^४ ॥
४१७. तुंगीयसन्निवेसे, मेतज्जो^५ वच्छभूमि^६ जातो।
भगवं पि य प्पभासो^७, रायगिहे गणधरो जातो^८ ॥
४१८. जेट्ठा कत्ति^९ साती, सवणो^{१०} हत्थुत्तरा महाओ य।
रोहिणि उत्तरसाढा, मिसिर^{११} तह अस्सिणी पूसो^{१२} ॥
४१९. वसुभूती धणमित्ते, धम्मिल धणदेव मोरिए चेव^{१३}।
‘देवे ‘वसू य’^{१४} दत्ते^{१५}, बले य पितरो गणधराणो^{१६} ॥
४२०. पुह्वी य वारुणी भट्टिला^{१७} य विजयदेवा तहा जयंती य।
णंदा य वरुणदेवा, अतिभदा^{१८} य मातरो^{१९} ॥
४२१. तिण्णि य गोयमगोत्ता^{२०}, भारद्वा अगिगवेस वासिट्ठा।
कासव-गोतम-हारिय, कौण्डिण्णदुगं च गोत्ताई^{२१} ॥
४२२. पण्णा छयालीसा^{२२}, ‘बायाला होति पण्ण’^{२३} पण्णा य।
तेवण्ण पंचसट्ठी, अडतालीसा य छायाला^{२४} ॥
४२३. छत्तीसा सोलसगं, अगारवासो भवे गणहराणं।
छउमत्थपरीयागं^{२५}, अहक्कमं कित्तइस्सामि^{२६} ॥
४२४. तीसा बारस दसगं, ‘बारस बायाल’^{२७} चउदसदुगं^{२८} च।
नवमं बारस दस अट्ठगं च छउमत्थपरियाओ^{२९} ॥

१. भातुग (स्वो), भायरो (ब, हा, दी)।	१५. स्वो ४९०/२४८५।
२. मंडिमो (स्वो), मंडमो (दी)।	१६. भट्टिला (स्वो)।
३. अकंपिओ (स्वो)।	१७. अईभ (म)।
४. चेव (ब), स्वो ४८७/२४८२।	१८. अंतिम चरण में अनुष्टुप् छंद का प्रयोग हुआ है, स्वो ४९१/२४८६।
५. मेतज्जो (स्वो)।	१९. ‘गुत्ता (ब, म) सर्वत्र, गोयमसगोत्ता (अ)।
६. पभासो (म)।	२०. स्वो ४९२/२४८७।
७. स्वो ४८८/२४८३।	२१. छतालीसा (चू)।
८. कित्ति (हा, दी, स, ला)।	२२. बाताला पण्ण होति (स्वो)।
९. समणो (स्वो)।	२३. स्वो ४९३/२४८८।
१०. मयसिर (स्वो)।	२४. ‘मत्थयपरि’ (स, हा, दी), ‘मत्थं परि’ (म)।
११. पुस्सो (ब, स, म, रा, ला), स्वो ४८९/२४८४।	२५. स्वो ४९४/२४८९।
१२. देवे (स्वो)।	२६. बारसया चत्ता (चू)।
१३. अवस्स (रा)।	२७. चोदस (रा, हा, दी, स्वो)।
१४. वसुदेवे तह दत्ते (स्वो)।	२८. स्वो ४९५/२४९०।

४२५. छउमत्थपरीयागं^१, अगारवासं च वोगसित्ताणं^२ ।
सव्वाडगस्स सेसं, जिणपरियागं^३ वियाणाहि^४ ॥
४२६. बारस सोलस अट्टारसेव अट्टारसेव अट्टेव ।
सेलस सेलस तह^५ एगवीस चउदस सेले य सेले य^६ ॥
४२७. बाणउती 'चउहत्तरि, सत्तरि^७ तत्तो भवे असीती^८ य ।
एगं च सयं तत्तो, 'तेसीती पंचणउती य'^९ ॥
४२८. अट्टत्तरि च वासा, तत्तो बावत्तरि च वासाई ।
बावट्ठी^{१०} चत्ता खलु, सव्वगणहराउयं एतं ॥
४२९. सव्वे य माहणा जच्चा, सव्वे अज्झावया विदू ।
सव्वे 'दुवालसंगी य'^{११}, सव्वे चउदसपुव्विणो^{१२} ॥
४३०. परिणिव्वुया गणहरा, जीवन्ते णायए नव जणा उ ।
'इंदभूती सुहम्मो^{१३}' य, रायगिहे निव्वुए बीरे ॥
४३१. मासं पायोवगता^{१४}, सव्वे वि य सव्वलद्धिसंपण्णा^{१५} ।
वज्जरिसभसंघयणा, समचउरंसा य संठाणा^{१६} ॥

‘गणहरवाओ समत्तो’

४३२. दव्वे अट्ठ अहाउय, उवक्कमे देस काल काले य ।
तह य पमाणे^{१७} वण्णे, भावे पगतं तु भावेणं^{१८} ॥
४३३. चेयणमचेयणस्स य^{१९}, दव्वस्स ठिती^{२०} तु जा चउविगप्पा ।
सो होति दव्वकालो, अहवा दवियं 'तु तं'^{२१} चेव^{२२} ॥

१. 'मत्थप्परी' (चू.), 'मत्थपरि' (म) ।

२. वोगसित्ताणं (चू.), वुक्कसित्ताणं (ब, म, स, ला), वक्कसि' (अ) ।

३. 'परियारो (ब) ।

४. स्वी ४९६/२४९१ ।

५. X (म) ।

६. स्वी ४९७/२४९२, हा और दी में इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—
सोलस सोल तहेकवीस चोद सोले य सोले य ॥

७. चउसत्तरि' (चू.), चतुसत्तरि सत्तरी (स्वी) ।

८. असीति (स्वी) ।

९. पणउई चेव तेसीई (दीपा), स्वी ४९८/२४९३ ।

१०. बासट्ठी (स्वी ४९९/२४९४) ।

११. 'संगीआ (म) ।

१२. चोदस' (स, ला, हा, दी, स्वी ५००/२४९५) ।

१३. सुहम्मो इन्दभूती (स्वी ५०१/२४९६) ।

१४. पातोव' (चू) ।

१५. 'संपुण्णा (रा) ।

१६. संठाणे (म), संट्टाणे (स्वी. ५०२/२४९७) ।

१७. पमाणं (म) ।

१८. स्वी ५०३/२५०२ ।

१९. व (हा, दी, स्वी) ।

२०. ठिइ (हा, दी) ।

२१. तयं (महे) ।

२२. स्वी ५०४/२५०३ ।

- ४३३/१. गइ सिद्धा भविया या^१, अभविय पोगल^२ अणागयद्धा य।
तोयद्ध तिनि काया, जीवाजीवट्ठिती चउहा ॥
४३४. समयावलिय-मुहुता, दिवसमहोरत्त^३-पक्ख-मासा^४ य।
संवच्छर-जुग-पलिया, सागर-ओसप्पि-परियट्ठा^५ ॥
४३५. नेरइय-तिरिय-मणुया^६, देवाण अहाउगं तु जं जेण।
निव्वत्तियमण्णभवे, पालेंति अहाउकालो सो^७ ॥
४३६. दुविहोवक्कमकालो, सामायारी अहाउगं चेव।
सामायारी तिविधा, ओहे दसधा पदविभागे^८ ॥
- ४३६/१. इच्छा मिच्छा तहक्कारो^९, य आवस्सिया य निसीहिया^{१०}।
'आपुच्छणा य पडिपुच्छा'^{११}, छंदणा य निमंतणा^{१२} ॥
- ४३६/२. उवसंपया उ काले, सामायारी भवे 'दसविहा उ'^{१३}।
एतेसिं तु पयाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं^{१४} ॥

१. य (ब)।

२. पुगला (स), यह गाथा हा, म, दी में निगा के क्रम में निर्दिष्ट है।
चूर्ण में इस गाथा की विस्तृत व्याख्या है। स्वी और महे में यह निगा
के रूप में स्वीकृत नहीं है। विषयवस्तु की दृष्टि से भी यह गाथा
संग्रहगाथा के रूप में बाद में जोड़ दी गई है, ऐसा प्रतीत होता
है। इसको निगा के रूप में स्वीकृत न करने पर भी चालू विषयवस्तु
में कोई अंतर नहीं आता।

३. दिवस अहो^३ (म, रा, स)।

४. मासो (म)।

५. पलियट्ठा (महे), स्वी ५०५/२५०८, अनुद्धा ४१५/गा. १।

६. माणुस (ब, ला), मणुस्स (म), आकार: प्राकृतत्वात् (दी)।

७. उ (महे), स्वी ५०६/२५१०।

८. स्वी ५०७/२५१२, इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में
'इयं अन्या एत्थंतरे ओहनिज्जुत्ती भाणियव्वा' उल्लेख के साथ
ओघनिर्युक्ति की प्रथम गाथा मिलती है। चूर्ण में भी 'अरहंते
वंदिता.....एत्थंतरे ओहनिज्जुत्ती भाणियव्वा जाव सम्पत्ता' का
उल्लेख है। यह गाथा सामाचारी के प्रसंग में यहां उद्धृत की गयी
है—

अरहंते वंदिता, चउदसपुव्वी तवेव दसपुव्वी।

एकारसंगसुत्तथधारए सव्वसाहू य ॥

९. तहकारो (हा, दी, रा)।

१०. निसीहिय (ला)।

११. आपुच्छा य पडिपुच्छा (म)।

१२. ठाणं १०/१०२, गा. १, गा. ४३६/१-५७ तक की ५७ गाथाएं हा,
म, दी में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु टीकाकारों ने
गाथाओं की व्याख्या में कहीं भी निर्युक्ति-गाथा का संकेत नहीं
किया है। सभी हस्तप्रतियों में ये गाथाएं मिलती हैं। चूर्ण में प्रायः
गाथाओं के संकेत एवं व्याख्या प्राप्त हैं। यहां मूल द्वारगाथा दव्वे
अद्ध.... (गा. ४३२) की व्याख्या चल रही हैं। उसमें दव्वे अद्धा
और अहाउय की व्याख्या के बाद उवक्कम की व्याख्या में सामाचारी
का प्रकरण है अतः ४३६ गाथा की 'सामायारी तिविधा ओहे
दसधा पदविभागे' इन दो चरणों को स्पष्ट करने के लिए
सामाचारी-विधि से सम्बन्धित गाथाओं को बाद में जोड़ दिया गया
है। यहां ये गाथाएं प्रसंगोपात्त नहीं हैं। स्वी और महे में ये गाथाएं
निगा के रूप में निर्दिष्ट नहीं हैं। पंडित दलसुखभाई मालवगणिया ने
इन्हें पाद-टिप्पण में दिया है। इन गाथाओं को निगा मानने से चालू
व्याख्या क्रम में व्यवधान सा लगता है।

१३. दसहा (हा, दी), दसहा उ (अ)।

१४. ठाणं १०/१०२ गा. २।

- ४३६/३. जइ अब्भत्थेज्ज परं, कारणजाते करेज्ज से^१ कोई^२।
तत्थ वि इच्छाकारो, न कप्पति^३ बलाभिओगो उ ॥
- ४३६/४. अब्भुवगयम्मि^४ नज्जति, अब्भत्थेउं न वट्टति परो उ।
अणिगूहियबलविरिएण, 'साहूण ताव'^५ होयव्वं ॥
- ४३६/५. जइ होज्ज तस्स अणलो, कज्जस्स वियाणती न वा वाणं^६।
'गेलण्णाईहि व हुज्ज, वावडो'^७ कारणेहिं सो ॥
- ४३६/६. रायणियं वज्जेत्ता^८, इच्छाकारं करेति सेसाणं।
एयं मज्झं कज्जं, 'तुब्भे उ'^९ करेह'^{१०} इच्छाए ॥
- ४३६/७. अहवा वि विणासंतं, अब्भत्थेतं^{११} च अण्ण दट्ठुणं।
अन्नो कोइ भणेज्जा, तं साहुं निज्जरट्ठीओ^{१२} ॥
- ४३६/८. अहयं तुब्भं एयं, 'कज्जं तु करेमि'^{१३} इच्छकारेणं।
तत्थ वि सो इच्छं से, करेति मज्जायमूलीयं^{१४} ॥
- ४३६/९. अहवा सयं करेतं^{१५}, किंची अण्णस्स वा वि दट्ठुणं।
तस्स वि करेज्ज^{१६} इच्छं, मज्झं पि इमं करेहि^{१७} ति ॥
- ४३६/१०. तत्थ वि सो इच्छं से, करेति दीवेति कारणं वा वि।
इहरा अणुग्गहत्थं, कायव्वं साहुणो किच्चं ॥
- ४३६/११. अहवा नाणादीणं, अट्ठाए जइ करेज्ज^{१८} किच्चाणं।
वेयावच्चं कोई^{१९}, तत्थ वि तेसिं भवे इच्छा ॥
- ४३६/१२. आणा-बलाभियोगो, निगंथाणं न कप्पए^{२०} काउं।
इच्छा पउंजियव्वा, सेहे रायणिए^{२१} तहा^{२२} ॥

१. व सि (ब)।	११. 'त्थंतं (ब, म, रा)।
२. कोई (ब, रा)।	१२. 'रट्ठिओ (म)।
३. कप्पई (हा, दी)।	१३. करेमि कज्जं तु (हा, दी, रा, स)।
४. अब्भत्थिज्जइ (दी), 'गमम्मि (हा, ला, रा)।	१४. 'मूलियं (अ, हा, दी)।
५. साहुणा जेण (हाटीपा), जेण साहुणा (अपा, लापा), जेण साहूण (मटीपा)।	१५. करितं (ब)।
६. वाणमिति पूरणार्थो निपातः (हाटी पृ. १७३)	१६. करेइ (म)।
७. भिलाणाईहिं वा हुज्ज वियावडो (अ, हा, दी), गेलन्नाईहि वि हुज्जा वा (म)।	१७. करेह (ब, म, ला)।
८. वज्जित्ता (ब, म)।	१८. करिज्ज (म, ला)।
९. तुब्भेह (ब, म)।	१९. किंची (बपा, लापा, हाटीपा, मटीपा)।
१०. करिज्ज (ब, ला)।	२०. कप्पई (अ, ब, हा, दी)।
	२१. राईणिए (हा, दी)।
	२२. गाथा के चौथे चरण में अनुष्टुप् छंद है।

- ४३६/१३. जह जच्चबाहलाणं, आसाणं^१ जणवएसु जायाणं।
सयमेव खलिणगहणं, अहवावि बलाभिओगेणं॥
- ४३६/१४. पुरिसज्जाए वि तहा, विणीयविणयम्मि नत्थि अभियोगो।
सेसम्मि उ अभियोगो, जणवयजाए जहा आसे॥
- ४३६/१५. अब्भत्थणाइ मरुओ, वाणरओ चेव होति दिट्ठंतो।
गुरुकरणे सयमेव उ, वाणियगा दोष्णि दिट्ठंता^२॥
- ४३६/१६. संजमजोगे^३ अब्भुट्ठियस्स सद्वाए काउकामस्स।
लाभो चेव तवस्सिस्स, होति अहीणमणसस्स॥
- ४३६/१७. संजमजोगे अब्भुट्ठियस्स^४ जं किंचि वितहमायरियं।
मिच्छा एतं ति वियाणिऊण मिच्छ ति कायव्वं॥
- ४३६/१८. जदि य पडिक्कमियव्वं, अवस्स काऊण पावयं कम्मं।
तं चेव न कायव्वं, तो होइ पए पडिक्कंतो॥
- ४३६/१९. जं दुक्कडं ति मिच्छा, तं भुज्जो कारणं अपूरंतो^५।
तिविहेण पडिक्कंतो, तस्स क्खलु दुक्कडं मिच्छा॥
- ४३६/२०. जं दुक्कडं ति मिच्छा, तं चेव निसेवए पुणो पावं।
पच्चक्खमुसावादी, माया-नियडोपसंगो य॥
- ४३६/२१. मि ति मिउमद्दवत्ते, छ ति य दोसाण छायाणे होति।
मि ति य मेराय ठिओ, दु ति दुगुंछामि अप्पाणं॥
- ४३६/२२. क ति कडं मे पावं, डं ति य डेवमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छादुक्कडपयक्खरत्थो^६ समासेणं॥
- ४३६/२३. कप्पाकप्पे परिणिट्ठियस्स ठाणेसु पंचसु ठियस्स।
संजमतवड्ढगस्स^७ उ, अविक्कप्पेणं तहाकारो^८॥

१. अस्साणं (ला)।

२. इस गाथा के बाद हस्तप्रतियों में निम्न तीन अन्यकर्तृकी गाथाएं मिलती हैं। हा, दी और म में ये उद्धृतगाथा के रूप में हैं—

सुत्तत्थेसु अचिंतण, आसे वुड्ढ सेहगगिलाणे।
वाले खमगे वाई, इड्ढीमाई अणिड्ढी य॥१॥
एएहि कारणेहिं, तुंबभूतो उ होति आयरिओ।
वेयावच्चं न करे, कायव्वं तस्स सेसेहिं॥२॥

जेण कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आपरेण रक्खेह।

न हु तुंबम्मि विणट्ठे, अरगा साहारगा होति॥३॥

३. वेयावच्चे (ब, रा, म)।

४. अब्भुट्ठिएण (चू)।

५. अपूरंतो (म), स्वयं कायेनाप्यकुर्वन् पूरयन् अभिधीयते (मटी)।

६. दु (ब)।

७. मिच्छाउक्कडं (हा)।

८. तवड्ढगस्स (म)

९. तहक्का (ब, म, ला, स)।

- ४३६/२४. वायणपडिसुणणाए, उवएसे सुत्त-अत्थकहणाए।
अवितहमेतं ति तहा, पडिसुणणाए तहक्कारो^१ ॥
- ४३६/२५. जस्स य इच्छाकारो, मिच्छाकारो य परिचिया दो वि।
तइओ य तहक्कारो, न 'दुल्लभा सोगती'^२ तस्स ॥
- ४३६/२६. आवस्सियं च णितो, जं च अइतो निसीहियं कुणति।
एयं इच्छं नाउं, गणिवर! तुब्भति^३ निउणं ॥
- ४३६/२७. आवस्सियं च णितो, जं च अइतो निसीहियं कुणति।
वज्जणमेयं तु दुहा, अत्थो पुण होति सो चेव ॥
- ४३६/२८. एगगस्स पसंतस्स, न होति रियादओ^४ गुणा होति।
गंतव्वमवस्सं कारणम्म आवस्सिया होति ॥
- ४३६/२९. आवस्सिया उ आवस्सएहि सव्वेहि जुत्तजोगिस्स।
मण-वयण-कायगुत्तिंदियस्स^५ आवस्सिया होति ॥
- ४३६/३०. सेज्जं ठाणं च जहिं, चेतेति तहिं निसीहिया होति।
जम्हा तत्थ निसिद्धो, तेणं तु निसीहिया होति^६ ॥
- ४३६/३१. आपुच्छणा य^७ कज्जे, पुव्वनिसिद्धेण^८ होति पडिपुच्छा।
पुव्वगहिण्ण छंदण, निमंतणा होयगहिण्णं ॥
- ४३६/३२. उवसंपया य तिविहा, णाणे तह दंसणे चरित्ते य।
दंसण-णाणे तिविहा, दुविहा य चरित्तअट्ठाए ॥
- ४३६/३३. वत्तणा संधणा चेव, गहणं सुत्तत्थतदुभाए चेव।
वेयावच्चे खमणे, काले आवकहाइ^९ य^{१०} ॥

१. य तहक्कारो (अ, म)।

२. दुल्लहा सुगई (ब, म)।

३. तुब्भति (म)।

४. इरियाइया (अ, हा, ला, दी)।

५. सूत्रे इन्द्रियशब्दस्य गाथाभंगभयाद् व्यवहितउपन्यासः (मटी)।

६. इस गाथा के स्थान पर हा, दी, म और चूर्णि में 'पाठांतरं वा' कहकर एक अन्य गाथा का संकेत दिया गया है। हरिभद्र तथा मलयगिरि ने 'व्यञ्जनभेदनिबन्धनमधिकृत्य व्याख्यातम्' का उल्लेख किया है। पाठांतर रूप गाथा होने से हमने इसे मूल निगा के क्रमांक में नहीं जोड़ा है। अ और ला प्रति में यह पाठांतर के रूप में है। प्रकाशित हा, दी और म में यह निगा के क्रमांक में निर्दिष्ट है। स्वी और महे में यह गाथा नहीं है। हा में यह गाथा इस प्रकार है—

सेज्जं ठाणं च जदा, चेतेति तया निसीहिया होइ।

जम्हा तदा निसेहो, निसेहमइया य सा जेणं ॥१॥

मटी और चूर्णि में भी कुछ पाठान्तर के साथ यह गाथा मिलती है।

इस गाथा के बाद आवस्सियं च (हाटीभा १२०) जो होइ निमिद्धप्पा (हाटीभा १२१) आवस्सयम्मि..... (हाटीभा १२२) ये तीन मूल भाष्य गाथाएं सभी हस्तप्रतियों तथा टीकाओं में मिलती हैं। स्वी में ये गाथाएं पादटिप्पण में दी हुई हैं।

७. उ (स, हा, दी)।

८. पुव्वनिउत्तेण (अपा, लापा, हाटीपा, मटीपा, बपा)।

९. आवक्क (म)।

१०. गाथा के पहले और चौथे चरण में अनुष्टुप् छंद है।

- ४३६/३४. संदिट्ठो संदिट्ठस्स चेव संपज्जती उ एमादी ।
चउभंगो एत्थं पुण, पढमो भंगो हवति सुट्ठो ॥
- ४३६/३५. अथिरस्स पुव्वगहियस्स, वत्तणा जं इहं थिरीकरणं ।
तस्सेव पदेसंतरणट्ठस्सऽणुसंधणा घडणा ॥
- ४३६/३६. गहणं तप्पढमतया, सुत्ते अत्थे यं तदुभए चेव ।
अत्थगहणम्मि पायं, एस विधी होति नायव्वो ॥
- ४३६/३७. मज्जण-‘निसेज्ज अक्खा’, कितिकम्मुस्सग वंदणं जेट्ठे ।
भासंतुं होति जेट्ठो, ‘न उ’ परियाएण तो वंदे ॥
- ४३६/३८. ठाणं पमज्जिऊणं, दोणिण निसेज्जा य होति कायव्वा ।
एगां गुरुणो भणिता, बितिया पुण होति’ अक्खाणं ॥
- ४३६/३९. दो चेव मत्तागाइं, खेले तह काइयाएँ बीयं तु ।
जावइया य सुणेंती, सव्वे ‘वि य’ ते तु वंदंति ॥
- ४३६/४०. सव्वे काउस्सगं, करेंति सव्वे पुणो वि वंदंति ।
नासण्ण’ नाइदूरे, गुरुवयणपडिच्छगा होति ॥
- ४३६/४१. निदा-विगहापरिवज्जिएहि गुत्तेहि’ पंजलिउडेहिं ।
भत्ति-बहुमाणपुव्वं, उवउत्तेहिं सुणेयव्वं ॥
- ४३६/४२. अभिकंखंतेहि सुभासियाइ’ वयणाइ अत्थसाराइं ।
विम्हियमुहेहि हरिसागतेहि हरिसं जणंतेहिं ॥
- ४३६/४३. गुरुपरितोसगतेणं, गुरुभत्तीए तहेव विणएणं ।
इच्छियसुत्तथाणं, खिप्पं पारं’ समुवयंति ॥
- ४३६/४४. वक्खाणसमत्तीए, जोगं काऊण काइयादीणं ।
वंदंति तओ जेट्ठ’, अण्णे पुव्वं चिय भणंति ॥

१. x (म) ।

२. निसिज्ज अक्खो इति प्राकृतत्वात् षष्ठ्यर्थे प्रथमा (मटी) ।

३. जिट्ठे (ब, म, ला) ।

४. भासंतो (हा, दी) ।

५. नो (ब, हा, दी) ।

६. इक्का (ब, रा, ला) ।

७. होति (हा, दी) ।

८. सुणंती (म) ।

९. ति हु (रा) ।

१०. नासन्नि (म) ।

११. x (अ) ।

१२. सुहासि’ (हा, दी) ।

१३. सारं (अ) ।

१४. जिट्ठं (म, रा, ला) ।

- ४३६/४५. चोएति जइ^१ हु जेट्ठो, कहिंचि^२ सुत्तत्थधारणाविगलो।
वक्खाणलद्धिहीणो, निरत्थयं वंदणं तम्मि ॥
- ४३६/४६. अह वयपरियाएहिं, लहुगो वि हु भासगो इहं जेट्ठो।
रायणियवंदणे पुण, तस्स वि आसायणा भंते! ॥
- ४३६/४७. जइ वि वयमाइएहिं, लहुगो सुत्तत्थधारणापटुओ।
'वक्खाणलद्धिमं जो, सोच्चिय'^३ इह घेप्पए^४ जेट्ठो ॥
- ४३६/४८. आसायणा वि नेवं, षडुच्च जिणवयणभासियं^५ जम्हा।
वंदणं रायणिए^६, तेण गुणेणं तु^७ सो चेव ॥
- ४३६/४९. न वओ एत्थ पमाणं, न य परियाओ वि निच्छयनएणं^८।
ववहारओ उ जुज्जति, उभयनयमयं पुण पमाणं ॥
- ४३६/५०. निच्छयओ दुन्नेयं, को भावे कम्मि वट्टए^९ समणो।
ववहारओ उ^{१०} कीरइ, जो पुव्वटिओ चरित्तम्मि^{११} ॥
- ४३६/५१. एत्थ उ जिणवयणाओ, सुत्तासायणबहुत्तदोसाओ।
भासंतजिट्ठगस्स^{१२} उ, कायव्वं^{१३} होति कित्तिकम्मं ॥
- ४३६/५२. दुविहा य चरित्तम्मी^{१४}, वेयावच्चे तहेव खमणे य।
नियगच्छा 'अन्नम्मि य'^{१५}, सीयणदोसाइणा होति ॥
- ४३६/५३. इत्तरियाइविभासा, वेयावच्चे^{१६} तहेव खमणे य।
अविगिट्ठविगिट्ठम्मी^{१७}, गणिणा^{१८} गच्छस्स पुच्छए ॥
- ४३६/५४. उवसंपन्नो जं कारणं तु तं कारणं अपूर्रेतो^{१९}।
अहवा समाणियम्मी^{२०}, सारणया वा विसगो वा ॥

१. वओ (म)।

कहंचि (म, ला)।

२. 'लद्धिमंतो सुच्चिय (म, रा, ला)।

३. घिप्पई (रा, ला), घेप्पई (हा, दी)।

४. 'भासयं (हा, दी)।

५. राइणिए (हा, दी, रा)।

६. पि (अ, स, हा, दी)।

७. 'यमएणं (ब, स, हा, दी)।

८. वट्टई (ब, स, हा, दी)।

९. अ (म)।

१०. इस गाथा के बाद ववहारो वि हु.... (हाटीमूभा १२३) गाथा 'इयं भा व्या' उल्लेख के साथ प्रायः सभी हस्तप्रतियों में मिलती है।

म, दी टीकाओं में भी यह मूल भाष्यगाथा के क्रम में मिलती है। स्त्रो में यह गाथा 'भाष्यम्' उल्लेख के साथ पाद-टिप्पण में दी हुई है।

१२. भासंतगं (हा, दी)।

१३. काइव्वं (रा)।

१४. 'त्तम्मिं (म)।

१५. दन्नम्मी (ब), अन्नम्मी (ला), 'म्मि उ (म)।

१६. 'वच्चम्मि (हा, दी स)।

१७. 'म्मि य (अ, स, हा, दी)।

१८. गणिणो (हा, दी, रा, ला)।

१९. अपूर्रेतो (ब, म, रा, ला)।

२०. 'अम्मिं (म)।

- ४३६/५५. इतरियं पि न कप्पति, अविदिन्नं खलु परोग्गहादीसु^१।
चिट्ठित्तु निसीइत्तु^२ व^३, ततियव्वयरक्खणट्ठाए^४ ॥
- ४३६/५६. एवं सामायारी, कहिया दसहा समासओ एसा।
संजमतवड्ढगाणं, निगंथाणं महरिसीणं ॥
- ४३६/५७. एयं सामायारि, जुंजता चरणकरणमाउत्ता।
साहू खवेंति कम्मं, अणेगभवसंचियमणंतं ॥
- सामायारी समत्ता**
४३७. अज्झवसाण-निमित्ते, आहारे वेदणा पराघाते।
फासे आणापाणू, सत्तविधं झिज्जे^५ आउं^६ ॥
४३८. दंड-कस-सत्थ-रज्जू, अग्गी उदगपडणं विसं वाला।
सीउण्हं अरति-भयं, खुहा पिवासा य वाही य^७ ॥
४३९. मुत्तपुरीसनिरोधे, जिण्णाजिण्णे^८ य भोयणे बहुसो।
घंसणघोलणपीलण, आउस्स उवक्कमा एते^९ ॥
४४०. निद्धमगं च गामं, महिलाथूभं^{१०} च सुण्णयं दट्ठुं।
‘नीयं च कागा ओलेंति’^{११}, जाता भिक्खस्स हरहरा^{१२} ॥
४४१. निम्मच्छियं महुं^{१३} पागडो निधो खज्जगावणो^{१४} सुण्णो।
जायंगणे^{१५} पसुत्ता, पउत्थवइया य मत्ता य ॥
४४२. कालेण कतो कालो, अम्हं सज्झाय-देसकालम्मि।
तो णेण^{१६} हतो कालो, अकालि^{१७} कालं करेंतेणं ॥
४४३. दुविहो पमाणकालो, दिवसपमाणं च होति राई^{१८} य।
चतुपोरिसिओ दिवसो, राती^{१९} चतुपोरिसी चेव ॥

१. परुग्ग (ब, म)।

२. निसइत्तु (ब, हा, दी)।

३. वा (ब)।

४. तईयवय (ब, ला)।

५. भिज्जते (स्वो. महे), भिज्जे (ठाणं)।

६. ठाणं ७/७२. स्वो ५०८/२५१३।

७. स्वो ५०९/२५१४।

८. ‘जिण्णं (अ. ब. रा), जिन्नजिन्ने (महे)।

९. स्वो ५१०/२५१५।

१०. ‘लात्तिथं (स्वो)।

११. नीयं च काए ओलेंते (हाटीपा), ‘च काग ओलेंते (बपा. लापा),
‘च कागा ओलेंति (रा), ‘च कागे ओलेंते (मटीपा)।

१२. स्वो ५११/२५३६।

१३. महु (म)।

१४. खज्जयामणो (स्वो)।

१५. जा अंगणे (स्वो ५१२/२५३७)।

१६. तेण (ब, रा, हा, दी)।

१७. अकाल (अ, हा), अकाले (स्वो ५१३/२५३९)।

१८, १९. रत्ती (स्वो ५१४/२५४१)।

४४४. पंचण्हं वण्णाणं, जो खलु वण्णेण कालओ वण्णो।
सो होति वण्णकालो, वण्णिज्जति जो व जं कालं^१ ॥
४४५. सादी सपज्जवसितो, चतुभंगविभागभावणा एत्थं।
ओदइयादीयाणं^२, तं जाणसु भावकालं तु^३ ॥
४४६. एत्थं पुण अहिगारो, पमाणकालेण होति नायव्वो।
खेत्तम्मि कम्मि 'काले विभासितं'^४ जिणवरिदेणं^५ ॥
४४७. वइसाहसुद्धएक्कारसीयं^६ पुव्वण्हदेसकालम्मि।
महसेणवणुज्जाणे, अणंतर-परंपरं सेसं^७ ॥
४४८. खइयम्मि वट्टमाणस्स, 'निग्गतं भगवतो'^८ जिणिंदस्सं^९।
भावे खयोवसमियम्मि वट्टमाणेहि^{१०} तं गहितं ॥
४४९. दव्वाभिलावचिंधे, वेदे धम्मत्थभोगभावे य।
भावपुरिसो उ^{११} जीवो, भावे पगतं तु भावेणं^{१२} ॥
४५०. 'निक्खेवो कारणम्मि'^{१३}, चउव्विहो दुविहु^{१४} होति दव्वम्मि।
तहव्वमण्णदव्वे, अहवावि निमित्तनेमित्ती^{१५} ॥
४५१. समवाइ असमवाई, छव्विह कत्ता य 'करण कम्मं'^{१६} च।
तत्तो य संपयाणापयाणं^{१७} तह^{१८} सन्निहाणे य ॥
४५२. 'दुविधं च होति भावे'^{१९}, अपसत्थ पसत्थं च अपसत्थं।
संसारस्सेगविधं, दुविधं तिविधं च नायव्वं^{२०} ॥
४५३. अस्संजमो^{२१} य एक्को, अण्णाणं अविरती य दुविधं तु।
'मिच्छतं अण्णाणं'^{२२}, च अविरती चेव तिविधं तु^{२३} ॥

१. स्‍वो ५१५/२५४५।

२. उदईआईआणं (म)।

३. स्‍वो ५१६/२५४७।

४. कालम्मि भासियं (म, स्‍वो, महे)।

५. स्‍वो ५१७/२५५४।

६. 'इक्कारसीइ (ब, म, रा, ला), 'एक्कारसीय (स्‍वो)।

७. स्‍वो ५१८/२५५५।

८. भगवतो निग्गतं (स्‍वो, महे)।

९. जिणवरस्स (स)।

१०. वट्टमाणे हि (स्‍वो ५१९/२५५६)।

११. x (रा)।

१२. स्‍वो ५२०/२५६२।

१३. निक्खेवु कारणम्मि (अ, ब, म), निक्खेवो कारणम्मि (स, हा, दी)।

१४. दुविह (म, रा), दुविहु य (स)।

१५. स्‍वो ५२१/२५७०।

१६. कम्मं करणं (अ, ब, रा, हा, दी)।

१७. संपयाणप (स), संपताणावताण (स्‍वो ५२२/२५७१)।

१८. य (स)।

१९. भावम्मि होति दुविधं (स्‍वो, महे)।

२०. णेगविधं (स्‍वो ५२३/२५९१)।

२१. असंजमो (महे)।

२२. अण्णाणं मिच्छतं (स, रा, हा, दी)।

२३. स्‍वो ५२४/२५९२।

४५४. होति पसत्थं मोक्खस्स कारणं एग-दुविध तिविधं वा।
तं चेव य विवरीतं, अधिगारु^१ पसत्थएणेत्थं^२ ॥
४५५. तित्थगरो किं कारण, भासति सामाइयं तु अज्झयणं?^३
तित्थगरणामगोत्तं, कम्म^३ मे वेइयव्वं ति^४ ॥
४५६. तं च कहं वेइज्जति, अगिलाए धम्मदेसणादीहिं।
बज्झति तं तु भगवतो, ततियभवोसक्कइत्ताणं^५ ॥
४५७. नियमा मणुयगतीए, इत्थी पुरिसेयरो व्व सुहलेसो।
आसेवियबहुलेहिं, वीसाए अण्णतरएहिं^६ ॥
४५८. गोतममादी 'सामाइयं तु किं कारणं'^७ निसामेति^८।
नाणस्स^९ तं तु सुंदरमंगुलभावाण उवलद्धी^{१०} ॥
४५९. होति पवित्तिनिवित्ती^{११}, संजमतव-पावकम्मअग्गहणं।
कम्मविवेगो य तहा, कारणमसरीरया चेव^{१२} ॥
४६०. कम्मविवेगो असरीरयाय^{१३}, 'असरीरया अणाबाहा'^{१४}।
होयऽणबाहनिमित्तं, अवेदणमणाउलो^{१५} निरुओ^{१६} ॥
४६१. निरुयत्ताए अयलो, अयलत्ताए य सासतो होति।
सासयभावमुवगतो, अब्बाबाधं सुहं लभति^{१७} ॥
४६२. पच्चयनिकखेवो खलु, दव्वम्मी तत्तमासगादीओ^{१८}।
भावम्मि ओधिमादी, तिविधो पगतं तु भावेणं^{१९} ॥

१. अहिगारो (अ, रा, हा, दी)।

२. पसत्थएत्थेणं (ब, रा), स्‍वो ५२५/२५९३।

३. बद्धं (महे)।

४. स्‍वो ५२६/२५९४।

५. स्‍वो ५२७/२५९५।

६. अन्यरेहिं (म), ४५६, ४५७—ये दोनों गाथाएं पहले भी १३६/१४, २७१/६ क्रमांक में पुनरुक्त हुई हैं। वहां हमने इनको निर्युक्ति गाथा के क्रम में नहीं रखा है। प्रश्नोत्तरों का क्रम चल रहा है अतः विषयवस्तु की दृष्टि से यहां ये गाथाएं निर्युक्तिगाथा के रूप में संगत प्रतीत होती हैं। हा, म, दी में ये गाथाएं निर्युक्ति के क्रम में हैं। स्‍वो में ४५७ वीं गाथा निगा के क्रम में निर्दिष्ट नहीं है। चूर्णि में ये गाथाएं व्याख्यात हैं। महे में ये दोनों निर्युक्तिगाथाओं के रूप में निर्दिष्ट हैं।

७. किं कारणं तु सामाइयं (अ), सामादियं तु (चू)।

८. ब प्रति में इस गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—

गोयममाइयं किं कारणं तु सामाइयं (ब, स)।

९. नाणस्स ति प्राकृतशैल्या चतुर्थ्यर्थे षष्ठी (हाटी, मटी)

१०. स्‍वो ५२८/२५९६।

११. निवत्तीपं (अ)।

१२. स्‍वो ५२९/२५९७।

१३. 'याइ (ब, म, स्‍वो)

१४. 'रयाऽणबाहाए (ब, म, स, महे), 'रता अणाबाधं (स्‍वो)।

१५. अवेअणु अणां (म, रा), अवेअणु यणाउलो (ब), 'यणु मणाउलो (स)।

१६. स्‍वो ५३०/२५९८।

१७. स्‍वो ५३१/२५९९।

१८. 'गाहओ (ब, हा, दी)।

१९. स्‍वो ५३२/२६०२।

४६३. केवलनाणि त्ति अहं, अरहा^१ सामाइयं परिकहेती^२ ।
तेसिं पि पच्चओ खलु, 'सव्वण्णू तो'^३ निसामेति^४ ॥
४६४. नामं ठवणा दविए, सरिसे^५ सामण्ण लक्खणागारे ।
गतिरागतिनाणत्ती^६, निमित्त उप्पाय विगमे^७ य ॥
४६५. वीरियभावे य तहा, लक्खणमेयं^८ समासतो भणितं ।
अहवा वि भावलक्खण, चउव्विधं सदहणमादी^९ ॥
४६६. सदहण जाणणा खलु, विरती मीसं^{१०} च लक्खणं कहे^{११} ।
ते वि निसामेति तहा, चउलक्खणसंजुतं चेव^{१२} ॥
४६७. णेगम-संगह-ववहारुज्जुसुते^{१३} चेव^{१४} होति बोधव्वे ।
सदे य समभिरूढे, एवंभूते य मूलनया^{१५} ॥
४६८. णेगेहिं माणेहिं, 'मिणति ती'^{१६}, नेगमस्स नेरुत्ती ।
सेसाणं पि^{१७} नयाणं, लक्खणमिणमो सुणह^{१८} वोच्छ^{१९} ॥
४६९. संगहितपिंडितत्थं, संगहवयणं समासतो बेति ।
वच्चाति विणिच्छियत्थं, ववहारो सव्वदव्वेसु^{२०} ॥
४७०. पच्चुप्पण्णागाही, उज्जुसुतो नयविधी मुणेयव्वो ।
इच्छति विसेसिततरं, पच्चुप्पण्णं नयो सदो^{२१} ॥
४७१. वत्थूओ संकमणं, होति अवत्थू^{२२} नए समभिरूढे ।
वज्जणअत्थतदुभयं^{२३}, एवंभूतो विसेसेति^{२४} ॥

१. अरिहा (रा, महे, स्त्रो) ।
२. 'कहेइ (म, ला), 'कर्हेति (स्त्रो) ।
३. 'ण्णु त्ती (अ, स्त्रो) ।
४. निसामेति (ब, म, ला), स्त्रो ५३३/२६०३ ।
५. सरिसय (स्त्रो) ।
६. 'नाणत्ते (ब, म, स, ला) ।
७. विगई (महे), विगती (स्त्रो ५३४/२६१७) ।
८. 'मेत्तं (स्त्रो) ।
९. स्त्रो ५३५/२६१८ ।
१०. मीसा (अ, ब, रा) ।
११. कहेइ (ब, रा, म) ।
१२. स्त्रो ५३६/२६१९ ।

१३. 'हार उज्जु' (अ, रा, ला, हा, दी, महे) ।
१४. यावि (स्त्रो), तु (म) ।
१५. स्त्रो ५३७/२६५२ ।
१६. मिणयत्ती (ला) ।
१७. तु (म) ।
१८. सुणेह (अ, हा, दी) ।
१९. अनुद्वा ७१५/गा. १, स्त्रो ५३८/२६५३ ।
२०. अनुद्वा ७१५/गा. २, स्त्रो ५३९/२६५४ ।
२१. अनुद्वा ७१५/गा. ३, स्त्रो ५४०/२६५५ ।
२२. अवत्थुं (स्त्रो) ।
२३. वज्जणमत्थं (अ, ब, स, हा, दी) ।
२४. अनुद्वा ७१५/गा. ४, स्त्रो ५४१/२६५६ ।

४७२. एक्केक्को य सयविहो, सत्तनयसया हवन्ति 'एवं तु'^१।
अन्नो वि य आदेसो, 'पंचसया होंति उ नयाण'^२॥
४७३. एतेहि दिट्ठिवादे, परूवणा 'सुत्तअत्थकहणा य'^३।
इह पुण अणब्भुवगमो, अहिगारो तीहि^४ ओसन्नं^५॥
४७४. णत्थि नएहि विहूणं, सुत्तं अत्थो य^६ जिणमते किंचि।
आसज्ज उ सोयारं, नए नयविसारओ बूया^७॥
४७५. मूढनइयं^८ सुत्तं कालियं तु न नया 'समोयरंति इहं'^९।
अपुहत्ते^{१०} समोतारो, नत्थि पुहत्ते समोतारो^{११}॥
४७६. जावंतं^{१२} अज्जवइरा^{१३}, अपुहत्तं^{१४} कालियाणुयोगस्स।
तेणारेण पुहत्तं, कालियसुय^{१५} दिट्ठिवादे य॥
- ४७६/१. तुंबवणसन्निवेसाउ, निग्गतं पिउसगासमल्लीणं^{१६}।
छम्मासियं छसु जयं, माऊयसमन्नियं^{१७} वंदे^{१८}॥
- ४७६/२. जो गुज्झगेहि बालो, निमंतितो भोयणेण वासंते।
'नेच्छति विणीतविणओ'^{१९}, तं वइररिसिं नमंसांमि^{२०}॥
- ४७६/३. उज्जेणीए जो जंभगेहि आणक्खिरुण धुतमहिओ।
अक्खीणमहाणसियं, सीहगिरिपसंसितं वंदे^{२१}॥
- ४७६/४. जस्स अणुण्णाते वायगत्तणे दसपुरम्मि नगरम्मि।
देवेहि कता महिमा, पदाणुसारि नमंसांमि^{२२}॥

१. एमेव (अ, रा, हा, दी, महे), एमेते (स्वो)।

१६. 'समग्गम' (स्वो)।

२. पंचेव सया नयाणं तु (हा, दी, रा, महे), स्वो ५४२/२६३५।

१७. माऊई (म), मातूय (स्वो)।

३. कहणाए (महे)।

१८. स्वो ५४७/२७५७, ४७६/१-९ ये ९ गाथाएं हा, म, दी तथा स्वो में निगा के क्रम में हैं। चूर्णि में भी सभी गाथाओं के संकेत तथा कथा रूप में विस्तृत व्याख्या मिलती है। ये गाथाएं आर्यवज्र के जीवन से सम्बन्धित हैं। मलधारी हेमचन्द्र ने ग्रंथकारः स्तुतिद्वारेण..... 'तुंबवण..... एतच्चरितगाथाः सुगमाः' (महेटी पृ. ४६५) का उल्लेख किया है। वहां ४७६/१-९, ४७७ तक की दस गाथाओं का उल्लेख न भाष्य के क्रम में हैं और न निर्युक्ति के रूप में। वस्तुतः ये गाथाएं भाष्य की या बाद में जोड़ी हुई प्रतीत होती हैं क्योंकि ये व्याख्यात्मक हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से भी ४७६ के बाद ४७७ की गाथा संगत प्रतीत होती है।

४. तिहि उ (हा, दी)।

१९. निच्छंसु विणयजुत्तो (बपा, अपा, लापा, हाटीपा), नेच्छंसु विणयजुत्तो (मटीपा)।

५. उस्सणं (स्वो ५४३/२७४६)।

६. व (अ, ब, रा, हा, दी)।

७. स्वो ५४४/२७४८।

८. 'णत्थियं (चू)।

९. समोतरंतीधं (स्वो)।

१०. अपुहुत्ति (ब, म)।

११. स्वो ५४५/२७५०।

१२. जावंति (अ, ब, हा, दी, स्वो)।

१३. 'वेरा (स्वो ५४६/२७५५)।

१४. अपुहुत्तं (ब, म, हा, दी)।

१५. 'सुइ (म)।

२०. स्वो ५४८/२७५८।

२१. स्वो ५४९/२७५९।

२२. स्वो ५५०/२७६०।

- ४७६/५. जो कन्नाइ^१ धणेण य, निमंतितो जोव्वणम्मि गिहवतिणा^२ ।
नगरम्मि कुसुमनामे, तं वइररिसं नमंसाभि^३ ॥
- ४७६/६. जेणुद्धरिता विज्जा, आगाससमा महापरिण्णाओ ।
वंतामि अज्जवइरं, अपच्छिमो जो सुतधराणं^४ ॥
- ४७६/७. 'भणति य आहिंडेज्जा'^५, जंबुदीवं इमाइ विज्जाए ।
'गंतुं च'^६ माणुसनगं, विज्जाए एस मे विसओ^७ ॥
- ४७६/८. भणति य थारेतव्वा^८, न हु दातव्वा इमा मए विज्जा ।
अप्पिड्डिया^९ उ मणुया, होहिंति अतो परं अन्ने^{१०} ॥
- ४७६/९. माहेसरीउ^{११} सेसा, पुरियं नीता हुतासणगिहातो ।
गयणतलमइवइत्ता, वइरेण महाणुभागेण^{१२} ॥
४७७. अपुहत्ते^{१३} अणुओगो, चत्तारि दुवार भासती एगो ।
पुहताणुयोगकरणे, ते अत्थ ततो उ^{१४} वोच्छिन्ना^{१५} ॥
४७८. देविंदवदितेहिं, महाणुभागेहि रक्खितजेहिं ।
जुगमासज्ज विभत्तो^{१६}, अणुयोगो तो कतो चउहा^{१७} ॥
४७९. माता च रुदसोमा, पिता य नामेण सोमदेवो त्ति ।
भाया य फग्गुरक्खित, तोसलिपुत्ता य आयरिया^{१८} ॥
४८०. निज्जवण^{१९} भद्दगुत्ते, 'वीसुं पढणं'^{२०} च तस्स पुव्वगतं ।
पव्वावितो य भाया, रक्खितखमणेहि^{२१} जणगो य^{२२} ॥

१. कण्णाये (स्वो) ।

२. गहं (स्वो) ।

३. स्वो ५५१/२७६१ ।

४. सुअहराणं (ब, म, रा, हा, दी), स्वो ५५२/२७६२ ।

५. अभणिंसु य हिंडेज्जा (बपा, लापा, हाटीपा), आभणिंसु
य हिंडेज्जा (मटीपा), भणति य आभिण्डे (स्वो) ।

६. गंतूण (रा, स) ।

७. स्वो ५५३/२७६३ ।

८. वारेयव्वा (स्वो) ।

९. अप्पिड्डिया (रा) ।

१०. स्वो ५५४/२७६४ ।

११. माहेस्सरीता (स्वो) ।

१२. 'भावेण (रा, ला), स्वो ५५५/२७६५ ।

१३. अपुहत्ते (स्वो), अपुहुत्ते (स, हा, दी) ।

१४. य (रा) ।

१५. वोच्छिन्नं (अ, ब), निभा ६१८५, स्वो ५५६/२७६६ ।

१६. विहत्तो (ब, म, रा) ।

१७. स्वो ५५७/२७६८, निभा ६१८७, गा. ४७९-८१ तक की तीन गाथाएं
महे में अनुपलब्ध हैं। वहां टीकाकार ने 'माया य रुदसोमा इत्यादि
मूलावश्यकटीकालिखितार्यरक्षितकथानकादवसेयमिति' का उल्लेख
किया है। स्वो में ये निगा के क्रम में निर्दिष्ट हैं। चूर्ण में ४७९ और ४८०
गाथा का संकेत नहीं है पर कथानक विस्तार से दिया हुआ है ।

१८. स्वो ५५८/२७६९, उनि ९७ ।

१९. निज्जमण (स्वो) ।

२०. वीसं पुव्वं (अ) ।

२१. 'खवणेहि (दी), इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों एवं टीकाओं
में कालियसुतं..... (हाटीमूभा १२४, स्वो २७७६, महे २२९४) मूल
भाष्य की गाथा मिलती है ।

२२. स्वो ५५९/२७७० ।

४८१. जं च महाकप्पसुतं, जाणि य सेसाणि^१ छेदसुत्ताणि^२ ।
चरणकरणाणुओगोत्ति कालियत्थे उवगताइं^३ ॥
४८२. बहुरय-पदेस-अव्वत्त-समुच्छ^४-दुग-तिग-अबद्धिगा^५ चेव ।
'सत्तेते निण्हगा खलु, तित्थम्मि उ वद्धमाणस्स^६ ॥
४८३. बहुरय जमालिपभवा, जीवपदेसा य तीसगुत्ताओ ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ, सामुच्छेदाऽऽसमिताओ^७ ॥
४८४. गंगाओ दोकिरिया, छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।
थेरा य गोढुमाहिल, पुढुमबद्धं परूवेत्ति^८ ॥
४८५. सावत्थी उसभपुरं, सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं ।
पुरिमंतरंजि दसपुर, रहवीरपुरं च नगराईं^९ ॥
४८६. चोदस^{१०} सोलस वासा, चउदसवीसुत्तरा^{११} य दोन्नि सया ।
अट्ठावीसा य दुवे, पंचेव सया उ^{१२} चोयाला^{१३} ॥
४८७. पंचसया चुलसीता, छच्चेव सता नवोत्तरा होंति ।
णाणुप्पत्तीय दुवे, उप्पण्णा निव्वुए सेसा^{१४} ॥
- ४८७/१. चोदसवासाणि^{१५} तदा, जिणेण उप्पाडितस्स नाणस्स ।
तो बहुरयाण दिट्ठी, सावत्थीए समुप्पण्णा^{१६} ॥
- ४८७/२. जेट्ठा सुदंसण जमालिऽणोज्ज सावत्थि तिंदुगुज्जाणे ।
पंचसया य सहस्सं, ढंकेण जमालि मोत्तूणं^{१७} ॥

१. सेसाइ (ब, स, ला) ।

२. 'त्ताइ (ब, स, ला) ।

३. 'गयाणि (म, स्वर ५६०/२७७७) ।

४. समुच्छा (हा, महे), समुच्छेद (रा) ।

५. बद्धिगा (ला) ।

६. एएसिं निगमणं, वोच्छामि अहाणुप्पुव्वीए (अपा, लापा, मटीपा, हाटीपा, बपा, महे), सत्तेते निण्हगा खलु, कुग्गहो होंत वक्कंता (स्वर ५६१/२७८२), निभा ५५९६, उनि १६७ ।

७. असमिं (महे), उनि १६८, ठाणं ७/१४०, स्वर ५६२/२७८३ ।

८. परूविसु (बपा, अपा, लापा, मटीपा, हाटीपा), उनि १६९, ठाणं ७/१४१, स्वर ५६३/२७८४ ।

९. स्वर ५६४/२७८५, निभा ५६२२, उनि १७०, ठाणं ७/१४२ ।

१०. चउदस (अ, ब) सर्वत्र ।

११. चोदावी (निभा, महे) ।

१२. य (अ, ब, स, ला, महे) ।

१३. निभा ५६१८, स्वर ५६५/२७८६, उनि १७१ ।

१४. स्वर ५६६/२७८७, उनि १७२, निभा ५६२१ ।

१५. 'वासाइं (स्वर) ।

१६. स्वर २७८८, उनि १७२/१, निभा ५६११, मलधारी हेमचन्द्र ने टीका में ४८७/१-१४ इन चौदह गाथाओं के लिए निर्युक्ति गाथा का संकेत किया है । टीकाकार हरिभद्र एवं मलयगिरि ने इनके लिए 'मूलभाष्यकृद् यथाक्रमं स्पष्टयन्नाह' का उल्लेख किया है । (हाटीमूभा १२५-१३८) वस्तुतः ये गाथाएं मूल भाष्य की हैं इन गाथाओं पर विशेषावश्यक भाष्यकार ने व्याख्या लिखी है । निर्युक्तिकार ने गाथा ४८२-८७ तक की छह गाथाओं में सभी निहवों की संक्षिप्त जानकारी दे दी है । स्वर में ये भाष्यगाथा के क्रम में हैं । चूर्ण में एक दो गाथाओं का संकेत मिलता है लेकिन व्याख्या लगभग सभी गाथाओं की विस्तार से मिलती है । निशोथ भाष्य में निहववाद से संबंधित गाथाओं में बहुत अधिक क्रमव्यत्यय है । (देखें टिप्पण गा. ४८७/२५ का)

१७. स्वर २७८९, उनि १७२/२, निभा ५५९७ ।

- ४८७/३. सोलसवासाणि तदा, जिणेण उप्पाडितस्स^१ नाणस्स।
जीवपदेसियदिट्ठी, 'तो उसभपुरे'^२ समुप्पण्णा^३ ॥
- ४८७/४. रायगिहे गुणसिलए, वसु चोदसपुब्बि 'तीसगुत्तो य'^४।
आमलकप्पा नगरी, मित्तिसिरी कूरपिउडाई^५ ॥
- ४८७/५. चउदस^६ दो वाससता, तइया सिद्धिं गतस्स वीरस्स।
अव्वत्तगाण^७ दिट्ठी, सेयवियाए समुप्पण्णा ॥
- ४८७/६. सेयवि पोलासाढे, जोगे तद्विसहिययसूले य।
सोधम्मि णलिणिगुम्मे, रायगिहे मूरिय^८-बलभदे^९ ॥
- ४८७/७. वीसा दोवाससया, तइया सिद्धिं गतस्स वीरस्स।
सामुच्छेइयदिट्ठी, मिहिलपुरीए समुप्पण्णा^{१०} ॥
- ४८७/८. मिहिलाए लच्छिधरे, महगिरि-कोडिण्ण^{११}-आसमिते य।
णेउणियणुप्पवाए^{१२}, रायगिहे खंडरक्खा य^{१३} ॥
- ४८७/९. अट्ठावीसा दो वाससया तइया सिद्धिं गतस्स वीरस्स।
दोकिरियाणं दिट्ठी, उल्लुगतीरे समुप्पण्णा^{१४} ॥
- ४८७/१०. नदि-खेड 'जणव-उल्लुग'^{१५} महगिरि-धणगुत्त अज्जगे य।
किरिया दो रायगिहे, महातवोतीरमणिणागे^{१६} ॥
- ४८७/११. पंचसया चोयाला, तइया सिद्धिं गतस्स वीरस्स।
पुरिमंतरंजियाए, तेरासियदिट्ठि^{१७} उववण्णा^{१८} ॥
- ४८७/१२. पुरिमंतरंजि भुयगुह^{१९}, बलसिरि^{२०} सिरिगुत्त रोहगुत्ते य।
परिवाय पोदुसाले, घोसण पांडेसेहणा^{२१} वादे^{२२} ॥

१. उप्पादि* (स्वो)।

२. उसभपुरम्मी (हा, म, दी)।

३. स्वो २८१५।

४. *गुत्ताओ (हा, म)।

५. कूरपिंडाई (हा), *पिउदाती (स्वो २८१६), उनि १७२/३, निभा ५५९८।

६. चोदा (हा, स्वो, निभा ५६१३)।

७. तो अव्वत्तय (स्वो २८३८)।

८. मूरिय (महे)।

९. स्वो २८३९, उनि १७२/४, निभा ५५९९।

१०. स्वो २८७१, निभा ५६१४।

११. कोण्डिण (स्वो)।

१२. *णियाणुप्प* (हा, महे, दी)।

१३. स्वो २८७२, उनि १७२/५, निभा ५६००।

१४. स्वो २९०६, निभा ५६१५।

१५. जणवतुल्लुअ (स्वो २९०७)।

१६. उनि १७२/६, निभा ५६०१।

१७. *दिट्ठी (हा, महे, दी)।

१८. उप्पण्णा (महे, स्वो २९३३, निभा ५६१६)।

१९. भूय* (हा), भूत* (स्वो), भूयगिह (महे)।

२०. *सिरी (हा, दी)।

२१. *सेवणा (स्वो २९३४)।

२२. उनि १७२/७, निभा ५६०२।

- ४८७/१३. विच्छूय^१ सप्पे मूसग, मिगी^२ वराही य कागि-पोयाई।
 एयाहिं विज्जाहिं, सो उ परिव्वायओ कुसलो^३ ॥
- ४८७/१४. मोरी^४ नउलि बिराली, वग्घी सीही य उलुगि^५ ओवाई।
 एयाओ विज्जाओ, गिण्ह परिव्वायमहणीओ^६ ॥
- ४८७/१५. वादे पराजिओ सो, निव्विसओ कारितो नरिदेणं।
 घोसावियं च नगरे, जयति जिणो वद्धमाणो त्ति^७ ॥
- ४८७/१६. पंचसता चुलसीता, तइया सिद्धिं गतस्स वीरस्स।
 'तो अब्बद्धियदिट्ठी'^८, दसपुरनगरे समुप्पण्णा^९ ॥

१. विच्छू (म), विच्छूय (स्वो)।

२. मई (स्वो)।

३. स्वो २९३५, उनि १७२/८, निभा ५६०३।

४. मोरिय (म)।

५. उलूगि (हा)।

६. 'मधणीओ (स्वो) २९३६', उनि १७२/९, निभा ५६०४, इस गाथा के बाद सभी हस्तप्रतियों में सिरिगुत्तेण.....(हाटोमूभा १३९, स्वो २९७१, महे २४८८) मूलभाष्य की गाथा मिलती है। इसके बाद निम्न १० गाथाएं अन्यकर्तृकी उल्लेख के साथ प्रायः सभी हस्तप्रतियों में मिलती हैं। इन गाथाओं को दीपिका में भी क्षेपकगाथा माना है किन्तु स्वो एवं महे में पहली, सातवीं एवं नवीं गाथा के अतिरिक्त सभी गाथाएं भाष्यगाथा के क्रम में हैं। मटी में कुछ गाथाएं टीका की व्याख्या में उद्धृत गाथा के रूप में हैं। हाटी में इन गाथाओं का उल्लेख नहीं है।

नवदव्वगुणा सत्तरस कम्मसत्ताइयाइ दावणया। सव्वे वि चउहि गुणिया, चोयालसयं तु पुच्छणं ॥१॥

भूजल-जलणा णिल-णह-काल-दिसाऽऽया मणो य दव्वाइं। भण्णंति नवेताइं, सत्तरसगुणा इमे अण्णे ॥२॥

रूव-रस-गंध-फासा, संखा परिमाणमह पुहत्तं च। संजोग-विभाग पराऽपरत्त बुद्धी सुहं दुक्खं ॥३॥

इच्छादोसपयत्ता, एत्तो कम्मं तयं च पंचविहं। उक्खेवण निक्खेवण पसारणाऽकुचणं गमणं ॥४॥

सत्ता सामण्णं पि य, सामण्णविसेसया विसेसो य। समवाओ य पयत्था, सव्वे वि य होति छत्तीसं ॥५॥

पगतीय अगारेणं, नोगारोभयनिसेहओ सव्वे। गुणिता चोयालसत्तं, पुच्छणं पुच्छितो देवो ॥६॥

इक्किक्को चउगुणिओ, चोयालसयं हवेज्ज पुच्छणं। सव्वेसु जाइएसुं, पुणरवि दो चेव रासीओ ॥७॥

पुढवि त्ति देइ लेट्ठुं, देसोऽवि समाणजातिलिङ्गो त्ति। पुढवि त्ति नो य पुढवी, देहि त्ति य देइ तोयाइं ॥८॥

जीवाऽजीवं नोजीवमेव तत्तो य नो अजीवं तु। पुढवाईसु वि एवं, चउरो चउरो य नायव्वा ॥९॥

जीवमजीवं दाउं, नोजीवं जाइओ पुणरजीवं। देइ चरिमम्मि जीवं, न तु नोजीवं स जीवदलं ॥१०॥

७. स्वो २९८८, निभा ५६०६, ४८७/१५-२३ तक की नौ गाथाएं हा, म और दी में मूलभाष्य के क्रमांक में हैं। दोनों टीकाकारों ने भी इनके लिए मूलभाष्यकार का उल्लेख किया है। स्वो में ये गाथाएं भागा के क्रम में हैं। वस्तुतः ये मूलभाष्य की ही गाथाएं हैं। मलधारी हेमचन्द्र ने इन गाथाओं के लिए निर्युक्ति गाथा का संकेत नहीं दिया है लेकिन इन गाथाओं के बाद वाली गाथाओं के आगे 'अथ भाष्यम् या अत्र भाष्यकारः' का उल्लेख किया है। यह उल्लेख स्पष्ट करता है कि इससे पूर्व की गाथा को टीकाकार ने निर्युक्तिगाथा के रूप में स्वीकृत किया है। (देखें टिप्पण गा. ४८७/१ का)

८. अबद्धियाण दिट्ठी (हा), अबद्धिगाण दिट्ठी (म)।

९. स्वो २९९१, निभा ५६१९।

- ४८७/१७. दसपुरनगरुच्छुधरे, अजरक्खिपूसमितितियगं^१ च।
गोड्डामाहिल नवअट्टमेसु पुच्छा य बिंझस्स^२ ॥
- ४८७/१८. पुट्टो जहा अबद्धो, कंचुइणं कंचुओ समण्णेति।
एवं पुट्टमबद्धं, जीवं कम्मं समण्णेति^३ ॥
- ४८७/१९. 'पच्चक्खाणं सेयं, अप्परिमाणेण होति कायव्वं'^४।
जेसिं तु सपरिमाणं, तं दुट्ठं आससा होति^५ ॥
- ४८७/२०. छव्वाससताइं नवुत्तराइं तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स।
तां बोडियाण दिट्ठी, रहवीरपुरे समुप्पण्णा^६ ॥
- ४८७/२१. रहवीरपुरं नगरं, दोवगमुज्जाणमज्जकण्हे^७ य।
सिवभूतिस्सुवहिम्मी^८, पुच्छा थेराण कहणा य^९ ॥
- ४८७/२२. ऊहाए पण्णत्तं, बोडियसिवभूतिउत्तराहि इमं।
मिच्छादंसणमिणमो, रहवीरपुरे समुप्पण्णं^{१०} ॥
- ४८७/२३. बोडियासिवभूतीओ, बोडियलिंगस्स होति उप्पत्ती।
कोडिण्णकोट्टुवारा^{११}, परंपराफासमुप्पण्णा^{१२} ॥
४८८. एवं एते भणिता^{१३}, ओसप्पिणीए^{१४} उ निण्णवा सत्त।
वीरवरस्स पवयणे, सेसाणं पवयणे नत्थि ॥
४८९. 'मोत्तूण अतो एक्कं'^{१५}, सेसाणं जावजीविया दिट्ठी।
एक्केक्कस्स य एत्तो, दो दो दोसा मुण्यव्वा^{१६} ॥
४९०. सत्तेता दिट्ठीओ, जाइ-जरा-मरणगब्भवसहीणं।
मूलं संसारस्स तु, भवन्ति निगंथरूवेणं^{१७} ॥

१. जरक्खितेपू. (स्वो), 'रक्खियपू. (म, हा, महे)।

२. स्वो २९९२, उनि १७२/१०, निभा ५६०७।

३. स्वो २९९९, उनि १७२/११, निभा ५६०८।

४. स्वो (३००१) और महे (२५१९) में इस गाथा का पूर्वाद्धं
क्रमशः इस प्रकार है—

जंपति पच्चक्खाणं, अप्परिमाणाय होति सेयं ति।

जंपइ पच्चक्खाणं, अपरिमाणाए होइ सेयं तु।

५. उनि १७२/१२।

६. स्वो ३०३२, निभा ५६१७।

७. 'णअज्ज' (हा)।

८. 'हिम्मि य (हा)।

९. स्वो ३०३४, उनि १७२/१३, निभा ५६०९।

१०. स्वो ३०३३, उनि १७२/१४, निभा ५६१०।

११. कोण्डिण्ण' (स्वो)।

१२. 'परप्फास' (स्वो ३०३५), यह गाथा महे में नहीं है, उनि १७२/१५,
निभा ५६२०।

१३. कहिया (अ, ब, म, रा, हा, दी)।

१४. 'प्पिणिए (स्वो ५६७/३०९३)।

१५. मोत्तूणमेसिमिक्कं (हा, दी), मोत्तूणं तो एक्कं (स), मोत्तूण
इक्कमेसिं (ला), मोत्तूणेतो एक्कं (महे), मोत्तूण अउ एक्कं (स्वो)।

१६. स्वो ५६८/३०९४, निभा ५६२४।

१७. स्वो ५६९/३०९९, निभा ५६२३।

४९१. पवयणनीहूयाणं^१, जं^२ तेसिं कारितं जहिं^३ जत्थ।
भज्जं परिहरणाए, मूले तह उत्तरगुणे य^४ ॥
४९२. मिच्छादिद्वीयाणं^५, जं तेसिं कारितं जहिं^६ जत्थ।
सव्वं पि तयं सुद्धं, मूले तह उत्तरगुणे य^७ ॥
४९३. तव-संजमो अणुमतो^८, निगंथं^९ पवयणं च ववहारो।
सहुजुसुताणं पुण, निव्वाणं^{१०} संजमो चेव ॥
४९४. आया खलु सामइयं, पच्चक्खायंतओ हवति आया।
तं खलु पच्चक्खाणं, आवाए^{११} सव्वदव्वाणं^{१२} ॥
४९५. 'पढमम्मि सव्वजीवा^{१३}, बिंतिए चरिमे य सव्वदव्वाइं।
सेसा महव्वया खलु, तदेक्कदेसेण^{१४} दव्वाणं^{१५} ॥
४९६. जीवो गुणपडिवन्नो, नयस्स दव्वद्वियस्स सामइयं।
सो जेव पज्जवद्वियनयस्स^{१६} जीवस्स एस गुणो^{१७} ॥
४९७. उपपज्जंति वयंति^{१८} य परिणम्मंति^{१९} य गुणा न दव्वाइं।
दव्वप्पभवा य गुणा, न गुणप्पभवाइ दव्वाइं^{२०} ॥
४९८. जं जं 'जे जे'^{२१} भावे, परिणमति पयोग-वीससा दव्वं।
तं तह जाणाति^{२२} जिणो, अपज्जवे जाणणा नत्थि^{२३} ॥
४९९. सामाइयं^{२४} च तिविधं, सम्मत्तं^{२५} सुतं तहा चरित्तं च।
दुविधं चेव चरित्तं, अगारमणगारियं^{२६} चेव ॥

१. 'निज्जूटाणं (चू), निहूयंति देशीवचनमकिंचित्कार्थे (हाटी)।
२. X (रा)।
३. स्त्रो ५७०/३१००।
४. मिच्छादिद्वीयाणं (स्त्रो)।
५. जया (म)।
६. स्त्रो ५७१/३१०२।
७. गुणमओ (महे)।
८. नेगंथं (महे)।
९. णेव्वाणं (स्त्रो ५७२/३१०४)।
१०. आयाए (महे)।
११. स्त्रो ५७३/३११७, इस गाथा के बाद सावज्जजोग.....
(हाटीमूभा १४९), गाथा मूलभाष्य के रूप में प्रायः सभी
हस्तप्रतियों एवं टीकाओं में मिलती है।
१२. छज्जीवणिया पढमे (आनि १५)।
१३. तदेक्क (ब, म, रा), तदेक्क (ला), तदेक्क (महे)।

१४. स्त्रो ५७४/३१२०।
१५. पज्जवनयद्वियस्स (स्त्रो, हा)।
१६. स्त्रो ५७५/३१२६।
१७. वियंति (स्त्रो, महे)।
१८. परिणम्मंति (म), 'णम्मंति (महे)।
१९. स्त्रो ५७६/३१३१।
२०. जेण जं (अ)।
२१. जाणेइ (म, रा, ला)।
२२. स्त्रो ५७७/३१५०, हाटी और दीपिका में यह गाथा दो बार भिन्न
क्रमांक से उल्लिखित है। (हाटी ७९४, ७९५), (दी ९९५, ७९६)
दूसरी गाथा के प्रारंभ में हरिभद्र ने 'तथा चागमः' का उल्लेख
किया है।
२३. सामइयं (स)।
२४. सम्मत्तं (म)।
२५. आकारमणका (स्त्रो ५७८/३१५६)।

५००. अञ्जयणं पि य तिविधं, सुते अत्थे य तदुभए चेव।
सेसेसु वि अञ्जयणेसु होति एमेव निज्जुत्ती^१ ॥
५०१. जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होति, इति केवलभासितं^२ ॥
५०२. जो समो सव्वभूतेसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होति, इति^३ केवलभासितं^४ ॥
५०३. सावज्जजोगप्परिवज्जणट्ठा^५, सामाइयं केवलियं पसत्थं।
गिहत्थधम्मा परमं ति णच्चा, कुज्जा बुहो आयहियं परत्था^६ ॥
५०४. सव्वं ति भाणिऊणं, विरती खलु जस्स सव्विया नत्थि।
सो सव्वविरतिवादी, चुक्कति 'देसं च सव्वं च'^७ ॥
५०५. सामाइयमि तु कते, समणो इव सावगो हवति जम्हा।
एतेण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा^८ ॥
- ५०५/१. जीवो पमादबहुलो, बहुसो वि य बहुविहेसु अत्थेसु।
एतेण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा^९ ॥
५०६. जो ण वि वट्ठति रागे, न वि दोसे दोण्ह मज्झयारम्मि।
सो होति उ मज्झत्थो, सेसा सव्वे अमज्झत्था^{१०} ॥
५०७. खेत-दिस^{११}-क्कल-गति^{१२}-भक्किय-सण्णि-उत्सास^{१३} दिट्ठि आहारे^{१४}।
पज्जत्त-सुत्त जम्म-ठिति^{१५} वेय सण्णा कसायाऊ^{१६} ॥

१. यह गाथा स्त्रो (५७९/३१५७) तथा महे (२६७४) में निगा के क्रम में है। अ, ब और ला प्रति में इसके लिए 'इयं मूल भा व्या' का उल्लेख है। यद्यपि टीकाकारों ने 'मूलभाष्यकृत्' का उल्लेख किया है किन्तु यह गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए। चूर्ण में भी यह गाथा व्याख्यात है। चूर्णकार ने इसकी व्याख्या में 'अण्णे पुण इमा गाथा उवरि चेव निरुत्तदारअवसाणे वक्खणांति' का उल्लेख किया है।

२. अनुट्ठा ७०८/गा. १, स्त्रो ५८०/३१६२।

३. ईई (महे)।

४. अनुट्ठा ७०८/गा. २, स्त्रो ५८१/३१६३।

५. 'जोगं परिरक्खणट्ठा (महे), 'जोगं परिवज्ज' (स्त्रो)।

६. परत्थं (अ, हा, दी), समत्था (अ), स्त्रो ५८२/३१६४।

७. सव्वं च देसं च (स्त्रो ५८३/३१६७), इस गाथा के बाद स प्रति के अतिरिक्त प्रायः सभी हस्तप्रतियों में तथा हा और म में जति किंचि..... (स्त्रो ३१७०) जो वा..... (स्त्रो ३१७१) जो पुण..... (स्त्रो ३१७२)

तीन गाथाएं मिलती हैं। प्रतियों में 'गाथात्रयं भा व्या' का उल्लेख है। हाटी (पृ. २२०) तथा मटी (पृ. ४३५) में ये 'आह च भाष्यकारः' उल्लेख के साथ उद्धृत गाथा के रूप में मिलती हैं।

८. स्त्रो ५८४/३१७३, मूला ५३३।

९. यह गाथा हा, म, दी में निगा के क्रमांक में व्याख्यात है किन्तु स्त्रो एवं महे में यह गाथा नहीं मिलती है। यह गाथा पुनरावृत्त सी लगती है। गा. ५०६ की बात ही इसमें व्याख्या रूप में कही गयी है अतः यह भाष्य की या बाद में जोड़ी गई प्रतीत होती है।

१०. स्त्रो ५८५/३१७४।

११. दिसा (अ, म, रा, हा, दी)।

१२. गई (रा, महे)।

१३. नत्सास (स्त्रो)।

१४. माहारे (अ, रा, हा, दी)।

१५. ट्ठिति (अ, महे, हा, दी), ट्ठिई (म)।

१६. 'याउं (महे), स्त्रो ५८६/३१७५।

५०८. णाणे जोगुवजोगे, सरीर-संठाण-संघयण माणे।
लेसा परिणामे^१ वेयणा^२ समुग्घायकम्मे य ॥
५०९. निव्वेढणमुव्वट्टे^३, आसवकरणे^४ तहा अलंकारे।
सयणासणठाणत्थे, चंकम्मंते य किं कहिये^५ ॥
५१०. सम्मसुताणं लंभो^६, उड्डं च अहे य तिरियलोए य।
विरती मणुस्सलोए, विरताविरती य तिरिएसुं^७ ॥
५११. पुव्वपडिवण्णगा^८ पुण, तीसु वि लोगेसु नियमतो तिण्हं।
चरणस्स दोसु नियमा, भयणिज्जा उड्डलोगम्मि^९ ॥
५१२. नामं ठवणा दविए, खेत दिसा ताव खेत पणवए।
समत्तिया भावदिसा, 'परूवणा तस्स कायव्वा'^{१०} ॥

१. 'णामं (महे)।

२. वेयणा य (रा, महे), वेतणा (स्वो ५८७/३१७६)।

३. निव्वट्टणमुं (म), 'ढण उव्वट्टो (स्वो), निव्वेढणमुं (महे)।

४. 'करणं (रा, महे)।

५. स्वो ५८८/३१७७।

६. लाभो (महे)।

७. स्वो ५८९/३१७८।

८. 'पडिवन्नतो (म)।

९. स्वो ५९०/३१७९।

१०. सा होयट्टारसविहा उ (ब, स, हा, दीपा, मटीपा) परूवणा तम्मि का' (स्वो ५९१/३१८०), तु, आनि ४०, इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में तेरसपएसियं..... (हाटीमूभा, स्वो ३१८१) मूलभाष्य की गाथा मिलती है तथा इसके बाद 'गाथादशकं अन्य व्या.' उल्लेख के साथ १० अन्यकर्तृकी गाथाएं मिलती हैं। इनमें कुछ गाथाएं आचारांग निर्युक्ति की हैं। हाटी, मटी में ये टीका की व्याख्या में उद्धृत गाथा के रूप में हैं। हाटी तथा आवश्यक निर्युक्ति अवचूरी में इन गाथाओं के लिए 'आह भाष्यकारः' का उल्लेख है तथा दीपिका में 'व्याख्यार्थ भाष्य' का उल्लेख है—

अट्टपदेसो रुयगो, तिरियं लोगस्स मज्झयारम्मि। एस पभवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं ॥१॥

(आनि ४२)

दुपएसदि दुरुत्तर, एगपदेसा अणुत्तरा चेव। चउरो चउरो य दिसा, चउराइ अणुत्तरा दोन्नि ॥२॥

(आनि ४४)

सगडुद्धिसंठिताओ, महादिसाओ भवन्ति चत्तारि। मुत्तावली य चउरो, दो चेव हवन्ति रुयगनिभा ॥३॥

(आनि ४६)

इंदगेई जम्मा, य नेरुती वारुणी य वायव्वा। सोमा ईसाणा वि य, विमला य तमा य बोधव्वा ॥४॥

(आनि ४३, स्वो ३१८४)

इंदा विजयद्वाराणुसारतो, सेसया पयाहिणतो। अट्ट य तिरियदिसाओ, उड्डं विमला तमा चाधो ॥५॥

(स्वो ३१८५)

जे मंदरस्स पुव्वेण माणुसा दाहिणेण अवरेण। जे यावि उत्तरेणं, सव्वेसिं उत्तरो मेरू ॥६॥

(आनि ४९)

- ५१२/१. जेसिं जत्तो सूरु, उदेति तेसिं तई हवइ पुव्वा।
तावक्खित्तदिसाओ, पदाहिणं सेसियाओ वि' ॥
- ५१२/२. पण्णवओ जदभिमुहो, सा पुव्वा सेसिया पदाहिणतो।
अट्टारसभावदिसा, जीवस्स गमागमो जेसुं^२ ॥
- ५१२/३. पुढवि-‘जल-जलण-वाया’^३ मूलक्खंधग्ग-पोरबीया य।
बि-ति-चउ-पंचिंदिय तिरिय, नारगा देवसंघाता^४ ॥
- ५१२/४. सम्मुच्छिम कम्माकम्मभूमिगनरा तहंतरदीवा।
भावदिसा दिस्सति जं, संसारी निययमेताहिं^५ ॥
५१३. पुव्वादीयासु महादिसासु, पडिवज्जमाणगो होति।
पुव्वपडिवण्णओ पुण, अण्णवरीए दिसाए उ^६ ॥
५१४. सम्मतस्स सुतस्स य, पडिवत्ती छव्विहम्मि^७ कालम्मि।
‘विरतिं विरताविरतिं’^८, पडिवज्जति दोसु तिसु वावि^९ ॥

१. स्‍वो ३१८६, महे में ५१२/१-४ इन चार गाथाओं के लिए टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र ने ‘निर्युक्तिगाथावत्तुष्टयार्थः.....अथ भाष्यकारो वक्ष्यमाणनिर्युक्तिगाथायाः प्रस्तावनामाह’ (महेटी पृ. ५३८) का उल्लेख किया है। इन गाथाओं को निर्युक्तिगाथा के अन्तर्गत भी माना जा सकता है क्योंकि इसमें दिशा के मुख्य निक्षेपों का स्पष्टीकरण है लेकिन किसी भी व्याख्याकार ने इनको निर्युक्ति गाथा के अन्तर्गत नहीं माना है तथा हस्तप्रतियों में भी ये अन्यकर्तृकी उल्लेख के साथ मिलती हैं अतः इनको निगा के क्रम में नहीं जोड़ा है। निर्धारित बिंदुओं के आधार पर यदि किसी भी व्याख्याकार ने गाथा को निर्युक्ति के रूप में स्वीकार किया है तो हमने उसे भले ही क्रमांक के साथ नहीं जोड़ा पर मूल गाथा के साथ रखा है। इसीलिए इन गाथाओं को पादटिप्पण में न देकर ऊपर दिया है। स्‍वो में ये गाथाएं भागा के क्रम में हैं।

२. स्‍वो ३१८७, इस गाथा का उत्तरार्ध हस्तप्रतियों तथा हा, म में इस प्रकार मिलता है— तस्सेवणुगंतव्वा, अगोयादी दिसा नियमा।

३. जलाणलवाता (स्‍वो)।

४. स्‍वो ३१८८।

५. स्‍वो ३१८९।

६. स्‍वो ५९२/३१९१, इस गाथा के बाद हस्तप्रतियों में छिन्नावलि.....(स्‍वो ३१९२) गाथा भाष्य के रूप में मिलती है। हा, म, दी में भी ‘आह भाष्यकारः’ उल्लेख के साथ यह उद्धृत गाथा के रूप में मिलती है। इसके बाद प्रतियों में ‘गाथात्रयं ऽन्या व्या’ उल्लेख के साथ तीन निम्न अन्यकर्तृकी गाथाएं मिलती हैं। हा, म, दी में भी ये टीका की व्याख्या में उद्धृत गाथा के रूप में मिलती हैं—

अट्टसु चउण्ह नियमा, पुव्वपवण्णो उ दोसु दोण्हेव।
दोण्ह तु पुव्वपवण्णो, सिय णण्णो ताव पण्णवए ॥१॥

उभयाभावो पुढवादिएसु विगलेसु होज्ज उ पवण्णो।
पंचिंदियतिरिएसुं, नियमा तिण्हं सिय पवज्जे ॥२॥

नारगदेवाकम्मग, अंतरदीवेसु दोण्ह भयणा उ।
कम्मगनरेसु चउसुं, मुच्छेसु उ उभयपडिसेधो ॥३॥

७. छव्विहे वि (स्‍वो, महे)।

८. विरई विरयाविरई (रा,म)।

९. स्‍वो ५९३/३१९३।

५१५. चउसु वि गतीसु नियमा, सम्मत्तसुतस्स होति पडिवत्ती ।
मणुएसु होति विरती, विरताविरती य तिरिएसु^१ ॥
५१६. भवसिद्धिओ उ^२ जीवो, पडिवज्जति सो चउण्हमन्नयरं ।
पडिसेहो पुण अस्सण्णिमीसए^३ सण्णिपडिवज्जे^४ ॥
५१७. ऊसासग नीसासग, 'मीसग पडिसेह'^५ दुविधपडिवन्नो ।
दिट्ठीय दो नया खलु, ववहारो निच्छओ चेव^६ ॥
५१८. आहारगो उ जीवो, पडिवज्जति सो चउण्हमन्नयरं ।
एमेव य पज्जतो, सम्मत्तसुते सिया इतरो^७ ॥
५१९. निदाय भावतो वि य, जागरमाणो चउण्हमन्नयरं ।
अंडय-पोय^८-जराउय, तिग तिग चउरो भवे कमसो^९ ॥
५२०. उक्कोसगट्ठितीए^{१०}, पडिवज्जंते य नत्थि पडिवन्ने ।
अजहण्णमणुक्कोसे^{११}, 'पडिवज्जंते य'^{१२} पडिवन्ने ॥
५२१. चउरो वि तिविधवेदे, चउसु वि सण्णासु होति पडिवत्ती ।
हेट्ठा जहा कसाएसु, 'वण्णियं तह य इहयं पि'^{१३} ॥
५२२. संखिज्जाऊ चतुरो, भयणा 'सम्म सुयऽसंखवासीण'^{१४} ।
ओहेण विभागेण य, नाणी पडिवज्जते^{१५} चउरो^{१६} ॥
५२३. चउरो वि तिविधजोगे, उवओगदुगम्मि चउर^{१७} पडिवज्जे ।
ओरालिए चउक्कं, सम्मसुय विउव्विए भयणा^{१८} ॥
५२४. सव्वेसु वि संठाणेसु, लभति एमेव सव्वसंघयणे ।
उक्कोसजहण्णं वज्जिऊण माणं^{१९} लभे मणुओ^{२०} ॥

१. स्‍वो ५३४/३१९६ ।

२. य (महे) ।

३. असण्णि (महे) ।

४. स्‍वो ५९५/३१९७ ।

५. मीसे पडिसेहो (महे), मीसे पडि (स्‍वो) ।

६. स्‍वो ५९६/३१९९ ।

७. स्‍वो ५९७/३२०२ ।

८. पोयय (अ) ।

९. स्‍वो (५९८/३२०४) में इस गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

अंडय तह पोत जरोववादि दो तिण्णि चतुरो वा ।

१०. उक्कोसाय ठितीये (स्‍वो) ।

११. 'ण्णमणोकोसे (स्‍वो) ।

१२. पडिवज्जे यावि (स्‍वो ५९९/३२०८, महे) ।

१३. भणियमिहइं पि य तहेव (स्‍वो ६००/३२११) ।

१४. सुत सम्मऽसंखवासम्मि (स्‍वो), 'सुएऽसंखवासाणं (म, महे) ।

१५. 'ज्जइं (अ, व, म, हा, दी) ।

१६. स्‍वो ६०१/३२१२ ।

१७. चउरो (ब, ला), चतुरो (स्‍वो), चउरो (महे) ।

१८. स्‍वो ६०२/३२१५ ।

१९. माणे (महे) ।

२०. स्‍वो ६०३/३२२३ ।

५२५. सम्मतसुतं सव्वासु लभति सुद्धासु तीसु वि^१ चरितं।
पुव्वपडिवन्नगो पुण, अन्नयरीए तु लेसाए^२ ॥
५२६. वड्ढंते परिणामे, पडिवज्जति सो चउण्हमन्नयरं।
एमेवऽवड्ढियम्मि^३ वि, हायंते^४ न किंचि पडिवज्जे^५ ॥
५२७. दुविहाएँ वेयणाए, पडिवज्जति सो चउण्हमन्नयरं।
असमोहओ वि एमेव, पुव्वपडिवन्नए भयणा^६ ॥
५२८. दव्वेण य भावेण य, निव्वेड्ढंतो^७ चउण्हमन्नयरं^८।
नरएसु^९ अणुव्वट्टे, 'दुग-तिग चउरो सिउव्वट्टे'^{१०} ॥
५२९. तिरिएसु अणुव्वट्टे, तिगं चउक्कं सिया उ उव्वट्टे।
मणुएसु अणुव्वट्टे, चउरो 'ति दुगं'^{११} 'तु उव्वट्टे'^{१२} ॥
५३०. देवेसु अणुव्वट्टे, 'दुगं चउक्कं सिया उ उव्वट्टे'^{१३}।
उव्वट्टमाणओ पुण, सव्वो वि न किंचि पडिवज्जे^{१४} ॥
५३१. णीसवमाणो^{१५} जीवो, पडिवज्जति सो चउण्हमन्नयरं।
पुव्वपडिवण्णगो पुण, सिय आसवओ व नीसवओ^{१६} ॥
५३२. उम्मुक्कमणुम्मुक्के^{१७}, उम्मुच्चंते^{१८} य केसऽलंकारे।
पडिवज्जेज्जऽन्नयरं, सयणादीसुं^{१९} पि एमेव ॥
५३३. सव्वगतं सम्मतं, सुते^{२०} चरित्ते न पज्जवा सव्वे।
देसविरतिं पडुच्चा, दोण्ह वि पडिसेहणं^{२१} कुज्जा ॥

१. व (ब), य (अ, हा, दी, रा, स्त्रो, महे)।

२. स्त्रो ६०४/३२२५।

३. 'वड्ढियम्मि (महे)।

४. हायंते (महे)।

५. स्त्रो ६०५/३२२८, इस गाथा के लिए महे में निर्युक्तिगाथा का संकेत नहीं है पर इसमें ५०८ गाथागत 'परिणामद्वार' की व्याख्या है अतः यह गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए।

६. स्त्रो ६०६/३२२९।

७. निव्वेड्ढंतो (म), निव्वेड्ढंतो (महे), निव्वेड्ढंतो (स्त्रो)।

८. लभेज्ज अण्ण (स्त्रो)।

९. नरयाओ (बपा, लापा, मटीपा)।

१०. दुगं चउक्कं सिया उ उव्वट्टे (ब, रा, हा, दी), स्त्रो ६०७/३२३०।

११. बि तियं (महे, स्त्रो)।

१२. च उव्वट्टे (स), सिउव्वट्टे (स्त्रो ३२३२)।

१३. दुग तिग चउरो सिउव्वट्टे (महे), दुगं ति चतुरं सिया तु उव्वट्टे (स्त्रो)।

१४. स्त्रो ३२३३, गा. ५२९, ५३० ये दोनों गाथाएं स्त्रो में भाष्यगाथा के रूप में निर्दिष्ट हैं किन्तु सभी टीकाओं तथा महे में यह निगा के क्रम में है तथा विषयवस्तु की दृष्टि से भी ये गाथाएं यहां प्रसंगोपात हैं।

१५. णीसममाणो (रा)।

१६. मीसो वा (स्त्रो ६०८/३२३४)।

१७. ओमुक्कमणोमुक्को।

१८. ओमुच्चंते (स्त्रो), उम्मुच्चंते (ब, म, महे)।

१९. 'दीणं (स्त्रो ६०९/३२३५)।

२०. सुय (महे)।

२१. 'सेवणं (स्त्रो ६१०/३२३६)।

५३४. माणुस्स-खेत्त-जाती, कुल-रूवारोग्ग-आउगं^१ बुद्धी।
सवणोग्गह^२ सद्वासंजमो य लोगम्मि दुलभाइं^३ ॥
५३५. चेत्तल्लगं^४ पात्सग धण्णे, जूए खणे य सुमिणं^५ चक्के य।
चम्म-जुगे परमाणू दस दिट्ठंता मणुयलंभो^६ ॥
५३६. पुव्वंते होज्ज जुगं, अवरंते तस्स होज्ज समित्ता उ।
जुगच्छिड्डुम्मि^७ पवेसो, इय संसइओ मणुयलंभो^८ ॥
- ५३६/१. जह समित्ता पब्भट्ठा, सागरसलिले अणोरपारम्मि।
पविसेज्जा जुगच्छिड्डुं^९, कह^{१०} वि भमंती भमंतम्मि ॥
- ५३६/२. सा चंडवायवीचीपणोल्लिता अवि लभेज्ज जुगच्छिड्डुं^{११}।
न य माणुसाउ^{१२} भट्ठो, जीवो पडिमाणुसं लभति^{१३} ॥
५३७. इय दुल्लभलंभं माणुसत्तणं पाविऊण जो जीवो।
न कुणति पारत्तहियं, सो सोयति संकमणकाले^{१४} ॥
५३८. जह वारिमज्झलूढोव्व, गयवरो मच्छओव्व गलगहितो।
'वग्गुरपडितो व'^{१५} मओ, 'संवट्ट इओ'^{१६} 'जह व'^{१७} पक्खी ॥
५३९. सो सोयति मच्चु-जरासमुच्छुओ^{१८} तुरियनिदपक्खितो।
तायारमविंदंतो, कम्मभरपणोल्लितो^{१९} जीवो ॥

१. माउयं (ब, हा, दी), माउगं (स्वो)।

२. समणोग्गह (स्वो, स), समणुग्गह (ब, रा)।

३. स्वो ६११/३२४६, उनि १६०, इस गाथा के बाद सभी हस्तप्रतियों में निम्न अन्यकर्तृकी गाथा मिलती है। हाटी में भी इसके लिए 'भिन्नकर्तृकी किलेयं' का उल्लेख है। टीपिका में अन्यकर्तृकी न पौनरुक्त्यं का उल्लेख है—

इंदियलद्धी निव्वत्तणा य पज्जति निरुवहय खेमं।

धायारोग्गं सद्दा, संजमो य लोगम्मि दुलभाइं ॥

स्वो में चोत्तल्लग (३२४७) गाथा के बाद यह गाथा भाष्यगाथा (३२४८) के क्रम में है। महे में यह गाथा नहीं है। महे में माणुस्स (५३४) से अब्भुट्ठाणे (५४८) तक की पन्द्रह गाथाएं अनुपलब्ध हैं। टीकाकार ने मात्र इतना उल्लेख किया है कि 'माणुस्सइत्यादिका अब्भुट्ठाणे इति गाथा एताः पाठसिद्धा एव क्वचिद् वैषम्ये मूलावश्यकटीकातो बोधव्याः' इस उल्लेख से स्पष्ट है कि टीकाकार के सामने ये गाथाएं थीं लेकिन उन्होंने इनकी व्याख्या नहीं की।

४. चुल्लको देशयुक्त्वा भोजनम् (दी)।

५. सिमिण (स्वो)।

६. स्वो ६१२/३२४७, उनि १६१।

७. 'छिड्डुम्मि (म, स, स्वो ६१३/३२५३)।

८. स तथा रा प्रति में ५३६ और ५३६/१ इन दोनों गाथाओं में क्रमव्यत्यय है। जह समित्ता... (५३६/१) तथा सा चंडवाय... (५३६/२) गाथा स्वो में भागा के क्रम में हैं लेकिन हस्तप्रतियों और हा, म, दी टीका में ये निगा के क्रम में हैं। वस्तुतः ये दोनों गाथाएं पुव्वंते (५३६) की व्याख्या रूप प्रतीत होती हैं। चूर्ण में भी केवल पुव्वंते (५३६) गाथा का संकेत एवं व्याख्या है।

९. जुगच्छिड्डुं (हा), जुगच्छिदं (स्वो)।

१०. किध (स्वो ३२५२)।

११. युग (हा, दी)।

१२. माणुसातो (स्वो ३२५४)।

१३. स्वो में यह भागा के क्रम में है, देखें टिप्पण गाथा ५३६ का।

१४. स्वो ६१४/३२५५।

१५. 'पडिउव्व (हा, दी, रा)।

१६. संवट्टमिओ (ब, ला), संवट्टति तो (स्वो ६१५/३२५६)।

१७. जहा (म)।

१८. 'समत्थतो (स्वो), 'समोच्छुओ (अ, हा, रा)।

१९. 'भरसमोत्थतो (स्वो ६१६/३२५७)।

५४०. काऊणमणेगाई, जम्मण^१-मरणपरियट्टणसयाई।
दुक्खेण माणुसत्तं, जदि लभति जहिच्छियं^२ जीवो॥
५४१. तं तह दुल्लभलंभं, विज्जुलताचंचलं माणुसत्तं^३।
लद्धूण जो पमायति, सो कापुरिसो^४ न सप्पुरिसो॥
५४२. आलस्स-मोहऽवण्णा, थंभा कोहा पमाद किवणत्ता^५।
भय-सोगा अण्णाणा, वक्खेव कुतूहला^६ रमणा^७॥
५४३. एतेहि कारणेहिं, लद्धूण सुदुल्लहं पि माणुस्सं।
न लभति सुतिं हितकरिं, संसारुत्तारणिं^८ जीवो^९॥
५४४. जाणावरण-पहरणे, जुद्धे कुसलत्तणं 'च णीती'^{१०} य।
दक्खत्तं ववसाओ, सरीरमारोगता^{११} चेव^{१२}॥
५४५. दिट्ठे 'सुतेऽणुभूते'^{१३}, कम्माण खए कते उवसमे य।
मण-वयण-कायजोगे, य पसत्थे लब्धते^{१४} बोही॥
५४६. अणुकंपऽकामणिज्जर, बालतवे दाण-विणय-विब्भंगे।
संजोगविप्पयोगे^{१५}, वसणूसव-इड्ढि-सक्कारे^{१६}॥
५४७. विज्जे मिंठे^{१७} तह इंदणाग^{१८} कतपुण्ण-पुप्फसालसुते।
सिव-दुमहुरवणिभाउग आभीर^{१९} दसणिणलापुत्ते^{२०}॥

१. जम्म (ब, ला, हा, दी)।
२. जहिच्छया (अ, हा), जतिच्छया (स्वो ६१७/३२५८)।
३. च मणुयत्तं (म), मणुस्सत्तं (ब), मणूसत्तं (स्वो ६१८/३२५९)।
४. काउरिसो (ब, म, रा, ला)।
५. किमणत्ता (स्वो), किविणत्ता (म)।
६. कुतूहल्ला (रा)।
७. प्राकृतत्वादाकारः (दी), उनि १६३, स्वो ६१९/३२६०।
८. 'त्तारणी' (स्वो ६२०/३२६१)
९. उनि १६४।
१०. सनीई (म)।
११. 'मारुगया (ब, ला)।
१२. उनि १५५, स्वो ६२१/३२६२, इस गाथा के बाद सभी हस्तप्रतियों में तीन अन्यकर्तृकी गाथाएँ मिलती हैं। टीकाओं में भी ये उद्धृत गाथा के रूप में हैं। स्वो और महे में ये गाथाएं भागा के क्रम में हैं—

- जीवो जोधो जाणं, वताणि आवरणमुत्तमं खंती।
झाणं पहरणमिदं, गीतत्थत्तं च कोसल्लं॥१॥ (स्वो ३२६६)
दक्खादिजधोवायाणुरूवपडिवत्तिवत्तिता णीती।
दक्खत्तं किरियाणं, जं करणमहीणकालम्मि॥२॥ (स्वो ३२६७)
करणं सहणं च तवोवसग्गुगावतीय ववसायो।
एतेहिं सुणीरोगो, कम्मरिवुं जयति सब्बेहिं॥३॥ (स्वो ३२६८)
१३. सुयमणुभूयं (रा), सुतमणुभूते (चू)।
१४. लब्धती (स्वो ६२२/३२६९)।
१५. संयोग* (अ, हा, दी)।
१६. स्वो ६२३/३२७०।
१७. मेंठे (ला, दी, हा, स्वो), मिंठे (ला), इस गाथा का संकेत मुद्रित चूर्ण में नहीं है किन्तु कथा का विस्तार मिलता है।
१८. इंदयणागय (म)।
१९. आहीर (ब, स, दी, हा)।
२०. स्वो ६२४/३२७१।

- ५४७/१. सो वाणरजूहवती^१, कंतारे सुविहिताणुकंपाए।
भासुरवरबोदिधरो, देवो वेमाणिओ जाओ^२ ॥
५४८. अब्भुट्ठाणे विणए, परक्कमे साहुसेवणाए य।
सम्मदंसणलंभो, विरताविरतीइ^३ विरईए^४ ॥
५४९. सम्मतस्स सुतस्स य, छावट्ठीसागरोवमाइ ठिती।
सेसाण पुव्वकोडी, देसूणा होति उक्कोसा^५ ॥
५५०. सम्मतदेसविरता, पलियस्स असंखभागमेत्ताओ^६।
सेढी असंखभागे, सुते सहस्सग्गसो विरती ॥
५५१. सम्मतदेसविरता, पडिवन्ना संपई असंखेज्जा।
संखेज्जा य चरित्ते, तीसु वि पडिता अणंतगुणा^७ ॥
५५२. सुतपडिवण्णा संपइ, पयरस्स असंखभागमेत्ताओ।
सेसा संसारत्था, सुतपडिवडिया हु ते सव्वे^८ ॥
५५३. कालमणंतं च^९ सुते, अट्ठापरियट्ठओ य^{१०} देसूणो।
आसायणबहुलाणं, उक्कोसं अंतरं होति ॥
५५४. सम्मसुयअगारीणं^{११} आवलिय^{१२} 'असंखभागमेत्ता उ'^{१३}।
अट्ठसमया चरित्ते, सव्वेसु^{१४} 'जहन्न दो'^{१५} समया ॥
५५५. सुतसम्म सत्तगं खलु, विरताविरतीय^{१६} होति बारसगं।
विरतीइ^{१७} पन्नरसगं, विरहितकालो अहोरत्ता ॥

१. 'जूभ' (चू)।

२. स्‍वो ६२५/३२७२, गाथा ५४७/१ सभी मुद्रित व्याख्या ग्रंथों में निगा के क्रम में है किन्तु यह गाथा निगा के क्रम में नहीं होनी चाहिए। प्रसंगवश भाष्यकार अथवा किसी अन्य आचार्य द्वारा बाद में जोड़ी गई है। इस गाथा को निगा न मानने के निम्न कारण हैं—

१. निर्युक्तिकार ने गा. ५४६, ५४७ में सामाजिक-प्राप्ति के कारण और उनको सभी कथाओं के संकेत दे दिए हैं। यहां पर यह गाथा अतिरिक्त व्याख्यात्मक सी प्रतीत होती है क्योंकि निर्युक्तिकार केवल एक ही कथा का विस्तार नहीं करते।

२. विषयवस्तु की दृष्टि से भी गा. ५४७ के बाद गा. ५४८ का सीधा संबंध बैठता है।

३. 'रईए (म)।

४. 'विरतीय (स्वो ६२६/३२७३)।

५. णातव्वा (स्वो ६२७/३२७४), इस गाथा के बाद प्रायः सभी हस्तप्रतियों में दो अतिरिक्त गाथाएं मिलती हैं। लिपिकार 'गाथाद्वयं भाव्या' का उल्लेख करते हैं। ये गाथाएं स्‍वो (३२७५, ३२७६) की हैं।

६. 'मेत्ता उ (स, दी, हा) मेता उ (स्वो ६२८/३२७७), मुद्रित चू में ५५० से ५५९ तक की गाथाओं का संकेत नहीं मिलता किन्तु संक्षिप्त व्याख्या और भावार्थ है।

७. स्‍वो ६२९/३२७८।

८. स्‍वो ६३०/३२७९, यह हाटी की मुद्रित टीका में निगा के क्रमांक में न होकर उद्धृत गाथा के रूप में है पर इस गाथा के लिए क्रमांक भी छोड़ दिया है। हाटी में अगली गाथा का क्रमांक ८५२ न होकर ८५३ है।

९. तु (स्वो ६३१/३२८८)।

१०. उ (हा, ला)।

११. 'सुतसम्म' (स्वो), 'मगारीण' (म), 'सुयागारीण' (महे)।

१२. 'लिया (ब)।

१३. 'मिताओ (म)।

१४. सव्वेसिं (म, स्वो)।

१५. जहन्नओ (स्वो ६३२/३२९०)।

१६. 'विरईए (हा), 'विरईइ (ब, म)।

१७. 'ईए (हा, दी स), विरतीय (स्वो ६३३/३२९१)।

५५६. सम्मत्तदेसविरता^१, पलितस्स असंखभागमेत्ताओ ।
‘अट्टभवा उ’^२ चरित्ते, अणंतकालं च सुतसमए ॥
५५७. तिण्ह^३ सहस्सपुहत्तं^४, सयप्पुहत्तं च होति विरतीए ।
एगभवे आगरिसां, एवतिया होंति णातव्वा ॥
५५८. ‘तिण्ह सहस्समसंखा’^५, सहसपुहत्तं च होति विरतीए ।
णाणभवे आगरिसा, ‘एवइया होंति णातव्वा’^६ ॥
५५९. सम्मत्तचरणसहिता, सव्वं लोणं फुसे निरवसेसं ।
सत्त य चोद्दसभागे^७, पंच य^८ सुतदेसविरतीए ॥
५६०. सव्वजीवेहिं सुतं, सम्मचरित्ताइ सव्वसिद्धेहिं ।
भागेहि असंखेज्जेहि, फासिता देसविरतीओ^९ ॥
५६१. सम्मद्धिट्ठि अमोहो, सोधी सञ्भाव दंसणं बोही ।
अविवज्जओ ‘सुदिट्ठि ति’^{१०} एवमाई निरुत्ताइ^{११} ॥
५६२. अक्खर सण्णी सम्मं, सादीयं^{१२} खलु सपज्जवसितं च^{१३} ।
गमियं अंगपविट्ठं, सत्त वि एते सपडिवक्खा^{१४} ॥
५६३. विरयाविरई संवुडमसंवुडे बालपंडिए चेव ।
देसेक्कदेसविरती, अणुधम्मोऽगारधम्मो^{१५} य^{१६} ॥
५६४. सामाइयं समइयं^{१७}, सम्मावाओ समास संखेवो ।
अणवज्जं च परिण्णा, ‘पच्चक्खाणे य’^{१८} ते अट्ठ^{१९} ॥

१. ‘विरई (स, हा, दी) ।

२. ‘भवाणि (स्वो ६३४/३२९२) ।

३. तिण्हं (महे) ।

४. ‘पुहुत्तं (अ, स), ‘पुधत्तं (स्वो ६३५/३२९३) सर्वत्र ।

५. दोण्ह पुधत्तमसंखा (स्वो), दोण्ह पुहत्तम (महे), दुण्ह सहस्स (बपा), दोण्ह सहस्स (मटीपा) ।

६. सुए अणंता उ नायव्वा (महे), सुते अणंता तु णातव्वा (स्वो ६३६/३२९४) ।

७. चउदस (म, ब), ‘भागा (स्वो ६३७/३२९५) ।

८. X (स) ।

९. ‘विरई (ब), स्वो ६३८/३२९६ ।

१०. सुदिट्ठी (महे) ।

११. स्वो ६३९/३२९७ ।

१२. साइयं (म), सादियं (हा, दी) ।

१३. X (ब) ।

१४. स्वो ६४०/३२९८ ।

१५. ‘धम्मो अगार’ (हा, दी, म, स, रा) ।

१६. स्वो ६४१/३२९९, इस गाथा के स्थान पर मुद्रित चूर्ण में ‘सुत्तसा’ इतना संकेत मिलता है। वह किस गाथा का संकेत है, यह आज उपलब्ध नहीं है क्योंकि चूर्ण में इसकी व्याख्या नहीं है ।

१७. समतियं (स्वो) ।

१८. ‘क्खाणं च (महे) ।

१९. स्वो ६४२/३३०० ।

५६५. दमदंते मेयज्जे, कालगपुच्छा चिलाय अत्तेय^१।
धम्मरुइ इला 'तेतलि सामइए'^२ अट्टुदाहरणा^३ ॥
- ५६५/१. वंदिज्जमाणा न समुक्कसंति^४, हीलिज्जमाणा न समुज्जलंति।
दंतेण चित्तेण चरंति धीरा^५, मुणी समुग्धातिवरगदोसा^६ ॥
- ५६५/२. तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु^७ ॥
- ५६५/३. नत्थि य सि कोइ वेसो^८, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।
एतेण होति समणो, एसो अण्णो वि पज्जाओ^९ ॥
- ५६५/४. जो कोंचगावराधे^{१०}, पाणिदया^{११} कोंचगं तु णाइक्खे।
जीवियमणपेहंतं^{१२}, मेतज्जरिसिं नमंसामि ॥
- ५६५/५. निप्फेडिताणि दोण्णि वि, सीसावेडेण जस्स अच्छीणि।
न य संजमाउ^{१३} चलितो, मेतज्जो मंदरगिरिव्व^{१४} ॥

१. पुत्तेय (ब)।

२. "सामा" (हा, दी, ला), तेयल समाइए (महे)।

३. स्वर ६४३/३३१२, इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में 'निक्खंतो हत्थिसीसा' गाथा मिलती है। प्रतियों में भा ५व्या का उल्लेख है। हा, दी, म में भी यह मूल भाष्य के क्रम में व्याख्यात है। (हाटीमूभा १५१, स्वर ३३१३)

४. समुण्णमंति (स्वो)।

५. लोए (स, स्वर ३३१४)।

६. ५६५/१-१४ ये चौदह गाथाएं निर्युक्ति की नहीं होनी चाहिए। मुद्रित स्वर और महे में भी ये निगा के क्रम में नहीं हैं। मालवणियाजी ने इनको भाष्यगाथा के क्रम में रखा है। महे (पृ. ५५६) में ५६५ गाथा के बाद 'इति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः', विस्तारार्थस्तु दमदन्तादिमहर्षिकथानकसूचिकाभ्यो 'निक्खंतो हत्थिसीसाओ' इत्यादिकाभ्यः 'पच्चक्खं दट्ठुणं' इत्यादिगाथापर्यन्ताभ्यः सप्तदशगाथाभ्यो मूलावश्यकलिखितविवरणसहिताभ्यो मंतव्यः" का उल्लेख है। चूर्णि में ५६५/१-३ इन तीन गाथाओं के संकेत एवं व्याख्या नहीं मिलती है। वहां ५६५/१२, १३ (सोऊण अणाउट्ठी, परिजाणिऊण जीवे) इन दो गाथाओं का संकेत है। अधिक संभव है कि मुद्रित चूर्णि में इन दो गाथाओं के संकेत संपादक द्वारा जोड़ दिये गए हैं। ५६५/४-१४ इन ग्यारह गाथाओं में उल्लिखित कथा चूर्णि में मिलती हैं।

इन गाथाओं को निगा नहीं मानने का सबसे बड़ा कारण यह है कि ५६५ की गाथा में चारित्र सामायिक के अन्तर्गत आठ कथाओं का संकेत है। उनमें प्रथम दमदंत की कथा वाली गाथा को सभी व्याख्याकारों ने भाष्य की मानी है अतः आगे मेतार्य, कालकाचार्यपुच्छा आदि की कथाओं वाली गाथाओं को निर्युक्ति की क्यों मानी जाए? वैसे भी निर्युक्तिकार केवल कथाओं का संकेत करते हैं, विस्तृत व्याख्या नहीं। ५६५/१-३ ये तीनों गाथाएं समण के स्वरूप को व्यक्त करने वाली हैं। ये यहां अप्रासंगिक सी लगती हैं अतः बहुत संभव है कि ये अनुयोगद्वारा से अन्य आचार्यों द्वारा या लिपिकर्ताओं द्वारा बाद में जोड़ दी गई हैं। इनमें गा. ५६५/२, ३ ये दो गाथाएं अनुयोगद्वारा की हैं।

७. अनुट्ठा ७०८/६, स्वर ३३१७, स्वर में गा. ५६५/२ और ३ में क्रमव्यत्यय है।

८. वेस्सो (स्वो)।

९. अनुट्ठा ७०८/४, स्वर ३३१६।

१०. कुंच (म, ब)।

११. प्राणिदयया हेतुभूतया सूत्रे विभक्तिलोपः आर्षत्वात् (मटी ४७८)।

१२. "मणुवे" (म), "मणवेहंते" (स्वर ३३१८)।

१३. "माओ" (म, ब)।

१४. स्वर ३३१९।

- ५६५/६. दत्तेण पुच्छितो जो, जण्णफलं कालगो तुरुमणीए^१।
समयाय^२ आहितेणं, सम्मं बुइतं^३ भदंतेणं^४ ॥
- ५६५/७. जो तिहि पदेहिं^५ सम्मं^६, समभिगतो संजमं समारूढो।
उवसम-विवेग-संवर, चिलात्तपुत्तं नमंसांमि ॥
- ५६५/८. अहिसरिता पादेहिं, सोणियगंधेण जस्स कीडीओ^७।
खायंति उत्तमंगं^८, तं दुक्करकारगं वंदे ॥
- ५६५/९. धीरो चिलायपुत्तो^९, मूइंगलियाहिं^{१०} चालिणिव्व^{११} कतो।
सो^{१२} तह वि खज्जमाणो, षडिवण्णो उत्तमं अट्ठं ॥
- ५६५/१०. अट्ठाइज्जेहिं^{१३} राइंदिएहि पत्तं^{१४} चिलात्तपुत्तेणं^{१५}।
देविंदामरभवनं, अच्छरगणसंकुलं रम्मं ॥
- ५६५/११. सयसाहस्सा^{१६} गंथा, सहस्स पंच य दिवड्डमेगं^{१७} च।
ठविता एगसिलोगे, संखेवो एस णातव्वो ॥
- ५६५/१२. सोऊण अणाउट्ठिं^{१८}, अणभीतो वज्जिऊण अणां तु।
अणवज्जगं उवगतो, धम्मरुई णाम अणगारो^{१९} ॥
- ५६५/१३. परिजाणिऊण जीवे^{२०}, अज्जीवे जाणणापरिण्णाए।
सावज्जजोगकरणं, परिजाणति सो^{२१} इलापुत्तो ॥
- ५६५/१४. पच्चक्खे 'इव दट्ठुं'^{२२}, जीवाजीवे य पुण्णपावं च।
पच्चक्खाया जोगा, सावज्जा तेतलिसुतेणं ॥

‘उवग्धातनिज्जुत्ती समत्ता’

१. तुरुमणीए (म)।
२. ‘याइ (म, ब), ‘याए (हा, दी, ला)।
३. बुइयं (म, हा, दी)।
४. स्वो ३३२०।
५. पतेहिं (स्वो)।
६. धम्मं (स, स्वो ३३२१)।
७. कीडीओ (ब)।
८. उत्तमंगं (ब, स्वो ३३२२)।
९. चिलाइ (म)।
१०. मूयइंग (हा, दी)।
११. चालणि (स्वो, ब)।
१२. जो (अ, स्वो ३३२३)।
१३. अट्ठाइ (म), अट्ठातिएहिं (स्वो)।

१४. लद्धं (स्वो ३३२४)।
१५. चिलाइ (रा, हा, दी)।
१६. सहसा (ब, अ), ‘हस्सं (स्वो ३३२५)।
१७. दिवद्धं (म)।
१८. ‘उट्ठी (चू), इस गाथा से पूर्व हस्तप्रतियों में निम्न गाथा अतिरिक्त मिलती है। यह भाष्यगाथा है—
जिन्ने भोयण मत्तेओ, कविलो पाणिणं दया।
विहस्सई अविस्सासं, पंचालो थोसु मद्वं ॥ (स्वो ३३२६)
१९. स्वो ३३२७।
२०. जीवो (स)।
२१. से (अ, स्वो ३३२८)।
२२. दट्ठुणं (हा), इव दट्ठुणं (दी), वि य दट्ठुं (स्वो ३३२९)।

- ५६५/१५. अप्पगंथ महत्थं, बत्तीसा दोसविरहियं जं च।
लक्खणजुत्तं सुत्तं, अट्ठहि य गुणेहि उववेत्तं^१ ॥
- ५६५/१६. अलियमुवघायजणयं, निरत्थयमवत्थयं छलं दुहिलं।
निस्सारमधियमूणं, पुणरुत्तं वाहयमजुत्तं ॥
- ५६५/१७. कमभिण्ण-वयणभिण्णं, विभत्तिभिण्णं च लिंगभिण्णं च।
अणभिहियमपयमेव य, सभावहीणं ववहियं च ॥
- ५६५/१८. काल-जति-च्छविदोसा^२, समयविरुद्धं च वयणमेत्तं^३ च।
अत्थावत्तीदोसो, य होति असमासदोसो य ॥
- ५६५/१९. उवमा-रूवगदोसा^४, निद्देस^५-पदत्थ-संधिदोसो य।
एते उ सुत्तदोसा, बत्तीसं होंति णायव्वा ॥
- ५६५/२०. निद्दोसं सारवंतं च, हेतुजुत्तमलंकितं।
उवणीतं सोवयारं च, मितं महुरमेव य^६ ॥
- ५६५/२१. अप्पक्खरमसंदिद्धं, सारवं विस्सतोमुहं।
अत्थोभमणवज्जं च, सुत्तं सव्वण्णुभासितं^७ ॥
५६६. उप्पत्ती निक्खेवो, पदं पयत्थो परूवणा वत्थू^८।
अक्खेव^९ पसिद्धि कमो, पयोयणफलं नमोक्कारो^{१०} ॥
५६७. उप्पण्णाऽणुप्पण्णो, एत्थ नयाऽऽइनिगमस्स^{११}ऽणुप्पण्णो।
सेसाणं उप्पण्णो, जइ कत्तो? तिविधसामित्ता ॥

१. ५६५/१५-२१ ये सात गाथाएं मुद्रित हारिभट्टीय एवं मलयगिरी की टीका में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु ये गाथाएं निगा की प्रतीत नहीं होती क्योंकि स्त्रो, महे, चूर्णि एवं दीपिका में इन गाथाओं का कोई संकेत एवं व्याख्या नहीं मिलती है। यहां सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का अवसर है अतः अधिक संभव है कि सूत्र की विशेषता एवं दोष बताने वाली ये गाथाएं अन्य आचार्यों या लिपिकर्ताओं द्वारा निशीथभाष्य अथवा बृहत्कल्पभाष्य से बाद में जोड़ दी गई हों। गाथा ५६५/१५ स्त्रो में ९९४ भागा के क्रमांक में है। उसके बाद ५६५/१६-१९ ये चार गाथाएं स्त्रो में उद्धृत गाथा के रूप में हैं। ५६५/२०, २१ ये दो गाथाएं स्त्रो (९९५, ९९६) में भागा के क्रमांक में हैं। (स्त्रो पृ. १८६-१८८)

महेटी में ५६५/१५ की गाथा ९९९ भागा के क्रम में तथा ५६५/१६-२१ ये छहों गाथाएं उद्धृत गाथा के रूप में हैं। देखें (महेटी पृ. २३१-३३) हाटी एवं मटी में टीकाकार ने अपनी

व्याख्या में कहीं भी इन गाथाओं के निर्युक्ति होने का संकेत नहीं किया है। हस्तप्रतियों में भी ये गाथाएं नहीं मिलती हैं। हमने इनको निर्युक्तिगाथा के क्रम में नहीं रखा है।

२. 'दोसो (म)।

३. 'मितं (हा)।

४. 'दोसो (रा, ब)।

५. हाटी में अनिद्देस (अनिर्देश) शब्द मानकर व्याख्या की है। (हाटी पृ. २५१)।

६. स्त्रो ९९५।

७. स्त्रो ९९६।

८. वत्थुं (स्त्रो, हा, महे, दी)।

९. अत्थेव (स)।

१०. नमुं (ब, म, महे), स्त्रो ६४४/३३३५।

११. 'जेगमस्स (महे, स्त्रो ६४५/३३३६), 'इनेगमस्स (म)।

५६८. समुद्राण-वायणालद्धिओ य^१ पढमे नयत्तिए तिबिहं ।
उज्जुसुय^२ पढमवज्जं, सेसनया लद्धिमिच्छंति^३ ॥
५६९. निण्हाइ दव्व भावोवउत्त^४ जं कुज्ज 'सम्मदिट्ठी उ'^५ ।
नेवाइयं पदं दव्वभावसंकोयणपयत्थो^६ ॥
५७०. दुविहा परूवणा छप्पया य नवधा य 'छप्पया इणमो'^७ ।
किं कस्स केण व कहिं, कियच्चिरं^८ कइविहो व^९ भवे^{१०} ॥
५७१. किं जीवो तप्परिणतो?, पुव्वपडिवण्णओ उ^{११} जीवाणं ।
जीवस्स व^{१२} जीवाण व^{१३}, पडुच्च पडिवज्जमाणं तु^{१४} ॥
५७२. णाणावरणिज्जस्स य^{१५}, दंसणमोहस्स तह^{१६} खओवसमे ।
जीवमजीवे अट्ठसु, भंगेसु तु^{१७} होति सव्वत्थ ॥
५७३. उवओग पडुच्चंऽतोमुहुत्त 'लद्धीइ होइ उ जहन्नो'^{१८} ।
उक्कोसठिइ^{१९} छावट्ठिसागराऽरिहाइ^{२०} पंचविहो^{२१} ॥
५७४. संतपदपरूवणया, दव्वपमाणं च खेत्तफुसणा य ।
कालो य अंतरं^{२२} भाग^{२३}, भाव^{२४} अप्पाबहुं चेव^{२५} ॥
५७५. संतपदं पडिवन्ने, पडिवज्जंते य 'मगगणा गइसु'^{२६} ।
इंदिय काए 'जोगे, वेदे'^{२७} य कसाय-लेसासु^{२८} ॥

१. X (हा, दी) ।

२. 'सुउ (अ, ब) ।

३. स्त्रो ६४६/३३३७ ।

४. 'वइत्तु (अ, ब), 'वयुत्तो (स्त्रो) ।

५. 'दिट्ठीओ (म) ।

६. स्त्रो ६४७/३३७०, इस गाथा के बाद स प्रति में निम्न गाथा अतिरिक्त मिलती है । यह गाथा चूर्ण में भी उद्धृत गाथा के रूप में मिलती है—

चउरो वि नेगमणओ, ववहारो संगहो ठवणवज्जं ।

उज्जुसुत पढमचरिमे, इच्छति भावं च सट्ठणया ॥

७. महे में टोकाकार ने 'छप्पयाइ णमो' पाठ मानकर व्याख्या की है ।

८. केवचिरं (महे, म), किच्चिरं (दी, हा), केवतियं (स्त्रो) ।

९. अ (म) ।

१०. स्त्रो ६४८/३३९१, ५७० से ५८२ तक की गाथाओं का चूर्ण में गाथा-संकेत नहीं है किन्तु संक्षिप्त भावार्थ एवं व्याख्या है ।

११. य (महे, स्त्रो) ।

१२, १३. य (ला, महे) ।

१४. व (म), स्त्रो ६४९/३३९२ ।

१५. उ (ब, स) ।

१६. जो (महे, स्त्रो ६५०/३४२३) ।

१७. य (दी, म, महे) ।

१८. लद्धी जहन्नयं चेव (स्त्रो), लद्धीए उ होइ जहन्ना (महे) ।

१९. 'सट्ठिई (म, दी) ।

२०. 'सागर अरि' (म) ।

२१. स्त्रो ६५१/३४४२ और महे में इसका उत्तरार्थ इस प्रकार है—
उक्कोसं छासट्ठिं, सागर अरिहाति पंचविधो । (स्त्रो)
उक्कोसऽहिया छावट्ठिसागरा अरिहाइ पंचविहो । (महे)

२२. अंतर (म, दी, अ) ।

२३. भागो (दी, म) ।

२४. भावे (म, दी, ला) ।

२५. स्त्रो ६५२/३४४८ ।

२६. मगगणं गईसु (ब, स), 'गतीसु (स्त्रो) ।

२७. वेए जोए (ब, स, हा, दी) ।

२८. लेसा य (स्त्रो ६५३/३४४९) ।

५७६. सम्मत्त-णाण-दसंण, संजय^१-उवओगओ य आहारे।
भासग-परित्त-पज्जत्त, सुहुमे सण्णी य भव-चरिमे ॥
५७७. पलियासंखिज्जइमे^२, पडिवन्नो हुज्ज खेतलोगस्स।
सत्तसु चउदसभागोसु, होज्ज फुसणा वि एमेव ॥
५७८. एगं पडुच्च हेट्ठा, जहेव^३ नाणाजियाण सव्वद्धा^४।
अंतर पडुच्च एगं^५, जहन्नमंतोमुहुत्तं तु^६ ॥
५७९. उक्कोसेणं चेयं^७, अद्धापरियट्ठओ उ देसूणो^८।
णाणाजीवे नत्थि उ, 'भावे य भवे'^९ खओवसमे^{१०} ॥
५८०. जीवाणऽणंतभागो, पडिवण्णो सेसगा अणंतगुणा।
वत्थुं तऽरिहंताइ^{११}, पंच भवे तेसिमे हेतू^{१२} ॥
- ५८०/१. आरोवणा^{१३} य भयणा, पुच्छण^{१४} तह दायणा^{१५} य निज्जवणा।
'नमुकारऽनमुकारे'^{१६}, नोआइजुए व नवहा वा^{१७} ॥
५८१. मग्गे अविप्पणासो, आयारे विणयया^{१८} सहायत्तं।
पंचविधनमुक्कारं, करेमि एत्तेहि हेऊहिं^{१९} ॥
५८२. 'अडवीय देसियत्तं'^{२०}, तहेव निज्जामगा^{२१} समुद्दिम्मि।
छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति^{२२} ॥

१. संजम (स्वो ६५४/३४५०)।

२. पलियमसंखेज्जइमो (महे), पलितअसंखेज्जतिमो (स्वो ६५५/३४५१)।

३. तहेव (ब, म, स, हा, दी)।

४. सव्वट्ठा (ब)।

५. मेगं (महे, म)।

६. स्वो ६५६/३४५२।

७. चेवं (म)।

८. महे और स्वो में गाथा का पूर्वाङ्ग इस प्रकार है—
उक्कोसणंतकालं, अद्धापरियट्ठं च देसूणं।

९. भवे य भवे (ब, स)।

१०. स्वो ६५७/३४५३।

११. अरहं* (अ, ब), अरहंताइ (म), तऽरिहंताइ (हा, दी)।

१२. स्वो ६५८/३४५४।

१३. आरोयणा (महे)।

१४. पुच्छा (हा, दी)।

१५. दावणा (म)।

१६. नमुक्कारऽनमुकारो (म)।

१७. महे (२९२७) और स्वो (३४५७) में गाथा का उत्तरार्ध इस प्रकार है—

एसा वा पंचविधा, परूवणाऽऽरोवणा तत्थ।

यह गाथा सभी हस्तप्रतियों में मिलती है। हा, म और दी में यह निर्युक्तिगाथा के क्रम में है। स्वो और महे में यह भाष्यगाथा के क्रम में है। वस्तुतः यह गाथा व्याख्यात्मक होने से भाष्यगाथा ही है। विषयवस्तु की दृष्टि से ५८० वीं गाथा ५८१ के साथ सीधी जुड़ती है। इसको निर्युक्तिगाथा मानने से विषयवस्तु में व्यवधान सा प्रतीत होता है।

१८. विणया (ब)।

१९. स्वो ६५९/३४७४।

२०. 'वीए देसि' (चू), 'देसियत्तं (महे)।

२१. निज्जामकं (चू)।

२२. स्वो ६६०/३४८९।

- ५८२/१. 'अडविं सपच्चवायं'^१, वोलित्ता देसिगोवएसेणं ।
पावंति जहिट्टपुरं, भवाडविं पी तहा जीवा^२ ॥
- ५८२/२. पावंति निव्वुइपुरं, जिणोवइट्टेण चेव मग्गेण ।
अडवीय देसियत्तं, एवं नेयं जिणिंदाणं ॥
- ५८२/३. जह^३ तमिह सत्थवाहं, नमइ जणो तं पुरं तु गंतुमणो ।
परमुवगारित्तणतो, निव्विग्गतं च भत्तीए ॥
- ५८२/४. अरिहो उ नमोक्कारस्स, भावओ खीणराग-मय-मोहो ।
मोक्खत्थीणं पि जिणो, तहेव जम्हा अतो अरिहा^४ ॥
- ५८२/५. 'संसारो अडवीए'^५, मिच्छत्तऽण्णाणमोहितपहाए ।
जेहि कयदेसियत्तं, ते अरहंते पणिवयामि^६ ॥
- ५८२/६. सम्मदंसणदिट्ठो, नाणेण^७ य 'सुट्ठु तेहि'^८ उवलद्धो^९ ।
चरणकरणेण^{१०} पहतो, णिव्वाणपहो^{११} जिणिंदेहिं ॥
- ५८२/७. 'सिद्धिबसहिं उवगता'^{१२}, निव्वाणसुहं च ते अणुप्पत्ता ।
सासयमव्वाबाहं, पत्ता अयरामरं ठाणं^{१३} ॥
- ५८२/८. पावंति जहा पारं, सम्मं निज्जामगा समुद्दस्स ।
भवजलहिस्स जिणिंदा, तहेव जम्हा अओ अरिहा^{१४} ॥

१. अडवि सपच्चवाया (ब) ।

२. ५८२/१-४ ये चारों गाथाएं मुद्रित हा, दी, म में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं किन्तु ये गाथाएं स्पष्ट रूप से व्याख्यात्मक हैं अतः निर्युक्ति की नहीं होनी चाहिए। स्वी, महे तथा चू में भी इन गाथाओं का उल्लेख नहीं है। गा. ५८२/२ का तीसरा चरण अडवीइ देसियत्तं है जो गा. ५८२ का प्रथम चरण है। निर्युक्तिकार सामान्यतः पुनरुक्ति नहीं करते हैं अतः बहुत संभव है कि ये गाथाएं बाद में जोड़ी गई हैं। चूर्णिकार के समक्ष भी संभवतः ये गाथाएं नहीं थीं। हा, म, दी में भी टीकाकार ने इनके निगा होने का संकेत नहीं दिया है।

३. तह (ब) ।

४. अरहा (ब) ।

५. 'राडवीए (स्वी) ।

६. पणिवयामि (स्वी ३४९३) ५८२/५-१३ ये नौ गाथाएं मुद्रित हा, म, दी एवं सभी हस्तप्रतियों में मिलती हैं। स्वी में कुछ गाथाएं भागा के क्रम में हैं। महे में टीकाकार उल्लेख करते हैं कि ये गाथाएं विस्तार

से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली हैं अतः इनका प्रतिपादन नहीं किया है (महेटी पृ. ५८२)। चूर्ण में प्रायः सभी गाथाओं का संकेत एवं व्याख्या है। ये गाथाएं रचना-शैली की दृष्टि से निगा की प्रतीत नहीं होती क्योंकि निर्युक्तिकार किसी सामान्य अर्थ वाली गाथा का इतना विस्तार नहीं करते हैं। ये सभी गाथाएं गा. ५८२ की व्याख्या रूप हैं अतः भाष्य की अधिक संगत लगती हैं। इन गाथाओं को निगा न मानने पर भी विषयवस्तु की दृष्टि से कोई अंतर नहीं आता। ५८२ के बाद ५८३ की गाथा संगत लगती है।

७. नाणेहि (स्वी) ।

८. तेहि सुट्ठु (म) ।

९. विण्णातो (स्वी) ।

१०. 'णेहिं (म) ।

११. णेव्वा (म, स्वी ३४९५) ।

१२. 'वसहिमुव' (हा, म) ।

१३. स्वी ३४९७, इस गाथा की व्याख्या चूर्ण में नहीं है ।

१४. अरहा (स), यह गाथा स्वी और चूर्ण दोनों में निर्दिष्ट नहीं है।

- ५८२/९. मिच्छत्तकालियावातरहिणं^१ सम्मत्तगज्जभपवाते^२ ।
एगसमएण पत्ता, सिद्धिवसहिपट्टणं पोता ॥
- ५८२/१०. निज्जामगरयणाणं, अमूढ-णाण-मतिकण्णधारणं^३ ।
वंदामि विणयपणतो, तिविहेण तिदंडविरताणं^४ ॥
- ५८२/११. पालंति जहा गावो, गोवा 'अहि-सावयाइदुग्गेहिं'^५ ।
पउरतण-पाणियाणि य, वणाणि पावंति तह चेव ॥
- ५८२/१२. जीवणिकाया गावो, जं ते पालेति ते^६ महागोवा ।
मरणादिभयाहि^७ जिणा, निव्वाणवणं^८ च पावंति ॥
- ५८२/१३. तो उवगारित्तणतो, नमोऽरिहा भवियजीवलोगस्स ।
सव्वस्सेह जिणिंदा, लोगतुम भावतो तह य^९ ॥
५८३. रागद्वोस-कसाए य, इंदियाणि य पंच वि ।
परीसहे उवसग्गे, नामयंता नमोऽरिहा^{१०} ॥
- ५८३/१. इंदिय-विसय-कसाए, परीसहे वेयणा^{११} उवस्सग्गे ।
एते अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति^{१२} ॥
- ५८३/२. अट्ठविहं पि य कम्मं, अरिभूतं होइ सव्वजीवाणं ।
तं कम्ममरि हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति^{१३} ॥

१. 'वायविरहिण' (ब, म, हा, दी), 'रहित (स्वो) ।
२. 'भपवाए (स), 'गज्जह' (म, स्वो ३५०२) ।
३. मयक* (म) ।
४. स्वो ३५०४ ।
५. सावतभयातिदुग्गेहि (स्वो ३५०५) ।
६. तो (स्वो) ।
७. 'भया उ (हा, दी, म, रा) ।
८. 'णेव्वाण' (स्वो ३५०६) ।
९. यह गाथा महे और स्वो में नहीं है ।
१०. स्वो ६६१/३५०७, इस गाथा के बाद ब प्रति में 'गाथापंचकं
ऽन्याऽव्या' उल्लेख के साथ पांच अन्यकर्तृकी गाथाएं मिलती
हैं । हा, दी और म में ये उद्धृत गाथा के रूप में हैं—
रज्जति असुभकलिमल-कुणिमाणिट्टेसु पाणिणो जेणं ।
रागो सि तेण भण्णइ, जं रज्जइ तत्थ रागत्यो ॥१॥
अरहंतेसु य रागो, रागो साहूसु बंभयारीसु ।
एस पसत्थो रागो, अज्ज सरग्गाण साहूणं ॥२॥
गंगाए नाविओ नंदो, सभाए घरकोइलो ।
हंसो मयंगतीराए, सीहो अंजणपव्वए ॥३॥

वाणारसीइ बहुओ, राया तत्थेव आगओ ।
एएसिं घायगो जो उ, सो वि एत्थ समागओ ॥४॥
किं एत्तो कट्टयरं, जं मूढो खाणुगम्मि अफ्फिडिओ ।
खाणुस्स तस्स रुसइ, न अप्पणो दुष्पओगस्स ॥५॥

११. 'णाओ (म) ।
१२. उच्चंति (स्वो ३५६२), ५८३/१-४ ये चारों गाथाएं मुद्रित हा, दी, म
में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं । सभी हस्तप्रतियों में भी ये गाथाएं
मिलती हैं । मुद्रित स्वो में ये भागा के क्रम में व्याख्यात हैं । महे
में ये गाथाएं अनुपलब्ध हैं । ५८३/१ की गाथा ५८३ की संवादी है
अतः यह भाष्य गाथा होनी चाहिए क्योंकि भाष्यकार निर्युक्तिगाथा
की व्याख्या करते हैं । ५८३/२-४ ये तीन गाथाएं भी निरुक्तिपरक
एवं व्याख्यात्मक हैं अतः निगा की नहीं होनी चाहिए । चूर्ण में
केवल गाथा ५८३/३ का संकेत मिलता है । अन्य तीन का
संकेत व व्याख्या नहीं मिलती । इन गाथाओं को निर्युक्तिगाथा के
क्रम में न रखने से भी ५८३ के बाद ५८४ वीं गाथा का संबंध
विषयवस्तु की दृष्टि से ठीक बैठता है ।
१३. उच्चंति (स्वो ३५६३) ।

- ५८३/३. अरहं ति वंदण-नमंसणाणि^१ अरहं ति पूय-सक्कारं^२ ।
सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति^३ ॥
- ५८३/४. देवासुर-मणुएसुं^४, अरहा पूया सुरुत्तमा जम्हा ।
अरिणो 'रयं च हंता'^५, अरहंता^६ तेण वुच्चंति^७ ॥
५८४. अरहंतनमोक्कारो, जीवं मोएति भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होति पुणो बोधिलाभाए^८ ॥
५८५. अरहंतनमोक्कारो^९, धण्णण भवक्खयं करेताणं^{१०} ।
हिययं अणुमुयंतो, विसोत्तियावारओ^{११} होइ^{१२} ॥
५८६. अरहंतनमोक्कारो^{१३}, एवं खलु वण्णितो महत्थो ति ।
जो मरणम्म उवगो^{१४}, अभिक्खणं कीरई बहुसो^{१५} ॥
५८७. अरहंतनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं^{१६} ॥
५८८. कम्मे सिप्पे य विज्जाय, मंते जोगे य आगमे ।
अत्थ-जत्ता-अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय^{१७} ॥
- ५८८/१. कम्मं जमणायरिओवदेसजं^{१८} सिप्पमन्नहाऽभिहितं ।
किसि-वाणिज्जादीयं, घड-लोहरादिभेदं च^{१९} ॥

१. 'णाई (हा, दी) ।
२. सक्कारे (म, स) ।
३. स्वी ३५६४ ।
४. मणुआणं (स्वी) ।
५. हंता रयं हंता (हा, दी, ब, स) ।
६. अरिहंता (अ, ला, रा) ।
७. स्वी ३५६५ ।
८. यह गाथा स्वी (३५६६) में भागा के क्रम में व्याख्यात है । मलधारी हेमचन्द्र ने इस गाथा के लिए इति निर्युक्तिगाथार्थः का उल्लेख किया है ।
९. अरिं (ला, हा) ।
१०. कुणंताणं (हा, दी, ब, स) ।
११. विसुं (ब, हा, दी) ।
१२. स्वी ६६२/३५६९ ।
१३. अरिं (अ, म, ला) ।
१४. उवगए (ब, स) ।
१५. स्वी ६६४/३५७२, महे में इस गाथा के लिए निर्युक्तिगाथा का संकेत नहीं दिया है ।
१६. स्वी ६६४/३५८१, गाथा में अनुष्टुप् छंद है, ५८६, ५८७— इन दो

गाथाओं का चूर्ण में गाथा रूप में संकेत नहीं है किन्तु संक्षिप्त व्याख्या है ।
१७. स्वी ६६५/३५८५ ।
१८. 'वएसियं (म, स) ।
१९. स्वी ३५८६, ५८८/१-११—ये ११ गाथाएं मुद्रित हा, दी, म में निगा के क्रम में व्याख्यात हैं । महे (३०२८) में कम्मे.....(५८८) के बाद टीकाकार ने 'एतेषां च कर्मादिसिद्धानां स्वरूपप्रतिपादनपराः 'कम्मं जमणायरिओ' इत्यादिकाः 'न किलम्मइ जो तवसा' इति गाथापर्यन्ता एकचत्वारिंशद्गाथाः सकथानकभावार्था भूलावश्यकटीकतोऽवसेया इति' का उल्लेख किया है । मुद्रित स्वी में ये भागा के क्रम में हैं । चूर्ण में इन गाथाओं का संकेत नहीं है किन्तु गाथाओं में वर्णित कथाओं का विस्तार है । ये गाथाएं निगा की नहीं होनी चाहिए क्योंकि ये ५८८ वीं गाथा की व्याख्या रूप हैं । निर्युक्तिकार कहीं भी अपनी गाथा की इतनी विस्तृत व्याख्या नहीं करते हैं । ये गाथाएं भाष्य की या अन्य आचार्य द्वारा रचित होनी चाहिए । निगा नहीं मानने का एक सबल कारण यह भी है कि कथानकों में वर्णित आचार्य आदि पात्र काल की दृष्टि से बहुत बाद के हैं । इन गाथाओं को निगा के क्रम में न रखने से भी चालू विषय क्रम में कोई अंतर नहीं आता । किसी भी व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या में इन गाथाओं के लिए निर्युक्ति गाथा का उल्लेख नहीं किया है अतः हमने इनको निर्युक्तिगाथा के क्रमांक में नहीं रखा है ।

- ५८८/२. जो सव्वकम्मकुसलो, जो 'जत्थ य'^१ सुपरिणिद्धितो होति ।
सज्झगिरिसिद्धो विव, स कम्मसिद्धो^२ ति विण्णेतो^३ ॥
- ५८८/३. जो सव्वसिप्पकुसलो, जो 'जत्थ व'^४ सुपरिणिद्धितो होति ।
कोकासवड्ढई^५ विव, सातिसओ सिप्पसिद्धो सो^६ ॥
- ५८८/४. इत्थी विज्जाऽभिहिता, पुरिसो मंतो ति तव्विसेसोऽयं ।
विज्जा ससाहणा वा, साहणरहितो य मंतो ति^७ ॥
- ५८८/५. विज्जाण चक्कवट्ठी, विज्जासिद्धो स जस्स वेगा वि ।
सिज्जेज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धो^८ ऽज्जखउडोव्व^९ ॥
- ५८८/६. साहीणसव्वमंतो, बहुमंतो^{१०} वा पधानमंतो वा ।
णेओ स मंतसिद्धो, खंभागरिसुव्व^{११} सातिसओ^{१२} ॥
- ५८८/७. सव्वे वि दव्वजोगा, परमच्छेरयफलाऽहवेगो वि ।
जस्सेह होज्ज सिद्धो, स जोगसिद्धो जहा समितो^{१३} ॥
- ५८८/८. आगमसिद्धो सव्वंगपारओ, गोतमोव्व गुणरासी ।
पउरत्थो 'अत्थपरो, व'^{१४} मम्मणो अत्थसिद्धोत्ति^{१५} ॥
- ५८८/९. जो निच्चसिद्धजत्तो^{१६}, लद्धवरो जो व'^{१७} तुंडियाइव्व ।
सो किर जत्तासिद्धो, ऽभिप्पाओ बुद्धिपज्जाओ^{१८} ॥
- ५८८/१०. विउला विमला सुहुमा, जस्स मती जो चउव्विधाए वा^{१९} ।
बुद्धीए संपण्णो, स बुद्धिसिद्धो इमा सा य^{२०} ॥
- ५८८/११. उप्पत्तिया वेणइया, कम्मया^{२१} पारिणामिया ।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा णोवलब्भए^{२२} ॥

१. वा जत्थ (हा, दी, ब), जत्थ (म) ।

२. 'सिद्ध (ब, स, म), 'सिद्धि (दी), 'सिद्ध (हा) ।

३. स्वी ३५८७ ।

४. वा जत्थ (हा, दी, म, ब) ।

५. 'वड्ढई (म) ।

६. स्वी ३५८८ ।

७. स्वी ३५८९ ।

८. 'सिद्धा (रा), 'सिद्ध (ला, ब) ।

९. स्वी ३५९० ।

१०. X (अ) ।

११. थंभा^१ (म, ब) ।

१२. स्वी ३५९१ ।

१३. स्वी ३५९२ ।

१४. 'परव्व (म) ।

१५. 'सिद्धो उ (स, म), 'सिद्ध ति (हा), वत्थसिद्धो तु (स्वी ३५९३) ।

१६. 'जच्चो (स) ।

१७. य (म) ।

१८. स्वी ३५९४ ।

१९. व (म) ।

२०. स्वी ३५९५ ।

२१. कम्मिया (हा, दी, म) ।

२२. 'लब्भती (स्वी), 'लब्भइ (म), स्वी ३५९६, नंदी ३८/१, गाथा में अनुष्टुप् छंद है ।

- ५८८/१२. पुव्वमदिट्ठमस्सुतमवेइय^१, तक्खणविसुद्धगहियत्था ।
अव्वाहयफलजोगिणि^२, बुद्धी उप्पत्तिया णाम^३ ॥
- ५८८/१३. भरहसिल-मिंढ-कुक्कुड^४, तिल-वालुग-हत्थि-अगड-वणसंडे ।
‘परमण्ण-पत्त-लेंडग’^५, खाडहिला पंचपितरो य ॥
- ५८८/१४. भरहसिल-पणिय^६-रुक्खे, खुडुग^७-पड-सरड-काग उच्चारे ।
गय-घयण-गोल-खंभे, खुडुग मगिगत्थि पति-पुत्ते^८ ॥
- ५८८/१५. महुसित्थ मुद्दियंके, य ‘नाणए भिक्खु’^९ चेडगनिधाणे ।
सिक्खा य अत्थसत्थे, ‘इच्छा य’^{१०} महं सतसहस्से^{११} ॥
- ५८८/१६. भरनित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला ।
उभओ^{१२} लोगफलवती, विणयसमुत्था हवति बुद्धी^{१३} ॥
- ५८८/१७. निमित्ते^{१४} अत्थसत्थे य, लेहे गणिए य कूव^{१५} अस्से य ।
गदभ-लक्खण-गंठी, अगए ‘गणिया य रहिए’^{१६} य ॥
- ५८८/१८. सीया साडी दीहं, च तणं अवसव्वगं च कौंचस्स ।
‘निव्वोदए य’^{१७} गोणे, घोडगपडणं^{१८} च रुक्खातो^{१९} ॥

१. पुव्वं अदिट्ठ असुतावेतित (स्वो ६६६/३५९८), ‘मसुय’ (नंदी ३८/२) ।
२. अव्वाबाह (अ), ‘फलजोग (म, ब), अव्वाहता फलवती (स्वो) ।
३. गा. ५८८/१२-२४ ये १३ गाथाएं भी गाथा ५८८ की व्याख्या रूप हैं ।
इनमें गाथा ५८८ में वर्णित अभिप्रायसिद्ध के अन्तर्गत चार बुद्धियों का स्वरूप एवं उनसे संबंधित कथाओं का निर्देश है । ये गाथाएं मुद्रित हा, दी, म में निगा के क्रम में हैं । चूर्णि में प्रायः सभी गाथाओं की व्याख्या तथा कुछ गाथाओं के संकेत भी मिलते हैं । महे में इन गाथाओं का संकेत नहीं है (द्र. टिप्पण ५८८/१) । मुद्रित स्वो में संपादक ने ५८८/१२, १६, १९-२३ इन सात गाथाओं को निर्युक्ति के क्रमांक में रखा है किन्तु ये गाथाएं निगा की नहीं होनी चाहिए क्योंकि ५८८ वीं गाथा में वर्णित कर्मसिद्ध, शिल्पसिद्ध आदि की व्याख्या में वर्णित गाथाओं को जब निगा के क्रम में नहीं रखा गया तो फिर केवल अभिप्रायसिद्ध (बुद्धिसिद्ध) को स्पष्ट करने वाली इन १३ गाथाओं को निगा की क्यों मानी जाए ? अधिक संभव है कि संपादक ने ही इन्हें निगा के क्रमांक में रखा हो । ये गाथाएं बुद्धि के प्रसंग में यहां भाष्यकार द्वारा नंदी सूत्र (३८/१-१३) से ली गई हैं, ऐसा अधिक संभव लगता है क्योंकि कई गाथाओं की भाष्यकार ने व्याख्या भी की है । किसी भी व्याख्याकार ने अपनी व्याख्या में इनके निगा होने का संकेत नहीं किया है । हमने इन्हें निगा के क्रम में नहीं रखा है ।
४. कुक्कुड (अ) ।
५. ‘पत्त णेण्डिय (स्वो ३६०१), पायस अइया पत्ते (हा, दी, म), हा,

- म, दी में ५८८/१३ एवं ५८८/१४ वीं गाथा में क्रमव्यत्यय है लेकिन इन तीनों टीकाओं की व्याख्या में पहले गा. ५८८/१३ की तथा उसके बाद ५८८/१४ वीं गाथा की व्याख्या है अतः हमने स्वोपज्ञ तथा टीकाओं की व्याख्या के अनुसार गाथाओं का क्रम रखा है । ‘नवसुत्ताणि’ के अन्तर्गत नंदी में गाथा ५८८/१३ मूल रूप से स्वीकृत न करके पाठान्तर में दी गयी है ।
६. पण (चू) ।
७. खुडुग (ब, स), खुडुगं नाम अंगुलीयकरत्तम् (मटी) ।
८. नंदी ३८/३, स्वो ३६०२ ।
९. पणए भिक्खू य (म) ।
१०. इच्छा (म) ।
११. नंदी ३८/४, स्वो ३६०३ ।
१२. उभय (म) ।
१३. नंदी ३८/५, स्वो ६६७/३६०५ ।
१४. निमित्त (म, स्वो ३६०८) ।
१५. रूव (स) ।
१६. रहिए य गणिया (नंदी ३८/६) गाथा के प्रथम चरण में अनुष्टुप् छंद है ।
१७. निव्वोदए य (स्वो ३६०९), निव्वोदएण (स) ।
१८. ‘पणगं (अ) ।
१९. नंदी ३८/७ ।

- ५८८/१९. उवओगदिट्टसारा, कम्मपसंगपरिघोलणविसाला ।
साहुक्कारफलवती, कम्मसमुत्था हवति बुद्धी^१ ॥
- ५८८/२०. हेरणिणए करिसए, कोलिय डोवे^२ य मुत्ति-घय-पवए ।
तुण्णाग वड्ढगी^३ पूइए^४ य घड चित्तकारे य ॥
- ५८८/२१. अणुमाण-हेतु-दिट्ठंत, साधिया वय-निवागपरिणामा^५ ।
हितनिस्सेसफलवती^६, बुद्धी परिणामिया णाम^७ ॥
- ५८८/२२. अभए सेट्ठि^८ कुमारे, देवी उदितोदए^९ हवति राया ।
साहू य नंदिसेणे, धणदत्ते सावग अमच्चे^{१०} ॥
- ५८८/२३. खमगे^{११} अमच्चपुत्ते, चाणक्के चेव थूलभदे य ।
नासिक्कसुंदरी णंदे, वइरे परिणामिया बुद्धी^{१२} ॥
- ५८८/२४. चलणाहय^{१३}-आमंडे, मणी य सप्पे य खगि^{१४} थूभिंदे ।
परिणामियबुद्धीए, एवमादी उदाहरणा^{१५} ॥
- ५८८/२५. न किलम्मति^{१६} जो तवसा, सो तवसिद्धो दढप्पहारिव्व ।
सो कम्मक्खयसिद्धो, जो सव्वक्खीणकम्मंसो^{१७} ॥
५८९. दीहकालरयं जं तु, कम्मं से सितमट्ठथा ।
सितं धंतंति^{१८} सिद्धस्स, सिद्धत्तमुवजायई^{१९} ॥
५९०. नाऊण वेदणिज्जं, अइबहुगं आउगं च थोवागं^{२०} ।
गंतूण समुग्घातं, खवेति^{२१} कम्मं निरवसेसं ॥

१. नंदी ३८/८, स्वी ६६८/३६११ ।

२. डोए (नंदी), दोए (स्वी) ।

३. वड्ढइ (नंदी ३८/९) ।

४. पूविए (स्वी ६६९/३६१६) ।

५. विक्क^१(स, स्वी ६७०/३६१८) ।

६. "निस्सेयस" (हा, दी, म), "यसफलवइ (ब) ।

७. नंदी ३८/१० ।

८. सिट्ठि (हा, दी, ब) ।

९. "तोदिए (म) ।

१०. नंदी ३८/११, स्वी ६७१/३६२३ ।

११. खमए (स, चू, म), खमगे (हा, दी) ।

१२. नंदी ३८/१२, स्वी ६७२/३६२४ ।

१३. "णाहण (स्वी), चलणे य तह (म) ।

१४. खगि (म), खग (ब, स्वी ३६२५) ।

१५. नंदी ३८/१३, गाथा के उत्तरार्ध में छंदभंग है ।

१६. किलिम्मए (अ) ।

१७. इस गाथा में ५८८ वीं गाथा में वर्णित तपःसिद्ध और कर्मक्षयसिद्ध का वर्णन है । यह गाथा भी निगा की नहीं होनी चाहिए । मुद्रित स्वी (३६२६) में यह भागा के क्रम में है । देखें टिप्पण ५८८/१ तथा ५८८/१२ ।

१८. धंते ति (स्वी ६७३/३६२७) ।

१९. "जाई (अ), "जायइ (हा, दी), निर्युक्तिश्लोकसंक्षेपार्थः (महेटी), गाथा में अनुष्टुप् छंद है, मू. तु. ५०७ ।

२०. अतिथोव (स्वी) ।

२१. खवेइ (म), खवेति (स्वी ३७४/३६२८) ।

५९१. दंड कवाडे मंथंतरे य संहरणया^१ सरीरत्थे।
भासाजोगनिरोधे, सेलेसी सिज्झणा चेव ॥
५९२. जह उल्ला साडीया^२, आसुं सुक्कति विरल्लिया संती।
तह कम्मलहुगसमए, वच्चंति जिणा समुग्घातं ॥
५९३. लाउयएरंडफले, अग्गी धूमे उसू^३ धणुविमुक्के।
गतिपुव्वपओगेण^४, एवं सिद्धाण वि गईओ^५ ॥
५९४. कहिं पडिहता सिद्धा? कहिं सिद्धा पडिट्ठिता।
कहिं बोदिं^६ चइत्ता णं? कत्थ गंतूण सिज्झई^७ ॥
५९५. अलोए पडिहता सिद्धा, लोयग्गे य पडिट्ठिता।
इहं बोदिं चइत्ता णं, तत्थ गंतूण सिज्झई^८ ॥
- ५९५/१. ईसीपब्भाराए, सीयाए जोयणम्मि लोगतो।
बारसहिं जोयणेहिं, सिद्धी सव्वट्टसिद्धाओ^९ ॥
- ५९५/२. निम्मलदगरयवण्णा, तुसार-गोखीर-हार-सरिवण्णा।
उत्ताणयच्छत्तयसंठिता य भणिता जिणवरेहिं^{१०} ॥
- ५९५/३. एगा जोयणकोडी, बायालीसं 'च सयसहस्साइ'^{११}।
तीसं चेव सहस्सा, दो चेव सता अउणवण्णा^{१२} ॥
- ५९५/४. बहुमज्झदेसभागे^{१३}, अट्टेव य^{१४} जोयणाणि^{१५} बाहल्लं।
चरमंतेसु^{१६} य तणुई, अंगुलऽसंखिज्जई भागं ॥

१. साहरं (हा, दी, स्वर ६७५/३६२९), साहण्णया (महे)।

२. सादीया (स्वर ६७६/३६३०)।

३. य उसु (म, महे)।

४. गईपुव्वं (महे)।

५. गती तु (स्वर ३७६१)।

६. बुंदिं (म), सर्वत्र।

७. उ ३६/५५, औ १९५/१, प २६७/२, स्वर ६७८/३७७८।

८. सिज्झति (म, स्वर ६७९/३७७९), वुच्चइ (अ), गा. ५९४ और ५९५ में अनुष्टुप् छंद है। उ ३६/५६, प २६७/३, औ १९५/२।

९. स्वर ३८००, सव्वत्थसिं (म), ५९५/१-१४ ये चौदह गाथाएं मुद्रित हा, दी, म में निगा के क्रमांक में व्याख्यात हैं। सभी हस्तप्रतियों में ये गाथाएं मिलती हैं। चूर्ण में प्रायः गाथाओं का संकेत मिलता है किन्तु व्याख्या नहीं है। मुद्रित स्वर में ५९५/१० को छोड़कर सभी गाथाएं भागा के क्रम में व्याख्यात हैं। महेटी में 'ईसी' इत्यादिका ओगाहणाई सिद्धे इत्यादिगाथापर्यन्तः पञ्चदश प्रायो

निर्युक्तिगाथा सुगमाः, मूलावश्यकटीकातश्च बोद्धव्या इति' (महेटी पृ. ६११) का उल्लेख है। ये गाथाएं भाषा शैली की दृष्टि से निगा की प्रतीत नहीं होती क्योंकि इन गाथाओं में ईषत्प्राभा पृथ्वी और सिद्धों की अवगाहना का विस्तार से वर्णन है। इतना विस्तार निर्युक्तिकार नहीं करते हैं अतः ये गाथाएं भाष्य की अधिक संगत लगती हैं अथवा बाद के आचार्यों द्वारा जोड़ दी गई हैं। इन गाथाओं को निगा के क्रम में नहीं मानने पर भी चालू विषयवस्तु में कोई व्यवधान नहीं आता।

१०. स्वर ३८०१।

११. भवे सतसहस्सा (स्वर ३८०२)।

१२. णयण्णा (स)।

१३. बहुदेसमज्झभाए (स्वर)।

१४. तु (अ, स्वर)।

१५. णाई (म, स, स्वर)।

१६. चरिमं (म, स्वर ३८०४)।

- ५९५/५. गंतूण जोयणं जोयणं तु परिहाइ अंगुलपुधत्तं^१ ।
तीसे वि य पेरेता^२, मच्छियपत्ता उ तणुयतरा^३ ॥
- ५९५/६. ईसीपब्भाराए, ‘उवरिं खलु जोयणस्स’^४ जो कोसो ।
कोसस्स ‘य छब्भागे’^५, सिद्धाणोगाहणा भणिता ॥
- ५९५/७. तिण्णि सया तेत्तीसा, धणुत्ति भागो य कोस छब्भागे ।
जं^६ परमोगाहोऽयं, तो ते कोसस्स छब्भागे ॥
- ५९५/८. उत्ताणओव्व^७ पासिल्लउव्व ‘अहवा निसण्णओ चेव’^८ ।
जो जह करेइ कालं, सो तह उववज्जते सिद्धो ॥
- ५९५/९. इहभव^९ भिण्णागारो, कम्मवसातो भवंतरे होति ।
न य तं सिद्धस्स जओ, ‘तम्मि वि’^{१०} तो सो तदागारो^{११} ॥
- ५९५/१०. जं संठाणं तु^{१२} इहं, भवं चयंतस्स चरमसमयम्मि^{१३} ।
आसी य पदेसघणं, तं संठाणं तहिं तस्स^{१४} ॥
- ५९५/११. दीहं वा हस्सं^{१५} वा, जं चरिमभवे^{१६} हवेज्ज^{१७} संठाणं ।
ततो तिभागहीणा, सिद्धाणोगाहणा भणिता^{१८} ॥
- ५९५/१२. तिण्णि सया तेत्तीसा^{१९}, धणुत्तिभागो य होइ बोद्धव्वो ।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिता^{२०} ॥
- ५९५/१३. चत्तारि य रयणीओ, रयणित्तिभागूणिया य बोधव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, मज्झिमओगाहणा भणिया^{२१} ॥
- ५९५/१४. एगा य होति रयणी, ‘अट्टेव य अंगुलाइ साहीया’^{२२} ।
एसा खलु सिद्धाणं, जहन्नओगाहणा भणिता^{२३} ॥

१. ‘पुहुत्तं (ब, स), ‘पुधत्तं (स्वो ३८०५) ।

२. पेरेते (म) ।

३. ‘अयरा (म) ।

४. सीयाए जोयणम्मि (ब, हा, रा, ला), ‘खलु जोयणम्मि (दी) ।

५. छट्ठभाए (स्वो ३८०६) ।

६. जो (स्वो ३८०७) ।

७. ‘णउव्व (म, हा, रा, दी) ।

८. ठितगो व सण्णिसण्णो वा (स्वो ३८०८) ।

९. इहभवि (अ) ।

१०. तम्मि (हा, स, ब, ला) ।

११. स्वो ३८०९ ।

१२. च (म) ।

१३. चरिम (म) ।

१४. यह गाथा स्वो में नहीं है, प २६७/५, औ १९५/३ ।

१५. हुस्सं (स्वो ३८१०) ।

१६. चरम (हा, रा, ला, दी) ।

१७. X (ला) ।

१८. प २६७/४, औ १९५/४, उत्तराध्ययन सूत्र ३६/६४ में इसकी संवादी गाथा मिलती है—

उस्सेहो जस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि उ ।

तिभागहीणा ततो य, सिद्धाणोगाहणा भवे ॥

१९. तितीसा (हा, दी, रा, ला, ब) ।

२०. प २६७/६, औ १९५/५, स्वो ३८११ ।

२१. प २६७/७, औ १९५/६, स्वो ३८१२ ।

२२. साहीया अंगुलाइ अट्टेव (स्वो ३८१३), साहीया अंगुलाइ अट्ट भवे (महे) ।

२३. प २६७/८, औ १९५/७ ।

५९६. ओगाहणाय^१ सिद्धा, भवत्तिभागेण होति परिहीणा ।
संठाणमणित्थं, जरा-मरणविप्पमुक्काणं^२ ॥
५९७. जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता^३ भवक्खयविमुक्का ।
अन्नोन्नसमोगाढा, 'पुट्ठा सव्वे य' लोगंते^४ ॥
५९८. फुसति अणंते सिद्धे, सव्वपदेसेहि नियमसो^५ सिद्धो ।
ते वि असंखेज्जगुणा, 'देसपदेसेहि जे पुट्ठा'^६ ॥
५९९. असरीरा जीवघणा, उवउत्ता दंसणे य नाणे य ।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं^७ तु सिद्धाणं^८ ॥
६००. केवलनाणुवउत्ता, जाणंती सव्वभावगुणभावे ।
पासंति सव्वतो खलु, केवलदिट्ठीहिऽणंताहिं^९ ॥
६०१. नाणम्मि दंसणम्मि य, एत्तो^{१०} एगतरम्मि^{११} उवउत्ता ।
सव्वस्स केवलिस्सा, जुगवं दो नत्थि उवओगा^{१२} ॥
६०२. 'न वि अत्थि'^{१३} माणुसाणं, तं सोक्खं नेव^{१४} सव्वदेवाणं ।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाधं उवगताणं^{१५} ॥
६०३. 'सुराणसुहं समत्तं'^{१६}, सव्वद्धा पिंडितं अणंतगुणं ।
न य^{१७} पावति मुत्तिसुहं, 'ऽणंताहि वि वग्गवग्गूहिं'^{१८} ॥
६०४. सिद्धस्स सुहो रसी, सव्वद्धा 'पिंडितो जइ हवेज्जा'^{१९} ।
सोऽणंतवग्गभइतो^{२०}, सव्वागासे न माएज्जा^{२१} ॥

१. 'णाइ (हा, दी) ।

२. प २६७/९, औ १९५/८, यह गाथा मुद्रित हा, दी, म में निगा के क्रम में है। महे में यह अनुपलब्ध है। मुद्रित स्वरों में यह भागा (३८१४) के क्रम में है। चूर्ण में इस गाथा का संकेत मिलता है। यह गाथा निगा की होनी चाहिए क्योंकि भाष्यकार ने इस गाथा की विस्तृत व्याख्या की है। गा.५९५ के बाद विषयवस्तु की दृष्टि से इस गाथा का संबंध बैठता है।

३. णंता उ (चू) ।

४. वि (प, महे) ।

५. पुट्ठा सव्वेहिं लोगंते (लापा, बपा), औ १९५/९, प २६७/१०, स्वरों ६८०/३८२८ ।

६. सव्वतो (म), 'मसा (औ) ।

७. जे पुट्ठा सव्वपदेसेहिं (स्वरों ६८१/३८२९), औ १९५/१०, प २६७/११ ।

८. 'मेत्तं (स्वरों ६८२/३८३५) ।

९. ५९९-६०१ इन तीन गाथाओं के लिए महेटी में मात्र 'असरीरं' इत्यादिनिर्युक्तिगाथात्रयं सुगमम्' का उल्लेख है। औ १९५/११, प २६७/१२ ।

१०. ६००, ६०१ इन दोनों गाथाओं का चूर्ण में संकेत एवं व्याख्या नहीं है, स्वरों ६८३/३८३६, औ १९५/१२, प २६७/१३ ।

११. नत्थित्थि (ब) ।

१२. एक्कतरम्मि (स्वरों ६८४/३८३७) ।

१३. औपपातिक और पणवणा सूत्र में इस क्रम में यह गाथा अनुपलब्ध है।

१४. न वि य (स औ, प) ।

१५. णइव (स्वरों ६८५/३८४७) ।

१६. औ १९५/१३, प २६७/१४ ।

१७. जं देवाणं सोक्खं (औ) ।

१८. वि (ब, प) ।

१९. णंतेहि वि वग्गवग्गेहिं (स्वरों ६८६/३८४८), औ १९५/१४, प २६७/१५ ।

२०. पेण्डितो जति हवेज्जा (स्वरों ६८७/३८४९) ।

२१. 'सहिओ (स) ।

२२. ६०२-६०४ इन तीन गाथाओं का चूर्ण में गाथा-संकेत नहीं है किन्तु संक्षिप्त व्याख्या है, औ १९५/१५, प २६७/१६ ।

६०५. जह नाम कोइ मेच्छे, नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो ।
न चएइ परिकहेउं, उवमाए तहिं असंतीए^१ ॥
६०६. इय सिद्धाणं सोक्खं, अणोवमं नत्थि तस्स ओवम्मं ।
किंचि विसेसेणेत्तो, सारिक्खमिणं^२ सुणहं^३ वोच्छं^४ ॥
६०७. जह सव्वकामगुणितं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोई ।
तण्हालुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो^५ ॥
६०८. इय सव्वकालतित्ता, अतुलं निव्वाणमुवगता सिद्धा ।
सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता^६ ॥
६०९. सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगत त्ति य परंपरगत त्ति ।
उम्मुक्क-कम्प-कवया, अजरा अमरा असंगा य^७ ॥
६१०. निच्छिण्णसव्वदुक्खा^८, जाइ-जरा-मरण-बंधणविमुक्का ।
अव्वाबाहं सोक्खं, 'अणुहुंती सासयं सिद्धा'^९ ॥
६११. सिद्धाण नमोक्कारो, जीवं मोएति भवसहस्सातो ।
भावेण कीरमाणो, होई पुण बोधिलाभाए^{१०} ॥
६१२. सिद्धाण नमोक्कारो, धण्णाण भवक्खयं कुणंताणं^{११} ।
हिययं अणुम्मुयंतो^{१२}, विसोत्तियावारओ होति ॥
६१३. सिद्धाण नमोक्कारो, एवं खलु वण्णिता महत्थो त्ति ।
जो मरणम्म उवग्गे, अभिक्खणं कीरए^{१३} बहुसो ॥
६१४. सिद्धाण नमोक्कारो, सव्वप्पावपणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, बितियं^{१४} हवति^{१५} मंगलं ॥

१. औ १९५/१६, प २६७/१७, स्को ६८८/३८५० ।

२. ओवम्ममिणं (औ १९५/१७) ।

३. अतो (स्को ६८९/३८५१) ।

४. प २६७/१८ ।

५. 'ततो (म, दी), अमततित्तो (स्को ६९०/३८५२), औ १९५/१८, प २६७/१९ ।

६. स्को ६९१/३८५३, औ १९५/१९, प २६७/२०, महेटी में ६०२-६०८ तक की सात गाथाएं अव्याख्यात हैं । टीकाकार ने "न वि अत्थि माणुसाणं" इत्यादिकास्तु 'इय सव्वकालं' इत्यादि गाथापर्यन्ताः समनिर्युक्तिगाथाः सुगमाः" का उल्लेख किया है ।

७. स्को ६९२/३८८९, औ १९५/२०, प २६७/२१, गा. ६०९-१४ तक की छह गाथाओं के लिए महेटी (पृ. ६१४) में 'सिद्ध त्ति य

इत्यादिकास्तु षड् निर्युक्तिगाथाः सुगमाश्चेति' का उल्लेख है ।

८. नित्थिण्ण (स्को ६९३/३८९०) ।

९. अणुहवंती सया कालं (म), औ १९५/२१, प २६७/२२ ।

१०. स्को ६९४/३८९१, रा, ला, ब प्रति में ६११-१४ इन चार गाथाओं का केवल संकेत है, पूरी गाथा नहीं । मुद्रित हाटी में भी केवल संकेत है ।

११. करंताण (म, स्को) ।

१२. अमुच्चमाणो (स), अणुमोयंतो (स्को ६९५/३८९२) ।

१३. कीरती (स्को ६९६/३८९३) ।

१४. बीयं (म) ।

१५. होइ (ब, स), होति (स्को ६९७/३८९४) ।

६१५. नामं ठवणा दविए, भावम्मि^१ चउव्विधो उ^२ आयरिओ।
दव्वम्मि एगभवियादि, लोइए सिप्पसत्थाइ^३ ॥
- ६१५/१. पंचविधं आयारं, आयरमाणा तहा पभासेंता^४।
आयारं दंसेंता^५, आयरिया तेण वुच्चंति^६ ॥
६१६. आयारो नाणादी, तस्सायरणा पभासणाओ^७ वा^८।
जे ते भावायरिया, भावायारोवउत्ता य^९ ॥
६१७. आयरियनमोक्कारो, जीवं मोएति भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो, 'होई पुण'^{१०} बोधिलाभाए ॥
६१८. आयरियनमोक्कारो, धण्णाण भवक्खयं कुणंताणं^{११}।
हिययं अणुम्भुयंतो^{१२}, विसोत्तिावारओ होति ॥
६१९. आयरियनमोक्कारो, एवं खलु वण्णितो महत्थो त्ति।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरए बहुसो^{१३} ॥
६२०. आयरियनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, ततियं हवइ मंगलं^{१४} ॥
६२१. नामं ठवणा दविए, भावम्मि^{१५} चउव्विधो उवज्झाओ।
दव्वे 'लोइयसिप्पादि, निण्हगा वा इमे भावे'^{१६} ॥

१. भावे य (स्वो, महे) ।

२. य (महे) ।

३. 'थाई (ब, हा, दी, रा), स्वो ६९८/३८९५।

४. पगासंता (म), य भासेंता (स्वो), पयासेंता (महे) ।

५. देसंता (स्वो) ।

६. स्वो ६९९/३८९६, मू. तु. ५१०, चूर्णि में ६१५, ६१५/१ इन दोनों गाथाओं का संकेत नहीं है पर संक्षिप्त व्याख्या है।

७. पयास (स) ।

८. स्वो और महे में इस गाथा का पूर्वाद्ध इस प्रकार है—

तस्सायरण पभासण, देसणतो देसिता विमोक्खत्थं (स्वो ७००/३९००),
तस्सायरण पभासण, दंसणओ देसिया विमोक्खत्थं (महे ३१९४) ।

९. यह गाथा मुद्रित हा, दी, म और स्वो में निगा के क्रमांक में है। चूर्णि में इस गाथा की व्याख्या एवं संकेत नहीं है। मुद्रित महे में यह गाथा भागा के क्रम में है। यह गाथा निगा की न होकर भाष्य की होनी चाहिए क्योंकि यह ६१६ वीं गाथा की व्याख्या रूप

है। इस गाथा के प्रारंभ में हरिभद्र एवं मलयगिरि 'अमुमेवार्थं स्पष्टयन्ताह' का उल्लेख करते हैं।

१०. होति पुणो (म, स्वो ३९०२), सर्वत्र ।

११. करेताणं (म, स्वो ३९०३), सर्वत्र ।

१२. अमुच्चमाणो (स) ।

१३. स्वो ३९०४।

१४. स्वो ३९०५, मुद्रित महे में ये चारों गाथाएं (६१७-२०) नहीं हैं केवल 'आयरिया इत्यादिचतस्वो निर्युक्तिगाथाः प्रागुक्तानुसारेण व्याख्येया' का उल्लेख है। हा में भी 'आयरियनमोक्कारो इत्यादिगाथाप्रपञ्चः सामान्येनार्हन्मस्कारा-दवसेयः' (हादी पृ. २९९) का उल्लेख है। चूर्णि में इन गाथाओं का संकेत नहीं है। स प्रति के अतिरिक्त सभी हस्तप्रतियों में इन गाथाओं का संकेत है पर पूरी गाथा नहीं है।

१५. भावे य (स्वो महे) ।

१६. 'सिप्पा धम्मे तह अन्नतिथीया (महे ३१९६, स्वो ७०१/३९०७) ।

६२२. बारसंगो जिणक्खातो, 'सज्झाओ कहितो बुहे'^१।
तं उवइसंति जम्हा, उज्झाया^२ तेण वुच्चंति^३ ॥
६२३. उ त्ति उवयोगकरणे, ज्झ त्ति य ज्ञाणस्स होति निदेसे।
एतेण 'होति उज्झा', एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥
६२४. उ त्ति उवयोगकरणे, व त्ति य पावपरिवज्जणे^४ होति।
ज्ञ त्ति य ज्ञाणस्स कते, 'उ त्ति^५ य ओसक्कणा कम्म'^६ ॥
६२५. उवज्झायनमोक्कारो, जीवं मोएति भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो, होई पुण बोधिलाभाए^७ ॥
६२६. उवज्झायनमोक्कारो, धण्णाण भवक्खयं कुणंताणं^८।
हिययं अणुमुयंतो, विसोत्तियावारओ होति^९ ॥
६२७. उवज्झायनमोक्कारो, एवं खलु वण्णितो महत्थो त्ति।
जो मरणम्म उवगगे, अभिक्खणं कीरए बहुसो^{१०} ॥
६२८. उवज्झायनमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, चउत्थं होति मंगलं^{११} ॥
६२९. नामं ठवणा साधू, दव्वसाधू य भावसाधू य।
दव्वम्मि लोइयादी, भावम्मि य संजतो साधू^{१२} ॥
६३०. घड-पड-रहमादीणि उ^{१३}, सार्धेता 'होति दव्वसाधु त्ति'^{१४}।
अहवा वि दव्वभूता, 'ते होति दव्वसाधुत्ति'^{१५} ॥

१. अज्झातो देसितो बुहेहिं (म), 'देसिओ बुहेहिं (अ, ब, दी), सज्झाओ बुहेहिं जिणकहिओ (अ), 'ज्झाओऽयं कथितो बुधे (स्वो), स्वो के संपादक मालवणियाजी टिप्पण में उल्लेख करते हैं 'प्राकृतभाषायां केषाञ्चिद् मते ऐकारोऽपि प्रयुज्यते अतः अत्र बुधे इति रूपं साधु बोध्यम्' (स्वोटि. पृ. ७६९)।

२. उवझाया (हा, रा), उवज्झाया (ब, स, दी, महे)।

३. स्वो ७०२/३९०८, मू. ५११

४. उवज्झाओ (स्वो ७०३/३९०९)।

५. पावाण वज्जणा (ला), पावप्पव' (ब), 'ज्जणा (रा)।

६. ओत्ति (चू)।

७. कम्मा (ब, चू), यह गाथा स्वो और महे में नहीं है। मुद्रित हा, दी, म तथा सभी हस्तप्रतियों में उपलब्ध है। मुद्रित चू में 'अहवा एवं निरुत्तं' उल्लेख के साथ पूरी गाथा मिलती है।

८. स्वो ७०४/३९१२, ६२५-२८ तक की चारों गाथाएं महे, हा तथा चू

में संकेतित नहीं हैं केवल 'उवज्झाया इत्यादिचतस्रो' गाथा का उल्लेख है। स के अतिरिक्त सभी हस्तप्रतियों तथा स्वो में इन गाथाओं का संकेतमात्र है, पूरी गाथा नहीं।

९. करंताणं (म)।

१०. स्वो ७०५/३९१३।

११. स्वो ७०६/३९१४।

१२. स्वो ७०७/३९१५।

१३. स्वो ७०८/३९१६।

१४. X (ब, म)।

१५. 'साहू य (म)।

१६. गातव्वा दव्वसाधु त्ति (स्वो ७०९/३९१७), ६२९ से ६३८ तक की दश गाथाएं महे में नहीं हैं। केवल 'साधुनमस्कारे दशनिर्युक्तिगाथाः सुगमाः' का उल्लेख है। ६२८ और ६२९ इन दोनों गाथाओं का संकेत चूर्णि में नहीं है।

६३१. निव्वाणसाहए जोगे^१, जम्हा साधेंति साधुणो ।
समा य सव्वभूतेसु, तम्हा ते भावसाधुणो^२ ॥
६३२. किं पेच्छसि साहूणं, तवं व नियमं व संजमगुणे वा ।
तो वंदसि साधूणं, एतं मे पुच्छितो साह^३ ॥
६३३. विसयसुहनियत्ताणं, विसुद्धचारित्तनियमजुत्ताणं ।
तच्चगुणसाहगाणं, सहायकिच्चुज्जयाण नमो^४ ॥
६३४. असहाए सहायत्तं, करेंति मे संजमं करेंतस्स ।
एतेण कारणेणं, नमाम^५ हं सव्वसाधूणं^६ ॥
६३५. साहूण नमोक्कारो, जीवं मोएति भवसहस्साओ ।
भावेण कीरमाणो, होई पुण बोधिलाभाए^७ ॥
६३६. साहूण नमोक्कारो, धण्णाण भवक्खयं कुणंताणं^८ ।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियावारओ होति^९ ॥
६३७. साहूण नमोक्कारो, एवं खलु वण्णितो समासेणं ।
जो मरणम्मि उवग्गे, अभिक्खणं कीरई बहुसो^{१०} ॥
६३८. साहूण नमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पंचमं होति मंगलं^{११} ॥
- ६३८/१. एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं^{१२} ॥

१. X (अ) ।

२. स्‍वो ७१०/३९१८, मू. ५१२ ।

३. साहू (रा), स्‍वो ७११/३९१९ ।

४. यह गाथा स्‍वो में नहीं है ।

५. नमामि (अ, हा, रा) ।

६. स्‍वो ७१२/३९२०, ६३५-६३८ तक की चार गाथाओं का सके अतिरिक्त सभी हस्तप्रतियों में केवल संकेत मात्र है । हा में गाथाओं के स्थान पर 'साहूण नमोक्कारो इत्यादिगाथाविस्तरः सामान्येनार्हन्मस्कारवदवसेयः विशेषस्तु सुखोन्नेयः इति निर्देशः' का उल्लेख है ।

७. स्‍वो ७१३/३९२१ ।

८. करेंताणं (म) ।

९. स्‍वो ७१४/३९२२ ।

१०. स्‍वो ७१५/३९२३ ।

११. स्‍वो ७१६/३९२४ ।

१२. स्‍वो ३९२५, यह गाथा अनुष्टुप छंद में है । यह गाथा हा और महे में नहीं है । चू में इसका संकेत नहीं है । स, ला, रा प्रति में भी यह गाथा नहीं है । दीपिकाकार ने इस गाथा के लिए 'निर्युक्तिक्कदेवाह' का उल्लेख किया है । स्‍वो (३९२५) में यह भाग के क्रम में है । यह नमस्कार मंत्र के साथ जुड़ी हुई गाथा है अतः निगा को नहीं होनी चाहिए । संभव है यह कालांतर में निगा के साथ जुड़ गई हो । दीकाकार हरिभद्र ने इसकी व्याख्या नहीं की है ।

६३९. न वि^१ संखेवो न वित्थारु, संखेवो दुविह सिद्ध-साधूणं।
वित्थरतोऽणेगविहो, 'पंचविधो न जुज्जती'^२ तम्हा^३ ॥
६४०. अरहंतादी^४ नियमा, साधू साधू य^५ तेसु^६ भइयव्वा।
तम्हा पंचविधो खलु, हेतुनिमित्तं हवइ सिद्धो ॥
६४१. पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्वि एस भवे।
सिद्धाईया षढमा, बितियाए साधुणो आदी^७ ॥
६४२. अरहंतुवदेसेण^८, सिद्धा नज्जंति तेण अरहाई।
न वि 'कोइ वि'^९ परिसाए, पणमिता षणमई^{१०} रण्णो ॥
६४३. एत्थ य पयोयणमिणं, कम्मखओ^{११} मंगलागमो चेव^{१२}।
इहलोय-पारलोइय, दुविधफलं तत्थ दिट्ठता ॥
६४४. इहलोइ अत्थ-कामा, आरोगं 'अभिरती य'^{१३} निप्फती^{१४}।
सिद्धी य सगग- 'सुकुलप्पच्चायाई य'^{१५} परलोए ॥
६४५. इहलोगम्मि तिदंडी, सादिव्वं मातुलिंगवणमेव^{१६}।
परलोइ चंडपिंगल, हुंडियजक्खो य दिट्ठता^{१७} ॥
- नमोक्कारनिज्जुत्ती समत्ता**
- ६४५/१. नंदि-अणुयोगदारं, विधिवदुवगघाइयं च नाऊणं^{१८}।
काऊण पंचमंगल, आरंभो^{१९} होति सुत्तस्स^{२०} ॥

१. X (स्वो)।

२. न जुज्जई पंचहा (म)।

३. जम्हा (स्वो ७१७/३९२७), हरिभद्र ने इस गाथा के बारे में छंदविमर्श करते हुए लिखा है— 'इहास्या गाथाया अंशकक्रमनियमाच्छंदो विचिती लक्षणमनेन पाठेन विरुध्यते, न संखेवो, इत्यादिना यत इहाद्या एव पंचमात्रोऽंशकः इत्यतोऽपपाटोऽयमिति, ततश्चापि शब्द एवात्र विद्यमानार्थो द्रष्टव्यः न वि संखेवो इत्यादि' (हाटी पृ. ३००)।

४. अरिहं (ब, म)।

५. उ (महे), तु (स्वो)।

६. तेसि (स्वो ७१८/३९२८)।

७. स्वो ७१९/३९३६।

८. अरिहं (ब, म)।

९. कोई (ब, स, हा, रा)।

१०. 'मते' (स्वो ७२०/३९३९)।

११. कम्मक्खय (महे, स्वो)।

१२. चेय (स्वो ७२१/३९४८)।

१३. 'रई' (बपा)।

१४. निव्वती (स्वो)।

१५. सुकुले पच्चा (म, स्वो ७२२/३९४९), 'च्चायाई' (लापा)।

१६. माउलुंग (महे)।

१७. स्वो ७२३/३९५०।

१८. भण्णं (लापा, हाटीपा, बपा)।

१९. मारंभो (स)।

२०. यह गाथा सभी हस्तप्रतियों में उपलब्ध है। मुद्रित हा, दी, म में निगा के क्रमांक में है। टीकाकार हरिभद्र, मलयगिरि और दीपिकाकार ने भी अपनी टीका में इसे नियुक्तिगत माना है— सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्तिगतामेव गाथामाह (हाटी पृ. ३०३, मटी पृ. ५५५) सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः (दी पृ. १९५)। चूर्णि में सुत्तं भणति उल्लेख के साथ पूरी गाथा मिलती है। यह गाथा चूर्णि में संपादक द्वारा जोड़ी गई है क्योंकि चूर्णि में इसकी कोई व्याख्या नहीं है। सूत्र के साथ भी इस गाथा का कोई संबंध नहीं है क्योंकि सूत्र 'करेमि भंते सामाइयं' है। स्वो तथा महे में इस गाथा का कोई उल्लेख नहीं है। यह संबंध-गाथा सी प्रतीत होती है अतः भाष्यकार या अन्य आचार्य द्वारा बाद में जोड़ दी गई है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी यह निर्युक्तिगाथा प्रतीत नहीं होती।

- ६४५/२. कयपंचणमोक्कारो, करेति सामाइयं ति^१ सोऽभिहितो।
सामाइयंगमेव य, जं सो सेसं ततो^२ वोच्छं^३ ॥
- ६४५/३. अक्खलियसंहितादी, वक्खणाचउक्कए दरिसियम्मि।
सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिवित्थरत्थो इमो होति^४ ॥
६४६. करणे भए य अंते, सामाइय सव्वए य वज्जे य।
जोगे पच्चक्खणा, जावज्जीवाइ तिविधेण^५ ॥
६४७. नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो खलु करणस्सा, निक्खेवो छव्विहो होइ^६ ॥

१. तु (महे)।

२. अओ (महे, म)।

३. स्वी ४०२१, गाथा ६४५/२ सभी हस्तप्रतियों एवं व्याख्याओं में मिलती है। चूर्णि में इसकी कोई व्याख्या नहीं है। यह संबंध गाथा है, इस बात का उल्लेख सभी व्याख्याकार करते हैं। हस्तप्रतियों में भी गाथा के प्रारंभ में 'अहवा' शब्द का उल्लेख है। महे में इस गाथा के लिए टीकाकार ने "सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिमभिधित्सुराह" का उल्लेख किया है। स्वी में यह गाथा भागा के क्रम में है। टीकाकार स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि 'अथ सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिः क्रमप्राप्ता तस्या सम्बन्धार्थं गाथा' (स्वी पृ. ७९२) इस उल्लेख से स्पष्ट है कि यह संबंध गाथा है अतः निगा की नहीं होनी चाहिए। निर्युक्तिकार प्रायः विषय या शब्द का सीधा प्रतिपादन करते हैं। अधिक संभव लगता है कि संबंध जोड़ने हेतु भाष्यकार ने यह गाथा लिखी हो।

४. गाथा ६४५/३ मुद्रित हा, म, दी में निगा के क्रम में है। व्याख्याकारों ने इसके लिए 'आह च निर्युक्तिकारः' का उल्लेख किया है। दोनों भाष्यों में यह गाथा निर्दिष्ट नहीं है। यह गाथा निर्युक्ति की नहीं होनी चाहिए क्योंकि निर्युक्तिकार स्वयं 'यह सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ति का विस्तार है' ऐसा उल्लेख नहीं करते। अन्य निर्युक्तियों में भी ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। मूल सूत्र का प्रकरण प्रारंभ होने के कारण यह गाथा प्रसंगवश यहां जोड़ दी गई है। यहां यह गाथा निर्युक्ति के रूप में अप्रासंगिक सी लगती है। आवश्यकनिर्युक्ति अवचूरि में भी इस गाथा के प्रारंभ में 'आह च' का उल्लेख है। इससे भी स्पष्ट है कि यह गाथा बाद में प्रक्षिप्त है।

५. स्वी ७२४/४०२५।

६. यह गाथा सभी हस्तप्रतियों में प्राप्त है। हा, म, दी में यह (मूलभाष्यगाथा १५२) के क्रम में है। हाटी के टिप्पण में इसके लिए निर्युक्तिगाथा इत्यपि का उल्लेख है। दोनों भाष्यों में यह गाथा अस्वीकृत है किन्तु इस गाथा की व्याख्या स्वी में अनेक गाथाओं में हुई है अतः यह निगा की होनी चाहिए। भाषा-शैली की दृष्टि से भी निक्षेपगत गाथाएं प्रायः निर्युक्ति की होती हैं। इस गाथा के बाद हस्तप्रतियों में जाणग..... (हाटीभा १५३), वीससकरण.... (हाटीभा १५४), संघाय-भेद.... (हाटीभा १५५), जीवमजीवे..... (हाटीभा १५६), जं जं निजीवाणं. ... (हाटीभा १५७), जीवप्पओग..... (हाटीभा १५८), ओरात्तियाइ..... (हाटीभा १५९) आदि सात मूलभाष्य गाथाएं हैं। इनके बाद निम्न अन्यकर्तृकी गाथा है—

मूलप्पओगकरणं, पंचणह वि होइ तं सरीराणं।

तिण्ह पुण आइल्लाण, अंगोवंगाणि करणं तु ॥

ब प्रति में इस गाथा के लिए ५ न्या व्या का उल्लेख है। यह गाथा दी में उद्धृत गाथा के रूप में है (दी प १९७)। हा और म में इसकी संक्षिप्त व्याख्या है पर गाथा का संकेत नहीं है। इसके बाद हस्तप्रतियों में पुनः सीसमुरोय (हाटीभा १६०), केसाइ उवयरणं... (हाटीभा १६१), आइल्लाणं तिण्ह.... (हाटीभा १६२), संघायमेग..... (हाटीभा १६३), एयं जहण्ण..... (हाटीभा १६४), तिसमयहीणं..... (हाटीभा १६५), अंतरमेगं समयं..... (हाटीभा १६६), वेउब्बिय..... (हाटीभा १६७), संघायण..... (हाटीभा १६८), सव्वग्गहोभयाणं..... (हाटीभा १६९), आहारे संघाओ... (हाटीभा १७०), बंधण साडुभयाणं (हाटीभा १७१), तेयाकम्माणं.... (हाटीभा १७२), उभयं अणाइ... (हाटीभा १७३), अहवा संघाओ..... (हाटीभा १७४) आदि पन्द्रह भाष्य गाथाएं हैं।

- ६४७/१. खेतस्स नत्थि करणं, आगासं जं अकित्तिमो भावो ।
 वंजणपरियावन्नं, तहावि पुण उच्छुकरणाई^१ ॥
- ६४७/२. काले वि नत्थि करणं, तहावि पुण वंजणप्पमाणेणं ।
 बव-बालवाइ करणेहि णेगहा होइ ववहारो^१ ॥

१. तु. सूनि ९, ६४७/१-१० ये दस गाथाएं सभी हस्तप्रतियों में हैं। मुद्रित हा, म, दी में ये निगा के क्रम में हैं। चूर्णि में इन गाथाओं का संकेत नहीं है किन्तु संक्षिप्त व्याख्या है। ये गाथाएं करण शब्द की व्याख्या रूप हैं तथा इनमें ६४७ वीं गाथा की विस्तृत व्याख्या है। स्त्रो में इन गाथाओं का कोई उल्लेख नहीं है। महे में ३३६२ वीं गाथा की व्याख्या में टीकाकार कहते हैं कि 'करणे भए य अंते' इत्यादिगाथायाः समनन्तरं नामं ठवणा दविए इत्यादिका बहूयो गाथा निर्युक्तौ दृश्यन्ते ताश्च भाष्यकारेण प्रक्षेपरूपत्वादिना केनापि कारणेन प्रायो न लिखिताः। केवलं तदर्थ एव भाष्यगाथाभिलिखितः तदत्र कारणं स्वधियाऽभ्यूहमिति' (महेटी पृ. ६४१)। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि भाष्यकार के समय तक ये गाथाएं निर्युक्तिगाथा के रूप में प्रसिद्ध नहीं हुई थीं। अधिक संभव है स्पष्टीकरण हेतु ये गाथाएं बाद में जोड़ दी गई हों। वैसे भी निर्युक्तिकार विषय का प्रायः इतना विस्तार नहीं करते। इसके अतिरिक्त इन गाथाओं को निगा न मानने से चालू विषयक्रम में कोई अंतर नहीं आता।

२. इस गाथा के बाद सभी हस्तप्रतियों में आठ अन्यकर्तृकी गाथाएं हैं। ब और ला प्रति में 'गाथाष्टकं ज्या व्या' का उल्लेख है। इनमें कुछ गाथाएं मुद्रित स्त्रो और महे में भागा के क्रम में हैं—

जं वत्तणाइ रूवो, कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ ।
 तो तेण तस्स तम्मि व, न विरुद्धं सव्वहा करणं ॥१॥
 (महे ३३४६, स्त्रो ४०७२)

अहवेह कालकरणं, बवादि जोइसियगतिविसेसेणं ।
 सत्तविहं तत्थ चरं, चउव्विधं थिरमहक्खातं ॥२॥
 (महे ३३४७, स्त्रो ४०७३)

बवं च बालवं चेव, कोलवं थीविलोयणं ।
 गरादि वणिगं चेव, विट्ठी हवति सत्तमा ॥३॥
 (महे ३३४८, स्त्रो ४०७४)

सउणी चउप्पय नागं, किंसुग्घं च करणं थिरं चउहा ।
 बहुलचउइसरित्तिं, सउणी सेसं तिथं कमसो ॥४॥
 (स्त्रो ४०७६, महे ३३५०)

पक्खत्तिधओ दुगुणिता, दुरुवरहिता य सुक्कपक्खम्मि ।
 सत्तहिए देवसियं, तं चिय रूवाहियं रत्तिं ॥५॥
 (स्त्रो ४०७५, महे ३३४९)

इन पांच गाथाओं के लिए मुद्रित स्त्रो के टिप्पण में मालवणियाजी ने निम्न उल्लेख किया है—“४०७२-४०७६ एताः पंच गाथा स्थूलाक्षरेण मुद्रयित्वा संपादकेन निर्युक्तिगता मताः परन्तु तद्विषये हे वृत्तौ न कोऽपि निर्देशः”

किण्हनिसि तइय दसमी, सत्तमि चाउदसीसु अह विट्ठी ।
 सुक्कवउत्थिक्कारसि, निसि अट्ठमि पुण्णिमाइ दिवा ॥६॥

सुद्धस्स पडिवयनिसिं, पंचमिदिण अट्ठमीइ रत्तिं तु ।
 दिवसस्स बारसी पुण्णिमाइ, रत्तिं बवं होइ ॥७॥

बहुलस्स चउत्थीए, दिवा य तह सत्तमीइ रत्तिम्मि ।
 एक्कारसीय उ दिवा, बवकरणं होइ नायव्वं ॥८॥

मुद्रित हा, दी और म में प्रथम दो गाथाओं के अतिरिक्त बाकी छहों गाथाएं टीका में उगा के रूप में हैं (हाटी पृ. ३०९, मटी प ५६५, ५६६) मुद्रित चू में भी इनमें से कुछ गाथाएं उगा के रूप में हैं।

- ६४७/३. जीवमजीवे भावे, अजीवकरणं तु तत्थ वण्णाई।
जीवकरणं तु दुविहं, सुयकरणं नो य सुयकरणं॥
- ६४७/४. बद्धमबद्धं तु सुयं, बद्धं तु दुवालसंग निहिद्धं।
तत्त्विवरीयमबद्धं, निसीहमनिसीह बद्धं तु॥
- ६४७/५. भूयापरिणयविगए^१, सदक्करणं तहेव न^२ निसीहं।
पच्छन्नं तु निसीहं, निसीहनामं जहऽज्झायणं॥
- ६४७/६. अग्गेणीयम्मि^३ जहा, दीवायणु जत्थ एगु तत्थ सयं।
जत्थ सयं तत्थेगो, हम्मइ वा भुंजए^४ वावि॥
- ६४७/७. एवं बद्धमबद्धं, आदेसाणं भवन्ति पंचसया।
जह एगा मरुदेवी, अच्चंतत्थावरा^५ सिद्धा॥
- ६४७/८. नोसुयकरणं दुविहं, गुणकरणं तह य जुंजणाकरणं।
गुणकरणं पुण दुविहं, तवकरणे संजमे य तहा^६॥
- ६४७/९. जुंजणकरणं तिविहं, मण-वय-काए य मणसि सच्चाई।
सट्ठाणि तेसि भेदो, चउ चउहा सतहा चेव॥
- ६४७/१०. भावसुयसदकरणे, अधिगारो एत्थ^७ होइ कायव्वो^८।
नोसुयकरणे गुणजुंजणं य जहसंभवं होइ॥
६४८. कताकतं केण कतं, केसु य^९ दव्वेसु कोरती वावि।
काहे व कारओ नयओ, करणं कतिविधं 'च कहं'^{१०}॥

१. भूए परिणइ* (स, म)।

२. अ (स)।

३. अग्गेअणी* (दी, म), 'म्मि य (हा)।

४. भुंजई (म)।

५. अच्चंतं था* (अ, म, दी)।

६. स्वो और महे में इसकी संवादी गाथा मिलती है—

नोसुतकरणं दुविहं, गुणकरणं जुंजणाभिधानं च।

गुणकरणं तव-संजमकरणं मूलुत्तरगुणा वा॥

(स्वो ४०८५, महे ३३५९)

७. अत्थ (अ)।

८. नायव्वो (स, दी, म)।

९. व (महे, स्वो)।

१०. कथं वा (स्वो ७२५/४०८९), कहं व (महे), इस गाथा के बाद 'हस्तप्रतियों में उप्पन्नाणुप्पन्नं.....(हाटीभा १७५) तं केसु.....(हाटीभा १७६) काहु उदिट्ठे.....(हाटीभा १७७) ये तीन मूलभाष्य की गाथाएं हैं। ब और ला प्रति में 'गाथात्रयं भा ५व्या' का उल्लेख है। मुद्रित हा, म, दी में भी ये मूलभाष्य के क्रम में हैं। महेटी में 'उप्पण्णा.....इत्यादि निर्युक्तिगाथानामग्रहणे कारणं पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्यम्' का उल्लेख है। इस उद्धरण से लगता है कि किसी आचार्य ने इन्हें निर्युक्ति-गाथा के अन्तर्गत भी माना है।

६४९. आलोयणा य विणए, खेत-दिसाऽभिगहे य काले य।
रिक्ख गुणसंपया वि य, अभिवाहारे य अट्टमए^१ ॥

१. स्‍वो ७२६/४१२२, गाथा ६४९ सभी हस्तप्रतियों में है। हा, म, दी में यह मूलभाष्य के क्रम में है। स्‍वो और महे में यह निगा के क्रम में है। महेटी में इस गाथा के लिए 'इति नियुक्तिगाथासंक्षेपार्थः' का संकेत है। यह गाथा निगा की होनी चाहिए क्योंकि इसकी विस्तृत व्याख्या भाष्यकार करते हैं। इसके अतिरिक्त हस्तप्रतियों में इस गाथा से पूर्व तीन गाथाएं मूलभाष्य की थीं, जिनके बारे में "गाथात्रयं भा व्या" का उल्लेख है किन्तु इस गाथा के बारे में कोई संकेत नहीं है। यदि यह गाथा मूलभाष्य की होती तो इसे भी उन गाथाओं के अन्तर्गत जोड़ा जा सकता था। संभव है कि हा, दी, म में संपादक द्वारा ये क्रमांक लगाए गए हों। हमने इसे निगा के क्रम में रखा है। फिर भी इसके बारे में गहन चिंतन की आवश्यकता है। गाथा ६४९ के बाद सभी हस्तप्रतियों में पव्वज्जाए..... (हाटीभा १७९) आलोइए..... (हाटीभा १८०) ये दो मूलभाष्य की गाथाएं हैं। इन दोनों गाथाओं के लिए ब और ला प्रति में गाथाद्वयं भाऽव्या का उल्लेख है। इसके बाद हस्तप्रतियों में निम्न गाथा मिलती है—

अणुरतो भत्तिगओ, अमुई अणुयत्तओ विसेसणू। उज्जुत्तग ऽपरित्तो, इच्छियमत्थं लहइ साहू ॥

यह गाथा हा, म, दी में 'उक्तं च भाष्यकारेण' उल्लेख के साथ उद्धृत गाथा के रूप में है। मूलतः यह स्‍वो ४१२८ और महे ३४०२ की है। इस गाथा के बाद सभी हस्तप्रतियों में निम्न तीन अन्यकर्तृकी गाथाएं और मिलती हैं। ब और ला प्रति में इनके लिए गाथात्रयं 'ऽन्या व्या' का उल्लेख है। ये गाथाएं स्‍वो और महे में भी हैं—

उच्छुवणे सालिवणे, पउमसरे कुसुमिते व वणसंडे। गंभीरसाणुणए, पयाहिणजले जिणधरे वा ॥१ ॥

देज्ज न तु भग्ग झामित, सुसाण सुन्नाऽ मणुणगेहेसु। छरंगार-कयार, मेज्जादी दव्वदुट्ठे वा ॥२ ॥

पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व देज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा। जाए जिणादओ वा, दिसाइ जिणवेइयाइ वा ॥३ ॥

(स्‍वो ४१३०-४१३२, महे ३४०४-३४०६)

ये गाथाएं हा, दी, म आदि टीकाओं में उगा के रूप में हैं (हाटी पृ. ३१४, मटी प. ५७१)।

इसी क्रम में भा. व्या उल्लेख के साथ पडिकुट्टदिणे..... (हाटीभा १८१) मूलभाष्य गाथा सभी हस्तप्रतियों में मिलती है। इस गाथा के पश्चात् छह निम्न अन्यकर्तृकी गाथाएं हस्तप्रतियों में मिलती हैं। इनके लिए ब और ला प्रति में 'गाथा षट्कंऽन्या व्या' का उल्लेख है। मुद्रित चूर्णि में भी कुछ गाथाएं मिलती हैं। इनमें कुछ गाथाएं स्‍वो एवं महे में हैं। मुद्रित हा, म, दी में भी 'उक्तं च' उल्लेख के साथ कुछ गाथाएं उगा के रूप में मिलती हैं—

चाउइसि पण्णरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च। छट्ठिं च चउत्थिं बारसिं च दोणं पि पक्खणं ॥१ ॥

मिगसिर-अद्वा पुस्सो, तिन्नि य पुव्वाइ मूलमस्सेसा। हत्थो चित्ता य तह, दस बुद्धिक्खइ नाणस्स ॥२ ॥

संज्ञायं रविगयं, विड्डुरं सगहं बिलंबिं च। राहुहत्तं गहभिण्णं, च वज्जे सत्तनक्खते ॥३ ॥

(स्‍वो ४१३३-४१३५, महे ३४०७-३४०९)

संज्ञायम्मि कलहो, होइ कुभत्तं विलंबिनक्खते। विड्डुरे परविजओ, आइच्चगए अणिव्वाणं ॥४ ॥

जं सगहम्मि कीरइ, नक्खते तत्थ विग्गहो होइ। राहुहए वि य मरणं, गहभिण्णे सोणित्तालो ॥५ ॥

पियधम्मो ददधम्मो, संविगो ऽवज्जभीरु असदो य। खंतो दंतो गुत्तो, थिरव्वयजिईदिओ उज्जू ॥६ ॥

(स्‍वो ४१३६, महे ३४१०)

इन गाथाओं के पश्चात् हस्तप्रतियों में पुनः अभिवाहारे (हाटीभा १८२) मूलभाष्य की गाथा भा. व्या उल्लेख के साथ मिलती है।

स्‍वो के संपादक मालवणियाजी ने पादटिप्पण में उल्लेख किया है कि स्‍वो '४१२८ (अणुरत्तो) गाथातः प्रारभ्य (असदो) ४१३७ गाथापर्यन्तम् एता दशगाथा नियुक्तिरूपा इति मत्वा स्थूलाक्षरै मुद्रितवान् मूलगाथामुद्रणे विशेषावश्यकमलधारिवृत्तिसंपादकः परन्तु एतासां नियुक्तिगतत्वे वृत्तिकारो मलधा' हे किमपि न सूचितवान्' (स्‍वो पृ. ८१९)। मालवणियाजी के इस उल्लेख से यह संकेत मिलता है कि मलधारी हेमचन्द्र की टीका में ये नियुक्तिगाथा के रूप में मुद्रित हैं पर ये नियुक्ति की न होकर अन्यकर्तृकी या भाष्य की गाथाएं हैं।

६५०. उद्देस समुद्देसे, वायणमणुजाणं च आयरिए।
सीसम्मि उद्दिसिज्जंतमाइ एयं तु जं कइहा^१ ॥
६५१. कह^२ सामाइयलंभो, ? तस्सव्वविघाइदेसवाघाई।
देसविघाईफडुग, अणंतवुड्डी विसुद्धस्स ॥
६५२. एवं ककारलंभो, सेसाण वि एवमेव कमलंभो।
एयं तु भावकरणं, करणे य भए य जं भणियं^३ ॥
६५३. होइ भयंतो भयअंतगो य रयणा भयस्स छब्भेया।
सव्वम्मि वण्णिण्ण^४णुक्कमेण अंतं वि छब्भेया ॥
६५४. एवं सव्वम्मि वि वण्णियम्मि एत्थं तु होइ अहिगारो।
सत्तभयविप्पमुक्के, तहा भवंते भयंतं य^५ ॥
६५५. सामं समं च सम्मं, इगमवि^६ सामाइयस्स एगड्डा।
नामं ठवणा दविए, भावम्मि य तेसि निक्खेवो^७ ॥

१. यह गाथा मुद्रित हा, दी, म में मूलभागा (हाटीभा १८३) के क्रम में है। स्त्रो और महे में यह गाथा नहीं है। चूर्णि में इस गाथा की व्याख्या है। इस गाथा में करण के प्रकारों का उल्लेख है इसलिए यह निर्युक्ति की होनी चाहिए। हस्तप्रतियों में इस गाथा के आगे भा. का उल्लेख नहीं है क्योंकि मूलभाष्य या अन्यकर्तृकी गाथा के आगे प्रायः इसका संकेत आदर्शों में मिलता है। संभव है संपादक के द्वारा मुद्रित हा, म, दी में भागा के अन्तर्गत क्रमांक लगा दिए गए हों।

२. कह (अ)।

३. ६५१, ६५२ ये दोनों गाथाएं स्त्रो और महे में नहीं हैं। चूर्णि में गाथा का संकेत नहीं है, केवल व्याख्या है। मुद्रित हा, म, दी में ये निगा के क्रम में हैं।

४. ६५३, ६५४ ये दोनों गाथाएं स्त्रो और महे में नहीं हैं। चूर्णि में इन गाथाओं की व्याख्या मिलती है। सभी हस्तप्रतियों में भी ये गाथाएं उपलब्ध हैं। मुद्रित हा, म, दी के संपादक ने इन्हें (भागा १८४, १८५) के क्रम में रखा है। ये गाथाएं निगा की होनी चाहिए क्योंकि मूलद्वारा गाथा 'करणे भए य अंतं'... (६४८) के अन्तर्गत करण शब्द की व्याख्या के बाद भय और अंत की व्याख्या वाली गाथाएं भी निगा की होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति के क्रम में भी करेमि के बाद भंते शब्द की व्याख्या भी निगा की होनी चाहिए। हमने इन्हें भागा के अन्तर्गत न मानकर निगा के अन्तर्गत रखा है।

इस गाथा के बाद हस्तप्रतियों में कुछ भाष्य गाथाएं हैं, जिनके बारे में ब और ला प्रति में 'गाथानवकं भा. व्या' का उल्लेख है। ये गाथाएं स्त्रो और महे में हैं। आमतेंइ... (स्त्रो ४१८३, महे ३४५७), भण्णति... (स्त्रो ४१८४, महे ३४५८), आवस्सयं पि... (स्त्रो ४१८७, महे ३४६१) एवं चिय... (स्त्रो ४१८८, महे ३४६२) सामाइय... (स्त्रो ४१८९, महे ३४६३), किच्चाकिच्चं... (स्त्रो ४१९०, महे ३४६४) गुरुविरहम्मि... (स्त्रो ४१९१, महे ३४६५), रण्णो व... (स्त्रो ४१९२, महे ३४६६) मुद्रित हा, म, दी में 'उक्तं च भाष्यकारेण' उल्लेख के साथ ये गाथाएं उगा के रूप में हैं (हाटी पृ. ३१५, ३१६, मटी प ५७३, ५७४)।

५. इगमिति (म, स, दी), आत्मनि प्रवेशनम् इकमुच्यते (मटी), इकमिति... देशयुक्त्या प्रवेशार्थं वर्तते (दी प २१०)।

६. यह गाथा स्त्रो और महे में नहीं है।

६५६. महुरपरिणाम सामं, समं तुला सम्म खीर-खंडजुई।
दोरे हारस्स चिई^१, इगमेयाई^२ तु दव्वम्मि ॥
६५७. आओवमाइ^३ परदुक्खमकरणं रागदोसमज्झत्थं।
नाणाइतिगं तस्साय-पोतणं भावसामाई ॥
६५८. समता-सम्मत्त^४-पसत्थ, संति-‘सिव-हित’ सुहं अणिदं^५ च।
अदुगुच्छितमगरहितं^६, ‘अणवज्जमिमे वि एगट्ठा’^७ ॥
६५९. को कारओ? कस्तो किं कम्मं? जं तु कीई तेण।
किं कारग-करणाण य, अन्नमणन्नं च^८ अक्खेवो^९ ॥
६६०. आया हु कारगो मे, सामाइयकम्मकरणमाया य।
परिणामे सइ आया, सामाइयमेव उ पसिद्धी^{१०} ॥
६६१. एगत्ते जह मुट्ठिं, करेइ अत्थंतरे घडादीणि।
दव्वत्थंतर भावे, गुणस्स किं केण संबद्धं^{११} ॥
६६२. नामं ठवणा दविए, ‘आदेसे निरवसेसए चेव’^{१२}।
तह ‘सव्वधत्त सव्वं’^{१३}, च भावसव्वं च सत्तमयं^{१४} ॥
६६३. कम्मवमज्जं^{१५} जं गरहितं^{१६} ति कोहादिणो व चत्तारि।
सह तेण जो उ जोगो, पच्चक्खाणं हवइ तस्स ॥
६६४. दव्वे मण-वय^{१७}-काए, जोगा दव्वा दुहा उ भावम्मि।
जोगा सम्मत्ताई, पसत्थ इयरो उ विवरीओ ॥

१. विगइ (अ)।

२. इग सेसाइ (ला)।

३. आत्मोपमानेन परदुःखाकरणं प्रकारोऽलाक्षणिकः (मटी प ५७५)।

४. समत्त (चू)।

५. सुविहिय (ब, हा, रा, ला)।

६. अनिद्धं (चू)।

७. ‘मगरिहियं (ब)।

८. अणवज्जं चेव एकट्ठा (चू), ६५५-५८ ये चार गाथाएं स्वी और महे में नहीं हैं। ये गाथाएं सभी हस्तप्रतियों में हैं तथा चूर्ण में भी व्याख्यात हैं। इनमें सामायिक के एकार्थक एवं उसके निक्षेप हैं। मुद्रित हा, म, दी में ये निगा के क्रम में हैं।

९. तु (ब)।

१०. स्वी (४१४६) और महे (३४२०) में इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—
किं कारओ अ करणं, च होइ अण्णं अणण्णं ते।

६५९, ६६० ये दो गाथाएं स्वी और महे में निर्युक्तिगाथा के रूप में स्वीकृत न होकर भागा के क्रम में हैं। हा, म, दी में ये निगा

के क्रम में व्याख्यात हैं। ये गाथाएं निगा की होनी चाहिए क्योंकि भाष्यकार ने इन गाथाओं की विस्तृत व्याख्या की है।

११. महे (३४३१) तथा स्वी (४१५७) में गाथा का उत्तरार्ध क्रमशः इस प्रकार है—

तम्हा आया सामाइयं च परिणामओ इक्कं (महे)।

तम्हा आता सामाइयं च परिणामतो एक्कं (स्वी) ॥

१२. यह गाथा स्वी और महे में नहीं है किन्तु चूर्ण में व्याख्यात है।

१३. आदेसं चेव निरवसेसं च (स्वी)।

१४. ‘धत्तासव्वं (महे)।

१५. स्वी ७२७/४२११, इस गाथा के बाद हस्तप्रतियों में दविए..... (हाटीभा १८५) अणिमिसिणो..... (हाटीभा १८६) सा हवइ..... (हाटीभा १८७) भावे..... (हाटीभा १८८) ये चार मूलभाष्य की गाथाएं हैं। ब और ला प्रति में ‘गाथा चतुष्कं भा व्वा’ का उल्लेख है।

१६. कम्मं वज्जं (बपा, लापा, हाटीपा, मटीपा)।

१७. गरिहिअं (म, हा), ६६३, ६६४ इन दो गाथाओं का महे और स्वी में निर्देश नहीं है।

१८. वइ (म. दी, स)।

६६५. नामं ठवणा दविए, 'खेतमदिच्छ य' भावओ तं च।
नामाभिहाणमुत्तं, ठवणागारऽक्ख निक्खेवो' ॥
६६६. दव्वम्मि निण्हगाई, निव्विसयाई य होति' खेतम्मि।
भिकखाईणमदाणे', अइच्छ' भावे पुणो दुविहं ॥
६६७. सुय णोसुय सुय दुविहं, पुव्वमपुव्वं तु होइ नायव्वं।
नोसुयपच्चक्खाणं, मूले तह उत्तरगुणे य' ॥
६६८. जावदवधारणम्मी', जीवणमवि पाणधारणे भणितं।
आपाणधारणाओ, पावनिव्विती' इहं अत्थो' ॥
६६९. नामं ठवणा दविए, ओहे भव तब्भवे य भोगे य।
संजम-'जस किती जीवियं च तं भण्णई दसहा' ॥
- ६६९/१. भोगम्मि चक्किमादी, संजमजीयं तु संजयजणस्स।
जस-किती य भगवओ, संजमनरजीव अहिगारो' ॥

१. अइच्छपडिसेह (महे), अतिच्छपडिसेध (स्वो)।

२. यह गाथा मुद्रित स्वर (७२८/४२२८) और महे (३५०२) में निगा के रूप में निर्दिष्ट है। चूर्ण में गाथा का संकेत नहीं है किन्तु विस्तृत व्याख्या है। हाटी में इस गाथा की संक्षिप्त व्याख्या तो है किन्तु गाथा नहीं है। मुद्रित हाटी के टिप्पण में 'गाथा क्वचित्' उल्लेख के साथ यह गाथा संपादक द्वारा दी गई है। मुद्रित दीपिका में यह गाथा उगा के रूप में है तथा दीपिकाकार ने 'एषा गाथा वृत्तौ न' का उल्लेख किया है। मुद्रित मटी में इस गाथा के आगे निगा के क्रमांक नहीं लगाए हैं। पाद-टिप्पण में 'गाथेयं क्वचिद् हारिभद्रीयादर्शोऽपि, मूलस्थानं तु प्रत्याख्याननिर्युक्तौ, न हारिभद्रीयसूरिभिर्मतेयमत्र' का उल्लेख किया है। यह गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि मूलद्वारा गाथा करणे भए..... (६४६) के सभी द्वारों की व्याख्या निर्युक्ति में है फिर आठवें द्वार प्रत्याख्यान के निक्षेप वाली गाथा भी निर्युक्ति की होनी चाहिए। महे में इसके लिए 'निर्युक्तिगाथासमासार्थः' का उल्लेख है। दूसरा कारण यह भी है कि इसे निगा के अन्तर्गत मानने से ६६४ वीं गाथा के साथ इसका संबंध जुड़ता है। भाष्य में इस गाथा की व्याख्या पांच गाथाओं में हुई है (स्वो ४२२९-४२३३, महे ३५०३-३५०७) ला और ब प्रति में इस गाथा के लिए न्याऽव्या का उल्लेख है अर्थात् वहां इसे अन्यकर्तृकी माना है।

३. हुंति (म)।

४. 'ईण अदाणे (स)।

५. अरच्छ (ब)।

६. ६६६, ६६७ ये दोनों गाथाएं स्वर और महे में नहीं हैं। चूर्ण में इनकी व्याख्या मिलती है।

७. 'म्मि (म), जावदवधारणे इत्यव्ययीभावसमासः (मटी प ५८०)।

८. 'निव्विती (चू)।

९. यह गाथा स्वर और महे में नहीं है। इसमें ६४६ वीं गाथा के नवें द्वार 'जावज्जीव' की व्याख्या है। चूर्ण तथा हस्तप्रतियों में यह गाथा उपलब्ध है। देखें टिप्पण गा. ६६५ का।

१०. जसमसंजम जीवितमिति तव्विभागोऽयं (स्वो ७२९/४२३६), जसमसंजम जीवियमिद् तव्विभागोऽयं (महे), इस गाथा के बाद सभी प्रतियों में दव्वे सच्चित्ताई (हाटीभा १८९) मूलभाष्य की गाथा मिलती हैं। ब और ला प्रति में 'गाथाद्वयं भा व्या' का उल्लेख है।

११. मुद्रित हाटी (गा. १०४४) तथा दी (१०५९) में भोगम्मि चक्किमाई गाथा निगा के क्रमांक में है। मटी में यह गाथा भागा के क्रम में है। यह गाथा निर्युक्ति की नहीं होनी चाहिए। हाटी गा. १०४३ में जीवित शब्द के दश निक्षेप हैं। उनमें द्रव्यजीवित आदि छह निक्षेपों का वर्णन (हाटीभा १८९) में है फिर बाकी के भोगजीवित आदि चार निक्षेपों का वर्णन करने वाली इस गाथा (हाटी १०४४) को निर्युक्ति की कैसे माना जाए? यह गाथा स्पष्टतया भाष्य की होनी चाहिए। प्रकाशित टीका में संपादक द्वारा नम्बर लगाए गए हैं अतः उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता।

६७०. सीयालं भंगसतं, पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं ।
सो सामाइयकुसलो, सेसा सव्वे अकुसला उ^१ ॥
६७१. सामाइयं करेमी^२, पच्चक्खामी पडिक्कमामि ति ।
पच्चुप्पणमणागतमईयकालाण गहणं तु^३ ॥
६७२. तिविहेणं ति^४ न जुत्तं, पडिपयविधिणा^५ समाहितं जेण ।
अत्थविगप्पणयाए, गुणभावणयत्ति को दोसो^६ ॥
६७३. दव्वम्मि निण्हाई, कुलालमिच्छंति तत्थुदाहरणं ।
भावम्मि तदुवउत्तो, मिगावती तत्थुदाहरणं^७ ॥
६७४. सचरित्तपच्छयावो, निंदा तीए चउक्कनिकखेवो ।
दव्वे चित्तगरसुया, भावे सुबहू उदाहरणा ॥
६७५. गरिहा^८ वि तहाजाईयमेव नवरं परप्पगासणया ।
दव्वम्मि 'मरुगनायं, भावेसु बहू'^९ उदाहरणा ॥
६७६. दव्वविउस्सगो खलु, पसण्णचंदो भवे^{१०} उदाहरणं ।
पडियागतसंवेगो, भावम्मि वि होइ सो चेव ॥
६७७. सावज्जजोगविरओ, तिविहं तिविहेण वोसिरिय^{११} पावं^{१२} ।
सामाइयमाईए^{१३}, एसोऽणुगमो परिसमत्तो ॥

१. होइ (स), स्‍वो ४२६७, हा, म, दी और हस्‍तप्रति‍यों में इस गाथा के स्‍थान पर निम्‍न गाथा मिलती है—

सीयालं भंगसतं, पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं ।
सो किल एत्थ उ कुसलो, सेसा सव्वे अकुसला उ ॥
सीयालं भंगसतं, तिविहं तिविहेण समिइ-गुत्तीहिं ।
सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिवित्थरत्थो गओ एवं ॥

२. करेमि (म) ।

३. स्‍वो, महे तथा चू में यह गाथा नहीं है ।

४. तु (म) ।

५. पइपय (महे) ।

६. यह गाथा सभी हस्‍तप्रति‍यों में है । महेटी में इसके लिए 'इति निर्युक्ति-गाथार्थः' का उल्लेख है । स्‍वो (४२८९) में यह भागा के क्रम में है । चूर्ण में इस गाथा का संकेत एवं व्याख्या मिलती है । मुद्रित हा, म, दी में यह निगा के क्रम है । इस गाथा की व्याख्या स्‍वो में

अनेक गाथाओं में है ।

७. गाथा ६७३-७८ तक की छह गाथाएं स्‍वो और महे में नहीं हैं किन्‍तु व्याख्या उपलब्‍ध है । हाटी और मटी में ६७३ वीं गाथा के लिए 'चाह निर्युक्तिकारः' का उल्लेख है । ये सभी गाथाएं निगा की होनी चाहिए क्योंकि इनमें सामायिक के अन्तर्गत पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि की व्याख्या है ।

८. गरहा (हा, रा, दी, स) ।

९. य मरुनामं भावे सुबहू (म), दी में अंतिम चरण 'भावे साहू उदाहरणा' है । अ प्रति में यह गाथा नहीं है ।

१०. भवइ (ला) ।

११. वोसिरइ (लापा, बपा, मटीपा, हाटीपा) ।

१२. पावो (म, स) ।

१३. मोऽलाक्षणिकः (दी) ।

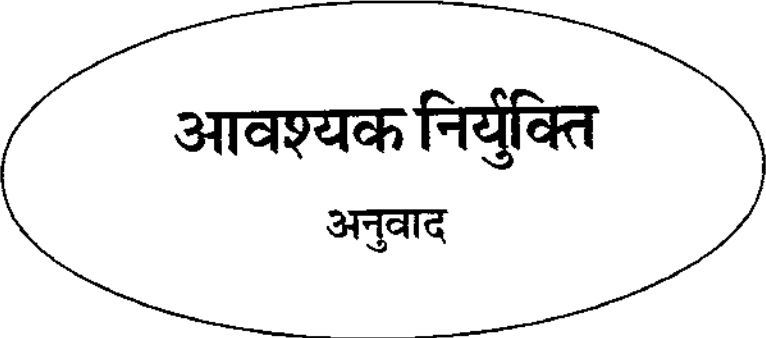
६७८. विज्ञा-चरणनयेसुं, सेससमोयारणं तु कायव्वं ।
सामाइयनिज्जुत्ती, सुभासियत्था परिसमत्ता ॥
६७९. नायम्मि गिण्हियव्वे, अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि ।
जइयव्वमेव इयं^१ जो, उवदेसो सो नओ नामं^२ ॥
६८०. सव्वेसिं पि नयाणं, बहुविहवत्तव्वयं निसामेत्ता ।
तं सव्वनयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू^३ ॥
सामाइयनिज्जुत्ती समत्ता

१. इइ (महे) ।

२. स्वो ७३४/४३१८, एतदेवाह निर्युक्तिकारः (महेटी पृ. ६७४) ।

३. स्वो ७३५/४३१९, स्थितिपक्षमाह निर्युक्तिकारः (महेटी पृ. ६७६),
६७९, ६८० ये दोनों गाथाएं नय से संबंधित हैं । प्रायः सभी निर्युक्तियों

में ग्रंथ की समाप्ति पर ये दोनों गाथाएं मिलती हैं । कहीं-कहीं अध्याय की समाप्ति पर भी ये गाथाएं मिलती हैं । सभी व्याख्या ग्रंथों एवं प्रतियों में ये गाथाएं मिलती हैं ।



आवश्यक निर्युक्ति

अनुवाद

१. ज्ञान पांच हैं—आभिनिबोधक ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान।
२. आभिनिबोधक ज्ञान के संक्षेप में चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।
३. अर्थ—शब्द, रूप आदि का प्राथमिक अवग्रहण करना अवग्रह है, वस्तु-धर्म का पर्यालोचन करना 'ईहा' है, ईहित वस्तु का व्यवसाय अर्थात् निर्णय करना अवाय तथा उस ज्ञान का अवधारण करना धारणा है।
४. अवग्रह का कालमान एक समय, ईहा और अवाय का आधा मुहूर्त्त^१ और धारणा का कालमान संख्यात तथा असंख्यात काल है।
५. श्रोत्रेन्द्रिय स्पृष्ट शब्दों को सुनती है। चक्षु इन्द्रिय अस्पृष्ट रूप को देखती है। गंध, रस और स्पर्श का संवेदन स्पृष्ट अवस्था में होता है।
६. भाषा की समश्रेणी में स्थित श्रोता मिश्र शब्द को सुनता है और विषम श्रेणी में स्थित श्रोता वक्ता द्वारा उत्सृष्ट शब्द को नियमतः पराधात—भाषा द्रव्यों से वासित अथवा प्रकंपित शब्दों को सुनता है।^२
७. वाग्द्रव्य का ग्रहण काययोग से और निस्सरण वाग्योग से होता है। ग्रहण और निस्सरण एकान्तर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह प्रतिसमय ग्रहण करता है और प्रतिसमय उन्हें छोड़ता है।
८. औदारिक, वैक्रिय और आहारक—इन तीनों शरीरों में जीव के जीवप्रदेश होते हैं। उन आत्मप्रदेशों से वह शब्द द्रव्यों को ग्रहण करता है और तब वह भाषक भाषा को बोलता है।
९. औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक शरीरधारी जीव भाषा-द्रव्यों का ग्रहण तथा विसर्जन करता है।^३ भाषा के चार प्रकार हैं—सत्य, मृषा, सत्यामृषा (मिश्र) तथा असत्यामृषा (व्यवहार)।
१०. भाषा द्रव्यों से कितने समयों में लोक निरंतर व्याप्त रहता है? लोक के कितने भाग में भाषा का कितना भाग व्याप्त होता है?
११. चार समय में भाषा-द्रव्य पूरे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। लोक का अंतिम छोर भाषा द्रव्यों की व्याप्ति

१. नंदी में ईहा और अवाय का समय अन्तर्मुहूर्त्त मिलता है। (अंतोमुहुत्तिया ईहा, अंतोमुहुत्तिए अवाय, नंदी ५०) विस्तार हेतु देखें श्रीभिक्षु आगम विषयकोश पृ. ११०-१४।
२. वक्ता द्वारा मुक्त भाषा द्रव्यों की गति अनुश्रेणी में होती है। सूक्ष्म होने के कारण उनके प्रतिघात का कोई निमित्त नहीं बनता। भाषा के द्रव्य प्रथम समय में समश्रेणी में ही जाते हैं। द्वितीय समय में उनके द्वारा वासित द्रव्य विषमश्रेणी में जाते हैं अर्थात् एक समय के पश्चात् वे भूल रूप में अवस्थित नहीं रहते। इन कारणों से विषम श्रेणी में स्थित श्रोता वक्ता द्वारा मुक्त शब्दों को नहीं सुनता। वह केवल मुक्त शब्द से वासित शब्दों को ही सुनता है। (विभामहे गाथा ३५४)।
३. भाषा द्रव्य का ग्रहण एक समय में होता है। उसका निसर्ग भी एक समय में होता है। इस प्रकार भाषा द्रव्य के ग्रहण और निसर्ग का जघन्य काल दो समय है। भाषा द्रव्य के ग्रहण और निसर्ग का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त है। इनमें यह भेद वक्ता के प्रयत्न भेद से होता है। (विभामहे ३७१, ३७२, विस्तार हेतु देखें आवचू १ पृ. १५)।

का अंतिम छोर है।^१

१२. ईहा, अपोह, विमर्शना, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा—ये सारे आभिनिबोधिक ज्ञान के पर्यायवाची हैं।^२

१३. आभिनिबोधिक ज्ञान—निरूपण के नौ अनुयोगद्वार हैं—१. सत्पदप्ररूपणता २. द्रव्य-प्रमाण ३. क्षेत्र ४. स्पर्शना ५. काल ६. अंतर ७. भाग ८. भाव ९. अल्पाबहुत्व।

१४, १५. निम्न स्थानों में आभिनिबोधिक ज्ञान की मार्गणा की जाती है—१. गति २. इंद्रिय ३. काय ४. योग ५. वेद ६. कषाय ७. लेश्या ८. सम्यक्त्व ९. ज्ञान १०. दर्शन ११. संयत १२. उपयोग १३. आहार १४. भाषक १५. परित्त १६. पर्याप्त १७. सूक्ष्म १८. संज्ञी १९. भव्य २०. चरिम।

१६. आभिनिबोधिक ज्ञान की अट्ठावीस प्रकृतियां हैं। अब मैं श्रुतज्ञान और उनकी प्रकृतियों का संक्षेप और विस्तार से वर्णन करूंगा।

१७. प्रत्येक अक्षर तथा लोक में जितने अक्षर-संयोग हैं, उतनी ही श्रुतज्ञान की प्रकृतियां जाननी चाहिए।

१८. श्रुतज्ञान की सभी प्रकृतियों का वर्णन करने में मेरी शक्ति कहां है? अतः मैं श्रुतज्ञान के चौदह प्रकार के निक्षेप कहूंगा।

१९. श्रुतज्ञान के चौदह निक्षेप इस प्रकार हैं—अक्षरश्रुत, संज्ञिश्रुत, सम्यक्श्रुत, सादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत,

१. मंद प्रयत्न वाला वक्ता जब भाषा द्रव्यों का सकल रूप में विसर्जन करता है तो मंद प्रयत्न के कारण वे निःसृष्ट भाषाद्रव्य असंख्येय स्कंधात्मक एवं परिस्थूल होने के कारण खंडित हो जाते हैं। संख्येय योजन तक जाकर वेशब्द परिणाम को छोड़ देते हैं अर्थात् भाषा रूप को छोड़ देते हैं। तीव्र प्रयत्न वाला वक्ता भाषाद्रव्यों का विस्फोट कर उनका विसर्जन करता है। वे सूक्ष्मत्व और अनन्त गुण वृद्धि के कारण छहों दिशाओं में लोकान्त तक चले जाते हैं। उनके आघात से प्रभावित भाषाद्रव्य की संहति सम्पूर्ण लोक को आपूरित कर देती है, (विभामहे गा. ३८०-८२, विस्तार हेतु देखें आवमटी प. ३५-३८)।

२. ईहा—अन्वय और व्यतिरेक धर्मों से पदार्थ का पर्यालोचन।

अपोह—ज्ञान का निश्चय।

विमर्श—ईहा के बाद होने वाला ज्ञान, जैसे—सिर को खुजलाते हुए देखकर समझना कि यह पुरुष है, स्थाणु नहीं।

मार्गणा—अन्वय धर्म का अन्वेषण।

गवेषणा—व्यतिरेक धर्म की गवेषणा।

संज्ञा—व्यञ्जनावग्रह के बाद होने वाला मतिविशेष।

स्मृति—पूर्वानुभूत पदार्थ के आलम्बन से होने वाला ज्ञान।

मति—कुछ अर्थावबोध के बाद सूक्ष्म धर्म को जानने वाली बुद्धि।

प्रज्ञा—वस्तु के प्रभूत धर्मों का यथार्थ आलोचन करने वाली बुद्धि, जो विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होती है।

इन शब्दों में कुछ अर्थभेद है लेकिन वस्तुतः ये मतिज्ञान के ही वाचक हैं। इन्हें मतिज्ञान की उत्तरोत्तर विविध अवस्थाओं का वाचक कहा जा सकता है (आवहाटी १ पृ. १२)।

गमिकश्रुत, अंगप्रविष्टश्रुत—ये सात तथा इनके प्रतिपक्ष ये सात—अनक्षरश्रुत, असंज्ञिश्रुत, असम्यक्श्रुत, अनादिश्रुत, अपर्यवसितश्रुत, अगमिकश्रुत, अनंगप्रविष्टश्रुत।^१

२०. उच्छ्वास, निःश्वास, थूकना, खांसना, छींकना, सूँघना, नाक साफ करना, अनुस्वार युक्त उच्चारण अथवा नाक से होने वाली ध्वनि करना, सीटी बजाना—ये सब अनक्षरश्रुत कहलाते हैं।^२

२१. बुद्धि के आठ गुणों से आगम-शास्त्रों का अर्थ-ग्रहण होता है। पूर्वज्ञान के विशारद तथा धीर मुनि आगम ज्ञान के ग्रहण को ही श्रुतज्ञान की उपलब्धि कहते हैं।

२२. बुद्धि के आठ गुण ये हैं—१. सुनने की इच्छा, २. प्रतिपृच्छा ३. सुनना ४. ग्रहण करना ५. पर्यालोचन करना ६. निश्चय करना ७. धारण करना ८. उसका सम्यक् आचरण करना।^३

२२/१. श्रवणविधि के सात अंग इस प्रकार हैं—१. मौन रहकर सुनना २. हुंकार देना ३. बाढक्कार ‘यह ऐसा ही है’ यों कहना ४. प्रतिपृच्छा करना ५. मीमांसा करना ६. सुने हुए प्रसंग का पारायण करना ७. कहे हुए का पुनः कथन करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेना।

२२/२. अनुयोग (व्याख्या) की विधि इस प्रकार है—प्रथम बार में सूत्र के अर्थ का बोध, दूसरी बार में

१. अक्षर-अनक्षरश्रुत—अक्षर तथा संकेत के आधार पर होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से।

संज्ञि-असंज्ञिश्रुत—मानसिक विकास और अमनस्क के आधार पर होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से।

सम्यक्-असम्यक्श्रुत—प्रवचनकार और ज्ञाता की सम्यक् या मिथ्यादृष्टि के आधार पर होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से।

सादि-अनादिश्रुत—कालावधि के आधार पर होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से।

गमिक-अगमिकश्रुत—रचना-शैली की अपेक्षा से।

अंग-अनंगश्रुत—ग्रंथकार की अपेक्षा से।

२. विशिष्ट अभिप्रायपूर्वक उच्छ्वास आदि का प्रयोग होता है, तब वह श्रुतज्ञान का कारण बनता है। जो सुना जाता है, वह श्रुत है। उच्छ्वास आदि श्रवण के विषय हैं अतः श्रुत हैं। सिर और हाथ की चेष्टा श्रव्य नहीं हैं अतः श्रुत नहीं हैं। उच्छ्वास-निःश्वास आदि वाक्जन्य प्रयत्न से उत्पन्न नहीं हैं अतः भाषात्मक या अक्षरात्मक नहीं हैं लेकिन ये श्रुतज्ञान के कारण हैं अतः इन्हें अनक्षर श्रुत माना गया है, (विभागे गा. ५०२, ५०३)।

३. आचार्य हरिभद्र ने अभिधान चिंतामणि (२/२२४, २२५) में बुद्धि के आठ गुणों का कुछ भिन्न रूप में संकेत किया है—१. शुश्रूषा २. श्रवण ३. ग्रहण ४. धारणा ५. ऊहा ६. अपोह ७. अर्थविज्ञान ८. तत्त्वज्ञान।

४. शुश्रूषा—सूत्र को गुरुमुख से सविनय सुनने की इच्छा करना।

प्रतिपृच्छा—गृहीत श्रुत में शंकित अथवा विस्मृत शब्दों को पुनः पुनः पूछना।

श्रवण—सूत्र के अर्थ को सुनना।

ग्रहण—सूत्र और अर्थ का अध्ययन कर श्रुत का सम्यक् ग्रहण करना।

ईहा—सूत्र और अर्थपदों की मार्गणा, गवेषणा करना।

अवाय—‘यह ऐसा ही है, अन्य प्रकार से नहीं’—इस प्रकार अन्वय व्यतिरेकी धर्मों से पदार्थ का निश्चय करना।

धारण—परिवर्तना और अनुपेक्षा के द्वारा उसका स्थिरीकरण करना।

करण—श्रुत में प्रतिपादित अनुष्ठान का सम्यक् आचरण करना (आवहाटी १ पृ. १७, १८)।

निर्युक्ति सहित सूत्र के अर्थ का बोध तथा तीसरे में समग्रता से बोध किया जाता है।^१

२३. अवधिज्ञान की समस्त प्रकृतियां असंख्येय होती हैं।^२ इनमें कुछ भवप्रत्ययिक तथा कुछ क्षयोपशमजनित होती हैं।

२४. अवधिज्ञान की समस्त प्रकृतियों का वर्णन करने की कहां है मुझमें शक्ति? फिर भी मैं अवधिज्ञान के चौदह निक्षेप तथा ऋद्धिप्राप्त व्यक्ति का वर्णन करूंगा।

२५, २६. अवधिज्ञान की चौदह प्रतिपत्तियां इस प्रकार हैं—१. अवधि, २. क्षेत्र-परिमाण, ३. संस्थान, ४. आनुगामिक, ५. अवस्थित, ६. चल, ७. तीव्र-मंद, ८. प्रतिपात-उत्पाद, ९. ज्ञान, १०. दर्शन, ११. विभंग, १२. देश-सर्व, १३. क्षेत्र, १४. गति।

अवधिज्ञान-ऋद्धि के प्रसंग में अन्य ऋद्धिप्राप्त का वर्णन भी करूंगा।

२७. अवधि शब्द के सात निक्षेप हैं—१. नाम अवधि २. स्थापना अवधि ३. द्रव्य अवधि ४. क्षेत्र अवधि ५. काल अवधि ६. भव अवधि ७. भाव अवधि।

२८. तीन समय के आहारक सूक्ष्म पनकजीव (वनस्पति विशेष) के शरीर की जितनी जघन्य अवगाहना होती है, उतना ही अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र-परिमाण होता है।^३

२९. भगवान् अजितनाथ के समय में उत्कृष्ट परिमाण में अग्नि जीवों की उत्पत्ति हुई थी। उन सर्वाधिक अग्नि जीवों ने निरंतर जितने क्षेत्र को व्याप्त किया था, सब दिशाओं में उतना परमावधि का क्षेत्र होता है।^४

३०. अंगुल के असंख्येय भाग क्षेत्र को देखने वाला अवधिज्ञानी काल की दृष्टि से आवलिका के असंख्येय भाग तक देखता है। अंगुल के संख्येय भाग क्षेत्र को देखने वाला आवलिका के संख्येय भाग तक देखता

१. श्रवणविधि के सात प्रकार बताए हैं तथा २२/२ वीं गाथा में अनुयोग-विधि के तीन प्रकार बतलाए गए हैं, यह विरोधाभास जैसा लगता है। आचार्य हरिभद्र ने नंदी की टीका में इसका समाधान देते हुए कहा है कि सभी शिष्य समान योग्यता वाले नहीं होते। योग्यता की तरतमता के आधार पर तीनों अनुयोग-विधियों का सात बार प्रयोग किया जा सकता है, (नंदीहाटी पृ. ९६, ९७)।
२. आवहाटी. १ पृ. १८—क्षेत्रकालाख्यप्रमेयापेक्षयैव संख्यातीता: द्रव्यभावाख्यज्ञेयापेक्षया चानन्ता इति—क्षेत्र और काल की अपेक्षा से अवधिज्ञान की प्रकृतियां असंख्य हैं तथा द्रव्य और भाव रूप ज्ञेय की अपेक्षा से अवधिज्ञान की प्रकृतियां अनंत हैं।
३. प्रथम और द्वितीय समय में पनक की अवगाहना अत्यन्त सूक्ष्म होती है। चतुर्थ, पंचम आदि समयों में वह अतिस्थूल हो जाती है। तृतीय समय में उसकी जितनी अवगाहना होती है, उतना क्षेत्र अवधिज्ञान का विषय बनता है। इसलिए 'त्रिसमयआहारकपनक' का ग्रहण किया गया है, (विस्तार के लिए देखें—नंदीमटी. प. ९१)।
४. जब पांच भरत और पांच ऐरवत में मनुष्यों की संख्या पराकाष्ठा पर होती है, तब सबसे अधिक अग्नि के जीव होते हैं क्योंकि लोगों की बहुलता होने पर पचन-पाचन आदि क्रियाएं भी प्रचुर होती हैं। तीर्थंकर अजित के समय में अग्नि के जीव पराकाष्ठा प्राप्त थे क्योंकि उस समय मनुष्यों की संख्या पराकाष्ठा को प्राप्त थी। उस समय अग्निजीवों की उत्पत्ति में महावृष्टि आदि का व्याघात नहीं था (आवचू १ पृ. ३९)।

है। अंगुल जितने क्षेत्र को देखने वाला भिन्न (अपूर्ण) आवलिका तक देखता है। काल की दृष्टि से एक आवलिका तक देखने वाला क्षेत्र की दृष्टि से अंगुलपृथक्त्व (दो से नौ अंगुल) क्षेत्र को देखता है।

३१. एक हाथ जितने क्षेत्र को देखने वाला अंतर्मुहूर्त जितने काल तक देखता है। एक गव्यूत क्षेत्र को देखने वाला अंतर्दिवस काल (एक दिन से कुछ न्यून) तक देखता है। एक योजन क्षेत्र को देखने वाला दिवसपृथक्त्व (दो से नौ दिवस) काल तक देखता है। पचीस योजन क्षेत्र को देखने वाला अंतःपक्षकाल (कुछ कम एक पक्ष) तक देखता है।

३२. भरत जितने क्षेत्र को देखने वाला अर्द्धमास काल तक देखता है। जंबूद्वीप जितने क्षेत्र को देखने वाला साधिक मास (एक महीने से कुछ अधिक) काल तक देखता है। मनुष्य लोक जितने क्षेत्र को देखने वाला एक वर्ष तक देखता है। रुचकद्वीप जितने क्षेत्र को देखने वाला वर्षपृथक्त्व (दो से नौ वर्ष) तक देखता है।

३३. संख्येय काल तक देखने वाला संख्येय द्वीप-समुद्र जितने क्षेत्र को देखता है। असंख्येय काल तक देखने वाला असंख्येय द्वीप-समुद्र जितने क्षेत्र को देख सकता है पर इसमें नियामकता नहीं है।

३४. (अवधिज्ञान के प्रसंग में) कालवृद्धि के साथ द्रव्य, क्षेत्र और भाव की वृद्धि निश्चित होती है। क्षेत्रवृद्धि में कालवृद्धि की नियामकता नहीं है। द्रव्य और पर्याय की वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल की वृद्धि में भजना है।^१

३५. काल सूक्ष्म होता है लेकिन क्षेत्र उससे सूक्ष्मतर होता है। अंगुलश्रेणिमात्र आकाश-प्रदेश का परिमाण असंख्येय अवसर्पिणी की समय राशि जितना होता है।

३६. अवधिज्ञानी प्रारंभ में तैजसवर्गणा और भाषावर्गणा के अंतरालवर्ती गुरुलघु और अगुरुलघु पर्याय वाले द्रव्य-पुद्गलों को जानता है। वे पुद्गल तैजस और भाषा के अयोग्य होते हैं। उनमें तैजसद्रव्यासन्न पुद्गल गुरुलघु और भाषाद्रव्यासन्न पुद्गल अगुरुलघु होते हैं। प्रतिपाति अवधिज्ञान उतने द्रव्य को देख-जानकर समाप्त हो जाता है।^२

३७. औदारिकवर्गणा, वैक्रियवर्गणा, आहारकवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, आनापानवर्गणा, मनोवर्गणा

१. क्षेत्र अत्यन्त सूक्ष्म है। उसकी अपेक्षा काल स्थूल है। यदि अवधिज्ञान की क्षेत्रवृद्धि होती है तो कालवृद्धि भी होती है। द्रव्य क्षेत्र से भी अधिक सूक्ष्म होता है क्योंकि एक आकाश प्रदेश में भी अनंत स्कंधों का अवगाहन हो सकता है। पर्याय द्रव्य से भी सूक्ष्म है क्योंकि एक ही द्रव्य में अनंत पर्याय होती हैं। द्रव्य की वृद्धि होने पर पर्याय की वृद्धि निश्चित है। अवधिज्ञानी प्रत्येक द्रव्य की संख्येय और असंख्येय पर्यायों को जानता है। पर्यायवृद्धि होने पर द्रव्यवृद्धि की भजना है—वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती।

२. चूर्णिकार ने प्रस्तुत गाथा को महान् अर्थयुक्त तथा दुरधिगम माना है। वे कहते हैं कि आचार्य ने इसीलिए अगली गाथा के माध्यम से इसके अर्थ की सुगमता को दर्शाया है (आवचू १ पृ. ४४)।

३. अति सूक्ष्म होने से तैजस शरीर के द्रव्य ग्रहण प्रायोग्य नहीं होते और अति सूक्ष्म होने के कारण भाषा के द्रव्य भी ग्रहण प्रायोग्य नहीं होते। तैजस और भाषा के अंतरालवर्ती द्रव्य गुरुलघु और अगुरुलघु—दोनों हैं। वे ही अवधिज्ञान के ग्रहण प्रायोग्य होते हैं। (विभामहे गा. ६२८, ६२९)

और कर्मवर्गणा—यह द्रव्य वर्गणाओं का क्रम है। इसके विपर्यास से क्षेत्रविषयकवर्गणा का क्रम जानना चाहिए।^१

३८. कर्मवर्गणा के रूप में ग्रहण के अयोग्य चौदह वर्गणाएं ये हैं—१. ध्रुववर्गणा, २. अध्रुववर्गणा, ३. शून्यांतर वर्गणा, ४. अशून्यांतर वर्गणा, ५-८. चार ध्रुवानन्तर वर्गणाएं, चार तनुवर्गणाएं—९. औदारिक, १०. वैक्रिय, ११. आहारक और १२. तैजस, १३. मिश्रस्कन्ध वर्गणा १४. अचित्तस्कन्ध वर्गणा (अचित्तमहास्कन्ध)।^२

३९. औदारिक, वैक्रिय, आहारक तथा तैजस—ये चार वर्गणाएं गुरुलघु तथा कर्मण, मन, भाषा और आनापान—ये चार वर्गणाएं अगुरुलघु होती हैं।

४०. मनोद्रव्य का परिच्छेदक अवधिज्ञान क्षेत्र से लोक के संख्येय भाग को तथा काल से पल्योपम के संख्येय भाग को जानता है। कर्मद्रव्य का परिच्छेदक अवधिज्ञान क्षेत्र से लोक का संख्येय भाग तथा काल से पल्योपम के संख्येय भाग को जानता है। संपूर्ण लोक का परिच्छेदक अवधिज्ञान काल से देशोन (कुछ न्यून) पल्योपम को देखता-जानता है।

४१. तैजसशरीर, कर्मणशरीर, तैजसद्रव्य और भाषाद्रव्य को जानने वाला अवधिज्ञान क्षेत्र से असंख्येय द्वीप-समुद्रों तथा काल से असंख्येय काल को जानता है।

४२. परम अवधिज्ञानी एक प्रदेशावगाढ (एक प्रदेश में अवस्थित) परमाणु यावत् अनंतप्रदेशी स्कन्ध, कर्मणशरीर^३ तथा गुरुलघु-अगुरुलघु द्रव्यों को देखता है। जो अवधि तैजस शरीर को देखता है, वह काल से भव-पृथक्त्व^४ (दो से नौ भवों) को देखता है।

४३. परम अवधिज्ञान क्षेत्र से असंख्येय लोक-परिमित खंडों को जानता है। काल से वह असंख्येय

१. विवरण के लिए देखें परि. ३ कथा सं. १।

२. ध्रुव वर्गणाएं सदा नियत होती हैं। अध्रुव वर्गणाएं कभी होती हैं, कभी नहीं भी होतीं। एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर शून्यान्तर वर्गणाएं होती हैं। ये निरंतर अनंत रहती हैं। इनमें एक-एक परमाणु की वृद्धि होने पर अशून्यान्तर वर्गणाएं होती हैं। ये लोक में निरंतर रहती हैं। इनके परमाणुओं की वृद्धि के क्रम में कभी व्यवधान नहीं आता। ध्रुवानन्तर वर्गणाएं त्रिकाल में रहती हैं, ये अनंत हैं। इनमें निरंतर एक-एक परमाणु की वृद्धि होती रहती है। इनका परिणमन अत्यन्त सूक्ष्म होता है। चार ध्रुवानन्तर वर्गणाओं के पश्चात् एक-एक परमाणु की वृद्धि से युक्त अनंत वर्गणात्मक चार तनुवर्गणाएं हैं। जो सूक्ष्म परिणमन वाली किंचित् स्थूल परिणमन के अभिमुख है तथा अनन्त-अनंत परमाणुओं से उपचित है, वह मिश्र वर्गणा है। अचित्तमहास्कन्ध समुद्र वेला की भांति दुस्तर, विशाल एवं नियत है। (विभामहे गा. ६३९-४२)

३. विशेषावश्यक भाष्य में एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि एक प्रदेशावगाढ परमाणु आदि सूक्ष्म वस्तुओं को जानने वाला परमावधि कर्मण शरीर आदि स्थूल वस्तुओं को जानता ही है फिर कर्मशरीर को स्वतंत्र रूप से क्यों ग्रहण किया गया है? इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि जो सूक्ष्म परमाणु को देखता है, वह बादर कर्मण शरीर आदि को देखे अथवा जो बादर को देखता है, वह सूक्ष्म को अवश्य देखे, यह कोई नियम नहीं है। सूक्ष्मतर पदार्थों को जानने वाला अवधिज्ञानी घट आदि स्थूल पदार्थों को नहीं जानता। जैसे मनःपर्यवज्ञानी सूक्ष्म मनोद्रव्य को जानता है पर शेष अतिस्थूल पदार्थों को नहीं जानता (विभामहे गा. ६७८-८१ महेटी पृ. १७३)।

४. भवपृथक्त्व के मध्य किसी भव में यदि उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ हो तो उस अवधिज्ञान से दृष्ट पूर्व भवों की उसे स्मृति होती है, उनका साक्षात् नहीं होता (विभामहे गा. ६७७)।

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी को जानता है। द्रव्य से सब भूर्त द्रव्यों को जानता है। उसका क्षेत्रोपमान सर्वबहु अग्निजीवों के समान है।^१

४४. तिर्यञ्चयोनिक जीवों को जो उत्कृष्ट अवधिज्ञान होता है, वह द्रव्य से औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस का परिच्छेदक होता है।^२ क्षेत्र की अपेक्षा नरक में अवधिज्ञान जघन्यतः आधा गाऊ तथा उत्कृष्टतः एक योजन (चार गव्यूत) का होता है। यह वर्णन समुच्चय की अपेक्षा से है।

४५. नरकावासों में उत्कृष्ट और जघन्य अवधिज्ञान की क्षेत्र-सीमा इस प्रकार है—

नरकावास	उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र	जघन्य अवधिक्षेत्र
रत्नप्रभा	चार गव्यूत	साढे तीन गव्यूत
शर्कराप्रभा	साढे तीन गव्यूत	तीन गव्यूत
बालुकाप्रभा	तीन गव्यूत	ढाई गव्यूत
पंकप्रभा	ढाई गव्यूत	दो गव्यूत
धूमप्रभा	दो गव्यूत	डेढ गव्यूत
तमःप्रभा	डेढ गव्यूत	एक गव्यूत
महातमःप्रभा	एक गव्यूत	अर्ध गव्यूत

४६-४८. सौधर्म और ईशान कल्पवासी देव अवधिज्ञान के द्वारा प्रथम नरक तक, सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पवासी देव दूसरी नरक तक, ब्रह्म और लान्तक कल्पवासी देव तीसरी नरक तक, शुक्र और सहस्रार कल्पवासी देव चौथी नरक तक, आनत और प्राणत कल्पवासी देव पांचवीं नरक तक, आरण और अच्युत देवलोक के देव भी पांचवीं नरक तक देखते हैं। अधस्तन तथा मध्यम ग्रैवेयक देव छठी नरक तक तथा उपरितन ग्रैवेयक के देव सातवीं नरक तक देखते हैं। अनुत्तर देवलोक के देव अवधिज्ञान से संभिन्नलोकनाडी अर्थात् संपूर्णलोक को देखते हैं।^३

४९. वैमानिक देव अवधिज्ञान से तिर्यकुल्लोक में असंख्य द्वीप-समुद्रों को देख लेते हैं तथा ऊर्ध्वलोक में अपने-अपने कल्प के स्तूप ध्वजा आदि को देखते हैं।

५०. अर्द्ध सागरोपम से न्यून आयुष्य वाले देवों का अवधिक्षेत्र संख्येय योजन का होता है। इससे अधिक आयुष्य वाले देवों का अवधिक्षेत्र असंख्येय योजन का होता है। दस हजार वर्ष की जघन्य स्थिति वाले

१. देखें गाथा २९ का अनुवाद एवं टिप्पण।
२. तिर्यञ्च जीव अवधिज्ञान से औदारिक, वैक्रिय आदि द्रव्यों के अन्तरालवर्ती द्रव्यों को भी जानते हैं। वे जघन्यतः औदारिक शरीर को जानते हैं। कर्म शरीर को वे न जानते हैं और न देखते हैं (विभामहे गा. ६९१)।
३. आवचू १ पृ. ५४; जो जं पुढविं देवो ओहिणा जाणति पासति सो तीए पुढवीए सकातो सरीराओ आरब्ध जाव हिट्ठिल्लो चरिमंतो ताव गिरंतरं संभिण्णं पव्वयकुडादीहिं गिरावरणं ओहिणा जाणति पासति—जो देवता जिस पृथ्वी को अवधिज्ञान से जानता-देखता है, वह अपने शरीर से प्रारम्भ कर उस पृथ्वी के अधस्तलवर्ती चरमान्त तक जानता-देखता है। उसका ज्ञान निरन्तर पूर्ण होता है। उसमें पर्वत, भीत आदि का व्यवधान नहीं होता।

भवनपति और व्यंतर देवों के अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र पच्चीस योजन परिमाण होता है।^१

५१. (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से उत्कृष्ट अवधिज्ञान) परम अवधिज्ञान मनुष्यों में ही होता है तथा जघन्य (गाथा २८ गत) अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यचों में ही होता है, नारक और देवों में नहीं। (मध्यम अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों में होता है।) उत्कृष्ट अवधिज्ञान संपूर्ण लोकप्रमाण होता है, प्रतिपाति अवधिज्ञान की सीमा वहीं तक है, उससे आगे वह अप्रतिपाति होता है।^२

५२. जघन्य अवधि का संस्थान स्तिबुकाकार—जल बिन्दु के आकार जैसा होता है।^३ उत्कृष्ट अवधिज्ञान का संस्थान लोक की अपेक्षा आयत—वृत्ताकार होता है। अजघन्य-अनुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अवधिज्ञान का संस्थान अनेक प्रकार का होता है।^४

५३. मध्यम अवधिज्ञान का संस्थान अनेक प्रकार का होता है—नारकजीवों का अवधिज्ञान तप्राकार—नौका के संस्थान वाला, भवनपति देवों का पल्लक^५—धान्यकोष्ठ के संस्थान वाला, व्यंतर देवों का पटहक जैसे संस्थान वाला, ज्योतिष्क देवों का झल्लरी^६ जैसे संस्थान वाला, सौधर्म आदि कल्पवासी देवों का मृदंग जैसे संस्थान वाला, ग्रैवेयक देवों का पुष्पचंगेरी जैसे संस्थान वाला तथा अनुत्तरविमानवासी देवों का अवधिज्ञान यवनालक (कन्याचोलक) जैसे संस्थान वाला होता है।^७ (ये सारे संस्थान नियत हैं।) तिर्यच और मनुष्य का अवधिज्ञान अनेकविध संस्थानों वाला होता है।^८

५४. नैरयिक और देवों का अवधिज्ञान आनुगामिक होता है। मनुष्य और तिर्यज्ज्वों का अवधिज्ञान आनुगामिक, अनानुगामिक तथा मिश्र अर्थात् एकदेशानुगमनशील—तीनों प्रकार का होता है।

१. ज्योतिष्क देवों का जघन्य और उत्कृष्ट अवधिज्ञान संख्येय योजन ही होता है क्योंकि उनका जघन्य आयुष्य पल्लोपम का आठवां भाग तथा उत्कृष्ट आयुष्य एक लाख वर्ष अधिक एक पल्लोपम का होता है (विभामहे ७०१ महेटी पृ. १७६)।
२. प्रतिपाति अवधिज्ञान देशावधि होता है, क्योंकि इसका उत्कृष्ट विषय संपूर्ण लोक है। जो अलोक के एक प्रदेश को भी देख लेता है, वह अवधिज्ञान प्रतिपाति नहीं होता। सर्वावधि उससे भी आगे जानता है इसलिए परमावधि और सर्वावधि—दोनों अप्रतिपाति हैं (नंदी सूत्र २०, २१)।
३. आवनि २८ में अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र तीन समय का आहारक सूक्ष्म पनक जीव जितना बताया है किन्तु इस गाथा में अवधिज्ञान का संस्थान जलबिन्दु बताया गया है। यहां क्षेत्रपरिमाण और संस्थान की दृष्टि से यह अंतर है कि क्षेत्र परिमाण ज्ञेय की दृष्टि से बतलाया गया है, जबकि संस्थान ज्ञान के आकार की दृष्टि से ज्ञातव्य है।
४. आवश्यक नियुक्ति के व्याख्याकारों ने अवधिज्ञान के संस्थानों को शरीरगत संस्थान नहीं माना है। गोम्मटसार और धवला में इन्हें शरीरगत संस्थान माना है। शरीरगत संस्थान का मत अधिक उपयुक्त लगता है।
५. आवहाटी १ पृ. २८; पल्लको नाम लाटदेशे धान्यालयः—लाट देश में होने वाला धान्यागार पल्लक कहलाता है,।
६. आवहाटी १ पृ. २८; चर्मावनद्धा विस्तीर्णवल्याकारा झल्लरी आतोद्यविशेषः—चमड़े से अवनद्ध लम्बी और वलयाकार आतोद्यविशेष झल्लरी कहलाती है।
७. भवनपति और व्यंतरदेवों के ऊर्ध्वलोकगत अवधि अधिक होता है, शेष देवों का अधोलोकगत, ज्योतिष्क तथा नारकों का तिर्यग्लोकगत, मनुष्य और तिर्यज्ज्वों का विविध प्रकार का अवधिज्ञान होता है। (विभामहे ७१३, आवहाटी १ पृ. २८)
८. स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्यों की भांति तिर्यज्ज्व और मनुष्यों का अवधिज्ञान ताना संस्थान वाला होता है। उन मत्स्यों में वलयाकार मत्स्य नहीं होते किन्तु तिर्यज्ज्व और मनुष्यों के अवधिज्ञान का संस्थान वलयाकार भी होता है (विभामहे गा. ७१२)।

५५. क्षेत्र और काल की दृष्टि से अनुत्तर देवों में अवधिज्ञान की अवस्थिति तेतीस सागर की होती है। द्रव्य की दृष्टि से उपयोग की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त और एक पर्याय^१ में सात-आठ समय तक अवस्थिति होती है।^२

५६. लब्धि की दृष्टि से अवधिज्ञान का कालिक अवस्थान कुछ अधिक छासठ सागरोपम का होता है। यह काल से उत्कृष्ट अवस्थान है। जघन्यतः वह एक समय का होता है।^३

५७. अवधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र और काल में वृद्धि-हानि चार प्रकार की होती है। द्रव्यों में वृद्धि-हानि दो प्रकार की तथा पर्यायों में वृद्धि-हानि छह प्रकार की होती है।^४

५८. एक जीव के अवधिज्ञान के स्पर्धक^५ असंख्येय अथवा संख्येय होते हैं। एक स्पर्धक का उपयोग करने वाला जीव निश्चित रूप से एक साथ सभी स्पर्धकों का उपयोग करता है।^६

१. आवहाटी १ पृ. २८; अन्ये तु व्याचक्षते पर्यायेषु सप्त, गुणेषु अष्टेति—टीकाकार ने इस संदर्भ में मतान्तर प्रस्तुत करते हुए कहा है कि पर्याय में सात समय तथा गुण में आठ समय की अवस्थिति होती है।

२. अवधिज्ञानी का एक द्रव्य में अन्तर्मुहूर्त तक निरंतर उपयोग रह सकता है। उससे आगे वह निरोध नहीं कर सकता इसलिए उस द्रव्य में अन्तर्मुहूर्त से अधिक अवस्थित नहीं रह सकता। जैसे कोई व्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म सूई के पार्श्वछिद्र में लम्बे समय तक निरंतर नहीं देख सकता। द्रव्य के पर्यायों का ज्ञान तीव्रतर उपयोग (सघन एकाग्रता) से होता है। वह अवधिज्ञान तीव्रतर उपयोग से होने वाले निरोध को सहन नहीं कर सकता अतः वह उस पर्याय में सात-आठ समयों से अधिक अवस्थित नहीं रह सकता (आवचू १ पृ. ५८)।

३. जो जीव विजय आदि अनुत्तर विमानों में दो बार उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा से अवधि की अवस्थिति छासठ सागरोपम है। मनुष्य जन्म की स्थिति साथ मिलाने से वह कुछ अधिक हो जाती है (विभामहे गा. ७२५)।

४. क्षेत्र और काल की वृद्धि-हानि के चार भेद इस प्रकार हैं—

(क) असंख्यातभाग वृद्धि, असंख्यातभाग हानि।

(ख) संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग हानि।

(ग) संख्यातगुण वृद्धि, संख्यातगुण हानि।

(घ) असंख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण हानि।

द्रव्य की वृद्धि-हानि के दो भेद इस प्रकार हैं—

(क) अनन्तभाग वृद्धि, अनन्तभाग हानि।

(ख) अनन्तगुण वृद्धि, अनन्तगुण हानि।

पर्याय की वृद्धि-हानि के छह भेद इस प्रकार हैं—

(क) अनन्तभाग वृद्धि, अनन्तभाग हानि।

(ख) असंख्यातभाग वृद्धि, असंख्यातभाग हानि।

(ग) संख्यातभाग वृद्धि, संख्यातभाग हानि।

(घ) संख्यातगुण वृद्धि, संख्यातगुण हानि।

(ङ) असंख्यातगुण वृद्धि, असंख्यातगुण हानि।

(च) अनन्तगुण वृद्धि, अनन्तगुण हानि (विभा महेटी पृ. १८०)।

५. स्पर्धक का अर्थ है—शरीर में स्थित अवधिज्ञान के निर्गमन के द्वार। जैसे जाली से ढके दीपक से ज्योति-रश्मियां बाहर निकलती हैं, स्पर्धक उस जाली के समान होते हैं।

६. जैसे एक आंख से देखने वाला व्यक्ति दोनों आंखों से उपयुक्त होता है, उसी प्रकार एक स्पर्धक का उपयोग करना सब स्पर्धकों का उपयोग करना है (विभामहे गा. ७४१)।

५९. स्पर्धक तीन प्रकार के होते हैं—आनुगामिक, अनानुगामिक तथा मिश्र। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार हैं—प्रतिपाति, अप्रतिपाति तथा मिश्र। मनुष्यों और तिर्यचों के अवधिज्ञान में प्रतिपाति आदि तीनों प्रकार के स्पर्धक होते हैं।

६०. बाह्यअवधि^१ की प्राप्ति होने पर जीव पूर्वदृष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कुछ हिस्से को जिस एक समय में नहीं देखता, उसी एक समय में कुछ अदृष्टपूर्व को देख लेता है। इस प्रकार एक ही समय में ज्ञान का उत्पाद और प्रतिपात होता है।

६१. आभ्यन्तर अवधि की प्राप्ति में ज्ञान का उत्पाद और प्रतिपात—दोनों एक समय में नहीं होते। एक समय में उत्पाद अथवा प्रतिपात होता है।^२

६२. अवधिज्ञानी एक द्रव्य की उत्कृष्टतः असंख्येय अथवा संख्येय पर्यायों को देख सकता है और जघन्यतः एक द्रव्य की द्विगुणित दो पर्यायों को देख सकता है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—इन चार पर्यायों को देख सकता है, अनंत पर्यायों को नहीं।

६३. साकार-अनाकार अवधि और विभंग जघन्यतः तुल्य होते हैं। (भवनपति देवों से प्रारम्भ कर) उपरितनं ग्रैवेयक तक के देवों का साकार-अनाकार अवधि और विभंग तुल्य होते हैं। उसके ऊपर के देवलोको में अवधिज्ञान ही होता है और वह क्षेत्रतः असंख्येय योजन का होता है।^३

६४. नैरयिक, देव और तीर्थंकर अबाह्य अवधिज्ञान वाले होते हैं^४ अर्थात् वे सर्वतः देखते हैं। शेष मनुष्य और तिर्यच एक देश से देखते हैं।

६५. क्षेत्र की अपेक्षा से अवधिज्ञान के दो प्रकार हैं—संबद्ध और असंबद्ध। जो अवधिज्ञान उत्पत्ति क्षेत्र से लेकर निरंतर व्यक्ति के साथ रहता है, वह संबद्ध अवधिज्ञान है और जो अवधिज्ञान पुरुष से अंतराल युक्त होता है, वह असंबद्ध अवधिज्ञान है। ये दोनों प्रकार के अवधिज्ञान क्षेत्र की अपेक्षा से संख्येय-असंख्येय

१. जिस स्थान पर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसी स्थान पर अवधिज्ञानी कुछ नहीं देख पाता। उस स्थान से हटकर अंगुल, अंगुल पृथक्त्व यावत् संख्येय योजन अथवा असंख्येय योजन दूर जाने पर देख पाता है, यह बाह्यलब्धि अवधिज्ञान है। (आवचू. १ पृ. ६२, ६३)

टीकाकार के अनुसार अवधिज्ञानी अपने जिस ज्ञान से एक दिशा में स्थित पदार्थों को जानता है अथवा कुछ स्पर्धक विशुद्ध, कुछ स्पर्धक अविशुद्ध होने से अनेक दिशाओं में अंतर सहित जानता है अथवा क्षेत्रीय व्यवधान के कारण असंबद्ध जानता है, वह बाह्यअवधि कहलाता है। बाह्यअवधि को देशावधि कहा जाता है (आवमटी. प. ३१२)।

२. इस गाथा का तात्पर्य यह है कि प्रदीप की भांति आभ्यन्तर अवधि का एक समय में या तो उत्पाद ही होगा या प्रतिपात ही होगा क्योंकि यह अप्रदेशावधि है। एक द्रव्य की एक ही पर्याय का उत्पाद और प्रतिपात एक समय में नहीं होता जैसे अंगुलि का फैलना और सिकुड़ना एक साथ नहीं हो सकता (आवहाटी. १ पृ. ३०)।

३. ग्रैवेयक विमानों से ऊपर पांच अनुत्तरविमान में अवधिज्ञान ही होता है, विभंगअज्ञान नहीं क्योंकि अनुत्तर विमानों के देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं।

४. नारक, देव और तीर्थंकर अवधि से अबाह्य होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इनके नियमतः अवधि होता है और ये सब ओर से देखते हैं। इसके अतिरिक्त इनका अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक तथा मध्यगत होता है। मध्यगत अवधिज्ञान में ही सर्वतः देखने की शक्ति होती है।

योजन प्रमाण वाले होते हैं। यह अवधिज्ञान लोक और अलोक में पुरुष से संबद्ध होता है।^१

६५/१. पूर्व वर्णित १३, १४, १५ वीं गाथाओं में सत्पदप्ररूपणाविधि, द्रव्यप्रमाण तथा गति आदि बीस द्वारों से मति-श्रुतज्ञान की मीमांसा की गई है। वह पूर्ण मीमांसा अवधिज्ञान के विषय में भी करणीय है। अवधिज्ञान की प्राप्ति एक लब्धि है। उसका वर्णन यहां किया गया है। उसके आधार पर अन्यान्य अवशिष्ट लब्धियों का वर्णन किया जा रहा है।

६६, ६७. शेष ऋद्धियां (लब्धियां) ये हैं—

१. आमर्ष औषधि—स्पर्श से रोगमुक्त करने का सामर्थ्य।
२. विप्रुड औषधि—मल के स्पर्श से रोगमुक्ति।
३. श्लेष्म औषधि—श्लेष्म से रोगमुक्ति।
४. जल्ल औषधि—मैल से रोगमुक्ति।
५. संधिन्नस्रोत—एक इंद्रिय से पांचों इंद्रिय-विषयों को जानने का सामर्थ्य।
६. ऋजुमति—मनोगत भावों को सामान्यरूप से जानने का सामर्थ्य।
७. सर्वौषधि—सभी व्याधियों के निग्रह में समर्थ अथवा जिसका प्रत्येक अवयव औषधि के सामर्थ्य से युक्त हो।
८. चारणलब्धि—जंघाचारण—मकड़ी के जाले से निष्पन्न तंतुओं के सहारे अथवा सूर्य की रश्मियों के सहारे गमनागमन करने में समर्थ।
विद्याचारण—विद्यातिशय से आकाश-गमन का सामर्थ्य।
९. आशीविष—आशीविष सर्प की भांति दूसरों को मारने का सामर्थ्य।
१०. केवली

१. पुरुष के अबाधा अन्तराल के आधार पर असंबद्ध अवधि के चार विकल्प होते हैं—

- (क) संख्येय योजन अन्तराल, संख्येय अवधिक्षेत्र।
- (ख) संख्येय योजन अन्तराल, असंख्येय अवधिक्षेत्र।
- (ग) असंख्येय योजन अन्तराल, संख्येय अवधिक्षेत्र।
- (घ) असंख्येय योजन अन्तराल, असंख्येय अवधिक्षेत्र।

संबद्ध अवधि के विकल्प नहीं होते।

पुरुष और लोकान्त से संबद्ध अवधि के विकल्प—

- (क) पुरुष से संबद्ध, लोक से संबद्ध (लोकप्रमाण अवधि)
- (ख) पुरुष से संबद्ध, लोकान्त से असंबद्ध (आभ्यन्तर अवधि)
- (ग) पुरुष से असंबद्ध, लोक से संबद्ध (शून्य विकल्प)
- (घ) न पुरुष से संबद्ध, न लोक से (बाह्य अवधि)

इसका तात्पर्य यह है कि लोकाभ्यन्तर पुरुष के दोनों प्रकार की अवधि होती है—संबद्ध और असंबद्ध। अलोक में संबद्ध अवधिज्ञान आत्मसंबद्ध ही होता है (आवहाटी १ पृ. ३१)।

११. मनःपर्यवज्ञानी

१४. चक्रवर्ती

१२. पूर्वधर

१५. बलदेव

१३. तीर्थकर

१६. वासुदेव

६८, ६९. कुंए की मेंढ पर बैठे हुए वासुदेव को सांकल से बांधकर सोलह हजार राजा अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ खींचें तो भी वह उस से मस नहीं होता लेकिन वासुदेव बाएं हाथ से उस सांकल को खींचकर सोलह हजार राजाओं को पराजित कर देता है, नीचे गिरा देता है।

७०, ७१. कुंए की मेंढ पर बैठे हुए चक्रवर्ती को बत्तीस हजार राजा अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ खींचें तो भी उसे अपनी ओर नहीं खींच पाते। लेकिन चक्रवर्ती बाएं हाथ से उस सांकल को खींचकर बत्तीस हजार राजाओं को पराजित कर देता है, नीचे गिरा देता है।

७२. वासुदेव^१ के शारीरिक बल से चक्रवर्ती का बल दुगुना होता है। जिनेश्वर भगवान् चक्रवर्ती से भी अधिक बलशाली होते हैं क्योंकि वे अपरिमितबल वाले होते हैं, अनंत बल वाले होते हैं।

७३. मनःपर्यवज्ञान 'जन'^२ अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मन द्वारा चिन्तित अर्थ को जानता है, प्रकाशित करता है। वह मनुष्य क्षेत्र तक प्रतिबद्ध होता है। यह गुण-प्रत्ययिक होता है अर्थात् इसकी उपलब्धि गुणों के कारण होती है। यह केवल चरित्रवान् संयमी के ही होता है।^३

७४. जो सभी द्रव्यों, द्रव्य के परिणामों और भावों की विज्ञप्ति का कारण है, अनंत, शाश्वत और अप्रतिपाती है, एक ही प्रकार का है, वह केवलज्ञान है।^४

७५. तीर्थकर केवलज्ञान से तत्त्वों को जानकर उन तत्त्वों में जो प्रज्ञापन योग्य हैं, उनका कथन करते हैं। यह उनका वाग्योग है। शेष द्रव्यश्रुत है।

७५/१. प्रस्तुत में श्रुतज्ञान का अधिकार है। श्रुतज्ञान से शेष ज्ञानों का तथा स्वयं (श्रुतज्ञान) का अनुयोग किया जाता है। वह प्रदीप की भांति स्व-पर प्रकाशी होता है।^५

१. वासुदेव में बीस लाख अष्टापद का बल होता है।

२. जायन्ते इति जनाः—लोकख्दितया नरा एव स्युः, परं संज्ञिपञ्चेन्द्रियग्रहणायैवं व्युत्पादनम्। (आवहाटी १ पृ. ३३ का टिप्पण)

३. मनःपर्यव ज्ञानी तिर्यग्लोक में संज्ञी जीवों द्वारा गृहीत मन रूप में परिणत द्रव्य मन की अनन्त पर्यायों तथा तद्गत वर्ण आदि भावों को जानता-देखता है। वह द्रव्यमन से प्रकाशित वस्तु—घट-पट आदि को अनुमान से जानता है। वह चिन्तित पदार्थ को प्रत्यक्ष नहीं देखता, अनुमान से देखता है इसलिए उसकी पश्यता बतलाई गयी है। मन का आलम्बन मूर्त, अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं। छद्मस्थ अमूर्त को साक्षात् नहीं देख सकता (विभामहे गा. ८१३, ८१४, महेटी पृ. १९५)।

४. विभामहे गा. ८२८; पञ्चायओ अणंतं, सासयमिदं सदोवओगाओ। अव्वयओऽपडिवाई, एगविहं सव्वसुद्धीए॥ पर्याय अनंत होने से केवलज्ञान अनंत है। सदा उपयोगयुक्त होने से वह शाश्वत है। इसका व्यय नहीं होता इसलिए अप्रतिपाती है। आवरण की पूर्ण शुद्धि के कारण वह एक प्रकार का है।

५. देखें परि. ३ कथाएं।

७५/२, ३. उपोद्घात के २६ अंग हैं—

१. उद्देश	१०. नय	१९. कितने समय तक ?
२. निर्देश	११. समवतार	२०. कितने ?
३. निर्गम	१२. अनुमत	२१. सान्तर
४. क्षेत्र	१३. क्या ?	२२. अविरहित
५. काल	१४. कितने प्रकार ?	२३. भव
६. पुरुष	१५. किसका ?	२४. आकर्ष
७. कारण	१६. कहाँ ?	२५. स्पर्शना
८. प्रत्यय	१७. किसमें ?	२६. निरुक्ति
९. लक्षण	१८. कैसे ?	

७६. तीर्थंकर भगवान् अनुत्तर पराक्रमी तथा अनन्तज्ञानी होते हैं। वे तीर्थ, सिद्धगति को प्राप्त तथा सिद्धि-पथ के उपदेशक हैं, उनको मैं वन्दन करता हूँ।

७७. मैं वर्तमान तीर्थ के तीर्थंकर, महान् यशस्वी, महामुनि, अचिन्त्य शक्ति के धनी, इन्द्रों तथा चक्रवर्तियों से पूजित भगवान् महावीर को वन्दना करता हूँ।

७८. मैं प्रवचन—आगम के प्रवाचक ग्यारह गणधरों को वन्दना करता हूँ। साथ ही सारे गणधरवंश (आचार्यों की परम्परा), वाचकवंश (उपाध्यायों की परम्परा) तथा प्रवचन—आगम को भी वन्दना करता हूँ।

७९. मैं तीर्थंकरों, गणधरों आदि को मस्तक झुकाकर वन्दना कर, उनके द्वारा प्रतिपादित अर्थबहुल श्रुतज्ञान की निर्युक्ति का प्रतिपादन करूँगा।

८०-८१/१. निम्नांकित दस आगमों की जिनोपदिष्ट तत्त्व के अनुसार निर्युक्ति कहूँगा, जिसमें आहरण-पद, हेतु-पद तथा कारण-पद आदि का संक्षिप्त निरूपण होगा। वे आगम ये हैं—आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति तथा ऋषिभाषित।

८१/२. मैं गुरुजनों द्वारा उपदिष्ट तथा आचार्य-परम्परा से क्रमशः प्राप्त अवबोध के अनुसार सामायिक निर्युक्ति का कथन करूँगा।

८२. सूत्र में जो अर्थ—श्रुतज्ञान के विषय बहुलता से निर्युक्त हैं, बद्ध हैं, उन निर्युक्त अर्थों की व्याख्या करना निर्युक्ति है। फिर भी शिष्य गुरु को सूत्र-परिपाटी—सूत्र-पद्धति के अनुसार उन विषयों का प्रतिपादन करने के लिए प्रवर्तित करता है।

८३, ८४. तप, नियम तथा ज्ञानरूपी वृक्ष पर आरूढ अमितज्ञानी केवली भव्यजनों को प्रतिबोध देने के लिए

१. कल्प शब्द से कुछ विद्वान् बृहत्कल्प एवं पंचकल्प—दोनों की निर्युक्तियों का ग्रहण करते हैं।

ज्ञानवृष्टि—शब्दवृष्टि^१ करते हैं। उस ज्ञानवृष्टि को गणधर संपूर्णरूप से अपने बुद्धिरूप आत्मपट पर ग्रहण करते हैं तथा तीर्थंकर द्वारा भाषित तत्त्वों को प्रवचन—द्वादशांगी के रूप में संग्रथन करते हैं।

८५. गणधर अपना जीत आचार समझकर इन कारणों से सूत्रों की रचना करते हैं—

- सूत्ररूप में रचित आगमों का ग्रहण सहज हो सकता है।
- उनकी गणना, धारणा, शिष्यों को वाचना देना, प्रश्न उपस्थित करना आदि सुखपूर्वक हो सकता है।

८६. तीर्थंकर अर्थ अर्थात् शब्द का उच्चारण करते हैं। शासन के हित के लिए गणधर सूक्ष्म तथा अर्थबहुल सूत्रों की रचना करते हैं। यह सूत्र के प्रवर्तन का क्रम है।^२

८७. सामायिक से बिन्दुसार (चौदहवें पूर्व) पर्यन्त शास्त्र श्रुतज्ञान हैं। श्रुतज्ञान का सार है—चारित्र तथा चारित्र का सार है निर्वाण।

८८. जो मुनि तप-संयममय योगों को वहन करने में असमर्थ होता है, वह श्रुतज्ञान में प्रवर्तमान होने पर भी मोक्ष को उपलब्ध नहीं होता।

८९, ९०. दक्ष निर्यामक वाला जहाज भी बिना पवन के महासमुद्र को नहीं तैर सकता तथा सामुद्रिक वणिक् इष्ट नगरी को प्राप्त नहीं कर सकता, वैसे ही श्रुतज्ञान रूपी निपुण निर्यामक को प्राप्त करके भी जीवरूपी पोत तप-संयम रूपी पवन के बिना सिद्धि-नगरी को प्राप्त नहीं हो सकता।

९१. (भगवान् कहते हैं) हे प्राणी! तुमने संसार-सागर से उन्मज्जन किया है, (अर्थात् मनुष्यभव को प्राप्त किया है) पुनः उसमें डूब मत जाना। चारित्रगुणविहीन व्यक्ति बहुत जानने पर भी संसार-सागर में डूब जाता है।

९२. चारित्र-विहीन व्यक्ति बहुत सारा श्रुत का अध्ययन कर लेने पर भी क्या कर पाएगा? लाखों दीपकों के जल जाने पर भी अंधा व्यक्ति क्या देख पाएगा?

९३. जो चारित्र से युक्त है, उसका अल्पश्रुत भी प्रकाश करने वाला होता है। आंख वाले व्यक्ति के लिए एक दीपक भी प्रकाश करने वाला बनता है।

९४. जैसे चंदन का भार वहन करने वाला गधा भार का भागी होता है, चंदन की सौरभ का नहीं। वैसे ही चारित्र-विहीन ज्ञानी भी केवल ज्ञान का भागी होता है, सुगति का नहीं।

९५. क्रियाहीन ज्ञान व्यर्थ है। अज्ञानी की क्रिया भी विफल होती है। आंख से देखता हुआ पंगु तथा दौड़ता हुआ अंधा अग्नि में जल कर मर गया।^३

१. 'ज्ञानवृष्टि' इति कारणे कार्योपचारात् शब्दवृष्टिम्।

२. गणधरों में सर्वोत्कृष्ट श्रुतलब्धि होती है। उसी से वे मूलभूत आचार आदि आगमों की रचना करने में समर्थ होते हैं (नंदीमटी प २०३)।

३. देखें परि. ३ कथाएं।

९६. ज्ञान और क्रिया के संयोग की सिद्धि ही फलदायक होती है। रथ एक चक्के से नहीं चलता। उसकी गति में दोनों चक्कों की अनिवार्यता है। वन में दावानल लगने पर अंधा और पंगू एक दूसरे का सहयोग करके सकुशल नगर पहुंच गए।^१

९७. ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और संयम गुप्तिकर (कर्म-निरोधक) है। तीनों के समायोजन से मोक्ष प्राप्त होता है, यह जिनशासन का वचन है।

९८. द्वादशांगी श्रुतज्ञान है। वह क्षायोपशमिक भाव है। कषायों के क्षय से ही केवलज्ञान की उपलब्धि होती है।

९९. जो जीव ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्म-प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति में वर्तमान होता है, वह सामायिक के चारों प्रकारों (सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशविरतिसामायिक तथा सर्वविरतिसामायिक) में से एक को भी प्राप्त नहीं कर सकता।

१००. आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति जब अंतः कोटाकोटि सागरोपम रहती है उस स्थिति में जीव चारों प्रकार की सामायिकों में से किसी एक को प्राप्त कर सकता है।

१००/१. सामायिक की उपलब्धि के ये दृष्टान्त हैं^२—१. पल्यक—लाट देश का धान्यागार। २. पर्वत की

१. देखें परि. ३ कथाएं।

२. आवश्यक निर्युक्ति में सामायिक की उपलब्धि में पल्यक आदि नौ दृष्टान्त दिए हैं। बृहत्कल्प भाष्य में सम्यक्त्व की प्राप्ति के प्रसंग में पल्यक को छोड़कर आठ दृष्टान्त दिए हैं। यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण—इन तीन कारणों के आधार पर सामायिक-लाभ के दृष्टान्तों का निरूपण इस प्रकार है—

१. पल्यक—पल्यक में यदि अल्प धान्य डाला जाए और अधिक निकाला जाए तो वह कालान्तर में खाली हो जाता है। इसी प्रकार जो जीव कर्मों का चयन अल्प और अपचय अधिक करता है, वह धीरे-धीरे अनिवृत्तिकरण तक पहुंच जाता है, सम्यग्दर्शन के अभिमुख हो जाता है।

२. पार्वतीय नदी के उपल—नदी के पत्थर परस्पर संघर्षण से गोल और विचित्र आकृति वाले हो जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी यथाप्रवृत्ति आदि करणों से वैसे बन जाते हैं।

३. पिपीलिका—चींटियों का भूमिगमन, आरोहण, उड़ना, नीचे आना आदि स्वाभाविक होता है। वैसे ही जीवों में भी ये करण स्वाभाविक होते हैं।

४. पुरुष—तीन पुरुष अटवी पार कर रहे थे। चोरों ने उन्हें घेर लिया। एक व्यक्ति उल्टी दिशा में भाग गया। एक को चोरों ने पकड़ लिया। तीसरा व्यक्ति उन का अतिक्रमण कर भाग कर नगर में पहुंच गया। उल्टी दिशा में भागने वाले व्यक्ति की भांति वह व्यक्ति है, जो ग्रंथि के समीप आकर पुनः अनिष्ट परिणामों में बह जाता है। चोरों द्वारा गृहीत व्यक्ति की भांति है—ग्रन्थिकसत्त्व और इष्ट स्थान प्राप्त पुरुष की भांति है—अनिवृत्तिकरण से सम्यग्दर्शन को प्राप्त व्यक्ति।

५. पथ—पथच्युत व्यक्तियों के माध्यम से इस उदाहरण को समझाया गया है।

६. ज्वर—एक ज्वर ऐसा होता है, जो आता है और चला जाता है। एक ज्वर औषधोपचार से शान्त होता है और एक ज्वर ऐसा होता है, जो किसी भी उपाय से नष्ट नहीं होता। वैसे ही कभी मिथ्यादर्शन स्वतः चला जाता है, कभी वह जिनोपदेश से मिट जाता है और कभी वह मिटता ही नहीं।

७. कोद्वेक—कुछेक कोद्वेकों की मादकता काल के प्रभाव से मिट जाती है, कुछेक की मादकता गोबर आदि के परिकर्म से मिट जाती है और कुछेक की मिटती ही नहीं।

८. जल—जल के तीन भेद हैं—मलिन, अर्धशुद्ध तथा शुद्ध। इसी प्रकार दर्शन के भी तीन भेद करणों के आधार पर होते हैं।

९. वस्त्र—जैसे कोई वस्त्र मलिन होता है, कोई थोड़ा शुद्ध होता है और कोई पूर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों को जानना चाहिए (बृभा ९६-११०, आवहाटी. १ पृ. ५०, ५१, मटी प. ११३-११६)।

नदी के उपल। ३. पिपीलिका ४. पुरुष ५. पथ ६. ज्वर ७. कोद्व ८. जल ९. वस्त्र।

१०१. संसार से संयोग कराने वाले प्रथम चतुष्क अनन्तानुबंधी कषायों के उदय से भव-सिद्धिक जीव भी सम्यक्-दर्शन का लाभ प्राप्त नहीं कर सकते।

१०२. कषाय के दूसरे चतुष्क—अप्रत्याख्यानावरण के उदय से प्राणी सम्यग्दर्शन का लाभ प्राप्त कर सकता है परन्तु विरताविरति अर्थात् देशविरति की अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता।

१०३. कषाय के तीसरे चतुष्क प्रत्याख्यानावरण के उदय से प्राणी देशविरति के भी एक देश की विरति प्राप्त कर सकता है किन्तु चारित्र की प्राप्ति नहीं कर सकता।

१०४. मूलगुणों के घातक (अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी) कषायों के उदय से मूलगुणों की प्राप्ति नहीं हो सकती। संज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यात चारित्र की उपलब्धि नहीं होती।

१०५. (आलोचना से लेकर छेदपर्यन्त प्रायश्चित्त से शोध्य) सभी अतिचार संज्वलन कषाय के उदय से होते हैं। जो दोष मूल अर्थात् आठवें प्रायश्चित्त से शुद्ध होता है, वह दोष अनन्तानुबंधी आदि बारह प्रकार की कषाय-अवस्थाओं के उदय से होता है।

१०६-१०८. जब बारह प्रकार के कषायों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है, तब प्रशस्त योगों से चारित्र की उपलब्धि होती है। चारित्र के पांच भेद ये हैं—१. सामायिक २. छेदोपस्थापनीय ३. परिहारविशुद्धि ४. सूक्ष्मसंपराय ५. यथाख्यात। ये पांचों चारित्र समूचे जीव लोक में विश्रुत हैं। इनका पालन कर सुविहित मुनि अजरामर स्थान (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।

१०९. (पांच प्रकार के चारित्र में प्रथम तीन क्षयोपशमजन्य हैं तथा शेष दो उपशम अथवा क्षयजन्य हैं।) उपशम श्रेणी में कर्मों के उपशम का क्रम यह है—उपशम श्रेणी में आरूढ मुनि सबसे पहले अन्तर्मुहूर्त में एक साथ अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा उसके बाद एक साथ दर्शनत्रिक को उपशान्त करता है। यदि उपशम श्रेणी का प्रारंभक पुरुष है तो वह पहले नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादिषट्क तथा अंत में पुरुषवेद को उपशमित करता है। यदि प्रारंभिका स्त्री है तो उपशम का क्रम यह होगा—नपुंसकवेद, पुरुषवेद, हास्यादिषट्क, फिर स्त्रीवेद। यदि प्रारंभक नपुंसक है तो उपशमन का क्रम यह होगा—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, हास्यादिषट्क, नपुंसकवेद। फिर एकान्तरित प्रथम दो-दो सदृश विभाग क्रोध आदि एक साथ उपशान्त होते हैं। अर्थात्—वह मुनि सबसे पहले अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध—इन दो प्रकार के सदृश क्रोधों का एक साथ उपशमन करता है फिर अकेले संज्वलन क्रोध को। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण मान का उपशमन कर अकेले संज्वलन मान का उपशमन करता है। इसी प्रकार माया और लोभ के भी प्रथम दो-दो विभागों के साथ संज्वलन माया और लोभ का उपशमन करता है। (संज्वलन लोभ का उपशमन करता हुआ मुनि उसके तीन भाग करता है। वह दो भागों का एक साथ उपशमन करता है तथा तीसरे भाग का असंख्येय खंड कर एक-एक खंड को पृथक्-पृथक् काल में उपशान्त करता है। फिर संख्येय खंड के चरम खंड के असंख्य खंड कर सूक्ष्मसंपराय में वर्तमान मुनि एक-

एक खंड को पृथक्-पृथक् समय में उपशान्त करता है)।^१

११०. उपशमक अथवा क्षपक श्रेणी में वर्तमान सूक्ष्मसंपरायी मुनि लोभाणुओं का वेदन करता हुआ किंचित् न्यून यथाख्यात चारित्र्य होता है।

११०/१. उपशम श्रेणी में आरूढ़ महान् गुणी मुनि कषायों को उपशान्त कर देता है। वह जिनेश्वर देव के तुल्य चारित्र्य वाला होता है। उसको भी वे उपशान्त कषाय नीचे गिरा देते हैं तो फिर शेष सरागी व्यक्ति का तो कहना ही क्या?

११०/२. उपशान्त कषाय वाला व्यक्ति भी अनन्त प्रतिपातों (जन्म-मरणों) को पुनः प्राप्त करता है इसलिए कषाय की अल्पता में विश्वास नहीं करना चाहिए।

११०/३. ऋण, व्रण, अग्नि और कषाय की अल्पता पर विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि ये अल्प भी कालान्तर में बहुत हो जाते हैं।

१११-१११/२. क्षपकश्रेणी में क्षय का क्रम इस प्रकार है—अनन्तानुबंधी चतुष्क, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व इसके पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण—इस कषाय अष्टक का युगपद् क्षय प्रारम्भ हो जाता है। इन आठ प्रकृतियों के क्षयकाल के बीच में इन सत्तरह कर्म-प्रकृतियों का क्षय होता है—

१. नरकगतिनाम	७. त्रीन्द्रियजातिनाम	१३. साधारणवनस्पतिनाम
२. नरकानुपूर्वीनाम	८. चतुरिन्द्रियजातिनाम	१४. अपर्याप्तकनाम
३. तिर्यग्गतिनाम	९. आतपनाम	१५. निद्रानिद्रा
४. तिर्यगानुपूर्वीनाम	१०. उद्योतनाम	१६. प्रचला-प्रचला
५. एकेन्द्रियजातिनाम	११. स्थावरनाम	१७. स्त्यानर्द्धि
६. द्वीन्द्रियजातिनाम	१२. सूक्ष्मनाम	

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण आदि कषाय की अवशिष्ट आठ प्रकृतियों का क्षय करता है। (यह सारा अन्तर्मुहूर्त काल में संपन्न हो जाता है। फिर नपुंसक वेद, स्त्री वेद, हास्यादिषट्क और पुरुषवेद तथा संज्वलन कषाय आदि का क्षय होता है। श्रेणी की समाप्ति का काल भी अन्तर्मुहूर्त का ही होता है। अन्तर्मुहूर्त के असंख्येय भाग होते हैं। जब चरम लोभाणु का क्षय हो जाता है, तब यथाख्यात चारित्र्य की प्राप्ति होती है)।

१११/३, ४. तत्पश्चात् क्षपकश्रेणी प्राप्त निर्ग्रन्थ कुछ विश्राम करता है और जब छद्मस्थ वीतरागत्व के दो समय शेष रहते हैं तब वह पहले निद्रा फिर क्रमशः प्रचला, देवगति नाम, देवगतिआनुपूर्वीनाम, वैक्रियनाम, प्रथम संहनन के अतिरिक्त शेष पांच संहनन, प्राप्त संस्थान के अतिरिक्त शेष पांच संस्थान, तीर्थंकर नाम

१. दर्शन सप्तक के उपशान्त होने तक वह निवृत्तिबादर कहलाता है। उसके पश्चात् संख्येय के अंतिम दो चरम खंडों के उपशमन तक अनिवृत्तिबादर कहलाता है (आवहाटी १ पृ. ५५)।

तथा आहारकनामकर्म का क्षय करता है। (यदि प्रतिपत्ता तीर्थकर हो तो वह केवल आहारकनामकर्म का ही क्षय करता है)।

१११/५. चरम समय में ज्ञानावरणपंचक, चतुर्विध दर्शनावरण तथा पांच प्रकार के अंतराय का क्षय कर वह केवली होता है।

११२. फिर वह एकीभाव से सभी दिशाओं में सम्पूर्ण रूप से लोक-अलोक को देखता है। भूत, भविष्यद् और वर्तमान में ऐसा कोई भी ज्ञेय नहीं है, जिसे केवली न देखता हो।

११३. अब मैं जिन-प्रवचन की उत्पत्ति, प्रवचन के एकार्थक, एकार्थक के विभाग, द्वारविधि, नयविधि, व्याख्यानविधि तथा अनुयोग—इनका विवरण प्रस्तुत करूंगा।

११४. प्रवचन, श्रुत और अर्थ—ये तीनों एकार्थक हैं (लेकिन इनमें कुछ अंतर है)। इन तीनों के पांच-पांच एकार्थक हैं।

११५. श्रुतधर्म^१, तीर्थ^२, मार्ग^३, प्रावचन, प्रवचन—ये प्रवचन^४ के एकार्थक हैं। सूत्र, तंत्र, ग्रन्थ, पाठ और शास्त्र—ये सूत्र के एकार्थक हैं।

११६. अनुयोग के पांच एकार्थक हैं—अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा तथा वार्तिक^५।

११७. अनुयोग के सात निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, वचन और भाव।

११८. अननुयोग-अनुयोग के दृष्टान्त—

- द्रव्यअननुयोग-अनुयोग—वत्सक गौ^६ का दृष्टान्त।

१. आवहाटी १ पृ. ५८; सुगतिधारणाद् वा श्रुतं धर्मोऽभिधीयते—सुगतिधारण करने के कारण श्रुत को धर्म कहा है।

२. प्रवचन का आधारभूत होने के कारण तीर्थ को प्रवचन कहा गया है।

३. आत्मा का शोधन करने के कारण प्रवचन का एक पर्याय मार्ग है अथवा जिससे शिव—मोक्ष का अन्वेषण किया जाता है, वह मार्ग है (आवहाटी १ पृ. ५८)।

४. आवहाटी १ पृ. ५८; इह च प्रवचनं सामान्यश्रुतज्ञानम्। यहां सामान्य श्रुतज्ञान को प्रवचन कहा गया है।

५. अनुयोग—सूत्र का अर्थ के साथ अनुकूल और अनुरूप सम्बन्ध अनुयोग है।

नियोग—शब्द और अर्थ का नियत और निश्चित योग नियोग है, जैसे—घट शब्द के उच्चारण से घट का ही बोध होता है, पट का नहीं।

भाषा—भाषा के द्वारा अर्थ व्यक्त करना।

विभाषा—विविध प्रकार से व्याख्या करना अथवा पर्यायवाची शब्दों से वस्तु के स्वरूप का कथन करना।

वार्तिक—पद के सम्पूर्ण पर्याय का अर्थ-कथन (आवहाटी १ पृ. ५८)।

६. ग्वाला दूध का दोहन करते समय यदि काली गाय के बछड़े को सफेद गाय को चूघने के लिए छोड़ता है अथवा सफेद गाय के बछड़े को काली गाय को चूघने के लिए छोड़ता है तो न काली गाय दूध देती है और न सफेद गाय। वह दूध से वंचित रह जाता है, यह अननुयोग है। वह यदि तत्जात बछड़े को चूघने के लिए छोड़ता है तो उसे दूध मिलता है, यह अनुयोग है (आवहाटी १ पृ. ५९)।

- क्षेत्रअननुयोग-अनुयोग—कुब्जा^१ का दृष्टान्त ।
- कालअननुयोग-अनुयोग—स्वाध्याय^२ का दृष्टान्त ।
- वचनअननुयोग-अनुयोग—बधिरोल्लाप^३ तथा ग्रामेयक^४ का दृष्टान्त ।

११९. भावविषयक अननुयोग-अनुयोग के सात उदाहरण हैं—१. श्रावकभार्या^१ २. साप्तपदिक^२ ३. कौकणक दारक^३ ४. नकुल^४ ५. कमलामेला^५ ६. शांब का साहस^६ ७. श्रेणिक का कोष^७ ।

१२०. भाषक, विभाषक तथा व्यक्तिकर विषयक उदाहरण इस प्रकार हैं—१. काष्ठ २. पुस्त ३. चित्र ४. श्रीगृहिक ५. पुण्ड्र ६. देशिक^१ ।

१२१. प्रस्तुत दृष्टान्त आचार्य अथवा शिष्य या दोनों के एक साथ हैं—१. गाय^२ २. चंदनकंथा^३ ३. चेटी^४ ४. श्रावक^५ ५. बधिर पुरुष^६ ६. टंकणक^७ ।

१२२. वह शिष्य किसके लिए अप्रीतिकर नहीं होता, जो श्रुतसंपदा से संपन्न नहीं है, निरूपकारी है, स्वच्छंदमति है, संयम से उत्प्रव्रजित होने वालों का साथ देने वाला है तथा स्वयं उत्प्रव्रजन के लिए समुद्यत है ।

१२३. जो विनयावनत, कृतप्राञ्जलि, गुरु के अभिप्रायानुसार वर्तन करने वाला, गुरुजनों का आराधक होता है, उसे गुरु विविध प्रकार का ज्ञान शीघ्र करा देते हैं ।

१-११. देखें परि. ३ कथाएं ।

१२. सामायिक आदि सूत्र को काष्ठ आदि दृष्टान्तों से उपमित किया है—

काष्ठकर्म—जैसे कोई बड़ई काष्ठ को कुछ आकार देता है । कोई बड़ई आकार विशेष के स्थूल अवयवों का निष्पादन करता है । कोई उस आकार के समस्त अंगोपांग का निर्माण करता है । इसी प्रकार भाषक सामायिक का स्थूल अर्थमात्र करता है । विभाषक उसका विभिन्न प्रकार से अर्थ करता है तथा व्यक्तिकर सामायिक की व्युत्पत्ति, अतिचार, अनतिचार, फल आदि का निरूपण करता है । उसी प्रकार पुस्तकर्म, चित्रकर्म आदि के उदाहरण समझने चाहिए ।

पुस्तकर्म—कोई केवल पुस्त का आकारमात्र बनाता है, कोई स्थूल अवयवों का निष्पादन करता है तथा कोई उसे संपूर्ण आकार में परिवर्तित कर देता है ।

चित्रकर्म—कोई तूलिका से इष्टचित्र का आकार मात्र बनाता है । कोई हरिताल आदि से अवयवों की भिन्नता दिखाता है तथा कोई संपूर्ण चित्र बना देता है ।

श्रीगृहिक—कोई भांडागारिक केवल रत्नों के भाजन मात्र को जानता है, कोई उन रत्नों को अच्छे या बुरे रूप में पहचानता है तथा कोई उनके गुणों का ज्ञाता होता है ।

पुंडरीक—कोई पद्म को ईषद् विकसित, कोई अर्ध विकसित और कोई पूर्ण विकसित रूप में जानता है ।

देशिक—कोई मार्गदर्शक मार्ग की दिशामात्र बताता है । कोई उस मार्ग पर स्थित ग्राम, नगर आदि की अवस्थिति बताता है तथा कोई उन ग्राम, नगरों के दोष और उनकी विशेषताएं भी बताता है ।

इन सब में भाषक, विभाषक तथा व्यक्तिकर की समायोजना करनी चाहिए (आवहाटी १ पृ. ६४) ।

१३-१५. देखें परि. ३ कथाएं ।

१६, १७. श्रावक और बधिर पुरुष ये दोनों कथाएं पहले आ चुकी हैं श्रावक के लिए देखें कथा सं. १४ श्रावकभार्या तथा बधिरपुरुष के लिए देखें कथा सं. १२ बधिरोल्लाप ।

१८. देखें परि. ३ कथाएं ।

१२४. शिष्य की परीक्षा के ये उदाहरण हैं—१. शैलघन २. कुटक (घट) ३. चालनी ४. परिपूर्णक
५. हंस ६. महिष ७. मेष ८. मशक ९. जलूक १०. विडाली ११. जाहक १२. गाय १३. भेरी
१४. आभीरी।

१. शैलघन—मुद्गशैल का उदाहरण देखें परि. ३ कथाएं।

कुट—घट चार प्रकार के होते हैं—

१. छिद्र घट—अधोभाग में छिद्रयुक्त घट।

२. खण्ड घट—एक पार्श्व से खंडित।

३. कण्ठहीन घट—ग्रीवारहित घट।

४. सम्पूर्ण घट—परिपूर्ण घट।

घट की भांति शिष्य भी चार प्रकार के होते हैं—

- जो शिष्य व्याख्यान-मंडली में प्रविष्ट होने पर समझता है पर वहां से उठने पर कुछ भी याद नहीं रखता, वह छिद्रघट के समान है।
- जो शिष्य व्याख्यान-मंडली में प्रविष्ट होकर आधा, तिहाई या चौथाई अंश ग्रहण करता है, वह खण्ड घट के समान है।
- जो शिष्य व्याख्यान-मंडली में प्रायः सूत्र और अर्थ को ग्रहण कर लेता है और बाद में भी स्मृति में रखता है, वह कंठहीन घट के समान है।
- जो शिष्य सूत्र और अर्थ को समग्र रूप से ग्रहण करता है, वह सम्पूर्ण घट के समान है।

चालनी—जिसके एक कान से सूत्रार्थ का प्रवेश होता है और दूसरे से निकल जाता है, वह शिष्य चालनी के समान होता है। बृहत्कल्प भाष्य (गा. ३४३, ३४४ टी. पृ. १०३) में रूपक के रूप में एक संवाद मिलता है। एक बार मुद्गशैलतुल्य, छिद्रकुटतुल्य और चालनीतुल्य—ये तीनों शिष्य आपस में मिले। उन्होंने आपस में श्रवण की अवधारणा के बारे में बातचीत की। छिद्रकुटतुल्य शिष्य बोला—‘स्वाध्याय-मंडली में तो मुझे लगभग ग्रहण हो जाता है लेकिन वहां से उठते ही सब कुछ भूल जाता हूं।’ चालनीतुल्य शिष्य बोला—‘मैं एक कान से सुनता हूं लेकिन दूसरे कान से निकल जाता है।’ अंत में मुद्गशैलतुल्य शिष्य बोला—‘तुम दोनों धन्य हो, जो तुम्हारे कान में सूत्रार्थ गृहीत तो होता है। मेरे तो कानों में सूत्रार्थ का प्रवेश भी नहीं होता।’

परिपूर्णक और हंस—बया के घोंसले से जब घी छाना जाता है तो कचरा उसमें रह जाता है और घी नीचे आ जाता है। परिपूर्णक के समान शिष्य वाचना के दोषों को ग्रहण करते हैं। हंस के समान शिष्य दोषों को छोड़कर सारग्राही होते हैं। **महिष और मेष**—महिष आलोड़न-विलोड़न के द्वारा तालाब के पानी को कलुषित कर देता है। वह न स्वयं पानी पी सकता है और न ही उस पानी को दूसरे महिष पी सकते हैं। इसी प्रकार अयोग्य शिष्य अप्रासंगिक और असंबद्ध प्रसंगों तथा कलह आदि के द्वारा न स्वयं श्रुत का लाभ लेता है और न दूसरों को लाभ करने देता है। मेष अत्यल्प पानी को भी बिना हिलाए धीरे-धीरे पी लेता है। मेष के समान शिष्य गुरु के पास सम्यग् रूप से श्रुत-ग्रहण करते हैं और दूसरों को भी श्रुत-ग्रहण में बाधा नहीं पहुंचाते।

मशक और जलौका—मच्छर की भांति गुरु को व्यथित करने वाला शिष्य अथवा श्रोता। जलौका शरीर का खून पीने पर भी कष्ट नहीं देती। इसी प्रकार योग्य शिष्य गुरु को व्यथित किए बिना श्रुतज्ञान प्राप्त करता है।

मार्जारी और जाहक—मार्जारी दूध को नीचे गिराकर फिर पीती है वैसे ही अयोग्य शिष्य परिषद् में वाचना ग्रहण न करके परिषद् से आए शिष्यों से सूत्रार्थ की जिज्ञासा करता है।

जाहक (कांटों वाला चूहा)—जैसे जाहक थोड़ा-थोड़ा दूध पीकर किनारे को चाटता रहता है। दूध की एक बूंद भी नीचे नहीं गिरने देता, उसी प्रकार बुद्धिमान् शिष्य गुरु के पास जो श्रुत ग्रहण करता है, उसे अच्छी तरह परिचित करता है फिर नया श्रुत ग्रहण करता है। इससे गुरु को भी क्लान्ति नहीं होती।

गाय, भेरी और आभीरी के दृष्टान्तों के लिए देखें परि. ३ कथा सं. २६, २२, २७ (१), २७ (२) (विधामहे गा. १४६२-८२, बृभा ३४२-६१, आवहाटी. १ पृ. ६७-६९)।

१२५, १२६. उपोद्घात के २६ अंग हैं—

१. उद्देश	१०. नय	१९. कितने समय तक ?
२. निर्देश	११. समवतारणा	२०. कितने ?
३. निर्गम	१२. अनुमत	२१. सान्तर
४. क्षेत्र	१३. क्या ?	२२. अविरहित
५. काल	१४. कितने प्रकार ?	२३. भव
६. पुरुष	१५. किसका ?	२४. आकर्ष
७. कारण	१६. कहाँ ?	२५. स्पर्शना
८. प्रत्यय	१७. किसमें ?	२६. निरुक्ति
९. लक्षण	१८. कैसे ?	

१२७. उद्देश के आठ निक्षेप हैं—१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. क्षेत्र ५. काल ६. समास (अंग, श्रुतस्कंध, अध्ययन) ७. उद्देशोद्देश (अध्ययन का विषय) ८. भाव।

१२८. इसी प्रकार निर्देश के भी आठ प्रकार होते हैं। उद्देश सामान्य कथन और निर्देश विशेष कथन है।

१२९. नैगम नय से दोनों प्रकार का निर्देश होता है—निर्देश्य और निर्देशक। संग्रह और व्यवहार नय से निर्दिष्ट वस्तु के आधार पर निर्देश होता है। ऋजुसूत्र नय में निर्देशक के आधार पर निर्देश होता है। शब्दनय में निर्देश्य और निर्देशक दोनों समान हो जाते हैं।

१३०. निर्गम के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

१३१. वर्द्धमान के जीव ने अटवी में भटकते हुए मुनियों को मार्ग बताया, उनका प्रवचन सुना, इससे उसको सम्यक्त्व का पहला लाभ मिला।^१

१३१/१. सुविहित मुनियों की अनुकंपा से सम्यक्त्व प्राप्त कर वह जीव दीप्तिमान् शरीर धारण कर वैमानिक देव बना।

१३१/२. देवलोक से च्युत होकर वह जीव इसी भारतवर्ष में इक्ष्वाकु कुल में ऋषभ का पौत्र मरीचि बना।

१३२. भरत का पुत्र मरीचि इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न हुआ। कुलकर-परम्परा के अतिक्रान्त होने पर इक्ष्वाकु कुल की उत्पत्ति हुई।

१३३, १३४. इस अवसर्पिणी के तीसरे आरे—सुषम-दुःषमा के अन्तिम भाग में पत्न्योपम का आठवां भाग अवशिष्ट रहने पर कुलकरों की उत्पत्ति हुई। अर्धभरत^२ के मध्यवर्ती तीसरे भाग में, गंगा और सिंधु नदी के

१. देखें परि. ३ कथाएं।

२. आवहाटी १ पृ. ७३; अर्ध भरतं विद्याधरालयवैताद्वयपर्वतादारतो गृह्यते—वैताद्वय पर्वत से पहले का क्षेत्र अर्धभरत, कहलाता है।

मध्यवर्ती क्षेत्र में, बहुमध्यदेश (अर्थात् पर्यन्त में नहीं) में सात कुलकर उत्पन्न हुए।

१३५. कुलकरों के पूर्वभव, जन्म, नाम, प्रमाण, संहनन, संस्थान, वर्ण, स्त्रियां (पत्नियां), आयु, भाग (किस वयोभाग में कुलकर बने), भवनपति निकाय में उपपात तथा उनके द्वारा प्रवर्तित नीति का कथन करना चाहिए।

१३५/१, २. अपरविदेह में दो वणिक मित्र थे। एक मायी और दूसरा ऋजु था। मरकर इसी भरत क्षेत्र में एक हाथी हुआ और दूसरा मनुष्य बना। मिथुनक को देखकर हाथी के मन में स्नेह, गज पर आरोहण, विमलवाहन नाम की निष्पत्ति, परिहानि, गृद्धि, कलह, पर्यालोचन, विज्ञापन तथा 'हाकार' नीति का प्रवर्तन।

१३५/३. पहले कुलकर विमलवाहन, दूसरे चक्षुष्मान्, तीसरे यशस्वी, चौथे अभिचन्द्र, पांचवें प्रसेनजित्, छठे मरुदेव तथा सातवें नाभि—ये सात कुलकर हुए।

१३५/४. कुलकरों का प्रमाण (देह-परिमाण) इस प्रकार है—

विमलवाहन—नौ सौ धनुष।	प्रसेनजित्—छह सौ धनुष।
चक्षुष्मान्—आठ सौ धनुष।	मरुदेव—साढ़े पांच सौ धनुष।
यशस्वी—सात सौ धनुष।	नाभि—पांच सौ पचीस धनुष।
अभिचन्द्र—साढ़े छह सौ धनुष।	

१३५/५. सभी कुलकर वज्रऋषभनाराच संहनन तथा समचतुरस्र संस्थान वाले होते हैं। अब मैं प्रत्येक का जो वर्ण था, उसका निरूपण करूंगा।

१३५/६. चक्षुष्मान्, यशस्वी तथा प्रसेनजित् कुलकर का वर्ण प्रियंगु के समान था। अभिचन्द्र चन्द्रमा की तरह गौर तथा शेष कुलकर स्वर्ण आभा वाले थे।

१३५/७. कुलकर की पत्नियों के क्रमशः ये नाम हैं—चन्द्रयशा, चन्द्रकान्ता, सुरूपा, प्रतिरूपा, चक्षुःकान्ता, श्रीकान्ता तथा मरुदेवी।

१३५/८. इन कुलकर की पत्नियों का संहनन, संस्थान तथा ऊंचाई—यह सब कुलकरों के समान होती हैं। सभी कुलकर पत्नियां एक वर्णवाली अर्थात् प्रियंगु वर्ण वाली होती हैं।

१३५/९. प्रथम कुलकर विमलवाहन का आयुष्य पल्योपम का दसवां भाग था। शेष चक्षुष्मान् आदि कुलकरों का क्रमशः कम होते-होते असंख्येय पूर्व का और क्रमशः हीन होते हुए अन्तिम कुलकर नाभि का आयुष्य संख्येय पूर्व का रहा।

१३५/१०. जितना आयुष्य कुलकरों का था उतना ही आयुष्य उनकी पत्नियों का तथा उनके हाथियों का था।

१३५/११. जिस कुलकर का जितना आयुष्य होता है, उसके दस समान विभाजन कर (प्रथम और अन्तिम को छोड़कर) मध्य के आठ भाग का तीसरा भाग कुलकर-काल जानना चाहिए।

१३५/१२. कुलकर की आयुष्य के दस समान भागों में पहला भाग कुमार-काल तथा दसवां भाग वृद्धत्व का होता है। उनमें राग-द्वेष प्रतनु होता है अतः सब कुलकर मरकर देवरूप में उत्पन्न होते हैं।

१३५/१३. विमलवाहन और चक्षुष्मान्—ये दो कुलकर सुपर्णकुमार देवरूप में, यशस्वी और अभिचन्द्र—ये दो उदधिकुमार देव रूप में, प्रसेनजित् और मरुदेव—द्वीपकुमार देव रूप में तथा नाभि नागकुमार देव रूप में उत्पन्न हुए।

१३५/१४. कुलकरों के हाथी तथा प्रथम छह कुलकरों की छह पत्नियां नागकुमार देवलोक में उत्पन्न हुईं। अंतिम कुलकर नाभि की पत्नी मरुदेवी सिद्ध गति को प्राप्त हुई।

१३५/१५. कुलकर तीन नीतियों का प्रवर्तन करते हैं—हाकार, माकार और धिक्कार। उनका विशेष विवरण यथाक्रम तथा परिपाटी से कहूंगा।

१३५/१६. पहले और दूसरे कुलकर ने हाकार नीति का, तीसरे और चौथे कुलकर ने माकार नीति का प्रवर्तन किया। इसमें अभिनव बात यह है कि वे स्वल्प अपराध में प्रथम दंडनीति (हाकार) का तथा बड़े अपराध में द्वितीय दंडनीति (माकार) का प्रयोग करते थे। पांचवें, छठे तथा सातवें कुलकर लघु अपराध में 'हाकार', मध्यम अपराध में 'माकार' तथा उत्कृष्ट अपराध में 'धिक्कार'—दंडनीतियों का प्रयोग करते थे।

१३५/१७. भरत चक्रवर्ती ने माणवक निधि से शेष दंडनीतियों का प्रवर्तन किया। ऋषभ ने 'गृहवास में असंस्कृत आहार अर्थात् स्वभाव निष्पन्न आहार ही लिया था।'^१

१३६. उनकी पत्नी मरुदेवा से उत्तराषाढा नक्षत्र में ऋषभ का जन्म हुआ। वे पूर्वभव में वज्रनाभ (वैरनाभ) नाम के राजा थे। (तीर्थंकर नामगोत्र का बंध कर प्रव्रज्या ग्रहण कर) वे मरकर सर्वार्थ सिद्धि विमान में उत्पन्न हुए और वहां से च्युत होकर ऋषभ के रूप में उनकी उत्पत्ति हुई।

१३६/१. धन सार्थवाह, घोषणा, यतिगमन, अटवी में वर्षा प्रारम्भ होने से वहीं अवस्थिति, वर्षावास बहुत बीत जाने पर धन की चिन्ता, तब मुनि को घृतदान।^२

१. आवहाटी १ पृ. ७६ ; देवेन्द्रादेशदेवाः देवकुरुत्तरकुरुक्षेत्रयोः स्वादूनि फलानि क्षीरोदाच्चोदकमुपनीतवन्तः— देवेन्द्र के आदेश से देवता ऋषभ के लिए देवकुरु-उत्तरकुरु से स्वादिष्ट फल तथा क्षीर समुद्र से पानी लाते थे।

२. देखें परि. ३ कथाएं।

१३६/२. उत्तरकुरु से सौधर्म देवलोक में देव, वहां से महाविदेह क्षेत्र में वैद्यपुत्र। उसी दिन—राजपुत्र, श्रेष्ठीपुत्र, अमात्यपुत्र तथा सार्थवाहपुत्र की उत्पत्ति, कालान्तर में ये चारों मित्र हुए।

१३६/३, ४. वैद्यपुत्र के घर में कृमिकुष्ठ से उपद्रुत मुनि को देखकर मित्रों ने वैद्यपुत्र से कहा कि तुम मुनि की चिकित्सा करो। वैद्यपुत्र ने तैल दिया, वणिक् ने रत्नकंबल और गोशीर्ष चंदन देकर अभिनिष्क्रमण किया और उसी भव में अन्तकृत बना।

१३६/५-८. साधु की चिकित्सा कर, श्रामण्य ग्रहण, उनका देवलोकगमन। पौंडरिकिणी देवलोक से च्युत होकर वे वैरसेन के पांच पुत्र बने—पहला वज्रनाभ, दूसरा बाहु, तीसरा सुबाहु, चौथा पीठ और पांचवां महापीठ। उनके पिता वैरसेन तीर्थकर बने। वे पांचों पिता के पास प्रव्रजित। वज्रनाभ ने १४ पूर्व तथा शेष चार ने ग्यारह अंग पढ़े। बाहु वैयावृत्य और सुबाहु कृतिकर्म में संलग्न हुआ। तीर्थकर द्वारा भोगफल का कथन और बाहु की प्रशंसा। इससे पीठ और महापीठ को अप्रीति। पहले पुत्र वज्रनाभ ने बीस स्थानों से तीर्थकरत्व की प्राप्ति की।^१

१३६/९-११. तीर्थकरत्व की प्राप्ति के ये बीस सूत्र हैं—

१. अर्हत् का गुणोत्कीर्तन।	११. आवश्यक आदि अवश्यकरणीय संयमानुष्ठान।
२. सिद्ध की स्तवना।	१२. व्रतों का निरतिचार पालन।
३. प्रवचन पर आस्था।	१३. क्षण-लव-में ध्यान तथा भावना का सतत आसेवन।
४. गुरु-भक्ति।	१४. तप—यथाशक्ति तपस्या करना।
५. स्थविर-सेवा।	१५. त्याग—साधु को प्रासुक एषणीय दान।
६. बहुश्रुत-पूजा।	१६. दस प्रकार का वैयावृत्य।
७. तपस्वी का अनुमोदन।	१७. गुरु आदि को समाधि देना।
८. अभीक्षण—अनवरत ज्ञानोपयोग।	१८. अपूर्वज्ञानग्रहण।
९. निरतिचार सम्यक्त्व।	१९. श्रुतभक्ति।
१०. ज्ञान आदि का विनय।	२०. प्रवचन की प्रभावना।

१३६/१२. प्रथम और अन्तिम तीर्थकर ने उपर्युक्त सारे स्थानों का स्पर्श किया। मध्यवर्ती तीर्थकरों ने एक-दो-तीन अथवा सभी स्थानों का स्पर्श किया।

१३६/१३. प्रश्न है कि तीर्थकरनामगोत्र कर्म का वेदन कैसे होता है? इसका समाधान यह है—अग्लानभाव से धर्मदेशना आदि देने के द्वारा उसका वेदन होता है। तीर्थकर इसका बंध वर्तमान भव से पूर्व के तीसरे भव

१. देखें परि. ३ कथाएं।

का अवसर्पण होने पर करते हैं।^१

१३६/१४. नियमतः मनुष्य गति में शुभलेश्या वाले स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक, जिन्होंने इन बीस स्थानों में से किसी एक का भी अनेक बार स्पर्श किया हो, उनके तीर्थकर गोत्र का बंध होता है।

१३६/१५. बाहु, सुबाहु आदि पांचों सर्वार्थसिद्ध देवलोक में उत्पन्न हुए। सबसे पहले ऋषभ का जीव वहां से उत्तराषाढा नक्षत्र में आषाढ कृष्णा चतुर्थी को च्युत हुआ।

१३७. जन्म, नामकरण, वृद्धि, जातिस्मरण, विवाह, अपत्य, अभिषेक तथा राज्यसंग्रहण—इन विषयों का विवरण प्रस्तुत है।

१३७/१. चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन आषाढा नक्षत्र में ऋषभ का जन्म हुआ। जन्म-महोत्सव से घोषणा पर्यन्त सारा वर्णन ज्ञातव्य है।

१३७/२. जन्म महोत्सव के समय दिक्कुमारियां संवर्तक मेघ की विकुर्वणा करती हैं तथा दर्पण, भृंगार और तालवृन्त को लेकर खड़ी रहती हैं। कुछ दिक्कुमारियां चामर और ज्योति की रक्षा करती हैं।^२

१३७/३. बालक ऋषभ कुछ कम एक वर्ष के हुए तब शक्र के आने पर इक्ष्वाकु वंश^३ की स्थापना हुई। देवता मनोज्ञ आहार को बालक के अंगूठे पर स्थापित कर देते हैं।^४ (बालक तीर्थकर स्तनपान नहीं करते, भूख लगने पर अंगूठा चूसते हैं)।

१३७/४. वंश स्थापना के लिए इंद्र के आने पर वह भगवान् से इक्षु ग्रहण करने के लिए पूछता है। भगवान् के हां कहने पर इक्ष्वाकु वंश की स्थापना होती है।^५ जो वस्तु जिस प्रकार से, जिस अवस्था में योग्य थी, शक्र ने वह सारा संपादित किया।

१३७/५. देवलोक से च्युत भगवान् ऋषभ अतुल श्री से बढ़ने लगे। देवगण से परिवृत शक्र वहां आया और नंदा तथा सुमंगला के साथ भगवान् का विवाह रच डाला।^६

१. आवहाटी. १ पृ. ८० ; तीर्थकर नामगोत्र कर्म की उत्कृष्ट बंध स्थिति एक कोटाकोटि सागरोपम है। जिस भव में इसका बंध होता है, उस समय से लेकर अपूर्वकरण (क्षपकश्रेणी) के संख्येय भाग तक इस कर्मप्रकृति का सतत उपचय होता है और केवलज्ञान की अवस्था में इसका उदय होता है। तीर्थकर जिस भव में इस कर्म का बंध करते हैं, उसके पश्चात् तीसरे भव में अवश्य इसका वेदन कर मुक्त हो जाते हैं।

२,३. देखें परि. ३ कथाएं।

४. आवहाटी. १ पृ. ८४ ; एवमितक्रान्तबालभावस्तु अग्निपक्वं गृह्णन्ति, ऋषभनाथस्तु प्रब्रज्यामप्रतिपन्नो देवोपनीतमेवाहारमुपभुक्तवान्—सभी तीर्थकर शैशव अतिक्रान्त होने पर अग्नि में पका हुआ भोजन करते हैं लेकिन भगवान् ऋषभ ने यह भोजन नहीं किया। उन्होंने प्रब्रज्या से पूर्व देवों द्वारा आनीत उत्तरकुरु भूमि के स्वादिष्ट फलों का आहार किया।

५. आवहाटी. १ पृ. ८४ ; जीतमेतं अतीतपच्युप्पण्णमणागयाणं सक्काणं देविंदाणं पढमत्तिथगराणं वंसदुवणं करेतएत्ति.....जम्हा तित्थगरो इक्खू अहिलसइ, तम्हा इक्खागवंसो भवउ, पुव्वगा य भगवओ इक्खुरसं पिबिवाइया तेण गोत्तं कासवं ति। इंद्र प्रथम तीर्थकर के वंश की स्थापना करते हैं—यह परम्परा है। इंद्र ने सोचा कि ऋषभ को इक्षु प्रिय है इसलिए इस वंश का नाम इक्ष्वाकु रहेगा। ऋषभ के पूर्वज इक्षुरस पीते थे अतः वे काश्यपगोत्री कहलाए।

६. देखें परि. ३ कथाएं।

१३७/६. भगवान् के केश काले थे। उनकी आंखें सुन्दर, ओष्ठ बिम्ब-फल की भांति रक्त और दांतों की पंक्ति धवल थी। वे श्रेष्ठ पद्मगर्भ की भांति गौर वर्ण वाले तथा विकसित कमल की गंध युक्त निःश्वास वाले थे।

१३७/७. भगवान् जातिस्मृति ज्ञान से युक्त थे। भगवान् के तीनों ज्ञान—मति, श्रुत तथा अवधि अप्रतिपाती थे। वे मनुष्यों से कान्ति और बुद्धि में बहुत अधिक थे।

१३७/८. उस समय युगल रूप में उत्पन्न एक बालक की ताड़फल से मृत्यु हो गई। यह पहली अकालमृत्यु थी। नाभि कुलकर को कन्या के विषय में निवेदन करने पर उन्होंने उस कन्या को ऋषभ की पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया।

१३७/९. भगवान् को भोग-समर्थ जानकर देवेन्द्र ने भगवान् का वरकर्म किया और देवियों ने दोनों महिलाओं—नंदा और सुमंगला का वधूकर्म किया।

१३७/१०. जब भगवान् का आयुष्य छह लाख पूर्व का हुआ, तब भरत, ब्राह्मी, सुन्दरी और बाहुबलि—ये चारों उत्पन्न हुए।

१३७/११, १२. कालान्तर में सुमंगला ने उनपचास युगलों को जन्म दिया। उस समय के अन्यान्य युगल हाकारादि नीतियों का अतिक्रमण करने लगे। लोगों ने ऋषभ को निवेदन किया। भगवान् ने कहा—‘राजा दंड देता है।’ यह कहने पर लोगों ने कहा—‘हमारे भी एक राजा हो।’ भगवान् ने कहा—‘कुलकर नाभि से राजा की मांग करो।’ उन्होंने कुलकर से राजा की मांग की तब कुलकर नाभि ने कहा—‘तुम्हारा राजा ऋषभ है।’^१

१३७/१३. अवधिज्ञान से उपयोग लगाकर इंद्र ने वहां आकर भगवान् का अभिषेक किया। उसने नरेन्द्र के योग्य मुकुट आदि अलंकारों से ऋषभ को अलंकृत किया।

१३७/१४. लोगों ने कमलिनी पत्रों से पानी लाकर ऋषभ के पैरों पर छिड़का, यह देखकर देवराज इंद्र बोला—‘इस नगरी के पुरुष अच्छे विनीत हैं इसलिए इस नगरी का नाम विनीता रखा जाए।’^२

१३७/१५, १६. उस समय राजा ऋषभ ने राज्य-संग्रह के निमित्त अश्व, हाथी और गायों का संग्रहण किया। इन चतुष्टयों का ग्रहण कर भगवान् ने चार प्रकार का संग्रह किया—उग्र, भोग, राजन्य तथा क्षत्रिय। आरक्षक वर्ग उग्र, गुरुस्थानीय भोग, वयस्य राजन्य तथा शेष क्षत्रिय कहलाए।

१. देखें परि. ३ कथाएं।

२. आवहाटी. १ पृ. ८५; वैश्रमणं यक्षराजमाज्ञापितवान्—इह द्वादशयोजनदीर्घा नवयोजनविष्कम्भा विनीतनगरं निष्पादयेति, स चाज्ञासमनन्तरमेव दिव्यभवनप्राकारमालोपशोभितां नगरं चक्रे—इन्द्र ने वैश्रमण देव को आज्ञा दी कि बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी विनीता नगरी का निर्माण करो। वैश्रमण देव ने आज्ञा प्राप्त करते ही दिव्य भवन और प्राकारों से शोभित नगरी का निर्माण किया।

१३८-१४१. महाराजा ऋषभ ने निम्नोक्त कलाओं का प्रशिक्षण दिया—

१. आहार	२१. मारणा—मृत्युदंड
२. शिल्प	२२. यज्ञ
३. कर्म—कृषि, वाणिज्य आदि	२३. उत्सव
४. मामणा—परिग्रह के प्रति ममकार।	२४. समवाय—गोष्ठी आदि का प्रचलन
५. विभूषणा	२५. मंगल—स्वस्तिक आदि
६. लेख—लिपिविधान	२६. कौतुक—रक्षा के लिए किए जाने वाले उपाय।
७. गणित	२७. वस्त्र—चीनांशुक आदि
८. रूप—काष्ठकर्म आदि	२८. गंध—कोष्ठपुट आदि
९. लक्षण—पुरुष के लक्षण आदि	२९. माल्य—पुष्पमालाएं
१०. मान—मानोन्मान	३०. अलंकार—केश, भूषण आदि।
११. प्रोतन—भोतियों की माला आदि पिरोना	३१. चोल—चूडाकर्म
१२. व्यवहार—न्याय करना	३२. उपनयन—विद्या का प्रारंभ
१३. नीति—हाकारादि	३३. विवाह
१४. युद्धशास्त्र	३४. भिक्षादान
१५. धनुर्वेद	३५. मृतकपूजा
१६. उपासना—नापितकर्म	३६. ध्यापना—अग्निसंस्कार
१७. चिकित्सा	३७. स्तूप-निर्माण
१८. अर्थशास्त्र	३८. शब्द—मृतक के पीछे रोने की प्रथा
१९. बंध—सांकल आदि से बांधना	३९. छेलापनक—बालक्रीडनक इंखणिका आदि
२०. घात—डंडे आदि से मारना	४०. प्रच्छना—निमित्त आदि पूछना।

१४१/१. शिल्प के पांच प्रकार हैं—

१. घट—कुंभकारशिल्प।	४. णत—वस्त्रशिल्प।
२. लोह—लोहकारशिल्प।	५. काश्यप—नापितशिल्प।
३. चित्र—चित्रकारशिल्प।	

इनमें प्रत्येक शिल्प के बीस-बीस भेद हैं।

१४२-१४५. ऋषभ चरित्र के प्रकरण में प्रतिपादित संबोधन आदि विषय सभी जिनेश्वर देवों के समान कहे गए हैं। यहां ऋषभ से संबंधित संबोधन आदि विषयों का प्रतिपादन किया जाएगा। वे विषय ये हैं—

१. संबोधन	४. उपधि
२. परित्याग	५. अन्यलिंग अथवा कुलिंग में निष्क्रमण?
३. प्रत्येक—कितने व्यक्तियों के साथ अभिनिष्क्रमण?	६. ग्राम्याचार

१. देखें परि. ३ कथाएं।

७. परीषह	१५. संग्रह—शिष्य-संपदा
८. जीवोपलम्भ	१६. तीर्थ
९. श्रुतलाभ	१७. गण
१०. प्रत्याख्यान	१८. गणधर
११. संयम	१९. धर्मोपायदेशक—द्वादशांग अथवा पूर्वों के उपदेशक
१२. छद्मस्थ अवस्था	२०. पर्याय—संयमपर्याय
१३. तपःकर्म	२१. किस तीर्थकर की किस तपस्या में अंतर्क्रिया।
१४. ज्ञानोत्पाद	

१४६. सभी तीर्थकर स्वयंबुद्ध होते हैं। लोकान्तिक देव अपने जीतकल्प के अनुसार उन्हें प्रतिबोधित करते हैं। सभी तीर्थकर सांवत्सरिक दान देकर गृह-परित्याग करते हैं।

१४७. राज्य आदि का त्याग भी परित्याग है। प्रत्येक अर्थात् कौन तीर्थकर कितने व्यक्तियों के साथ प्रव्रजित हुए? किसकी क्या उपधि थी? कौन सी उपधि किन शिष्यों के लिए अनुज्ञात थी? यह भी ज्ञातव्य है।

१४७/१, २. सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अब्याबाध, अग्नि, रिष्ट—ये लोकान्तिक देवनिकाय जिनेश्वर देव को प्रतिबोधित करते हैं। वे कहते हैं—‘भगवन्! समस्त जीवों के हित के लिए आप तीर्थ का प्रवर्तन करें।’

१४७/३. जिनेश्वरदेव संवत्सर महादान के पश्चात् अभिनिष्क्रमण करते हैं। वे पूर्वाह्न में महादान देते हैं।

१४७/४. तीर्थकरों द्वारा सूर्योदय से प्रातराश तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान दिया जाता है।

१४७/५, ६. सुर-असुर, देव, दानव और नरेन्द्र द्वारा पूजित तीर्थकरों के अभिनिष्क्रमण के समय महादान की विधि का स्वरूप इस प्रकार होता है—श्रृंगाटकमार्ग, त्रिकमार्ग, चतुष्कमार्ग, चत्वर तथा चतुर्मुखमार्ग, महापथ, नगरद्वार तथा गली के प्रवेशमार्गों के मध्य—इन सब स्थानों पर वरवरिका^१—‘वर मांगो, वर मांगो’ की तथा किमिच्छक^२—‘कौन क्या चाहता है, उसे वही वस्तु अनेक विधियों से दी जाएगी’ घोषणा की जाती है।

१४७/७. प्रत्येक तीर्थकर एक साल में तीन सौ अट्ठासी करोड़ अस्सी लाख हिरण्य का दान देते हैं।

१४७/८-१०. महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, मल्लि तथा वासुपूज्य—इन पांच तीर्थकरों को छोड़कर शेष सभी तीर्थकर पहले राजा बने। ये पांचों तीर्थकर विशुद्ध वंश तथा क्षत्रियकुल के राजकुल से संबंधित थे। इनका ईप्सित^३ राज्याभिषेक नहीं हुआ तथा सभी कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए। शांतिनाथ, अरनाथ तथा

१. वरं याचध्वं वरं याचध्वमित्येवं घोषणा समयपरिभाषया वरवरिकोच्यते (आवहाटी १ पृ. ९१)।

२. यो यदिच्छति तस्य तद्दानं समयत एव किमिच्छकमुच्यते (आवहाटी १ पृ. ९१)।

३. देखें १४७/९ वीं गाथा का टिप्पण।

कुंथुनाथ—ये तीनों पहले चक्रवर्ती और फिर तीर्थकर बने। अवशेष तीर्थकर मांडलिक राजा थे।

१४८, १४९. भगवान् महावीर अकेले, भगवान् पार्श्व तथा मल्लिनाथ तीन-तीन सौ व्यक्तियों के साथ, भगवान् वासुपूज्य छह सौ व्यक्तियों के साथ, भगवान् ऋषभ चार हजार उग्र, भोज, राजन्य और क्षत्रियों के साथ तथा शेष तीर्थकर हजार-हजार व्यक्तियों के साथ प्रव्रजित हुए।

१४९/१. भगवान् महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य—ये पांच तीर्थकर प्रथम वय में तथा शेष तीर्थकर पश्चिम वय में प्रव्रजित हुए।

१५०. सभी तीर्थकर एकदूष्य—एकवस्त्र के साथ प्रव्रजित हुए। वे अन्यलिंग, गृहस्थलिंग अथवा कुलिंग^१ में प्रव्रजित नहीं हुए।

१५१. सुमति जिनेश्वर बिना किसी तपस्या के, वासुपूज्य उपवास में, पार्श्व और मल्लि तेले की तपस्या में तथा शेष तीर्थकर बेले की तपस्या में प्रव्रजित हुए।

१५२. ऋषभ ने विनीता नगरी तथा अरिष्टनेमि ने द्वारवती नगरी से अभिनिष्क्रमण किया। शेष तीर्थकरों ने अपनी-अपनी जन्मभूमि से अभिनिष्क्रमण किया।

१५३, १५४. ऋषभ सिद्धार्थ वन में, वासुपूज्य विहारगृह में, जिनेश्वर धर्म वप्रगा में, मुनिसुव्रत नीलगुफा में, पार्श्व आश्रमपद में, महावीर ज्ञातपंड उद्यान में तथा शेष जिनेश्वर सहस्राम्रवन उद्यान में अभिनिष्क्रान्त हुए।

१५५. पार्श्व, अरिष्टनेमि, श्रेयांस, सुमति तथा मल्लिनाथ—इन सभी तीर्थकरों ने पूर्वाह्न में तथा शेष तीर्थकरों ने अपराह्न में अभिनिष्क्रमण किया।

१५६, १५७. कुमार अवस्था में प्रव्रजित तीर्थकरों के अतिरिक्त सभी तीर्थकरों ने ग्राम्याचार विषय अर्थात् अब्रह्म का सेवन कर प्रव्रज्या ग्रहण की। किन-किन तीर्थकरों का किन-किन ग्रामों तथा आकर आदि में विहार हुआ, उसका कथन इस प्रकार है—मगध, राजगृह आदि क्षेत्रार्य देशों में तीर्थकरों का विहार हुआ लेकिन ऋषभ, नेमि, पार्श्व और महावीर—इनका विहार अनार्यदेशों में भी हुआ।

१५८. सभी तीर्थकरों ने प्रातः परीषहों पर विजय प्राप्त की। वे जीव, अजीव आदि नौ पदार्थों को उपलब्ध कर निष्क्रान्त हुए।

१५९. प्रथम तीर्थकर ऋषभ के पूर्वभव में द्वादशांग तथा शेष तीर्थकरों के एकादशांग श्रुत का उपलंभ था।^२ प्रथम और अंतिम तीर्थकर के समय में पंचयाम तथा शेष तीर्थकरों के समय में चतुर्याम की अवधारणा थी।

१६०. प्रथम और अंतिम तीर्थकर के समय में प्रत्याख्यान तथा संयम दो विकल्प वाला था—सामायिक चारित्र तथा छेदोपस्थापना चारित्र। शेष सभी तीर्थकरों के समय में सप्तदशांग संयम वाला सामायिक चारित्र था।

१. तापस, परिव्राजक आदि का लिंग कुलिंग है (आवचू १ पृ. १५७)।

२. आवचू १ पृ. १५८ ; सुतलंभे उसभसामी पुव्वभवे चोदसपुव्वी, अवसेसा एक्कारसंगी—तीर्थकर ऋषभ पूर्वभव में चतुर्दशपूर्वी थे। शेष तेवीस तीर्थकर आचारांग आदि ग्यारह अंगों के ज्ञाता थे।

१६१-१६३. तीर्थकरों का छद्मस्थकाल इस प्रकार रहा—

१. ऋषभ—हजार वर्ष	१३. विमल—दो वर्ष
२. अजित—बारह वर्ष	१४. अनन्त—तीन वर्ष
३. संभव—चौदह वर्ष	१५. धर्मनाथ—दो वर्ष
४. अभिनन्दन—अठारह वर्ष	१६. शांतिनाथ—एक वर्ष
५. सुमति—बीस वर्ष	१७. कुन्धु—सोलह वर्ष
६. पद्मप्रभ—छह मास	१८. अर—तीन दिन
७. सुपाश्व—नव मास	१९. मल्लि—एक रात-दिन
८. चन्द्रप्रभ—तीन मास	२०. सुव्रत—ग्यारह मास
९. सुविधि—चार मास	२१. नमि—नौ मास
१०. शीतल—तीन मास	२२. नेमि—चौपन दिन
११. श्रेयांस—दो मास	२३. पार्श्व—चौरासी दिन
१२. वासुपूज्य—एक मास	२४. महावीर—बारह वर्ष तेरह पक्ष

यह जिनेश्वर देवों की छद्मस्थ अवस्था के समय का परिमाण है। इनमें विशेष रूप से भगवान् वर्द्धमान का तप अधिक उग्र था।

१६३/१-१२. तीर्थकरों के केवलज्ञान-प्राप्ति की तिथि तथा नक्षत्र इस प्रकार हैं—

१. ऋषभ—फाल्गुन कृष्णा ११, उत्तराषाढा नक्षत्र।	१३. विमल—पौष शुक्ला ६, उत्तराभाद्रपद नक्षत्र।
२. अजित—पौषशुक्ला ११, रोहिणी नक्षत्र।	१४. अनन्त—वैशाख कृष्णा १४, रेवती नक्षत्र।
३. संभव—कार्तिक कृष्णा ५, मृगशिरा नक्षत्र।	१५. धर्म—पौषी पूर्णिमा, पुष्य नक्षत्र।
४. अभिनन्दन—पौषशुक्ला १४, अभिजित् नक्षत्र।	१६. शांति—पौष शुक्ला ९, भरणी नक्षत्र।
५. सुमति—चैत्र शुक्ला ११, मघा नक्षत्र।	१७. कुन्धु—चैत्र शुक्ला ३, कृतिका नक्षत्र।
६. पद्मप्रभ—चैत्री पूर्णिमा, चित्रा नक्षत्र।	१८. अर—कार्तिक शुक्ला १२, रेवती नक्षत्र।
७. सुपाश्व—फाल्गुन कृष्णा ६, विशाखा नक्षत्र।	१९. मल्लि—मार्गशीर्ष शुक्ला ११, अश्विनी नक्षत्र।
८. चन्द्रप्रभ—फाल्गुन कृष्णा ७, अनुराधा नक्षत्र।	२०. मुनिसुव्रत—फाल्गुन कृष्णा १२, श्रवण नक्षत्र।
९. सुविधि—कार्तिक शुक्ला ३, मूला नक्षत्र।	२१. नमि—मार्गशीर्ष शुक्ला ११, अश्विनी नक्षत्र।
१०. शीतल—पौष कृष्णा १४, पूर्वाषाढा नक्षत्र।	२२. नेमि—आश्विनी अमावस्या, चित्रा नक्षत्र।
११. श्रेयांस—माघ कृष्णा अमावस, श्रवण नक्षत्र।	२३. पार्श्व—चैत्र कृष्णा ४, विशाखा नक्षत्र।
१२. वासुपूज्य—माघ शुक्ला २, शतभिषग् नक्षत्र।	२४. महावीर—वैशाखा शुक्ला १०, हस्तोत्तर नक्षत्र।

१६४. तीर्थकर ऋषभ को पुरिमताल नगर में तथा महावीर को ऋजुबालिका नदी के तीर पर केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। शेष तीर्थकरों को अपने-अपने प्रव्रजित उद्यानों में कैवल्य की उपलब्धि हुई।

१६५. प्रथम तेवीस तीर्थकरों को केवलज्ञान की उपलब्धि पूर्वाह्न में तथा महावीर को प्रमाणप्राप्त चरिम अपराह्न में हुई।^१

१. आवचू १ पृ. १५८; अण्णे भणंति बावीसाए पुव्वण्हे, मल्लिवीराणं अवरण्हे—अन्य परम्परा के अनुसार बावीस तीर्थकरों को पूर्वाह्न में तथा मल्लिनाथ और महावीर को अपराह्न में कैवल्य की प्राप्ति हुई।

१६६. ऋषभ, मल्लि, अरिष्टनेमि और भगवान् पार्श्व को तेले की तपस्या में, वासुपूज्य को उपवास की तपस्या में तथा शेष तीर्थकरों को बेले की तपस्या में केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

१६७-१७४. तीर्थकरों की शिष्य-संपदा इस प्रकार है—

	तीर्थकर	श्रमण	श्रमणी
१.	ऋषभ	८४ हजार	३ लाख
२.	अजित	१ लाख	३ लाख ३० हजार
३.	संभव	२ लाख	३ लाख ३६ हजार
४.	अभिनंदन	३ लाख	६ लाख ३० हजार
५.	सुमति	३ लाख २० हजार	५ लाख ३० हजार
६.	पद्मप्रभ	३ लाख ३० हजार	४ लाख २० हजार
७.	सुपार्श्व	३ लाख	४ लाख ३० हजार
८.	चन्द्रप्रभ	२½ लाख	३ लाख ८० हजार
९.	सुविधि (पुष्पदंत)	२ लाख	१ लाख २० हजार
१०.	शीतल	१ लाख	१ लाख ६ हजार
११.	श्रेयांस	८४ हजार	१ लाख ३ हजार
१२.	वासुपूज्य	७२ हजार	१ लाख
१३.	विमल	६८ हजार	१ लाख ८००
१४.	अनन्त	६६ हजार	६२ हजार
१५.	धर्म	६४ हजार	६२ हजार ४००
१६.	शांति	६२ हजार	६१ हजार ६००
१७.	कुन्थु	६० हजार	६० हजार ६००
१८.	अर	५० हजार	६० हजार
१९.	मल्लि	४० हजार	५५ हजार
२०.	मुनिसुव्रत	३० हजार	५० हजार
२१.	नमि	२० हजार	४१ हजार
२२.	नेमि	१८ हजार	४० हजार
२३.	पार्श्व	१६ हजार	३८ हजार
२४.	महावीर	१४ हजार	३६ हजार

१७४/१. सभी तीर्थकरों के शिष्यों—श्रावक-श्राविकाओं का परिग्रह प्रथमानुयोग से जानना चाहिए।

१७५. सभी तीर्थकरों के प्रथम समवसरण में ही चातुर्वर्ण तीर्थ की उत्पत्ति हो गई। भगवान् महावीर के दूसरे समवसरण में तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

१७६-१७८. तीर्थकरों के गणों की संख्या इस प्रकार हैं—

तीर्थकर	गण	तीर्थकर	गण	तीर्थकर	गण
१. ऋषभ	८४	९. सुविधि	८८	१७. कुन्थु	३५
२. अजित	९५	१०. शीतल	८१	१८. अर	३३
३. संभव	१०२	११. श्रेयांस	७२	१९. मल्लि	२८
४. अभिनंदन	११६	१२. वासुपूज्य	६६	२०. मुनिसुव्रत	१८
५. सुमति	१००	१३. विमल	५७	२१. नमि	१७
६. पद्म	१०७	१४. अनन्त	५०	२२. अरिष्टनेमि	११
७. सुपाश्व	९५	१५. धर्म	४३	२३. पार्श्व	१०
८. चन्द्रप्रभ	९३	१६. शांति	३६	२४. महावीर	९

१७९. भगवान् महावीर के नौ गण और ग्यारह गणधर थे।^१ शेष सभी तीर्थकरों के जितने गण थे, उतने ही गणधर थे।

१८०. धर्म का उपाय है—प्रवचन अर्थात् द्वादशांग अथवा पूर्व। सभी तीर्थकरों के जितने गणधर तथा चतुर्दशपूर्वी होते हैं, वे प्रवचन के देशक होते हैं।

१८१. सामायिक आदि चारित्र, चार या पांच महाव्रत, षड्जीवनिकाय तथा भावना—इन प्राथमिक धर्मोपायों का सभी तीर्थकरों ने उपदेश दिया।

१८२-१८६. तीर्थकरों का दीक्षा-पर्यायकाल इस प्रकार रहा—

१. ऋषभ	१ लाख पूर्व	१३. विमल	१५ लाख वर्ष
२. अजित	१ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व	१४. अनन्त	७½ लाख वर्ष
३. संभव	४ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व	१५. धर्म	२½ लाख वर्ष
४. अभिनंदन	८ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व	१६. शांति	२५००० वर्ष
५. सुमति	१२ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व	१७. कुन्थु	२३७५० वर्ष
६. पद्म	१६ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व	१८. अर	२१००० वर्ष
७. सुपाश्व	२० पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व	१९. मल्लि	५४९०० वर्ष
८. चन्द्रप्रभ	२४ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व	२०. मुनिसुव्रत	७५०० वर्ष
९. सुविधि	२८ पूर्वांग न्यून एक लाख पूर्व	२१. नमि	२५०० वर्ष
१०. शीतल	२५ हजार पूर्व	२२. नेमि	७०० वर्ष
११. श्रेयांस	२१ लाख वर्ष	२३. पार्श्व	७० वर्ष
१२. वासुपूज्य	५४ लाख वर्ष	२४. महावीर	४२ वर्ष

१. आवचू १ पृ. ३३७ ; अकंपियअयलभातीणं एगो गणो। मेयज्जपभासाणं एगो गणो—गणधर अकंपित और अचलभ्राता तथा गणधर मेतार्य और प्रभास—इन दोनों का एक-एक गण था।

१८६/१-१९०. सभी तीर्थकरों का कुमारकाल, राज्यकाल और सम्पूर्ण आयुष्य इस प्रकार है—

तीर्थकर	कुमारकाल	राज्यकाल	आयुष्य
१. ऋषभ	२० लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	८४ लाख पूर्व
२. अजित	१८ लाख पूर्व	१ पूर्वांग सहित ५३ लाख पूर्व	७२ लाख पूर्व
३. संभव	१५ लाख पूर्व	४ पूर्वांग सहित ४४ लाख पूर्व	६० लाख पूर्व
४. अभिनन्दन	१२½ लाख पूर्व	८ पूर्वांग सहित ३६½ लाख पूर्व	५० लाख पूर्व
५. सुमति	१० लाख पूर्व	१२ पूर्वांग सहित २९ लाख पूर्व	४० लाख पूर्व
६. पद्म	७½ लाख पूर्व	१६ पूर्वांग सहित २१½ लाख पूर्व	३० लाख पूर्व
७. सुपार्श्व	५ लाख पूर्व	२० पूर्वांग सहित १४ लाख पूर्व	२० लाख पूर्व
८. चन्द्रप्रभ	२½ लाख पूर्व	२४ पूर्वांग सहित ६½ लाख पूर्व	१० लाख पूर्व
९. सुविधि	५० हजार पूर्व	२८ पूर्वांग सहित ५० हजार पूर्व	२ लाख पूर्व
१०. शीतल	२५ हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	१ लाख पूर्व
११. श्रेयांस	२१ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	८४ लाख वर्ष
१२. वासुपूज्य	१८ लाख वर्ष	x	७२ लाख वर्ष
१३. विमल	१५ लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	६० लाख वर्ष
१४. अनन्त	७½ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	३० लाख वर्ष
१५. धर्म	२½ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	१० लाख वर्ष
१६. शांति	२५ हजार वर्ष	५० हजार वर्ष	१ लाख वर्ष
१७. कुन्थु	२३७५० वर्ष	४७५०० वर्ष	९५ हजार वर्ष
१८. अर	२१ हजार वर्ष	४२ हजार वर्ष	८४ हजार वर्ष
१९. मल्लि	१०० वर्ष	x	५५ हजार वर्ष
२०. मुनिसुव्रत	७५०० वर्ष	१५ हजार वर्ष	३० हजार वर्ष
२१. नमि	२५०० वर्ष	५ हजार वर्ष	१० हजार वर्ष
२२. नेमि	३०० वर्ष	x	१ हजार वर्ष
२३. पार्श्व	३० वर्ष	x	१०० वर्ष
२४. महावीर	३० वर्ष	x	७२ वर्ष

१९१. प्रथम तीर्थकर ऋषभ का छह दिन की तपस्या में, शेष तीर्थकरों का मासिक तपस्या में तथा महावीर का बेले की तपस्या में निर्वाण हुआ।

१९२. ऋषभ अष्टापद पर्वत पर, वासुपूज्य चंपा नगरी में, नेमि उज्जयंत पर्वत पर तथा महावीर पावा में निर्वाण को प्राप्त हुए। शेष सभी तीर्थकर सम्मेदशिखर पर निर्वृत हुए।

१९२/१-४. भगवान् महावीर अकेले निर्वृत हुए। भगवान् पार्श्व तेतीस श्रमणों के साथ तथा अरिष्टनेमि ५३६ श्रमणों के साथ सिद्धिगति को प्राप्त हुए। मल्लि पांच सौ श्रमणों के साथ, शांति नौ सौ श्रमणों के साथ,

धर्मनाथ आठ सौ श्रमणों के साथ, वासुपूज्य छह सौ श्रमणों के साथ, अनन्त जिन सात हजार श्रमणों के साथ, विमल जिन छह हजार श्रमणों के साथ, सुपाश्व पांच सौ श्रमणों के साथ, पद्मप्रभ ३०८ श्रमणों के साथ, ऋषभ दस हजार श्रमणों के साथ तथा शेष तीर्थंकर हजार-हजार श्रमणों के साथ सिद्ध हुए। जिनके काल आदि का निर्देश नहीं दिया गया है, उसे प्रथमानुयोग से जान लेना चाहिए।

१९३. इस प्रकार सभी तीर्थंकरों का सारा विवेचन प्रथमानुयोग से जान लेना चाहिए। स्थान की अशून्यता के लिए कुछ कहा गया है। अब प्रस्तुत विषय का वर्णन करूंगा।

१९४. भगवान् ऋषभ का समुत्थान, मरीचि का उत्थान तथा सामायिक का वर्णन जानना चाहिए।

१९४/१. भगवान् ऋषभ को लोकान्तिक देव द्वारा संबोधन, उनका अभिनिष्क्रमण, नमि और विनमि द्वारा वैताढ्य पर्वत पर विद्या का ग्रहण तथा नागराज द्वारा उत्तरदक्षिण श्रेणी में पचास एवं साठ नगरों का उन्हें आधिपत्य देना।

१९५. चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन, चार हजार व्यक्तियों से समन्वित होकर भगवान् ऋषभ ने अपराह्न के समय में सुदर्शना शिविका में अवस्थित होकर सिद्धार्थ वन में बेलों की तपस्या में निष्क्रमण किया।^१

१९६. चार हजार व्यक्तियों ने स्वयं पंचमुष्टिक लुंचन कर यह प्रतिज्ञा की—‘जो क्रियानुष्ठान भगवान् ऋषभ करेंगे, वैसा ही हम भी करेंगे।’

१९७. भगवान् ऋषभ वृषभ जैसी गति को स्वीकार कर, परमघोर अभिग्रह को ग्रहण कर व्युत्सृष्ट्यक्त-देह—निष्प्रतिकर्मशरीर होकर ग्रामानुग्राम विहरण करने लगे।

१९८. नमि विनमि द्वारा भगवान् से याचना। नागराज का आगमन, विद्यादान तथा वैताढ्य पर्वत की उत्तरदक्षिण श्रेणी में पचास एवं साठ नगरों पर आधिपत्य।^२

१९९. भगवान् निष्प्रकंप चित्त से एक संवत्सर तक निराहारी रहकर विहरण कर रहे थे। लोग भिक्षा में उन्हें कन्याएं, वस्त्र, आभूषण तथा आसन आदि को ग्रहण करने के लिए निमंत्रित करते।

२००. लोकनाथ ऋषभ को एक संवत्सर के पश्चात् भिक्षा प्राप्त हुई। शेष सभी तीर्थंकरों ने दूसरे ही दिन प्रथम भिक्षा प्राप्त कर ली।

२०१. लोकनाथ ऋषभ को प्रथम पारणे में इक्षुरस की प्राप्ति हुई। शेष सभी तीर्थंकरों के प्रथम पारणे में अमृतरस के सदृश रस वाला परमान्न (खीर) प्राप्त हुआ।

२०२. प्रथम पारणे में आकाशगत देवों ने ‘अहोदानं अहोदानं’ की घोषणा की। दिव्य वाद्य आहत हुए, दुन्दुभि बजी, देव निकट आए तथा सोनैयों की वर्षा हुई।

२०३. गजपुर नगर में भगवान् ऋषभ के पौत्र श्रेयांस द्वारा इक्षु रस का दान, वसुधारा की वृष्टि, चौकी या स्तूप की रचना, गुरु-पूजा, तक्षशिला में आगमन, बाहुबलि का निवेदन।^३

१-३. देखें परि. ३ कथाएं।

२०३/१-७. तीर्थकरों के प्रथम भिक्षा-नगर तथा प्रथम भिक्षा-दाताओं के नाम इस प्रकार हैं—

तीर्थकर	नगर	दान-दाता	तीर्थकर	नगर	दान-दाता
१. ऋषभ	हस्तिनापुर	श्रेयांस	१३. विमल	धान्यकट	जय
२. अजित	अयोध्या	ब्रह्मदत्त	१४. अनन्त	वर्द्धमान	विजय
३. संभव	श्रावस्ती	सुरेन्द्रदत्त	१५. धर्म	सौमनस	धर्मसिंह
४. अभिनन्दन	साकेत	इन्द्रदत्त	१६. शांति	मंदिरपुर	सुमित्र
५. सुमति	विजयपुर	पद्म	१७. कुन्थु	चक्रपुर	व्याघ्रसिंह
६. पद्म	ब्रह्मस्थल	सोमदेव	१८. अर	रायपुर	अपराजित
७. सुपाश्व	पाटलिषंड	महेन्द्र	१९. मल्लि	मिथिला	विश्वसेन
८. चन्द्र	पद्मषंड	सोमदत्त	२०. मुनिसुव्रत	राजगृह	ब्रह्मदत्त
९. सुविधि	श्रेयःपुर	पुष्य	२१. नमि	वीरपुर	दत्त
१०. शीतल	अरिष्टपुर	पुनर्वसु	२२. नेमि	द्वारवती	वरदत्त
११. श्रेयांस	सिद्धार्थपुर	नंद	२३. पार्श्व	कोपकट	धन्य
१२. वासुपूज्य	महापुर	सुनन्द	२४. महावीर	कोल्लाक	बहुल

२०३/८-१०. इन सभी दानदाताओं ने हाथ जोड़कर, भक्ति-बहुमानपूर्वक, शुक्ललेश्या में प्रवर्तमान होकर, प्रसन्न चित्त से जिनेश्वरदेवों को प्रतिलाभित किया। सभी जिनेश्वरदेवों ने जहां प्रथम भिक्षा प्राप्त की, वहां वसुधारा तथा पुष्पवृष्टि हुई। उत्कृष्टतः साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं की और जघन्यतः साढ़े बारह लाख स्वर्ण-मुद्राओं की वृष्टि हुई।

२०३/११, १२. जिन्होंने भी जिनेश्वर देवों को प्रथम भिक्षा दी, वे प्रतनु राग-द्वेष वाले तथा दिव्य पराक्रम वाले हो गए। उन दानदाताओं में से कुछेक उसी भव में समस्त कर्मों से मुक्त होकर निर्वृत हो गए तथा अन्य दानदाता तीसरे भव में जिनेश्वरदेव के साथ सिद्ध होंगे।

२०४. बाहुबलि ने सोचा—‘कल सब ऋद्धियों से युक्त होकर मैं भगवान् ऋषभ की पूजा करूंगा।’ भगवान् को न देखकर उसने धर्मचक्र की स्थापना कर उसकी पूजा की। भगवान् ने भरत वर्ष में एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में विहरण किया।^१

२०४/१. तप करते हुए भगवान् बहली, अडंब, इल्ल, योनक आदि देश तथा सुवर्णभूमि में गए।

२०४/२. भगवान् के उपदेश से बहली, योनक और पल्हग तथा अन्य म्लेच्छ जातियों के लोग भद्रस्वभाव वाले हो गए।

२०५. तीर्थकरों में भगवान् ऋषभ ही प्रथम तीर्थकर थे, जिनका विहार निरुपसर्ग रहा। जिनेश्वर देव की अग्रभूमि—निर्वाणभूमी अष्टापद पर्वत था।^२

१, २. देखें परि. ३ कथाएं।

२०६, २०७. भगवान् ऋषभ का छद्मस्थकाल एक हजार वर्ष का था। उनको केवलज्ञान की उपलब्धि पुरिमताल नगर के न्यग्रोध वृक्ष के नीचे हुई। उस दिन फाल्गुन कृष्णा एकादशी का दिन था तथा भगवान् के तेले की तपस्या थी। अनंत ज्ञान की उत्पत्ति होने पर भगवान् ने पांच महाव्रतों की प्रज्ञापना की।

२०७/१. जरा और मरण से विप्रमुक्त भगवान् ऋषभ को अनन्तज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर देव और दानवों के इन्द्रों ने जिनेश्वर देव की पूजा की।

२०८. विनीता नगरी के पुरिमताल उद्यान में भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसी दिन भरत की आयुधशाला में चक्र की उत्पत्ति हुई। भरत को ज्ञानोत्पत्ति और चक्रोत्पत्ति—दोनों के विषय में निवेदन किया गया।

२०९. भरत ने सोचा—‘पिता की पूजा कर लेने पर चक्र स्वयं पूजित हो जाता है क्योंकि पिता पूजार्ह होते हैं। चक्र ऐहिक होता है अर्थात् इहलोक के सुख का हेतु होता है और पिता परलोक के लिए सुखावह हैं।’ (इसलिए चक्र की पूजा से पूर्व पिता की पूजा करनी चाहिए।)

२१०. भरत मरुदेवा के साथ ऋषभ के दर्शनार्थ गया। भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया। भरत का पुत्र ऋषभसेन प्रव्रजित हुआ। ब्राह्मी और मरीचि की दीक्षा हुई। सुंदरी की दीक्षा नहीं हुई। उसको स्त्रीरत्न के रूप में अन्तःपुर में रख लिया।

२११. भरत के पांच सौ पुत्र तथा सात सौ पौत्र थे। वे सभी कुमार एक साथ उस समवसरण में प्रव्रजित हो गए।

२११/१, २. भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक देवों ने अपनी समस्त ऋद्धि और परिषद् के साथ भगवान् ऋषभ की ज्ञानोत्पत्ति का उत्सव मनाया। देवताओं द्वारा की जाने वाली पूजा और महिमा को देखकर क्षत्रिय मरीचि को सम्यक्त्व की उपलब्धि हुई। उसने भगवान् से धर्म सुनकर उनके पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

२१२. भरत चक्रवर्ती ने मागध आदि देशों पर विजय प्राप्त की। सुंदरी प्रव्रजित हो गई। भरत का राज्याभिषेक बारह वर्षों तक चला। उसने अपने भाइयों को आज्ञा शिरोधार्य करने के लिए आज्ञापित किया। उनके द्वारा समवसरण में पूछने पर भगवान् ने अंगारदाहक का दृष्टान्त कहा।^१

२१३. बाहुबलि ने कुपित होकर दूत द्वारा चक्रवर्ती भरत को निवेदन करवाया। देवताओं द्वारा बाहुबलि को यथार्थ कथन। ‘मैं अधर्म से युद्ध नहीं करूंगा’ यह सोचकर बाहुबलि दीक्षा ग्रहण कर प्रतिज्ञा के साथ प्रतिमा में स्थित हो गए।^२

२१४. मुनिचर्या में उपयुक्त, श्रुत के प्रति भक्तिमान् रहकर मरीचि ने गुरु के पास सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।^३

१-४. देखें परि. ३ कथाएं।

२१५-२१७. एक बार ग्रीष्म ऋतु में मरीचि का शरीर ताप से परितप्त हो गया। अस्नान परीषह से पराजित होकर, संयम को छोड़ वह इस प्रकार कुलिंग का चिन्तन करने लगा—‘मैं धृति आदि गुणों से शून्य तथा संसार का आकांक्षी हूँ।’ मैं मेरुपर्वत के तुल्य भार वाले इन श्रमण गुणों को मुहूर्त भर के लिए भी वहन करने में समर्थ नहीं हूँ। इस प्रकार अनुचिन्तन करते हुए मरीचि को स्वतः ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई कि मुझे उपाय प्राप्त हो गया। अब मेरी बुद्धि शाश्वत हो गई।

२१८. [मरीचि ने इस कुलिंग का चिन्तन किया] ये श्रमण मनोवाक्कायरूप त्रिदंड से विरत हैं, ये ऋद्धि आदि से संपन्न भगवान् हैं। ये निभृत अर्थात् अन्तःकरण के अशुभ चिन्तन से शून्य हैं। ये संकुचित अंग—अशुभ प्रवृत्ति के परित्याग से युक्त अंग वाले हैं। मैं अजितेन्द्रिय हूँ, तीन दंडों से युक्त हूँ इसलिए त्रिदंड मेरा चिह्न हो।

२१९. ये श्रमण लोचमुंड तथा इन्द्रियमुंड—दोनों हैं। मैं क्षुरमुंड तथा चोटी सहित रहूंगा। मैं सदा केवल स्थूलप्राणिवध से विरत रहूंगा।

२२०. ये श्रमण निष्किञ्चन और अकिञ्चन हैं। मैं किञ्चित् परिग्रह रखूंगा। ये श्रमण शील की सुगंध से संपन्न हैं, मैं शील से दुर्गंध युक्त हूँ।

२२१. ये श्रमण मोह से रहित हैं, मैं मोह से आच्छादित हूँ अतः मैं छत्र रखूंगा। ये श्रमण जूतों से विकल हैं, मैं जूते रखूंगा।

२२२. ये श्रमण शुक्लवस्त्र वाले अथवा दिगम्बर रहने वाले हैं। मैं भगवा वस्त्र धारण करूंगा। मैं कषायों से कलुषित मति वाला हूँ अतः ऐसे वस्त्रों के योग्य ही हूँ।

२२३. ये श्रमण पापभीरू हैं अतः बहुजीव समाकुल जल का आरंभ नहीं करते लेकिन मैं परिमित जल से स्नान करूंगा, परिमित जल पीऊंगा।

२२४. इस प्रकार मरीचि ने अपनी बुद्धि से इस लिंग की परिकल्पना की। अपने हितकारी हेतुओं से युक्त पारिव्रज्य (परिव्राजक अवस्था) का उसने प्रवर्तन किया।

२२५. (वह इस लिंग से युक्त होकर भगवान् के साथ विहार करने लगा) उसके इस विजातीय रूप को देखकर अनेक लोग धर्म की पृच्छा करते। वह कहता—‘इन श्रमणों का धर्म श्रेष्ठ है।’ (तब लोग कहते—‘तुमने यह धर्म क्यों नहीं स्वीकार किया?’) तब इस प्रश्न की विचारणा में वह श्रमणों के आचार का पूरा कथन करता।

२२६. मरीचि भगवान् ऋषभ के साथ ग्राम, नगर आदि में विहरण करता और धर्मकथा से आकृष्ट उपस्थित लोगों को भगवान् के शिष्य के रूप में उपहृत कर देता।

२२७. भगवान् का समवसरण। भरत द्वारा आनीत भक्तपान अवग्रह की पृच्छा। इन्द्र द्वारा अंगुलि दिखाना। ध्वजोत्सव का प्रारम्भ। श्रावकों की संख्या अधिक, उनके द्वारा भरत को कहना कि कषाय आदि का भय

बढ़ रहा है, आप उनसे पराजित हो रहे हैं।' श्रावकों को काकिणीरत्न से चिह्नित करना। आठ पुरुषों अथवा आठ तीर्थंकरों तक इस परम्परा का प्रवर्तन।

२२८. वे आठ पुरुष ये हैं—राजा आदित्ययश, महायश, अतिबल, बलभद्र, बलवीर्य, कार्तवीर्य, जलवीर्य तथा दंडवीर्य।

२२८/१. इन्होंने समस्त अर्ध भरत पर राज्य किया, उसका उपभोग किया। इन्होंने इंद्र द्वारा आनीत प्रथम जितेन्द्र का मुकुट शिर पर धारण किया। शेष नरपति उसे वहन करने में समर्थ नहीं हुए।

२२९. अश्रावकों का प्रतिषेध और छह-छह महीनों से अनुयोग अर्थात् परीक्षण होने लगा। कालान्तर में ये मिथ्यात्व को प्राप्त हुए। नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ के अन्तरकाल में साधुओं का व्यवच्छेद हुआ।

२३०. माहनों को दान, वेदों का प्रणयन, पृच्छा, निर्वाण, अग्निकुंड, स्तूप, जिनगृह, कपिल तथा भरत की दीक्षा—ये व्याख्येय द्वार हैं।

२३१. समवसरण में भरत ने वासुदेवों के बारे में न पूछकर तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों के बारे में पूछा। इसके अतिरिक्त इस परिषद् में कौन ऐसा व्यक्ति है, जो इस भरतक्षेत्र में आगामी तीर्थंकर होगा, यह भी पूछा।

२३२. जिनेश्वर, चक्रवर्ती तथा दशार (वासुदेव)—इनके वर्ण, प्रमाण, नाम, गोत्र, आयु, पुर, माता, पिता, पर्याय तथा गति कहे जाएंगे।

२३२/१. जिनेश्वर देव ने कहा—'इस भरतवर्ष में जैसा मैं हूँ, वैसे ही अन्य तेवीस तीर्थंकर होंगे।'।

२३३, २३४. तेवीस तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार हैं—अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, सुप्रभ, (पद्म), सुपाश्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शांति, कुन्धु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व तथा वर्द्धमान।

२३४/१, २. चक्रवर्ती भरत ने ऋषभ से पूछा—'तात! भरतवर्ष में जैसा मैं हूँ, क्या वैसे राजा और होंगे?' ऋषभ ने कहा—'भरत! जैसे तुम नरेन्द्र शार्दूल हो वैसे ग्यारह राजा और होंगे।'।

१. आवचू १ पृ. २१३-१५; ताहे भरहो सावए सदावेत्ता भणति—'मां कम्मं पेसणादि वा करेह, अहं तुब्भं वित्तिं कप्पेमि, तुब्भेहिं पढंतेहिं सुणंतेहिं जिणसाधुसुस्सूणं कुणंतेहिं अच्छियव्वं', ताहे ते दिवसदेवसियं भुंजंति, ते य भणंति—'जहा तुब्भं जिता अहो भवान् वर्द्धते भयं मा हणाहिंति', एवं भणितो संतो आसुरतो चिन्तेति—केण हि जितो?, ताहे से अप्पणो मति उप्पज्जति कोहादिहं जितो मिति, एवं भोगपमत्तं संभारंति—भरत ने श्रावकों को आमंत्रित कर निर्देश दिया कि तुम कृषि, व्यापार आदि कार्य मत करो। मैं तुम्हें आजीविका दूंगा। आज से पठन, श्रवण एवं साधु-उपासना—ये ही तुम्हारे कार्य होंगे। श्रावक वहीं भोजन करने लगे और भरत को प्रतिदिन कहते—'आप पराजित हो रहे हैं, अहो भय बढ़ रहा है, किसी को मत मारो आदि।' ऐसा कहने पर भरत सोचता मैं किससे जीता गया हूँ? सोचते-सोचते उसकी स्वतः बुद्धि उत्पन्न हो गई कि मैं क्रोध आदि के द्वारा जीता गया हूँ। इस प्रकार वे माहण भोगप्रमत्त भरत को सावधान करते रहते।

२. देखें परि. ३ कथाएं।

२३५, २३६. शेष ग्यारह चक्रवर्ती ये होंगे—सगर, मधवा, सनत्कुमार, शांति, कुन्थु, अर, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, जय और ब्रह्मदत्त।

२३६/१, २. चौबीस तीर्थकरों का वर्ण-विभाग इस प्रकार है—

- पद्मप्रभ तथा वासुपूज्य—रक्त वर्ण।
- चन्द्रप्रभ तथा पुष्पदन्त—चन्द्रमा की भांति गौर वर्ण।
- मुनिसुव्रत तथा नेमि—कृष्ण वर्ण।
- पार्श्व और मल्लि—प्रियंगु के समान आभा वाले (विनील)।
- शेष सोलह तीर्थकर—शुद्ध और तप्त कनक की भांति स्वर्णाभ।

२३६/३-५. तीर्थकरों का देह-परिमाण इस प्रकार जानना चाहिए—

१. ५०० धनुष्य	९. १०० धनुष्य	१७. ३५ धनुष्य
२. ४५० धनुष्य	१०. ९० धनुष्य	१८. ३० धनुष्य
३. ४०० धनुष्य	११. ८० धनुष्य	१९. २५ धनुष्य
४. ३५० धनुष्य	१२. ७० धनुष्य	२०. २० धनुष्य
५. ३०० धनुष्य	१३. ६० धनुष्य	२१. १५ धनुष्य
६. २५० धनुष्य	१४. ५० धनुष्य	२२. १० धनुष्य
७. २०० धनुष्य	१५. ४५ धनुष्य	२३. ९ रत्ति
८. १५० धनुष्य	१६. ४० धनुष्य	२४. ७ रत्ति

२३६/६. मुनिसुव्रत तथा अर्हत् अरिष्टनेमि गोतम गोत्रीय तथा शेष तीर्थकर काश्यपगोत्री थे।

२३६/७-१४. ऋषभ आदि तीर्थकरों की जन्मभूमि तथा माता-पिता के नाम इस प्रकार हैं—

तीर्थकर	जन्मभूमि	माता	पिता
१. ऋषभ	इक्ष्वाकुभूमि—विनीता	मरुदेवा	नाभि
२. अजित	अयोध्या	विजया	जितशत्रु
३. संभव	श्रावस्ती	सेना	जितारि
४. अभिनन्दन	विनीता	सिद्धार्था	संवर
५. सुमति	कौशलपुर	मंगला	मेघ
६. पद्म	कौशाम्बी	सुसीमा	धर
७. सुपाश्वर्य	वाराणसी	पृथ्वी	प्रतिष्ठ
८. चन्द्र	चन्द्रानन	लक्ष्मणा	महासेन
९. सुविधि	काकन्दी	रामा	सुग्रीव
१०. शीतल	भदिलपुर	नंदा	दृढरथ
११. श्रेयांस	सिंहपुर	विष्णु	विष्णु

	तीर्थकर	जन्मभूमि	माता	पिता
१२.	वासुपूज्य	चंपा	जया	वासुपूज्य
१३.	विमल	कांपिल्य	श्यामा	कृतवर्मा
१४.	अनन्त	अयोध्या	सुयशा	सिंहसेन
१५.	धर्म	रत्नपुर	सुव्रता	भानु
१६.	शांति	हस्तिनापुर	अचिरा	विश्वसेन
१७.	कुन्धु	हस्तिनापुर	श्री	शूर
१८.	अर	हस्तिनापुर	देवी	सुदर्शन
१९.	मल्लि	मिथिला	प्रभावती	कुंभ
२०.	मुनिसुव्रत	राजगृह	पद्मावती	सुमित्र
२१.	नमि	मिथिला	वप्रा	विजय
२२.	नेमि	शौर्यनगरी	शिवा	समुद्रविजय
२३.	पार्श्व	वाराणसी	वामा	अश्वसेन
२४.	महावीर	कुंडपुर	त्रिशला	सिद्धार्थ

२३६/१५. सभी तीर्थकर जरा-मरण के बंधन से विप्रमुक्त होकर शाश्वत सुखमय तथा निराबाध मोक्ष गति को प्राप्त हुए।

२३६/१६-१८. सभी चक्रवर्ती भरतवर्ष के छह खंडों के स्वामी होते हैं। उनका वर्ण निर्मल कनक की प्रभा जैसा होता है। उनका देह-परिमाण इस प्रकार है—

१.	भरत	५०० धनुष्य	७.	अर	३० धनुष्य
२.	सगर	४५० धनुष्य	८.	सुभूम	२८ धनुष्य
३.	मघवा	४२½ धनुष्य	९.	महापद्म	२० धनुष्य
४.	सनत्कुमार	४१½ धनुष्य	१०.	हरिषेण	१५ धनुष्य
५.	शांति	४० धनुष्य	११.	जय	१२ धनुष्य
६.	कुन्धु	३५ धनुष्य	१२.	ब्रह्मदत्त	७ धनुष्य

२३६/१९. चौदह रत्नों के अधिपति सभी चक्रवर्ती काश्यपगोत्रीय होते हैं। वीतराग तथा देवेन्द्रों द्वारा बंदिता जिनेश्वर देव ने ऐसा कहा है।

२३६/२०-२५. चक्रवर्तियों का आयुष्य, उनके नगर तथा माता-पिता के नाम इस प्रकार हैं—

	चक्रवर्ती	आयुष्य	नगर	माता	पिता
१.	भरत	८४ लाख पूर्व	विनीता	सुमंगला	ऋषभ
२.	सगर	७२ लाख पूर्व	अयोध्या	यशोमती	सुमित्रविजय
३.	मघवा	५ लाख वर्ष	श्रावस्ती	भद्रा	समुद्रविजय

	चक्रवर्ती	आयुष्य	नगर	माता	पिता
४.	सनत्कुमार	३ लाख वर्ष	हस्तिनापुर	सहदेवी	अश्वसेन
५.	शांति	१ लाख वर्ष	हस्तिनापुर	अचिरा	विश्वसेन
६.	कुन्थु	९५ हजार वर्ष	हस्तिनापुर	श्री	शूर
७.	अर	८४ हजार वर्ष	हस्तिनापुर	देवी	सुदर्शन
८.	सुभूम	६० हजार वर्ष	हस्तिनापुर	तारा	कार्तवीर्य
९.	महापद्म	३० हजार वर्ष	वाराणसी	ज्वाला	पद्मोत्तर
१०.	हरिषेण	१० हजार वर्ष	कांपिल्य	मेरा	महाहरि
११.	जय	३ हजार वर्ष	राजगृह	वप्रा	विजय
१२.	ब्रह्मदत्त	७०० वर्ष	कांपिल्य	चुलनी	ब्रह्म

२३६/२६. इन चक्रवर्तियों में आठ मोक्ष में, सुभूम और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सातवीं नरक में तथा मधवा और सनत्कुमार—ये दो चक्रवर्ती सनत्कुमार देवलोक में उत्पन्न हुए।

२३६/२७, २८. सभी वासुदेव नील वर्ण वाले तथा सभी बलदेव शुक्ल वर्ण वाले होते हैं। मैं अब क्रमशः उनके देह-परिमाण को कहूंगा—

	वासुदेव	बलदेव	देह-परिमाण
१.	त्रिपृष्ठ	अचल	८० धनुष्य
२.	द्विपृष्ठ	विजय	७० धनुष्य
३.	स्वयंभू	भद्र	६० धनुष्य
४.	पुरुषोत्तम	सुप्रभ	५० धनुष्य
५.	पुरुषसिंह	सुदर्शन	४५ धनुष्य
६.	पुरुषपुंडरीक	आनन्द	२९ धनुष्य
७.	दत्त	नंदन	२६ धनुष्य
८.	नारायण	पद्म	१६ धनुष्य
९.	कृष्ण	राम	१० धनुष्य

२३६/२९. आठ बलदेव और वासुदेव गोतमगोत्रीय थे। नारायण और पद्म—ये दो काश्यपगोत्रीय थे।

२३६/३०-३३. वासुदेव और बलदेव का आयुष्य तथा उनकी नगरियां इस प्रकार हैं—

	वासुदेव का आयुष्य	बलदेव का आयुष्य	वासुदेव-बलदेव की नगरियां
१.	८४ लाख वर्ष	८५ लाख वर्ष	पोतनपुर
२.	७२ लाख वर्ष	७५ लाख वर्ष	द्वारवती
३.	६० लाख वर्ष	६५ लाख वर्ष	द्वारवती
४.	३० लाख वर्ष	५५ लाख वर्ष	द्वारवती

	वासुदेव का आयुष्य	बलदेव का आयुष्य	वासुदेव-बलदेव की नगरियां
५.	१० लाख वर्ष	१७ लाख वर्ष	अश्वपुर
६.	६५ हजार वर्ष	८५ हजार वर्ष	चक्रपुर
७.	५६ हजार वर्ष	६५ हजार वर्ष	वाराणसी
८.	१२ हजार वर्ष	१५ हजार वर्ष	राजगृह
९.	१ हजार वर्ष	१२०० वर्ष	मथुरा

२३६/३४-३६. वासुदेव और बलदेव की माता तथा पिता के नाम इस प्रकार हैं—

	वासुदेव की माता	बलदेव की माता	वासुदेव-बलदेव के पिता
१.	मृगावती	भद्रा	प्रजापति
२.	उमा	सुभद्रा	ब्रह्मदत्त
३.	पृथ्वी	सुप्रभा	रुद्र
४.	सीता	सुदर्शना	सोम
५.	अम्बिका	विजया	शिव
६.	लक्ष्मीवती	वैजयन्ती	महाशिव
७.	शेषवती	जयन्ती	अग्निसिंह
८.	कैकयी (केकमती)	अपराजिता	दशरथ
९.	देवकी	रोहिणी	वसुदेव

२३६/३७. वासुदेव प्रव्रज्या नहीं लेते अतः उनके संयम-पर्याय का प्रश्न ही नहीं होता। बलदेव प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं अतः उनके संयम-पर्याय होता है। वह प्रथमानुयोग से जान लेना चाहिए।

२३६/३८. त्रिपृष्ठ सातवीं नरक में, दत्त पांचवीं नरक में, नारायण चौथी नरक में, कृष्ण वासुदेव तीसरी नरक तथा शेष पांच वासुदेव छठी नरक में गए।

२३६/३९. आठ बलदेव अंतकृत अर्थात् उसी भव में मुक्त हो गए। बलराम ब्रह्मलोक देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्युत होकर वे भरतवर्ष में जन्म लेकर सिद्ध होंगे।

२३६/४०. बलदेव निदान नहीं करते। सभी वासुदेव निदान करते हैं। बलदेव ऊर्ध्वगामी होते हैं और सभी वासुदेव अधोगामी होते हैं।

२३७-२३९. ऋषभ के समय में भरत चक्रवर्ती, अजित के समय में सगर, धर्म और शांति जिनेश्वरों के अंतराल में मधवा और सनत्कुमार—ये दो चक्रवर्ती, शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ—ये तीनों जिनेश्वर और चक्रवर्ती दोनों थे। अर और मल्लिक के अंतराल में सुभूम चक्रवर्ती, मुनिसुव्रत के समय में पद्मनाभ, नमि के समय में हरिषेण, नमि और नेमि के अंतराल में जय चक्रवर्ती तथा अरिष्टनेमि और पार्श्व के अंतराल में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुए।

२४०, २४१. पांच वासुदेव क्रमशः पांच अर्हतों को वदना करते हैं अर्थात् उनके समय में होते हैं। जैसे

तीर्थकर श्रेयांस के समय में त्रिपृष्ठ वासुदेव , वासुपूज्य के समय में द्विपृष्ठ, विमल के समय में स्वयंभू , अनन्त के समय में पुरुषोत्तम तथा धर्म के समय में पुरुषसिंह । अर तीर्थकर तथा मल्लिक के अंतराल में दो वासुदेव—पुरुषपुंडरीक और दत्त, मुनिसुव्रत और नमि के अंतराल में नारायण तथा नेमि के समय में कृष्ण वासुदेव हुए ।

२४२. चक्रवर्ती और वासुदेव के होने का क्रम इस प्रकार है—पहले दो चक्रवर्ती—भरत और सगर, फिर पांच वासुदेव—त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम और पुरुषसिंह, फिर पांच चक्रवर्ती—मधवा, सनत्कुमार, शांति, कुंथु और अर, फिर पुरुषपुंडरीक वासुदेव फिर सुभूम चक्रवर्ती, फिर दत्त वासुदेव और पद्म चक्रवर्ती, फिर नारायण वासुदेव और हरिषेण तथा जय चक्रवर्ती, फिर वासुदेव कृष्ण और तत्पश्चात् ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ।

२४३. (भरत ने ऋषभ से पूछा—इस धर्म परिषद् में क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जो भविष्य में तीर्थकर होगा ?) उस परिषद् में आदि परिव्राजक मरीचि था । वह भगवान् ऋषभ का पौत्र, स्वाध्याय और ध्यान से युक्त तथा एकान्त में चिंतन करने वाला महात्मा था ।

२४४, २४५. भगवान् ने चक्रवर्ती भरत के पूछने पर मरीचि की ओर संकेत करते हुए कहा—यह अंतिम धर्मचक्रवर्ती होगा । इसका नाम वीर होगा और यह पोतना नामक नगरी का अधिपति त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव होगा । महाविदेह में मूका नगरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती होगा ।

२४६. भगवान् के वचनों को सुनकर चक्रवर्ती भरत रोमांचित हुआ । वह भगवान् की अभिवंदना कर मरीचि को वंदना करने चला ।

२४७-२४९. भरत विनयपूर्वक मरीचि के निकट आया और तीन बार प्रदक्षिणा कर वंदना करते हुए इन मधुर वचनों से उसकी अभिस्तवना करने लगा—‘तुमने निश्चित ही बहुत लाभ अर्जित किया है । जिसके फलस्वरूप तुम वीर नाम वाले चौबीसवें अंतिम धर्मचक्रवर्ती—तीर्थकर बनोगे । मैं तुम्हारे इस जन्म के पारिव्राज्य को वंदना नहीं करता । तुम अंतिम तीर्थकर बनोगे इसलिए वंदना करता हूँ ।’

२५०. इस प्रकार मरीचि की स्तवना कर, तीन बार प्रदक्षिणा कर भरत पिता ऋषभ से पूछकर विनीता नगरी में प्रवेश कर गया ।

२५१-२५३. भरत के वचनों को सुनकर तीन बार पैरों को आस्फोटित कर अथवा अपनी साधल पर तीन बार ताल ठोककर, अत्यधिक प्रसन्न होकर मरीचि बोला—‘यदि मैं प्रथम वासुदेव, विदेह की मूका नगरी में चक्रवर्ती और इस भरतवर्ष में चरम तीर्थकर बनूंगा तो मेरे लिए इतना पर्याप्त है । मैं प्रथम वासुदेव, मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती और मेरे पितामह ऋषभ प्रथम तीर्थकर हैं—अहो ! मेरा कुल उत्तम है !’

२५४. भव को मथने वाले भगवान् ऋषभ एक लाख पूर्व तक ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए अष्टापद पर्वत पर पहुंचे ।

२५५. अष्टापद पर्वत पर महर्षि ऋषभ छह दिनों की तपस्या में दस हजार अनगारों के साथ अनुत्तर निर्वाण

को प्राप्त हुए।

२५६. भगवान् का निर्वाण। वृत्त, त्र्यस्र तथा चतुरस्र—इन आकृतियों वाली तीन चिताओं का निर्माण। एक चिता तीर्थंकर के लिए, एक इक्ष्वाकुवंशीय अनगारों के लिए तथा एक शेष अनगारों के लिए। सकथा—हनु (दाढ़ा), स्तूप तथा जिनगृह का निर्माण। याचक और आहिताग्नि।^१

२५७. आदर्शगृह में भरत चक्रवर्ती की अंगुलि से अंगूठी नीचे गिर गई। अंगुलि की अशोभा को देख, उसने सारे आभूषण निकाल दिए। संवेग से कैवल्य की उपलब्धि और प्रव्रज्या का स्वीकरण।

२५८. [भगवान् के निर्वृत हो जाने पर मरीचि साधुओं के साथ विहरण करने लगा।] लोग जब धर्म की पृच्छा करते तब वह उन्हें धर्म बताता। धर्म से आकृष्ट लोगों को शिष्य रूप में साधुओं को उपहृत करता। एक बार वह ग्लान हुआ। भ्रमण उसकी परिचर्या नहीं करते थे। एक बार उसके पास कपिल नाम का राजकुमार आया। धर्म पूछने पर मरीचि ने कहा—‘कुछ धर्म यहां भी है।’^२

२५९, २६०. ‘कुछ धर्म यहां भी है’ इस एक दुर्भाषित—मिथ्या प्ररूपणा के कारण मरीचि दुःख-सागर को प्राप्त कर कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल तक संसार में भ्रमण करता रहा तथा गर्व से तीन चक्कर काटकर, जंघा पर तीन थाप देने से नीचगोत्र कर्म का बंध किया। उन दोषों की आलोचना किए बिना वह ब्रह्म देवलोक में दश सागरोपम की स्थिति वाला देव बना। कपिल भी देव बना। उसने अन्तर्हित—आकाशस्थ रहकर अपने शिष्यों को तत्त्व कहा।

२६१, २६२. इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न मरीचि ८४ लाख पूर्वों का आयुष्य पूरा कर ब्रह्मलोक कल्प में देवरूप में उत्पन्न हुआ। वहां से च्युत होकर वह कोल्लाक सन्निवेश में कौशिक नाम का ब्राह्मण हुआ। वहां ८० लाख पूर्व का आयुष्य पूरा कर वह संसार में पर्यटन करने लगा। वह स्थूणा नगरी में पुष्यमित्र नाम का ब्राह्मण हुआ। परिव्राजक दीक्षा ली। ७२ लाख पूर्व का आयुष्य पूरा कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। फिर चैत्य सन्निवेश में अग्निद्योतक नामक ब्राह्मण हुआ। फिर ६४ लाख पूर्व का आयुष्य पूरा कर ईशान देवलोक में उत्कृष्ट स्थिति वाला देव बना।

२६३. वहां से च्युत होकर वह मंदिर सन्निवेश में अग्निभूति नामक ब्राह्मण हुआ। उसका आयुष्य ५६ लाख पूर्व का था। वहां से सनत्कुमार देवलोक में उत्पन्न हुआ। फिर श्वेतविका नगरी में ४४ लाख पूर्व की आयुष्य वाला भारद्वाज नामक ब्राह्मण हुआ। वहां से मरकर माहेन्द्र देवलोक में उत्पन्न हुआ।

२६४. वहां से च्युत होकर कुछ काल पर्यंत संसार में भ्रमण कर राजगृह नगर में ३४ लाख पूर्व की आयुष्य वाला स्थावर ब्राह्मण के रूप में उत्पन्न हुआ। उपरोक्त छहों भवों में वह परिव्राजक दीक्षा ग्रहण करता रहा। वहां से मरकर वह ब्रह्मदेवलोक में गया। वहां से च्युत होकर वह बहुत काल तक संसार में भ्रमण करता रहा।

१, २. देखें परि. ३ कथाएं।

२६५, २६६. राजगृह में विश्वनंदी राजा और उसका भाई विशाखभूति युवराज था। युवराज के पुत्र का नाम विश्वभूति तथा महाराज विश्वनंदी के पुत्र का नाम विशाखनंदी (मरीचि का जीव) था। विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति राजगृह में पुष्पकरंडक नामक उद्यान में स्वच्छंद क्रीडा करता था। उस क्षत्रिय का आयुष्य एक कोटि वर्ष का था। उसी भव में संभूति मुनि के पास दीक्षा ग्रहण कर हजार वर्ष तक दीक्षा का पालन किया।

२६७-२६९. मथुरा में गोत्र से अपमानित होने पर उसने निदान किया और एक मास के तप से प्राणत्याग कर महाशुक्र देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहां से च्युत होकर पोतनपुर में प्रजापति राजा की मृगावती रानी की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। बालक का नाम त्रिपृष्ठ रखा। वह आदि वासुदेव हुआ। ८४ लाख वर्ष का आयुष्य पूरा कर वह अप्रतिष्ठान नरक में उत्पन्न हुआ। वहां से निकलकर सिंह बना। पुनः नरक, तिर्यच और मनुष्य-योनि में कुछेक भव ग्रहण कर, अपरविदेह की मूका नगरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती हुआ। वहां ८४ लाख पूर्व का आयुष्य था।^१

२७०. चक्रवर्ती प्रियमित्र धनंजय का पुत्र था। वह प्रोष्ठिल आचार्य के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर, कोटि वर्ष तक प्रव्रज्या-पर्याय का पालन कर, महाशुक्र देवलोक के सर्वार्थविमान में सत्तरह सागरोपम की स्थिति वाला देव बना। वहां से च्युत होकर छत्रागा नगरी में जितशत्रु राजा के वहां नंदन कुमार के रूप में उत्पन्न हुआ। वहां २५ लाख वर्ष का आयुष्य था।

२७१. प्रियमित्र ने प्रोष्ठिल आचार्य के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर १ लाख वर्ष तक निरंतर मासक्षपण की तपस्या की। [इसी भव में तीर्थकरनाम संज्ञक कर्म बांधा] वह मासिक संलेखना कर प्राणत देवलोक में पुष्पोत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ। वहां २० सागरोपम का आयुष्य पूरा कर ब्राह्मण कुल में पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

२७१/१-३. बीस कारणों से तीर्थकरत्व की प्राप्ति होती है—

१. अर्हत् का गुणोत्कीर्तन।	११. आवश्यक आदि अवश्यकरणीय संयमानुष्ठान।
२. सिद्ध की स्तवना।	१२. व्रतों का निरतिचार पालना।
४. गुरु-भक्ति।	१४. तप—यथाशक्ति तपस्या करना।
५. स्थविर-सेवा।	१५. त्याग—साधु को प्रासुक एषणीय दान।
६. बहुश्रुत-पूजा।	१६. दस प्रकार का वैयावृत्त्य।
७. तपस्वी का अनुमोदन।	१७. गुरु आदि को समाधि देना।
८. अभीक्षण—अनवरत ज्ञानोपयोग।	१८. अपूर्वज्ञान का ग्रहण।
९. निरतिचार सम्यक्त्व।	१९. श्रुतभक्ति।
१०. ज्ञान आदि का विनय।	२०. प्रवचन की प्रभावना।

१. देखें परि. ३ कथाएं।

२७१/४. प्रथम और अन्तिम तीर्थकर ने उपर्युक्त सारे स्थानों का स्पर्श किया। मध्यवर्ती तीर्थकरों ने एक-दो-तीन अथवा सभी स्थानों का स्पर्श किया है।

२७१/५. प्रश्न है कि तीर्थकर नाम गोत्र कर्म का वेदन कैसे होता है? इसका समाधान यह है कि अग्लानभाव से धर्मदेशना आदि देने से उसका वेदन होता है। तीर्थकर इसका बंध वर्तमान भव से पूर्व के तीसरे भव का अवसर्पण होने पर करते हैं।

२७१/६. नियमतः मनुष्य गति में शुभलेश्या वाले स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक, जिन्होंने इन बीस स्थानों में से किसी एक का भी अनेक बार स्पर्श किया हो, उनके तीर्थकर गोत्र का बंध होता है।

२७२. ब्राह्मण कुंडग्राम में कोडालसगोत्री ब्राह्मण ऋषभदत्त के घर में देवानंदा की कुक्षि से (मरीचि का जीव) उत्पन्न हुआ।

२७३. स्वप्न, अपहरण^१, अभिग्रह^२, जन्म, अभिषेक, वृद्धि, जातिस्मरण, भेषण—भयोत्पादन^३, विवाह, अपत्य, दान, संबोध तथा निष्क्रमण—ये व्याख्येय द्वार हैं।

२७४, २७५. वज्रऋषभनाराच संहनन से युक्त, भव्य जनों को संबोध देने वाले, कुंडग्राम के उत्कृष्ट क्षत्रिय, देवपरिगृहीत भगवान् महावीर तीस वर्ष तक गृहवास में रहे और माता-पिता की मृत्यु हो जाने पर उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में प्रव्रजित हो गए।^४

२७६. ताड़ना के लिए उद्यत ग्वाले के कारण शक्र का आगमन। इन्द्र का कथन। कोल्लाक सन्निवेश में बहुल नामक ब्राह्मण द्वारा भगवान् के बेले के पारणे पर पायस का दान देने से उसके घर में वसुधारा की वृष्टि।^५

२७७, २७८. पिता सिद्धार्थ के मित्र दूतिज्जंतक तापस के यहां वर्षावास के लिए आना। पांच घोर अभिग्रहों का स्वीकार—१. अप्रीतिकर स्थान में न रहना २. सदा व्युत्सृष्ट काय रहना ३. मौन रहना ४. पाणिपात्र ५. गृहस्थों को वंदना न करना। वहां से विहार कर अस्थिकग्राम में वर्षावास। अस्थिकग्राम का पूर्व नाम वर्द्धमान। वेगवती नदी। धनदेव सार्थवाह। शूलपाणि यक्ष का मंदिर। उसका पुजारी इन्द्रशर्मा। भगवान् का शूलपाणि यक्ष के मंदिर में रहना।^६

२७९. यक्ष ने सात प्रकार की रौद्र वेदनाएं दीं, फिर उसने स्तुति की। भगवान् ने वहां दस स्वप्न देखे। नैमित्तिक उत्पल का आगमन। अर्द्धमास की तपस्या। मोराक सन्निवेश में सत्कार। अच्छन्दक पर शक्र का कुपित होना।^७

२८०. अच्छन्दक द्वारा तृण ग्रहण। इन्द्र द्वारा दसों अंगुलियों का छेदन। सिद्धार्थ द्वारा अच्छन्दक पर चोरी का आरोप कि कर्मकर वीरघोष के यहां से दसपलिक सोने की चोरी कर वह महिसिन्दु वृक्ष के नीचे गाड़ा है। दूसरी चोरी इन्द्रशर्मा के ऊरणक को चुराया है। उसकी हड्डियों को बादरी के नीचे दक्षिण की ओर अकुरडी में गाड़ दिया है।

१-५. देखें परि. ३ कथाएं।

२८१. तीसरी बात अवाच्य है, उसे भार्या कहेगी, मैं नहीं कहूंगा। भगवान् का वस्त्र दक्षिणवाचाला के मार्गगत सुवर्णबालुका नदी के पुलिन के कंटक में लग गया। वह वस्त्र भगवान् के पिता का सखा ब्राह्मण ले गया।^१

२८२. उत्तरवाचाला के मध्य एक वनघंड में चंडकौशिक सर्प। दृष्टिविष से भगवान् दग्ध नहीं हुए। चिन्तन करते-करते उसे जातिस्मरण कि क्रोध के कारण ज्योतिष्क देव बना फिर वहां से सर्पयोनि में आया हूं।^२

२८३. उत्तरवाचाला में नागसेन गृहपति ने भगवान् को खीर का भोजन दिया। पांच दिव्य प्रादुर्भूत हुए। श्वेतविका नगरी में प्रदेशी राजा। पांच नैयक राजा पांच रथों पर।^३

२८४. सुरभिपुर में सिद्धयात्र नामक नाविक भगवान् को गंगा पार कराने को उद्यत। उलूक की वाणी, क्षेमिल नामक शकुन-ज्ञाता, सुदंष्ट्रावाला नागकुमार देव कुपित हुआ। उस समय कंबल-संबल देवों द्वारा जिनेश्वर की महिमा।^४

२८५. मथुरा में जिनदास श्रावक। वह आभीर से लेन-देन करता। आभीर के घर विवाह का प्रसंग। उसने श्रावक को उपहार रूप में दो बैल दिए। एक दिन श्रावक के उपवास। बैलों ने भी उपवास किया। श्रावक का एक मित्र। शकट-यात्रा में बैलों का जाना। भक्तप्रत्याख्यान से उनका नागकुमार देव बनना। भगवान् के उपसर्ग के समय उनका आगमन और उपसर्ग से मोचन।^५

२८६. नौका में आरूढ भगवान् को मिथ्यादृष्टि नागकुमार देव ने उपसर्ग दिए। क्षत-विक्षत भगवान् को कंबल-संबल नामक देवों ने पार उतारा।

२८७, २८८. स्थूणाक सन्निवेश के बाहर नदी तट पर पुष्य ने भगवान् के पदचिह्न देखे। इंद्र का आगमन, वस्तुस्थिति की अवगति। राजगृह में तंतुवायशाला में प्रथम मासक्षपण की तपस्या, मंखलि नामक मंख तथा उसकी भार्या सुभद्रा। सरवण नामक सन्निवेश में गोबहुल ब्राह्मण के यहां गोशाला का जन्म। विजय, आनंद और सुनंद के घर क्रमशः भोजनविधि^६, खाद्यविधि^७ और सर्वकामगुणित^८ भोजन से मासक्षपण का पारणा।^९

२८९. कोल्लाक सन्निवेश में बहुल ब्राह्मण के यहां चतुर्थ मासक्षपण का खीर से पारणा। पांच दिव्यों को देखकर गोशाला दीक्षित। सुवर्णखलक के बाहर पायस-स्थाली का फूटना, गोशालक द्वारा नियतिवाद का ग्रहण।^{१०}

२९०. ब्राह्मणग्राम में नंद-उपनंद नामक दो भाई। भगवान् नंद के घर गए। बासी चावल ग्रहण किए। उपनंद के घर ठंडे चावल देने पर गोशालक ने कुपित होकर कहा—‘मेरे धर्माचार्य का तेज हो तो यह घर

१-५. देखें परि. ३ कथाएं।

६. भोजन विधि—भात, शाक आदि।

७. खाद्य विधि—मिठाई आदि।

८. सर्वकाम गुणित—समस्त इन्द्रियों को तृप्त करने वाला भोजन।

९, १०. देखें परि. ३ कथाएं।

जल जाए।' घर जल गया। भगवान् ने वहां से चंपा नगरी में वर्षावास किया। वे द्विमासक्षण की तपस्या से काल बिताने लगे।^१

२९१. भगवान् कालाय सन्निवेश के शून्यागार में प्रतिमा में स्थित हो गए। सिंह नामक ग्रामकूट-पुत्र विद्युन्मती दासी के साथ वहां आया। गोशालक ने दासी का स्पर्श कर लिया। गोशालक की पिटाई। वहां से पात्रालक शून्यागार में स्कंदक नामक ग्रामकूट-पुत्र दत्तिलिका दासी के साथ आया। भगवान् वहां प्रतिमा में स्थित। हंसने के कारण गोशालक वहां भी पीटा गया।^२

२९२. कुमाराय सन्निवेश के चम्परमणीय उद्यान में पार्श्वपत्नीय श्रमण मुनिचन्द्र कूपनक कुंभकार-शाला में स्थित थे। कूपनक कुंभकार ने मुनि को चोर समझकर मार डाला। चोराक सन्निवेश में भगवान् को गुप्तचर समझ कर कूप में लटका दिया। वहां सोमा और जयन्ती नामक दो परिव्राजिकाओं ने उनको मुक्त कराया।^३

२९३. भगवान् ने पृष्ठचंपा नगरी में चातुर्मासिक तपस्या का संकल्प किया। वहां से कृतांगला नगरी के देवकुल में प्रतिमा में स्थित हो गए। वहां दरिद्रस्थविर नामक पाषण्ड के साथ गोशालक की कुचेष्टा और तिरस्कार।^४

२९४. श्रावस्ती नगरी में पितृदत्त गृहपति की पत्नी श्रीभद्रा मृत संतानों को पैदा करती थी। शिवदत्त नैमित्तिक ने उपाय बताया। द्वार में अग्नि। पायस में नख और केश। हरिद्राक गांव के हरिद्रक वृक्ष के नीचे भगवान् प्रतिमा में स्थित। पथिकों द्वारा अग्नि जलाना, जिससे भगवान् के पैर जल गए।^५

२९५. भगवान् नंगला गांव में वासुदेव-गृह में प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक आंखें बाहर निकाल कर बच्चों को डराने लगा। आवर्त्त नामक गांव में गोशालक भुंह को विकृत कर डराने लगा। उसे पिशाच समझ कर छोड़ दिया। बलदेव की प्रतिमा हल को बाहु में लेकर उठी। सभी भगवान् के चरणों में प्रणत हो गए।^६

२९६. चोराक सन्निवेश में भोज्य का आयोजन था। एक मंडप बनाया गया। गोशालक देश-काल की प्रतिलेखना करने इधर-उधर देख रहा था। लोगों ने उसे चोर समझ कर पीटा। उसने धर्माचार्य की दुहाई देकर मंडप को जला डाला। वहां से भगवान् कलंबुका सन्निवेश में गए। वहां मेघ और कालहस्ती नामक दो भाइयों द्वारा अनेक उपसर्ग।^७

२९७. भगवान् ने लाढ देश में घोर उपसर्ग सहे। पूर्णकलश नामक अनार्य गांव में दो चोर भगवान् को अपशकुन समझकर मारने दौड़े। इन्द्र ने दोनों को वज्र से मार डाला। वहां से भद्रिलनगरी में भगवान् ने चातुर्मासिक तप किया।

२९८. वर्षावास संपन्न कर भगवान् कदलीसमागम गांव में गए। गोशालक ने दही-चावल खाए। भगवान् प्रतिमा में स्थित थे। वहां से जम्बूषंड नामक गांव में गोशालक द्वारा दूध-चावल का भोजन। गोशालक का

१-७. देखें परि. ३ कथाएं।

तिरस्कार। भगवान् का प्रतिमा में स्थित रहना।^१

२९९. तम्बाक गांव में पार्श्वपत्नीय स्थविर नंदिषेण प्रतिमा में स्थित। उन्हें चोर समझ आरक्षक द्वारा हनन। भय, गोशालक द्वारा दहन। वहां से कृषिका सन्निवेश में उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया। विजया और प्रगल्भा नामक दो परिव्राजिकाओं ने उन्हें मुक्त कराया। वहां से भगवान् और गोशालक—दोनों भिन्न-भिन्न मार्ग पर चल पड़े।^१

३००. चोरों ने गोशालक को पथ में पागल समझ कर पकड़ लिया और उससे भार वहन करवाया। भगवान् विशाला नगरी में गए। वहां लोहकार ने घन से प्रहार करना चाहा। देवेन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना और उसी पर प्रहार कर उसे मार डाला।

३०१. ग्रामाक सन्निवेश में बिभेलक यक्षायतन। शालिशोर्ष ग्राम में व्यंतरी कटपूतना का तापसी रूप बनाकर अपनी जटा से भगवान् पर पानी की वर्षा करना। व्यंतरी उपशान्त हुई और भगवान् की स्तुति कर चली गई।^१ व्यंतरी की वेदना को समभाव पूर्वक सहन करने से भगवान् को लोकप्रमाण अवधिज्ञान की उत्पत्ति।

३०२. महावीर पुनः भद्रिका नगरी में आए, वहां छठे वर्षावास में विचित्र तपस्याएं कीं। छठे मास में गोशालक आया। मगध देश में निरुपसर्ग रूप में ऋतुबद्धकाल में विचरण किया।

३०३. आलभिका नगरी में सातवां वर्षावास और वहां से भगवान् कुंडाक सन्निवेश के देवकुल में प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक मंदिर की प्रतिमा की ओर पीठ करके बैठा। वहां से मर्दना नामक गांव में बलदेव के मंदिर में भगवान् प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक प्रतिमा की जननेन्द्रिय को मुंह में लेकर स्थित हो गया। यह पागल है, ऐसा सोचकर लोगों ने उसे छोड़ दिया।^१

३०४. बहुशाल नामक ग्राम में शालवन नामक उद्यान था। वहां कटपूतना नामक व्यन्तरी ने प्रतिमा में स्थित भगवान् को कष्ट दिये। उपशांत होने पर उसने भगवान् की पूजा की। लोहार्गला राजधानी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। वहां भगवान् को गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया। उत्पल के कहने पर उन्हें मुक्त कर दिया।

३०५. भगवान् पुरिमताल नगर में गए। वहां वगुर नाम का निःसंतान श्रेष्ठी रहता था। देवयोग से पुत्र होने पर वह मल्लिनाथ की प्रतिमा की अर्चना करता था। भगवान् उर्णाक गांव में जाकर प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक ने आगंतुक दंपति को अशिष्ट वचन कहे। उन्होंने उसे पीटा और बांस के झुरमुट में फेंक दिया।^१

३०६. गोशालक द्वारा गोभूमि में ग्वालों को 'वज्रलाढो!' म्लेच्छो! कहने पर उन्होंने कुपित होकर गोशालक को बांस के झुरमुट में फेंक दिया। जिनेश्वर देव महावीर के उपशम ने उसे मुक्त कर दिया। राजगृह में आठवां वर्षावास बिताने के बाद भगवान् अनार्य देश—लाढवज्रभूमि में गए। अनार्य लोगों ने अनेक उपसर्ग दिए।^१

१-६. देखें परि. ३ कथाएं।

३०७. अनार्य देश में अनियतवास करके भगवान् सिद्धार्थपुर गए। कूर्मग्राम जाते समय मार्ग में तिल का स्तम्ब मिला। तिलस्तम्ब की निष्पत्ति के विषय में गोशालक ने पृच्छा की और भगवान् ने उत्तर दिया। उसको अन्यथा करने हेतु अनार्य गोशालक ने उस तिलस्तम्ब को उखाड़ दिया। वर्षा एवं काली गायों के खुरों से वह स्तम्ब भूमि में प्रतिष्ठित हो गया।^१

३०८. मगध देश के गोबरग्राम में गोशंखी नामक कौटुम्बिक था। बाल तपस्वी वैश्यायन 'पाणामा' प्रव्रज्या से प्रव्रजित होकर कूर्मग्राम में आतापना लेता था। जटा से जूएं गिरने पर वह उन्हें पुनः जटा में सुरक्षित रख देता। गोशालक द्वारा निन्दा करने पर वैश्यायन प्ररुष्ट हो गया।^२

३०९. भगवान् वैशाली में प्रतिमा में स्थित हो गए। बच्चों ने पिशाच समझ कर अवहेलना की। वहां के गणराजा शंख ने उनकी पूजा-अर्चना की। वाणिज्यग्राम जाते हुए भगवान् ने नौका से गंडिका नदी को पार किया। मूल्य न देने पर नाविक ने कष्ट दिए। शंखराजा के भागिनेय तथा नौ सेना के अधिपति चित्र ने भगवान् को मुक्त कराया।^३

३१०, ३११. भगवान् वाणिज्यग्राम गए। वहां आनन्द नाम का श्रावक आतापना लेता था। उसे अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई।^४ उसने कहा—'भगवान् परीषहों को सहेंगे और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त होगा।' वहां से श्रावस्ती में विचित्र तपःकर्म किया। फिर सानुलष्टिक गांव में गए। वहां भगवान् ने लगातार भद्र, महाभद्र और सर्वतोभद्र प्रतिमाएं कीं।^५ इस प्रकार एक सौ अठाईस प्रहर की प्रतिमाएं संपन्न कर भगवान् आनंद गाथापति के घर गए। घर की दासी बहुलिका बासी अन्न फेंकने बाहर निकली। भगवान् ने हाथ पसारा। दासी ने दान दिया। पांच दिव्य प्रादुर्भूत हुए।

३१२. भगवान् दृढभूमि के बाहर पेढाल नाम के उद्यान में पोलास नामक चैत्य में ठहरे। वहां तेले की तपस्या में एकरात्रिकी महाप्रतिमा में स्थित हुए।^६ (वे एक पुद्गल पर दृष्टि स्थापित कर ध्यान में लीन हो गए।)

३१३. देवराज शक्र सुधर्मा सभा में परम हर्षित होकर बोला—'तीनों लोकों में जिनेश्वर वीर के मन को चलित करने में कोई भी समर्थ नहीं है।'

१-४. देखें परि. ३ कथाएं।

५. भद्रप्रतिमा प्रत्येक दिशा में चार-चार प्रहर, महाभद्र प्रतिमा प्रत्येक दिशा में अहोरात्र तथा सर्वतोभद्र प्रतिमा ऐन्द्री, आग्नेयी आदि दसों दिशाओं में एक-एक अहोरात्र की होती है। इन तीनों प्रतिमाओं की संपन्नता का कालमान है—सोलह अहोरात्र। भद्र प्रतिमा में दिन में पूर्व की ओर तथा रात में दक्षिण की ओर मुंह करके ध्यान किया जाता है। दूसरे दिवस दिन में पश्चिम तथा रात में उत्तर की ओर मुंह करके ध्यान किया जाता है। इस प्रकार बेलें की तपस्या हो जाती है। महाभद्र प्रतिमा में चारों दिशाओं में एक दिन-रात का ध्यान किया जाता है। इसमें चार दिन की तपस्या हो जाती है। सर्वतोभद्र प्रतिमा में आग्नेयी आदि दसों दिशाओं में एक रात-दिन का ध्यान किया जाता है। भद्र, महाभद्र और सर्वतोभद्र प्रतिमा करने से भगवान् के लगातार १६ दिन अर्थात् एक सौ अठाईस प्रहर की तपस्या हो गयी।

६. देखें परि. ३ कथाएं।

३१४-३१६. सौधर्मकल्पवासी सामानिक देव संगम शक्र की बात सुनकर असहिष्णु होकर इन्द्र से बोला— 'आप राग से प्रतिबिद्ध होकर यह कह रहे हैं कि तीनों लोकों को अभिभूत करने वाले महावीर के मन को कोई भी देव विचलित नहीं कर सकता। आप सब देखें, आज ही मैं आपको विचलित कर दूंगा। आपको योग और तप से विचलित करना मेरे वश में है।' यह कहकर वह संगम देव इन्द्र की बात पर असहिष्णु होकर तत्काल भगवान् के पास आया और मिथ्यादृष्टि से प्रतिबद्ध होकर मारणान्तिक उपसर्ग उत्पन्न करने लगा।^१

३१७-३१९. संगम देव द्वारा प्रदत्त बीस उपसर्ग इस प्रकार हैं—

१. धूलिवर्षा	११. पिशाच
२. पिपीलिकाओं की विकुर्वणा	१२. विकराल व्याघ्र
३. मधुमक्खियां अथवा खटमल	१३. स्थविर-सिद्धार्थ
४. तेलपायी	१४. स्थविरा-त्रिशला
५. बिच्छु	१५. रसोइया—पैरों के बीच अग्नि जलाकर पकाना
६. नकुल	१६. चाण्डाल
७. सर्प	१७. प्रचंड वायु
८. मूषक	१८. कलंकलिका वायु
९. हाथी	१९. कालचक्र
१०. हथिनी	२०. प्राभातिक दृश्य (अनुलोम उपसर्ग)

३२०, ३२१. बीसवें अनुलोम उपसर्ग में संगम देव ने सामानिक देव की ऋद्धि दिखाई। वह विमानगत होकर बोला— 'महर्षे! वरदान ग्रहण करें। मैं स्वर्ग और मोक्ष की निष्पत्ति कर सकता हूँ।' भ्रष्ट मति वाले उस संगम देव ने भगवान् को अधिक कष्ट देने का चिंतन कर अवधिज्ञान का उपयोग लगाया। उसने देखा कि भगवान् तो षड्जीवनिकाय के प्रति हित-चिन्तन में लीन हैं।

३२२. भगवान् वहां से बालुका गांव में गए। संगम देव ने मार्ग में चोरों की विकुर्वणा की। उन्होंने भगवान् को पागल समझकर मारा-पीटा। भगवान् पारणे में भिक्षा के लिए गए। संगम ने भगवान् के रूप में स्त्रियों के प्रति काणच्छी—आंखों से इशारा किया। स्त्रियों ने भगवान् को पीटा। भगवान् सुभौम नगर में गए। वहां भी संगम देव ने स्त्रियों के प्रति अंजलिकर्म किया। वहां से भगवान् सुछत्रा नगरी में गए। वहां भी संगम देव ने विट का रूप बना कर अनेक कुचेष्टाएं कीं।

३२३. संगम देव ने मलय गांव में भगवान् का पिशाच का रूप बनाया तथा हस्तिशीर्ष नगर में भव्य रूप की विकुर्वणा की। लोगों द्वारा अवमानना। भगवान् श्मशान में प्रतिमा में स्थित हो गए। इन्द्र ने आकर भगवान् की यात्रा और यापनीय की सुख-पृच्छा की।

१. देखें परि. ३ कथाएं।

३२४. भगवान् तोसलि गांव के बाहर प्रतिमा में स्थित हो गए। संगम ने क्षुल्लक का रूप बनाकर गांव में सेंध लगाई। पकड़ने पर उसने कहा—‘वध्य मैं नहीं हूं, मुझे तो मेरे आचार्य ने भेजा है।’ उसे छोड़ दिया। भगवान् को वध्य मानकर वधस्थान में ले जाने पर महाभूतिल नामक ऐन्द्रजालिक ने उन्हें मुक्त कराया।

३२५. भगवान् मोसलि गांव में गए। संगम वहां भी छोटे बालक का रूप बनाकर सेंध लगाने का स्थान देखने लगा। उसके कहने पर लोगों ने भगवान् को पकड़ा। पिता के मित्र सुमागध नामक राष्ट्रिक ने भगवान् को मुक्त कराया। तोसलि गांव में भगवान् को पकड़कर रस्सी से बांधकर लटकाया। रज्जू सात बार टूटा। तोसलि क्षत्रिय ने भगवान् को छोड़ दिया।

३२६-३२८. सिद्धार्थपुर में भगवान् को चोर समझकर पकड़ा। वहां अश्ववणिक् कौशिक ने भगवान् को मुक्त कराया। भगवान् व्रजग्राम में भिक्षा के लिए निकले। देव ने सर्वत्र अनेषणीय कर दिया। दूसरे दिन देव उपशांत होकर बोला—‘आप जहां चाहें, वहां घूमें। अब मैं कोई उपसर्ग नहीं दूंगा।’ भगवान् बोले—‘किसी के कहने की आवश्यकता नहीं है। मैं मेरी इच्छा से जाता हूं, आता हूं।’ वहां पर वत्सपालिका स्थविरा ने भगवान् को बासी दूध का दान दिया। वसुधारा की वृष्टि हुई। इस प्रकार संगम देव ने अनुबद्ध होकर छह मास तक भगवान् को उपसर्ग दिए। व्रजग्राम में भगवान् को शान्त देख, उनकी वंदना-स्तुति कर वह चला गया।^१

३२९. इन्द्र द्वारा निष्कासित सागरोपम शेष स्थिति वाला वह महर्द्धिक देव संगम, अपनी देवियों के साथ मंदर पर्वत की चूलिका के शिखर पर आ उठरा।

३३०. आलभिका नगरी में देवेन्द्र हरि द्वारा प्रियपृच्छा। इन्द्र ने महावीर द्वारा उपसर्गों को जीतने एवं कुछ उपसर्गों के अवशेष रहने की बात कही। श्वेतविका नगरी में इन्द्र हरिस्सह द्वारा प्रियपृच्छा, श्रावस्ती में लोगों द्वारा स्कन्दक प्रतिमा की पूजा, इन्द्र का आगमन।

३३०/१. भगवान् आलभिका नगरी में गए। वहां विद्युत्कुमारेन्द्र हरि जिनेश्वर देव की भक्ति से वंदना कर प्रियपृच्छा—सुखसाता पूछकर बोला—‘आपने प्रायः उपसर्गों को जीत लिया है अब कुछ अवशिष्ट रहे हैं।’

३३०/२. श्वेतविका नगरी में हरिस्सह देवेन्द्र ने भगवान् से प्रियपृच्छा की। भगवान् श्रावस्ती के बाह्य भाग में प्रतिमा में स्थित हो गए। वहां स्कंदक प्रतिमा की पूजा हो रही थी। भगवान् की उपेक्षा देखकर इन्द्र आया और प्रतिमा में प्रविष्ट होकर भगवान् को वंदना करने लगा। लोग भी भगवान् को वंदना करने लगे।^२

३३१. कौशाम्बी में चन्द्र और सूर्य ने अपने-अपने मूल विमानों सहित आकर भगवान् की महिमा की। वाराणसी में शक्र और राजगृह में ईशानेन्द्र ने सुखपृच्छा की। मिथिला में महाराज जनक ने अर्चा की तथा धरणेन्द्र ने सुखपृच्छा की।

३३२, ३३३. वैशाली में भूतानन्द ने सुखपृच्छा की। वहां से सुंसुमारपुर में चमर का उत्पात हुआ। भोगपुरी

१, २. देखें परि. ३ कथाएं।

में माहेन्द्र नामक क्षत्रिय सिन्दीकंडक (खजूर के कंडे) से भगवान् पर प्रहार करने दौड़ा। सनत्कुमार देव ने उसे निवारित किया। नंदीग्राम में पिता सिद्धार्थ के मित्र नंदी ने भगवान् की पूजा-अर्चा की। मेंढिकग्राम में एक ग्वाला भगवान् को त्रास देने लगा। इन्द्र ने उसे निवारित किया।^१

३३४, ३३५. कौशाम्बी नगरी में राजा शतानीक का राज्य। भगवान् ने पोष कृष्णा प्रतिपदा को एक अभिग्रह लिया। चार मास तक कौशाम्बी में भिक्षा के लिए घूमते रहे। मृगावती रानी को भी ज्ञात नहीं हुआ। एक बार अमात्य सुगुप्त की पत्नी नंदा के घर। विजया नाम की प्रतिहारिणी। धर्मपाठक/चंपा/ दधिवाहन/ वसुमती/विजय/धनावह सेठ/मूला/ लोचन/संपुल/दान/प्रव्रज्या।^२

३३६. वहां से सुमंगला नामक गांव में सनत्कुमार देव ने भगवान् की वंदना और सुखपृच्छा की। सुक्षेत्र में जाने पर माहेन्द्र सुखपृच्छा करने आया। पालक ग्राम में वाइल नामक वणिक् महावीर को देख अमंगल की कल्पना कर तलवार से प्रहार करने चला।^३

३३७. चंपा में स्वातिदत्त ब्राह्मण के यहां चातुर्मास। वहां दो यक्षेन्द्रों द्वारा पर्युपासना। स्वातिदत्त ने प्रदेश— उपदेश और प्रत्याख्यान इन दो विषयों में प्रश्न पूछे। भगवान् ने इन दोनों के दो-दो प्रकार बताए।

३३८. जृम्भिक गांव में देवेन्द्र ने यह घोषणा की कि भगवान् को (इतने दिनों में) केवलज्ञान की प्राप्ति होगी। वहां से भगवान् मेंढिकग्राम में गए। वहां चमरेन्द्र प्रियपृच्छा करने आया।

३३९. छम्माणि गांव में ग्वाले का उपद्रव। उसने भगवान् के कानों में शलाकाएं ठोक दीं। मध्यम पावा में सिद्धार्थ वणिक् के मित्र खरक नामक वणिक् ने वैद्य से कान की शलाकाएं निकलवाईं।^४

३४०. जृम्भिक ग्राम के बाहर, वैयावृत्य चैत्य के पास, ऋजुबालिका नदी के तट पर, श्यामाक गृहपति के खेत में, शालवृक्ष के नीचे भगवान् उत्कटुक आसन में स्थित थे। वहां बेले की तपस्या में उनको केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।^५

३४१-४३. महानुभाव तथा वीरों में श्रेष्ठ महावीर ने छवस्थकाल में जो तपस्याएं कीं, उसका मैं क्रमशः विवरण करूंगा। नौ चातुर्मासिक, छह द्विमासिक, बारह एक मासिक, बहोत्तर अर्द्धमासिक, एक छहमासिक, दो त्रैमासिक, दो ढाई मासिक, दो डेढ मासिक।

३४४. भगवान् ने भद्रा, महाभद्रा तथा सर्वतोभद्रा प्रतिमाएं कीं। इनमें क्रमशः दो, चार और दस दिन लगे। इनका अनुपालन भगवान् ने लगातार एक साथ किया।

३४५. गोचरी संबंधी अभिग्रह का कालमान पांच दिन न्यून षण्मासिक था। यह अभिग्रह महावीर ने अव्यथित रूप से वत्स नगरी—कौशांबी में अवस्थित रहकर किया।

३४६. भगवान् ने एकरात्रिकी प्रतिमा बारह बार की। इसकी अनुपालना तेले की अंतिम रात्रि में होती थी।

१-५. देखें परि. ३ कथाएं।

३४७. भगवान् ने कभी नित्य भोजन नहीं किया। उपवास भी नहीं किया। उन्होंने ६२९ बेले किए।

३४८. बारह वर्ष से कुछ अधिक छद्मस्थ काल में भगवान् की जघन्य तपस्या बेले की थी। उनका पूरा तपः—कर्म अपानक अर्थात् पानी के आभोग के बिना का था।

३४९. भगवान् के सर्व पारणक दिन ३४९ थे। उन्होंने उत्कटुक निषद्या तथा प्रतिमा में अवस्थिति अनेक-दिन शतबार की थी।

३५०, ३५१. प्रव्रज्या के प्रथम दिन को गिनने पर भगवान् का छद्मस्थ काल बारह वर्ष साढ़े पांच मास का रहा।

३५२. इस प्रकार तपोगुण में रत महावीर घोर परीषह को सहते हुए विहरण कर रहे थे।

३५३. छद्मस्थिक ज्ञान नष्ट होने पर तथा अनंत ज्ञान—केवलज्ञान उत्पन्न होने पर रात्रि में भगवान् महासेनवन उद्यान में पहुँच गए।

३५४. इन्द्रों तथा नरेन्द्रों द्वारा पूजित भगवान् महावीर ने धर्मवरचक्रवर्तित्व को प्राप्त कर लिया। दूसरा समवसरण मध्यम पावा में हुआ।

३५५, ३५६. मध्यम पावा में सोमिल नामक ब्राह्मण के यज्ञकाल में पौरजन तथा जनपद के लोक उसके यज्ञवाट में आए। उस यज्ञवाट के एकान्त और विविक्त उत्तरपार्श्व में देवेन्द्र तथा दानवेन्द्र जिनेश्वर देव की पूजा—महिमा कर रहे थे।

३५६/१. समवसरण की वक्तव्यता के ये द्वार हैं—

१. समवसरण	६. श्रोता-परिणाम
२. कितनी सामायिक?	७. दान
३. रूप—भगवान् का रूप।	८. देवमाल्य।
४. पृच्छा	९. माल्यानयन।
५. व्याकरण	१०. उपरितीर्थ—पौरुषी के बाद गणधरों की देशना।

३५६/२. जहाँ पहले कभी समवसरण नहीं हुआ हो अथवा जहाँ भूतपूर्व समवसरण में महर्द्धिक देव आता हो, वहाँ आभियोगिक देव पानी एवं फूलों के बादलों की विकुर्वणा करते हैं^१ फिर प्राकार-त्रिक की रचना करते हैं।

३५७. आभियोगिक देव समवसरण के योजन-परिमाण भूभाग को नाना मणि, कनक और रत्नों से विचित्र तथा सुरभित जल से सुगंधमय बनाते हैं।

१. आभियोगिक देवता रज आदि दूर करने के लिए वायु की विकुर्वणा करते हैं तथा भावी रज के संताप की उपशान्ति हेतु जलवृष्टि एवं पृथ्वी की विभूषा के लिए पुष्प के बादलों की विकुर्वणा करते हैं।

३५८. देवता सुदृढ़ वृत्त वाले, जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले पांच वर्णों से युक्त दिव्य सुरभित फूलों की चारों ओर वर्षा करते हैं।

३५९. व्यन्तर देव चारों दिशाओं में मणि, कनक और रत्नमय तोरण-द्वार निर्मित करते हैं। वे विशिष्ट आकार वाले छत्र, स्तंभपुत्तलिका, मकर, ध्वज, स्वस्तिक आदि चिह्न से युक्त होते हैं।

३६०. देवेन्द्र रत्नों से विचित्र तीन प्राकारों—परकोटों की विकुर्वणा करते हैं, जो मणि-कांचन के कंगूरों से विभूषित होते हैं।

३६०/१. आभ्यन्तर, मध्य तथा बहिर्भाग में तीन प्रकार के प्राकार होते हैं। वे क्रमशः रत्नमय, कनकमय तथा रजतमय होते हैं। वैमानिक देव रत्नमय, ज्योतिष्क देव कनकमय तथा भवनपति देव रजतमय प्राकार का निर्माण करते हैं।

३६०/२. उनमें मणिमय, रत्नमय और स्वर्णमय कंगूरे होते हैं।^१ सभी द्वार रत्नमय होते हैं। वे सर्वरत्नमय पताका, ध्वज, तोरण तथा स्वस्तिक आदि चिह्नों से युक्त होते हैं।

३६१. व्यन्तर देव धूपघटिकाओं की विकुर्वणा करते हैं, जिनसे चारों ओर कालागरु और कुन्दुरुक्क से मिश्रित मनोहारी गंध फैल जाती है।

३६२. तीर्थंकर के चरणमूल में आते हुए देव सभी दिशाओं में कलकल शब्द से हर्षध्वनि तथा सिंहनाद करते हैं।

३६२/१. समवसरण में व्यन्तर देव भगवान् के देह-परिमाण से बारह गुना ऊंचे अशोक वृक्ष की विकुर्वणा करते हैं। उसके नीचे रत्नमय पीठ, उसके ऊपर देवच्छंदक, मध्य में स्फटिक सिंहासन, उसके ऊपर छत्रातिछत्र, दोनों ओर चामर लिए हुए यक्ष तथा पद्मसंस्थित धर्मचक्र की स्थापना करते हैं।^२ उसके अतिरिक्त जो कुछ अन्य करणीय होता है, वह सब रचना व्यन्तर देव करते हैं।

३६२/२. सामान्य समवसरण में ऐसा होता है अर्थात् जहां बहुत सारे देव और इन्द्र आते हैं, वहां ऐसा होता है। जहां कोई ऋद्धिमान देव समवसृत होता है, वहां वही देव प्राकार आदि सब का निर्माण कर देता है। अन्यत्र इसकी भजना है—अर्थात् जहां इन्द्र नहीं आते, वहां भवनपति आदि देव सब करते हैं।

३६२/३. भगवान् सूर्योदय के बाद पूर्वद्वार से प्रथम पौरुषी में (प्रवचन करने के लिए) देवकृत दो

१. प्रथम प्राकार के कंगूरे में पांच प्रकार की मणियां खचित होती हैं, जिनकी रचना वैमानिक देव करते हैं। दूसरे प्राकार के कंगूरे रत्नजटित होते हैं, जिनकी विकुर्वणा ज्योतिष्क देव करते हैं तथा तीसरे प्राकार के कंगूरे स्वर्णमय होते हैं, जिनकी रचना भवनपति देव करते हैं (आवहाटी. १ पृ. १५४)।

२. आवमटी प. ३०३; अस्मिंस्तु भगवतः समवसरणेऽशोकपादपं शक्रः, छत्रातिच्छत्रमीशानो विकुर्वितवान्, चामरे चामरधारौ बलिचमराविति सम्प्रदायः—भगवान् महावीर के समवसरण में अशोकवृक्ष की विकुर्वणा शक्र ने, छत्रातिछत्र की ईशानेन्द्र ने की। बलि और चमरेन्द्र चामरधारी थे, परम्परा से यह बात ज्ञात होती है।

सहस्रदल वाले पद्मों पर पैर रखते हुए समवसरण में प्रवेश करते हैं। उनके पीछे सात पद्म और होते हैं। भगवान् कभी पश्चिम प्रहर^१ में भी प्रवचन करते हैं।

३६२/४. भगवान् समवसरण में प्रवेश कर चैत्यवृक्ष की प्रदक्षिणा कर पूर्वाभिमुख बैठते हैं। देवता शेष तीन दिशाओं में प्रतिरूपक तीर्थंकर की आकृति बनाते हैं। ज्येष्ठ गणधर अथवा अन्य गणधर दक्षिण पूर्व दिशा में तीर्थंकर के निकट बैठते हैं। (शेष गणधर भगवान् के पीछे या पार्श्व में बैठते हैं।)

३६२/५. जिन तीन दिशाओं में देवता तीर्थंकर की प्रतिकृति बनाते हैं, वे भी तीर्थंकर के प्रभाव से तीर्थंकर के समान रूप वाली लगती हैं।

३६२/६. तीर्थ अर्थात् गणधर के बैठ जाने पर क्रमशः अतिशयधारी श्रमण, वैमानिक देवियां, साध्वियां, भवनपति, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क देवियां खड़ी रहती हैं।^२

३६२/७. अन्य केवली जिनेश्वर देव की तीन प्रदक्षिणा कर, तीर्थ को प्रणाम कर गणधर के पीछे बैठते हैं। मनःपर्यवज्ञानी मुनि भी भगवान् को वंदना कर केवली के पीछे बैठते हैं। उनके बाद निरतिशायी साधु तथा उनके पीछे वैमानिक देवियां खड़ी रहती हैं। मनःपर्यवज्ञानी आदि भगवान् को नमन करते हुए अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

३६२/८. भवनपति, ज्योतिष्क तथा व्यन्तर देव—ये भगवान् को वंदना कर उत्तर-पश्चिम भाग में बैठते हैं। वैमानिक देव, मनुष्य तथा स्त्रियां उत्तरपूर्व दिशा में बैठती हैं। जो जिनकी निश्रा में आते हैं, वे उनके ही पास बैठते हैं।

३६२/९. एक-एक दिशा में एक-एक त्रिक सन्निविष्ट होता है।^३ बारह प्रकार की इस परिषद् में आदि और चरम त्रिक में पुरुष और स्त्रियां एक साथ, दूसरे त्रिक में केवल पुरुष और तीसरे त्रिक में केवल स्त्रियां सन्निविष्ट होती हैं।

१. भगवान् कभी-कभी सूर्यास्त तक अर्थात् अंतिम पौरुषी तक भी प्रवचन करते हैं। इसकी पुष्टि गा. ३६२/२६ में निर्दिष्ट दासी की कथा से होती है।
२. अतिशयधारी अर्थात् अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी, नौपूर्वी, स्वेदौषधि आदि लब्धिधारक मुनि भगवान् की प्रदक्षिणा कर, वंदना कर 'नमो तित्थस्स, नमो केवल्लोणं' ऐसा बोलकर केवलियों के पीछे बैठ जाते हैं। शेष संयत पूर्ववत् विधि संपन्न कर अतिशयधारी मुनियों के पीछे बैठ जाते हैं तथा वैमानिक देवियां साधुओं के पीछे खड़ी रहती हैं, बैठती नहीं। श्रमणियां भी पूर्वद्वार से प्रवेश कर वैमानिक देवियों के पीछे खड़ी रहती हैं, बैठती नहीं। भवनपति, ज्योतिष्क तथा व्यन्तर देवियां भी दक्षिण द्वार से प्रवेश कर तीर्थंकर को प्रदक्षिणा कर दक्षिण-पश्चिम दिशा अर्थात् नैऋतकोण में खड़ी रहती हैं (आवचू १ पृ. ३२७, आवमटी. प. ३०४)।
३. दक्षिण पूर्व दिशा में क्रमशः मुनि, वैमानिक देवियां तथा साध्वियां रहती हैं। दक्षिण-पश्चिम दिशा में क्रमशः भवनवासी, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क देवियां खड़ी रहती हैं। उत्तर-पश्चिम दिशा में भवनपति, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क देव बैठते हैं। उत्तर-पूर्व दिशा में वैमानिक देव, मनुष्य तथा मनुष्य-स्त्रियां बैठती हैं।

३६२/१०. समवसरण में पहले से स्थित अल्प ऋद्धिक देव आने वाले महर्द्धिक देवों को वंदना करते हैं। यदि महर्द्धिक देव पहले से वहां निषण्ण हैं तो भी अल्प ऋद्धिक देव उनको प्रणाम करते हुए अपने स्थान पर जाते हैं। वहां उनमें न पीड़ा, न विकथा, न परस्पर मत्सरभाव और न भय होता है।

३६२/११. समवसरण के दूसरे प्राकार में तिर्यञ्च तथा तीसरे में यान-वाहन होते हैं। प्राकार के बाहर तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये पृथक्-पृथक् भी होते हैं और साथ में भी।

३६२/१२. भगवान् की देशना से कोई न कोई सर्वविरति, देशविरति अथवा सम्यक्त्व सामायिक को ग्रहण करता है, उनकी देशना अन्यथा नहीं होती क्योंकि भगवान् अमूढलक्ष्य होते हैं। यदि वे देशना न दें तो देवों के समवसरण-निर्माण का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। भगवान् के कथन से कोई प्रतिबुद्ध न हो, ऐसा नहीं होता।

३६२/१३. मनुष्य चार सामायिकों^१ में से किसी एक को तथा तिर्यञ्च तीन अथवा दो सामायिकों को ग्रहण कर सकता है। यदि मनुष्य और तिर्यञ्च में कोई भी सामायिक ग्रहण करने वाला नहीं हो तो नियमतः देवता सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं।

३६२/१४. देशना देने से पूर्व तीर्थकर तीर्थ को प्रणाम कर^२ सर्व सामान्य शब्दों में प्रवचन करते हैं। भगवान् की वाणी योजनगामिनी तथा सभी संज्ञी प्राणियों (देव, नारक और तिर्यञ्चों) के लिए गम्य होती है।^३

३६२/१५. तीर्थकर द्वारा तीर्थ को प्रणाम करने के ये प्रयोजन हैं—

- तीर्थ के कारण ही तीर्थकर कहलाते हैं।
- पूजित-पूजा अर्थात् अर्हत् स्वयं पूजनीय होते हैं। कृतकृत्य होने पर भी उनके द्वारा तीर्थ की पूजा होने से तीर्थ की प्रभावना वृद्धिगत होती है।
- विनयधर्म की प्रस्थापना होती है।

३६२/१६. जिस श्रमण ने पहले कभी समवसरण नहीं देखा हो, अथवा जहां अभूतपूर्व समवसरण हो तो श्रमण बारह योजन से आ सकता है। यदि अवज्ञा से वह नहीं आता है तो उसे चतुर्लघुक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।

३६२/१७. सभी देव (अपनी सर्वांग सुन्दर रूप निर्माण शक्ति से) अंगुष्ठप्रमाण मात्र रूप की विकुर्वणा करें तो भी वह जिनेश्वर देव के पादांगुष्ठ के समान भी शोभित नहीं होता। उसके समक्ष वह केवल कोयले

१. चार सामायिक—१. सम्यक्त्व सामायिक २. श्रुत सामायिक ३. देशविरति सामायिक ४. सर्वविरति सामायिक (चारित्र सामायिक)।

२. तीर्थकर तीर्थ को प्रणाम करके प्रवचन करते हैं, यह निर्युक्तिकार की मान्यता है।

३. आवचू. १ पृ. ३२९; साहारणेणं सहेणं अद्धमागहाए भासाए, सा वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी सव्वेसिं तेसिं आरियमणारियाणं अप्पप्पणो भासापरिणामेणं परिणमति—तीर्थकर साधारण शब्दों के माध्यम से अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं। उनके शब्द आर्य-अनार्य सबकी अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाते हैं अतः संज्ञी प्राणी उन शब्दों को समझ लेते हैं।

के समान लगता है।

३६२/१८. (तीर्थकरों की रूप-सम्पदा उत्कृष्ट होती है) तीर्थकरों के रूप से अनन्तगुणहीन रूप गणधरों का, उनसे अनन्तगुणहीन आहारक शरीर का, उनसे अनन्तगुणहीन अनुत्तर वैमानिक देवों का, उनसे अनन्तगुणहीन उपरिम ग्रैवेयक देवों का, सौधर्म तक के देवलोकों में प्रत्येक का अनन्तगुणहीन होता है। फिर अनन्तगुणहीन भवनवासी देवों का, उनसे अनन्तगुणहीन ज्योतिष्क देवों का, उनसे अनन्तगुणहीन व्यन्तर देवों का, उनसे अनन्तगुणहीन चक्रवर्ती का, उससे अनन्तगुणहीन वासुदेव का, उससे अनन्तगुणहीन बलदेव का, उससे अनन्तगुणहीन मांडलिक राजाओं का होता है। शेष सभी राजा और सामान्य लोग छहस्थान-पतित^१ रूप वाले होते हैं।

३६२/१९. तीर्थकर के संहनन, रूप, संस्थान, वर्ण, गति, सत्त्व, सार, उच्छ्वास—ये सभी अनुत्तर होते हैं। इनका मूल आधार है—शुभनामकर्म का उदय।

३६२/२०. तीर्थकरों के अन्य नामकर्म की प्रकृतियों का उदय भी प्रशस्त और अनुत्तर होता है। क्षयोपशम तथा उपशम में होने वाले कार्य भी अनुत्तर होते हैं। क्षायिक भाव अविकल्पनीय^२ अर्थात् भेद रहित होता है, ऐसा गणधर कहते हैं।

३६२/२१. तीर्थकर के असाता वेदनीय आदि जो कर्म-प्रकृतियां अशुभ होती हैं, वे भी दूध में निम्ब रस के बिन्दु की भांति अशुभ नहीं होतीं।

३६२/२२. धर्म के उदय से रूप की प्राप्ति होती है। रूपवान् व्यक्ति भी यदि धर्म करते हैं तो धर्म अवश्य करना चाहिए, यह श्रोताओं की भावना होती है। सुरूप व्यक्ति का वाक्य आदेय होता है, ग्राह्य होता है इसलिए हम भगवान् के रूप की प्रशंसा करते हैं।

३६२/२३. संशय करने वाले संख्यातीत प्राणियों के संशयों का निवारण असंख्य काल में भी 'क्रम-व्याकरण'^३ दोष से नहीं हो सकता अतः भगवान् एक साथ सबके संशयों का निवारण करते हैं।

३६२/२४. भगवान् का सभी प्राणियों के प्रति तुल्यभाव रहता है। उनकी यह विशेष ऋद्धि है कि वे एक साथ सभी के संशय दूर कर देते हैं, अकालहरण अर्थात् संशय-विच्छित्ति से पूर्व किसी की मृत्यु नहीं होती। इसी गुण के कारण सर्वज्ञता की प्रतीति होती है। भगवान् अचिन्त्य गुण-संपदा से युक्त होते हैं अतः वे युगपत् कथन करने में समर्थ होते हैं।

१. छह स्थान ये हैं—अनन्तभागहीन, असंख्येयभागहीन, संख्येयभागहीन अथवा संख्येयगुणहीन, असंख्येयगुणहीन, अनन्तगुणहीन।

२. आवचू. १ पृ. ३३०; क्षायिकगुणसमुदायं अविकल्पं एगलक्षणं सव्युत्तमं—कर्मों के क्षय से निष्पन्न गुणों में कोई विकल्प या भेद नहीं होता। वे सब एक समान लक्षण वाले और सर्वोत्तम होते हैं।

३. क्रम-व्याकरण का तात्पर्य है क्रमशः एक के बाद दूसरे व्यक्ति के प्रश्नों का समाधान। क्रम से संशय दूर करने से किसी संशयालु की संशय-निवारण से पूर्व भी मृत्यु हो सकती है। भगवान् के पास आकर कोई भी व्यक्ति संशय-निवृत्ति के बिना नहीं रह सकता।

३६२/२५. जैसे बरसात का पानी एक रूप होता है, किन्तु भाजन विशेष से उसमें अनेक वर्ण आदि प्रतीत होते हैं। वैसे ही जिनेश्वर देव की भाषा एक रूप होती है, किन्तु वह सभी प्राणियों की अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाती है।

३६२/२६. भगवान् की वाणी साधारण^१ तथा अद्वितीय होती है, इसलिए श्रोताओं का उसमें अर्थोपयोग होता है। ग्राह्य होने के कारण उनकी वाणी सुनते-सुनते श्रोता नहीं अघाता। यहां वणिक् की स्थविरा दासी^२ का उदाहरण जानना चाहिए।

३६२/२७. यदि तीर्थंकर सतत धर्म-देशना देते रहें तो श्रोता अपना पूरा जीवन उनके पास सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, परिश्रम आदि भयों से अतीत होकर बिता देता है।

३६२/२८, २९. चक्रवर्ती साढ़े बारह लाख सौनेये का वृत्तिदान तथा साढ़े बारह करोड़ का प्रीतिदान देते हैं। मांडलिक राजा साढ़े बारह हजार रजत का वृत्तिदान तथा साढ़े बारह लाख रजत का प्रीतिदान देते हैं।^३

३६२/३०. जब जिनेश्वर देव के आगमन की सूचना नियुक्त अथवा अनियुक्त व्यक्तियों के द्वारा सुनते हैं तब भक्ति और ऐश्वर्य के अनुरूप अन्य धनपति आदि भी दान देते हैं।

३६२/३१. इस दान से देवानुवृत्ति, भक्ति, पूजा, स्थिरीकरण, सत्त्वानुकंपा, सातोदयकर्म का बंध^४ आदि गुण होते हैं तथा तीर्थ की प्रभावना भी होती है।

३६२/३२, ३३. बलि के लिए आढक (चार सेर) चावल लिए जाते हैं। दुर्बल स्त्री द्वारा उनके छिलके उतार लेने के पश्चात् बलवान् स्त्री उनको फटकती है। वे चावल भिन्न-भिन्न घरों में बीने के लिए भेजे जाते हैं और कार्य पूरा होने पर मंगा लिए जाते हैं। तत्पश्चात् अखंड और अस्फुटित चावलों को एक फलक पर फैला दिया जाता है। फिर उनसे राजा अथवा अमात्य, इनके अभाव में पुरासी अथवा जनपद-निवासी बलि का निर्माण करते हैं। देवता उस बलि में सुगंधित द्रव्यों का प्रक्षेप करते हैं।

३६२/३४. बलि का प्रवेश समवसरण के पूर्व द्वार से होता है। बलि-प्रवेश के समय ही भगवान् धर्मकथा से उपरत हो जाते हैं। बलि को लेकर राजा आदि भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा कर भगवान् के चरणों में बलि चढ़ाते हैं। बलि का अर्धभाग जमीन पर गिरने से पूर्व ही देवता उसे ग्रहण कर लेते हैं।

१. आवचू. १ पृ. ३३१; साधारण णरगादिदुःखेहिंतो रक्खणाओ—चूर्णिकार ने नरक आदि दुःखों से रक्षा करने के कारण भगवान् की वाणी को साधारण कहा है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार साधारण का अर्थ है भगवान् की वाणी का अनेक प्राणियों की अपनी-अपनी भाषा में परिणमन होना (आवहाटी. १ पृ. १५८)।

२. देखें परि. ३ कथाएं।

३. जब तीर्थंकर समवसृत होते हैं, तब राजा आदि को उनके आगमन की सूचना देने पर पुरुषों को वृत्तिदान और प्रीतिदान दिया जाता है। वृत्तिदान नियुक्त पुरुषों को दिया जाता है, वह संवत्सर नियत होता है। प्रीतिदान नियुक्त पुरुषों से इतर पुरुषों को भी दिया जाता है और वह अनियत होता है (आवहाटी. १ पृ. १५९)।

४. इस मान्यता से सम्पादक की सहमति होना आवश्यक नहीं है।

३६२/३५. उस बच्चे हुए आधे भाग का आधा भाग राजा का होता है। शेष भाग सामान्य पुरुषों का होता है। उस बलि का एक कण भी शिर पर प्रक्षिप्त करने से रोग उपशान्त हो जाते हैं तथा छह महीनों तक कोई अन्य रोग नहीं होता।

३६२/३६. भगवान् जब धर्मदेशना से उपरत हो जाते हैं, तब दूसरी पौरुषी में गणधर धर्मदेशना प्रारंभ करते हैं। इससे ये चार गुण निष्पन्न होते हैं—

१. भगवान् को परिश्रम से विश्राम मिलता है।
२. शिष्यों के गुणों की प्रख्यापना होती है।
३. श्रोताओं को उभयतः विश्वास होता है—वे जान जाते हैं कि जैसा भगवान् ने कहा, वैसा ही गणधर कह रहे हैं।
४. शिष्य और आचार्य की शालीन परम्परा का क्रम भी प्रदर्शित होता है।^१

३६२/३७. दूसरी पौरुषी में ज्येष्ठ अथवा अन्य गणधर धर्मदेशना देते हैं। वे राजा द्वारा आनीत सिंहासन पर अथवा भगवान् के पादपीठ पर बैठते हैं।

३६२/३८. असंख्य भवों में जो हुआ है, जो होगा तथा व्यक्ति जो कुछ भी पूछता है, उन सबका उत्तर गणधर देते हैं। प्रश्नकर्ता यह नहीं जान पाता कि गणधर छद्मस्थ है या अतिशयधारी नहीं है।

३६३. देवताओं द्वारा किए गए दिव्य घोष को सुनकर यज्ञवाट में एकत्रित ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि याज्ञिक ने यज्ञ किया इसलिए देव यहां आ रहे हैं।

३६३/१. लाल अशोक वृक्ष के नीचे भगवान् सिंहासन पर बैठते हैं। इन्द्र भगवान् के ऊपर स्वर्णमय जाल से युक्त छत्र को स्वयं धारण करता है।

३६३/२. प्रसन्नचित्त देवों के साथ ईशानेन्द्र और चमरेन्द्र श्वेत मणिमय दंड से युक्त दो चामरों को भगवान् के दाएं-बाएं डुलाते हैं।

३६४. उन्नत और विशाल कुल-वंशों में उत्पन्न सभी ग्यारह गणधर मध्यम पावा के यज्ञवाट में आए।

३६५, ३६६. भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर ये हैं—

१. इन्द्रभूति	५. सुधर्मा	९. अचलभ्राता
२. अग्निभूति	६. मंडित	१०. मेतार्य
३. वायुभूति	७. मौर्यपुत्र	११. प्रभास
४. व्यक्त	८. अकंपित	

३६७. सभी गणधरों के अभिनिष्क्रमण के कारण का मैं क्रमशः कथन करूंगा। सुधर्मा से तीर्थ चला। शेष

१. शिष्य और आचार्य के क्रम का तात्पर्य यह है कि आचार्य से सुनकर योग्य शिष्य आचार्य द्वारा कथित तथ्यों का आचार्य के अर्थानुरूप व्याख्या करे (आवहाटी. १ पृ. १६०)।

गणधर शिष्य रहित थे।

३६८. गणधरों के संशय क्रमशः इस प्रकार थे—

१. जीव है या नहीं ?
२. कर्म है या नहीं ?
३. जीव और शरीर एक है।
४. पृथ्वी, अप् आदि भूत हैं या नहीं ?
५. इस भव में जैसा है, परभव में भी वैसा ही होता है।
६. बंध-मोक्ष हैं या नहीं ?
७. देव हैं या नहीं ?
८. नारक हैं या नहीं ?
९. पुण्य है या नहीं ?
१०. परलोक है या नहीं ?
११. निर्वाण है या नहीं ?

३६९. प्रथम पांच गणधरों के ५००-५०० शिष्यों का परिवार था, दो गणधरों का ३५०-३५० शिष्यों का, दो गणधरयुगल अर्थात् चार गणधरों का ३००-३०० शिष्यों का परिवार था।

३६९/१. भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक—इन चारों प्रकार के देवताओं ने अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि एवं परिषद् के साथ भगवान् महावीर के केवलज्ञान की उत्पत्ति का उत्सव मनाया।

३७०. जिनेश्वर देव की देवताओं द्वारा की जाने वाली पूजा-अर्चा को सुनकर अहंमानी इन्द्रभूति मात्सर्यभाव से समवसरण में आया।

३७१, ३७२. जन्म, जरा और मरण से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान् महावीर इन्द्रभूति के नाम और गोत्र का उल्लेख करते हुए बोले, 'गौतम! तुम्हें यह संशय है कि जीव है या नहीं? तुम वेद-पदों के अर्थ को नहीं जानते। उनका अर्थ इस प्रकार है।'

३७३. जरा और मरण से विप्रमुक्त जिनेश्वर देव द्वारा गौतम का संशय मिट जाने पर वह अपने पांच सौ शिष्यों के साथ उनके पास प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

३७४. अपने भाई इन्द्रभूति को प्रव्रजित सुनकर दूसरा गणधर अग्निभूति समवसरण में आया। उसके मन में भी अमर्ष था। उसने सोचा कि मैं जाऊँ और उस श्रमण ऐन्द्रजालिक को पराजित कर इन्द्रभूति को ले आऊँ।

३७५, ३७६. जन्म, जरा और मृत्यु से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वर महावीर ने अग्निभूति को नाम और गोत्र से संबोधित किया—'हे अग्निभूति! तुम्हें यह संशय है कि कर्म का अस्तित्व है या नहीं? तुम वेद-पदों का अर्थ नहीं जानते। सुनो, उनका मर्म यह है।'

३७७. जरा और मरण से विप्रमुक्त जिनेश्वर देव द्वारा अग्निभूति का संशय मिट जाने पर वह अपने ५०० शिष्यों के साथ प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

३७८. अग्निभूति को प्रव्रजित सुनकर तीसरा गणधर वायुभूति समवसरण में भगवान् के पास आया। उसने सोचा, मैं जाऊं, भगवान् को वंदना करूं और वंदना कर भगवान् की पर्युपासना करूं।

३७९, ३९०. जन्म, जरा और मृत्यु से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वर महावीर ने वायुभूति को नाम और गोत्र से संबोधित कर कहा—‘वायुभूति! तुम्हारे मन में यह संशय है कि जो जीव है, वही शरीर है और जो शरीर है, वही जीव है। तुम इस विषय में किसी से कुछ पूछते भी नहीं। तुम वेद-पदों के अर्थ को नहीं जानते। सुनो, उनका अर्थ यह है।’

३८१. जरा और मरण से विप्रमुक्त जिनेश्वर देव द्वारा वायुभूति का संशय मिट जाने पर वह अपने ५०० शिष्यों के साथ प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

३८२. इन्द्रभूति आदि को प्रव्रजित सुनकर व्यक्त जिनेश्वर देव के पास आया। उसने सोचा, मैं जाऊं, वंदना करूं और वंदना कर भगवान् की पर्युपासना करूं।

३८३, ३८४. जन्म, जरा और मृत्यु से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वर ने व्यक्त को नाम और गोत्र से संबोधित कर कहा—‘व्यक्त! तुम्हारे मन में यह संशय है कि पांच भूतों का अस्तित्व है या नहीं? तुम वेद-पदों का अर्थ नहीं जानते। सुनो, उनका अर्थ यह है।’

३८५. जरा और मरण से विप्रमुक्त जिनेश्वर देव द्वारा व्यक्त का संशय मिट जाने पर वह अपने ५०० शिष्यों के साथ प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

३८६. उन सबको प्रव्रजित सुनकर सुधर्मा जिनेश्वर देव के पास आया। उसने सोचा, मैं जाऊं, वंदना करूं और वंदना कर भगवान् की पर्युपासना करूं।

३८७, ३८८. जन्म, जरा और मृत्यु से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी जिनेश्वर ने सुधर्मा को नाम और गोत्र से संबोधित कर कहा—‘सुधर्मा! क्या तुम यह मानते हो कि इहभ्रव में जो जैसा है, परभ्रव में भी वह वैसा ही होगा? तुम वेद-पदों का अर्थ नहीं जानते। सुनो, उनका अर्थ यह है।’

३८९. जरा और मरण से विप्रमुक्त जिनेश्वर देव द्वारा सुधर्मा का संशय मिट जाने पर वह अपने ५०० शिष्यों के साथ प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

३९०. उन सबको प्रव्रजित सुनकर मंडित जिनेश्वर देव के पास आया। उसने सोचा—मैं जाऊं, वंदना करूं और वंदना कर भगवान् की पर्युपासना करूं।

३९१, ३९२. जन्म, जरा और मृत्यु से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वर ने मंडित को नाम और गोत्र से संबोधित कर कहा—‘मंडित! तुम्हारे मन में यह संशय है कि बंध-मोक्ष हैं या नहीं।’ तुम वेद-पदों के अर्थ नहीं जानते। सुनो, उनका अर्थ यह है।

३९३. जरा और मरण से विप्रमुक्त जिनेश्वर देव द्वारा मंडित का संशय मिट जाने पर वह अपने ३५० शिष्यों के साथ प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

३९४. उन सबको प्रव्रजित सुनकर मौर्य जिनेश्वर देव के पास आया। उसने सोचा—मैं जाऊँ, वंदना करूँ और वंदना कर भगवान् की पर्युपासना करूँ।

३९५, ३९६. जन्म, जरा और मृत्यु से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वर देव ने मौर्य को नाम और गोत्र से संबोधित कर कहा—‘मौर्य! तुम्हारे मन में यह संशय है कि देवता हैं या नहीं? तुम वेद-पदों के अर्थ को नहीं जानते। सुनो, उनका अर्थ यह है।’

३९७. जरा और मरण से विप्रमुक्त जिनेश्वर देव द्वारा मौर्य का संशय मिट जाने पर वह अपने ३५० शिष्यों के साथ प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

३९८. उन सबको प्रव्रजित सुनकर अकंपित जिनेश्वर देव के पास आया। उसने सोचा—मैं जाऊँ, वंदना करूँ और वंदना कर भगवान् की पर्युपासना करूँ।

३९९, ४००. जन्म, जरा और मृत्यु से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वर देव ने अकंपित को नाम और गोत्र से संबोधित कर कहा—‘अकंपित! तुम्हारे मन में यह संशय है कि नारक हैं अथवा नहीं? तुम वेदपदों का अर्थ नहीं जानते। सुनो, उनका अर्थ यह है।’

४०१. जरा और मरण से विप्रमुक्त, जिनेश्वर देव द्वारा अकंपित का संशय मिट जाने पर वह अपने ३०० शिष्यों के साथ प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

४०२. उन सबको प्रव्रजित सुनकर अचलभ्राता जिनेश्वर देव के पास आया। उसने सोचा—मैं जाऊँ, वंदना करूँ और वंदना कर भगवान् की पर्युपासना करूँ।

४०३, ४०४. जन्म, जरा और मृत्यु से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वर देव ने अचलभ्राता को नाम और गोत्र से संबोधित कर कहा—‘अचलभ्राता! तुम्हारे मन में यह संशय है कि पुण्य-पाप हैं अथवा नहीं? तुम वेद-पदों के अर्थ को नहीं जानते। सुनो, उनका अर्थ यह है।’

४०५. जरा और मरण से विप्रमुक्त जिनेश्वर देव द्वारा अचलभ्राता का संशय मिट जाने पर वह अपने तीन सौ शिष्यों के साथ प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

४०६. उन सबको प्रव्रजित सुनकर मेलार्य जिनेश्वर देव के पास आया। उसने सोचा—मैं जाऊँ, वंदना करूँ और वंदना कर भगवान् की पर्युपासना करूँ।

४०७, ४०८. जन्म, जरा और मृत्यु से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वर देव ने मेलार्य को नाम और गोत्र से संबोधित कर कहा—‘मेलार्य! तुम्हारे मन में यह संशय है कि परलोक है अथवा नहीं? तुम वेद-पदों के अर्थ को नहीं जानते। सुनो, उनका अर्थ यह है।’

४०९. जरा और मरण से विप्रमुक्त जिनेश्वर देव द्वारा मेलार्य का संशय मिट जाने पर वह अपने ३०० शिष्यों

के साथ प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

४१०. उन सबको प्रव्रजित सुनकर प्रभास जिनेश्वर देव के समीप आया। उसने सोचा—मैं जाऊं, वंदना करूं और वंदना कर भगवान् की पर्युपासना करूं।

४११, ४१२. जन्म, जरा और मृत्यु से विप्रमुक्त, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनेश्वर देव ने प्रभास को नाम और गोत्र से संबोधित कर कहा—‘प्रभास! तुम्हारे मन में यह संशय है कि निर्वाण है अथवा नहीं? तुम वेद-पदों के अर्थ नहीं जानते। सुनो, उनका अर्थ यह है।’

४१३. जरा और मरण से विप्रमुक्त जिनेश्वर देव द्वारा प्रभास का संशय मिट जाने पर वह अपने ३०० शिष्यों के साथ प्रव्रजित होकर श्रमण बन गया।

४१४. गणधरों का क्षेत्र, काल, जन्म, गोत्र, अगार-पर्याय, छद्मस्थ-पर्याय, केवलि-पर्याय, आयुष्य, आगम, परिनिर्वाण तथा तप—ये व्याख्येय द्वार हैं।

४१५. इन्द्रभूति अग्निभूति और वायुभूति—ये तीनों मगध जनपद के गोबरग्राम के निवासी थे। इनका गोत्र गौतम था। व्यक्त और सुधर्मा—ये दो कोल्लाग-सन्निवेश के थे।

४१६. मंडित और मौर्यपुत्र—ये दोनों भाई मौर्य सन्निवेश के थे। अचलभ्राता का जन्म-स्थान कौशल और अकंपित का मिथिला था।

४१७. तुंगिक सन्निवेश की वत्सभूमि में मेटार्य का जन्म हुआ। गणधर प्रभास राजगृह के थे।

४१८. गणधरों के क्रमशः नक्षत्र ये हैं—ज्येष्ठा, कृत्तिका, स्वाति, श्रवण, उत्तराफाल्गुनी, मघा, रोहिणी, उत्तराषाढा, मृगशिरा, अश्विनी और पुष्य।

४१९, ४२०. प्रथम तीन गणधरों के पिता वसुभूति तथा शेष गणधरों के पिताओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—धनमित्र, धर्मिल (धम्मिल), धनदेव, मौर्य, देव, वसु, दत्त और बल। प्रथम तीन गणधरों की माता का नाम था पृथिवी। शेष गणधरों की माताओं के क्रमशः नाम ये हैं—वारुणी, भद्रिला, विजयदेवी, विजयदेवी, जयन्ती, नंदा, वरुणदेवी तथा अतिभद्रा।

४२१-४२४. गणधरों के गोत्र, गृहस्थकाल एवं छद्मस्थकाल इस प्रकार हैं—

गणधर	गोत्र	गृहस्थकाल	छद्मस्थकाल
१. इन्द्रभूति	गौतम	५० वर्ष	३० वर्ष
२. अग्निभूति	गौतम	४६ वर्ष	१२ वर्ष
३. वायुभूति	गौतम	४२ वर्ष	१० वर्ष
४. व्यक्त	भारद्वाज	५० वर्ष	१२ वर्ष
५. सुधर्मा	अग्निवैश्यायन	५० वर्ष	४२ वर्ष
६. मंडित	वाशिष्ठ	५३ वर्ष	१४ वर्ष

गणधर	गोत्र	गृहस्थकाल	छद्मस्थकाल
७. मौर्यपुत्र	काश्यप	६५ वर्ष	१४ वर्ष
८. अकम्पित	गौतम	४८ वर्ष	९ वर्ष
९. अचलभ्राता	हारीत	४६ वर्ष	१२ वर्ष
१०. मेतार्य	कौण्डिन्य	३६ वर्ष	१० वर्ष
११. प्रभास	कौण्डिन्य	१६ वर्ष	८ वर्ष

४२५. गणधरों के संपूर्ण आयुष्यकाल से छद्मस्थपर्याय और गृहस्थपर्याय को निकाल देने पर जो शेष बचे, वह उनकी जिनपर्याय अर्थात् वीतरागपर्याय थी।

४२६-२८. गणधरों की जिन-पर्याय और आयुष्य-परिमाण इस प्रकार हैं—

गणधर	जिन-पर्याय	आयुष्य-परिमाण
१. इन्द्रभूति	१२ वर्ष	९२ वर्ष
२. अग्निभूति	१६ वर्ष	७४ वर्ष
३. वायुभूति	१८ वर्ष	७० वर्ष
४. व्यक्त	१८ वर्ष	८० वर्ष
५. सुधर्मा	८ वर्ष	१०० वर्ष
६. मंडित	१६ वर्ष	८३ वर्ष
७. मौर्यपुत्र	१६ वर्ष	९५ वर्ष
८. अकम्पित	२१ वर्ष	७८ वर्ष
९. अचलभ्राता	१४ वर्ष	७२ वर्ष
१०. मेतार्य	१६ वर्ष	६२ वर्ष
११. प्रभास	१६ वर्ष	४० वर्ष

४२९. सभी गणधर जाति से ब्राह्मण और अध्यापक अर्थात् उपाध्याय थे। सभी विद्वान् थे—यह उनके गृहस्थजीवन का पांडित्य था। श्रमण बनने के बाद सभी द्वादशांगविद् चतुर्दशपूर्वी थे।

४३०. भगवान् महावीर की जीवित अवस्था में नौ गणधर परिनिर्वृत हो गए। भगवान् के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति और सुधर्मा राजगृह में परिनिर्वृत हुए।

४३१. सभी गणधर एक मास के प्रायोपगमन अनशन में परिनिर्वृत हुए तथा वे सभी सर्वलब्धिसंपन्न, वज्रऋषभनाराच संहनन से युक्त तथा समचतुरस्र संस्थान वाले थे।

४३२. काल शब्द के ग्यारह निक्षेप हैं—

१. नामकाल	५. यथायुष्काल	९. प्रमाणकाल
२. स्थापनाकाल	६. उपक्रमकाल	१०. वर्णकाल
३. द्रव्यकाल	७. देशकाल	११. भावकाल
४. अद्धाकाल	८. कालकाल	

४३३.चेतन अथवा अचेतन द्रव्य की चार विकल्प वाली स्थिति को द्रव्यकाल कहा जाता है। अथवा द्रव्य को ही द्रव्यकाल कहा जाता है।^१

४३३/१. चतुर्विकल्पात्मिका स्थिति यह है—

१. देवता आदि की गति के आधार पर जीव सादि-सपर्यवसित है।
२. सिद्ध की अपेक्षा से जीव सादि-अपर्यवसित है।
३. भव्य जीवों की अपेक्षा से कुछेक भव्यों की स्थिति अनादि-सपर्यवसित है।
४. अभव्य की अपेक्षा से अनादि-अपर्यवसित है। पुद्गल सादि-सपर्यवसित, अनागतकाल सादि-अपर्यवसित, अतीत काल अनादि, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय—ये तीनों अनादि-अपर्यवसित स्थिति वाले हैं। इस प्रकार जीव और अजीव की स्थिति चार प्रकार की होती है।

४३४. सूर्य, चन्द्र आदि की गति से होने वाला ढाईद्वीपवर्ती काल अद्धाकाल कहलाता है। जैसे—समय, आवलिका, मुहूर्त, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पत्य—पत्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गलपरावर्तन—अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल।

४३५. जिस प्राणी ने अन्य भव में नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव का आयुष्य निर्वर्तित किया है, उसको उसी प्रकार से भोगना यथायुष्ककाल है।

४३६. उपक्रमकाल के दो प्रकार हैं—सामाचारी उपक्रमकाल तथा यथायुष्क उपक्रमकाल। सामाचारी के तीन प्रकार हैं—ओघ सामाचारी, दसधा सामाचारी तथा पदविभाग सामाचारी।

४३६/१, २. दस प्रकार की सामाचारी के नाम इस प्रकार हैं—

१. इच्छाकार	५. नैषेधिकी	९. निमंत्रणा
२. मिथ्याकार	६. आपृच्छा	१०. उपसंपदा
३. तथाकार	७. प्रतिपृच्छा	
४. आवश्यिकी	८. छन्दना	

अब मैं (प्रत्येक पद की पृथक्-पृथक्) प्ररूपणा करूंगा।

४३६/३. कोई मुनि रोग या अन्य कारण उपस्थित होने पर दूसरे मुनि को कार्य करने की अभ्यर्थना करे तो वहां भी इच्छाकार का प्रयोग करे—(तुम्हारी इच्छा हो तो मेरा यह कार्य करो)। साधु को बलप्रयोग से कार्य करवाना नहीं कल्पता।

४३६/४. यदि कोई दूसरे से अपने कार्य के लिए अभ्यर्थना करता है तो उसके लिए ज्ञातव्य है कि दूसरे से अभ्यर्थना करना उचित नहीं है क्योंकि साधु को अपने बल और वीर्य का गोपन नहीं करना चाहिए।

१. स्पष्टता के लिए देखें ४३३/१ का अनुवाद।

४३६/५,६. यदि कोई साधु किसी कार्य को करने में असमर्थ है या उस कार्य को नहीं जानता है अथवा ग्लान आदि की सेवा में लगा हुआ है तो वह रत्नाधिक मुनियों के अतिरिक्त शेष मुनियों के प्रति इच्छाकार का प्रयोग करते हुए कहे कि आपकी इच्छा हो तो मेरा यह कार्य करें।

४३६/७, ८. करणीय कार्य बिगड़ रहा हो अथवा नहीं भी बिगड़ रहा हो, उस अभीष्ट कार्य के लिए अभ्यर्थना करते देखकर अन्य निर्जरार्थी साधु उस साधु से कहे 'यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुम्हारा यह कार्य करूँ' ऐसा कहने वाले मुनि के प्रति भी कार्य करवाने वाला साधु इच्छाकार का प्रयोग करे क्योंकि यह साधु की मूल मर्यादा है।

४३६/९. अथवा किसी साधु को अपना पात्र-लेपन आदि करते हुए देखकर अपने कार्य के लिए इच्छाकार का प्रयोग करे। वह कहे—आपकी इच्छा हो तो मेरा भी पात्र-लेपन आदि कार्य करें।

४३६/१०. अभ्यर्थित होने पर साधु कहे—'मैं तुम्हारा कार्य करना चाहता हूँ।' अथवा न करने की स्थिति में हो तो उसका कोई कारण बताए। अन्यथा अनुग्रह करके उस साधु का कार्य निष्पन्न करे।

४३६/११. अथवा ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए कोई शिष्य आचार्य की वैयावृत्य करता है। इस कार्य में भी आचार्य को 'इच्छाकार' पूर्वक मुनि को नियोजित करना चाहिए।

४३६/१२. निर्ग्रन्थों को आज्ञा और बलप्रयोग से कार्य कराना नहीं कल्पता। शैक्ष हो या रात्रिक सबके प्रति इच्छाकार का प्रयोग करना चाहिए।

४३६/१३, १४. जैसे वाल्हीक देश में उत्पन्न जात्यश्व खलिन को स्वयं ग्रहण कर लेते हैं तथा (मगध आदि) जनपद में उत्पन्न अश्व बलाभियोग से खलिन ग्रहण करते हैं, वैसे ही विविध प्रकार से विनय में शिक्षित शिष्य वाल्हीक अश्व की भांति स्वयं सामाचारी में नियुक्त हो जाते हैं तथा शेष शिष्य जनपद अश्व की भांति बलप्रयोग से सामाचारी में प्रवर्तित होते हैं।

४३६/१५. अभ्यर्थना में मरुक तथा वानर^१ का दृष्टान्त है। स्वयमेव गुरु द्वारा वैयावृत्य किए जाने पर दो वणिक्^२ का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।

४३६/१६. जो संयम-व्यापार^३ में अभ्युत्थित है, श्रद्धा से कार्य में व्यापृत होता है तथा वस्तु की अप्राप्ति में भी अदीनमना है, उस तपस्वी मुनि के निर्जरा का लाभ होता ही है।

४३६/१७. संयम-योग में अभ्युत्थित मुनि द्वारा जो कुछ मिथ्या आचरण हुआ हो, उसे 'यह मिथ्या है', ऐसा जानकर मिथ्या दुष्कृत करना चाहिए।

४३६/१८. यदि पाप कर्म करके निश्चित ही निवर्तित होना हो तो उसे पुनः नहीं करना चाहिए, तब ही वह दुष्कर्म से प्रतिक्रान्त कहा जा सकता है।

१, २. देखें परि. ३ कथाएं।

३. आचार्य मलयगिरि की टीका में वैयावृत्य पाठ का अर्थ संयम-व्यापार में अभ्युत्थित किया है (मटी. प. ३४६)।

४३६/१९. जिस आचरण को मिथ्या मानकर 'मिथ्यादुष्कृत' किया है, उस मिथ्या आचरण के कारण को जो पुनः नहीं दोहराता तथा तीन करण तीन योग से प्रतिक्रान्त होता है, उसी का दुष्कृत मिथ्या होता है।

४३६/२०. जिस पापानुष्ठान के लिए 'मिथ्यादुष्कृत' किया है, उस पापानुष्ठान का जो पुनः सेवन करता है, वह प्रत्यक्ष ही मृषावादी है। वहां माया और कपट का प्रसंग होता है।

४३६/२१, २२. 'मिच्छामि दुक्कडं' पद की व्याख्या—'मि' का अर्थ है—मृदुता, मार्दवता (मृदुता अर्थात् काया की ऋजुता और मार्दवता अर्थात् भावों की ऋजुता), 'छ' अर्थात् दोषों का स्थगन, 'मि' का अर्थ है—चारित्र्य रूपी मर्यादा में स्थित होना, 'दु' का अर्थ है—दुष्कृतकारी अपनी आत्मा की निन्दा करना, 'क्क' का अर्थ है—मैंने पापानुष्ठान किया है, 'ड' का अर्थ है—उसका उपशम से अतिक्रमण करता हूं। यह 'मिच्छामि दुक्कडं'—मिथ्यादुष्कृत पद का संक्षेप में अक्षरार्थ है। [मैं काया और भावों की ऋजुता से असंयम को आच्छादित—स्थगित कर, मर्यादा में स्थित हूं। मैंने जो पापानुष्ठान किया है, उसकी निन्दा करता हूं और उसका उपशम के द्वारा अतिक्रमण करता हूं।]

४३६/२३. जो कल्प और अकल्प अर्थात् विधि और निषेध का पूर्ण ज्ञाता है, जो पांच महाव्रतों में स्थित है तथा जो संयम और तप से संपन्न है, उसके प्रति निर्विकल्प रूप से तथाकार का प्रयोग करना चाहिए।

४३६/२४. मुनि गुरु से वाचना को सुनते समय, उपदेश के समय तथा सूत्रार्थ के कथन में अथवा गुरु कोई बात कहे, तब शिष्य 'तथाकार' अर्थात् आप जो कह रहे हैं, वह अवितथ है, ऐसा कहे।

४३६/२५. जो इच्छाकार, मिथ्याकार तथा तथाकार से परिचित है, इनमें निपुण है, उसके सुगति दुर्लभ नहीं होती।

४३६/२६. शिष्य ने पूछा—उपाश्रय से बाहर जाते हुए 'आवश्यक' और उपाश्रय में आते हुए 'नैषेधिकी' करना चाहिए। हे गणिवर! इन दोनों के विषय में सूक्ष्मता से मैं आपके पास जानना चाहता हूं।

४३६/२७. आचार्य ने कहा—बाहर जाते हुए 'आवश्यक' और आते हुए 'नैषेधिकी' ये शब्द रूप में दो हैं पर दोनों का अर्थ एक ही है।

४३६/२८. जो मुनि एक आलम्बन पर स्थित है, प्रशान्त है, वह एक स्थान पर रहता है तो उसके ईर्यादि से होने वाले दोष नहीं होते। उसके स्वाध्याय, ध्यान आदि गुण निष्पन्न होते हैं किन्तु ग्लान आदि का कारण उपस्थित होने पर उसे अवश्य गमनागमन करना चाहिए। उसके 'आवश्यक' सामाचारी होती है।

४३६/२९. जो प्रतिक्रमण आदि सभी योगों से युक्त है, उसके आवश्यक होती है तथा जो मन, वचन और काय तथा इन्द्रियों से गुप्त है, उसके भी 'आवश्यक' होती है।

४३६/३०. मुनि जहां सोता है, कायोत्सर्ग आदि करता है, वहां नैषेधिकी होती है। उस विशिष्ट स्थिति वाली क्रिया में गमनागमन का निषेध होता है, इसी कारण से नैषेधिकी होती है।

४३६/३१. कार्य करने से पूर्व गुरु को पूछना 'आपृच्छ' है। प्रयोजन होने पर पूर्व निषिद्ध कार्य करते समय

पुनः पूछना 'प्रतिपृच्छा' है। पूर्व आनीत आहार आदि दूसरे मुनियों को देने की इच्छा 'छंदना' तथा अशन आदि अगृहीत दूसरे मुनियों को आहार आदि लाकर देने की भावना 'निमंत्रणा' है।

४३६/३२, ३३. उपसंपदा के तीन प्रकार हैं—ज्ञान उपसंपदा, दर्शन उपसंपदा तथा चारित्र उपसंपदा। ज्ञान तथा दर्शन की उपसंपदा के तीन-तीन प्रकार हैं—वर्तना, संधना और ग्रहण। चारित्र की उपसम्पदा दो प्रकार की है—१. वैयावृत्य विषयक २. क्षपण—तपस्या विषयक। यह उपसम्पदा यावत्कथिक और इत्वरिक दोनों प्रकार की होती है। वर्तना, संधना और ग्रहण—ये तीनों तीन-तीन प्रकार की होती हैं। सूत्रनिमित्तक, अर्थनिमित्तक और तदुभयनिमित्तक। इस प्रकार ज्ञान और दर्शन उपसंपदा के नौ-नौ भेद हो जाते हैं।

४३६/३४. उपसंपदा देने से सम्बन्धित चार विकल्प हैं^१—

१. संदिष्ट संदिष्ट का
२. संदिष्ट असंदिष्ट का
३. असंदिष्ट संदिष्ट का
४. असंदिष्ट असंदिष्ट का

इस चतुर्भंगी में प्रथम भंग शुद्ध है अर्थात् आचार्य द्वारा संदिष्ट व्यक्ति को उपसंपदा देनी चाहिए।

४३६/३५, ३६. पूर्व गृहीत सूत्र आदि के अस्थिर हो जाने पर पुनः स्थिर करना वर्तना है। उसी सूत्रार्थ के कुछ अंश की विस्मृति हो जाने पर पुनः योजित करना संधना है। सूत्र, अर्थ आदि को नए रूप में सीखना 'ग्रहण' है। अर्थ-ग्रहण में भी प्रायः यही विधि ज्ञातव्य है।

४३६/३७. अर्थग्रहण विधि के द्वार ये हैं—प्रमार्जन, निषद्या, अक्ष, कृतिकर्म, कायोत्सर्ग और ज्येष्ठवन्दन। यहां पर्याय ज्येष्ठ विवक्षित नहीं है। भाषक (वाचक) को ज्येष्ठ कहा गया है, वही वंदनीय है।

४३६/३८. स्थान का प्रमार्जन कर दो निषद्या करनी चाहिए। एक गुरु के लिए और दूसरी अक्ष^२—गुरु की उपधि रखने के लिए।

४३६/३९. व्याख्यानमंडली में गुरु के योग्य दो मात्रक रखने चाहिए—एक श्लेष्म आदि के लिए तथा दूसरा कायिकी (प्रस्रवण) के लिए। व्याख्यानमंडली में जितने शिष्य वाचना सुनते हैं, वे सभी द्वादशावर्त से वन्दना करते हैं।

४३६/४०. अनुयोग को प्राप्त करने के इच्छुक सभी श्रोता कायोत्सर्ग करते हैं। वे गुरु को पुनः वंदना करते

१. संदिष्ट-संदिष्ट—आचार्य द्वारा अनुज्ञात आचार्य की उपसंपदा स्वीकार करना।

संदिष्ट-असंदिष्ट—आचार्य द्वारा अनुज्ञात आचार्य की उपसंपदा स्वीकार न कर दूसरे आचार्य की उपसंपदा स्वीकार करना।

असंदिष्ट-संदिष्ट—अभी उन आचार्य के पास नहीं जाना है, अमुक के पास जाना है।

असंदिष्ट-असंदिष्ट—तुम्हें न अभी जाना है, न अमुक के पास जाना है।

इनमें प्रथम विकल्प शुद्ध है। शेष तीनों में असामाचारी का वर्तन होता है पर गण की अव्यवच्छित्ति के निमित्त से दूसरे विकल्प भी प्रयोजनीय हैं।

२. बृभाटी. पृ. ४५५ ; अक्षान् गुरुणामुत्कृष्टोपधिरूपान्।

हैं। वे न अतिदूर और न अतिनिकट स्थित होकर गुरु-वचन को सुनते हैं।

४३६/४१-४३. श्रोता निद्रा और विकथा का परिवर्जन कर, गुतेन्द्रिय होकर, हाथ जोड़कर, भक्ति और बहुमानपूर्वक, तल्लीन होकर सुने। श्रोता गुरु के अर्थसारयुक्त तथा सुभाषित वचनों की निरन्तर आकांक्षा करता हुआ, विस्मितमुख से स्वयं हर्षित होकर, दूसरों में हर्ष पैदा करता हुआ सुने। शिष्य अपने विनय और गुरुभक्ति से गुरु को परितुष्ट कर ईप्सित सूत्र और अर्थ का शीघ्र पार पा जाते हैं।

४३६/४४. मुनि व्याख्यान की समाप्ति होने पर कायिकी आदि योग को संपादित करके, ज्येष्ठ मुनियों को वंदना करते हैं। कुछ आचार्य कहते हैं कि व्याख्यान के प्रारम्भ में ही ज्येष्ठ को वंदना करते हैं।

४३६/४५. शिष्य कहता है—‘यदि कोई ज्येष्ठ सूत्रार्थ धारण में विफल हो, व्याख्यान की लब्धि से शून्य हो तो उसको वंदना करना निरर्थक है।’

४३६/४६. यहां अवस्था और संयमपर्याय से छोटा मुनि, जो व्याख्याता है, उसे ज्येष्ठ माना गया है। भंते! रत्नाधिक मुनि यदि उसे वंदना करते हैं तो क्या यह उनकी आशातना नहीं है ?

४३६/४७. कोई मुनि यदि वय और संयम-पर्याय में लघु है किन्तु सूत्रार्थ के धारण में निपुण है, व्याख्यान की लब्धि से सम्पन्न है, वह यहां ज्येष्ठ रूप में गृहीत है।

४३६/४८. जिनवचन के व्याख्याता मुनि को उस गुण के कारण यदि रत्नाधिक मुनि वंदना करते हैं तो वह आशातना नहीं है।

४३६/४९. निश्चय नय के अनुसार वंदनविधि में न अवस्था प्रमाण होती है और न संयम-पर्याय प्रमाण होता है। किन्तु व्यवहार नय के अनुसार यह उपयुक्त है अतः उभयनय युक्त मत ही प्रमाण है।

४३६/५०. निश्चयतः यह जानना कठिन है कि कौन श्रमण किस भाव (प्रशस्त या अप्रशस्त) में अवस्थित है। व्यवहार से तो यह माना जाता है कि जो पहले प्रव्रजित है, वही वन्दनीय है।

४३६/५१. प्रस्तुत प्रसंग में तीर्थंकर का वचन यह है कि जो भाषक (जिनवाणी का व्याख्याता) है, वही ज्येष्ठ है। उसी के प्रति कृतिकर्म—वन्दनविधि का कथन है। उसके प्रति ऐसा नहीं करना सूत्र की आशातना आदि अनेक दोषों की उद्भावना करना है।

४३६/५२. चारित्रविषयक उपसंपदा दो प्रकार की है—वैयावृत्य विषयक और क्षपण विषयक। अपने गच्छ से दूसरे गच्छ में जाने के अवसीदन आदि दोष कारण हैं।

४३६/५३. वैयावृत्य उपसंपदा के दो प्रकार हैं—इत्वरिक और यावत्कथिक। क्षपण उपसंपदा के भी ये ही दो प्रकार हैं। इत्वरिक क्षपक के दो प्रकार हैं—अविकृष्ट तप अर्थात् तेले-तेले की तपस्या करने वाला तथा विकृष्ट तप अर्थात् उपवास या बेले-तेले की तपस्या करने वाला। आचार्य गच्छ को पूछकर उसे क्षपण उपसंपदा दे।

४३६/५४. मुनि जिस प्रयोजन से उपसंपदा स्वीकार करता है, वह यदि उस प्रयोजन के अनुसार कार्य नहीं करता है तो उसे उस प्रयोजन के लिए प्रेरित करना चाहिए अथवा अविनीत का परित्याग कर देना चाहिए।

अथवा प्रयोजन की परिसमाप्ति हो जाने पर उसे याद दिलाना चाहिए कि प्रयोजन समाप्त हो गया है अतः उसका परित्याग कर देना है।

४३६/५५. मुनि को अपने तीसरे महाव्रत की रक्षा के लिए दूसरों के अदत्त अवग्रह—स्थान आदि में स्वल्प काल के लिए कायोत्सर्ग करना या बैठना भी नहीं कल्पता।

४३६/५६, ५७. संयम और तप को वृद्धिगत करने वाले निर्ग्रन्थ महर्षियों की दसविध सामाचारी का यह संक्षिप्त कथन है। चरणकरण में संयुक्त मुनि इस सामाचारी का परिपालन करते हुए अनेक भवों में संचित अनंत कर्मों का क्षय कर देते हैं।

४३७. आयुष्य-भेदन के सात कारण हैं—१. अध्यवसान २. निमित्त ३. आहार ४. वेदना ५. पराघात ६. स्पर्श—सर्प आदि का ७. आनापान-निरोध।^१

४३८, ४३९. दंड, कश, शस्त्र, रज्जु, अग्नि, उदक में डूबना, विष, सर्प, शीत, उष्ण, अरति, भय, क्षुधा, पिपासा, व्याधि, मल-मूत्र का निरोध, अधिक भोजन, अजीर्ण, बहुधा घर्षण, घोलन, पीड़न—ये भी आयुष्य-उपक्रम के हेतु हैं।

४४०. निर्धूमक ग्राम, शून्य महिलास्तूप अर्थात् कूपतट तथा घरों के नीचे उड़ते हुए कौओं को देखकर भिक्षा की बेला को जान जाना। (यह प्रशस्त देश-काल का स्वरूप है।)

४४१. निर्माक्षिक मधु, प्रकट निधि, शून्य मिठाई की दुकान तथा आंगन में सोई हुई मत्त प्रोषितपतिका नारी। (यह अप्रशस्त देश-काल का स्वरूप है।)

४४२. हमारे स्वाध्याय के देश-काल में कुत्ता मर गया। उसने हमारे स्वाध्याय-काल का हनन कर डाला क्योंकि उसने अकाल में काल किया है। (यह काल-काल अर्थात् मरणकाल का स्वरूप है।)

४४३. प्रमाण-काल के दो प्रकार हैं—१. दिवस प्रमाण-काल—चतुःपौरुषिक दिवस, २. रात्रि प्रमाण-काल—चतुःपौरुषिक रात्रि।

४४४. पांच वर्णों में जो वर्ण से कृष्ण वर्ण वाला है, वह वर्णकाल है अथवा जो पदार्थ जिस काल में प्ररूपित होता है, वह उसका वर्णकाल है।

४४५. औदारिक आदि भावों का जो काल है, वह भावकाल है। उसके चार विकल्प हैं—

१. सादि सपर्यवसान।

३. अनादि सपर्यवसान।

२. सादि अपर्यवसान।

४. अनादि अपर्यवसान।

१. १. अध्यवसान—राग, द्वेष, भय आदि निषेधात्मक अध्यवसाय।

२. निमित्त—दण्ड, शस्त्र आदि का प्रहार।

३. आहार—अत्यल्प या अधिक मात्रा में भोजन अथवा प्रतिकूल भोजन।

४. वेदना—आंख, कान आदि की पीड़ा।

५. पराघात—गड्ढे आदि में गिरना।

६. स्पर्श—सांप आदि से डसा जाना।

७. आनापान-निरोध—श्वास-निःश्वास का निरोध (आवहाटी. १ पृ. १८१)।

४४६. प्रस्तुत प्रसंग में प्रमाणकाल का प्रयोजन है। शिष्य ने पूछा—‘जिनेश्वर देव ने किस क्षेत्र और काल में सामायिक की प्ररूपणा की?’

४४७. वैशाख शुक्ला एकादशी को प्रथम पौरुषी में, महासेनवन उद्यान क्षेत्र में, सामायिक का अनन्तर निर्गम हुआ और शेष क्षेत्रों की अपेक्षा से उसका परंपर निर्गम हुआ।

४४८. क्षायिक भाव में वर्तमान जिनेन्द्र भगवान् से श्रुत का निर्गम हुआ और क्षायोपशमिक भाव में वर्तमान गणधर आदि ने उसका ग्रहण किया।

४४९. पुरुष शब्द के निम्न निक्षेप हैं—द्रव्यपुरुष, अभिलापपुरुष, चिह्नपुरुष, वेदपुरुष, धर्मपुरुष, अर्थपुरुष, भोगपुरुष, भावपुरुष। भावपुरुष जीव है। च शब्द से नाम और स्थापना पुरुष को जानना चाहिए। यहां भावपुरुष अर्थात् शुद्धजीव—तीर्थकर का प्रसंग है।

४५०. कारण शब्द के चार निक्षेप हैं। द्रव्य कारण के दो प्रकार हैं—तद्-द्रव्यकारण तथा अन्य-द्रव्यकारण अथवा निमित्तकारण और नैमित्तिककारण।

४५१. कारण के दो प्रकार हैं—समवायिकारण, असमवायिकारण। कारण^१ के छह प्रकार ये हैं—कर्त्ताकारण, कर्मकारण, करणकारण, संप्रदानकारण, अपादानकारण तथा सन्निधान कारण। (ये सारे द्रव्य कारण हैं।)

४५२. भावकारण के दो प्रकार हैं—अप्रशस्त तथा प्रशस्त। अप्रशस्त भावकारण संसार से संबंधित होता है। वह एक प्रकार का, दो प्रकार का अथवा तीन प्रकार का जानना चाहिए।

४५३. संसार के एक कारण में असंयम, दो कारणों में अज्ञान और अविरति तथा तीन कारणों में अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व आते हैं।

४५४. प्रशस्त भावकारण मोक्ष से संबंधित होता है। वह भी एक, दो अथवा तीन प्रकार का है। वह संसार से संबंधित कारणों से विपरीत है। यहां प्रशस्त भावकारण का अधिकार है।

४५५. तीर्थकर सामायिक अध्ययन का निरूपण किस कारण से करते हैं? (वे सोचते हैं) मुझे तीर्थकरनाम-गोत्र कर्म का वेदन करना है। (इस कारण से वे सामायिक का निरूपण करते हैं।)

४५६. तीर्थकरनामकर्म का वेदन कैसे होता है? अग्लानभाव से धर्मदेशना आदि करने से उसका वेदन होता है। तीर्थकर इस कर्म का बंधन पूर्ववर्ती तीसरे भव की स्थिति का अवसर्पण होने पर करते हैं।

४५७. नियमतः तीर्थकरनामकर्म का बंधन उन शुभ लेश्या वाले स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक के होता है, जिन्होंने तीर्थकरनामगोत्र कर्मबंध के बीस स्थानों में से किन्हीं स्थानों का बहुलता से स्पर्श किया हो।

४५८. गौतम आदि गणधर सामायिक क्यों सुनते हैं? वे ज्ञान के लिए तथा सुंदर और मंगुल भावों की उपलब्धि के लिए सुनते हैं।

१. आवहाटी. १ पृ. १८५; स्वैन व्यापारेण कार्यं यदुपयुज्यते तत्कारणम्—अपने व्यापार से जो कार्य में उपयुक्त होता है, वह कारण है।

४५९. वह उपलब्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति का निमित्त बनती है। यह निमित्त संयम और तप का कारण होता है। इससे पापकर्म का अग्रहण, उससे कर्मविवेक तथा उससे अशरीरता उपलब्ध होती है।

४६०. कर्म-विवेक अशरीरता का कारण है। अशरीरता अनाबाधा का कारण है। अनाबाधा का निमित्त अथवा कार्य है—अवेदन। अवेदन से जीव अनाकुल और नीरुज होता है।

४६१. जीव नीरुजता से अचल और अचलता से शाश्वत होता है। शाश्वतभाव को प्राप्त जीव अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है।

४६२. प्रत्यय शब्द के चार निक्षेप हैं—नामप्रत्यय, स्थापनाप्रत्यय, द्रव्यप्रत्यय और भावप्रत्यय। द्रव्यप्रत्यय है—तसमाषक आदि। भावप्रत्यय है—अवधि आदि तीन प्रत्यक्षज्ञान। प्रस्तुत में भावप्रत्यय का प्रसंग है।

४६३. 'मैं केवलज्ञानी हूँ'—इस प्रत्यय से अर्हत् सामायिक का कथन करते हैं। सुनने वालों को यह प्रत्यय होता है कि 'ये सर्वज्ञ हैं', इसलिए वे सुनते हैं।

४६४-४६६. लक्षण के तरह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, सादृश्य, सामान्य, आकार, गत्यागति^१, नानात्व, निमित्त, उत्पाद, विगम, वीर्य तथा भाव। लक्षणों का यह संक्षिप्त वर्णन है। भावलक्षण के चार प्रकार हैं—श्रद्धान, ज्ञान, विरति, विरताविरति।^२ सामायिक के चार प्रकार हैं—सम्यक्त्व सामायिक, श्रुत सामायिक, चारित्र सामायिक तथा चारित्राचारित्र सामायिक। सामायिक के इस कथन को गणधर आदि सुनते हैं और यह प्रत्यय करते हैं कि सामायिक चार लक्षणों से संयुक्त ही होता है।

४६७. मूल नय सात प्रकार के हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत।

४६८. जो एक प्रमाण से पदार्थ का परिच्छेद नहीं करता किन्तु अनेक निगमों (पदार्थ-परिच्छेदकों से) पदार्थ का मान करता है, वह नैगम है। यह नैगम शब्द का निरुक्त है। अब मैं शेष नयों का लक्षण कहूंगा, तुम सुनो।

४६९. संगृहीत तथा पिंडितार्थ का संक्षेप कथन है—संग्रहनय। व्यवहारनय समस्त द्रव्यों का विनिश्चयार्थ (सामान्य अवबोध) की प्राप्ति कराता है।

४७०. जो प्रत्युत्पन्नग्राही अर्थात् वर्तमानग्राही होता है, वह ऋजुसूत्र नयविधि है। शब्दनय विशेषिततर^३ रूप से वर्तमान को ग्रहण करता है।

१. आवहाटी. १ पृ. १८८ ; गत्यागतिलक्षण—तच्चतुर्धा—पूर्वपदव्याहतमुत्तरपदव्याहतमुभयपदव्याहतमुभयपदव्याहतमिति—गत्यागति लक्षण चार प्रकार का है—१. पूर्वपदव्याहत २. उत्तरपदव्याहत ३. उभयपदव्याहत ४. उभयपदअव्याहत।

२. श्रद्धान—सम्यक्त्वसामायिक का, ज्ञान—श्रुतसामायिक का, विरति—चारित्रसामायिक का तथा विरताविरति—चारित्राचारित्र-सामायिक का लक्षण है।

३. विशेषिततर—शब्दनय वर्तमानग्राही होता है परन्तु वह नाम, स्थापना, द्रव्य आदि से रहित समान लिंग, वचन, पर्याय तथा ध्वनि के आधार पर वर्तमान को ग्रहण करता है। वह मानता है कि नामकुंभ, स्थापनाकुंभ, द्रव्यकुंभ आदि कुछ नहीं होते। ये अकार्यकर हैं। भिन्नलिंग और भिन्नवचन वाले भी एक नहीं होते। केवल स्वपर्याय ध्वनि से वाच्य ही एक होते हैं (आवहाटी. १ पृ. १८९)।

४७१. एक वस्तु के नाम का अन्य वस्तु में संक्रमण^१ करने पर वह अवस्तु हो जाती है, यह समभिरूढ नय है। एवंभूतनय व्यंजन अर्थात् शब्द को अर्थ से तथा अर्थ को शब्द से विशेषित करता है।

४७२. प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद हैं। इस प्रकार नयों की संख्या सात सौ हो जाती है। एक अन्य मत के अनुसार नयों के पांच सौ प्रकार हैं।^२

४७३. इन नैगम आदि नयों के आधार पर दृष्टिवाद में प्ररूपणा की गई है तथा इन्हीं के आधार पर सूत्रार्थ का कथन किया गया है। यहां अर्थात् कालिकश्रुत में नयों से व्याख्या करना आवश्यक नहीं है। नयों के आधार पर व्याख्या करनी हो तो प्रायः प्रथम तीन नयों से ही करनी चाहिए।

४७४. जिनेश्वर देव के मत में कोई भी सूत्र और अर्थ नयविहीन नहीं होता। नयविशारद गुरु श्रोताओं की अपेक्षा से ही नयों का प्रयोग करे।

४७५. कालिकश्रुत मूढनयिक^३ है। वहां प्रतिपद पर नयों का समवतार नहीं होता। अपृथक्त्व-अनुयोग में नयों का समवतार होता है, पृथक्त्वानुयोग में उनका समवतार नहीं होता।

४७६. आर्यवज्र तक कालिकानुयोग का अपृथक्त्व-अनुयोग था। उनके पश्चात् कालिकश्रुत तथा दृष्टिवाद में पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन हुआ।

४७६/१. तुंबवन सन्निवेश से निर्गत आर्यवज्र का पिता के साथ रहना। छह महीने की उम्र में उसे मुनियों को दे देना। मातृकापद से समन्वित तथा षड्जीवनिकाय के प्रति यतनावान् आर्यवज्र को मैं वंदना करता हूं।^४

४७६/२. गुह्यक देवों ने बाल मुनि को बरसती वर्षा में भोजन का निमंत्रण दिया। बालमुनि ने इन्कार कर दिया, उन विनीतविनय वज्र ऋषि को मैं नमस्कार करता हूं।

४७६/३. जृम्भक देवों ने उज्जयिनी में जिनकी परीक्षा कर स्तुति की तथा विद्यादान से पूजा की, उन अक्षीण-महानसिक लब्धिसंपन्न तथा आचार्य सिंहगिरि से प्रशंसित आर्यवज्र को वंदन करता हूं।

४७६/४. दशपुर नगर में जिसका वाचकपद अनुज्ञात होने पर जृम्भक देवों द्वारा महिमा की गयी, उन पदानुसारी विद्या के ज्ञाता आचार्य वज्र को मैं नमस्कार करता हूं।

४७६/५. कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) नगर में गृहपति धन द्वारा कन्या और धन स्वीकार करने के लिए प्रार्थना करने पर भी यौवनस्थ वज्र ने उसे अस्वीकार कर दिया, मैं उन वज्र ऋषि को नमस्कार करता हूं।

१. समभिरूढ नय शब्द की एकार्थता को अस्वीकार करता है। उसके अनुसार घट नामक वस्तु में कुट का संक्रमण करने से वह घट नहीं रहेगा। जैसे घट, कुट और कुम्भ एकार्थक होते हुए भी भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति से युक्त होने के कारण भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं। किसी महिला के मस्तक पर जल-आहरण की क्रिया में परिणत घट को ही घट शब्द के द्वारा वाच्य किया जा सकता है (विस्तार हेतु देखें आवहाटी. १ पृ. १९०)।

२. आवचू. १ पृ. ३७९; तिन्नि वि सदनया एगो चेव तेण पंचसया.....एत्थ एक्केक्को उ सयभेद इति पंचसया। तीन शब्द नयों को एक मानने से प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद करने पर नय के पांच सौ भेद होते हैं।

३. आवचू. १ पृ. ३८०; मूढा अविभागात्था गुप्ता नया जम्मि अत्थि तं मूढणतियं। अविभक्त नय जिसमें हो, वह मूढनयिक है।

४. देखें परि. ३ कथाएं।

४७६/६. जिन्होंने महापरिज्ञा (आचारांग के सातवें अध्ययन) से आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया तथा जो श्रुतधरों में अंतिम दशपूर्वी थे, उन आर्य वज्र को मैं वंदना करता हूँ।

४७६/७, ८. वे कहते थे कि मेरी इस विद्या से पूरे जम्बूद्वीप में पर्यटन किया जा सकता है तथा मानुषोत्तर पर्वत पर जाकर ठहरा जा सकता है। इस विद्या को धारण करना चाहिए किन्तु किसी को देना नहीं चाहिए क्योंकि भविष्य में मनुष्य अल्पवृद्धि वाले होंगे।

४७६/९. अत्यंत शक्तिसंपन्न आर्यवज्र माहेश्वरी नगरी के हुताशन नामक व्यन्तरदेवकुल वाले उद्यान से पुष्पों का ढेर आकाश मार्ग से पुरिका नगरी में ले गए।

४७७. अपृथक्त्व अनुयोग में चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग तथा द्रव्यानुयोग—ये चारों एक साथ कहे जाते थे। पृथक्त्व-अनुयोग करने से वे सारे अर्थ व्युच्छिन्न हो गए।

४७८. देवेन्द्र द्वारा वंदित महानुभाग आर्यरक्षित ने युग को समझकर अनुयोग को विभक्त कर उसे चार भागों में बांट दिया।

४७९, ४८०. आर्यरक्षित की माता का नाम रुद्रसोमा और पिता का नाम सोमदेव था। उनके भाई का नाम फल्गुरक्षित और आचार्य का नाम तोसलिपुत्र था। वे आचार्य भद्रगुप्त के निर्यामक बने। आर्यरक्षित ने आर्यवज्र से पृथक् उपाश्रय में रहकर पूर्वों का अध्ययन किया। उन्होंने भ्राता तथा जनक को भी प्रव्रजित किया।^१

४८१. महाकल्पसूत्र तथा शेष छेदसूत्र—ये चरणकरणानुयोग हैं—यह मानकर इनको कालिकश्रुत में जानना चाहिए।

४८२. वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में ये सात निहव हुए हैं—बहुरतवादी, जीवप्रदेशवादी, अव्यक्तवादी, समुच्छेदवादी, द्विक्रियवादी, त्रैराशिकवादी तथा अबद्धिकवादी।

४८३, ४८४. जमालि से बहुरतवाद, तिष्यगुप्त से जीवप्रदेशवाद, आषाढ से अव्यक्तवाद, अश्वमित्र से सामुच्छेदवाद, गंग से द्विक्रियवाद, षडुलूक से त्रैराशिकवाद, स्थविर गोष्ठामाहिल से स्पृष्ट-अबद्ध—अबद्धिकवाद का प्रारंभ हुआ।

४८५. निहवों के नगर क्रमशः इस प्रकार हैं—श्रावस्ती, ऋषभपुर, श्वेतविका, मिथिला, उल्लुकातीर, अंतरंजिकापुर, दशपुर और रथवीरपुर।

४८६, ४८७. चौदह वर्ष, सोलह वर्ष, दो सौ चौदह वर्ष, दो सौ बीस वर्ष, दो सौ अठावीस वर्ष, पांच सौ चौवालीस वर्ष, पांच सौ चौरासी वर्ष तथा छह सौ नौ वर्ष—यह निहवों का उत्पत्ति-काल है। भगवान् को केवलज्ञान होने पर प्रथम दो निहव हुए तथा शेष निहव भगवान् के निर्वृत होने पर हुए।

४८७/१. भगवान् महावीर की कैवल्य-प्राप्ति के १४ वर्ष पश्चात् श्रावस्ती नगरी में बहुरतवाद की उत्पत्ति हुई।

१. देखें परि. ३ कथाएं।

४८७/२. महावीर की ज्येष्ठा भगिनी सुदर्शना का पुत्र जमालि तथा भगवान की पुत्री अनवद्यांगी (प्रियदर्शना) डेढ़ हजार व्यक्तियों के साथ प्रव्रजित हुए। श्रावस्ती नगरी के तिंदुक उद्यान में जमालि विप्रतिपन्न हुआ। ठंक् श्रावक ने प्रतिबोध दिया। जमालि को छोड़कर सुदर्शना महावीर के शासन में आ गई।^१

४८७/३. भगवान् महावीर की कैवल्य-प्राप्ति के सोलह वर्ष पश्चात् ऋषभपुर नगर में जीवप्रादेशिकवाद की उत्पत्ति हुई।

४८७/४. राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में चतुर्दशपूर्वी आचार्य वसु का आगमन हुआ। उनका शिष्य तिष्यगुप्त आचार्य को छोड़कर आमलकल्या नगरी में आया। वहां मित्रश्री नामक श्रमणोपासक ने कूर पिंड आदि का अंतिम अंश देकर प्रतिबोध दिया।^२

४८७/५. भगवान् महावीर की सिद्धि-प्राप्ति के दो सौ चौदह वर्ष पश्चात् श्वेतविका नगरी में अव्यक्तवाद की उत्पत्ति हुई।

४८७/६. श्वेतविका नगरी के पोलास उद्यान में आर्य आपाढ का प्रवास था। उनके शिष्य आगाढयोग-प्रतिपन्न थे। आचार्य हृदयशूल की पीड़ा में अचानक कालगत हो गए। वे सौधर्म देवलोक के नलिनीगुल्म विमान में उत्पन्न हुए। उनके शिष्यों को राजगृह नगर में मौर्यवंशी बलभद्र नामक राजा ने प्रतिबोध दिया।^३

४८७/७. भगवान् महावीर की सिद्धि-प्राप्ति के दो सौ बीस वर्ष पश्चात् मिथिला नगरी में सामुच्छेदवाद की उत्पत्ति हुई।

४८७/८. मिथिला नगरी के लक्ष्मीगृह चैत्य में आचार्य महागिरि और उनका शिष्य कौंडिन। उसका शिष्य अश्वमित्र। अनुप्रवादपूर्व की नैपुणिक वस्तु की वाचना। राजगृह में खंडरक्ष आरक्षक श्रमणोपासकों द्वारा प्रतिबोध।^४

४८७/९. भगवान् महावीर की सिद्धि-प्राप्ति के दो सौ अठाईस वर्ष के पश्चात् उल्लुकातीर नगरी में द्विक्रियवाद की उत्पत्ति हुई।

४८७/१०. नदीखेट जनपद के उल्लुकातीर नगरी में आचार्य महागिरि का शिष्य धनगुप्त। उनका शिष्य आर्य गंग। नदी में उतरते हुए उसने द्विक्रियवाद की प्ररूपणा की। राजगृह में आगमन। महातपस्तीर से उद्भूत झरना। मणिनाग नामक नागदेव द्वारा प्रतिबोध।^५

४८७/११. भगवान् महावीर की सिद्धि-प्राप्ति के पांच सौ चौवालीस वर्ष के पश्चात् अंतरंजिका नगरी में त्रैराशिकवाद की उत्पत्ति हुई।

४८७/१२. अंतरंजिका नगरी में भूतगृह नामक चैत्य। बलश्री राजा। श्रीगुप्त आचार्य। रोहगुप्त शिष्य। परिव्राजक पोद्दुशाल। घोषणा। प्रतिषेध। वाद के लिए ललकारना।

१-५. जमालि आदि निहवों की कथा हेतु देखें निर्युक्तिपंचक परि. ६ पृ. ५४६- ५४९।

४८७/१३. परिव्राजक वृश्चिक, सर्प, मूषक, मृगी, वराही, काकी और पोताकी—इन विद्याओं में कुशल था।

४८७/१४. तब आचार्य ने अपने शिष्य से कहा—तुम मायूरी, नाकुली, विडाली, व्याघ्री, सिंही, उलूकी तथा उल्लावकी—इन विद्याओं को ग्रहण करो। ये विद्याएं परिव्राजक द्वारा प्रयुक्त विद्याओं की प्रतिपक्षी हैं तथा उसके द्वारा अहननीय हैं।

४८७/१५. परिव्राजक वाद में पराजित हो गया। राजा ने उसे देश से निष्कासित कर दिया और नगर में यह घोषणा करवा दी कि जिनेश्वर भगवान् वर्द्धमान की विजय हो^१ (अर्थात् अर्हत् परंपरा के मुनि की जीत हुई है।)

४८७/१६. भगवान् महावीर की सिद्धि-प्राप्ति के पांच सौ चौरासी वर्ष के पश्चात् अबद्धिकवाद की उत्पत्ति हुई।

४८७/१७. दशपुर नगर के इक्षुगृह में आर्यरक्षित अपने धृतपुष्यमित्र, वस्त्रमित्र, दुर्बलिकापुष्यमित्र, गोष्ठामाहिल आदि शिष्यों के साथ विराजमान। आठवें तथा नवें पूर्व की वाचना। विंध्य द्वारा जिज्ञासा।

४८७/१८. जैसे कंचुकी पहने हुए पुरुष से कंचुकी स्पृष्ट होने पर भी बद्ध नहीं है, वैसे ही कर्म जीव से स्पृष्ट होने पर भी बद्ध नहीं होते।

४८७/१९. जो प्रत्याख्यान अपरिमाण अर्थात् तीन करण तीन योग से यावज्जीवन के लिए किया जाता है, वह श्रेयस्कर है। परिमित समय के लिए किया गया प्रत्याख्यान आशंसा दोष से दूषित होता है।^२

४८७/२०. भगवान् महावीर की सिद्धि-प्राप्ति के ६०९ वर्ष के पश्चात् रथवीरपुर नगर में बोटिकवाद की उत्पत्ति हुई।

४८७/२१. रथवीरपुर नगर के दीपक उद्यान में आचार्य कृष्ण के पास शिवभूति ने दीक्षा स्वीकार की। गुरु से जिनकल्प संबंधी उपधि का विवेचन सुनकर शिवभूति द्वारा जिज्ञासा करने पर गुरु ने समाधान दिया।

४८७/२२, २३. गुरु द्वारा प्रज्ञप्त सिद्धान्त पर उसे विश्वास नहीं हुआ। रथवीरपुर नगर में शिवभूति द्वारा बोटिक नामक मिथ्यादृष्टि का प्रवर्तन हुआ। उसके कौंडिन्य और कोट्टवीर नामक दो शिष्य हुए। यह परम्परा आगे भी चली।^३

४८८. इस अवसर्पिणी काल के सात निहवों का कथन किया गया है। ये सातों निहव भगवान् महावीर के तीर्थ में हुए हैं। शेष तीर्थकरों के तीर्थ में कोई निहव नहीं हुआ।

४८९. इनमें से एक गोष्ठामाहिल निहव के अतिरिक्त शेष सभी निहवों की प्रत्याख्यान संबंधी दृष्टि

१-३. इनकी विस्तृत कथा हेतु देखें निर्युक्तिपंचक परि. ६ पृ. ५५०-५५४।

यावज्जीविका—जीवनपर्यन्त की थी। शेष निहवों के दो-दो दोष जानने चाहिए।^१

४९०. ये सातों निर्ग्रन्थरूप दृष्टियां जन्म-जरा-मरण-गर्भवसतिरूप संसार का मूल कारण हैं।

४९१. निहव प्रवचन के प्रति अकिंचित्कर होते हैं। जिस क्षेत्र और काल में जो अशन आदि उनके लिए बनाया जाता है, वह मूलगुण से संबंधित हो अथवा उत्तरगुण से, वे उसका परिहार वैकल्पिकरूप से करते हैं अर्थात् कभी करते हैं, कभी नहीं भी करते।

४९२. मिथ्यादृष्टि वालों के लिए जिस काल और जिस क्षेत्र में जो अशन आदि बनाया जाता है, वह चाहे मूलगुण से संबंधित हो अथवा उत्तरगुण से, वह सारा शुद्ध है—कल्प्य है।

४९३. तप और संयम—ये दोनों मोक्षांग के रूप में अनुमत हैं। (इनसे सर्वविरति सामायिक तथा विरताविरति सामायिक—दोनों गृहीत हैं।) निर्ग्रन्थ प्रवचन से श्रुतसामायिक तथा सम्यक्त्वसामायिक गृहीत है। व्यवहारनय (नैगम और संग्रहनय सहित) में चारों प्रकार की सामायिक अनुमत है। शब्दनय और ऋजुसूत्र नय निर्वाण को ही संयम मानता है।

४९४. आत्मा सामायिक है। सावद्य योग का प्रत्याख्यान करने वाला आत्मा है। वह प्रत्याख्यान समवायरूप से समस्त द्रव्यों का होता है।

४९५. पहले महाव्रत का विषय है—सर्व जीव जगत्। दूसरे और पांचवें महाव्रत का विषय है—सर्व द्रव्य। शेष दो महाव्रतों—तीसरे तथा चौथे का विषय है—द्रव्य का एक देशमात्र।

४९६. द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से गुणप्रतिपन्न जीव सामायिक है। पर्यार्थिक नय की अपेक्षा से जीव का वही गुण सामायिक है।

४९७. गुण ही उत्पाद और व्ययरूप में होते हैं, द्रव्य नहीं। द्रव्य से गुण उत्पन्न होते हैं लेकिन गुण से द्रव्य उत्पन्न नहीं होते।

४९८. प्रयोग और विस्मसाभाव से द्रव्य जो-जो और जिन-जिन भावों को परिणत करता है, केवली उनको वैसा ही जानता है। अपर्याय अर्थात् निराकार का ज्ञान नहीं होता।

४९९. सामायिक के तीन प्रकार हैं—सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक तथा चारित्रसामायिक। चारित्र-सामायिक के दो प्रकार हैं—अगारचारित्रसामायिक तथा अनगारचारित्रसामायिक।

५००. अध्ययन के तीन प्रकार हैं—सूत्र विषयक, अर्थ विषयक तथा तदुभय विषयक। शेष अध्ययनों में भी यही निर्युक्ति है।

१. बहुरतवादी जीवप्रदेशवादियों को कहते कि तुम दो बातों से मिथ्यादृष्टि हो— तुम एक प्रदेश को जीव तथा क्रियमाण को कृत कहते हो। गोष्ठामाहिल बहुरतवादियों को कहते कि तुम तीन दृष्टियों से मिथ्यादृष्टि हो—कृत को कृत, बद्धकर्म का वेदन तथा यावज्जीवन प्रत्याख्यान (आवहाटी. १ पृ. २१७)।

५०१. जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में सन्निहित^१ होती है, उसके सामायिक होती है, यह केवलियों का कथन है।

५०२. जो त्रस और स्थावर—सभी प्राणियों के प्रति सम रहता है, उसके सामायिक होती है, ऐसा केवलियों का कथन है।

५०३. सावद्ययोग के परिवर्जन हेतु सामायिक परिपूर्ण और प्रशस्त अनुष्ठान है। 'यही गृहस्थधर्म में प्रधान है' यह जानकर विद्वान् व्यक्ति आत्महित तथा मोक्ष के लिए इसकी अनुपालना करे।

५०४. जो व्यक्ति 'सर्व सावद्ययोग का प्रत्याख्यान करता हूँ' ऐसा कहता है, परन्तु जिसकी विरति पूर्णरूपेण नहीं है, वह सर्वविरतिवादी देशविरति और सर्वविरति से भी भ्रष्ट हो जाता है।

५०५. सामायिक करने पर श्रावक भी श्रमण तुल्य हो जाता है, इस कारण से अनेक बार सामायिक करनी चाहिए।

५०५/१. जीव अनेक प्रकार से, बहुविध विषयों में प्रमादबहुल होता है इसलिए मुक्त होने के लिए बहुत बार सामायिक करनी चाहिए।

५०६. जो न रागभाव में वर्तन करता है और न द्वेषभाव में, किन्तु दोनों के मध्य मध्यस्थभाव में रहता है, वह मध्यस्थ होता है, शेष सारे अमध्यस्थ हैं।

५०७-५०९. सामायिक के ये द्वार हैं—क्षेत्र, दिग्, काल, गति, भव्य, संज्ञा, उच्छ्वास, दृष्टि, आहारक, पर्याप्त, सुप्त, जन्म, स्थिति, वेद, संज्ञा, कषाय, आयु, ज्ञान, योग, उपयोग, शरीर, संस्थान, संहनन, मान—शरीरपरिमाण, लेश्या, परिणाम, वेदना, समुद्घात, कर्म, निर्वेष्टन, उद्वृत्त, आश्रवकरण, अलंकार, शयनासन, स्थान, चक्रमण, क्या और कहाँ।

५१०. सम्यक्त्वसामायिक तथा श्रुतसामायिक की प्राप्ति ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—तीनों लोकों में होती है।^२ विरतिसामायिक केवल मनुष्य लोक में तथा विरताविरति सामायिक तिर्यज्ज्वों में भी होती है।

५११. पूर्वप्रतिपन्नक की अपेक्षा से तीनों प्रकार की सामायिक नियमतः तीनों लोकों में प्राप्त होती है। चारित्रसामायिक नियमतः अधोलोक और तिर्यक्लोक में ही प्राप्त होती है। ऊर्ध्वलोक में उसकी प्राप्ति का विकल्प है—प्राप्त होती भी है और नहीं भी होती।

१. अनुयोगद्वार की टीका और आवश्यक निर्युक्ति की हारिभद्रीय टीका (पृ. २२०) में 'सामायिक' शब्द की संस्कृत छाया सामानिक की गयी है। मटी (प. ४३५) में इसकी संस्कृत छाया समानीत करके मलयगिरि में इसका अर्थ सन्निहित किया है। इस गाथा में संयम शब्द मूलगुण तथा नियम शब्द उत्तरगुण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

२. वृत्तिकार कहते हैं—'क्षेत्रनियमं तु विशिष्टश्रुतविदो विदन्ति'—यह क्षेत्रगत नियम केवल विशिष्ट श्रुतज्ञानी ही जानते हैं (आवहाटी. १ पृ. २२१)।

५१२. दिशा के सात निक्षेप हैं—

१. नामदिक्	५. तापक्षेत्रदिक्
२. स्थापनादिक्	६. प्रज्ञापकदिक्
३. द्रव्यदिक्	७. भावदिक्।
४. क्षेत्रदिक्	

भावदिक् अठारह प्रकार की होती है।

५१२/१. सूर्य के आश्रित दिशा तापक्षेत्र दिशा है।^१ जिस क्षेत्र के लोगों के जिस दिशा में सूर्य उदित होता है, वह उनके लिए पूर्वदिशा है। सूर्य की ओर मुंह किए खड़े मनुष्य की दाहिनी ओर दक्षिण, पीठ की तरफ पश्चिम तथा बायीं ओर उत्तर दिशा होती है।

५१२/२. प्रज्ञापक जिस दिशा के अभिमुख होकर सूत्र आदि की व्याख्या करता है, वह पूर्वदिशा है। दक्षिण पार्श्व से दक्षिण आदि दिशाएं होती हैं। भावदिशाएं अठारह प्रकार की हैं, जिनमें जीव की गति और आगति होती है।

५१२/३, ४. कर्म के वशीभूत होकर जीव विभिन्न दिशाओं में भ्रमण करते हैं। वे भावदिशाएं कहलाती हैं। उनके अठारह प्रकार हैं—

१. पृथ्वी	७. अग्रबीज	१३. सम्पूर्च्छिम मनुष्य
२. जल	८. पर्वबीज	१४. कर्मभूमिज मनुष्य
३. अग्नि	९. द्वीन्द्रिय	१५. अकर्मभूमिज मनुष्य
४. वायु	१०. त्रीन्द्रिय	१६. अन्तर्द्वीपज मनुष्य
५. मूलबीज	११. चतुरिन्द्रिय	१७. नारक
६. स्कंधबीज	१२. तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय	१८. देव।

५१३. सामायिकों का प्रतिपद्यमानक पूर्व आदि महादिशाओं में होता है। पूर्वप्रतिपन्नक किसी भी दिशा में हो सकता है।

५१४. सम्यक्त्वसामायिक तथा श्रुतसामायिक की प्रतिपत्ति छहों कालखण्डों में होती है। विरति—सर्वचारित्र-सामायिक तथा विरताविरति—देशचारित्रसामायिक दो अथवा तीन कालों में होती हैं।^२

१. तिर्यक् लोक के मध्य में मेरु के मध्यभाग में आठ रुचक प्रदेश हैं। ये रुचक प्रदेश दिशाओं और विदिशाओं के उत्पत्ति-स्थल हैं (ठाणं १०/३०, आनि ४२)।

२. इसे तापदिशा भी कहा जाता है। सूर्य की किरणों के स्पर्श से उत्पन्न प्रकाशात्मक परिताप से युक्त क्षेत्र तापक्षेत्र कहलाता है। उससे सम्बन्धित दिशाएं तापक्षेत्र दिशा कहलाती हैं। ये दिशाएं सूर्य के अधीन होने के कारण अनियत होती हैं (आवमटी. प. ४३९)।

३. उत्सर्पिणी काल में—दुःषमसुषमा तथा सुषमदुःषमा में।

अवसर्पिणी काल में—सुषमदुःषमा, दुःषमसुषमा तथा दुःषमा में (आवहाटी. १ पृ. २२२)।

५१५. सम्यक्त्वसामायिक तथा श्रुतसामायिक की प्रतिपत्ति नियमतः चारों गतियों में होती है। समग्र चारित्रात्मिका विरति मनुष्यों में ही होती है। तिर्यज्चों में विरताविरति अर्थात् देशचारित्रात्मिका विरति होती है।

५१६. भवसिद्धिक (भव्य) जीव चारों प्रकार की सामायिकों में से एक, दो, तीन अथवा चारों को स्वीकार कर सकता है। असंज्ञी, मिश्र^१ तथा अभव्य—ये तीनों किसी भी सामायिक को स्वीकार नहीं करते।

५१७. उच्छ्वासक, निःश्वासक अर्थात् आनापान पर्याप्ति से संपन्न प्राणी चारों सामायिकों का प्रतिपन्नक होता है। मिश्रक अर्थात् आनापान पर्याप्ति से अपर्याप्तक का इसमें प्रतिषेध है। वह पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा से दो सामायिकों—सम्यक्त्वसामायिक तथा श्रुतसामायिक का प्रतिपन्नक होता है। दृष्टि के आधार पर विचार करने पर दो नय—व्यवहार और निश्चय से विचार होता है।

५१८. आहारक और पर्याप्तक जीव चारों सामायिकों में से कोई एक सामायिक को प्राप्त करता है। अनाहारक तथा अपर्याप्तक में सम्यक्त्वसामायिक तथा श्रुतसामायिक होती है।

५१९. निद्रा से तथा भाव से जागृत प्राणी में चारों सामायिकों में से कोई एक प्राप्त होती है। अंडज और पोतज प्राणी तीन सामायिकों के तथा जरायुज मनुष्य चारों सामायिकों के प्रतिपन्नक होते हैं। (औपपातिक जीव प्रथम दो—सम्यक्त्वसामायिक एवं श्रुतसामायिक के प्रतिपन्नक होते हैं।)

५२०. आयुष्य को छोड़कर शेष सात कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति में जीव चारों सामायिकों का प्रतिपद्यमानक और प्रतिपन्नक नहीं होता। अजघन्य अनुत्कृष्ट अर्थात् कर्मों की मध्यम स्थिति में ही प्रतिपद्यमानक तथा प्रतिपन्नक—दोनों के चारों प्रकार की सामायिक का सद्भाव रहता है।

५२१. चारों प्रकार के सामायिकों की प्रतिपत्ति तीनों वेद तथा चारों संज्ञाओं में होती है। कषाय के प्रसंग में जितनी सामायिकों का वर्णन है, यहां भी वैसा ही समझना चाहिए।^२

५२२. संख्येय वर्ष की आयुष्य वाले मनुष्यों के चारों प्रकार की सामायिक की प्रतिपत्ति होती है। असंख्येय वर्षायुष्क वालों के सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक की भजना है। ओघ^३ तथा विभाग^४ से ज्ञानी चारों सामायिक की प्राप्ति कर सकता है।

१. आवहाटी १ पृ. २२३; मिश्रके सिद्धे यतोऽसौ न संज्ञी नाप्यसंज्ञी, न भव्यो नाप्यभव्यः अतो मिश्रः—न संज्ञी न असंज्ञी, न भव्य और न अभव्य अर्थात् सिद्ध। विस्तार के लिए देखें श्रीभिक्षु आगमविषय कोश पृ. ६९८।

२. प्रतिपद्यमानक तथा प्रतिपन्नक सकषायी के चारों प्रकार की सामायिक तथा अकषायी छद्मस्थ वीतराग तीन प्रकार की सामायिकों का पूर्वप्रतिपन्नक होता है, प्रतिपद्यमानक नहीं होता (आवहाटी. १ पृ. २२४)।

३. ओघ का अर्थ है—सामान्य ज्ञानी (आवहाटी. १ पृ. २२४)।

४. विभाग से अर्थात् आभिनबोधिक तथा श्रुतज्ञानी एक साथ सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक को, अवधिज्ञानी पूर्व प्रतिपन्नक की अपेक्षा सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक तथा सर्वविरतिसामायिक को, मनःपर्यवज्ञानी पूर्वप्रतिपन्नक की अपेक्षा देशविरतिरहित तीन सामायिकों को, भवस्थ केवली पूर्व प्रतिपन्नक की अपेक्षा सम्यक्त्व सामायिक तथा चारित्रसामायिक को प्राप्त करता है।

५२३. चारों सामायिक तीनों योगों में तथा साकार और अनाकार—इन दोनों उपयोगों में होती है। औदारिक शरीर में चारों सामायिक तथा वैक्रिय शरीर में सम्यक्त्वसामायिक तथा श्रुतसामायिक की भजना है।
५२४. सभी संस्थानों तथा सभी संहननों में चारों सामायिकों की प्रतिपत्ति होती है। उत्कृष्ट तथा जघन्य शरीर प्रमाण का वर्जन कर अन्य सभी शरीर-मानों में मनुष्य के चारों सामायिकों की प्रतिपत्ति होती है।^१
५२५. सभी लेश्याओं में सम्यक्त्वसामायिक तथा श्रुतसामायिक तथा तेजोलेश्या आदि तीन शुद्ध लेश्याओं में चारित्रसामायिक की प्रतिपत्ति होती है। इन सामायिकों का पूर्वप्रतिपन्नक किसी भी लेश्या में हो सकता है।
५२६. वर्धमान तथा अवस्थित परिणाम वालों में चारों सामायिकों में से किसी एक सामायिक की प्रतिपत्ति होती है। हीयमान परिणामों में किसी भी प्रकार की सामायिक की प्रतिपत्ति नहीं होती।
५२७. सात-असात रूप दोनों वेदनाओं में चारों सामायिकों में से किसी एक की प्रतिपत्ति होती है। इसी प्रकार समुद्घात आदि से असमवहत प्राणी के चारों में से किसी एक की प्राप्ति होती है। पूर्वप्रतिपन्नक की अपेक्षा इसमें भजना है।^२
५२८. द्रव्य और भाव से कर्मों का निर्वेष्टन^३ करता हुआ जीव चारों में से किसी एक सामायिक की प्राप्ति करता है। नरक से अनुद्वर्तन करने वाला प्रथम दो सामायिकों को प्राप्त करता है तथा उद्वर्तन करने वाला कभी चार और कभी तीन सामायिकों की प्राप्ति करता है।
५२९. तिर्यज्यों में अनुद्वर्तन करने वाला प्रथम तीन सामायिकों की तथा उद्वर्तन करने वाला चारों सामायिकों की प्रतिपत्ति करता है। मनुष्यों में अनुद्वर्तन करने वाला चारों की तथा उद्वर्तन करने वाला तीन या दो प्रकार की सामायिकों को प्राप्त करता है।
५३०. देवताओं में अनुद्वर्तन करने वाला दो प्रकार की सामायिकों तथा उद्वर्तन करने वाला चारों प्रकार की सामायिकों को प्राप्त करता है। उद्वर्तमानक सभी देव किसी सामायिक की प्रतिपत्ति नहीं करते।
५३१. तदावरणीय कर्म की निर्जरा करता हुआ जीव चारों में से किसी एक सामायिक को प्राप्त करता है। पूर्वप्रतिपन्नक की अपेक्षा से जीव आश्रवक अथवा निराश्रवक हो सकता है।^४

१. जघन्य अवगाहना वाले गर्भज तिर्यज्व और मनुष्य किसी भी सामायिक की प्राप्ति नहीं कर सकते। पूर्वप्रतिपन्नक की अपेक्षा उनके प्रथम दो सामायिक हो सकती हैं। उत्कृष्ट अवगाहना वालों में भी पूर्वप्रतिपन्नक की अपेक्षा प्रथम दो सामायिक की प्राप्ति है (विभामहे गा. २७३९)।

२. समवहत पूर्वप्रतिपन्नक में दो अथवा तीन सामायिक होते हैं।

३. द्रव्य निर्वेष्टन—कर्म प्रदेशों का विसंघात करना।

भाव निर्वेष्टन—क्रोध आदि कषायों की हानि। (आवहाटी. १ पृ. २२६)

४. आवहाटी. १ पृ. २२७ ; णीसवमाणो—निःश्रावयन्—यस्मात् सामायिकं प्रतिपद्यते तदावरणं कर्म निर्जरयन्नित्यर्थः—अर्थात् जिनसे सामायिक की प्राप्ति होती है, उन आवारक कर्मों की निर्जरा करता हुआ।

५३२. केश^१, अलंकार, शयन आदि का परित्यक्ता/अपरित्यक्ता अथवा परित्याग करता हुआ व्यक्ति चारों में से किसी एक सामायिक का प्रतिपन्नक होता है।

५३३. सम्यक्त्वसामायिक का विषय सर्वगत (अर्थात् सभी द्रव्यों और पर्यायों का) होता है। श्रुतसामायिक और चारित्रसामायिक^२ का विषय सर्व पर्याय एवं सर्व विषय नहीं है। देशविरतिसामायिक के प्रसंग में सर्व द्रव्य और सर्व पर्याय दोनों का प्रतिषेध है।^३

५३४. लोक में इनकी प्राप्ति दुर्लभ है—मनुष्यजन्म, आर्यक्षेत्र, जाति, कुल, रूप, आरोग्य, आयुष्य, बुद्धि, श्रवण, अवग्रह—धर्म का धारण, श्रद्धा तथा संयम।

५३५. मनुष्य-जन्म की दुर्लभता के दस दृष्टान्त हैं—१. चोल्लक, २. पाशक, ३. धान्य, ४. द्यूत, ५. रत्न, ६. स्वप्न, ७. चक्र, ८. चर्म, ९. युग और १०. परमाणु।^४

५३६. समुद्र के पूर्वान्त में जूआ है तथा पश्चिमान्त में उसकी समिला (जूए की कील) है। उस समिला का जूए के छिद्र में प्रवेश संशयपूर्ण है इसी प्रकार मनुष्य का जन्म पुनः मिलना दुर्लभ है।

५३६/१, २. जैसे आरपार रहित समुद्र के पानी में प्रभ्रष्ट समिला निरंतर घूमती हुई प्रवहमान जूए के छिद्र में ज्यों-त्यों प्रवेश कर भी जाए, प्रचंड वायु से तरंगित तरंगों से प्रेरित होकर ज्यों-त्यों युग छिद्र को प्राप्त कर भी ले, परंतु मनुष्य जन्म से भ्रष्ट जीव पुनः मनुष्य जन्म नहीं पा सकता।

५३७. इस प्रकार दुर्लभता से प्राप्य मानुषत्व को प्राप्त कर जो जीव परब्रह्म—परलोक हितार्थ धर्म का आचरण नहीं करता, वह संक्रमणकाल—मरणकाल में दुःखी होता है।

५३८-५४०. जैसे कीचड़ के बीच फंसा हुआ हाथी, गलगृहीत मत्स्य, मृगजाल में फंसा हुआ मृग तथा जाल में फंसा हुआ पक्षी दुःखी होता है, वैसे ही जीव मृत्यु और जरा से व्याप्त तथा त्वरितनिद्रा—मरणनिद्रा से अभिभूत होकर त्राता को प्राप्त न करता हुआ कर्मभार से प्रेरित होकर, अनेक जन्म-मरण तथा सैकड़ों परावर्तन करता हुआ कठिनाई पूर्वक यथेच्छ मानुषत्व को प्राप्त करता है।

५४१. दुर्लभता से प्राप्य तथा विद्युद्गता की भांति चंचल मनुजत्व को प्राप्त कर जो व्यक्ति प्रमाद करता है, वह कापुरुष है, सत्पुरुष नहीं।

५४२, ५४३. अत्यंत दुर्लभ मनुष्य-जन्म को प्राप्त करके भी जीव आलस्य, मोह, अवज्ञा, अहंकार, क्रोध, प्रमाद, कृपणता, भय, शोक, अज्ञान, व्याक्षेप, कुतूहल तथा रमण-क्रीडा—इन कारणों से हितकारी तथा

१. आवहाटी १ पृ. २२७ ; केशग्रहणे कटककेयूरपलक्षणम्—यहां 'केश' शब्द कटक, केयूर आदि के लिए भी प्रयुक्त है।

२. द्रव्य में अभिलाष्य और अनभिलाष्य दोनों प्रकार के पर्याय होते हैं। श्रुत केवल अभिलाष्य पर्यायों को ही ग्रहण कर सकता है अतः उसका विषय सर्व पर्याय नहीं होता। चारित्रसामायिक का विषय सर्व द्रव्य तो है परन्तु सर्व पर्याय नहीं है (आवहाटी. १ पृ. २२७)।

३. वह न सर्वद्रव्य विषयक होता है और न सर्वपर्याय विषयक।

४. दस दृष्टान्तों की कथा हेतु देखें निर्युक्ति पंचक परि. ६ पृ. ५२९-५४६।

संसार से पार लगाने वाली धर्मश्रुति को प्राप्त नहीं कर पाता।

५४४. जो योद्धा यान, आवरण (कवच आदि) प्रहरण, युद्धकौशल, नीति, दक्षता, व्यवसाय (शौर्य), अविकल शरीर तथा आरोग्यता को प्राप्त है, वही युद्ध में विजय प्राप्त कर सकता है।^१

५४५. बोधि (सामायिक) की प्राप्ति के ये उपाय हैं—

१. देखने से ^१	४. कर्मों के क्षय से ^४
२. सुनने से ^२	५. उपशम से ^५
३. अनुभूति से ^३	६. प्रशस्त मन-वचन और काय के योग से। ^६

५४६. अथवा बोधि-प्राप्ति (सामायिक-प्राप्ति) के ये निमित्त हैं—

१. अनुकंपा	७. संयोग-विप्रयोग
२. अकामनिर्जरा	८. व्यसन—कष्ट
३. बालतप	९. उत्सव
४. दान	१०. ऋद्धि
५. विनय	११. सत्कार।
६. विभंग अज्ञान	

५४७. इन ग्यारह निमित्तों के क्रमशः ये उदाहरण हैं—

१. वैद्य ^१	७. मथुरावासी दो वणिक् भाई ^७
२. महावत ^२	८. दो भाई ^८
३. इन्द्रनाग ^३	९. आभीर ^९
४. कृतपुण्य ^४	१०. दशार्णभद्र ^{१०}
५. पुष्पशालसुत ^५	११. इलापुत्र ^{११}
६. शिव ऋषि ^६	

५४७/१. उस वानरयूथपति ने जंगल में सुविहित मुनि की अनुकंपा की। वह मरकर प्रकाश शरीर को धारण करने वाला वैमानिक देव बना।

१. चूर्णिकार ने यान, आवरण आदि को कर्मरिपु को जीतने के लिए रूपक के रूप में प्रस्तुत किया है। इन सबके विस्तार हेतु देखें आवचू. १ पृ. ४५२।
२. दृष्ट—श्रेयांस ने भगवान् ऋषभ के दर्शन से बोधि प्राप्त की।
श्रुत—आनंद और कामदेव ने सुनकर बोधि प्राप्त की।
अनुभूत—वत्कलचीरी को पिता के उपकरणों की प्रत्युपेक्षा से बोधि की प्राप्ति हुई।
क्षय—कर्मों के क्षय से प्राप्त बोधि, जैसे—चंडकौशिक।
उपशम—कर्मों के उपशम से प्राप्त बोधि, जैसे—अंगिराऋषि।
- ३-१९. देखें परि. ३ कथाएं।

५४८. सम्यक्त्वसामायिक, विरताविरतिसामायिक और विरतिसामायिक की प्राप्ति के ये उपाय हैं—१. अभ्युत्थान, २. विनय, ३. कषायजय में पराक्रम तथा ४. साधु-सेवा।

५४९. सम्यक्त्वसामायिक तथा श्रुतसामायिक की स्थिति कुछ अधिक छयासठ सागरोपम की है। देशविरति और सर्वविरति सामायिक की स्थिति देशोन पूर्वकोटि की है।^१

५५०. सम्यक्त्वसामायिक तथा देशविरतिसामायिक के प्रतिपत्ता प्राणी एक समय में उत्कृष्टतः क्षेत्रपत्त्य के असंख्येयभाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने होते हैं। श्रेणी के असंख्येय भाग प्रदेशों जितने श्रुतसामायिक वाले तथा विरतिसामायिक के प्रतिपत्ता श्रेणी के सहस्राग्रशः भाग जितने प्रदेश वाले होते हैं।

५५१. वर्तमान में सम्यक्त्वसामायिक तथा देशविरतिसामायिक वाले पूर्वप्रतिपन्नक की अपेक्षा असंख्येय और चारित्रसामायिक वाले संख्येय हैं। तीनों अर्थात् चारित्रसामायिक, देशचारित्रसामायिक तथा सम्यक्त्व-सामायिक—आपस में अनन्तगुणा प्रतिपतित हैं।^२

५५२. वर्तमान में श्रुतसामायिक के प्रतिपन्नक प्रतर के असंख्यभाग मात्र हैं। शेष सभी संसारी प्राणी श्रुतप्रतिपतित हैं अर्थात् सम्यक्त्व प्रतिपतित से भी अनन्त गुणा अधिक श्रुतप्रतिपतित हैं।

५५३. श्रुतसामायिक का उत्कृष्ट अंतर एक जीव की अपेक्षा से अनन्तकाल का होता है।^३ सम्यक्त्वसामायिक आदि का जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्त काल तथा उत्कृष्ट अंतर देशोन अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल का होता है। यह उत्कृष्ट अंतर आशातना बहुल जीवों का होता है।^४

५५४. सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक तथा देशविरतिसामायिक का नैरन्तर्य प्रतिपत्तिकाल आवलिका का असंख्येय भाग मात्र है। चारित्रसामायिक का नैरन्तर्य प्रतिपत्तिकाल आठ समय का तथा सभी सामायिकों

१. तेतीस सागर की स्थिति वाले विजय आदि विमानों में दो बार उत्पन्न होने पर अथवा बाईस सागर की स्थिति वाले अच्युत विमान में तीन बार उत्पन्न होने पर सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक की स्थिति छियासठ सागर की होती है। इन देव-भवों के मध्य में होने वाले मनुष्य भव की स्थिति मिलाने पर वह कुछ अधिक छियासठ सागर की हो जाती है (आवहाटी. १ पृ. २४१)

२. आवहाटी. १ पृ. २४१; तत्र चरणप्रतिपत्तिता अनन्ताः, तदसंख्येयगुणास्तु देशविरतिप्रतिपत्तिताः, तदसंख्येयगुणाश्च सम्यक्त्वप्रतिपत्तिता इति—प्राक्प्रतिपन्नो से प्रतिपद्यमान अनन्तगुणा, उससे चरणप्रतिपत्तिता अनन्तगुणा, उससे देशविरतिप्रतिपत्तिता असंख्येयगुणा तथा उससे असंख्येयगुणा हैं सम्यक्त्वप्रतिपत्तिता।

३. श्रुत सामायिक का जघन्य और उत्कृष्ट अंतर काल मिथ्या अक्षरश्रुत की अपेक्षा से है। कोई द्वीन्द्रिय आदि जीव श्रुत प्राप्त कर मृत्यु के पश्चात् पृथ्वी आदि में उत्पन्न होता है, वहां अंतर्मुहूर्त रहकर पुनः द्वीन्द्रिय आदि में उत्पन्न होकर श्रुत प्राप्त करता है, उसके अंतर्मुहूर्त का अंतर काल होता है तथा जो द्वीन्द्रिय आदि जीव मरकर पृथ्वी, वनस्पति आदि एकेन्द्रिय में पुनः पुनः उत्पन्न होता है और वहां अनन्तकाल तक रहता है तत्पश्चात् द्वीन्द्रिय आदि में उत्पन्न हो श्रुत प्राप्त करता है उसकी अपेक्षा से अनन्तकाल का उत्कृष्ट अंतर काल कहा गया है। यह अनन्तकाल असंख्यात पुद्गलपरावर्तन जितना होता है।

४. आवहाटी. १ पृ. २४१; तिथ्यारपवयणसुयं, आयरियं गणहरं महिङ्गीयं। आसायन्तो बहुसो, अणंतसंसारिओ होइ॥

का जघन्य अविरहप्रतिपत्ति काल दो समय का है। (इसके पश्चात् उनका विरहकाल प्रारम्भ हो जाता है।)

५५५. श्रुतसामायिक और सम्यक्त्वसामायिक का उत्कृष्ट प्रतिपत्ति विरहकाल^१ सात अहोरात्र, विरताविरतिसामायिक का बारह अहोरात्र तथा विरतिसामायिक का पन्द्रह अहोरात्र का होता है।^२

५५६. सम्यक्त्वसामायिक तथा देशविरतिसामायिक—इन दो सामायिकों के उत्कृष्ट प्रतिपत्ति भव क्षेत्र पत्त्योपम के असंख्य भाग मात्र में जितने आकाश प्रदेश हैं, उतने हैं। चारित्रसामायिक में आठ भव तथा श्रुतसामायिक में अनंतभव का विधान है। (चारों सामायिक के प्रतिपत्ताओं का जघन्य एक भव होता है।)

५५७. सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक तथा देशविरतिसामायिक—इन तीनों का एक भव में आकर्ष^३ सहस्रपृथक्त्व तथा विरतिसामायिक के एक भव में आकर्ष शतपृथक्त्व (२०० से १००) हैं।

५५८. सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक तथा देशविरतिसामायिक के असंख्येय सहस्र आकर्ष और सर्वविरतिसामायिक के सहस्रपृथक्त्व (२००० से १०००) आकर्ष होते हैं। ये आकर्ष अनेक भवों की अपेक्षा से हैं।

५५९. सम्यक्त्वसामायिक तथा सर्वविरतिसामायिक सहित प्राणी निरवशेष रूप से समस्त लोक का स्पर्श करते हैं।^४ श्रुतसामायिक सहित प्राणी चतुर्दश भाग में सप्त भाग का तथा देशविरतिसामायिक सहित प्राणी चतुर्दश भाग में पांच भाग का स्पर्श करते हैं।^५

५६०. सभी जीवों ने सामान्य श्रुतसामायिक का स्पर्श किया है। सम्यक्त्वसामायिक तथा चारित्रसामायिक का स्पर्श सभी सिद्धों ने किया है। देशविरतिसामायिक का स्पर्श असंख्येय भाग न्यून सिद्धों जितना है।^६

१. जिस काल में सामायिक का प्रतिपत्ता कोई नहीं होता, वह उसका विरहकाल है।

२. सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक का जघन्य प्रतिपत्ति विरहकाल एक समय, देशविरतिसामायिक और विरतिसामायिक का जघन्य प्रतिपत्ति विरहकाल तीन समय हैं (आवहाटी. १ पृ. २४२)।

३. आवहाटी १ पृ. २४२; आकर्षणम् आकर्षः प्रथमतया मुक्तस्य वा ग्रहणमित्यर्थः।

४. जघन्य रूप से सम्यक्त्व तथा चारित्रसहित प्राणी लोक के असंख्येय भाग का स्पर्श करते हैं (आवहाटी. १ पृ. २४२)।

५. सम्यक्त्वसामायिक और सर्वविरतिसामायिक से सम्पन्न जीव केवली समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करता है। श्रुतसामायिक और सर्वविरतिसामायिक से उत्पन्न जीव इलिका गति से अनुत्तरविमान में उत्पन्न होता है तब वह लोक के सप्त चतुर्दश ७/१४ भाग का स्पर्श करता है। सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक से सम्पन्न जीव छठी नारकी में इलिका गति से उत्पन्न होता है, तब वह लोक के पञ्च चतुर्दश ५/१४ भाग का स्पर्श करता है। देशविरतिसामायिक से सम्पन्न जीव यदि इलिका गति से अच्युत देवलोक में उत्पन्न होता है तो वह पंच चतुर्दश ५/१४ भाग का स्पर्श करता है। यदि अन्य देवलोकों में उत्पन्न होता है तो वह द्विचतुर्दश २/१४ आदि भागों का स्पर्श करता है (आवहाटी. १ पृ. २४२)।

६. सब सिद्धों को बुद्धि से कल्पित असंख्येय भागों में विभक्त करने पर देशविरतिसामायिक असंख्येय भाग न्यून सिद्धों द्वारा स्पृष्ट है। यह स्थिति तब आती है जब कोई जीव देशविरतिसामायिक का स्पर्श किए बिना ही मुक्त हो जाता है। जैसे—मरुदेवा माता (आवहाटी. १ पृ. २४२)।

५६१. सम्यग्दृष्टि, अमोह, शोधि, सद्भाव, दर्शन, बोधि, अविपर्यय तथा सुदृष्टि^१—ये सम्यक्त्वसामायिक के निरुक्त—एकार्थक हैं।

५६२. श्रुतसामायिक के निरुक्त हैं—अक्षर, संज्ञी, सम्यक्, सादि, सपर्यवसित, गमिक, अंगप्रविष्ट। ये सातों पद सप्रतिपक्ष हैं।

५६३. विरताविरति, संवृतअसंवृत, बालपंडित, देशैकदेशविरति, अनुधर्म तथा अगारधर्म—ये देशविरति सामायिक के निरुक्त हैं।

५६४. सामायिक, समयिक, सम्यग्वाद, समास, संक्षेप, अनवद्य, परिज्ञा तथा प्रत्याख्यान^२—ये सर्वविरति-सामायिक के आठ पर्याय हैं।

५६५. इन आठों से संबंधित आठ उदाहरण इस प्रकार हैं—दमदंत^३, मेतार्य, कालकपृच्छ, चिलात, आत्रेय, धर्मरुचि, इला, तेतलि।

५६५/१. जो मुनि वंदना किए जाने पर उत्कर्ष को प्राप्त नहीं होते और तिरस्कृत होने पर क्रोधाग्नि को प्रगट नहीं करते, वे धीर मुनि राग-द्वेष को नष्ट कर उपशांत चित्त से विहरण करते हैं।

५६५/२. जो सुमन—अच्छे मन वाला होता है, भाव से पापमन वाला नहीं होता, स्वजन और अन्य जन में तथा मान और अपमान में सम रहता है, वह समण होता है।

५६५/३. जिसके सभी प्राणियों में न कोई द्वेष्य है और न कोई प्रिय, इसी दृष्टि से वह 'समण' होता है। यह श्रमण का दूसरा पर्यायवाची नाम है।

१. सम्यग्दृष्टि—अविपरीत प्रशस्त दृष्टि।

अमोह—अवितथ आग्रह।

शोधि—मिथ्यात्व का अपनयन।

सद्भावदर्शन—जिन-प्रवचन की उपलब्धि।

बोधि—परमार्थ का बोध।

अविपर्यय—तत्त्व का निश्चय।

सुदृष्टि—प्रशस्त दृष्टि। (आवहाटी १ पृ. २४२, २४३)

२. सामायिक—जिसमें सम—मध्यस्थभाव की उपलब्धि होती है।

समयिक—सब जीवों के प्रति सम्यक्—दयापूर्ण प्रवर्तन।

सम्यग्वाद—रागद्वेष मुक्त होकर यथार्थ कथन करना।

समास—जीव का संसार-समुद्र से पार होना अथवा कर्मों का सम्यक् क्षेपण।

संक्षेप—महान् अर्थ का अल्पाक्षर में कथन जैसे यह सामायिक द्वादशांगी का सार है।

अनवद्य—पापशून्य प्रक्रिया।

परिज्ञा—पाप के परित्याग का सम्पूर्ण ज्ञान।

प्रत्याख्यान—गुरु-साक्षी से हेय प्रवृत्ति से निवृत्ति (आवहाटी १ पृ. २४३)।

३. देखें परि. ३ कथाएं।

५६५/४. मैं जीवन से निरपेक्ष मेतार्य ऋषि को नमस्कार करता हूँ, जिसने क्रौंच पक्षी के अपराध को जानते हुए भी प्राणिदया से प्रेरित होकर क्रौंच का नाम नहीं लिया।

५६५/५. शिरोबंधन से मेतार्य मुनि की दोनों आंखें भूमि पर गिर पड़ीं, फिर भी वे मुनि मंदर पर्वत की भांति संयम से विचलित नहीं हुए।^१

५६५/६. तुरुमिणी नगर में राजा दत्त ने आर्यकालक से यज्ञ का फल पूछा। समता से भावित मुनि ने सम्यग् कथन किया।^२

५६५/७. जिसने तीन पदों—उपशम, विवेक और संवर से सम्यक्त्व प्राप्त किया, संयम में आरूढ़ उस चिलातपुत्र को मैं नमस्कार करता हूँ।

५६५/८. जिसके रक्त की गंध से पैरों से प्रवेश कर चींटियां उत्तमांग—शिर तक चली गईं, उस दुष्कर कारक चिलातपुत्र को मैं वंदना करता हूँ।

५६५/९. धैर्य संपन्न चिलातपुत्र चींटियों से खाया जाता हुआ चलनी की भांति हो गया, फिर भी वह उत्तमार्थ—शुभ परिणामों की अविचलता को प्राप्त हुआ।

५६५/१०. ढाई दिन-रात में चिलातपुत्र ने अप्सराओं से संकुल और रम्य देवेन्द्र के अमरभवन—देवलोक को प्राप्त कर लिया।^३

५६५/११. चार ऋषियों ने एक-एक लाख श्लोक परिमाण का एक-एक ग्रंथ बनाकर राजा को सुनने हेतु कहा। राजा के कहने पर चारों ग्रंथों का मात्र एक श्लोक रखा^४, यह संक्षेप का उदाहरण है।^५

५६५/१२. अनाकुट्टि—अहिंसा की बात को सुनकर पापभीरु धर्मरुचि अनगार ने पाप का वर्जन कर अनवद्यता—अनगारता को स्वीकार कर लिया।^६

५६५/१३. ज्ञपरिज्ञा से जीव और अजीव को जानकर इलापुत्र ने सावद्ययोग का परित्याग कर दिया।^७

५६५/१४. तेतलिपुत्र ने जीव-अजीव तथा पुण्य-पाप को प्रत्यक्षतः जानकर सावद्य योग का प्रत्याख्यान कर दिया।^८

५६५/१५. सूत्र वह होता है, जो अल्पग्रंथ वाला, महान् अर्थवाला, बत्तीस दोषों से रहित, लक्षणयुक्त तथा आठ गुणों से युक्त होता है

१-३. देखें परि. ३ कथाएं।

४. जीर्णे भोजनमात्रेयः, कपिलः प्राणिनां दया।

बृहस्पतिरविश्वासः, पाञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम्॥

५-८. देखें परि. ३ कथाएं।

५६५/१६-१९. सूत्र के बत्तीस दोष इस प्रकार हैं—

१. अलीक	१२. अयुक्त	२३. छविदोष
२. उपधातजनक	१३. क्रमभिन्न	२४. समयविरुद्ध
३. निरर्थक	१४. वचनभिन्न	२५. वचनमात्र
४. अपार्थक	१५. विभक्तिभिन्न	२६. अर्थापत्तिदोष
५. छलयुक्त	१६. लिंगभिन्न	२७. असमासदोष
६. द्रुहित	१७. अनभिहित (अकथित)	२८. उपमादोष
७. निस्सार	१८. अपद	२९. रूपकदोष
८. अधिक	१९. स्वभावहीन	३०. अनिर्देशदोष
९. न्यून	२०. व्यवहित	३१. पदार्थदोष
१०. पुनरुक्त	२१. कालदोष	३२. संधिदोष।
११. व्याहत	२२. यतिदोष	

५६५/२०. सूत्र के आठ गुण इस प्रकार हैं—

१. निर्दोष	५. उपनीत
२. सारवान्	६. सोपचार
३. हेतुयुक्त	७. मित
४. अलंकारयुक्त	८. मधुर। ^१

५६५/२१. अल्पाक्षर, असंदिग्ध, सारवान्, विश्वतोमुख^२, अस्तोभक^३, अनवद्य—इन गुणों से युक्त सूत्र सर्वज्ञ-भाषित होता है।

१. १. निर्दोष—बत्तीस दोष रहित होना।

२. सारवान्—अर्थयुक्त होना।

३. हेतुयुक्त—अन्वय व्यतिरेक रूप हेतु से युक्त होना।

४. अलंकार—काव्य के अलंकारों से युक्त होना।

५. उपनीत—उपसंहार युक्त होना।

६. सोपचार—कोमल, अविरुद्ध और अलज्जनीय का प्रतिपादन करना अथवा व्यंग्य या हंसी युक्त होना।

७. मित—पद और उसके अक्षरों से परिमित होना।

८. मधुर—शब्द, अर्थ और प्रतिपादन की दृष्टि से मनोहर होना।

२. आवहाटी. १ पृ. २५१ ; विश्वतोमुखम् अनेकमुखं प्रतिसूत्रमनुयोगचतुष्टयाभिधानात्—जिसका प्रत्येक सूत्र अनुयोग-चतुष्टय से व्याख्यात हो।

३. आवहाटी. १ पृ. २५१; अस्तोभकं वैहिहकारादिपदच्छिद्रपूरणस्तोभकशून्यं, स्तोभकाः निपाताः—च, वा, इह आदि पादपूर्ति रूप निपातों से रहित।

५६६. नमस्कार के ये दस द्वार हैं—

१. उत्पत्ति	६. वस्तु
२. निक्षेप	७. आक्षेप
३. पद	८. प्रसिद्धि
४. पदार्थ	९. क्रम
५. प्ररूपणा	१०. प्रयोजनफल।

५६७. नमस्कार उत्पन्न है अथवा अनुत्पन्न—इसका समाधान नयों से होता है। आदिनैगम अर्थात् सर्वग्राही नैगम नय के अनुसार नमस्कार अनुत्पन्न है। शेष नयों के अनुसार वह उत्पन्न है। प्रश्न होता है कि यदि नमस्कार उत्पन्न है तो कहां से उत्पन्न होता है? उत्पत्ति में त्रिविध स्वामित्व है—अर्थात् तीन कारणों से नमस्कार उत्पन्न होता है।

५६८. समुत्थान^१, वाचना^२ और लब्धि^३—ये नमस्कार की उत्पत्ति के त्रिविध कारण हैं। प्रथम तीन नयों—नैगम, संग्रह और व्यवहार में उपर्युक्त समुत्थान आदि तीनों नमस्कार के कारण बनते हैं। ऋजुसूत्र नय पहले अर्थात् समुत्थान के अतिरिक्त शेष दो को कारण मानता है। शेष नय केवल लब्धि को ही नमस्कार की उत्पत्ति का कारण मानते हैं।^४

५६९. (नमस्कार शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम नमस्कार, स्थापना नमस्कार, द्रव्य नमस्कार, भाव नमस्कार) निहव आदि का द्रव्य नमस्कार है। सम्यग्दृष्टि का नमस्कार भाव नमस्कार है। नमः नैपातिक पद है। इसका पदार्थ है—

१. द्रव्य संकोचन—हाथ, शिर, पैर का संकोच करना।

२. भाव संकोचन—विशुद्ध मन का नियोजन।

१. आवचू. १ पृ. ५०२; समुत्थान—देह का सम्यक् उत्थान अथवा खड़े होकर आचार्य आदि की उपस्थापना करना।

२. वाचना—वाचनाचार्य की निश्रा में वाचना, जैसे महावीर ने गौतम को दी।

३. लब्धि—तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम से बिना उपदेश के भी भव्य जीव को किसी निमित्त से नमस्कार की प्राप्ति होना।

४. गा. ५६७ एवं ५६८—इन दो श्लोकों में नमस्कार की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति का विमर्श नयों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। नैगम नय के मुख्यतः दो भेद हैं—सर्व संग्राही और देश संग्राही। आदि नैगम नय सामान्य मात्र पर अवलम्बित होने के कारण उत्पाद और व्यय से रहित है अतः उसके अनुसार नमस्कार अनुत्पन्न है क्योंकि नमस्कार त्रैकालिक है। इसका कोई उत्पादक नहीं होता। जब भरत और ऐरवत में यह व्युच्छिन्न होगा, तब महाविदेह में इसका सद्भाव होगा। पन्द्रह कर्मभूमियों में मनुष्यों का सद्भाव रहेगा ही।

शेष नय विशेषग्राही होते हैं। वे इसकी उत्पत्ति का कारण मानते हैं। ऋजुसूत्र नय समुत्थान को नमस्कार की उत्पत्ति का कारण नहीं मानता क्योंकि समुत्थान होने पर भी वाचना और लब्धि के बिना उसकी उत्पत्ति नहीं होती अतः यह व्यभिचारी कारण है। इसलिए यह नय वाचना और लब्धि को नमस्कार की उत्पत्ति का हेतु मानता है।

शेष शब्द आदि नय एक लब्धि को ही नमस्कार की उत्पत्ति का हेतु मानते हैं। वाचना की उपलब्धि होने पर भी गुरुकर्म अभव्य जीव को नमस्कार की उपलब्धि नहीं होती क्योंकि वहां लब्धि का अभाव है (आवहाटी १ पृ. २५२, चूर्णि पृ. ५०२, ५०३)।

५७०. प्ररूपणा के दो प्रकार हैं—षट्पदप्ररूपणा तथा नवपदप्ररूपणा। षट्पदप्ररूपणा के ये द्वार हैं—
१. क्यों? २. किसका? ३. किससे? ४. कहाँ? ५. कितने काल तक? ६. कितने प्रकार का?

५७१. नमस्कार क्या है? तत्परिणाम में परिणत जीव ही नमस्कार है। यह किसके होता है? पूर्वप्रतिपन्नक की अपेक्षा से जीवों के तथा प्रतिपद्यमान की अपेक्षा से जीव के अथवा जीवों के होता है।

५७२. ज्ञानावरणीय तथा दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम से नमस्कार सिद्ध होता है। नमस्कार का संबंध सर्वत्र जीव-अजीव आदि आठ विकल्पों^१ से होता है।

५७३. उपयोग की अपेक्षा नमस्कार की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और लब्धि की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागरोपम की है।

५७४. प्ररूपणा का दूसरा प्रकार नवपदप्ररूपणा है—

१. सत्पदप्ररूपणा	६. अन्तर
२. द्रव्य प्रमाण	७. भाग
३. क्षेत्र	८. भाव
४. स्पर्शना	९. अल्पाबहुत्व
५. काल	

५७५, ५७६. सत्पदप्रतिपन्न तथा प्रतिपद्यमान की मार्गणा के ये बीस द्वार हैं—

१. गति	८. सम्यक्त्व	१५. परित
२. इन्द्रिय	९. ज्ञान	१६. पर्याप्त
३. काय	१०. दर्शन	१७. सूक्ष्म
४. वेद	११. संयत	१८. संज्ञी
५. योग	१२. उपयोग	१९. भव
६. कषाय	१३. आहारक	२०. चरिम
७. लेश्या	१४. भाषक	

५७७. सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम के असंख्येयतम भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने नमस्कार प्रतिपन्नक जीव होते हैं। ये क्षेत्रलोक के सप्त चतुर्दश ७/१४ भाग में होते हैं तथा स्पर्शना भी इतने ही क्षेत्र ७/१४ भाग की करते हैं।

५७८, ५७९. एक जीव की अपेक्षा से नमस्कार का जघन्य तथा उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है तथा नानाजीवों की अपेक्षा से सर्वकाल है। एक जीव की अपेक्षा से नमस्कार का जघन्य अन्तर काल अन्तर्मुहूर्त का तथा

१. जीव, अजीव तथा तदुभय के एकवचन तथा बहुवचन के आधार पर आठ भेद होते हैं। जैसे— १. जीव का २. अजीव का ३. जीवों का ४. अजीवों का ५. जीव अजीव का ६. जीव अजीवों का ७. अजीव जीवों का ८. अजीवों का (आवहाटी. १ पृ. २५४)।

उत्कृष्ट अन्तर काल देश न्यून अर्द्धपुद्गलपरावर्तन है। नानाजीवों की अपेक्षा से अन्तर काल शून्य है। भाव की अपेक्षा से नमस्कार (बहुलतया) क्षायोपशमिक भाव में होता है।^१

५८०. नमस्कार प्रतिपन्नक जीव जीवों का अनन्तवां भाग है। शेष अनन्तगुणा जीव नमस्कार अप्रतिपन्नक हैं। अर्हत् आदि पंच परमेष्ठी वस्तुत्व से वंदनीय हैं। उसका हेतु यह है।

५८०/१. पांच प्रकार की प्ररूपणा—आरोपणा^२, भजना, पृच्छा, दर्शना अथवा दापना^३ तथा निर्यापना^४, अथवा चार प्रकार की प्ररूपणा होती है—नमस्कार, अनमस्कार, नोनमस्कार, नोनमस्कार। (इन दोनों प्रकार की प्ररूपणाओं को मिलाने पर प्ररूपणा (५+४) नौ प्रकार की होती है।)

५८१. मैं इन हेतुओं से पंचविध नमस्कार करता हूँ—मार्ग, अविप्रणास, आचार, विनय और सहायत्व।^५

५८२. अर्हत् अटवी में मार्ग-देशक^६, समुद्र में निर्यामक तथा षट्काय की रक्षा के लिए महागोप हैं, यह कहा जाता है।

५८२/१, २. जैसे निपुण मार्गदर्शक के उपदेश से पथिक अपाय-बहुल अटवी को पारकर अपने गंतव्य स्थान को पा लेता है, वैसे ही प्राणी जिनेन्द्रिय मार्ग पर चलते हुए निर्वृतिपुरी (मोक्ष) को पा लेते हैं। इससे जिनेन्द्र देव का अटवी में देशिकत्व जानना चाहिए।

५८२/३, ४. अमुक नगर या गांव में जाने का इच्छुक व्यक्ति परम उपकारी उस सार्थवाह को भक्तिपूर्वक नमस्कार करता है, जो उसे उस नगर या गांव में निर्विघ्न पहुंचा देता है। उसी प्रकार मोक्षार्थियों के लिए जिनेश्वर देव सार्थवाह की भांति होते हैं। अर्हत् भाव-नमस्कार के योग्य हैं क्योंकि वे राग, मद^७ और मोह को क्षीण कर चुके हैं।

५८२/५. मिथ्यात्व तथा अज्ञान से मोहित पथ वाली संसार रूपी अटवी में जो पथदर्शक बनें, उन अर्हत्तों को मैं नमस्कार करता हूँ।

१. आवहाटी. १ पृ. २५५; प्राचुर्यमंगीकृत्यैतदुक्तम्, अन्यथा क्षायिकौपशमिक्योरप्येके वदन्ति, क्षायिके यथा श्रेणिकादीनाम्, औपशमिके श्रेण्यन्तर्गतानाम्—बहुलता की अपेक्षा से क्षायोपशम भाव लिया है। अन्यथा क्षायिक और औपशमिक भाव भी रहता है। क्षायिक जैसे श्रेणिक के तथा श्रेणी में वर्तमान जीव के औपशमिक भाव होता है।

२. आवहाटी. १ पृ. २५५; परस्परवधारणम् आरोपणा—परस्पर अवधारण करना आरोपणा है।

३. आवहाटी. १ पृ. २५५; दापना प्रश्नार्थव्याख्यानम्—प्रश्न द्वारा अर्थ का व्याख्यान करना दापना अथवा दर्शना है।

४. आवहाटी. १ पृ. २५५; निर्यापना तु तस्यैव निगमनमिति—निगमन या उपसंहार करना निर्यापना है।

५. अर्हत् नमस्कारार्ह हैं क्योंकि वे मोक्षमार्ग प्रदर्शित करते हैं।

सिद्ध नमस्कारार्ह हैं क्योंकि वे अविप्रणास—शाश्वत हैं।

आचार्य नमस्कारार्ह हैं क्योंकि वे आचार का पालन करते हैं, कराते हैं।

उपाध्याय नमस्कारार्ह हैं क्योंकि वे विनय—कर्मों का विनयन करते हैं।

साधु नमस्कारार्ह हैं क्योंकि वे मोक्षावाप्ति में सहायभूत होते हैं।

६. देखें परि. ३ कथाएं।

७. आवहाटी. १ पृ. २५७; मदशब्देन द्वेषोऽभिधीयते—यहां 'मद' शब्द द्वेष अर्थ में प्रयुक्त है।

५८२/६, ७. अर्हत् भगवान् ने सम्यग्दृष्टि से निर्वाणमार्ग को देखा, सम्यग्ज्ञान से उसको अच्छी तरह जाना तथा चरणकरण से उस मार्ग की अनुपालना की। वे सिद्धि-सदन को प्राप्त कर निर्वाण-सुख को उपलब्ध हुए तथा शाश्वत, अव्याबाध और अजरामर स्थान को प्राप्त हो गए।

५८२/८. जैसे निर्यामक समुद्र को सम्यक् रूप से पार करा देते हैं, वैसे ही जिनेन्द्रदेव भव-जलनिधि को पार करा देते हैं इसीलिए अर्हत् नमस्कार के योग्य होते हैं।

५८२/९. मिथ्यात्व रूपी 'कालिकावायु' से विरहित तथा सम्यक्त्व रूपी 'गर्जभ'^१ प्रवात से युक्त भवसमुद्र से जीव-रूपी पोत एक समय में ही सिद्धि रूपी नगरी में पहुंच जाता है।

५८२/१०. अमूढज्ञान—यथार्थज्ञान तथा मति के कर्णधार, त्रिदंडविरत, निर्यामकरत्न अर्हत्तों को विनय से प्रणत होकर मैं तीन करण, तीन योग से वंदना करता हूं।

५८२/११-१३. जैसे ग्वाला अपने गोवर्ग का सांप, श्वापद, दुर्गमस्थान आदि से रक्षा करता है तथा उन्हें प्रचुर घास, पानी वाले वन में ले जाता है, वैसे ही ये महागोप (अर्हत्) जीवों की मरणभय से रक्षा करते हैं तथा निर्वाण रूपी वन को प्राप्त करते हैं। जिनेन्द्रदेव भव्य जीव लोक के उपकारी तथा लोकोत्तम होने के कारण सभी के लिए नमस्कार योग्य होते हैं।

५८३. अर्हत् राग-द्वेष, कषाय, पांच इन्द्रिय, परीषह तथा उपसर्गों पर विजय पा लेते हैं अतः वे नमस्कार के योग्य हैं।^२

५८३/१. इन्द्रिय, विषय, कषाय, परीषह, वेदना और उपसर्ग—ये अरि—शत्रु हैं। इनका हनन करने वालों को अरिहंत कहा जाता है।

५८३/२. आठ प्रकार के कर्म सभी जीवों के लिए अरिभूत—शत्रु तुल्य हैं। इन कर्म रूपी अरि—शत्रुओं का हनन करने वालों को अरिहंत कहा जाता है।

५८३/३. जो वंदन-नमस्कार तथा पूजा और सत्कार के योग्य हैं तथा सिद्धि प्राप्त कराने में समर्थ हैं, वे अर्हत् कहलाते हैं।

५८३/४. अर्हत् देव, असुर और मनुष्यों से पूजे जाते हैं इसलिए वे देवोत्तम हैं। वे अरि—शत्रुओं का तथा

१. समुद्र में कालिकावात नौका के लिए अनुकूल नहीं रहती।

२. सामुद्रिक हवाएं सोलह प्रकार की होती हैं। उनमें एक गर्जभ वायु है, जो नौका को अनुकूलता से पार पहुंचा देती है। सोलह सामुद्रिक वायु इस प्रकार हैं—१. पूर्वी हवा २. दक्षिणी हवा ३. पश्चिमी हवा ४. उत्तरी हवा ५. उत्तरपूर्व में सत्त्वासुक ६. दक्षिणपूर्व में तुंगार ७. दक्षिणपश्चिम में बीताप (बीजाक) ८. पश्चिमउत्तर में गर्जभ ९. उत्तरी सत्त्वासुक १०. पूर्वी सत्त्वासुक ११. पूर्वी तुंगार १२. दक्षिणी तुंगार १३. दक्षिणी बीताप १४. पश्चिमी बीताप १५. पश्चिमी गर्जभ १६. उत्तरी गर्जभ (आवचू. १ पृ. ५१२, आवहाटी. १ पृ. २५८)।

३. राग-द्वेष आदि की कथाओं के लिए देखें परि. ३ कथाएं।

कर्मरजों का नाश करने वाले हैं अतः अरिहंत कहलाते हैं।

५८४. अर्हत्तों को किया गया भावपूर्वक नमस्कार जीव को सहस्र भवों से मुक्त कर देता है। वह नमस्कार उसके बोधिलाभ के लिए होता है।

५८५. भवक्षय करने वाले धन्य व्यक्तियों के हृदय को न छोड़ता हुआ यह 'अर्हद् नमस्कार' विस्मृतिसिका का वारक होता है।

५८६. इस प्रकार अर्हद्नमस्कार महान् अर्थ वाला वर्णित है। मृत्युकाल के समीप होने पर इसका स्मरण बार-बार और अनवरत किया जाता है।

५८७. यह अर्हद्नमस्कार सभी पापों का प्रणाशक तथा सभी मंगलों में प्रधान मंगल है।

५८८. सिद्ध शब्द के १४ निक्षेप हैं—

१. नामसिद्ध	८. योगसिद्ध
२. स्थापनासिद्ध	९. आगमसिद्ध
३. द्रव्यसिद्ध	१०. अर्थसिद्ध
४. कर्मसिद्ध	११. यात्रासिद्ध
५. शिल्पसिद्ध	१२. अभिप्रायसिद्ध
६. विद्यासिद्ध	१३. तपःसिद्ध
७. मंत्रसिद्ध	१४. कर्मक्षयसिद्ध।

५८८/१. कर्म अनाचार्योपदिष्ट होता है, वह किसी आचार्य द्वारा निर्दिष्ट नहीं होता। शिल्प आचार्योपदिष्ट होता है। कृषि, वाणिज्य आदि कर्म हैं तथा घटकार, लोहकार आदि शिल्प हैं।

५८८/२. जो सर्वकर्मकुशल होता है अथवा जो 'सह्यगिरिसिद्धक' की भांति जिस किसी एक कर्म में सुपरिनिष्ठित होता है, वह कर्मसिद्ध कहलाता है।^१

५८८/३. जो सभी शिल्पों में कुशल होता है अथवा जो 'कोकाश वर्द्धकि' की भांति किसी एक शिल्प में सुपरिनिष्ठित अथवा अतिशययुक्त होता है, वह शिल्पसिद्ध कहलाता है।^२

५८८/४. विद्या स्त्री देवता द्वारा तथा मंत्र पुरुष देवता द्वारा अधिष्ठित होता है। उनमें विशेष अंतर यह है कि विद्या ससाधन होती है तथा मंत्र साधनरहित होता है।

५८८/५. जो सभी प्रकार की विद्याओं का चक्रवर्ती होता है अथवा जिसके एक भी महाविद्या सिद्ध हो

१, २. देखें परि. ३ कथाएं।

३. आवहाटी. १ पृ. २७६ ; जो आचार्य द्वारा शिक्षित अथवा किसी ग्रंथ द्वारा गृहीत विशिष्ट कर्म है, वह शिल्प कहलाता है। घटनिर्माण, मूर्तिनिर्माण आदि शिल्प हैं।

जाती है, वह आर्य खपुट^१ की भांति विद्यासिद्ध कहलाता है।

५८८/६. जिसके सभी मंत्र अधीन हो गए हैं अथवा जिसके बहुत सारे मंत्र अथवा कोई प्रधानमंत्र सिद्ध हो गया हो, वह स्तंभाकर्षवत्^२ सातिशय मंत्रसिद्ध अथवा प्रधानमंत्रविद् कहलाता है।

५८८/७. विभिन्न द्रव्यों के विभिन्न योग आश्चर्य पैदा करने वाले होते हैं अथवा एक द्रव्य का योग भी जिसके सिद्ध हो जाता है, वह योग-सिद्ध^३ कहलाता है, जैसे—आर्य समित।

५८८/८. आगमसिद्ध वह होता है, जो गौतम की भांति गुणराशि से युक्त, सर्वांगपारग, प्रचुरार्थ का ज्ञाता होता है। जो अत्यधिक अर्थनिष्ठ—धननिष्ठ होता है, वह अर्थसिद्ध कहलाता है, जैसे—मम्मण।^४

५८८/९. जो सदा सिद्धयात्रा वाला तथा तुंडिक^५ की भांति वरप्राप्त होता है, वह यात्रासिद्ध^६ होता है। बुद्धि का पर्याय है अभिप्राय।

५८८/१०, ११. जिसकी मति विपुल, विमल तथा सूक्ष्म होती है, वह बुद्धिसिद्ध होता है अथवा जो औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की बुद्धियों से संपन्न होता है, वह बुद्धिसिद्ध कहलाता है। वे चार बुद्धियां ये हैं—औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी। ये चार प्रकार की बुद्धियां कही गई हैं। पांचवीं उपलब्ध नहीं है।

५८८/१२. पहले अदृष्ट, अश्रुत तथा अनालोचित अर्थ को यथार्थ रूप में तत्क्षण ग्रहण करने वाली औत्पत्तिकी बुद्धि^७ होती है। इससे होने वाला बोध अव्याहत फल वाला होता है अर्थात् लौकिक एवं लोकोत्तर प्रयोजन से बाधित नहीं होता।

५८८/१३-१५. औत्पत्तिकी बुद्धि के अड़तीस उदाहरण हैं—१. भरतशिला, २. मेंढा, ३. कुक्कुट, ४. तिल, ५. बालुका, ६. हाथी, ७. कूप, ८. वनषंड, ९. खीर, १०. अजिका—बकरी, ११. पत्र, १२. गिलहरी, १३. पांच पिता, भरतशिला^८, १४. पणित—शर्त, १५. वृक्ष, १६. मुद्रिका, १७. वस्त्र—खंड, १८. सरट—गिरगिट, १९. काक, २०. उत्सर्ग, २१. गज, २२. घयण—भांड, २३. लाख का गोला, २४. खंभा, २५. क्षुल्लक, २६. मार्ग—स्त्री, २७. पति, २८. पुत्र, २९. मधुमक्खियों का छाता, ३०. मुद्रिका, ३१. अंक, ३२. नाणक—रुपयों की नौली, ३३. भिक्षु, ३४. बालक का निधान, ३५. शिक्षा, ३६. अर्थशास्त्र, ३७. मेरी इच्छा, ३८. एक लाख।^९

१-५. देखें परि. ३ कथाएं।

६. आवहाटी. १ पृ. २७६ ; जो जल, स्थल तथा आकाश मार्गों से यथेष्ट यात्रा करने में निपुण होता है, जो बारह बार सामुद्रिक यात्रा में अपना कार्य सम्पन्न कर सकुशल लौट आता है, अन्यान्य यात्री भी जिससे यात्रासिद्धि की मंत्रणा करते हैं, वह यात्रासिद्ध कहलाता है।

७. आवहाटी. १ पृ. २७७ ; शास्त्रों के अभ्यास एवं कर्मपरिशीलन के बिना ही जो स्वतः उत्पन्न होती है, वह औत्पत्तिकी बुद्धि कहलाती है। यह प्रातिभज्ञान है।

८. जो प्रयोजन से युक्त तथा किसी दूसरे प्रयोजन से अव्याहत है।

९. यहां भरतशिला दृष्टान्त पुनरुक्त हुआ है। नंदी में ५८८/१३ वीं गाथा प्रक्षिप्त मानी है।

१०. औत्पत्तिकी बुद्धि की ३८ कथाओं के लिए देखें परि. ३ कथाएं।

५८६/१६. गुरुतर कार्यभार को वहन करने में समर्थ, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के सूत्रार्थ के सार को ग्रहण करने वाली, उभय लोक के फल से युक्त तथा विनय से उत्पन्न बुद्धि का नाम वैनयिकी है।

५८८/१७, १८. वैनयिकी बुद्धि के चौदह उदाहरण हैं—१. निमित्त, २. अर्थशास्त्र, ३. लेखन, ४. गणित, ५. कूप, ६. अश्व, ७. गर्दभ, ८. लक्षण, ९. गांठ, १०. औषध, ११. गणिका और रथिक, १२. भोगी हुई साड़ी, दीर्घतृण, उल्टा घूमता हुआ क्रौंच पक्षी, १३. नीबोदक—नेवे का पानी, १४. बैल, अश्व और वृक्ष से गिरना।^१

५८८/१९. उपयोग (दत्तचित्ता) के द्वारा कर्म के रहस्य को देखने वाली, कर्म के अभ्यास तथा विचार से विशाल, साधुवाद के फलवाली तथा कर्म से उत्पन्न होने वाली बुद्धि कर्मजा है।

५८८/२०. कर्मजा बुद्धि के बारह उदाहरण हैं—१. स्वर्णकार, २. कृषक, ३. जुलाहा, ४. डोव, ५. मौक्तिक—मणिकार, ६. घृत-व्यापारी, ७. प्लवक, ८. तंतुवाय—जुलाहा, ९. बढई, १०. रसोइया, ११. कुंभकार तथा १२. चित्रकार।

५८८/२१. अनुमान, हेतु और दृष्टान्त से साध्य को सिद्ध करने वाली, वयविपाक से परिपक्व होने वाली, अभ्युदय और निःश्रेयस फलवाली बुद्धि का नाम पारिणामिकी है।

५८८/२२, २३. पारिणामिकी बुद्धि वाले व्यक्ति—१. अभयकुमार, २. श्रेष्ठी, ३. कुमार, ४. देवी, ५. उदितोदितराजा, ६. साधु और नन्दिषेण, ७. धनदत्त, ८. श्रावक, ९. अमात्य, १०. क्षपक, ११. अमात्यपुत्र, १२. चाणक्य १३. स्थूलिभद्र १४. नासिक्य सुंदरीनंद तथा १५. आर्यवज्र।^२

१. वैनयिकी बुद्धि की चौदह कथाओं के लिए देखें परि. ३ कथाएं।

२. १. जैसे कुशल स्वर्णकार अंधेरे में भी रुपये को छूकर परीक्षा कर लेता है कि सिक्का खोटा है अथवा असली ?
२. जुलाहा तंतुओं को मुट्ठी में लेकर जान लेता है कि धागों के इतने कंडकों से पट बन जाएगा।
३. दर्वाकार—चाटु बनाने वाला जान लेता है कि इस दर्वा में इतना समाएगा।
४. मुक्ताकार मोती को आकाश में फेंककर सूअर के बालों से निर्मित धागे को इस प्रकार खड़ा करता है कि ऊपर से गिरते हुए मोती धागे के छेद में प्रवेश कर जाएं।
५. विज्ञान के प्रकर्ष पर पहुंचा हुआ घृत-विक्रेता गाड़ी में बैठे-बैठे ही कुण्डिकानाल में घृत का प्रक्षेप कर सकता है।
६. प्लवक—नट आकाश में बांस पर चढ़कर अनेक करतब दिखा सकता है।
७. निपुण जुलाहा पहले स्थूल सिलाई करता है, फिर सूई से इतना महीन सीता है कि दूसरों को पता ही नहीं चलता कि सिलाई कहां की है ? जैसे भगवान् महावीर के आधे दूध के साथ दूसरा आधा भाग सन्धिकारक ने इस प्रकार से जोड़ा कि उस वस्त्र की संधि दृग्गोचर नहीं होती थी।
८. वर्धकि—निपुण बढई बिना मापे देवकुल, रथ आदि का प्रमाण जान लेता है।
९. आपूर्णिक—हलवाई आटे को मापे बिना ही रोटी का परिमाण बता देता है।
१०. कुंभकार—निपुण कुंभकार विवक्षित घट के लिए प्रमाणोपेत मिट्टी ग्रहण करता है तथा घट आदि भांडों का प्रमाण बिना मापे ही जान लेता है।
११. चित्रकार—निपुण चित्रकार माप किए बिना ही प्रमाणयुक्त चित्र बना देता है। वह उतना ही रंग धोलता है, जितने से चित्र पूरा बन जाए।

३. देखें परि. ३ कथाएं।

४. पारिणामिकी बुद्धि वाले व्यक्तियों की कथाओं के लिए देखें परि. ३ कथाएं।

५८८/२४. चरण से आहत, कृत्रिम आंवला^१, मणि, सर्प, गेंडा, स्तूप-पतन तथा इन्द्रपादुका—ये सारे पारिणामिकी बुद्धि के उदाहरण हैं।

५८८/२५. जो दृढप्रहारी की भांति तपस्या में क्लान्त नहीं होता, वह तपःसिद्ध होता है। जिसने समस्त कर्मांशों को क्षीण कर दिया है, वह कर्मक्षयसिद्ध होता है।

५८९. सित का अर्थ है—बद्ध तथा ध्मात का अर्थ है—दग्ध। जो आठ प्रकार की बद्ध दीर्घकालिक कर्मरजों को दग्ध करता है, वह सिद्धत्व को प्राप्त होता है।

५९०. वेदनीय कर्म की अधिकता और आयुष्य कर्म की अल्पता जानकर केवली समुद्घात करते हैं और अशेष कर्मों का क्षय कर देते हैं।

५९१. केवली आत्मप्रदेशों को प्रथम चार समय में क्रमशः दंड, कपाट, मंथान, मन्थान्तर (अन्तरावगाह) के आकार में पूरे लोक में फैलाता है फिर प्रतिलोमक्रम से संहरण करता हुआ जीव शरीरस्थ हो जाता है। उसके बाद वह भाषा और योग का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर सिद्ध हो जाता है।^२

५९२. जैसे भीगी हुई शाटिका को फैलाकर सुखाने से वह शीघ्र सूख जाती है, उसी प्रकार जिन भगवान् के समुद्घात के द्वारा कर्मों की दीर्घकालिक स्थिति अल्प हो जाती है।

५९३. जैसे अलाबु, एरंडफल, अग्नि, धूम तथा धनुष्य से छूटा हुआ बाण—इन सबकी गति पूर्वप्रयोग से होती है, वैसे ही सिद्धों की गति होती है।^३

५९४. सिद्ध कहां प्रतिहत होते हैं? कहां स्थित होते हैं? कहां शरीर छोड़ते हैं और कहां जाकर सिद्ध होते हैं?

५९५. सिद्ध अलोक से प्रतिहत होते हैं। लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं। मनुष्य लोक में शरीर को छोड़ते हैं और लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते हैं।

५९५/१. ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी का अपर नाम सीता है। उससे एक योजन ऊपर लोकान्त है। सर्वार्थसिद्ध से बारह योजन ऊपर सिद्धि-क्षेत्र है।

१. कठोर स्पर्श और अश्रुतुक आंवले को देखकर जानना कि यह आंवला कृत्रिम है। यह पारिणामिकी बुद्धि का उदाहरण है।

२. विभामहे गा. ३०५४, ३०५५; केवली समुद्घात में मनयोग और वचनयोग का व्यापार नहीं होता। पहले और आठवें समय में औदारिक काययोग होता है। दूसरे, छठे और सातवें समय में औदारिक मिश्र तथा तीसरे, चौथे और पांचवें समय में कर्मण काययोग होता है।

३. जैसे एक तुम्बा, जिस पर मिट्टी के आठ लेप लगे हुए हैं, पानी में डूब जाता है। एक-एक लेप के हट जाने से निर्लेप बना हुआ तुम्बा जल-तल से ऊर्ध्वगति कर जल पर तैरने लगता है, वैसे ही आठ प्रकार के कर्मलेप से मुक्त आत्मा की निःसंगता के कारण ऊर्ध्वगति होती है। वृन्त से टूटने पर एरंड की फली ऊर्ध्व गति करती है तथा अग्नि और धूम्र की स्वभाव से ही ऊर्ध्व गति होती है। धनुष से छूटे हुए बाण और कुलालचक्र की पूर्वप्रयोग के कारण गति होती है। इसी प्रकार मुक्त आत्मा की अगुरुलघुत्व, पूर्वप्रयोग तथा स्वभाव के कारण ऊर्ध्व गति होती है (आवहाटी. १ पृ. २९५)।

५९५/२. वह पृथ्वी निर्मल—श्लक्ष्ण उदक कणिका के समान वर्ण वाली, तुषार, गोक्षीर तथा हार के सदृश वर्णवाली है। वह उत्तानछत्र जैसे संस्थान वाली है—ऐसा जिनेश्वर देवों ने कहा है।

५९५/३. इसका प्रमाण (परिधि) है—एक करोड़, बयालीस लाख, तीस हजार दो सौ उनपचास योजन।

५९५/४. इसके मध्यभाग की ऊंचाई आठ योजन है। यह चरमान्त में अंगुल के असंख्य भाग जितनी पतली है।

५९५/५. एक-एक योजन आगे चलने पर इसकी मोटाई में अंगुलपृथक्त्व की हानि होती जाती है। उसके पर्यन्तभाग मक्षिका की पांखों से भी अधिक पतले हो जाते हैं।

५९५/६. ईषत्प्राग्भारा सीता पृथ्वी के एक योजन का ऊपरवर्ती जो कोश है, उसके छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना कही गई है।

५९५/७. सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना है—३३३ धनुष्य तथा धनुष्य का तीसरा भाग (१ हाथ ८ अंगुल)। यह कोश का छठा भाग है इसीलिए कोश के छठे भाग में सिद्ध कहे गए हैं।

५९५/८. सिद्ध होने वाला जीव सीधा सोया हुआ, पार्श्वस्थित या तिर्यक्स्थित हो, बैठा हुआ हो अथवा जो जिस स्थिति में मृत्यु प्राप्त करता है, वह उसी स्थिति में सिद्ध अवस्था में स्थित हो जाता है।

५९५/९. कर्मों की परवशता के कारण ही जीव भवान्तर में इस जन्म से भिन्न आकार वाला होता है। सिद्ध होने वाले के लिए ऐसा नहीं होता। वह तदाकार—पूर्वभव के आकार वाला ही होता है।

५९५/१०. जो जीव जिस संस्थान में शरीर छोड़ता है, चरम समय में प्रदेशों के घनत्व के कारण सिद्ध होने पर वही संस्थान होता है।^१

५९५/११. चरम भव में दीर्घ या ह्रस्व जो भी संस्थान होता है, उससे तीन भाग हीन (एक तिहाई) सिद्ध की अवगाहना होती है।

५९५/१२-१४. सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना ३३३ धनुष्य तथा धनुष्य का तीसरा भाग (१ हाथ ८ अंगुल), मध्यम अवगाहना ४ हाथ १६ अंगुल तथा जघन्य अवगाहना १ हाथ ८ अंगुल होती है।^२

१. सिद्ध होने से पूर्व देह का शुषिर भाग आत्मप्रदेशों से पूरित होने के कारण सघन हो जाता है, उनका आकार पूर्ववत् स्थिर नहीं रहता। पूर्व आकार के तीसरे भाग में वे प्रदेश व्यवस्थित हो जाते हैं। यद्यपि सिद्ध अमूर्त होते हैं, उनका कोई आकार नहीं होता लेकिन पूर्व आकार की अपेक्षा सिद्धों की अवगाहना स्वीकृत की गयी है।

२. सिद्ध होने वाले जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ धनुष, मध्यम अवगाहना सात हाथ और जघन्य अवगाहना दो हाथ होती है। विस्तार के लिए देखें श्रीभिक्षु आगम विषय कोश पृ. ७०९, ७१०।

५९६. जरा-मरण से विप्रमुक्त सिद्धों की अवगाहना वर्तमान भव से तीन भाग परिहीन होती है। उनका संस्थान अनित्यस्थ होता है।

५९७. जहां एक सिद्ध है, वहां भवक्षय से विप्रमुक्त अनंत सिद्ध अन्योन्य समवगाढ रहते हैं तथा वे सभी लोकान्त का स्पर्श किए हुए हैं।^१

५९८. प्रत्येक सिद्ध नियमतः सभी आत्मप्रदेशों से अनंत सिद्धों का स्पर्श करता है। देशप्रदेशों से जो स्पृष्ट होते हैं, वे भी सर्वप्रदेशों से स्पृष्ट सिद्धों से असंख्येयगुणा हैं।

५९९. वे सिद्धजीव अशरीर, जीवधन^२—आत्मप्रदेशों की सधनता से युक्त, दर्शन तथा ज्ञान में उपयुक्त, साकार-अनाकार लक्षण वाले हैं। यह सिद्धों का स्वरूप है।

६००. वे केवलज्ञान से उपयुक्त होकर सभी पदार्थों के गुण-पर्यायों को जानते हैं तथा केवल दर्शन से सब पदार्थों को देखते हैं।

६०१. वे ज्ञान-दर्शन—इनमें से किसी एक में उपयुक्त रहते हैं। सभी केवलियों के एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते।^३

६०२. सिद्धों को जैसा अव्याबाध सुख प्राप्त है, वैसा सुख सब देवों और मनुष्यों को प्राप्त नहीं है।

६०३. देवताओं का तीनों काल का संपूर्ण सुख पिंडीभूत करके उसे अनन्त वर्गवर्गों से वर्गित कर दिया जाए तो भी वह मुक्तिसुख के अनन्तवें भाग जितना भी नहीं है।

६०४. सिद्धों की सर्वकाल की सुखराशि को यदि पिंडित कर दिया जाए तो वह अनन्तवर्गों में विभक्त होने पर भी लोक-अलोक के आकाश-प्रदेशों में नहीं समा सकेगी।

६०५, ६०६. जैसे कोई म्लेच्छ नगर के गुणों को अनेक प्रकार से जानता है परन्तु वह अन्य म्लेच्छजनों को बता नहीं सकता क्योंकि बताने योग्य उपमाओं का उसके पास अभाव है। इसी प्रकार सिद्धों का सुख अनुपम है, उसका कोई औपम्य नहीं है। फिर भी विशेषरूप से सामान्यजन की प्रतिपत्ति के लिए कुछ सादृश्य बतला रहा हूं, उसे सुनो।

१. परिमित सिद्धक्षेत्र में अनंत सिद्धों की अवगाहना कैसे संभव है? इसका समाधान करते हुए जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कहते हैं कि सिद्ध अमूर्त हैं अतः परिमित क्षेत्र में भी अनंत सिद्ध रह सकते हैं। जैसे—अनंत सिद्धों का अनन्त ज्ञान प्रत्येक द्रव्य को जानता है। एक नर्तकी को हजारों आंखें देखती हैं। एक छोटे से कक्ष में अनेकों दीपकों का प्रकाश समा जाता है। जब अनेक मूर्त प्रदीपों की प्रभा भी सीमित क्षेत्र में समा जाती है तो अनन्त अमूर्त आत्माओं का सीमित क्षेत्र में अवगाह भी संभव है (विभामहे गा. ३१८१, ३१८२)।

२. जीवधन—जो शरीर के शुषिर भाग को पूरा कर सधन हो गए हैं।

३. केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग के सम्बन्ध में आचार्यों की विभिन्न अवधारणाएं रही हैं। सिद्धसेन के अनुसार केवली एक समय में जानते-देखते हैं, उनके जानने-देखने में अभेद रहता है, छद्मस्थ में नहीं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों की मान्यता से केवली का ज्ञान और दर्शन अलग-अलग समय में होता है। मल्लवादी के अनुसार केवलज्ञान और केवलदर्शन युगपद् होता है (नंदीमवृ प. १३४)।

६०७. जैसे कोई पुरुष सर्वकामगुणित—सभी अभिलाषाओं को पूरा करने वाला भोजन करके क्षुधा और पिपासा से मुक्त होकर अमृत से तृप्त व्यक्ति की भांति रहता है (उससे भी अनन्तगुणा सुख सिद्धों का है)।

६०८. इसी प्रकार अतुल निर्वाण को प्राप्त सिद्ध सर्वकालतृप्त रहते हैं। वे शाश्वत और अव्याबाध सुख को प्राप्त करके सुखी रहते हैं।

६०९. सिद्ध के ये पर्यायवाची शब्द हैं—सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परम्परागत, उन्मुक्तकर्मकवच, अजर, अमर, असंग।

६१०. समस्त दुःखों से रहित, जन्म-जरा-मरण के बंधन से विप्रमुक्त सिद्ध अव्याबाध और शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।

६११. सिद्धों को भावनापूर्वक किया गया नमस्कार जीव को सहस्रभवों से मुक्त कर देता है। वह नमस्कार उसके बोधि-लाभ के लिए होता है।

६१२. भवक्षय करने वाले धन्य व्यक्तियों के हृदय को न छोड़ता हुआ यह 'णमो सिद्धाणं'—सिद्धनमस्कार उनके विस्रोतसिका का वारक होता है।

६१३. इस प्रकार सिद्धनमस्कार महान् अर्थ वाला वर्णित है। मृत्युकाल के समीप होने पर इसका स्मरण बार-बार और अनवरत किया जाता है।

६१४. यह सिद्धनमस्कार समस्त पापों का नाश करने वाला तथा सभी मंगलों में दूसरा मंगल है।

६१५. आचार्य शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम आचार्य, स्थापना आचार्य, द्रव्य आचार्य तथा भाव आचार्य। द्रव्य आचार्य है—एकभविक आदि। लौकिक आचार्य हैं—शिल्पशास्त्र के ज्ञाता आदि।

६१५/१. पांच प्रकार के आचार्य का अनुपालन करने वाले, उनकी प्रभावना करने वाले तथा आचार को क्रियात्मकरूप से दिखाने वाले को आचार्य कहा जाता है।

६१६. ज्ञान आदि के भेद से आचार पांच प्रकार का है। उनका आचरण करने तथा उनकी प्रभावना करने के कारण जो भाव-आचार्य हैं, वे भाव आचार में उपयुक्त होते हैं।

६१७. आचार्य को भावनापूर्वक किया गया नमस्कार जीव को सहस्रभवों से मुक्त कर देता है। वह नमस्कार उसके बोधिलाभ के लिए होता है।

६१८. भवक्षय करने वाले धन्य व्यक्तियों के हृदय को न छोड़ता हुआ यह 'णमो आर्यरियाणं'—आचार्य-नमस्कार उनके विस्रोतसिका का वारक होता है।

६१९. इस प्रकार आचार्यनमस्कार महान् अर्थ वाला वर्णित है। मृत्युकाल के निकट होने पर इसका स्मरण बार-बार और अनवरत किया जाता है।

१. १. ज्ञानाचार, २. दर्शनाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपःआचार तथा ५. वीर्याचार।

६२०. यह आचार्यनमस्कार सभी पापों का प्रणाशक है तथा सभी मंगलों में तीसरा मंगल है।

६२१. उपाध्याय के चार निक्षेप हैं—नाम उपाध्याय, स्थापना उपाध्याय, द्रव्य उपाध्याय और भाव उपाध्याय। द्रव्य उपाध्याय में शिल्पशास्त्र के ज्ञाता, उपदेष्टा तथा निहवों का समावेश होता है।

६२२. अर्हत् प्रणीत द्वादशांगी को गणधरों ने स्वाध्याय कहा है। उस स्वाध्याय का उपदेश (वाचना आदि) देने वाले को उपाध्याय कहा जाता है।

६२३. 'उ' उपयोगपूर्वक, 'ज्झ' ध्यान का निर्देश अतः 'उज्झा' का अर्थ है—उपयोगपूर्वक ध्यान करने वाले। यह उपाध्याय का अन्य पर्याय है।

६२४. उवज्झाओ में 'उ' का अर्थ उपयोगपूर्वक, 'व' का अर्थ पापपरिवर्जन, 'झ' का अर्थ ध्यान के लिए तथा 'ओ' का अर्थ कर्मों का अपनयन करना है। उपाध्याय का समुच्चयार्थ है—उपयोगपूर्वक पाप का परिवर्जन करते हुए ध्यानारूढ होकर कर्मों का अपनयन करने वाले।

६२५. उपाध्याय को भावनापूर्वक किया गया नमस्कार जीव को सहस्रभवों से मुक्त कर देता है। यह नमस्कार उसके बोधिलाभ के लिए होता है।

६२६. भवक्षय करने वाले धन्य व्यक्तियों के हृदय में निरंतर बना रहने वाला यह 'णमो उवज्झायाणं'—'उपाध्याय नमस्कार' उनके विस्रोतसिका का वारक होता है।

६२७. इस प्रकार उपाध्याय नमस्कार महान् अर्थ वाला वर्णित है। मृत्युकाल के निकट होने पर इसका स्मरण बार-बार और अनवरत किया जाता है।

६२८. यह उपाध्याय नमस्कार सभी पापों का प्रणाशक है तथा सभी मंगलों में चौथा मंगल है।

६२९. साधु शब्द के चार निक्षेप हैं—नाम साधु, स्थापना साधु, द्रव्य साधु और भाव साधु। द्रव्य साधु हैं—लौकिक साधु। भावसाधु हैं—संयत साधु।

६३०. घट, पट, रथ आदि को करने वाले द्रव्य साधु हैं अथवा भाव-पर्याय से शून्य जो साधु हैं, वे द्रव्य साधु हैं।

६३१. जो निर्वाण-साधक योग अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि की साधना करते हैं, समस्त प्राणियों के प्रति सम रहते हैं, वे भावसाधु हैं।

६३२, ६३३. (अर्हत्, सिद्ध, आचार्य और उपाध्यायों में गुणों की अधिकता होती है अतः वे वन्दनार्ह हैं।) परन्तु साधु तो सामान्य तप, नियम और संयमगुणों से युक्त होते हैं तो तुम उन्हें वंदना क्यों करते हो? यह पूछने पर वह कहता है—जो विषयसुखों से निवृत्त हैं, विशुद्ध चारित्र तथा नियमों से युक्त हैं, क्षांति आदि

१. अभिनिवेश दोष के कारण एक पदार्थ को भी अन्यथा प्ररूपित करने के कारण निहव मिथ्यादृष्टि होते हैं, इसीलिए उन्हें द्रव्य उपाध्याय कहा गया है।

तथ्यपूर्ण गुणों के साधक हैं, सदा मोक्ष के लिए उद्यमशील हैं, उन मुनियों को नमस्कार है।

६३४. संयम-पालन करने वाले मुझ असहाय की वे सहायता करते हैं, इस कारण से मैं सब साधुओं को नमस्कार करता हूँ।

६३५. साधुओं को भावनापूर्वक किया गया नमस्कार जीव को सहस्रभवों से मुक्त कर देता है। वह नमस्कार उसके बोधिलाभ के लिए होता है।

६३६. भवक्षय करने वाले धन्य व्यक्तियों के हृदय को न छोड़ता हुआ यह 'णमो लोए सव्वसाहूणं' सर्व साधुओं को नमस्कार उनके विस्रोतसिका का वारक होता है।

६३७. इस प्रकार साधु नमस्कार महान् अर्थ वाला वर्णित है। मृत्युकाल के निकट होने पर इसका स्मरण बार-बार और अनवरत किया जाता है।

६३८. यह साधु नमस्कार सभी पापों का प्रणाशक तथा सभी मंगलों में पांचवां मंगल है।

६३८/१. यह पंच परमेष्ठी का नमस्कार सब पापों का प्रणाशक है तथा सभी मंगलों में प्रधान मंगल है।

६३९. (सूत्र के दो ही प्रकार हैं—संक्षेप या विस्तार।) यह नमस्कार सूत्र न संक्षिप्त है और न विस्तृत। संक्षेप में हो तो दो प्रकार का नमस्कार ही होना चाहिए—सिद्धों और साधुओं को। विस्तार के अनेक प्रकार हो सकते हैं इसलिए पांच प्रकार का नमस्कार युक्त नहीं है।^१

६४०. अर्हत्, आचार्य आदि नियमतः साधु हैं। साधु में अर्हत् की भजना है इसलिए पांच प्रकार का नमस्कार है। नमस्कार की अर्हता का हेतु^२ इन पंच पदों में निहित है।

६४१. यह नमस्कार पद न पूर्वानुपूर्वी क्रम से है और न पश्चानुपूर्वी क्रम से। पूर्वानुपूर्वी क्रम से सिद्ध प्रथम होंगे और पश्चानुपूर्वी क्रम से साधु आदि में होंगे।

६४२. अर्हद् के उपदेश से सिद्धों की अवगति होती है इसलिए अर्हद् को प्रथम नमस्कार किया जाता है। कोई भी व्यक्ति पहले परिषद् को नमस्कार कर फिर राजा को नमस्कार नहीं करता।^३

६४३. इन सबको नमस्कार करने का प्रयोजन कर्मक्षय तथा मंगल की उपलब्धि है। इससे इहलौकिक और पारलौकिक—दोनों प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। इनके दृष्टान्त ये हैं।

१. परिनिर्वृत अर्हत्तों का सिद्ध पद में तथा शेष पदों का साधु के पद में समाहार हो जाता है (आवहाटी. १ पृ. ३००)।

२. देखें गाथा ५८१।

३. टीकाकार हरिभद्र ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि आचार्य के उपदेश से अर्हत्तों की अवगति मिलती है तब सर्वप्रथम आचार्यों को नमस्कार क्यों नहीं किया गया? इसके समाधान में स्वयं टीकाकार कहते हैं कि तुल्य बल वालों के क्रम का विचार श्रेयस्कर है। शक्ति-सम्पन्नता और कृतकृत्यता की दृष्टि से अर्हत् और सिद्ध प्रायः समान ही हैं। दोनों परम नायक हैं। आचार्य उनकी परिषद् के समान हैं। कोई भी व्यक्ति परिषद् को प्रणाम कर राजा को प्रणाम नहीं करता (आवहाटी. १ पृ. ३०१)।

६४४. नमस्कार के जप से इहलोक में अर्थ, काम, आरोग्य तथा अभिरति की प्राप्ति होती है तथा परलोक में पुण्य-निष्पत्ति, सिद्धि, स्वर्ग तथा सुकुल में उत्पत्ति होती है।

६४५. त्रिदंडी^१, सादिव्य^२—कामनिष्पत्ति तथा मातुलिंगवन^३ आदि इस लोक से संबंधित तथा चंडपिंगल^४, हुंडिकयक्ष^५ आदि परलोक संबंधी दृष्टान्त हैं।

६४५/१. नंदी, अनुयोगद्वार तथा उपोद्घात को विधिवत् जानकर पंच मंगल अर्थात् पंच नमस्कार करके सूत्र का आरंभ किया जाता है।

६४५/२. पंच नमस्कार करने वाला सामायिक करता है इसलिए पंच नमस्कार का कथन किया गया है। यह सामायिक का ही एक अंग है। शेष सामायिक का सूत्र-पाठ कहता हूं।

६४५/३. अस्खलित सूत्र का उच्चारण करके संहिता आदि व्याख्यानचतुष्टयी का कथन करने के पश्चात् सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का विस्तार इस प्रकार होता है—

६४६. करण, भय, अंत, सामायिक, सर्व, वर्ज, योग, प्रत्याख्यान, यावज्जीवन, त्रिविध—ये सामायिक के व्याख्येय द्वार हैं।

६४७. करण शब्द के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव।

६४७/१. क्षेत्र का करण नहीं होता क्योंकि आकाश अकृत्रिम—अकृतक पदार्थ है किन्तु क्षेत्र के अभिव्यञ्जक पुद्गलों की अपेक्षा से क्षेत्रकरण होता है, जैसे—इक्षुक्षेत्रकरण, शालिक्षेत्रकरण आदि।

६४७/२. काल का करण नहीं होता लेकिन व्यंजन-प्रमाण से काल का करण होता भी है क्योंकि बव, वालव आदि करणों से अनेकधा व्यवहार होता है।

६४७/३. भावकरण दो प्रकार का है—जीवभावकरण और अजीवभावकरण। अजीवभावकरण है—वर्ण आदि। जीवभावकरण के दो प्रकार हैं—श्रुतभावकरण तथा नोश्रुतभावकरण।

६४७/४. श्रुतभावकरण के दो भेद हैं—बद्ध और अबद्ध।^६ बद्ध है—निर्दिष्ट द्वादशांगी। इसके विपरीत अबद्ध है। निशीथ और अनिशीथ बद्धश्रुत हैं।^७

६४७/५. भूतापरिणतविगत^८—यह शब्दकरण है। यह निशीथ नहीं है। निशीथ वह होता है, जो प्रच्छन्न/गूढार्थ/रहस्यपूर्ण होता है, जैसे—निशीथ नामक अध्ययन।

१-५. देखें परि. ३ कथाएं।

६. बद्ध—गद्य-पद्य में निबद्ध शास्त्रोपदेश आचारांग आदि।

अबद्ध—अशास्त्रोपदेश रूप केवल कंठगत श्रुत।

७. आवहाटी. १ पृ. ३१०; रहस्यपाठाद् रहस्योपदेशाच्च प्रच्छन्नं निशीथमुच्यते, प्रकाशपाठाद् प्रकाशोपदेशत्वाच्चाविषोधमिति—यहां निशीथ का अर्थ है—रहस्योपदेश, प्रच्छन्न सूत्र। अनिशीथ का अर्थ है—स्पष्ट उपदेश वाला सूत्र।

८. भूत का अर्थ है—उत्पत्ति, अपरिणत का अर्थ है—ध्रौव्य और विगत का अर्थ है—व्यय। यह स्पष्ट है। निशीथ स्पष्ट नहीं है क्योंकि वह रहस्य पाठ वाला, रहस्य-उपदेश वाला तथा गुप्तार्थ प्रकट करने वाला है (आवहाटी. १ पृ. ३१०)।

६४७/६. अग्रायणीय पूर्व में यह पाठ है—जहां एक द्वीपायन का हनन होता है या एक द्वीपायन भोजन करता है वहां सौ द्वीपायनों का हनन होता है तथा सौ द्वीपायन भोजन करते हैं। (यह निशीथ है, गुप्तार्थ है, परम्परा के अभाव में इसकी व्याख्या असंभव है।)

६४७/७. इस प्रकार बद्ध-अबद्ध आदेश पांच सौ हैं। उसमें एक आदेश है—अत्यंत स्थावरा—अनादिवनस्पतिकाय से निकलकर मरुदेवा सिद्ध हुई।^१

६४७/८. नोश्रुतकरण दो प्रकार का है—गुणकरण तथा योजनाकरण। गुणकरण के दो प्रकार हैं—तपःकरण तथा संयमकरण।

६४७/९. योजनाकरण मन, वचन और काया से संबंधित है इसलिये वह तीन प्रकार का है। सत्य आदि को मन, वचन और काया से स्वस्वस्थान में जोड़ने पर चार-चार और सात भेद होते हैं।^२

६४७/१०. यहां भावश्रुतशब्दकरण में श्रुतसामायिक के अधिकार का अवतरण करना चाहिए। नोश्रुतकरण में गुणकरण और योजनाकरण यथासंभव होते हैं।

६४८. सामायिक के सात द्वार हैं—१. कृत-अकृत २. किसने की ३. किन द्रव्यों में की ४. कब अथवा कारक ५. किस नय से ६. कितने करण से ७. कैसे ?

१. जो पाठ अंग-उपांग आगम में उपलब्ध नहीं हैं, वे अबद्धश्रुत कहलाते हैं। उन्हें 'आदेश' कहा जाता है। अबद्ध आदेश अर्हत्-प्रवचन में पांच सौ की संख्या में हैं। जैसे—

१. अर्हत् ऋषभ की माता मरुदेवी अनन्त वनस्पति से उद्बृत्त होकर सिद्ध हुई।

२. स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्यों और पद्मपत्रों में वलय संस्थान को छोड़कर शेष सब संस्थान होते हैं।

३. श्री विष्णु ने सातिरेक (कुछ अधिक) एक लाख योजन की विकुर्वणा की।

४. कुणाला नगरी में कुरुट और उत्कुरुट—ये दो उपाध्याय रहते थे। उन दोनों की वसति नगरी के जल-निर्गमन मार्ग पर थी। वर्षावास का समय था। उन्होंने वर्षा न होने के लिए देवता की अनुकम्पा प्राप्त की। नागरिकों ने यह जानकर उनको वहां से निकाल दिया। तब रुष्ट होकर कुरुट ने कहा—देव! कुणाला में बरसो। उत्कुरुट ने कहा—पन्द्रह दिन तक निरंतर बरसो। कुरुट ने पुनः कहा—मुसलाधार वर्षा करो। उत्कुरुट ने इतना और जोड़ दिया—दिन-रात एक समान बरसो। ऐसा कहकर दोनों ने वहां से प्रस्थान कर दिया। तीसरे वर्ष साकेत नगरी में वे दोनों मरकर सातवीं नरक में बाईस सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिक बने।

उधर निरंतर पन्द्रह दिन-रात तक मुसलाधार वर्षा के कारण कुणाला नगरी जल से आप्लावित होकर विनष्ट हो गई। कुणाला के विनाश के बारह वर्ष पश्चात् तेरहवें वर्ष में भगवान् को कैवल्य उत्पन्न हुआ। इस प्रकार के पांच सौ आदेश सूत्र में निबद्ध नहीं हैं। ये लोकोत्तर आदेश हैं।

बत्तीस अङ्गुिका (मत्स्यों की क्रियाविशेष), बत्तीस प्रत्यङ्गुिका, सोलह करण तथा लोकप्रवाह में वर्णित पांच स्थान—आलीढ, प्रत्यालीढ, वैशाख, मण्डल और समपाद तथा छठा स्थान शयनकरण—ये कथन लौकिक शास्त्रों में निबद्ध नहीं हैं। ये लौकिक आदेश हैं (आवहाटी. १ पृ. ३१०, ३११)।

२. जैसे—सत्यमनोयोजनाकरण, असत्यमनोयोजनाकरण, सत्यमृषामनोयोजनाकरण, असत्यमृषामनोयोजनाकरण। इसी प्रकार वायोजनाकरण के चार भेद हैं और काययोजनाकरण के ये सात भेद हैं—औदारिककाययोजनाकरण, औदारिकमिश्रकाययोजनाकरण, वैक्रियकाययोजनाकरण, वैक्रियमिश्रकाययोजनाकरण, आहारककाययोजनाकरण, आहारकमिश्रकाययोजनाकरण तथा कर्मणकाययोजनाकरण।

६४९. नय के आठ प्रकार हैं—

१. आलोचनानय	५. कालनय
२. विनयनय	६. नक्षत्रनय
३. क्षेत्रनय	७. गुणसंपदानय
४. दिग्अभिग्रहनय	८. अभिव्याहारनय

६५०. गुरु विषयक करण ये हैं—उद्देशकरण, समुद्देशकरण, वाचनाकरण, अनुज्ञाकरण। शिष्य विषयक करण भी ये ही हैं—उद्दिश्यमानकरण, समुद्दिश्यमानकरण, वाच्यमानकरण तथा अनुज्ञायमानकरण।

६५१, ६५२. सामायिक की उपलब्धि कैसे होती है? सामायिकावरण के सर्वविधाती तथा देशविधाती दो प्रकार के स्पर्द्धक होते हैं। उदीर्ण सर्वविधाती स्पर्द्धकों का सर्वथा उद्घात होने पर तथा देशविधाती स्पर्द्धकों के उद्घात हो जाने पर अनन्त गुणी विशुद्धि से शुभ परिणाम वाले जीव को 'ककार' की उपलब्धि होती है अर्थात् प्रथम अक्षर का लाभ होता है। उसके पश्चात् अनन्तगुण विशोधि से विशुद्ध होता हुआ जीव शेष अक्षरों का भी क्रमशः लाभ प्राप्त कर लेता है। करण (करेमि) द्वार के प्रसंग में यह भाव करण है। अब जो भंते शब्द कहा गया है, उसकी व्याख्या है।

६५३. गुरु भय+अन्त—भय का अंत करने वाले होने के कारण 'भयान्त' होते हैं, यह भयान्त शब्द की रचना है। 'भय' के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। सबका अनुक्रम से वर्णन कर लेने पर 'अंत' के भी छह प्रकार होते हैं—नामान्त, स्थापनान्त, द्रव्यान्त, क्षेत्रान्त, कालान्त तथा भावान्त।

६५४. इस तरह भयों के सभी प्रकारों का वर्णन कर लेने पर प्रस्तुत में सात भयों से विप्रमुक्त का अधिकार है तथा भवान्त या भदन्त का भी प्रसंग है।

६५५, ६५६. सामायिक के ये एकार्थक हैं—साम, सम, सम्यक्, इक। इन प्रत्येक के चार-चार निक्षेप होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। मधुरपरिणाम वाला द्रव्य—द्रव्य साम है। दूध और शर्करा की सम्यग् युति द्रव्यसम्यक् है। सूत में हार की युति—द्रव्य+इक—द्रव्येक है। ये सारे द्रव्य के उदाहरण हैं। भूतार्थ के चिंतन में सम शब्द तुला का वाचक है।

६५७. आत्मौपम्य बुद्धि से परपीड़ा न करना 'भावसाम', राग-द्वेष में मध्यस्थ रहना 'भावसम', ज्ञानत्रिक की एकात्मकता 'भावसम्यग्' तथा साम आदि को आत्मा में पिरोना 'भाव इक' है।

६५८. समता, सम्यक्त्व, प्रशस्त, शांति, सुविहित, सुख, अनिन्द्य, अदुर्गुणित, अगर्हित, अनवद्य—ये सब सामायिक के एकार्थक हैं।

१. आवहाटी. १ पृ. ३१४ ; आचार्य शिष्ययोर्वचनप्रतिवचने अभिव्याहारः। आचार्य और शिष्य में वचन-प्रतिवचन होना अभिव्याहार है।

२. भंते शब्द के तीन संस्कृत रूप बनते हैं—१. भदन्त २. भवान्त ३. भयान्त।

३. भावभय सात प्रकार का है—१. इहलोकभय २. परलोकभय ३. आदानभय ४. अकस्मात् भय ५. अश्लोकभय ६. आजीविकाभय ७. मरणभय (आवहाटी. १ पृ. ३१५)।

४. इक शब्द देशी है। यह प्रदेश अर्थ का वाचक है।

६५९. कारक कौन है ? जो करता है, वह कारक है। कर्म क्या है ? जो करना है, वह कर्म है। कारक और करण का परस्पर अन्यत्व है या अनन्यत्व ? यह आक्षेप है।

६६०. मेरी आत्मा ही कारक है, सामायिक कर्म है तथा आत्मा ही करण है। परिणाम के होने पर सामायिक ही आत्मा है, यही प्रसिद्धि है।

६६१. कर्ता, कर्म और करण का अभेद—जैसे कोई मुट्ठी बांधता है। (इसमें देवदत्त कर्ता है, उसका हाथ कर्म है और उसी का प्रयत्न विशेष करण है।) अर्थान्तर में (कर्ता, कर्म, करण का भेद होने पर) जैसे कुलाल घट आदि का कर्ता है—घट कर्म है तथा दंड-चक्र आदि करण हैं। द्रव्य का अर्थान्तरभाव—गुणी से सर्वथा भिन्न होने पर गुण का किसके साथ कौन सा संबंध होगा ?^१

६६२. सर्व शब्द के सात निक्षेप हैं—नामसर्व, स्थापनासर्व, द्रव्यसर्व, आदेशसर्व, निरवशेषसर्व, सर्वधत्तसर्व^२ तथा भावसर्व।

६६३. जो गृहीत अनुष्ठान है, वह सावद्य कहलाता है अथवा क्रोध आदि चार कषाय अवद्य हैं। अवद्य के साथ जो योग अर्थात् प्रवृत्ति होती है, वह सावद्य कहलाती है। सावद्य योग का प्रत्याख्यान होता है।

६६४. योग के दो प्रकार हैं—द्रव्ययोग, भावयोग। मन, वचन और काया के योग द्रव्ययोग हैं। भावयोग दो प्रकार का है—सम्यक्त्व आदि प्रशस्त भावयोग तथा मिथ्यात्व आदि अप्रशस्त भावयोग।

६६५. प्रत्याख्यान के छह निक्षेप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, अतीच्छ और भाव।

६६६, ६६७. निहव आदि का प्रत्याख्यान द्रव्य प्रत्याख्यान है। निर्विषय अर्थात् देशनिकाला मिलने वाले का क्षेत्र प्रत्याख्यान है। भिक्षा आदि का अदान अतीच्छ प्रत्याख्यान है (भिक्षा न देकर तू चला जा ऐसा कहना) भावप्रत्याख्यान दो प्रकार का है—श्रुतप्रत्याख्यान और नोश्रुतप्रत्याख्यान। श्रुतप्रत्याख्यान दो प्रकार का है—पूर्वश्रुतप्रत्याख्यान तथा अपूर्वश्रुतप्रत्याख्यान। नोश्रुतप्रत्याख्यान के दो भेद हैं^३—मूलगुणप्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान।

६६८. यावद् शब्द अवधारण अर्थ में तथा जीवन^४ शब्द प्राणधारण अर्थ में प्रसिद्ध है। आप्राणधारणात्—अर्थात् प्राणधारण तक पापनिवृत्ति होती है।

१. वृत्तिकार कहते हैं कि गुण का किसी के साथ कोई संबंध नहीं है। ज्ञान आदि भी गुण हैं। वे आत्मा आदि गुणी से एकान्त भिन्न हैं (आवहाटी. १ पृ. ३१८)।

२. धत्त अर्थात् निहित।

३. १. पूर्वश्रुतप्रत्याख्यान—नौवां प्रत्याख्यान पूर्व।

२. अपूर्वश्रुतप्रत्याख्यान—आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि प्रकीर्णक ग्रंथ।

३. मूलगुणप्रत्याख्यान—सर्वमूलगुण (महाव्रत), देशमूलगुण (अणुव्रत)।

४. उत्तरगुणप्रत्याख्यान—सर्वउत्तरगुण (अनागत आदि दस प्रत्याख्यान)।

५. देशउत्तरगुण—तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत (आवहाटी. १ पृ. ३१९)।

४. आवहाटी. १ पृ. ३२० ; इह च जीवनं जीव इति क्रियाशब्दोऽयं न जीवतीति जीव आत्मपदार्थः, जीवनं तु प्राणधारणम्।

६६९. 'जीवित' शब्द के दस निक्षेप हैं—नामजीवित, स्थापनाजीवित, द्रव्यजीवित, ओघजीवित, भवजीवित, तद्भवजीवित, भोगजीवित, संयमजीवित, यशोजीवित तथा कीर्तिजीवित।^१

६६९/१. चक्रवर्ती आदि का जीवन भोगजीवित तथा संयमी साधुओं का जीवन संयमजीवित है। कीर्ति और यश का जीवन यशजीवित और कीर्तिजीवित है^२, यह तीर्थकर भगवान् के होता है।

६७०. गृहस्थों का प्रत्याख्यान १४७ भेद वाला है। मुनियों का प्रत्याख्यान तीन करण तीन योग से होता है। उसके २७ भेद हैं। यह भेद जाल समिति-गुप्तियों के कारण होता है। इस प्रकार सूत्र-स्पर्शिकनिर्युक्ति का विस्तृत अर्थ संपन्न हुआ।

६७१. 'सामायिक करता हूँ', सावद्ययोग का प्रत्याख्यान करता हूँ तथा 'प्राकृत का प्रतिक्रमण करता हूँ'—इसमें वर्तमान, अनागत तथा अतीत का क्रमशः ग्रहण है।

६७२. सामायिक के पाठ में 'त्रिविधेन' यह पद अयुक्त है क्योंकि प्रतिपद विधि से अर्थात् मणसा, वयसा, कायसा—इस पाठ से त्रिविध स्वयं समाहित है। अर्थ विकल्पना तथा गुणभावना में पुनरुक्ति दोष मान्य नहीं होता।

६७३. प्रतिक्रमण दो प्रकार का है—द्रव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण। द्रव्यप्रतिक्रमण निहवों का है, इसमें कुलाल^३ का दृष्टान्त है। भाव प्रतिक्रमण है—प्रतिक्रमण में उपयुक्तता, इसमें मृगावती^४ का उदाहरण है।

६७४. सचरित्र व्यक्ति का पश्चात्ताप निन्दा है। उसके चार निक्षेप हैं—नामनिन्दा, स्थापनानिन्दा, द्रव्यनिन्दा और भावनिन्दा। द्रव्यनिन्दा में चित्रकार की पुत्री^५ का तथा भावनिन्दा में अनेक उदाहरण हैं।

६७५. गर्हा भी निन्दा की सजातीय है। केवल इतना ही अंतर है कि दूसरे के समक्ष दोष-कथन गर्हा है। द्रव्य गर्हा में मरुक^६ का तथा भावगर्हा के अनेक उदाहरण हैं।

६७६. द्रव्य व्युत्सर्ग में प्रसन्नचन्द्र राजा का तथा भाव व्युत्सर्ग में पुनः संवेगप्राप्त प्रसन्नचन्द्र राजर्षि^७ का उदाहरण है।

१. १. ओघजीवित—सामान्य जीवन।

२. भवजीवित—नारक, देव आदि की अपने भव में स्थिति।

३. तद्भवजीवित—तिर्यक्, मनुष्य आदि की उसी भव में पुनः उत्पत्ति। यह केवल औदारिक शरीर वालों के होता है।

४. भोगजीवित—चक्रवर्ती, वासुदेव आदि का जीवन।

५. संयमजीवित—संयमी व्यक्तियों का जीवन।

६. यशजीवित कीर्तिजीवित—भगवान् महावीर का जीवन (आवहाटी. १ पृ. ३२०)।

२. आवश्यक दीपिका प. २१३; तत्र दानजा कीर्तिः, पराक्रमजं यशः, तयोर्जीविते भगवतोऽर्हतः, अन्ये तु यशकीर्ति-जीवितमेकमेवाहुः, किन्तु संयमविपक्षमसंयमजीवितं ख्याति, ततो दशधा—दान देने से कीर्ति तथा पराक्रम से यश प्राप्त होता है। कुछ आचार्य यश जीवित और कीर्ति जीवित को एकार्थक मानते हैं तथा संयम के प्रतिपक्ष असंयमजीवित को स्वीकार करके जीवित के दश भेद करते हैं।

३-७. देखें परि. ३ कथाएं।

६७७. जो तीन करण तीन योग से पाप का व्युत्सर्ग करता है, वह सावद्ययोगविरत होता है। सामायिक के आरम्भ समय का यह अनुगम समाप्त हुआ।

६७८. विद्या और चरणनय अर्थात् ज्ञाननय और क्रियानय में शेष नयों का समवतार कर लेना चाहिए। यह सुभाषित अर्थ वाली सामायिक निर्युक्ति समाप्त हुई।

६७९. अर्थ को भलीभांति जान लेने पर उपादेय के ग्रहण और हेय के अग्रहण में प्रयत्न करना चाहिए, यह जो उपदेश है, वह नय है।

६८०. सभी नयों की बहुविध वक्तव्यता को सुनकर चारित्र तथा क्षमा आदि गुणों में स्थित साधु सर्वनय सम्मत होता है।

परिशिष्ट

- गाथाओं का समीकरण
- पदानुक्रम
- कथाएं
- तुलनात्मक संदर्भ
- प्रयुक्त ग्रंथ सूची



गाथाओं का समीकरण

आवश्यक निर्युक्ति पर विपुल व्याख्या-साहित्य प्राप्त है। भाष्य, चूर्णि एवं टीकाएं—तीनों में निर्युक्ति गाथा की संख्याओं में काफी अंतर है। संपादन में भी हमने गाथाओं के बारे में पर्याप्त विमर्श किया है। कितनी गाथाएं बाद में प्रक्षिप्त हुईं तथा कितनी गाथाएं भाष्य की हैं, इस बारे में पादटिप्पण में विमर्श प्रस्तुत किया है अतः संपादित गाथा संख्याएं भी टीका, चूर्णि एवं भाष्य में प्रकाशित गाथा संख्याओं की संवादी नहीं हैं। पाठकों की सुविधा के लिए हम यहां चार्ट प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे किसी भी व्याख्या-साहित्य में गाथा को खोजने में सुविधा रहेगी। जिनदासकृत चूर्णि में निर्युक्ति की गाथा का केवल संकेत मात्र है तथा गाथा संख्या भी सम्यक् रूप से नहीं दी गयी है इसलिए हमने चार्ट में चूर्णि को सम्मिलित नहीं किया है।

आवश्यक एवं उसकी निर्युक्ति पर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विस्तृत व्याख्या लिखी है, जो विशेषावश्यक भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। विशेषावश्यक भाष्य पर तीन टीकाएं उपलब्ध हैं—

१. स्वोपज्ञ (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण कृत)।
२. कोट्याचार्य कृत।
३. आचार्य मलधारी हेमचन्द्र कृत।

हमने इन तीनों को स्वो, कोटी एवं महेटी के संकेत से निर्दिष्ट किया है। इन तीनों में निर्युक्ति के साथ-साथ भाष्य की संख्या का निर्देश भी कर दिया है। हमने डॉ. नथमल टांटिया वाली कोट्याचार्य टीका को काम में लिया है। वह भाष्य २०८० गाथा तक ही प्रकाशित है तथा निर्युक्ति गाथा भी ४४४/२०७९ तक ही है।

आवश्यक निर्युक्ति पर मुख्य दो टीकाएं उपलब्ध हैं—हरिभद्रकृत एवं मलयगिरिकृत। इनको हमने क्रमशः हाटी एवं मटी के संकेत से उल्लिखित किया है। आवश्यक निर्युक्ति पर दीपिका भी लिखी गई है, उसे हमने दीपिका नाम से निर्दिष्ट किया है।

महेटी की प्रकाशित पुस्तक में भाष्य के साथ निर्युक्ति के अलग क्रमांक नहीं दिए हुए हैं। टीकाकार ने कहीं निर्युक्तिगाथासमासार्थः, निर्युक्तिगाथार्थः, निर्युक्तिकृदाह आदि का संकेत किया है। कहीं कहीं 'एनां भाष्यकारो विस्तरतः स्वयमेव व्याख्यानयति' आदि का उल्लेख भी है। उसी आधार पर चार्ट में हमने भाष्य संख्या के साथ ✓ या x का संकेत किया है। टीकाकार द्वारा निर्युक्तिगाथा का संकेत न होने पर भी यदि गाथा है तो भाष्य क्रमांक के आगे ० का संकेत कर दिया है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
१.	१	१	१	१/७९	✓/७९	१/७९
२.	२	२	२	२/१७७	✓/१७८	२/१७७
३.	३	३	३	३/१७८	✓/१७९	३/१७८
४.	४	४	४	४/३३१	✓/३३३	४/३३२
५.	५	५	५	५/३३४	✓/३३६	५/३३५

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
६.	६	६	६	६/३४९	✓/३५१	३५०
७	७	७	७	७/३५३	✓/३५५	७/३५४
८.	८	८	८	८/३७२	✓/३७४	८/३७३
९.	९	९	९	९/३७३	✓/३७५	९/३७४
१०.	१०	१०	१०	१०/३७६	✓/३७८	१०/३७७
११.	११	११	११	११/३७७	✓/३७९	११/३७८
१२.	१२	१२	१२	१२/३९४	✓/३९६	१२/३९५
१३.	१३	१३	१३	१३/४०४	✓/४०६	१३/४०५
१४.	१४	१४	१४	१४/४०७	०/४०९	१४/४०८
१५.	१५	१५	१५	१५/४०८	०/४१०	१५/४०९
१६.	१६	१६	१६	X	X	X
१७.	१७	१७	१७	१६/४४२	✓/४४४	१६/४४३
१८.	१८	१८	१८	१७/४४७	✓/४४९	१७/४४८
१९.	१९	१९	१९	१८/४५२	०/४५४	१८/४५३
२०.	२०	२०	२०	१९/४९९	✓/५०१	१९/५००
२१.	२१	२१	२१	२०/५५५	✓/५५८	२०/५५७
२२.	२२	२२	२२	२१/५५८	✓/५६१	२१/५६०
२२/१.	२३	२३	२३	२२/५६२	०/५६५	२२/५६४
२२/२.	२४	२४	२४	२३/५६३	०/५६६	२३/५६५
२३.	२५	२५	२५	२४/५६५	०/५६८	२४/५६७
२४.	२६	२६	२६	२५/५६६	✓/५६९	२५/५६८
२५.	२७	२७	२७	२६/५७४	✓/५७७	२६/५७६
२६.	२८	२८	२८	२७/५७५	✓/५७८	२७/५७७
२७.	२९	२९	२९	२८/५७८	✓/५८१	२८/५८०
२८.	३०	३०	३०	२९/५८५	✓/५८८	२९/५८७
२९.	३१	३१	३१	३०/५९५	✓/५९८	३०/५९७
३०.	३२	३२	३२	३१/६०४	✓/६०८	३१/६०६
३१.	३३	३३	३३	३२/६०५	✓/६०९	३२/६०७
३२.	३४	३४	३४	३३/६०६	✓/६१०	३३/६०८
३३	३५	३५	३५	३४/६११	✓/६१५	३४/६१३

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
३४.	३६	१ ^१	३६	३५/६१३	✓/६१७	३५/६१५
३५.	३७	३६	३७	३६/६१७	✓/६२१	३६/६१९
३६.	३८	३७	३८	३७/६२३	✓/६२७	३७/६२५
३७.	३९	३९	३९	३८/६२७	✓/६३१	३८/६२९
३८.	४०	४०	४०	३९/६३४	✓/६३८	३९/६३६
३९.	४१	४१	४१	४०/६५४	✓/६५८	४०/६५६
४०.	४२	४२	४२	४१/६६५	✓/६६९	४१/६६७
४१.	४३	४३	४३	४२/६६९	०/६७३	४२/६७१
४२.	४४	४४	४४	४३/६७१	✓/६७५	४३/६७३
४३.	४५	४५	४५	४४/६८१	✓/६८५	४४/६८३
४४.	४६	४६	४६	४५/६८६	✓/६९०	४५/६८८
४५.	४७	४७	४७	४६/६८९	✓/६९३	४६/६९१
४६.	४८	४८	४८	४७/६९१	✓/६९५	४७/६९३
४७.	४९	४९	४९	४८/६९२	✓/६९६	४८/६९४
४८.	५०	५०	५०	४९/६९३	✓/६९७	४९/६९५
४९.	५१	५१	५१	५०/६९४	✓/६९८	५०/६९६
५०.	५२	५२	५२	५१/६९५	✓/६९९	५१/६९७
५१.	५३	५३	५३	५२/६९९	✓/७०३	५२/७०१
५२.	५४	५४	५४	५३/७००	✓/७०४	५३/७०२
५३.	५५	५५	५५	५४/७०२	✓/७०६	५४/७०४
५४.	५६	५६	५६	५५/७१०	✓/७१४	५५/७१२
५५.	५७	५७	५७	५६/७१३	✓/७१७	५६/७१५
५६.	५८	५८	५८	५७/७१४	✓/७१८	५७/७१६
५७.	५९	५९	५९	५८/७२४	✓/७२८	५८/७२६
५८.	६०	६०	६०	५९/७३४	✓/७३८	५९/७३६
५९.	६१	६१	६१	६०/७३५	✓/७३९	६०/७३७
६०.	६२	६२	६२	६१/७४४	✓/७४८	६१/७४६
६१.	६३	६३	६३	६२/७४८	✓/७५२	६२/७५०
६२.	६४	६४	६४	६३/७५६	✓/७६०	६३/७५८

१. ३५ वीं गाथा के बाद मटी. में १ क्रमांक मिलता है तथा वहाँ ३८ नं. का क्रमांक नहीं है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
६३.	६५	६५	६५	६७/७५९	✓/७६३	६४/७६१
६४.	६६	६६	६६	६५/७६२	✓/७६६	६५/७६४
६५.	६७	६७	६७	६६/७६८	✓/७७२	६६/७७०
६५/१.	६८	६८	६८	६७/७७२	✓/७७६	६७/७७४
६६.	६९	६९	६९	६८/७७५	✓/७७९	६८/७७७
६७.	७०	७०	७०	६९/७७६	✓/७८०	६९/७७८
६८.	X	७१	७१	७०/७९०	✓/७९४	७०/७९२
६९.	X	७२	७२	७१/७९१	✓/७९५	७१/७९३
७०.	X	७३	७३	७२/७९२	✓/७९६	७२/७९४
७१.	X	७४	७४	७३/७९३	✓/७९७	७३/७९५
७२.	X	७५	७५	७४/७९४	✓/७९८	७४/७९६
७३.	७६	७६	७६	७५/८०६	✓/८१०	७५/८०८
७४.	७७	७७	७७	७६/८१८	✓/८२३	७६/८२१
७५.	७८	७८	७८	७७/८२४	✓/८२९	७७/८२७
७५/१.	७९	७९	७९	X	X	X
७५/२.	X	X	X	७८/९६८	०/९७३	७८/९७१
७५/३.	X	X	X	७९/९६९	०/९७४	७९/९७२
७६.	८०	८०	८०	८०/१०२२	✓/१०२५	८०/१०२५
७७.	८१	८१	८१	८१/१०५४	✓/१०५७	८१/१०५७
७८.	८२	८२	८२	८२/१०५९	✓/१०६२	८२/१०६२
७९.	८३	८३	८३	८३/१०६६	✓/१०६९	८३/१०६९
८०.	८४	८४	८४	८४/१०७१	✓/१०७४	८४/१०७४
८१.	८५	८५	८५	८५/१०७२	✓/१०७५	८५/१०७५
८१/१.	८६	८६	८६	८६/१०७३	✓/१०७६	८६/१०७६
८१/२.	८७	८७	८७	८७/१०७७	✓/१०८०	८७/१०८०
८२.	८८	८८	८८	८८/१०८२	✓/१०८५	८८/१०८५
८३.	८९	८९	८९	८९/१०९१	✓/१०९४	८९/१०९४

स्वोपज्ञ वृत्ति में गाथा क्रमांक ६४ के स्थान पर मुद्रण की गलती से ६७ का क्रमांक छप गया है।

हाटी की मुद्रित पुस्तक में ३२ वां पृष्ठ खाली है अतः गा. ७१ से ७५ तक की गाथाएं उसमें छपी हुई नहीं हैं।

कोटी में प्रकाशन की अशुद्धि से कोटी में ७३ के स्थान पर ३७ का क्रमांक छप गया है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
८४.	९०	९०	९०	९०/१०९२	✓/१०९५	९०/१०९५
८५.	९१	९१	९१	९१/१११०	✓/१११३	९१/१११३
८६.	९२	९२	९२	९२/१११६	✓/१११९	९२/१११९
८७.	९३	९३	९३	९३/११२३	✓/११२६	९३/११२६
८८.	९४	९४	९४	९४/११४०	✓/११४३	९४/११४३
८९.	९५	९५	९५	९५/११४२	✓/११४५	९५/११४५
९०.	९६	९६	९६	९६/११४३	✓/११४६	९६/११४६
९१.	९७	९७	९७	९७/११४४	✓/११४७	९७/११४७
९२.	९८	९८	९८	९८/११४९	✓/११५२	९८/११५२
९३.	९९	९९	९९	९९/११५२	✓/११५५	९९/११५५
९४.	१००	१००	१०८	१००/११५५	✓/११५८	१००/११५८
९५.	१०१	१०१	१०१	१०१/११५६	✓/११५९	१०१/११५९
९६.	१०२	१०२	१०२	१०२/११६२	✓/११६५	१०२/११६५
९७.	१०३	१०३	१०३	१०३/११६६	✓/११६९	१०३/११६९
९८.	१०४	१०४	१०४	१०४/११७७	✓/११८०	१०४/११८०
९९.	१०५	१०५	१०५	१०५/११८३	✓/११८६	१०५/११८६
१००.	१०६	१०६	१०६	१०६/११९०	०/११९३	१०६/११९३
१००/१.	१०७	१०७	१०७	१०७/१२०१	✓/१२०४	१०७/१२०४
१०१.	१०८	१०८	१०८	१०८/१२२३	✓/१२२६	१०८/१२२६
१०२.	१०९	१०९	१०९	१०९/१२२८	✓/१२३१	१०९/१२३१
१०३.	११०	११०	११०	११०/१२३१	✓/१२३४	११०/१२३४
१०४.	१११	१११	१११	१११/१२३५	✓/१२३८	१११/१२३८
१०५.	११२	११२	११२	११२/१२४६	✓/१२४९	११२/१२४९
१०६.	११३	११३	११३	११३/१२५२	✓/१२५४	११३/१२५४
१०७.	११४	११४	११४	११४/१२५७	✓/१२६०	११४/१२६०
१०८.	११५	११५	११५	११५/१२५८	✓/१२६१	११५/१२६१
१०९.	११६	११६	११६	११६/१२८१	✓/१२८४	११६/१२८४
११०.	११७	११७	११७	११७/१२९९	✓/१३०२	११७/१३०४
११०/१.	११८	११८	११८	११८/१३०३	✓/१३०६	११८/१३०८

१. महेटी. में ११५८ एवं ११५९— ये दोनों गाथाएं ग्रंथ के अंत में प्रकाशित हैं।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
११०/२.	११९	११९	११९	११९/१३०६	✓/१३०९	११९/१३११
११०/३.	१२०	१२०	१२०	१२०/१३०७	✓/१३१०	१२०/१३१२
१११.	१२१	१२१	१२१	१२१/१३१०	✓/१३१३	१२१/१३१५
१११/१.	१२२	१२२	१२२	X	X	X
१११/२.	१२३	१२३	१२३	X	X	X
१११/३.	१२४	X	१२४	X	X	X
१११/४.	१२५	X	१२५	X	X	X
१११/५.	१२६	X	१२६	X	X	X
११२.	१२७	१२४	१२७	१२२/१३३९	✓/१३४२	१२२/१३४४
११३.	१२८	१२५	१२८	१२३/१३४७	✓/१३५०	१२३/१३५२
११४.	१२९	१२६	१२९	१२४/१३६३	✓/१३६६	१२४/१३६८
११५.	१३०	१२७	१३०	१२५/१३७५	✓/१३७८	१२५/१३८०
११६.	१३१	१२८	१३१	१२६/१३८२	✓/१३८५	१२६/१३८७
११७.	१३२	१२९	१३२	१२७/१३८५	✓/१३८८	१२७/१३९०
११८.	१३३	१३०	१३३	१४०९	✓/१४११	१२८/१४१४
११९.	१३४	१३१	१३४	१४१०	✓/१४१२	१२९/१४१५
१२०.	१३५	१३२	१३५	१४२३	✓/१४२५	१३०/१४२८
१२१.	१३६	१३३	१३६	१३१/१४३२	✓/१४३४	१३१/१४३७
१२२.	१३७	१३४	१३७	१३२/१४४५	✓/१४४७	१३२/१४५०
१२३.	१३८	१३५	१३८	१३३/१४४९	✓/१४५१	१३३/१४५४
१२४.	१३९	१३६	१३९	१३४/१४५२	✓/१४५४	१३४/१४५७
१२५.	१४०	१३७	१४०	१३५/१४८२	✓/१४८४	१३५/१४८७
१२६.	१४१	१३८	१४१	१३६/१४८३	✓/१४८५	१३६/१४८८
१२७.	१४२	१३९	१४२	१३७/१४८५	✓/१४८७	१३७/१४९०
१२८.	१४३	१४०	१४३	१३८/१४९५	✓/१४९७	१३८/१५००
१२९.	१४४	१४१	१४४	१३९/१५०३	✓/१५०५	१३९/१५०८
१३०.	१४५	१४२	१४५	१४०/१५३१	✓/१५३३	१४०/१५३६
१३१.	१४६	१४३	१४६	१४१/१५४७	X	१४१/१५५२
१३१/१.	१४७	१४४	१४७	X	X	१५५५

१. प्रकाशन की अशुद्धि से स्वो.में १२८-३० निर्युक्तिगाथा के क्रमांक प्रकाशित नहीं हैं, केवल भाष्यगाथा के क्रमांक दिए हुए हैं।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
१३१/२.	१४८	१४५	१४८	X	X	१५५६
१३२.	१४९	१४६	१४९	१४२/१५५०	X	१४२/१५५७
१३३.	१५०	१४७	१५०	१४३/१५५१	X	१४३/१५५८
१३४.	१५१	१४८	१५१	१४४/१५५२	X	१४४/१५५९
१३५	१५२	१४९	१५२	१४५/१५५३	X	१४५/१५६०
१३५/१.	१५३	१५०	१५३	१४६/१५५४	X	१४६/१५६१
१३५/२.	१५४	१५१	१५४	१४७/१५५५	X	१४७/१५६२
१३५/३.	१५५	१५२	१५५	१४८/१५५६	X	१४८/१५६३
१३५/४.	१५६	१५३	१५६	१४९/१५५७	X	१४९/१५६४
१३५/५.	१५७	१५४	१५७	१५०/१५५८	X	१५०/१५६५
१३५/६.	१५८	१५५	१५८	१५१/१५५९	X	१५१/१५६६
१३५/७.	१५९	१५६	१५९	१५२/१५६०	X	१५२/१५६७
१३५/८.	१६०	१५७	१६०	१५३/१५६१	X	१५३/१५६८
१३५/९.	१६१	१५८	१६१	१५४/१५६२	X	१५४/१५६९
१३५/१०.	१६२	१५९	१६२	१५५/१५६३	X	१५५/१५७०
१३५/११.	१६३	१६०	१६३	१५६/१५६४	X	१५६/१५७१
१३५/१२.	१६४	१६१	१६४	१५७/१५६५	X	१५७/१५७२
१३५/१३.	१६५	१६२	१६५	१५८/१५६६	X	१५८/१५७३
१३५/१४.	१६६	१६३	१६६	१५९/१५६७	X	१५९/१५७४
१३५/१५.	१६७	१६४	१६७	१६०/१५६८	X	१६०/१५७५
१३५/१६.	१६८	१६५	१६८	१६१/१५६९	X	१६१/१५७६
१३५/१७.	१६९	१६६	१६९	१६२/१५७०	X	१६२/१५७७
१३६.	१७०	१६७	१७०	१६३/१५७१	X	१६३/१५७८
१३६/१.	१७१	१६८	१७१	१६४/१५७२	X	१६४/१५७९
१३६/२.	१७२	१६९	१७२	१६५/१५७३	X	१६५/१५८०
१३६/३.	१७३	१७०	१७३	१६६/१५७४	X	१६६/१५८१
१३६/४.	१७४	१७१	१७४	१६७/१५७५	X	१६७/१५८२
१३६/५.	१७५	१७२	१७५	१६८/१५७६	X	१६८/१५८३
१३६/६.	१७६	१७३	१७६	१६९/१५७७	X	१६९/१५८४
१३६/७.	१७७	१७४	१७७	१७०/१५७८	X	१७०/१५८५
१३६/८.	१७८	१७५	१७८	१७१/१५७९	X	१७१/१५८६

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
१३६/९.	१७९	१७६	१७९	१७२/१५८२	X	१७२/१५८९
१३६/१०.	१८०	१७७	१८०	१७३/१५८३	X	१७३/१५९०
१३६/११.	१८१	१७८	१८१	१७४/१५८४	X	१७४/१५९१
१३६/१२.	१८२	१७९	१८२	१७५/१५८५	X	१७५/१५९२
१३६/१३.	१८३	१८०	१८३	X	X	१५९४
१३६/१४.	१८४	१८१	१८४	X	X	१५९५
१३६/१५.	१८५	१८२	१८५	१७६/१५८६	X	१७६/१५९६
१३७.	१८६	१८३	१८६	१७७/१५८७	X	१७७/१५९७
१३७/१.	१८७	१८४	१८७	१७८/१५८८	X	१७८/१५९८
१३७/२.	१८८	X	१८८	१७९/१५८९	X	१७९/१५९९
१३७/३.	१८९	१८५	१८९	१८०/१५९०	X	१८०/१६००
१३७/४.	१९०	१८६	१९०	१८१/१५९१	X	१८१/१६०१
१३७/५.	१९१	१८७	१९१	१८२/१५९२	X	१८२/१६०२
१३७/६.	१९२	१८८	१९२	१८३/१५९३	X	१८३/१६०३
१३७/७.	१९३	१८९	१९३	१८४/१५९४	X	१८४/१६०४
१३७/८.	१९४	१९०	१९४	१८५/१५९५	X	१८५/१६०५
१३७/९.	१९५	१९१	१९५	१८६/१५९६	X	१८६/१६०६
१३७/१०.	१९६	१९२	१९६	१८७/१५९७	X	१८७/१६०७
१३७/११.	१९७	१९३	१९७	१८८/१५९९	X	१८८/१६०९
१३७/१२.	१९८	१९४	१९८	१८९/१६००	X	१८९/१६१०
१३७/१३.	१९९	१९५	१९९	१९०/१६०१	X	१९०/१६११
१३७/१४.	२००	१९६	२००	१९१/१६०२	X	१९१/१६१२
१३७/१५.	२०१	१९७	२०१	१९२/१६०३	X	१९२/१६१३
१३७/१६.	२०२	१९८	२०२	१९३/१६०४	X	१९३/१६१४
१३८.	२०३	१९९	२०३	१९४/१६०५	X	१९४/१६१५
१३९.	२०४	२००	२०४	१९५/१६०६	X	१९५/१६१६
१४०.	२०५	२०१	२०५	१९६/१६०७	X	१९६/१६१७
१४१.	२०६	२०२	२०६	१९७/१६०८	X	१९७/१६१८
१४१/१.	२०७	२१०	२०७	१६१६	X	१६२६

१. मटी.में २०३ से २०९ तथा २११ से २२९ तक के क्रमांक भाष्य गाथा के आगे लगे हुए हैं।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
१४२.	२०८	२३०	२०८	१९८/१६३६	X	१९८/१६४६
१४३.	२०९	२३१	२०९	१९९/१६३७	X	१९९/१६४७
१४४.	२१०	२३२	२१०	२००/१६३८	X	२००/१६४८
१४५.	२११	२३३	२११	२०१/१६३९	X	२०१/१६४९
१४६.	२१२	२३४	२१२	२०२/१६४०	X	२०२/१६५०
१४७.	२१३	२३५	२१३	२०३/१६४१	X	२०३/१६५१
१४७/१.	२१४	२३६	२१४	X	X	X
१४७/२.	२१५	२३७	२१५	X	X	X
१४७/३.	२१६	२३८	२१६	X	X	X
१४७/४.	२१७	२३९	२१७	X	X	X
१४७/५.	२१८	२४०	२१८	X	X	X
१४७/६.	२१९	२४१	२१९	X	X	X
१४७/७.	२२०	२४२	२२०	X	X	X
१४७/८.	२२१	२४३	२२१	X	X	X
१४७/९.	२२२	२४४	२२२	X	X	X
१४७/१०.	२२३	२४५	२२३	X	X	X
१४८.	२२४	२४६	२२४	२०४/१६४२	X	२०४/१६५२
१४९.	२२५	२४७	२२५	२०५/१६४३	X	२०५/१६५३
१४९/१.	२२६	२४८	२२६	X	X	X
१५०.	२२७	२४९	२२७	२०६/१६४४	X	२०६/१६५४
१५१.	२२८	२५०	२२८	२०७/१६४५	X	२०७/१६५५
१५२.	२२९	२५१	२२९	२०८/१६४६	X	२०८/१६५६
१५३.	२३०	२५२	२३०	२०९/१६४७	X	२०९/१६५७
१५४.	२३१	२५३	२३१	२१०/१६४८	X	२१०/१६५८
१५५.	२३२	२५४	२३२	२११/१६४९	X	२११/१६५९
१५६.	२३३	२५५	२३३	२१२/१६५०	X	२१२/१६६०
१५७.	२३४	२५६	२३४	२१३/१६५१	X	२१३/१६६१
१५८.	२३५	२५७	२३५	२१४/१६५२	X	२१४/१६६२
१५९.	२३६	२५८	२३६	२१५/१६५३	X	२१५/१६६३
१६०.	२३७	२५९	२३७	२१६/१६५४	X	२१६/१६६४
१६१.	२३८	२६०	२३८	२१७/१६५५	X	२१७/१६६५

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
१६२.	२३९	२६१	२३९	२१८/१६५६	X	२१८/१६६६
१६३.	२४०	२६२	२४०	२१९/१६५७	X	२१९/१६६७
१६३/१.	२४१	२६३	२४१	X	X	X
१३६/२.	२४२	२६४	२४२	X	X	X
१६३/३.	२४३	२६५	२४३	X	X	X
१६३/४.	२४४	२६६	२४४	X	X	X
१६३/५.	२४५	२६७	२४५	X	X	X
१६३/६.	२४६	२६८	२४६	X	X	X
१६३/७.	२४७	२६९	२४७	X	X	X
१६३/८.	२४८	२७०	२४८	X	X	X
१६३/९.	२४९	२७१	२४९	X	X	X
१६३/१०.	२५०	२७२	२५०	X	X	X
१६३/११.	२५१	२७३	२५१	X	X	X
१६३/१२.	२५२	२७४	२५२	X	X	X
१६४.	२५४	२७६	२५३	२२०/१६५८	X	२२०/१६६८
१६५.	२५३	२७५	२५४	२२१/१६५९	X	२२१/१६६९
१६६.	२५५	२७७	२५५	२२२/१६६०	X	२२२/१६७०
१६७.	२५६	२७८	२५६	२२३/१६६१	X	२२३/१६७१
१६८.	२५७	२७९	२५७	२२४/१६६२	X	२२४/१६७२
१६९.	२५८	२८०	२५८	२२५/१६६३	X	२२५/१६७३
१७०.	२५९	२८१	२५९	२२६/१६६४	X	२२६/१६७४
१७१.	२६०	२८२	२६०	२२७/१६६५	X	२२७/१६७५
१७२.	२६१	२८३	२६१	२२८/१६६६	X	२२८/१६७६
१७३.	२६२	२८४	२६२	२२९/१६६७	X	२२९/१६७७
१७४.	२६३	२८५	२६३	२३०/१६६८	X	२३०/१६७८
१७४/१.	२६४	२८६	२६४	२३१/१६६९	X	२३१/१६७९
१७५.	२६५	२८७	२६५	२३२/१६७०	X	२३२/१६८०
१७६.	२६६	२८८	२६६	२३३/१६७१	X	२३३/१६८१
१७७.	२६७	२८९	२६७	२३४/१६७२	X	२३४/१६८२
१७८.	२६८	२९०	२६८	२३५/१६७३	X	२३५/१६८३
१७९.	२६९	२९१	२६९	२३६/१६७४	X	२३६/१६८४

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
१८०.	२७०	२९२	२७०	२३७/१६७५	X	२३७/१६८५
१८१.	२७१	२९३	२७१	२३८/१६७६	X	२३८/१६८६
१८२.	२७२	२९४	२७२	२३९/१६७७	X	२३९/१६८७
१८३.	२७३	२९५	२७३	२४०/१६७८	X	२४०/१६८८
१८४.	२७४	२९६	२७४	२४१/१६७९	X	२४१/१६८९
१८५.	२७५	२९७	२७५	२४२/१६८०	X	२४२/१६९०
१८६.	२७६	२९८	२७६	२४३/१६८१	X	२४३/१६९१
१८६/१.	२७७	२९९	२७७	X	X	X
१८६/२.	२७८	३००	२७८	X	X	X
१८६/३.	२७९	३०१	२७९	X	X	X
१८६/४.	२८०	३०२	२८०	X	X	X
१८६/५.	२८१	३०३	२८१	X	X	X
१८६/६.	२८२	३०४	२८२	X	X	X
१८६/७.	२८३	३०५	२८३	X	X	X
१८६/८.	२८४	३०६	२८४	X	X	X
१८६/९.	२८५	३०७	२८५	X	X	X
१८६/१०.	२८६	३०८	२८६	X	X	X
१८६/११.	२८७	३०९	२८७	X	X	X
१८६/१२.	२८८	३१०	२८८	X	X	X
१८६/१३.	२८९	३११	२८९	X	X	X
१८६/१४.	२९०	३१२	२९०	X	X	X
१८६/१५.	२९१	३१३	२९१	X	X	X
१८६/१६.	२९२	३१४	२९२	X	X	X
१८६/१७.	२९३	३१५	२९३	X	X	X
१८६/१८.	२९४	३१६	२९४	X	X	X
१८६/१९.	२९५	३१७	२९५	X	X	X
१८६/२०.	२९६	३१८	२९६	X	X	X
१८६/२१.	२९७	३१९	२९७	X	X	X
१८६/२२.	२९८	३२०	२९८	X	X	X
१८६/२३.	२९९	३२१	२९९	X	X	X
१८६/२४.	३००	३२२	३००	X	X	X

संपादित	हाटी	मटी	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी	कोटी
१८६/२५.	३०१	३२३	३०१	X	X	X
१८७.	३०२	३२४	३०२	२४४/१६८२	X	२४४/१६९२
१८८.	३०३	३२५	३०३	२४५/१६८३	X	२४५/१६९३
१८९.	३०४	३२६	३०४	२४६/१६८४	X	२४६/१६९४
१९०.	३०५	३२७	३०५	२४७/१६८५	X	२४७/१६९५
१९१.	३०६	३२८	३०६	२४८/१६८६	X	२४८/१६९६
१९२.	३०७	३२९	३०७	२४९/१६८७	X	२४९/१६९७
१९२/१.	३०८	३३०	३०८	X	X	X
१९२/२.	३०९	३३१	३०९	X	X	X
१९२/३.	३१०	३३२	३१०	X	X	X
१९२/४.	३११	३३३	३११	X	X	X
१९३.	३१२	३३४	३१२	२५०/१६८८	X	२५०/१६९८
१९४.	३१३	३३५	३१३	२५१/१६८९	X	२५१/१६९९
१९४/१.	X	X	X	२५२/१६९०	X	२५२/१७००
१९५.	३१४	३३६	३१४	२५३/१६९१	X	२५३/१७०१
१९६.	३१५	३३७	३१५	२५४/१६९२	X	२५४/१७०२
१९७.	३१६	३३८	३१६	२५५/१६९३	X	२५५/१७०३
१९८	३१७	३४०	३१७	X	X	X
१९९.	३१८	३४१	३१८	२५६/१६९५	X	२५६/१७०५
२००.	३१९	३४२	३१९	२५७/१६९६	X	२५७/१७०६
२०१.	३२०	३४३	३२०	२५८/१६९७	X	२५८/१७०७
२०२.	३२१	३४४	३२१	२५९/१६९८	X	२५९/१७०८
२०३.	३२२	३४५	३२२	२६०/१६९९	X	२६०/१७०९
२०३/१.	३२३	३२३'	३२३	X	X	X
२०३/२.	३२४	३२४	३२४	X	X	X
२०३/३.	३२५	३२५	३२५	X	X	X
२०३/४.	३२६	३२६	३२६	X	X	X
२०३/५.	३२७	३२७	३२७	X	X	X
२०३/६.	३२८	३२८	३२८	X	X	X

१. मलयगिरि टीका में प्रकाशन की त्रुटि से ३४५ के बाद पुनः ३२३ से संख्या का पुनरावर्तन हो गया है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
२०३/७.	३२९	३२९	३२९	X	X	X
२०३/८.	३३०	३३०	३३०	X	X	X
२०३/९.	३३१	३३१	३३१	X	X	X
२०३/१०.	३३२	३३२	३३२	X	X	X
२०३/११.	३३३	३३३	३३३	X	X	X
२०३/१२.	३३४	३३४	३३४	X	X	X
२०४.	३३५	३३५	३३५	२६१/१७००	X	२६१/१७१०
२०४/१.	३३६	३३६	३३६	२६२/१७०१	X	२६२/१७११
२०४/२.	३३७	३३७	३३७	२६३/१७०२	X	२६३/१७१२
२०५.	३३८	३३८	३३८	२६४/१७०३	X	२६४/१७१३
२०६.	३३९	३३९	३३९	२६५/१७०४	X	२६५/१७१४
२०७.	३४०	३४०	३४०	२६६/१७०५	X	२६६/१७१५
२०७/१.	३४१	३४१	३४१	२६७/१७०६	X	२६७/१७१६
२०८.	३४२	३४२	३४२	२६८/१७०७	X	२६८/१७१७
२०९.	३४३	३४३	३४३	२६९/१७०८	X	२६९/१७१८
२१०.	३४४	३४४	३४४	२७०/१७०९	X	२७०/१७१९
२११.	३४५	३४५	३४५	२७१/१७१०	X	२७१/१७२०
२११/१.	३४६	३४६	३४६	२७२/१७११	X	२७२/१७२१
२११/२.	३४७	३४७	३४७	२७३/१७१२	X	२७३/१७२२
२११/३.	X	X	X	२७४/१७१३	X	२७४/१७२३
२१२.	३४८	३४८	३४८	२७५/१७१४	X	२७५/१७२४
२१३.	३४९	३४९	३४९	२७६/१७१५	X	२७६/१७२५
२१४.	भा. ३७	भा. ३७	भा. ३७	१७२१	X	१७३१
२१५.	३५०	३५०	३५०	२७७/१७२२	X	२७७/१७३२
२१६.	३५१	३५१	३५१	२७८/१७२३	X	२७८/१७३३
२१७.	३५२	३५२	३५२	२७९/१७२४	X	२७९/१७३४
२१८.	३५३	३५३	३५३	२८०/१७२५	X	२८०/१७३५
२१९.	३५४	३५४	३५४	२८१/१७२६	X	२८१/१७३६
२२०.	३५५	३५५	३५५	२८२/१७२७	X	२८२/१७३७
२२१.	३५६	३५६	३५६	२८३/१७२८	X	२८३/१७३८
२२२.	३५७	३५७	३५७	२८४/१७२९	X	२८४/१७३९

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
२२३.	३५८	३५८	३५८	२८५/१७३०	X	२८५/१७४०
२२४.	३५९	३५९	३५९	२८६/१७३१	X	२८६/१७४१
२२५.	३६०	३८८'	३६०	२८७/१७३२	X	२८७/१७४२
२२६.	३६१	३६०	३६१	२८८/१७३३	X	२८८/१७४३
२२७.	३६२	३६२	३६२	२८९/१७३४	X	२८९/१७४४
२२८.	३६३	३६३	३६३	२९०/१७३५	X	२९०/१७४५
२२८/१.	३६४	३६४	३६४	X	X	१७४६
२२९.	३६५	३६५	३६५	२९१/१७३६	X	२९१/१७४७
२३०.	३६६	३६६	३६६	२९२/१७३७	X	२९२/१७४८
२३१.	३६७	३६७	३६७	२९३/१७३८	X	२९३/१७४९
२३२.	३६८	३६८	३६८	२९४/१७३९	X	२९४/१७५०
२३२/१.	३६९	३६९	३६९	२९५/१७४१	X	२९५/१७५२
२३३.	३७०	३७०	३७०	२९६/१७४२	X	२९६/१७५३
२३४.	३७१	३७१	३७१	२९७/१७४३	X	२९७/१७५४
२३४/१.	३७२	३७२	३७२	X	X	१७५५
२३४/२.	३७३	३७३	३७३	X	X	१७५६
२३५.	३७४	३७४	३७४	२९८/१७४४	X	२९८/१७५७
२३६.	३७५	३७५	३७५	२९९/१७४५	X	२९९/१७५८
२३६/१.	३७६	३७६	३७६	X	X	X
२३६/२.	३७७	३७७	३७७	X	X	X
२३६/३.	३७८	३७८	३७८	X	X	X
२३६/४.	३७९	३७९	३७९	X	X	X
२३६/५.	३८०	३८०	३८०	X	X	X
२३६/६.	३८१	३८१	३८१	X	X	X
२३६/७.	३८२	३८२	३८२	X	X	X
२३६/८.	३८३	३८३	३८३	X	X	X
२३६/९.	३८४	३८४	३८४	X	X	X
२३६/१०.	३८५	३८५	३८५	X	X	X
२३६/११.	३८६	३८६	३८६	X	X	X

१. मटी. में प्रकाशन की त्रुटि से ३६० के स्थान पर ३८८ तथा ३६१ के स्थान पर ३६० का क्रमांक छपा है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
२३६/१२.	३८७	३८७	३८७	X	X	X
२३६/१३.	३८८	X	३८८	X	X	X
२३६/१४.	३८९	३८८	३८९	X	X	X
२३६/१५.	३९०	३८९	३९०	X	X	X
२३६/१६.	३९१	३९१	३९१	X	X	X
२३६/१७.	३९२	३९२	३९२	१७५४	X	१७६७
२३६/१८.	३९३	३९३	३९३	१७५५	X	१७६८
२३६/१९.	३९४	३९४	३९४	X	X	X
२३६/२०.	३९५	३९५	३९५	१७५६	X	१७६९
२३६/२१.	३९६	३९६	३९६	१७५७	X	१७७०
२३६/२२.	३९७	३९७	३९७	X	X	X
२३६/२३.	३९८	३९८	३९८	X	X	X
२३६/२४.	३९९	३९९	३९९	X	X	X
२३६/२५.	४००	४००	४००	X	X	X
२३६/२६.	४०१	४०१	४०१	१७५८	X	१७७१
२३६/२७.	४०२	४०२	४०२	X	X	X
२३६/२८.	४०३	४०३	४०३	१७६१	X	१७७४
२३६/२९.	४०४	४०४	४०४	X	X	X
२३६/३०.	४०५	४०५	४०५	१७६२	X	१७७५
२३६/३१.	४०६	४०६	४०६	X	X	X
२३६/३२.	४०७	४०७	४०७	X	X	X
२३६/३३.	४०८	४०८	४०८	X	X	X
२३६/३४.	४०९	४०९	४०९	X	X	X
२३६/३५.	४१०	४१०	४१०	X	X	X
२३६/३६.	४११	४११	४११	X	X	X
२३६/३७.	४१२	४१२	४१२	X	X	X
२३६/३८.	४१३	४१३	४१३	१७६३	X	१७७६
२३६/३९.	४१४	४१४	४१४	१७६५	X	१७७८

१. मटी.में ३९० का क्रमांक नहीं है।

२. दीपिका में ४१५ क्रमांक में भाष्यगाथा छपी हुई है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
२३६/४०.	४१५	४१५	४१६	१७६४	X	१७७७
२३७.	४१६	४१६	४१७	३००/१७५१	X	३००/१७६४
२३८.	४१७	४१७	४१८	१७५२	X	१७६५
२३९.	४१८	४१८	४१९	१७५३	X	१७६६
२४०.	४१९	४१९	४२०	३०१/१७५९	X	३०१/१७७२
२४१.	४२०	४२०	४२१	३०२/१७६०	X	३०२/१७७३
२४२.	४२१	४२१	४२२	३०३/१७६६	X	३०३/१७७९
२४३.	४२२	४२२	४२३	३०४/१७६८	X	३०४/१७८१
२४४.	४२३	४२३	४२४	३०५/१७६९	X	३०५/१७८२
२४५.	४२४	४२४	४२५	३०६/१७७०	X	३०६/१७८३
२४६.	४२५	४२५	४२६	३०७/१७७१	X	३०७/१७८४
२४७.	४२६	४२६	४२७	३०८/१७७२	X	३०८/१७८५
२४८.	४२७	४२७	४२८	३०९/१७७३	X	३०९/१७८६
२४८/१.	X	X	X	३१०/१७७४	X	३१०/१७८७
२४९.	४२८	४२८	४२९	३११/१७७५	X	३११/१७८८
२५०.	४२९	४२९	४३०	३१२/१७७६	X	३१२/१७८९
२५१.	४३०	४३०	४३१	३१३/१७७७	X	३१३/१७९०
२५२.	४३१	४३१	४३२	३१४/१७७८	X	३१४/१७९१
२५३.	४३२	४३२	४३३	३१५/१७७९	X	३१५/१७९२
२५४.	४३३	४३३	४३४	३१६/१७८०	X	३१६/१७९३
२५५.	४३४	४३४	४३५	३१७/१७८१	X	३१७/१७९४
२५६.	४३५	४३५	४३६	३१८/१७८२	X	३१८/१७९५
२५७.	४३६	४३६	४३७	३१९/१७८४	X	३१९/१७९७
२५८.	४३७	४३७	४३८	३२०/१७८६	X	३२०/१७९९
२५९.	४३८	४३८	४३९	३२१/१७८७	X	३२१/१८००
२६०.	४३९	४३९	४४०	३२२/१७८८	X	३२२/१८०१
२६१.	४४०	४४०	४४१	३२३/१७८९	X	३२३/१८०२
२६२.	४४१	४४१	४४२	३२४/१७९०	X	३२४/१८०३
२६३.	४४२	४४२	४४३	३२५/१७९१	X	३२५/१८०४
२६४.	४४३	४४३	४४४	३२६/१७९२	X	३२६/१८०५
२६५.	४४४	४४४	४४५	३२७/१७९३	X	३२७/१८०६

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
२६६.	४४५	४४५	४४६	३२८/१७९४	X	३२८/१८०७
२६७.	४४६	४४६	४४७	३२९/१७९५	X	३२९/१८०८
२६८.	४४७	४४७	४४८	३३०/१७९६	X	३३०/१८०९
२६९.	४४८	४४८	४४९	३३१/१७९७	X	३३१/१८१०
२७०.	४४९	४४९	४५०	३३२/१७९८	X	३३२/१८११
२७१.	४५०	४५०	४५१	३३३/१७९९	X	३३३/१८१२
२७१/१.	४५१	४५१	४५२	३३४/१८००	X	३३४/१८१३
२७१/२.	४५२	४५२	४५३	३३५/१८०१	X	३३५/१८१४
२७१/३.	४५३	४५३	४५४	३३६/१८०२	X	३३६/१८१५
२७१/४.	४५४	४५४	४५५	३३७/१८०३	X	३३७/१८१६
२७१/५.	४५५	४५५	४५६	३३८/१८१६	X	३३८/१८२९
२७१/६.	४५६	४५६	४५७	३३९/१८२०	X	३३९/१८३३
२७२.	४५७	४५७	४५८	३४०/१८२१	X	३४०/१८३४
२७३.	४५८	४५८	४५९	३४१/१८२२	X	३४१/१८३५
२७४.	४५९	४५९	४६०	३४३/१८६६	X	३४३/१८७३
२७५.	४६०	४६०	४६१	३४२/१८६०	X	३४२/१८७४
२७६.	४६१	४६१	४६२	३४४/१८९३	X	३४४/१९०९
२७७	४६२	४६२	४६३	३४५/१८९४	X	३४५/१९१०
२७८.	४६३	४६३	४६४	३४६/१८९५	X	३४६/१९११
२७९.	४६४	४६४	४६५	३४७/१८९६	X	३४७/१९१२
२८०.	४६५	४६५	४६६	३४८/१९००	X	३४८/१९१७
२८१.	४६६	४६६	४६७	३४९/१९०१	X	३४९/१९१८
२८२.	४६७	४६७	४६८	३५०/१९०२	X	३५०/१९१९
२८३.	४६८	४६८	४६९	३५१/१९०३	X	३५१/१९२०
२८४.	४६९	४६९	४७०	३५२/१९०४	X	३५२/१९२१
२८५.	४७०	४७०	४७१	३५३/१९०५	X	३५३/१९२२
२८६.	४७१	४७१	४७२	३५४/१९०६	X	३५४/१९२३
२८७.	४७२	४७२	४७३	३५५/१९०७	X	३५५/१९२४
२८८.	४७३	४७३	४७४	३५६/१९०८	X	३५६/१९२५

१. प्रकाशित कोटी. और स्वोपज्ञ में निगा. ३४२ एवं ३४३ में क्रमव्यत्यय है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
२८९.	४७४	४७४	४७५	३५७/१९०९	X	३५७/१९२६
२९०.	४७५	४७५	४७६	३५८/१९१०	X	३५८/१९२७
२९१.	४७६	४७६	४७७	३५९/१९११	X	३५९/१९२८
२९२.	४७७	४७७	४७८	३६०/१९१२	X	३६०/१९२९
२९३.	४७८	४७८	४७९	३६१/१९१३	X	३६१/१९३०
२९४.	४७९	४७९	४८०	३६२/१९१४	X	३६२/१९३१
२९५.	४८०	४८०	४८१	३६३/१९१५	X	३६३/१९३२
२९६.	४८१	४८१	४८२	३६४/१९१६	X	३६४/१९३३
२९७.	४८२	४८२	४८३	३६५/१९१७	X	३६५/१९३४
२९८.	४८३	४८३	४८४	३६६/१९१८	X	३६६/१९३५
२९९.	४८४	४८४	४८५	३६७/१९१९	X	३६७/१९३६
३००.	४८५	४८५	४८६	३६८/१९२०	X	३६८/१९३७
३०१.	४८६	४८६	४८७	३६९/१९२१	X	३६९/१९३८
३०२.	४८७	४८७	४८८	३७०/१९२२	X	३७०/१९३९
३०३.	४८८	४८८	४८९	३७१/१९२३	X	३७१/१९४०
३०४.	४८९	४८९	४९०	३७२/१९२४	X	३७२/१९४१
३०५.	४९०	४९०	४९१	३७३/१९२५	X	३७३/१९४२
३०६.	४९१	४९१	४९२	३७४/१९२६	X	३७४/१९४३
३०७.	४९२	४९२	४९३	३७५/१९२७	X	३७५/१९४४
३०८.	४९३	४९३	४९४	३७६/१९२८	X	३७६/१९४५
३०९.	४९४	४९४	४९५	३७७/१९२९	X	३७७/१९४६
३१०.	४९५	४९५	४९६	३७८/१९३०	X	३७८/१९४७
३११.	४९६	४९६	४९७	३७९/१९३१	X	३७९/१९४८
३१२.	४९७	४९७	४९८	३८०/१९३२	X	३८०/१९४९
३१३.	४९८	४९८	४९९	३८१/१९३३	X	३८१/१९५०
३१४.	४९९	४९९	५००	३८२/१९३४	X	३८२/१९५१
३१५.	५००	५००	५०१	३८३/१९३५	X	३८३/१९५२
३१६.	५०१	५०१	५०२	३८४/१९३६	X	३८४/१९५३
३१७.	५०२	५०२	५०३	३८५/१९३७	X	३८५/१९५४
३१८.	५०३	५०३	५०४	३८६/१९३८	X	३८६/१९५५
३१९.	५०४	५०४	५०५	३८७/१९३९	X	३८७/१९५६

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
३२०.	५०५	५०५	५०६	३८८/१९४०	X	३८९/१९५७
३२१.	५०६	X	५०७	३८९/१९४१	X	३८९/१९५८
३२२.	५०७	५०६	५०८	३९०/१९४२	X	३९०/१९५९
३२३.	५०८	५०७	५०९	३९१/१९४३	X	३९१/१९६०
३२४.	५०९	५०८	५१०	३९२/१९४४	X	३९२/१९६१
३२५.	५१०	५०९	५११	३९३/१९४५	X	३९३/१९६२
३२६.	५११	५१०	५१२	३९४/१९४६	X	३९४/१९६३
३२७.	५१२	५११	५१३	३९५/१९४७	X	३९५/१९६४
३२८.	५१३	५१२	५१४	३९६/१९४८	X	३९६/१९६५
३२९.	५१४	५१३	५१५	३९७/१९४९	X	३९७/१९६६
३३०.	X	X	X	३९८/१९५०	X	X
३३०/१.	५१५	५१४	५१६	X	X	१९६७
३३०/२.	५१६	५१५	५१७	X	X	३९८/१९६८
३३१.	५१७	५१६	५१८	३९९/१९५१	X	३९९/१९६९
३३२.	५१८	५१७	५१९	४००/१९५२	X	४००/१९७०
३३३.	५१९	५१८	५२०	४०१/१९५३	X	४०१/१९७१
३३४.	५२०	५१९	५२० ^१	४०२/१९५४	X	४०२/१९७२
३३५.	५२१	५२०	५२२	४०३/१९५५	X	४०३/१९७३
३३६.	५२२	५२१	५२३	४०४/१९५६	X	४०४/१९७४
३३७.	५२३	५२२	५२४	४०५/१९५७	X	४०५/१९७५
३३८.	५२४	५२३	५२५	४०६/१९५८	X	४०६/१९७६
३३९.	५२५	५२४	५२६	४०७/१९५९	X	४०७/१९७७
३४०.	५२६	५२५	५२७	४०८/१९६०	X	४०८/१९७८
३४१.	५२७	५२६	५२८	४०९/१९६१	X	४०९/१९७९
३४२.	५२८	५२७	५२९	४१०/१९६२	X	४१०/१९८०
३४३.	५२९	५२८	५३०	४११/१९६३	X	४११/१९८१
३४४.	५३०	५२९	५३१	४१२/१९६४	X	४१२/१९८२
३४५.	५३१	५३०	५३२	४१३/१९६५	X	४१३/१९८३
३४६.	५३२	५३१	५३३	४१४/१९६६	X	४१४/१९८४

१. दीपिका में ५२१ के स्थान पर ५२० क्रमांक पुनरुक्त हुआ है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
३४७.	५३३	५३२	५३४	४१५/१९६७	X	४१५/१९८५
३४८.	५३४	५३३	५३५	४१६/१९६८	X	४१६/१९८६
३४९.	५३५	५३४	५३६	४१७/१९६९	X	४१७/१९८७
३५०.	५३६	५३५	५३७	४१८/१९७०	X	४१८/१९८८
३५१.	५३७	५३६	५३८	४१९/१९७१	X	४१९/१९८९
३५२.	५३८	५३७	५३९	४२०/१९७२	X	४२०/१९९०
३५३.	५३९	५३८	५४०	४२१/१९७३	X	४२१/१९९१
३५४.	५४०	५३९	५४१	४२२/१९७४	X	४२२/१९९२
३५५.	५४१	५४०	५४२	४२३/१९७५	X	४२३/१९९३
३५६.	५४२	५४१	५४३	४२४/१९७६	X	४२४/१९९४
३५६/१.	५४३	५४३	५४४	X	X	१९९६
३५६/२.	५४४	५४४	५४५	X	X	१९९७
३५७.	५४५	५४५	५४६	४२५/१९७८	X	४२५/१९९८
३५८.	५४६	५४६	५४७	४२६/१९७९	X	४२६/१९९९
३५९.	५४७	५४७	५४८	४२७/१९८०	X	४२७/२०००
३६०.	५४८	५४८	५४९	४२८/१९८१	X	४२८/२००१
३६०/१.	५४९	५४९	५५०	X	X	X
३६०/२.	५५०	५५०	५५१	X	X	X
३६१.	५५१	५५१	५५२	४२९/१९८२	X	४२९/२००२
३६२.	५५२	५५२	५५३	४३०/१९८३	X	४३०/२००३
३६२/१.	५५३	५५३	५५४	X	X	X
३६२/२.	५५४	५५४	५५५	X	X	X
३६२/३.	५५५	५५५	५५६	X	X	X
३६२/४.	५५६	५५६	५५७	X	X	X
३६२/५.	५५७	५५७	५५८	X	X	X
३६२/६.	५५८	५५८	५५९	X	X	X
३६२/७.	५५९	५५९	५६०	X	X	X
३६२/८.	५६०	५६०	५६१	X	X	X
३६२/९.	५६१	५६१	५६२	X	X	X

१. मटी.में ५४२ का क्रमांक भाष्यगाथा के आगे लगा हुआ है ।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
३६२/१०.	५६२	५६२	५६३	X	X	X
३६२/११.	५६३	५६३	५६४	X	X	X
३६२/१२.	५६४	५६४	५६५	X	X	X
३६२/१३.	५६५	५६५	५६६	X	X	X
३६२/१४.	५६६	५६६	५६७	X	X	X
३६२/१५.	५६७	५६७	५६८	X	X	X
३६२/१६.	५६८	५६८	५६९	X	X	X
३६२/१७.	५६९	५६९	५७०	X	X	X
३६२/१८.	५७०	५७०	५७१	X	X	X
३६२/१९.	५७१	५७१	५७२	X	X	X
३६२/२०.	५७२	५७२	५७३	X	X	X
३६२/२१.	५७३	५७३	५७४	X	X	X
३६२/२२.	५७४	५७४	५७५	X	X	X
३६२/२३.	५७५	५७५	५७६	X	X	X
३६२/२४.	५७६	५७६	५७७	X	X	X
३६२/२५.	५७७	५७७	५७८	X	X	X
३६२/२६.	५७८	५७८	५७९	X	X	X
३६२/२७.	५७९	५७९	५८०	X	X	X
३६२/२८.	५८०	५८०	५८१	X	X	X
३६२/२९.	५८१	५८१	५८२	X	X	X
३६२/३०.	५८२	५८२	५८३	X	X	X
३६२/३१.	५८३	५८३	५८४	X	X	X
३६२/३२.	५८४	५८४	५८५	X	X	X
३६२/३३.	५८५	५८५	५८६	X	X	X
३६२/३४.	५८६	५८६	५८७	X	X	X
३६२/३५.	५८७	५८७	५८८	X	X	X
३६२/३६.	५८८	५८८	५८९	X	X	X
३६२/३७.	५८९	५८९	५९०	X	X	X
३६२/३८.	५९०	५९०	५९१	X	X	X
३६३.	५९१	५९१	५९२	४३१/१९८४	X	४३१/२००४
३६३/१.	X	X	X	४३२/१९८५	X	४३२/२००५

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
३६३/२.	X	X	X	४३३/१९८६	X	४३३/२००६
३६४.	५९२	५९२	५९३	४३४/१९८७	X	४३४/२००७
३६५.	५९३	५९३	५९४	४३५/१९८८	X	४३५/२००८
३६६.	५९४	५९४	५९५	४३६/१९८९	X	४३६/२००९
३६७.	५९५	५९५	५९६	४३७/१९९०	X	४३७/२०१०
३६८.	५९६	५९६	५९७	४३८/१९९१	X	४३८/२०११
३६९.	५९७	५९७	५९८	४३९/१९९२	X	४३९/२०१२
३६९/१.	X	X	X	४४०/१९९३	X	४४०/२०१३
३७०.	५९८	५९८	५९९	४४१/१९९४	X	४४१/२०१४
३७१.	५९९	५९९	६००	४४२/२०००	X	४४२/२०२०
३७२.	६००	६००	६०१	४४३/२००३	X	४४३/२०२३
३७३.	६०१	६०१	६०२	४४४/२०५९	✓/१६०४	४४४/२०७९
३७४.	६०२	६०२	६०३	४४५/२०६१	✓/१६०६	X
३७५.	६०३	६०३	६०४	४४६/२०६४	✓/१६०९	X
३७६.	६०४	६०४	६०५	४४७/२०६५	✓/१६१०	X
३७७.	६०५	६०५	६०६	४४८/२०९९	✓/१६४४	X
३७८.	६०६	६०६	६०७	४४९/२१००	✓/१६४५	X
३७९.	६०७	६०७	६०८	४५०/२१०३	✓/१६४८	X
३८०.	६०८	६०८	६०९	४५१/२१०४	✓/१६४९	X
३८१.	६०९	६०९	६१०	४५२/२१४१	✓/१६८६	X
३८२.	६१०	६१०	६११	४५३/२१४२	✓/१६८७	X
३८३.	६११	६११	६१२	४५४/२१४३	✓/१६८८	X
३८४.	६१२	६१२	६१३	४५५/२१४४	✓/१६८९	X
३८५.	६१३	६१३	६१४	४५६/२२२४	✓/१७६९	X
३८६.	६१४	६१४	६१५	४५७/२२२५	✓/१७७०	X
३८७.	६१५	६१५	६१६	४५८/२२२६	✓/१७७१	X
३८८.	६१६	६१६	६१७	४५९/२२२७	✓/१७७२	X
३८९.	६१७	६१६	६१८	४६०/२२५६	✓/१८०१	X
३९०.	६१८	६१८	६१९	४६१/२२५७	✓/१८०२	X

१. मटी में ६१७ के स्थान पर ६१६ का क्रमांक पुनरुक्त हुआ है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
३९१.	६१९	६१९	६२०	४६२/२२५८	✓/१८०३	X
३९२.	६२०	६२०	६२१	४६३/२२५९	✓/१८०४	X
३९३.	६२१	६२१	६२२	४६४/२३१८	✓/१८६३	X
३९४.	६२२	६२२	६२३	४६५/२३१९	✓/१८६४	X
३९५.	६२३	६२३	६२४	४६६/२३२०	✓/१८६५	X
३९६.	६२४	६२४	६२५	४६७/२३२१	✓/१८६६	X
३९७.	६२५	६२५	६२६	४६८/२३३९	✓/१८८४	X
३९८.	६२६	६२६	६२७	४६९/२३४०	✓/१८८५	X
३९९.	६२७	६२७	६२८	४७०/२३४१	✓/१८८६	X
४००.	६२८	६२८	६२९	४७१/२३४२	✓/१८८७	X
४०१.	६२९	६२९	६३०	४७२/२३५९	✓/१९०४	X
४०२.	६३०	६३०	६३१	४७३/२३६०	✓/१९०५	X
४०३.	६३१	६३१	६३२	४७४/२३६१	✓/१९०६	X
४०४.	६३२	६३२	६३३	४७५/२३६२	✓/१९०७	X
४०५.	६३३	६३३	६३४	४७६/२४०३	✓/१९४८	X
४०६.	६३४	६३४	६३५	४७७/२४०४	✓/१९४९	X
४०७.	६३५	६३५	६३६	४७८/२४०५	✓/१९५०	X
४०८.	६३६	६३६	६३७	४७९/२४०६	✓/१९५१	X
४०९.	६३७	६३७	६३८	४८०/२४२६	✓/१९७१	X
४१०.	६३८	६३८	६३९	४८१/२४२७	✓/१९७२	X
४११.	६३९	६३९	६४०	४८२/२४२८	✓/१९७३	X
४१२.	६४०	६४०	६४१	४८३/२४२९	✓/१९७४	X
४१३.	६४१	६४१	६४२	४८४/२४७९	X	X
४१४.	६४२	६४२	६४३	४८५/२४८०	✓/२०२५ ^१	X
४१५.	६४३	६४३	६४४	४८६/२४८१	X	X
४१६.	६४४	६४४	६४५	४८७/२४८२	X	X
४१७.	६४५	६४५	६४६	४८८/२४८३	X	X
४१८.	६४६	६४६	६४७	४८९/२४८४	X	X
४१९.	६४७	६४७	६४८	४९०/२४८५	X	X

१. महेटी में संपादित ४१५-३१ तक की सतरह निर्युक्ति गाथाओं का केवल गाथा-रूप में संकेत है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
४२०.	६४८	६४८	६४९	४९१/२४८६	X	X
४२१.	६४९	६४९	६५०	४९२/२४८७	X	X
४२२.	६५०	६५०	६५१	४९३/२४८८	X	X
४२३.	६५१	६५१	६५२	४९४/२४८९	X	X
४२४.	६५२	६५२	६५३	४९५/२४९०	X	X
४२५.	६५३	६५३	६५४	४९६/२४९१	X	X
४२६.	६५४	६५४	६५५	४९७/२४९२	X	X
४२७.	६५५	६५५	६५६	४९८/२४९३	X	X
४२८.	६५६	६५६	६५७	४९९/२४९४	X	X
४२९.	६५७	६५७	६५८	५००/२४९५	X	X
४३०.	६५८	६५८	६५९	५०१/२४९६	X	X
४३१.	६५९	६५९	६६०	५०२/२४९७	X	X
४३२.	६६०	६६०	६६१	५०३/२५०२	✓/२०३०	X
४३३.	६६१	६६१	६६२	५०४/२५०३	✓/२०३१	X
४३३/१.	६६२	६६२	६६३	X	X	X
४३४.	६६३	६६३	६६४	५०५/२५०८	✓/२०३६	X
४३५.	६६४	६६४	६६५	५०६/२५१०	✓/२०३८	X
४३६.	६६५	६६५	६६६	५०७/२५१२	✓/२०४०	X
४३६/१.	६६६	६६६	६६७	X	X	X
४३६/२.	६६७	६६७	६६८	X	X	X
४३६/३.	६६८	६६८	६६९	X	X	X
४३६/४.	६६९	६६९	६७०	X	X	X
४३६/५.	६७०	६७०	६७१	X	X	X
४३६/६.	६७१	६७१	६७२	X	X	X
४३६/७.	६७२	६७२	६७३	X	X	X
४३६/८.	६७३	६७३	६७४	X	X	X
४३६/९.	६७४	६७४	६७५	X	X	X
४३६/१०.	६७५	६७५	६७६	X	X	X
४३६/११.	६७६	६७६	६७७	X	X	X
४३६/१२.	६७७	६७७	६७८	X	X	X

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
४३६/१३.	६७८	६७८	६७९	X	X	X
४३६/१४.	६७९	६७९	६८०	X	X	X
४३६/१५.	६८०	६८०	६८१	X	X	X
४३६/१६.	६८१	६८१	६८२	X	X	X
४३६/१७.	६८२	६८२	६८३	X	X	X
४३६/१८.	६८३	६८३	६८४	X	X	X
४३६/१९.	६८४	६८४	६८५	X	X	X
४३६/२०.	६८५	६८५	६८६	X	X	X
४३६/२१.	६८६	६८६	६८७	X	X	X
४३६/२२.	६८७	६८७	६८८	X	X	X
४३६/२३.	६८८	६८८	६८९	X	X	X
४३६/२४.	६८९	६८९	६९०	X	X	X
४३६/२५.	६९०	६९०	६९१	X	X	X
४३६/२६.	६९१	६९१	६९२	X	X	X
४३६/२७.	६९२	६९२	६९३	X	X	X
४३६/२८.	६९३	६९३	६९४	X	X	X
४३६/२९.	६९४	६९४	६९५	X	X	X
४३६/३०.	६९५	६९५	६९६	X	X	X
X	६९६	६९६	६९७	X	X	X
४३६/३१.	६९७	६९७	६९८	X	X	X
४३६/३२.	६९८	६९८	६९९	X	X	X
४३६/३३.	६९९	६९९	७००	X	X	X
४३६/३४.	७००	७००	७०१	X	X	X
४३६/३५.	७०१	७०१	७०२	X	X	X
४३६/३६.	७०२	७०२	७०३	X	X	X
४३६/३७.	७०३	७०३	७०४	X	X	X
४३६/३८.	७०४	७०४	७०५	X	X	X
४३६/३९.	७०५	७०५	७०६	X	X	X
४३६/४०.	७०६	७०६	७०७	X	X	X
४३६/४१.	७०७	७०७	७०८	X	X	X

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
४३६/४२.	७०८	७०८	७०९	X	X	X
४३६/४३.	७०९	७०९	७१०	X	X	X
४३६/४४.	७१०	७१०	७११	X	X	X
४३६/४५.	७११	७११	७१२	X	X	X
४३६/४६.	७१२	७१२	७१३	X	X	X
४३६/४७.	७१३	७१३	७१४	X	X	X
४३६/४८.	७१४	७१४	७१५	X	X	X
४३६/४९.	७१५	७१५	७१६	X	X	X
४३६/५०.	७१६	७१६	७१७	X	X	X
४३६/५१.	७१७	७१७	७१८	X	X	X
४३६/५२.	७१८	७१८	७१९	X	X	X
४३६/५३.	७१९	७१९	७२०	X	X	X
४३६/५४.	७२०	७२०	७२१	X	X	X
४३६/५५.	७२१	७२१	७२२	X	X	X
४३६/५६.	७२२	७२२	७२३	X	X	X
४३६/५७.	७२३	७२३	७२४	X	X	X
४३७.	७२४	७२४	७२५	५०८/२५१३	✓/२०४१	X
४३८.	७२५	७२५	७२६	५०९/२५१४	✓/२०४२	X
४३९.	७२६	७२६	७२७	५१०/२५१५	✓/२०४३	X
४४०.	७२७	७२७	७२८	५११/२५३६	✓/२०६४	X
४४१.	७२८	७२८	७२९	५१२/२५३७	✓/२०६५	X
४४२.	७२९	७२९	७३०	५१३/२५३९	✓/२०६७	X
४४३.	७३०	७३०	७३१	५१४/२५४१	✓/२०६९	X
४४४.	७३१	७३१	७३२	५१५/२५४५	✓/२०७३	X
४४५.	७३२	७३२	७३३	५१६/२५४७	✓/२०७५	X
४४६.	७३३	७३३	७३४	५१७/२५५४	✓/२०८२	X
४४७.	७३४	७३४	७३५	५१८/२५५५	✓/२०८३	X
४४८.	७३५	१३५	७३६	५१९/२५५६	✓/२०८४	X
४४९.	७३६	१३६	७३७	५२०/२५६२	✓/२०९०	X

१. मटी. में ७३५, ७३६ क्रमांक के स्थान पर १३५, १३६ क्रमांक छपे हैं।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
४५०.	७३७	७३७	७३८	५२१/२५७०	✓/२०९८	
४५१.	७३८	७३८	७३९	५२२/२५७१	✓/२०९९	X
४५२.	७३९	७३९	७४०	५२३/२५९१	✓/२११९	X
४५३.	७४०	७४०	७४१	५२४/२५९२	✓/२१२०	X
४५४.	७४१	७४१	७४२	५२५/२५९३	✓/२१२१	X
४५५.	७४२	७४२	७४३	५२६/२५९४	✓/२१२२	X
४५६.	७४३	७४३	७४४	५२७/२५९५	✓/२१२३	X
४५७.	७४४	७४४	७४५	X	✓/२१२४	X
४५८.	७४५	७४५	७४६	५२८/२५९६	✓/२१२५	X
४५९.	७४६	७४६	७४७	५२९/२५९७	✓/२१२६	X
४६०.	७४७	७४७	७४८	५३०/२५९८	✓/२१२७	X
४६१.	७४८	७४८	७४९	५३१/२५९९	✓/२१२८	X
४६२.	७४९	७४९	७५०	५३२/२६०२	✓/२१३१	X
४६३.	७५०	७५०	७५१	५३३/२६०३	✓/२१३२	X
४६४.	७५१	७५१	७५२	५३४/२६१७	✓/२१४६	X
४६५.	७५२	७५२	७५३	५३५/२६१८	✓/२१४७	X
४६६.	७५३	७५३	७५४	५३६/२६१९	✓/२१४८	X
४६७.	७५४	७५४	७५५	५३७/२६५२	✓/२१८१	X
४६८.	७५५	७५५	७५६	५३८/२६५३	✓/२१८२	X
४६९.	७५६	७५६	७५७	५३९/२६५४	✓/२१८३	X
४७०.	७५७	७५१ ^१	७५८	५४०/२६५५	✓/२१८४	X
४७१.	७५८	७५८	७५९	५४१/२६५६	✓/२१८५	X
४७२.	७५९	७५९	७६०	५४२/२७३५	✓/२२६४	X
४७३.	७६०	१६० ^२	७६१	५४३/२७४६	✓/२२७५	X
४७४.	७६१	१६१	७६२	५४४/२७४८	✓/२२७७	X
४७५.	७६२	१६२	७६३	५४५/२७५०	✓/२२७९	X
४७६.	७६३	१६३	७६४	५४६/२७५५	✓/२२८४	X
४७६/१.	७६४	७६४	७६५	५४७/२७५७	X	X

१. मटी. में ७५७ के स्थान पर ७५१ क्रमांक छपा है।

२. मटी. में ७६०-६३ के स्थान पर १६०-६३ क्रमांक छपे हैं।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
४७६/२.	७६५	७६५	७६६	५४८/२७५८	X	X
४७६/३.	७६६	७६६	७६७	५४९/२७५९	X	X
४७६/४.	७६७	७६७	७६८	५५०/२७६०	X	X
४७६/५.	७६८	७६८	७६९	५५१/२७६१	X	X
४७६/६.	७६९	७६९	७७०	५५२/२७६२	X	X
४७६/७.	७७०	७७०	७७१	५५३/२७६३	X	X
४७६/८.	७७१	७७१	७७२	५५४/२७६४	X	X
४७६/९.	७७२	७७२	७७३	५५५/२७६५	X	X
४७७.	७७३	७७३	७७४	५५६/२७६६	✓/२२८६	X
४७८.	७७४	७७४	७७५	५५७/२७६८	✓/२२८८	X
४७९.	७७५	X	७७६	५५८/२७६९	X	X
४८०.	७७६	X	७७७	५५९/२७७०	X	X
४८१.	७७७	७७७	७७८	५६०/२७७७	✓/२२९५	X
४८२.	७७८	७७८	७७९	५६१/२७८२	✓/२३००	X
४८३.	७७९	७७९	७८०	५६२/२७८३	✓/२३०१	X
४८४.	७८०	७८०	७८१	५६३/२७८४	✓/२३०२	X
४८५.	७८१	७८१	७८२	५६४/२७८५	✓/२३०३	X
४८६.	७८२	७८२	७८३	५६५/२७८६	✓/२३०४	X
४८७.	७८३	१८३	७८४	५६६/२७८७	✓/२३०५	X
४८७/१.	भा. १२५	भा. १२५	X	२७८८	✓/२३०६	X
४८७/२.	भा. १२६	भा. १२६	X	२७८९	✓/२३०७	X
४८७/३.	भा. १२७	भा. १२७	X	२८१५	✓/२३३३	X
४८७/४.	भा. १२८	भा. १२८	X	२८१६	✓/२३३४	X
४८७/५.	भा. १२९	भा. १२९	X	२८३८	✓/२३५६	X
४८७/६.	भा. १३०	भा. १३०	X	२८३९	✓/२३५७	X
४८७/७.	भा. १३१	भा. १३१	X	२८७१	✓/२३८९	X
४८७/८.	भा. १३२	भा. १३२	X	२८७२	✓/२३९०	X
४८७/९.	भा. १३३	भा. १३३	X	२९०६	✓/२४२४	X
४८७/१०.	भा. १३४	भा. १३४	X	२९०७	✓/२४२५	X

१. त्रुटि से मटी.में ७८३ को जगह १८३ का क्रमांक है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
४८७/११.	भा. १३५	भा. १३५	X	२९३३	✓/२४५१	X
४८७/१२.	भा. १३६	भा. १३६	X	२९३४	✓/२४५२	X
४८७/१३.	भा. १३७	भा. १३७	X	२९३५	✓/२४५३	X
४८७/१४.	भा. १३८	भा. १३८	X	२९३६	✓/२४५४	X
४८७/१५.	भा. १४०	भा. १४०	X	२९८८	✓/२५०६	X
४८७/१६.	भा. १४१	भा. १४१	X	२९९१	✓/२५०९	X
४८७/१७.	भा. १४२	भा. १४२	X	२९९२	✓/२५१०	X
४८७/१८.	भा. १४३	भा. १४३	X	२९९९	✓/२५१७	X
४८७/१९.	भा. १४४	भा. १४४	X	३००१	✓/२५१९	X
४८७/२०.	भा. १४५	भा. १४५	X	३०३२	✓/२५५०	X
४८७/२१.	भा. १४६	भा. १४६	X	३०३४	✓/२५५१	X
४८७/२२.	भा. १४७	भा. १४७	X	३०३३	X	X
४८७/२३.	भा. १४८	भा. १४८	X	३०३५	✓/२५५२	X
४८८.	७८४	७८४	७८५	५६७/३०९३	✓/२६१०	X
४८९.	७८५	७८५	७८६	५६८/३०९४	✓/२६११	X
४९०.	७८६	७८६	७८७	५६९/३०९९	✓/२६१६	X
४९१.	७८७	७८७	७८८	५७०/३१००	✓/२६१७	X
४९२.	७८८	७८८	७८९	५७१/३१०२	✓/२६१९	X
४९३.	७८९	७८९	७९०	५७२/३१०४	✓/२६२१	X
४९४.	७९०	७९०	७९१	५७३/३११७	✓/२६३४	X
४९५.	७९१	७९१	७९२	५७४/३१२०	✓/२६३७	X
४९६.	७९२	७९२	७९३	५७५/३१२६	✓/२६४३	X
४९७.	७९३	७९३	७९४	५७६/३१३१	✓/२६४८	X
४९८.	७९४	७९४	७९५	५७७/३१५०	✓/२६६७	X
X	७९५'	X	७९६	X	X	X
४९९.	७९६	७९५	७९७	५७८/३१५६	✓/२६७३	X
५००.	भा. १५०	भा. १५०	भा. १५०	५७९/३१५७	✓/२६७४	X
५०१.	७९७	७९६	७९८	५८०/३१६२	✓/२६७९	X
५०२.	७९८	७९७	७९९	५८१/३१६३	✓/२६८०	X

१. हाटी में यह गाथा पुनरुक्त हुई है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
५०३.	७९९	७९८	८००	५८२/३१६४	✓/२६८१	X
५०४.	८००	७९९	८०१	५८३/३१६७	✓/२६८४	X
५०५.	८०१	८०१ ^१	८०२	५८४/३१७३	✓/२६९०	X
५०५/१.	८०२	८०२	८०३	X	X	X
५०६.	८०३	८०३	८०४	५८५/३१७४	✓/२६९१	X
५०७.	८०४	८०४	८०५	५८६/३१७५	✓/२६९२	X
५०८.	८०५	८०५	८०६	५८७/३१७६	✓/२६९३	X
५०९.	८०६	८०६	८०७	X	✓/२६९४	X
५१०.	८०७	८०७	८०८	५८९/३१७८	✓/२६९५	X
५११.	८०८	८०८	८०९	५९०/३१७९	✓/२६९६	X
५१२.	८०९	८०९	८१०	५९१/३१८०	✓/२६९७	X
५१२/१.	X	X	X	३१८६	✓/२७०१	X
५१२/२.	X	X	X	३१८७	✓/२७०२	X
५१२/३.	X	X	X	३१८८	✓/२७०३	X
५१२/४.	X	X	X	३१८९	✓/२७०४	X
५१३.	८१०	८१०	८११	५९२/३१९१	✓/२७०६	X
५१४.	८११	८११	८१२	५९३/३१९३	✓/२७०८	X
५१५.	८१२	८१२	८१३	५९४/३१९६	✓/२७११	X
५१६.	८१३	८१३	८१४	५९५/३१९७	✓/२७१२	X
५१७.	८१४	८१४	८१५	५९६/३१९९	✓/२७१४	X
५१८.	८१५	८१५	८१६	५९७/३२०२	✓/२७१७	X
५१९.	८१६	८१६	८१७	५९८/३२०४	✓/२७१९	X
५२०.	८१७	८१७	८१८	५९९/३२०८	✓/२७२३	X
५२१.	८१८	८१८	८१९	६००/३२११	✓/२७२६	X
५२२.	८१९	८१९	८२०	६०१/३२१२	✓/२७२७	X
५२३.	८२०	८२०	८२१	६०२/३२१५	✓/२७३०	X
५२४.	८२१	८२१	८२२	६०३/३२२३	✓/२७३८	X
५२५.	८२२	८२२	८२३	६०४/३२२५	✓/२७४०	X
५२६.	८२३	८२३	८२४	६०५/३२२८	✓/२७४३	X

१. मटी. में ७९९ के बाद ८०१ का क्रमांक है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
५२७.	८२४	८२४	८२५	६०६/३२२९	✓/२७४४	X
५२८.	८२५	८२५	८२६	६०७/३२३०	✓/२७४५	X
५२९.	८२६	८२६	८२७	३२३२	✓/२७४७	X
५३०.	८२७	८२७	८२८	३२३३	✓/२७४८	X
५३१.	८२८	८२८	८२९	६०८/३२३४	✓/२७४९	X
५३२.	८२९	८२९	८३०	६०९/३२३५	✓/२७५०	X
५३३.	८३०	८३०	८३१	६१०/३२३६	✓/२७५१	X
५३४.	८३१	८३१	८३२	६११/३२४६	X	X
५३५.	८३२	८३२	८३३	६१२/३२४७	X	X
५३६.	८३३	८३३	८३४	६१३/३२५३	X	X
५३६/१.	८३४	८३४	८३५	३२५२	X	X
५३६/२.	८३५	८३५	८३६	३२५४	X	X
५३७.	८३६	८३६	८३७	६१४/३२५५	X	X
५३८.	८३७	८३७	८३८	६१५/३२५६	X	X
५३९.	८३८	८३८	८३९	६१६/३२५७	X	X
५४०.	८३९	८३९	८४०	६१७/३२५८	X	X
५४१.	८४०	८४०	८४१	६१८/३२५९	X	X
५४२.	८४१	८४१	८४२	६१९/३२६०	X	X
५४३.	८४२	८४२	८४३	६२०/३२६१	X	X
५४४.	८४३	८४३	८४४	६२१/३२६२	X	X
५४५.	८४४	८४४	८४५	६२२/३२६९	X	X
५४६.	८४५	८४५	८४६	६२३/३२७०	X	X
५४७.	८४६	८४६	८४७	६२४/३२७१	X	X
५४७/१.	८४७	८४७	८४८	६२५/३२७२	X	X
५४८.	८४८	८४८	८४९	६२६/३२७३	X	X
५४९.	८४९	८४९	८५०	६२७/३२७४	✓/२७६१	X
५५०.	८५०	८५०	८५१	६२८/३२७७	✓/२७६४	X
५५१.	८५१	८५१	८५२	६२९/३२७८	✓/२७६५	X
५५२.	८५२	८५२	८५३	६३०/३२७९	✓/२७६६	X
५५३.	८५३	८५३	८५४	६३१/३२८८	✓/२७७५	X

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
५५४.	८५४	८५४	८५५	६३२/३२९०	✓/२७७७	X
५५५.	८५५	८५५	८५६	६३३/३२९१	✓/२७७८	X
५५६.	८५६	८५६	८५७	६३४/३२९२	✓/२७७९	X
५५७.	८५७	८५७	८५८	६३५/३२९३	✓/२७८०	X
५५८.	८५८	८५८	८५९	६३६/३२९४	✓/२७८१	X
५५९.	८५९	८५९	८६०	६३७/३२९५	✓/२७८२	X
५६०.	८६०	८६०	८६१	६३८/३२९६	✓/२७८३	X
५६१.	८६१	८६१	८६२	६३९/३२९७	✓/२७८४	X
५६२.	८६२	८६२	८६३	६४०/३२९८	✓/२७८५	X
५६३.	८६३	८६३	८६४	६४१/३२९९	✓/२७८६	X
५६४.	८६४	८६४	८६५	६४२/३३००	✓/२७८७	X
५६५.	८६५	८६५	८६६	६४३/३३१२	✓/२७९९	X
५६५/१.	८६६	८६६	८६७	३३१४	X	X
५६५/२.	८६७	८६७	८६८	३३१७	X	X
५६५/३.	८६८	८६८	८६९	३३१६	X	X
५६५/४.	८६९	८६९	८७०	३३१८	X	X
५६५/५.	८७०	८७०	८७१	३३१९	X	X
५६५/६.	८७१	८७१	८७२	३३२०	X	X
५६५/७.	८७२	८७२	८७३	३३२१	X	X
५६५/८.	८७३	८७३	८७४	३३२२	X	X
५६५/९.	८७४	८७४	८७५	३३२३	X	X
५६५/१०.	८७५	८७५	८७६	३३२४	X	X
५६५/११.	८७६	८७६	८७७	३३२५	X	X
५६५/१२.	८७७	८७७	८७८	३३२७	X	X
५६५/१३.	८७८	८७८	८७९	३३२८	X	X
५६५/१४.	८७९	८७९	८८०	३३२९	X	X
५६५/१५.	८८०	८८०	X	X	X	X
५६५/१६.	८८१	८८१	X	X	X	X
५६५/१७.	८८२	८८२	X	X	X	X
५६५/१८.	८८३	८८३	X	X	X	X
५६५/१९.	८८४	८८४	X	X	X	X

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
५६५/२०.	८८५	८८५	X	X	X	X
५६५/२१.	८८६	८८६	X	X	X	X
५६६.	८८७	८८७	८८१	६४४/३३३५	✓/२८०५	X
५६७.	८८८	८८८	८८२	६४५/३३३६	✓/२८०६	X
५६८.	८८९	८८९	८८३	६४६/३३३७	✓/२८०७	X
५६९.	८९०	८९०	८८४	६४७/३३३८	✓/२८०८	X
५७०.	८९१	८९१	८८५	६४८/३३३९	✓/२८०९	X
५७१.	८९२	८९२	८८६	६४९/३३४०	✓/२८१०	X
५७२.	८९३	८९३	८८७	६५०/३३४१	✓/२८११	X
५७३.	८९४	८९४	८८८	६५१/३३४२	✓/२८१२	X
५७४.	८९५	८९५	८८९	६५२/३३४३	✓/२८१३	X
५७५.	८९६	८९६	८९०	६५३/३३४४	✓/२८१४	X
५७६.	८९७	८९७	८९१	६५४/३३४५	✓/२८१५	X
५७७.	८९८	८९८	८९२	६५५/३३४६	✓/२८१६	X
५७८.	८९९	८९९	८९३	६५६/३३४७	✓/२८१७	X
५७९.	९००	९००	८९४	६५७/३३४८	✓/२८१८	X
५८०.	९०१	९०१	८९५	६५८/३३४९	✓/२८१९	X
५८०/१.	९०२	९०२	८९६	X	✓/२८२०	X
५८१.	९०३	९०३	८९७	६५९/३३५०	✓/२८२१	X
५८२.	९०४	९०४	८९८	६६०/३३५१	✓/२८२२	X
५८२/१.	९०५	९०५	८९९	X	X	X
५८२/२.	९०६	९०६	९००	X	X	X
५८२/३.	९०७	९०७	९०१	X	X	X
५८२/४.	९०८	९०८	९०२	X	X	X
५८२/५.	९०९	९०९	९०३	३४९३	X	X
५८२/६.	९१०	९१०	९०४	३४९५	X	X
५८२/७.	९११	९११	९०५	३४९७	X	X
५८२/८.	९१२	९१२	९०६	X	X	X
५८२/९.	९१३	९१३	९०७	३५०२	X	X
५८२/१०.	९१४	९१४	९०८	३५०४	X	X
५८२/११.	९१५	९१५	X	३५०५	X	X

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका.	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
५८२/१२.	९१६	९१६	९०९	३५०६	X	X
५८२/१३.	९१७	९१७	९१०	X	X	X
५८३.	९१८	९१८	९१२	६६१/३५०७	X	X
५८३/१.	९१९	९१९	९१३	३५६२	X	X
५८३/२.	९२०	९२०	९१४	३५६३	X	X
५८३/३.	९२१	९२१	९१५	३५६४	X	X
५८३/४.	९२२	९२२	९१६	३५६५	X	X
५८४.	९२३	९२३	९१७	३५६६	✓/३००९	X
५८५.	९२४	९२४	९१८	६६२/३५६९	✓/३०१२	X
५८६.	९२५	९२५	९१९	६६३/३५७२	✓/३०१५	X
५८७.	९२६	९२६	९२०	६६४/३५८१	✓/३०२४	X
५८८.	९२७	९२७	९२१	६६५/३५८५	✓/३०२८	X
५८८/१.	९२८	९२८	९२२	३५८६	X	X
५८८/२.	९२९	९२९	९२३	३५८७	X	X
५८८/३.	९३०	९३०	९२४	३५८८	X	X
५८८/४.	९३१	९३१	९२५	३५८९	X	X
५८८/५.	९३२	९३२	९२६	३५९०	X	X
५८८/६.	९३३	९३३	९२७	३५९१	X	X
५८८/७.	९३४	९३४	९२८	३५९२	X	X
५८८/८.	९३५	९३५	९२९	३५९३	X	X
५८८/९.	९३६	९३६	९३०	३५९४	X	X
५८८/१०.	९३७	९३७	९३१	३५९५	X	X
५८८/११.	९३८	९३८	९३२	३५९६	X	X
५८८/१२.	९३९	९३९	९३३	६६६/३५९८	X	X
५८८/१३.	९४०	९४०	९३४	३६०२	X	X
५८८/१४.	९४१	९४१	९३५	३६०१	X	X
५८८/१५.	९४२	९४२	९३६	३६०३	X	X
५८८/१६.	९४३	९४३	९३७	६६७/३६०५	X	X
५८८/१७.	९४४	९४४	९३८	३६०८	X	X

१. दीपिका में ९०९ और ९११ का क्रमांक नहीं है।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
५८८/१८.	९४५	९४५	९३९	३६०९	X	X
५८८/१९.	९४६	९४६	९४०	६६८/३६११	X	X
५८८/२०.	९४७	९४७	९४१	६६९/३६१६	X	X
५८८/२१.	९४८	९४८	९४२	६७०/३६१८	X	X
५८८/२२.	९४९	९४९	९४३	६७१/३६२३	X	X
५८८/२३.	९५०	९५०	९४४	६७२/३६२४	X	X
५८८/२४.	९५१	९५१	९४५	३६२५	X	X
५८८/२५.	९५२	९५२	९४६	३६२६	X	X
५८९.	९५३	९५३	९४७	६७३/३६२७	✓/३०२९	X
५९०.	९५४	९५४	९४८	६७४/३६२८	✓/३०३०	X
५९१.	९५५	९५५	९४९	६७५/३६२९	✓/३०३१	X
५९२.	९५६	९५६	९५०	६७६/३६३०	✓/३०३२	X
५९३.	९५७	९५७	९५१	६७७/३६३१	✓/३१४१	X
५९४.	९५८	९५८	९५२	६७८/३६३८	✓/३१५८	X
५९५.	९५९	९५९	९५३	६७९/३६३९	✓/३१५९	X
५९५/१.	९६०	९६०	९५४	३८००	X	X
५९५/२.	९६१	९६१	९५५	३८०१	X	X
५९५/३.	९६२	९६२	९५६	३८०२	X	X
५९५/४.	९६३	९६३	९५७	३८०४	X	X
५९५/५.	९६४	९६४	९५८	३८०५	X	X
५९५/६.	९६५	९६५	९५९	३८०६	X	X
५९५/७.	९६६	९६६	९६०	३८०७	X	X
५९५/८.	९६७	९६७	९६१	३८०८	X	X
५९५/९.	९६८	९६८	९६२	३८०९	X	X
५९५/१०.	९६९	९६९	९६३	X	X	X
५९५/११.	९७०	९७०	९६४	३८१०	X	X
५९५/१२.	९७१	९७१	९६५	३८११	X	X
५९५/१३.	९७२	९७२	९६६	३८१२	X	X
५९५/१४.	९७३	९७३	९६७	३८१३	X	X
५९६.	९७४	९७४	९६८	३८१४	X	X

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
५९७.	९७५	९७५	९६९	६८०/३८२८	✓/३१७६	X
५९८.	९७६	९७६	९७०	६८१/३८२९	✓/३१७७	X
५९९.	९७७	९७७	९७१	६८२/३८३५	X	X
६००.	९७८	९७८	९७२	६८३/३८३६	X	X
६०१.	९७९	९७९	९७३	६८४/३८३७	X	X
६०२.	९८०	९८०	९७४	६८५/३८४७	X	X
६०३.	९८१	९८१	९७५	६८६/३८४८	X	X
६०४.	९८२	९८२	९७६	६८७/३८४९	X	X
६०५.	९८३	९८३	९७७	६८८/३८५०	X	X
६०६.	९८४	९८४	९७८	६८९/३८५१	X	X
६०७.	९८५	९८५	९७९	६९०/३८५२	X	X
६०८.	९८६	९८६	९८०	६९१/३८५३	X	X
६०९.	९८७	९८७	९८१	६९२/३८८९	X	X
६१०.	९८८	९८८	९८२	६९३/३८९०	X	X
६११.	९८९	९८९	९८३	६९४/३८९१	X	X
६१२.	९९०	९९०	९८४	६९५/३८९२	X	X
६१३.	९९१	९९१	९८५	६९६/३८९३	X	X
६१४.	९९२	९९२	९८६	६९७/३८९४	X	X
६१५.	९९३	९९३	९८७	६९८/३८९५	✓/३१८९	X
६१५/१.	९९४	९९४	९८८	६९९/३८९६	✓/३१९०	X
६१६.	९९५	९९५	९८९	७००/३९००	✓/३१९४	X
६१७.	X	९९६	९९०	३९०२	X	X
६१८.	X	९९७	९९१	३९०३	X	X
६१९.	X	९९८	९९२	३९०४	X	X
६२०.	X	९९९	९९३	३९०५	X	X
६२१.	९९६	१०००	९९४	७०१/३९०७	✓/३१९६	X
६२२.	९९७	१००१	९९५	७०२/३९०८	✓/३१९७	X
६२३.	९९८	१००२	९९६	७०३/३९०९	✓/३१९८	X
६२४.	९९९	१००३	९९७	X	X	X
६२५.	X	१००४	९९८	७०४/३९१२	X	X
६२६.	X	१००५	९९९	७०५/३९१३	X	X

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
६२७.	X	१००६	१०००	७०६/३९१४	X	X
६२८.	X	१००७	१००१	७०७/३९१५	X	X
६२९.	१०००	१००८	१००२	७०८/३९१६	X	X
६३०.	१००१	१००९	१००३	७०९/३९१७	X	X
६३१.	१००२	१०१०	१००४	७१०/३९१८	X	X
६३२.	१००३	१०११	१००५	७११/३९१९	X	X
६३३.	१००४	१०१२	१००६	X	X	X
६३४.	१००५	१०१३	१००७	७१२/३९२०	X	X
६३५.	X	१०१४	१००८	७१३/३९२१	X	X
६३६.	X	१०१५	१००९	७१४/३९२२	X	X
६३७.	X	१०१६	१०१०	७१५/३९२३	X	X
६३८.	X	१०१७	१०११	७१६/३९२४	X	X
६३८/१.	X	१०१८	१०१२	३९२५	X	X
६३९.	१००६	१०१९	१०१३	७१७/३९२७	✓/३२०१	X
६४०.	१००७	१०२०	१०१४	७१८/३९२८	✓/३२०२	X
६४१.	१००८	१०२१	१०१५	७१९/३९३६	✓/३२१०	X
६४२.	१००९	१०२२	१०१६	७२०/३९३९	✓/३२१३	X
६४३.	१०१०	१०२३	१०१७	७२१/३९४८	✓/३२२२	X
६४४.	१०११	१०२४	१०१८	७२२/३९४९	X	X
६४५.	१०१२	१०२५	१०१९	७२३/३९५०	X	X
६४५/१.	१०१३	१०२६	१०२०	X	X	X
६४५/२.	१०१४	१०२७	१०२१	४०२१	✓/३२९५	X
६४५/३.	१०१५	१०२८	१०२२	X	X	X
६४६.	१०१६	१०२९	१०२३	७२४/४०२५	X	X
६४७.	भा. १५२	भा. १५२	भा. १५२	X	X	X
६४७/१.	१०१७	१०३०	१०२४	X	X	X
६४७/२.	१०१८	१०३१	१०२५	X	X	X
६४७/३.	१०१९	१०३२	१०२६	X	X	X
६४७/४.	१०२०	१०३३	१०२७	X	X	X
६४७/५.	१०२१	१०३४	१०२८	X	X	X
६४७/६.	१०२२	१०३५	१०२९	X	X	X

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
६४७/७.	१०२३	१०३६	१०३०	X	X	X
६४७/८.	१०२४	१०३७	१०३१	४०८५	X	X
६४७/९.	१०२५	१०३८	१०३२	X	X	X
६४७/१०.	१०२६	१०३९	१०३३	X	X	X
६४८.	१०२७	१०४०	१०३४	७२५/४०८९	X	X
६४९.	भा. १७८	भा. १७८	भा. १७८	७२६/४१२२	X	X
६५०.	भा. १८३	भा. १८३	भा. १८३	X	X	X
६५१.	१०२८	१०४१	१०३५	X	X	X
६५२.	१०२९	१०४२	१०३६	X	X	X
६५३.	भा. १८४	भा. १८४	भा. १८४	X	X	X
६५४.	भा. १८५	भा. १८५	भा. १८५	X	X	X
६५५.	१०३०	१०४३	१०३७	X	X	X
६५६.	१०३१	१०४४	१०३८	X	X	X
६५७.	१०३२	१०४५	१०३९	X	X	X
६५८.	१०३३	१०४६	१०४०	X	X	X
६५९.	१०३४	१०४७	१०४१	४१४६	X	X
६६०.	१०३५	१०४८	१०४२	४१५७	X	X
६६१.	१०३६	१०४९	१०४३	X	X	X
६६२.	१०३७	१०५०	१०४४	७२७/४२११	✓/३४८५	X
६६३.	१०३८	१०५१	१०४५	X	X	X
६६४.	१०३९	१०५२	१०४६	X	X	X
६६५.	X	१'	उगा.	७२८/४२२८	✓/३५०२	X
६६६.	१०४०	१०५३	१०४७	X	X	X
६६७.	१०४१	१०५४	१०४८	X	X	X
६६८.	१०४२	१०५५	१०४९	X	X	X
६६९.	१०४३	१०५६	१०५०	७२९ ^१ /४२३६	✓/३५१०	X
६६९/१.	१०४४	X	X	X	X	X
६७०.	१०४५	१०५७	१०५२	४२६७	✓/३५४१	X

१. मटी.में यह प्रक्षिप्त गाथा के रूप में प्रकाशित है।

२. स्वोपज्ञ में ७३०-७३३ क्रमांक की निर्युक्ति-गाथाएं नहीं हैं।

संपादित	हाटी.	मटी.	दीपिका	स्वोपज्ञ	महेटी.	कोटी.
६७१.	१०४६	१०५८	१०५३	X	X	X
६७२.	१०४७	१०५९	१०५४	४२८९	✓/३५६३	X
६७३.	१०४८	१०६०	१०५५	X	X	X
६७४.	१०४९	१०६१	१०५६	X	X	X
६७५.	१०५०	१०६२	१०५७	X	X	X
६७६.	१०५१	१०६३	१०५८	X	X	X
६७७.	१०५२	१०६४	१०५९	X	X	X
६७८.	१०५३	१०६५	१०६०	X	X	X
६७९.	१०५४	१०६६	१०६१	७३४/४३१८	✓/३५९२	X
६८०.	१०५५	१०६७	१०६२	७३५/४३१९	✓/३५९३	X

पदानुक्रम

अउणापन्नं जुयले	१३७/११	अत्थं भासति अरहा	८६
अंगुलमावल्याणं	३०	अत्थाणं ओगहणम्मि	३
अक्खर सण्णी सम्मं	१९, ५६२	अथिरस्स पुव्वगहियस्स	४३६/३५
अक्खलियसंहितादी	६४५/३	अद्धट्टमलक्खाइं	१८६/१४
अग्गेणीयम्मि जहा	६४७/६	अद्धट्टमा सहस्सा	१८६, १८६/२०
अजितस्स कुमारत्तं	१८६/२	अद्धतेरसकोडी	२०३/१०
अज्झयणं पि य तिविधं	५००	अद्धतेरस लक्खा	१८६/४
अज्झवसाण-निमित्ते	४३७	अद्धद्धं अहिवइणो	३६२/३५
अट्ठंगडा रामा	२३६/३९	अद्धभरहस्स मज्झल्ल	१३४
अट्ठण्हं पगडीणं	९९	अद्धाइ अवट्ठाणं	५६
अट्ठत्तरिं च वासा	४२८	अपराजिय विस्ससेणे	२०३/७
अट्ठमभत्तंतम्मी	१६६	अपुहत्ते अणुओगो	४७७
अट्ठविहं पि य कम्मं	५८३/२	अप्पं पि सुयमहीयं	९३
अट्ठावय-चंपुज्जितं	१९२	अप्पक्खरमसंदिद्धं	५६५/२१
अट्ठावयम्मि सेले	२५५	अप्पगंथं महत्थं	५६५/१५
अट्ठावीसा दोवाससया	४८७/९	अप्पुव्वनाणगहणे	२७१/३, १३६/११
अट्ठेव गता मोक्खं	२३६/२६	अब्भंतर-मज्झ-बहिं	३६०/१
अडविं सपच्चवायं	५८२/१	अब्भंतरलद्धीए	६१
अडवीय देसियत्तं	५८२	अब्भत्थणाए मरुओ	४३६/१५
अट्ठाइज्जा लक्खा	१८६/८	अब्भुट्ठाणे विणए	५४८
अट्ठाइज्जेहि राईदिएहि	५६५/१०	अब्भुवगयम्मि नज्जति	४३६/४
अणथोवं वणथोवं	११०/३	अभए सेट्ठि कुमारे	५८८/२२
अण-दंस नपुंसित्थी	१०९	अभिकंखंतेहि सुभासियाइ	४३६/४२
अण-मिच्छ-मीस सम्मं	१११	अमर-नर-रायमहितो	३५४
अणिदाणकडा रामा	२३६/४०	अर-मल्लिअंतरे दोण्णि	२४१
अणियतवासं सिद्धत्थ	३०७	अरहंतनमोक्कारो	५८४-८७
अणुकंपऽकामणिज्जर	५४६	अरहंत-सिद्ध-पवयण	१३६/९, २७१/१
अणुगामिओ उ ओधी	५४	अरहंतादी नियमा	६४०
अणुमाण-हेतु-दिट्ठंत	५८८/२१	अरहं ति वंदण-नमंसणाणि	५८३/३
अणुयोगो य नियोगो	११६	अरहंतुवदेसेणं	६४२

अरिहो उ नमोक्कारस्स	५८२/४
अलियमुवघायजणयं	५६५/१६
अलोए पडिहता सिद्धा	५९५
अवरविदेहे दो वणिय	१३५/१
असरीरा जीवघणा	५९९
असहाए सहायत्तं	६३४
असिरसिरओ सुनयणो	१३७/६
अस्संजमो य एक्को	४५३
अस्सायमाइयाओ	३६२/२१
अस्सावगपडिसेधे	२२९
अह अन्नया कयाई	२१५
अह आगतो तुरंतो	३१६
अहगं च दसाराणं	२५३
अह तं पागडरूवं	२२५
अह भगवं भवमहणो	२५४
अह भणति जिणवरिदो	२३२/१, २३४/२
अह भणति नरवरिदो	२३४/१
अहयं तुब्भं एयं	४३६/८
अह वड्ढति सो भयवं	१३७/५
अह वयपरियाएहिं	४३६/४६
अहवा नाणादीणं	४३६/११
अहवा वि विणासंतं	४३६/७
अहवा सयं करेतं	४३६/९
अह सव्वदव्वपरिणाम	७४
अहिसरिता पादेहिं	५६५/८

आ

आओवमाइ परदुक्ख	६५७
आगमसत्थग्गहणं	२१
आगमसिद्धो सव्वंग	५८८/८
आणत-पाणत कप्पे	४७
आणा-बलाभिओगो	४३६/१२
आदंसघरपवेसो	२५७
आदिगरु दसाराणं	२४५, २४८/१

आपुच्छणा य कज्जे	४३६/३१
आभट्ठो य जिणेणं	३७१, ३७५, ३७९, ३८३, ३८७, ३९१, ३९५, ३९९, ४०३, ४०७, ४११

आभिणिबोहियणाणे	१६
आभिणिबोहियनाणं	१
आभोएउं सक्को	१३७/१३
आमोसहि विप्पोसहि	६६
आयरियनमोक्कारो	६१७-२०
आया खलु सामइयं	४९४
आयारो नाणादी	६१६
आयाहिण पुव्वमुहो	३६२/४
आया हु कारगो मे	६६०
आरोवणा य भयणा	५८०/१
आलभिय हरि पियपुच्छ	३३०
आलभियाए वासं	३०३
आलभियाय हरि विज्जू	३३०/१
आलस्स-मोहऽवण्णा	५४२
आलोवणा य विणए	६४९
आवस्सगस्स दसकालियस्स	८०
आवस्सियं च णिंतो	४३६/२६, २७
आवस्सिया उ आवस्सएहि	४३६/२९
आसमपयम्मि पासो	१५४
आसायणा वि नेवं	४३६/४८
आसा हत्थो गावो	१३७/१५
आहारगो उ जीवो	५१८
आहार-तेय-भासा	३७
आहार-तेयलंभो	४४
आहारे सिप्पकम्मे य	१३८

इ

इंदिय-विसय-कसाए	५८३/१
इक्खागकुले जातो	१३२

इक्खागभूमि उज्झा	२३६/७	उदिता परीसहा सिं	१५८
इक्खागेसु मरीई	२६१	उद्देस समुद्देसे	६५०
इच्चेवमादि सव्वं	१९३	उद्देसे निद्देसे	१२५, ७५/२
इच्छा मिच्छा तहाकारो	४३६/१	उप्पज्जंति वयंति य	४९७
इत्तरियं पि न कप्पति	४३६/५५	उप्पण्णम्मिं अणंते	२०७/१, ३५३
इत्तरियाइविभासा	४३६/५३	उप्पण्णाऽणुप्पण्णो	५६७
इत्थं पुण अहिगारो	७५/१	उप्पत्तिया वेणइया	५८८/११
इत्थि विज्जाऽभिहिया	५८८/४	उप्पत्ती निक्खेवो	५६६
इय दुल्लभलंभं माणुसत्तणं	५३७	उम्मुक्कमणुम्मुक्के	५३२
इय सव्वकालत्तित्ता	६०८	उवओगदिदुसारा	५८८/१९
इय सिद्धाणं सोक्खं	६०६	उवओग पडुच्चंऽतो	५७३
इहभवभिण्णागारो	५९५/९	उवज्झायनमोक्कारो	६२५-२८
इहलोइ अत्थ-कामा	६४४	उवभा-रूवगदोसा	५६५/१९
इहलोगम्मि तिदंडी	६४५	उववातो सव्वद्दे	१३६/१५
ई		उवसंपन्नो जं कारणं	४३६/५४
ईसीपब्भाराए	५९५/१, ६	उवसंपया उ काले	४३६/२
ईहा अपोह बीमंसा	१२	उवसंपया य तिविहा	४३६/३२
उ		उवसामं पुवणीया	११०/१
उक्कुट्टिसीहणायं	३६२	उवहतमतिविण्णाणो	३२१
उक्कोसगट्ठितीए	५२०	उसभचरियाहिगारे	१४२
उक्कोसेणं चेयं	५७९	उसभजिणसमुद्धानं	१९४
उक्कोसो मणुएसुं	५१	उसभस्स कुमारत्तं	१८६/१
उग्गह ईहाऽवाओ	२	उसभस्स तु पारणए	२०१
उग्गह एक्कं समयं	४	उसभस्स पुरिमताले	१६४
उग्गाणं भोगाणं	१४९	उसभस्स पुव्वलक्खं	१८२, १८६/२४
उग्गा भोगा रायण्ण	१३७/१६	उसभे सुमित्तविजए	२३६/२४
उज्जाणपुरिमताले	२०८	उसभो भरहो अजिते	२३७
उज्जेणीए जो जंभगेहि	४७६/३	उसभो य विणीताए	१५२
उत्तरकुरु सोधम्मे	१३६/२	उसभो वरवसभगती	१९७
उत्तरवाचालंतर	२८२	उसभो सिद्धत्थवणम्मि	१५३
उत्तरवाचाला नागसेण	२८३	ऊ	
उत्ताणओ व पासिल्ल	५९५/८	ऊससियं नीससियं	२०
उ त्ति उवयोगकरणे	६२३, ६२४	ऊसासग नीसासग	५१७

ऊहाए पण्णतं	४८७/२२	एमेव य कुंथुस्स वि	१८६/१७
ए		एमेव य निद्देसो	१२८
एतं महिद्धियं पणिवयंति	३६२/१०	एयं सामायारिं	४३६/५७
एक्कारस उ गणधरा	१७९, ३६४	एवं एते भणिता	४८८
एक्कारस वि गणधरे	७८	एवं ककारलंभो	६५२
एक्कासीई छावत्तरी	१७७	एवं तवोगुणरतो	३५२
एक्केक्कीय दिसाए	३६२/९	एवं बद्धमबद्धं	६४७/७
एक्केक्को य सयविहो	४७२	एवं सव्वम्मि वि वण्णियम्मि	६५४
एगं किर छम्मासं	३४३	एवं सामायारी	४३६/५६
एगंते य विवित्ते	३५६	एवं सो रुइयमती	२२४
एगं पडुच्च हेट्ठा	५७८	एव ण्हं थोऊणं	२५०
एगगस्स पसंतस्स	४३६/२८	एवमणुचिंतयंतस्स	२१७
एगट्ठियाणि तिन्नि तु	११४	एसो पंच णमोक्कारो	६३८/१
एगत्ते जह मुट्ठिं	६६१	ओ	
एगपदेसोगाढं	४२	ओगाहणाय सिद्धा	५९६
एगा जोयणकोडी	५९५/३	ओरालिय-वेउव्विय	९
एगा य होति रयणी	५९५/१४	ओसप्पिणी इमीसे	१३३
एगा हिरण्णकोडी	१४७/४	ओही खेत्तपरिमाणे	२५
एगो भगवं वीरो	१४८, १९२/१	क	
एगो य सत्तमाए	२३६/३८	कट्ठे पोत्थे चित्ते	१२०
एतं चेव पमाणं	३६२/२९	कताकतं केण कयं	६४८
एते कयंजलिउडा	२०३/८	कतिहि समएहि लोगो	१०
एते देवनिकाया	१४७/२	क त्ति कडं मे पावं	४३६/२२
एतेसिं निज्जुत्तिं	८१/१	कत्तियबहुले पंचमि	१६३/२
एतेसिमसंखेज्जा	४९	कत्तियसुद्धे ततिया	१६३/५
एतेसु पढमभिक्षा	२०३/४	कत्तो मे वण्णेउं	१८, २४
एतेहि अद्धभरहं	२२८/१	कदलिसमागम भोयण	२९८
एतेहि कारणेहिं	५४३	कप्पस्स य निज्जुत्तिं	८१
एतेहि दिट्ठिवादे	४७३	कप्पाकप्पे परिणिट्ठियस्स	४३६/२३
एत्थ उ जिणवयणाओ	४३६/५१	कमभिण्ण-वयणभिण्णं	५६५/१७
एत्थं पुण अहिगारो	४४६	कम्मं जमणायरिओ.....	५८८/१
एत्थ य पयोयणमिणं	६४३	कम्ममवज्जं जं गरहितं	६६३
एमेव अरजिणिंदस्स	१८६/१८	कम्मविवेगो असरीरयाय	४६०

कम्मे सिप्पे य विज्जाय	५८८
कम्मोवरि धुवेतर	३८
कयपंचणमोक्कारो	६४५/२
करणे भए य अंते	६४६
कल्लं सव्विड्डीए	२०४
कस्स न होही वेसो	१२२
कह सामाइयलंभो	६५१
कहिं पडिहता सिद्धा	५९४
कारुणमणेगाइं	५४०
काल-जति-च्छविदोसा	५६५/१८
कालमणंतं च सुते	५५३
कालाय सुन्नगारे	२९१
काले चतुण्ह वुड्डी	३४
कालेण असंखेण वि	३६२/२३
कालेण कतो कालो	४४२
काले वि नत्थि करणं	६४७/२
कासवगुत्ता सव्वे	२३६/१९
किं कतिविहं कस्स कहिं	७५/३, १२६
किं जीवो तप्परिणतो	५७१
किं पेच्छसि साहूणं	६३२
किं मन्नि अत्थि कम्मं	३७६
किं मन्नि अत्थि जीवो	३७२
किं मन्नि जारिसो इह	३८८
किं मन्नि पंचभूता	३८४
किं मन्नि पुण्णपावं	४०४
किं मन्नि बंधमोक्खा	३९२
किं मन्नि संति देवा	३९६
किं मन्ने निव्वानं	४१२
किं मन्ने नेरइया	४००
किं मन्ने परलोगो	४०८
कुल्लाग बहुल पायस	२८९
केई तेणेव भवेण	२०३/१२
केवलनाणि त्ति अहं	४६३

केवलनाणुवउत्ता	६००
केवलनाणेणऽत्थे	७५
केवलिणो तिउण जिणं	३६२/७
को कारओ करंतो	६५९
कोसंबि चंद-सूरो.....	३३१
कोसंबीइ सयाणिय	३३४

ख

खइयम्मि वट्टमाणस्स	४४८
खमगे अमच्चपुत्ते	५८८/२३
खरवात कलंकलिया	३१९
खेत्त-दिस-काल-गति	५०७
खेत्तस्स अवट्ठाणं	५५
खेत्तस्स नत्थि करणं	६४७/१
खेत्ते काले जम्मे	४१४
खेदविणोदो सीसगुणदीवणा	३६२/३६

ग

गइ सिद्धा भविया या	४३३/१
गंगाओ दोकिरिया	४८४
गंतूण जोयणं जोयणं	५९५/५
गणहर आहार अणुत्तरा	३६२/१८
गति आणुपुव्वि दो दो	१११/१
गति इंदिए य काए	१४
गति नेरइयाईया	६५/१
गयपुर सेज्जंसो खोय.....	२०३
गरिहा वि तहाजाई	६७५
गहणं तप्पढमतया	४३६/३६
गामाग बिहेलग जक्ख	३०१
गामायारा विसया	१५६
गिण्हति य काइएणं	७
गिहवासे अट्ठारस	१८६/१२
गुरुपरितोसगतेणं	४३६/४३
गोणी चंदणकंथा	१२१

गोतममादी सामाङ्गं	४५८
गोत्तासिउ म्हराए	२६७
गोभूमि वज्जलाढे त्ति	३०६
गोयरमभिग्गहजुतं	३४५
गोवनिमित्तं सक्कस्स	२७६

घ

घड-पड-रहमादीणि	६३०
घुट्टं च अहोदाणं	२०२
घेतुं च सुहं सुहगुणण	८५
घेतूण संकलं सो	६९, ७१

च

चइरुण देवलोगा	१३१/२
चउदस दो वाससता	४८७/५
चउदस य सहस्साई	१७०
चउरासीइ बिसत्तरि	१८८
चउरासीति बिसत्तरि	२३६/३०
चउरासीती बावत्तरी	१८९, २३६/२०
चउरो वि तिविधजोगे	५२३
चउरो वि तिविधवेदे	५२१
चउरो साहस्सीओ	१९६
चउसु वि गतीसु नियमा	५१५
चंदजस-चंदकंता	१३५/७
चंपा वासावासं	३३७
चक्कपुरं रायपुरं	२०३/३
चक्किदुगं हरिपणं	२४२
चक्खुम जसमं च पसेणई	१३५/६
चतुपण्णं पण्णरसं	१८४
चतुहि समएहि लोगो	११
चत्तारि गाउयाई	४५
चत्तारि य तीसाई	१७२
चत्तारि य रयणीओ	५९५/१३
चरमे नाणावरणं	१११/५

चलणाहय आमंडे	५८८/२४
चारण-आसीविस-केवली	६७
चित्तस्स सुद्धतइया	१६३/९
चित्ते बहुलचउत्थी	१६३/१२
चित्ते सुद्धेक्कारसि	१६३/३
चुलसीतिं च सहस्सा	१६७
चुलसीति पंचनउती	१७६
चुलसीतिमप्पतिट्ठे	२६९
चेइदुम पीढछंदय	३६२/१
चेत्तबहुलट्टमीए	१३७/१, १९५
चेयणमचेयणस्स	४३३
चोएति जइ हु जेट्ठो	४३६/४५
चोदसवासाणि तदा	४८७/१
चोदस सोलस वासा	४८६
चोरा मडंब भोज्जं	२९६
चोलोवण विवाहे य	१४१
चोल्लग पासग धण्णे	५३५

छ

छउमत्थकालमेत्तो	१८७
छउमत्थपरीयागं	४२५
छउमत्थप्परियाओ	२०६
छट्ठिं हेट्ठिम-भज्झिम	४८
छत्तीसा सोलसगं	४२३
छप्पुव्वसतसहस्सा	१३७/१०
छम्माणि गोव कडसल	३३९
छम्मासे अणुबद्धं	३२८
छव्वाससताई नवुत्तराई	४८७/२०
छावट्ठिं चउसट्ठिं	१६९
छिण्णम्मि संसयम्मी	३७३, ३७७, ३८१, ३८५, ३८९, ३९३, ३९७, ४०१, ४०५, ४०९, ४१३

જ

જઇ અબ્ધત્યેજ્ઞ પરં	૪૩૬/૩
જઇ ઉવસંતકસાઓ	૧૧૦/૨
જઇ વાસુદેવ પદ્મો	૨૫૨
જઇ વિ વયમાઇર્ણિ	૪૩૬/૪૭
જઇ હોજ્ઞ તસ્સ અણલો	૪૩૬/૫
જં કારણ નિક્કમણં	૩૬૭
જં કેસવસ્સ ડ બલં	૭૨
જં ચ મહાકપ્પસુતં	૪૮૧
જં ચેવ આડયં કુલગરાણ	૧૩૫/૧૦
જં જં જે જે ભાવે	૪૯૮
જં જસ્સ આડગં ખલુ	૧૩૫/૧૧
જં દુક્કહં તિ મિચ્છા	૪૩૬/૧૯, ૨૦
જંભિયગામે નાણસ્સ	૩૩૮
જંભિય બહિ ડજુવાલિય	૩૪૦
જં સંઠાણં તુ ઇહં	૫૯૫/૧૦
જણ્ણૂસવ સમવાણ	૧૪૦
જત્થ અપુલ્લોસરણં	૩૫૬/૨, ૩૬૨/૧૬
જત્થ ય ઈગો સિદ્ધો	૫૯૭
જદિ ય પડિક્કમિયવ્વં	૪૩૬/૧૮
જમ્મણ વિણીય ડજ્ઞા	૨૩૬/૨૨
જમ્મણે નામ વુડ્ડી યં	૧૩૭
જસ્સ અણુણાતે વાયગ.....	૪૭૬/૪
જસ્સ ય ઇચ્છાકારો	૪૩૬/૨૫
જસ્સ સામાણિઓ અપ્પા	૫૦૧
જહ ઉલ્લા સાડીયા	૫૯૨
જહ છેદલદ્ધનિજ્ઞામઓ	૮૯
જહ જચ્ચબાહલાણં	૪૩૬/૧૩
જહ તમિહ સત્થવાહં	૫૮૨/૩
જહ નામ કોઇ મેચ્છો	૬૦૫
જહ વારિમજ્જહૂદોવ્વ	૫૩૮
જહ સમિલા પબ્ભટ્ટા	૫૩૬/૧
જહ સવ્વકામગુણિતં	૬૦૭

જહા ય્વરો ચંદણભારવાહી	૯૪
જાઈસરો ય ભગવં	૧૩૭/૭
જાણાવરણ-પહરણે	૫૪૪
જાવડ્યા તિસમયાહારગસ્સ	૨૮
જાવંત અજ્જવડ્યા	૪૭૬
જાવદવધારણમ્મી	૬૬૮
જિણ-ચક્કિ-દસારાણં	૨૩૨
જિણ-પવયણડપ્પત્તી	૧૧૩
જીવણિકાયા ગાવો	૫૮૨/૧૨
જીવમજીવે ભાવે	૬૪૭/૩
જીવાણડાણંતભાગો	૫૮૦
જીવે કમ્મે તજ્જીવ	૩૬૮
જીવો ગુણપડિવન્નો	૪૯૬
જીવો પમાદબહુલો ✓	૫૦૫/૧
જીવોવલંભ સુતલંભે	૧૪૪
જુંજણકરણં તિવિહં	૬૪૭/૯
જેટ્ટા કત્તિય સાતી	૪૧૮
જેટ્ટા સુદંસણ જમાલિ....	૪૮૭/૨
જેણુદ્ધરિતા વિજ્ઞા	૪૭૬/૬
જે તે દેવેહિ કયા	૩૬૨/૫
જેસિં જત્તો સૂરો	૫૧૨/૧
જો કન્નાઈ ધણેણ ય	૪૭૬/૫
જો કોંચાગારાધે	૫૬૫/૪
જો ગુજ્ઞમેહિ બાલો	૪૭૬/૨
જો ણ વિ વટ્ટતિ રામે	૫૦૬
જો તિહિ પદેહિ સમ્મં	૫૬૫/૭
જો નિચ્ચસિદ્ધજત્તો	૫૮૮/૯
જો ય તવો અણુચિણ્ણો	૩૪૧
જો સમો સવ્વભૂતેસુ	૫૦૨
જો સવ્વકમ્મકુસલો	૫૮૮/૨
જો સવ્વસિપ્પકુસલો	૫૮૮/૩
ઠ	
ઠાણં પમજ્જિરુણં	૪૩૬/૩૮

ण

णत्थि नएहि विहूणं	४७४
णाणं पयासगं सोहओ	९७
णाणावरणिज्जस्स य	५७२
णाणे जोगुवजोगे	५०८
णावि य पारिव्वज्जं	२४९
णीसवमाणो जीवो	५३१
णेगम-संगह-ववहारु.....	४६७
णेगेहिं माणेहिं	४६८

त

तं च कहं वेइज्जति	१३६/१३, २७१/५,
	४५६
तं तह दुल्लभलंभं	५४१
तं दाएति जिणिंदो	२४४
तं दिव्वदेवघोसं	३६३
तंबाएँ नंदिसेणो	२९९
तं बुद्धिमएण पडेण	८४
तं पव्वइयं सोउं	३७४
तं वयणं सोऊणं	२४६
तच्चावादी चंपा	३३५
तज्जीवतस्सरीरं	३८०
तण-छेयंगुलि कम्मर	२८०
ततियकसायाणुदए	१०३
ततियमवच्चं भज्जा	२८१
तत्तो य अहक्खातं	१०८
तत्तो य णंगलाए	२९५
तत्तो य पुरिमताले	३०५
तत्तो य समंतेणं	३६१
तत्तो य सुमंगल सणं.....	३३६
तत्थ किर सोमिलज्जो	३५५
तत्थ मरीईनामं	२४३
तत्थ वि सो इच्छं से	४३६/१०
तथ बारसवरिसाई	१६३

तप्पागारे पल्लग	५३
तप्पुव्विया अरहया	३६२/१५
तम्मूलं संसारो	२६०
तव-नियम-नाणरुक्खं	८३
तव-संजमो अणुमतो	४९३
तव्वयणं सोऊणं	२५१
तह नाणलद्धनिज्जामओ	९०
तातम्मि पूइते चक्क.....	२०९
तिग दुग एककग सोलस	१६२
तिणिण य अड्डाइज्जा	१६८
तिणिण य गोयमगोत्ता	४२१
तिणिण सते दिवसाणं	३४९
तिणिण सया तेतीसा	५९५/७, १२
तिण्णेव य कोडिसया	१४७/७
तिण्णेव य लक्खाइं	१७१
तिण्णेव य वाससता	१८६/२२
तिण्ह सहस्सपुहत्तं	५५७
तिण्ह सहस्समसंखा	५५८
तित्थं गणो गणधरा	१४५
तित्थं चाउव्वण्णो	१७५
तित्थगराणं पढमो	२०५
तित्थगरे भगवंते	७६
तित्थगरो किं कारण	४५५
तित्थपणामं काउं	३६२/१४
तित्थातिसेस संजय	३६२/६
तिन्नि य पागारवरे	३६०
तिरिएसु अणुव्वट्टे	५२९
तिविहम्मि सरीरम्मी	८
तिविहेणं ति न जुत्तं	६७२
तीसा बारस दसगं	४२४
तुंगीयसन्निवेसे	४१७
तुंबवणसन्निवेसाउ	४७६/१
तेणेहिं पहे गहितो	३००
तेतीस अट्टवीसा	१७८

ते पव्वइए सोउं	३७८, ३८२, ३८६, ३९०, ३९४, ३९८, ४०२, ४०६, ४१०
तेयाकम्मसरीरे	४१
तेया- भासादव्वाण	३६
तेयाऽऽहारग विकुव्वणो....	३९
तेल्लं तेगिच्छसुतो	१३६/४
तेल्लोक्कं असमत्थं	३१५
ते वंदिऊण सिरसा	७९
तेवीसं च सहस्सा	१८५
तेवीसाए नाणं	१६५
तो उवगारित्तणतो	५८२/१३
तो समणो जइ सुमणो	५६५/२
तोसलि खुड्डग रूवं	३२४

थ

थिबुगागार जहण्णो	५२
थूणाइ पूसमित्तो	२६२
थूणाएँ बहिं पूसो	२८७

द

दंड-कवाडे मंथंतरे	५९१
दंड-कस-सत्थ-रज्जू	४३८
दंसण-विणए आवस्सए	१३६/१०, २७१/२
दट्ठं सिणेहकरणं	१३५/२
दट्ठूण कीरमाणं	२११/२, ३७०
दढभूमीए बहिया	३१२
दत्तेण पुच्छितो जो	५६५/६
दमदंते मेयज्जे	५६५
दव्वम्मि निण्हगाई	६६६, ६७३
दव्वविउस्सगो खलु	६७६
दव्वाओ असंखेज्जे	६२
दव्वाभिलावचिंधे	४४९
दव्वे अद्ध अहाउय	४३२
दव्वेण य भावेण य	५२८

दव्वे मण-वय-काए	६६४
दस दो य किर महप्पा	३४६
दसपुरनगरुक्खुघरे	४८७/१७
दसहिं सहस्सेहुसभो	१९२/४
दाणं च माहणाणं	२३०
दिट्ठे सुतेऽणुभूते	५४५
दीहं वा हस्सं वा	५९५/११
दीहकालरयं जं तु	५८९
दुब्भासितेण एक्केण	२५९
दुविधं च होति भावे	४५२
दुविधं पि नेगमणयो	१२९
दुविहाएँ वेयणाए	५२७
दुविहा परूवणा छप्पया	५७०
दुविहा य चरित्तम्मी	४३६/५२
दुविहो पमाणकालो	४४३
दुविहोवक्कमकालो	४३६
दूइज्जंतग पितुणो	२७७
देवगति आणुपुव्वी	१११/४
देवाणुवित्ति भत्ती	३६२/३१
देवासुर-मणुएसुं	५८४/४
देविंदवंदितेहिं	४७८
देवेसु अणुव्वट्ठे	५३०
देवो चुतो महिड्डी	३२९
देसूणगं च वरिसं	१३७/३
दो चेव मत्तगाइं	४३६/३९
दो चेव य छट्ठसए	३४७
दो चेव सुवण्णेसुं	१३५/१३
दो सोला बत्तीसा	७०
दो होंति चामराओ	३६३/२

ध

धणसत्थवाह धोसण	१३६/१
धम्मकहाअक्खित्ते	२२६
धम्मस्स कुमारत्तं	१८६/१५

धम्मोदण रूवं	३६२/२२
धम्मोवाओ पवयण	१८०
धीरो चिलायपुत्तो	५६५/९
धूली पिवीलियाओ	३१७

न

नउई असीइ सत्तरि	२३६/४
नंदि-अणुयोगदारं	६४५/१
न किलम्मति जो तवसा	५८८/२५
नत्थि य सि कोइ वेसो	५६५/३
नदि-खेड-जणव-उल्लुग	४८७/१०
नमिणो कुमारवासो	१८६/२१
नमिविनमीणं जायण	१९८
न वओ एत्थ पमाणं	४३६/४९
नव किर चाउम्मासे	३४२
नव धणुसताइ पढमो	१३५/४
नवमो य महापउमो	२३६
न वि अत्थि माणुसाणं	६०२
न वि संखेवो न वित्थारु	६३९
नारुण वेदणिज्जं	५९०
नाण-दंसण विब्भंगे	२६
नाणम्मि दंसणम्मि य	६०१
नाभी जितसत्तू या	२३६/१२
नाभी विणीयभूमी	१३६
नामं ठवणा दविए	२७, ११७, १२७, १३०, ४६४, ५१२, ६१५, ६२१, ६४७, ६६२, ६६५, ६६९

नामं ठवणा साधू	६२९
नायम्मि गिण्हियव्वे	६७९
निक्कंचणा य समणा	२२०
निक्खेवो कारणम्मि	४५०
निच्छयओ दुन्नेयं	४३६/५०
निच्छिण्णसव्वदुक्खा	६१०

निज्जवण भद्दगुत्ते	४८०
निज्जामगरयणाणं	५८२/१०
निज्जुत्ता ते अत्था	८२
निण्हाइ दव्व भावोवउत्त	५६९
निद्दाय भावतो वि य	५१९
निद्दा-विगहापरिवज्जिएहि	४३६/४१
निद्दोसं सारवंतं च	५६५/२०
निद्धूमगं च गामं	४४०
निष्फेडिताणि दोण्णि वि	५६५/५
निमित्ते अत्थसत्थे य	५८८/१७
निम्मच्छियं महं पागडो	४४१
निम्मलदगरयवण्णा	५९५/२
नियमा मणुयगतीए	१३६/१४, २७१/६, ४५७

निरुयत्ताए अयलो	४६१
निव्वाण चितिगागिई	२५६
निव्वाणमंतकिरिया	१९१
निव्वाणसाहए जोगे	६३१
निव्वेढणमुव्वट्टे	५०९
नेरइय-तिरिय-मणुया	४३५
नेरइय-देव-तित्थंकरा य	६४
नोसुयकरणं दुविहं	६४७/८

प

पउमस्स कुमारत्तं	१८६/६
पउमाभ वासुपुज्जा	२३६/१
पउमुत्तरे महाहरि	२३६/२५
पंचण्हं पंचसया	३६९
पंचण्हं वण्णाणं	४४४
पंच य पुत्तसयाई	२११
पंचऽरहंते वंदंति	२४०
पंचविहं आयारं	६१५/१
पंचसय अद्दपंचम	२३६/१७
पंचसता चुलसीता	४८७/१६

पंचसया चुलसीता	४८७	पण्णरस सतसहस्सा	१८६/३, १३
पंचसया चोयाला	४८७/११	पण्णरसि माहबहुले	१६३/६
पंचहि समणसतेहिं	१९२/२	पण्णवओ जदभिमुहो	५१२/२
पंचाणउति सहस्सा	१९०, २३६/२१	पण्णा छायालीसा	४२२
पंचासीइ सहस्सा	२३६/३२	पत्तेयमक्खराई	१७
पंचासीई पण्णतरी	२३६/३१	परमोहि असंखेज्जा	४३
पंचेव अद्धपंचम	२३६/३	परिजाणिरुण जीवे	५६५/१३
पंचेव य सिप्पाई	१४१/१	परिणिव्वुया गणहरा	४३०
पंथं किर देसित्ता	१३१	परियाओ पव्वज्जा	२३६/३७
पगडीणं अण्णासु वि	३६२/२०	पलितोवमदसभागे	१३५/९
पच्चक्खाणं सेयं	४८७/१९	पलियासंखिज्जइमे	५७७
पच्चक्खाणमिणं संजमो	१६०	पल्लग-गिरि-सरि उवला	१००/१
पच्चक्खे इव दट्ठं	५६५/१४	पवयणनीहूयाणं	४९१
पच्चयनिक्खेवो खलु	४६२	पव्वज्ज पोट्टिले सतसहस्स	२७१
पच्चुप्पण्णगाही	४७०	पव्वज्जाए दिवसं	३५०
पडिमा भद्द महाभद्द	३११	पाणीपत्तं गिहिवंदणं	२७८
पढम-बितियाण पढमा	१३५/१६	पालंति जहा गावो	५८२/११
पढमम्मि सव्वजीवा	४९५	पावंति जहा पारं	५८२/८
पढमस्स बारसंगं	१५९	पावंति निव्वुइपुरं	५८२/२
पढमाणुयोगसिद्धो	१७४/१	पासस्स कुमारत्तं	१८६/२३
पढमिल्लुगाण उदए	१०१	पासो अरिट्टिनेमी	१५५
पढमेत्थ इंदभूती	३६५	पिट्ठीचंपा वासं	२९३
पढमेत्थ विमलवाहण	१३५/३	पुच्छंत्ताण कहेती	२५८
पढमो अकालमच्चू	१३७/८	पुट्ठं सुणेति सहं	५
पढमो चउदसपुव्वी	१३६/७	पुट्ठो जहा अबद्धो	४८७/१८
पढमोत्थ वइरनाभो	१३६/६	पुढवि-जल-जलण-वाया	५१२/३
पढमो धणूणसीती	२३६/२८	पुणरवि भदियनगरे	३०२
पढमो य कुमारत्ते	१३५/१२	पुणरवि य समोसरणे	२३१
पणतीसा तीसा पुण	२३६/१८	पुत्तो धणंजयस्सा	२७०
पणवीसं तु सहस्सा	१८३	पुत्तो पयावइस्सा	२६८
पणवीससहस्साई	१८६/१०	पुरिमंतरंजि भुयगुह	४८७/१२
पण्णं पुव्वसहस्सा	१८६/९	पुरिमेण पच्छिमेण य	१३६/१२, २७१/४
पण्णरस दस धणूणि	२३६/५	पुरिसज्जाए वि तहा	४३६/१४

पुष्पंते होज्ज जुगं	५३६
पुष्पपडिवण्णा पुण	५११
पुष्पभव-जम्म-नामं	१३५
पुष्पमदिट्ठमस्सुत	५८८/१२
पुष्पसयसहस्साइं	१८६/७
पुष्पाणुपुष्पि न कमो	६४१
पुष्पादीआसु महादिसासु	५१३
पुस्से पुणव्वसू पुण	२०३/६
पुहवी य वारुणी भदिला	४२०
पोयण बारवइतिगं	२३६/३३
पोसस्स पुण्णिमाए	१६३/८
पोसस्स सुद्धछट्ठी	१६३/७

फ

फगुणबहुले एक्कारसीइ	२०७
फगुणबहुलेक्कारसि	१६३/१
फगुणबहुले छट्ठी	१६३/४
फड्डाई असंखेज्जा	५८
फड्डाई आणुगामी	५९
फुसति अणंते सिद्धे	५९८

ब

बंभणगामे नंदोवणंद	२९०
बद्धमबद्धं तु सुयं	६४७/४
बलदेव-वासुदेवा	२३६/२९
बलिपविसणसमकालं	३६२/३४
बहली अडंब-इल्ला	२०४/१
बहली य जोणगा पल्हगा	२०४/२
बहुमज्झदेसभागे	५९५/४
बहुरय जमालिपभवा	४८३
बहुरय-पदेस-अव्वत्त	४८२
बहुसालग सालवणे	३०४
बाणउती चउहत्तरि	४२७
बारसंगो जिणक्खातो	६२२

बारस चेव य वासा	३५१
बारसवासे अहिए	३४८
बारसविहे कसाए	१०६
बारस सोलस अट्टारसेव	४२६
बाहिरलंभे भज्जो	६०
बाहुबलिकोवकरणं	२१३
बितियकसायाणुदए	१०२
बितियम्मि होंति तिरिया	३६२/११
बेंटट्टाईं सुरभिं	३५८
बोडियसिवभूतीओ	४८७/२३

भ

भगवं अदीणमणसो	१९९
भणति य आहिंडेज्जा	४७६/७
भणति य धारेतव्वा	४७६/८
भत्तिविभवाणुरूवं	३६२/३०
भदं च महाभदं	३४४
भद सुभद्दा सुप्पभ	२३६/३५
भदिलपुर सीहपुरं	२३६/८
भरन्तिथरणसमत्था	५८८/१६
भरहम्मि अद्धमासो	३२
भरहसिल-पणिय-रुक्खे	५८८/१३
भरहसिल-मिंढ-कुक्कुड	५८८/१४
भवणवई-जोइसिया	३६२/८
भवणवति-वाणमंतर	२११/१, ३६९/१
भवसिद्धिओ उ जीवो	५१६
भाइय-पुणाणियाणं	३६२/३३
भावसुयसइकरणे	६४७/१०
भावे खओवसमिते	९८
भासग परित्त पज्जत्त	१५, ६५/४
भासासमसेढीओ	६
भिसिणीपत्तेहितरे	१३७/१४
भूयापरिणयविगए	६४७/५

भोगफलं बाहुबलं	१३६/८
भोगम्मि चक्किमादी	६६९/१
भोगसमत्थं नाउं	१३७/९

म

मंखलि मंख सुभदा	२८८
मंडिय-मोरियपुते	३६६
मंदिरेसु अगिभूती	२६३
मगसिर सुद्धेक्कारिसि	१६३/११
मगहा गोब्बरगामे	३०८, ४१५
मगहा-रायगिहादिसु	१५७
मगसिर सुद्धिक्कार.....	१६३/१०
मगगे अविप्पणासो	५८१
मज्जण-णिसेज्ज अक्खा	४३६/३७
मणपज्जवनाणं पुण	७३
मणि-कणग-रयणचित्तं	३५७
मणि-कणग-रयणचित्ते	३५९
मणि-रयण-हेमया वि य	३६०/२
मणुए चउमण्णयरं	३६२/१३
मरुदेवि विजय सेणा	२३६/१०
मलए पिसायरूवं	३२३
मल्लिस्स वि वाससत्तं	१८६/१९
महुरपरिणाम सामं	६५६
महुराए जिणदासो	२८५
महुसित्थ मुद्दियके	५८८/१५
मागहमादी विजओ	२१२
माणुस्स-खेत्त-जाती	५३४
माता य रुद्धसोमा	४७९
मासं पायोवगता	४३१
माहणकुंडगामे	२७२
माहेसरीउ सेसा	४७६/९
मिगावती उमा चेव	२३६/३४
मिच्छत्तकालियावात	५८२/९
मिच्छादिट्ठीयाणं	४९२

मि त्ति मिउमद्दवत्ते	४३६/२१
मिहिलाए लच्छिबरे	४८७/८
मिहिला सोरियनगरं	२३६/९
मुणिचंद कुमाराए	२९२
मुणिसुव्वओ य अरिहा	२३६/६
मुणिसुव्वते नमिम्मि य	२३९
मुत्तपुरीसनिरोधे	४३९
मूढनइयं सुतं कालियं	४७५
मूयं हुंकारं वा	२२/१
मूलगुणाणं लंभं	१०४
मेरुगिरीसमभारे	२१६
मोत्तूण अतो एक्कं	४८९
मोरी नउलि बिराली	४८७/१४
मोरीयसन्निवेसे	४१६
मोसलि संधिसुमागह	३२५

र

रज्जादिच्चाओ वि य	१४७
रहवीरपुरं नगरं	४८७/२१
राइणियं वज्जेत्ता	४३६/६
राओवणीयसीहासणे	३६२/३७
रागद्दोस-कसाए य	५८३
रायकुलेसु वि जाया	१४७/९
रायगिह विस्सनंदी	२६५
रायगिह विस्सभूती	२६६
रायगिहे गुणसिलए	४८७/४
राया आदिच्चजसे	२२८
राया करेति दंडं	१३७/१२
राया व रायऽमच्चो	३६२/३२
रोद्दा य सत्तवेयण	२७९

ल

लक्खं अट्टसताणि य	१७३
लद्धूण य सम्मत्तं	१३१/१

पदानुक्रम

लाउयएरंडफले	५९३
लाढेसु य उवसग्गा	२९७
लाभा हु ते सुलद्धा	२४८
लोईदियमुंडा संजता	२१९
लोभाणु वेदंतो	११०

व

वइसाहसुद्धएक्कारसीय	४४७
वंदामि महाभागं	७७
वंदिज्जमाणा न समुक्कसंति	५६५/१
वक्खाणसमतीए	४३६/४४
वच्चह हिंडह न करेमि	३२७
वच्छग गोणी खुज्जा	११८
वज्जंतऽवज्जभीरू	२२३
वज्जरिसभसंघयणा	१३५/५
वडुंते परिणामे	५२६
वण्णेण वासुदेवा	२३६/२७
वत्तणा संघणा चेव	४३६/३३
वत्थूओ संकमणं	४७१
वर-कणगतवियगोरा	२३६/२
वरवरिया घोसिज्जति	१४७/६
ववगतमोहा समणा	२२१
ववहारे नीति जुद्धे य	१३९
वसुभूती धणमित्ते	४१९
वाणियगामायावण	३१०
वादे पराजिओ सो	४८७/१५
वायणपडिसुणणाए	४३६/२४
वारण सणकुमारे	३३३
वालुगपंधे तेणा	३२२
वाससहस्सं बारस	१६१
वासाण कुमारत्तं	१८६/११
वासोदगस्स व जहा	३६२/२५
विउला विमला सुहुमा	५८८/१०
विच्छुय सप्पे मूसग	४८७/१३

विज्जा-चरणनयेसुं	६७८
विज्जाण चक्कवट्टी	५८८/५
विज्जे मिंठे तह इंदणाग	५४७
विणओणतेहि कयपंजलीहि	१२३
विती उ सुवण्णस्सा	३६२/२८
विमलमणंतइ धम्मो	२३४
विरयाविरई संवुडं	५६३
विसयसुहनियताणं	६३३
वीरं अरिट्टुनेमिं	१४७/८
वीरियभावे य तहा	४६५
वीरवरस्स भगवतो	२८६
वीरो अरिट्टुनेमी	१४९/१
वीसमिऊण नियंतो	१११/३
वीसा दोवाससया	४८७/७
वुड्डी वा हाणी वा	५७
वेज्जसुतस्स य गेहे	१३६/३
वेसालि भूयणंदो	३३२
वेसालीए पडिमं	३०९

स

संखातीताओ खलु	२३
संखातीते वि भवे	३६२/३८
संखिज्जाऊ चतुरो	५२२
संखेज्जजोयणा खलु	५०
संखेज्ज मणोदव्वे	४०
संखेज्जमसंखेज्जो	६५
संखेज्जम्मि तु काले	३३
संगहियपिंडितत्थं	४६९
संघयणं संठाणं	१३५/८
संघयण-रूव संठाण	३६२/१९
संघाडग-तिग-चउक्क	१४७/५
संजमजोगे अब्भुट्टियस्स	४३६/१६, १७
संजोगसिद्धीय फलं वयंति	९६
संतपदं पडिवन्ने	५७५

संतपयपरूवणया	१३, ५७४	सम्मत्तस्स सुतस्स य	५१४, ५४९
संतिस्स कुमारत्तं	१८६/१६	सम्मदंसणदिट्ठो	५८२/६
संती कुंधू य अरो	१४७/१०, २३८	सम्मदिट्ठि अमोहो	५६१
संदिट्ठो संदिट्ठस्स	४३६/३४	सम्मसुताणं लंभो	५१०
संबोधण निक्खमणं	१९४/१	सम्मसुयअगारीणं	५५४
संबोधण परिच्चाए	१४३	सम्मुच्छिम कम्माकम्म	५१२/४
संभिनं पासंतो	११२	सयसाहस्सा गंधा	५६५/११
संवच्छरेण भिक्खा	२००	सव्वं च देसविरतिं	३६२/१२
संवच्छरेण होही	१४७/३	सव्वं ति भाणिऊणं	५०४
संवट्ट मेह आदंसगा	१३७/२	सव्वगतं सम्मत्तं	५३३
संसरिय थावरो राय.....	२६४	सव्वजीवेहिं सुतं	५६०
संसारसागराओ	९१	सव्वत्थ अविस्मत्तं	३६२/२४
संसारा अडवीए	५८२/५	सव्वबहुअगणिजीवा	२९
सक्कीसाणा पढमं	४६	सव्वसुरा जइ रूवं	३६२/१७
सक्को य देवराया	३१३	सव्वाउयं पि सोता	३६२/२७
सक्को वंसट्ठवणे	१३७/४	सव्वे काउस्सगं	४३६/४०
सचरित्तपच्छयावो	६७४	सव्वे य माहणा जच्चा	४२९
सट्ठि पणपण पण्णेग	१७४	सव्वे वि एगदूसेण	१५०
सत्तण्हं पगडीणं	१००	सव्वे वि एगवण्णा	२३६/१६
सत्तसहस्साऽणंतइ	१९२/३	सव्वे वि गता मोक्खं	२३६/१५
सत्तेता दिट्ठीओ	४९०	सव्वे वि दव्वजोगा	५८८/७
सद्धहण जाणणा खलु	४६६	सव्वे वि य अतियारा	१०५
समणा तिट्ठं विरता	२१८	सव्वे वि सयंबुद्धा	१४६
समता-सम्मत्त-पसत्थ	६५८	सव्वेसिं पि नयाणं	६८०
समयावलिय मुहुता	४३४	सव्वेसिं वि जिणाणं	२०३/११
समवाइ असमवाई	४५१	सव्वेसु पि संठाणेसुं	५२४
समुट्ठाण-वायणालद्धिओ	५६८	सव्वेहि पि जिणेहिं	२०३/९
समुसरण भत्त उग्गह	२२७	सह मरुदेवाइ निग्गतो	२१०
समुसरणे केवतिया	३५६/१	सागारमणागारा	६३
सम्मत्तचरणसहिता	५५९	सा चंडवायवीची	५३६/२
सम्मत्त-णाण-दंसण	५७६	सादी सपज्जवसितो	४४५
सम्मत्तदेसविरता	५५०, ५५१, ५५६	साधारणओसरणे	३६२/२
सम्मत्तसुतं सव्वासु	५२५	साधारणेऽवसत्ते	३६२/२६

सामं समं च सम्मं	६५५	सुतपडिवण्णा संपइ	५५२
सामाइयं करेमी	६७१	सुतसम्म सत्तगं खलु	५५५
सामाइयं च तिविधं	४९९	सुत्तत्थो खलु पढमो	२२/२
सामाइयं समइयं	५६४	सुबहुं पि सुयमहीयं	९२
सामाइयत्थ पढमं	१०७	सुमइस्स कुमारत्तं	१८६/५
सामाइयनिज्जुत्तिं	८१/२	सुमंगला जसवई भद्दा	२३६/२३
सामाइयमाईयं	२११/३, २१४	सुमतित्थ निच्चभत्तो	१५१
सामाइयमादीयं	८७	सुमिणमवहारऽभिग्गह	२७३
सामाइयम्मि तु कते ✓	५०५ .	सुय णोसुय सुय दुविहं	६६७
सामाइयादिया वा	१८१	सुयधम्म तित्थ मग्गो	११५
सामाणियदेवड्ढिं	३२०	सुरगणसुहं समत्तं	६०३
सारस्सयमाइच्चा	१४७/१	सुरभिपुर सिद्धजत्तो	२८४
सावगभज्जा सत्तवइए	११९	सुस्सुसति पडिपुच्छति	२२
सावज्जजोगप्परिवज्जणट्ठा ✓	५०३	सुहुमो य होति कालो	३५
सावज्जजोगविरओ	६७७	सूरुदय पच्छिमाए	३६२/३
सावत्थी उसभपुरं	४८५	सूरे सुदंसणे कुंभे	२३६/१४
सावत्थी सिरिभद्दा	२९४	सेज्जं ठाणं च जहिं	४३६/३०
साहारमपज्जत्तं	१११/२	सेज्जंस बंभदत्ते	२०३/५
साहीणसव्वमंतो	५८८/६	सेयपुरं रिट्ठपुरं	२०३/२
साहुं तिगिच्छिऊणं	१३६/५	सेयवि पोलासाढे	४८७/६
साहूण नमोक्कारो	६३५-३८	सेलघण-कुडग-चालणि	१२४
सिद्ध ति य बुद्ध ति य	६०९	सेसाणं परियाओ	१८६/२५
सिद्धत्थपुरे तेणो ति	३२६	सेसा तु दंडनीती	१३५/१७
सिद्धस्स सुहो रासी	६०४	सोऊण अणाउट्ठिं	५६५/१२
सिद्धाण नमोक्कारो	६११-१४	सो देवपरिग्गहितो	२७५
सिद्धिवसहिं उवगता	५८२/७	सोलस रायसहस्सा	६८
सीयालं भंगसत्तं	६७०	सोलसवासाणि तदा	४८७/३
सीया साडी दीहं	५८८/१८	सो वाणरजूहवती	५४७/१
सीहासणे निसण्णो	३६३/१	सो विणएण उवगतो	२४७
सुक्कंबरा य समणा	२२२	सो सोयति मच्चु-जरा	५३९
सुग्गीवे दढरहे विण्हू	२३६/१३	सोहम्मकप्पवासी	३१४
सुजसा सुव्वया अइरा	२३६/११	ह	
सुतनाणम्मि वि जीवो	८८	हक्कारे मक्कारे	१३५/१५

हतं नाणं कियाहीणं	९५
हत्थम्मि मुहुत्ततो	३१
हत्थिणपुरं अयोज्झा	२०३/१
हत्थी छच्चित्थीओ	१३५/१४
हत्थी हत्थिणियाओ	३१८
हत्थुत्तरजोगेणं	२७४
हरिसह सेयवियाए	३३०/२
हवइ पयावति बंभो	२३६/३६
हेरणिए करिसए	५८८/२०
होइ भयंतो भयअंतगो	६५३
होति पवित्तिनिवित्ती	४५९
होति पसत्थं मोक्खस्स	४५४
होही अजितो संभव	२३३
होही सगरो मघवं	२३५

कथाएं

१. गोकुल का धनी कुचिकर्ण।
२. कछुए का शोक।
३. दोष-निवारण।
४. जामाताओं की परीक्षा।
५. गणिका की बुद्धिमत्ता।
६. अमात्य की अनुप्रेक्षा।
७. विनीत-अविनीत का परीक्षण।
८. चित्रकार।
९. अंधा और पंगु।
१०. कुब्जा
११. स्वाध्याय
१२. बधिरोल्लाप
१३. ग्रामीण
१४. श्रावकभार्या
१५. सातपदिक
१६. कोंकण देश का बालक।
१७. नेत्रला
१८. कमलामेला
१९. शांभ का साहस।
२०. श्रेणिक का क्रोध।
२१. रोगग्रस्त गाय
२२. चन्दनकन्था
२३. चेटी-सखी
२४. टंकणक
२५. शैलघन
२६. गाय
२७. आभीर दंपती
२८. ग्रामचिन्तक (महावीर को सम्यक्त्व-लाभ)
२९. दो वणिग् मित्र (विमलवाहन)
३०. धन सार्थवाह (ऋषभ का पूर्वभव)
३१. ऋषभ का जन्म
३२. इक्ष्वाकु वंश की स्थापना।
३३. ऋषभ का विवाह।
३४. ऋषभ का राज्याभिषेक।
३५. ऋषभ द्वारा प्रशिक्षण।
३६. ऋषभ का अभिनिष्क्रमण।
३७. नमि-विनमि की याचना।
३८. ऋषभ का पारणा।
३९. भगवान् का तक्षशिलागमन तथा कैवल्यप्राप्ति।
४०. चक्ररत्न की उत्पत्ति।
४१. मरुदेवा की सिद्धि।
४२. भरत का विजय-अभियान।
४३. बाहुबलि को कैवल्य।
४४. भरत का भगवान् के पास आगमन और यज्ञोपवीत का प्रवर्तन।
४५. शक्रोत्सव का प्रारम्भ।
४६. ऋषभ का निर्वाण।
४७. भरत को कैवल्य-प्राप्ति।
४८. मरीचि का भव-भ्रमण
४९. त्रिपृष्ठ वासुदेव
५०. भगवान् महावीर का गर्भ-संहरण और जन्म।
५१. बालक महावीर की देव द्वारा परीक्षा।
५२. ऐन्द्र व्याकरण का प्रारम्भ।
५३. महावीर का अभिनिष्क्रमण।
५४. देवदूष्य का परित्याग (१)
५५. अनुकूल उपसर्ग
५६. ग्वाले का उपद्रव
५७. सिद्धार्थ देव का आगमन।
५८. प्रथम वर्षावास की प्रतिज्ञाएं।
५९. शूलपाणि यक्ष का पूर्वभव।
६०. शूलपाणि यक्ष का उपद्रव।
६१. उत्पल द्वारा स्वप्नों का अर्थ-कथन।

६२. सिद्धार्थ और अच्छंदक।
६३. वस्त्र का परित्याग (२)।
६४. दृष्टिविषय सर्प का उपद्रव और उसको प्रतिबोध।
६५. नागसेन द्वारा भिक्षा-दान।
६६. नौका में नागकुमार का उपद्रव।
६७. कंबल-संबल देव की उत्पत्ति।
६८. महावीर का चक्रवर्तित्व।
६९. गोशालक की कुचेष्टाएं।
७०. कर्मकर द्वारा प्रहार।
७१. कटपूतना का उपद्रव।
७२. गोशालक का पुनः आगमन।
७३. बालतपस्वी वैश्यायन।
७४. गोशालक और वैश्यायन।
७५. गोशालक द्वारा नियतिवाद का ग्रहण।
७६. भगवान् की नौका-यात्रा।
७७. आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान।
७८. प्रतिमाओं की विशिष्ट साधना एवं पारणा।
७९. संगम देव द्वारा बीस मारणांतिक कष्ट।
८०. संगम देव के अन्य उपद्रव।
८१. इंद्रों द्वारा भगवान् की अर्चा एवं अन्य उपद्रव।
८२. चंदनबाला का उद्धार।
८३. भगवान् का सुमंगला आदि ग्रामों में आगमन।
८४. यक्षों द्वारा प्रश्न तथा इंद्र द्वारा कैवल्य की पूर्वसूचना।
८५. ग्वाले द्वारा कान में शलाका ठोकना।
८६. महावीर को कैवल्य-प्राप्ति।
८७. वृद्धा दासी और वणिक्।
८८. विनय और अविनय का फल।
८९. आचार्य द्वारा वैयावृत्य का प्रतिबोध (मरुक और वानर)।
९०. राग से होने वाला आयुष्य-भेद।
९१. स्नेह से आयुष्य-भेद।
९२. भय से आयुष्य-भेद (सोमिल ब्राह्मण)।

९३. त्वक् विष से आयुष्य-भेद।
९४. आचार्य वज्र का इतिवृत्त।
९५. आर्य वज्र का भक्तप्रत्याख्यान।
९६. दशपुर नगर की उत्पत्ति।
९७. आर्यरक्षित
९८. आनन्द श्रावक
९९. कामदेव श्रावक
१००. वल्कलचोरी
१०१. अनुकम्पा से सामायिक की प्राप्ति।
१०२. अकामनिर्जरा से सामायिक की प्राप्ति।
१०३. बाल-तपस्या से सामायिक की प्राप्ति। (इन्द्रनाग)
१०४. दान से सामायिक की प्राप्ति। (कृतपुण्य)
१०५. विनय से सामायिक की प्राप्ति। (पुष्पशालसुत)
१०६. विभंगज्ञान से सामायिक की प्राप्ति। (शिवऋषि)
१०७. संयोग-वियोग से सामायिक की प्राप्ति।
१०८. व्यसन (कष्ट) से सामायिक की प्राप्ति।
१०९. उत्सव से सामायिक की प्राप्ति।
११०. ऋद्धि से सामायिक की प्राप्ति। (दशार्णभद्र)
१११. सत्कार से सामायिक की प्राप्ति। (इलापुत्र)
११२. दमदन्त अनगार।
११३. मुनि मेतार्य
११४. कालकाचार्य से पृच्छा।
११५. चिलातक और सुंभुमा
११६. संक्षेप का उदाहरण।
११७. धर्मरुचि।
११८. तेतलिपुत्र।
११९. द्रव्य नमस्कार का फल।
१२०. अटवी में मार्गदर्शक।
१२१. अप्रशस्त राग (अर्हन्मित्र)
१२२. अप्रशस्त द्वेष (नाविक नंद और साधु)
१२३. परशुराम
१२४. सुभूम।
१२५. पांडु आर्य

१२६. सर्वांगसुंदरी
 १२७. माया विषयक शुक की कथा।
 १२८. लोभ विषयक लुब्धनन्द का उदाहरण।
 १२९. श्रोत्रेन्द्रिय के प्रति आसक्ति।
 १३०. चक्षु इन्द्रिय के प्रति आसक्ति।
 १३१. घ्राणेन्द्रिय के प्रति आसक्ति।
 १३२. रसनेन्द्रिय के प्रति आसक्ति।
 १३३. स्पर्शनेन्द्रिय के प्रति आसक्ति (सुकुमालिका)
 १३४. कर्मसिद्ध
 १३५. शिल्पसिद्ध (कोवकास वर्धकि)
 १३६. विद्यासिद्ध (खपुट आचार्य)
 १३७. मंत्रसिद्ध
 १३८. योगसिद्ध (आर्य समित)
 १३९. अर्थसिद्ध (मम्मण सेठ)
 १४०. यात्रासिद्ध (तुंडिक)

औत्पत्तिकी बुद्धि के दृष्टान्त

१४१. भरतपुत्र
 १४२. मेंढा
 १४३. कुक्कुट
 १४४. तिल
 १४५. बालुका
 १४६. हस्ती
 १४७. कूप
 १४८. वनषण्ड
 १४९. खीर
 १५०. बकरी
 १५१. मींगणियां
 १५२. पत्र
 १५३. गिलहरी
 १५४. पंच पिता
 १५५. पणित (शर्त)
 १५६. वृक्ष
 १५७. मुद्रिका

१५८. वस्त्र
 १५९. गिरगिट
 १६०. काक (१-३)
 १६१. उत्सर्ग
 १६२. गज
 १६३. भांड
 १६४. लाख
 १६५. स्तम्भ
 १६६. क्षुल्लक
 १६७. मार्गस्त्री
 १६८. पति
 १६९. पुत्र
 १७०. शहद का छत्ता
 १७१. मुद्रिका
 १७२. अंक
 १७३. नाणक
 १७४. भिक्षु
 १७५. बालक-निधान
 १७६. शिक्षाशास्त्र (धनुर्वेद)
 १७७. अर्थशास्त्र
 १७८. इच्छा
 १७९. शतसहस्र

वैनयिकी बुद्धि के दृष्टान्त

१८०. निमित्त
 १८१. अर्थशास्त्र (राजनीति)
 १८२. लेख, गणित
 १८३. कूप-खनन
 १८४. अश्व
 १८५. गर्दभ
 १८६. लक्षण
 १८७. ग्रन्थि (बुद्धि-परीक्षा)
 १८८. औषध (शतसहस्रवेधी विष)
 १८९. रथिक और गणिका

- १९०. गीली साड़ी
- १९१. नीव्रोदक (नेवे का पानी)
- १९२. बैल, अश्व और वृक्ष से पतन।

कार्मिकी बुद्धि का दृष्टान्त

- १९३. किसान की कला

पारिणामिकी बुद्धि की कथाएं

- १९४. अभयकुमार की बुद्धि
- १९५. श्रेष्ठी
- १९६. कुमार
- १९७. देवी
- १९८. उदितोदय
- १९९. साधु और नंदिषेण
- २००. धनदत्त
- २०१. श्रावक
- २०२. अमात्य
- २०३. क्षपक
- २०४. अमात्य-पुत्र (वरधनु)

- २०५. अमात्यपुत्र की परीक्षा
- २०६. स्थूलिभद्र
- २०७. सुंदरीनंद
- २०८. वज्रस्वामी
- २०९. चरणाहत
- २१०. आंवला
- २११. मणि
- २१२. खड्गि
- २१३. स्तूप
- २१४. तपःसिद्ध
- २१५. नमस्कार मंत्र की फलश्रुति
- २१६. नमस्कार मंत्र से कामनिष्पत्ति
- २१७. नमस्कार मंत्र से आरोग्यप्राप्ति
- २१८. परलोक में नमस्कार मंत्र का फल (चंडपिंगलक)
- २१९. जिनदत्त श्रावक और हुंडिकयक्ष
- २२०. द्रव्य प्रतिक्रमण (कुंभकार)
- २२१. भाव प्रतिक्रमण (मृगावती)
- २२२. प्रसन्नचंद्र राजर्षि

१. गोकुल का धनी कुचिकर्ण

इस भरतक्षेत्र के मगध जनपद में कुचिकर्ण नामक धनपति था। उसके पास अनेक गोकुल थे। उसने अपने गोकुलों को अनेक वर्गों में विभक्त कर उनके संरक्षण के लिए अलग-अलग ग्वालों की नियुक्ति कर दी। वे सब अपने-अपने गो-वर्ग को एक ही चारागाह में चराने के लिए ले जाते। विभिन्न गो-वर्ग की गाएं आपस में मिल जातीं। गायों की संख्या अधिक होने के कारण वे चरवाहे 'यह गाय मेरी है, तुम्हारी नहीं' इस प्रकार बोलकर आपस में कलह करने लगते। उनके इस कलह के कारण गायों के संरक्षण में प्रमाद होता और उस प्रमाद के कारण सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु गायों को मार डालते। उचित संरक्षण के अभाव में वे गाएं विषम दुर्गों या खाइयों में गिरकर अंगविहीन हो जातीं अथवा मर जातीं।

कुचिकर्ण गृहपति को जब यह स्थिति ज्ञात हुई तो उसने उन चरवाहों की असम्मूढता के लिए रंगों के आधार पर गायों को बांटकर भिन्न-भिन्न गायों के अलग-अलग गो-वर्ग बना दिए। काली, नीली, लाल, सफेद और चितकबरी गायों को रंगों के आधार पर तथा उनकी सींगों की आकृतियों के आधार पर उन्हें पृथक्-पृथक् गो-वर्गों में विभक्त कर ग्वालों को संरक्षण का भार दे दिया। अब वे ग्वाले अपनी गायों को पहचानने में संमूढ नहीं होते तथा कलह भी नहीं करते।'

२. कछुए का शोक

सेवाल से आच्छादित एक विशाल हृद था। उसमें अनेक जलचर जीव रहते थे। एक कछुआ उन जलचरों से व्यथित था। एक बार वह उस हृद में घूम रहा था। उसे सेवाल-पटल में एक छिद्र दिखाई दिया। उसने अपना मुंह उस छिद्र से बाहर निकाला और शरदपूर्णिमा की चांदनी का सुखद स्पर्श अनुभव किया। वह अपने परिवार को भी उस सुखद अनुभूति का आस्वाद कराने के लिए निमज्जन कर अपने परिवार को साथ लेकर वहां आया और सेवाल में छिद्र की खोज करने लगा। सेवाल के कारण छिद्र न मिलने पर वह शोक करने लगा।

३. दोष-निवारण

बसन्तपुर नगर में अगीतार्थ साधुओं का एक गच्छ रहता था। उनमें एक गीतार्थ साधु, जो श्रमण-गुणों से रहित था, प्रतिदिन सचित्त जल और आधाकर्मि आहार का सेवन करता था। संध्या के समय वह अपने दोषों की अत्यन्त संवेग के साथ आलोचना करता था। उस गच्छ के आचार्य अगीतार्थ थे अतः प्रायश्चित्त देते हुए कहते—'अहो! यह कितना पापभीरु साधु है। प्रतिसेवना करना सरल है पर स्पष्टता से आलोचना करना अत्यन्त कठिन है। यह कितनी सूक्ष्मता से अपने दोषों की आलोचना करता है। इसमें माया और शठता नहीं है अतः यह प्रतिसेवना करके भी शुद्ध है।' यह देख-सुनकर अन्य गीतार्थ श्रमण भी उसकी प्रशंसा करने लगे।

एक बार कोई गीतार्थ और संविग्न साधु विहार करते हुए वहां आया। उसकी प्रतिदिन की चर्या

देखकर उसने एक उदाहरण देते हुए कहा—‘गिरिनगर में कोई रत्नवणिक् था। वह अपने घर में रत्नों को भरकर उनमें आग लगा देता था। उसको देखकर सब लोग उसकी प्रशंसा करते कि अहो! यह धन्य है जो भगवान् अग्नि को इस प्रकार तर्पण देता है। एक दिन उसने घर में आग लगाई। वायु का वेग प्रबल होने के कारण घर के साथ सारा नगर जल गया। राजा ने जब यह बात सुनी तो उसने उसका सर्वस्व हरण कर लिया। दूसरे नगर में भी एक रत्नवणिक् ऐसा ही करता था। उस नगर के राजा ने जब यह बात सुनी तो उसका सर्वस्व हरण कर उसे देश निकाला देते हुए कहा—‘तुम अग्नि को अटवी में क्यों नहीं जलाते?’ संविग्न साधु आचार्य को प्रेरणा देते हुए बोला—‘जिस प्रकार उस प्रथम वणिक् ने अपने अवशेष धन को भी जला दिया उसी प्रकार तुम भी उसकी प्रशंसा करते हुए अन्य साधुओं को भी विनष्ट कर दोगे। यदि इसका निग्रह नहीं किया जाएगा तो अन्य साधु भी भ्रष्ट हो जाएंगे।’^१

४. जामाताओं की परीक्षा

एक नगर में एक ब्राह्मणी रहती थी। उसके तीन पुत्रियां थीं। वे सुखी कैसे रह सकती हैं इसलिए वह अपने जामाताओं की परीक्षा करना चाहती थी। एक दिन उसने बड़ी पुत्री को बुलाकर कहा—‘जब तेरा पति आए तब उसके सिर पर एड़ी से प्रहार करना।’ बड़ी लड़की ने वैसा ही किया। प्रहार से आहत होकर भी पति प्रसन्न रहा। वह पत्नी के पैर दबाने लगा। उसने अपनी पत्नी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया। उसने मां से सारी बात कही। मां बोली—‘बेटी! तुम जो करना चाहो, वह करो। पति तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ पाएगा।’ दूसरी बेटी को भी मां ने यही शिक्षा दी। उसने भी पति पर वैसा ही प्रहार किया। प्रहार से खिन्न होकर पति कुछ देर बड़बड़ाया और फिर शान्त हो गया। बेटी ने आकर मां को सारी बात बताई तो मां बोली—‘पुत्री! तुम भी विश्वस्त होकर रहो। तुम्हारा पति कुछ भी हो जाने पर बड़बड़ा कर शान्त हो जाएगा।’ तीसरी बेटी ने भी पति के सिर पर एड़ी से प्रहार किया। पति ने तत्काल रष्ट होकर उसको खूब पीटा और उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—‘क्या तुम निम्न कुल की हो, जो पति के साथ ऐसा बर्ताव करती हो?’ उसने अपनी मां को सारी बात बताई। मां बोली—‘बेटी! तुम अपने पति की देवता की भांति आराधना करना। उसको कभी छेड़ना मत।’ पुत्री को समझाकर वह ब्राह्मणी अपने जामाता के पास गयी और बोली—‘पुत्र! यह हमारा कुलधर्म है। तुम उसे बुरा मान गए।’ इस प्रकार अनुनय करके उसे अनुकूल बनाया।^२

५. गणिका की बुद्धिमत्ता

एक नगर में चौसठ कलाओं में निपुण एक गणिका रहती थी। उसका रतिगृह अत्यंत विशाल था। उसने दूसरों के भावों को जानने के लिए सब प्रकार के हाव-भाव वाली स्त्रियों के भित्तिचित्र बनवाए। वहां जो भी बड़ई आदि व्यापारी आते, वे जिस शिल्प की प्रशंसा करते गणिका उसके माध्यम से उनके भावों को जान जाती और तदनुरूप बर्ताव करती। तब वह आगन्तुक व्यक्ति उसके अनुकूल आचरण से प्रसन्न होकर

१. आवनि. ७५/१, आवचू. १ पृ. ७९, हाटी. १ पृ. ३५, मटी प. ८८।

२. आवचू. १ पृ. ८१, हाटी. १ पृ. ३७, मटी. प. ९२।

उसको प्रचुर धन प्रदान करता।^१

६. अमात्य की अनुप्रेक्षा

राजा और अमात्य—दोनों घोड़े पर सवार होकर घूमने निकले। चलते-चलते वे विषम भूमि में पहुँचे। दोनों घोड़े वहाँ रुके। राजा के घोड़े ने प्रस्रवण किया। छोटे से गढ़े में वह प्रस्रवण स्थिर हो गया। नगर की ओर लौटते हुए राजा उसी रास्ते से आया। उसने उस स्थान (जहाँ अश्व ने मूत्र किया था) को ध्यान से देखा और मन ही मन सोचा कि यहाँ तालाब हो तो अच्छा रहेगा। पानी स्थिर रह सकेगा। उसने अमात्य से कुछ नहीं कहा। अमात्य इंगित और आकार का जानकार था। उसने राजा के मनोभावों को जान लिया और कुछ ही समय में राजा को ज्ञात किए बिना ही वहाँ एक बड़े तालाब को खुदवाकर उसके चारों ओर सुन्दर बगीचे का निर्माण करा दिया। कुछ समय पश्चात् राजा अमात्य के साथ उसी रास्ते से अश्ववाहनिका के लिए निकला। मार्गगत सुन्दर और सुरम्य तालाब को देखकर राजा ने अमात्य से पूछा—‘यह तालाब किसने खुदवाया है?’ अमात्य बोला—‘राजन्! यह आपने ही खुदवाया है।’ राजा ने पूछा—‘मैंने कैसे?’ अमात्य बोला—‘आपने इस स्थान को बहुत ध्यानपूर्वक देखा था। मैंने आपके मनोभाव को जानकर यह काम करवाया है।’ राजा मंत्री की दूसरे के चित्त को जानने की कला से बहुत प्रभावित हुआ। उसने प्रसन्न होकर अमात्य का वेतनवृद्धि तथा पारितोषिक द्वारा संवर्धन किया।^२

७. विनीत-अविनीत का परीक्षण

कान्यकुब्ज नगर में किसी राजा ने आचार्य के साथ गोष्ठी की। उस गोष्ठी में राजा ने कहा—‘राजपुत्र विनीत हैं।’ आचार्य ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—‘साधु अधिक विनीत होते हैं क्योंकि लौकिक विनय से लोकोत्तर विनय अधिक बलवान् होता है।’ विवाद होने पर आचार्य बोले—‘तुम्हारा जो सबसे अधिक विनीत राजकुमार हो उसकी परीक्षा की जाए और हमारे साधुओं में आपको जो सबसे अधिक अविनीत प्रतीत हो, उस साधु की परीक्षा की जाए।’ राजा ने यह बात स्वीकार कर ली।

राजा को जो राजकुमार सबसे अधिक विनीत प्रतीत हुआ, उसे आदेश देते हुए कहा—‘देखकर आओ कि गंगा किधर बह रही है?’ राजकुमार ने उत्तर दिया—‘इसको क्या देखना है? यह बात तो एक बालक भी बता देगा कि गंगा पूर्व दिशा की ओर बह रही है।’ राजा ने कहा—‘तुम यहीं खड़े रहकर क्यों बोल रहे हो, जाकर देख आओ कि गंगा किधर बह रही है?’ तब मन ही मन क्रोधित होता हुआ वह बहुत मुश्किल से उस स्थान से बाहर गया। मुख्यद्वार पर उसके किसी मित्र ने पूछा—‘मित्र! तुम कहां जा रहे हो?’ उसने क्रोध में आकर कहा—‘जंगल में रोझ को नमक देने जा रहा हूँ।’ मित्र ने पूछा—‘क्या बात है, तुम इतने क्रोधित क्यों हो?’ राजकुमार ने अपने मित्र को राजा का आदेश सुना दिया। मित्र बोला—‘राजा को ग्रह लग गया तो क्या तुम भी ग्रह से आविष्ट हो जाओगे? जाकर राजा को निवेदन कर दो कि मैंने देख लिया है कि गंगा पूर्व की ओर बह रही है।’ राजकुमार ने गंगातट पर गए बिना ही राजा को बता दिया। राजा

१. आवचू. १ पृ. ८१, हाटी. १ पृ. ३७, मटी. प. ९२, चूर्णि में इस कथा का संकेत मात्र है।

२. आवचू. १ पृ. ८१, हाटी. १ पृ. ३७, मटी. प. ९२, चूर्णि में इस कथा का संकेत मात्र है।

ने प्रच्छन्न रूप से भेजे गए प्रहरी से यथार्थ स्थिति को जान लिया।

राजा ने आचार्य से कहा—‘ठीक है, अब साधु की परीक्षा की जाए।’ राजा ने अविनीत प्रतीत होने वाले साधु की ओर इशारा किया। आचार्य ने उसे बुलाकर आदेश दिया—‘गंगातट पर देखकर आओ कि गंगा किधर बह रही है?’ साधु ने सोचा कि गुरु के मुख से सुना है कि गंगा पूर्व की ओर बहती है फिर भी गुरु ने कुछ सोच-समझकर आदेश दिया होगा। ऐसा निश्चय कर वह गंगातट पर गया। वहां गंगा को पूर्वाभिमुख देखा। उसने लोगों से भी इस संदर्भ में पूछा तथा सूखे तृण को गंगा में प्रवाहित करके अन्वय-व्यतिरेक से जान लिया कि गंगा पूर्व की ओर बह रही है। वहां से आकर उसने गुरु को निवेदन किया कि गंगा पूर्वाभिमुख बहती है। प्रच्छन्न रूप से भेजे गए राज-प्रहरियों ने भी यथार्थ स्थिति की अवगति राजा को दी। राजा ने सहर्ष आचार्य की बात को स्वीकार कर लिया।^१

८. चित्रकार

साकेत नगर के उत्तरपूर्व में सुरप्रिय नामक यक्षायतन था। वहां सुरप्रिय यक्ष की प्रतिमा थी, जो अतिशयधारी थी। वह प्रतिमा प्रतिवर्ष चित्रित होती थी। उस अवसर पर धूमधाम से उत्सव मनाया जाता था। जो चित्रकार उसको चित्रित करता, वह यक्ष द्वारा मार दिया जाता था। यदि यक्ष का चित्र नहीं किया जाता तो यक्ष उस नगर में जनमारी फैला देता, जिससे अनेक लोग मारे जाते थे। उसके आतंक से सभी चित्रकार एक-एक कर नगर से पलायन करने लगे। राजा तक यह बात पहुंची। राजा ने सोचा—‘यदि सभी चित्रकार नगर से चले जाएंगे तो यह यक्ष चित्रित न होने पर हमारा वध कर देगा।’ राजा ने तब सभी चित्रकारों की एक सूची तैयार की और उनके नाम पृथक्-पृथक् पत्रों में लिखकर, सभी पत्रों को एक घट में डाल दिया। राजा ने कहा—‘इस घट से प्रतिवर्ष नामांकित एक-एक पत्र निकाला जाएगा। जिसका नाम उस पर होगा, उसको यक्ष का चित्र बनाना होगा।’ सबने यह बात स्वीकार कर ली। काल बीतने लगा।

एक बार कौशाम्बी नगरी के एक चित्रकार का लड़का घर से पलायन कर साकेत नगर में चित्रकारी सीखने आ पहुंचा। वह घूमता हुआ साकेत नगर के एक चित्रकार के घर में ठहरा। उस घर में एक वृद्धा रहती थी। उसका एकमात्र पुत्र चित्रकार था। वह आगंतुक युवक वहां रहा और दोनों में गाढ़ मित्रता हो गई। उस वर्ष वृद्धा के पुत्र चित्रकार की बारी आ गई। वृद्धा ने जब यह जाना तो वह बहुत विलाप करने लगी। उसको विलाप करते देखकर कौशाम्बी से समागत चित्रकार-पुत्र ने पूछा—‘मां! तुम रो क्यों रही हो?’ वृद्धा ने उसे सारी बात बताई। उसने कहा—‘मां! तुम रोओ मत। मैं उस यक्ष को चित्रित करूंगा।’ वृद्धा बोली—‘क्या तुम मेरे पुत्र नहीं हो?’ वह बोला—‘मां! मैं तुम्हारा ही पुत्र हूं, फिर भी मैं यक्ष को चित्रित करूंगा। तुम सब प्रसन्न रहो।’

समय पर उसने दो दिन की तपस्या की और नया वस्त्र-युगल धारण कर, आठ पटल वाले वस्त्र को मुंह पर बांध, शुद्ध होकर यक्षायतन में गया। उसने जलभृत नए कलशों से मूर्ति को स्नान कराया और नए कूर्चक तथा नए मल्लक संपुटों से आश्लिष्ट रंगों से यक्ष को चित्रित किया। फिर श्रद्धापूर्वक यक्ष के चरणों में लुठकर बोला—‘हे देव! आप मेरे अपराध को क्षमा करें।’ प्रसन्न होकर यक्ष ने कहा—‘वरदान

१. आवचू. १ पृ. ८२, मटी. प. ९२, ९३, चूर्णि और हाटी में इस कथा का संकेत मात्र है।

मांगो।' उस चित्रकार ने कहा—'आप मुझे यह वरदान दें कि अब आगे से आप किसी को नहीं मारेंगे।' यक्ष बोला—'ठीक है। जैसे मैंने तुमको नहीं मारा, वैसे ही दूसरों को भी नहीं मारूंगा और कुछ वरदान मांगो।' तब वह बोला—'जिस द्विपद, चतुष्पद अथवा अपद के शरीर का एक अंश भी मैं देख लूं तो उसका यथार्थ चित्रांकन कर सकूँ—ऐसा मुझे वरदान दें।' यक्ष ने 'तथास्तु' कहकर उसे वह वरदान भी दे दिया। वरदान प्राप्त करने पर राजा ने उसका सम्मान किया। वह वहां से कौशाम्बी चला गया।

कौशाम्बी नगरी के राजा शतानीक ने एक दिन सुखासीन होकर अपने दूत से पूछा—'मेरे पास ऐसी कौन सी वस्तु नहीं है, जो अन्य राजाओं के पास है?' दूत बोला—'राजन्! आपके पास चित्रसभा नहीं है।' नीतिकारों का कथन है कि देवों की कार्यसिद्धि मन से चिन्तन करने मात्र से और राजाओं की कार्यसिद्धि वचनमात्र से हो जाती है—'मणसा देवाणं, वायाए पत्थिवाणं।' राजा ने तत्काल चित्रकारों को आमंत्रित किया। नगर के मुख्य चित्रकार आ गए। राजा ने चित्रसभा के लिए प्रायोजित भवन के पृथक्-पृथक् विभाग कर एक-एक चित्रकार को चित्र बनाने के लिए एक-एक विभाग सौंप दिया। वरदान प्राप्त चित्रकार को राजा के अन्तःपुर के क्रीड़ा-प्रदेश वाला भाग सौंपा गया। सभी चित्रकार अपने-अपने विभाग में चित्र करने लगे। वरदानप्राप्त चित्रकार भी क्रीड़ा-प्रदेश में यथानुरूप चित्र बनाने लगा। एक बार उसने जाली के अन्दर से महारानी मृगावती के पैर का अंगूठा देख लिया। उसने जान लिया कि यही रानी मृगावती है। उसने अंगुष्ठ के आधार पर महारानी का यथार्थ रूप चित्रित कर दिया। वह महारानी की खुली आंखें चित्रित कर रहा था। उस समय काले वर्ण की एक बूंद चित्रगत मृगावती की जंघा पर गिर पड़ी। चित्रकार ने उसे पोंछ डाला। चित्रांकन करते समय पुनः एक बूंद वहीं गिरी। चित्रकार ने उसे भी पोंछ डाला। तीन बार ऐसा ही हुआ। तब चित्रकार ने सोचा कि रानी की जंघा पर ऐसा चिह्न होना ही चाहिए। उसने जंघा पर वैसा ही चिह्न कर दिया।

सभी चित्रकारों ने अपना-अपना कार्य पूरा कर दिया। चित्रसभा निर्मित हो गई। राजा चित्रसभा देखने आया। अवलोकन करते-करते वह चित्रित क्रीड़ा-प्रदेश पर पहुंचा। उसने मृगावती का चित्र देखा। जंघा पर उस काले चिह्न को देखकर वह रुष्ट हो गया। उसकी भाँहें तन गईं। उसने मन ही मन सोचा—'इस चित्रकार ने मेरी पत्नी से समागम किया है, अन्यथा यह चिह्न उसे कैसे ज्ञात होता?' यह सोचकर राजा ने उस चित्रकार के वध की आज्ञा दे दी। सभी चित्रकार राजा के पास आकर बोले—'राजन्! यह चित्रकार वरदान प्राप्त है। यह एक अवयव को देखकर पूरे रूप का चित्रण कर सकता है।' तब राजा ने परीक्षा के लिए एक कुब्जा को बुला भेजा और उसका केवल मुख चित्रकार को दिखाया। उसने उसके आधार पर कुब्जा का पूरा रूप बना दिया। फिर भी राजा ने चित्रकार के दाएं हाथ के अंगुष्ठ और तर्जनी के अग्रभाग का छेदन करवाकर उसको देश-निकाला दे दिया।

चित्रकार पुनः यक्षावतन में गया और एक उपवास कर यक्ष की आराधना की। यक्ष ने प्रसन्न होकर कहा—'जाओ, तुम अपने बाएं हाथ से भी पूर्ववत् चित्र बना सकोगे।' चित्रकार को वरदान मिल गया। उसके मन में महाराज शतानीक के प्रति प्रद्वेष हो गया। उसने सोचा—'शतानीक का शत्रु महाराजा प्रद्योत

है अतः उसे उत्तेजित करना चाहिए। यह सोचकर चित्रकार ने एक फलक पर मृगावती का सुन्दर चित्र बनाया और उसे महाराजा प्रद्योत को दिखाया। प्रद्योत ने पूछा—‘यह किसका चित्र है?’ चित्रकार ने पूरी बात बताई। महाराजा प्रद्योत ने दूत को भेजकर शतानीक से मृगावती की मांग करते हुए कहा—‘यदि तुम मृगावती को नहीं सौंपोगे तो मैं तुम्हारे राज्य पर आक्रमण कर दूंगा।’ दूत कौशाम्बी गया और महाराजा शतानीक को प्रद्योत की बात कही। शतानीक ने दूत का तिरस्कार कर, उसे फटकार कर निकाल दिया। दूत प्रद्योत के पास आया। सारी बात सुनकर प्रद्योत अत्यन्त कुपित हो गया और उसने अपने सैन्यबल के साथ कौशाम्बी की ओर प्रयाण कर दिया।

महाराजा शतानीक का सैन्यबल कम था। उसने जब आक्रमण की बात सुनी तो वह अतिसार के रोग से ग्रस्त हो गया और उसकी तत्काल मृत्यु हो गई। तब महारानी मृगावती ने सोचा—‘मेरा पुत्र अभी बालक है। आक्रान्ता महाराजा प्रद्योत इसको मार न डाले। यह अभी उसका सामना करने में समर्थ नहीं है। मृगावती ने तब दूत भेजकर महाराजा प्रद्योत से कहलवाया—‘मेरा कुमार बालक है। हमारे चले जाने पर कोई सामन्त राजा आक्रमण कर इस नगर को बरबाद कर देगा।’ प्रद्योत ने कहलवाया—‘मेरे रहते कौन राजा इस पर आक्रमण कर पाएगा?’ मृगावती ने कहलाया—‘सिरहाने सर्प है और सौ योजन की दूरी पर विषवैद्य हो तो वह क्या कर पायेगा? इसलिए यह आवश्यक है कि पहले नगरी को मजबूत बनाया जाए।’ प्रद्योत बोला—‘ऐसा ही करवा दूंगा।’ मृगावती ने कहा—‘उज्जयिनी की ईंटें बहुत मजबूत होती हैं, उनसे परकोटा बनवाओ। प्रद्योत ने स्वीकार कर लिया। चौदह राजा उसके अधीनस्थ थे। उनकी सेनाओं को इस कार्य के लिए नियुक्त कर दिया और एक-एक पुरुष की परंपरा से उज्जयिनी की ईंटें कौशाम्बी पहुंच गईं। उन ईंटों का परकोटा कर नगर को सुदृढ़ बना डाला। फिर मृगावती ने प्रद्योत से कहा—‘अब नगरी को धन से समृद्ध करो।’ प्रद्योत ने वैसा ही किया। अब कौशाम्बी आक्रमण का प्रतिरोध करने में सक्षम हो गई। तब मृगावती ने प्रद्योत की मांग को ठकुराते हुए सोचा—‘वे सभी ग्राम, नगर, सन्निवेश आदि धन्य हैं, जहां भगवान् महावीर विहरण करते हैं। यदि भगवान् यहां पधारें तो मैं प्रव्रजित हो जाऊंगी।’ भगवान् वहां समवसृत हुए। सारे वैर उपशान्त हो गए।

भगवान् का धर्मोपदेश चल रहा था। एक व्यक्ति ने भगवान् को सर्वज्ञ जानकर मन ही मन प्रच्छन्न रूप से एक प्रश्न पूछा। भगवान् ने जान लिया। वे बोले—‘देवानुप्रिय! स्पष्टरूप से सबके सामने पूछो, अन्यान्य लोग भी इस प्रश्न को सुनकर संबोध प्राप्त करेंगे।’ तब उस व्यक्ति ने पूछा—जा सा सा सा? भगवान् ने प्रश्न स्वीकार कर लिया। गौतमस्वामी ने तब पूछा—‘भगवन्! इस व्यक्ति ने जो जा सा सा सा कहा, इसका तात्पर्य क्या है?’ तब भगवान् ने उसकी ‘उत्थानपर्यायनिका’ का पूरा कथन करते हुए कहा—

चंपा नगरी में एक स्वर्णकार रहता था। वह स्त्रीलोलुप था। वह पांच-पांच सौ स्वर्णमुद्राएं देकर सुन्दर कन्या से विवाह कर लेता था। इस प्रकार उसने पांच सौ कन्याओं के साथ विवाह कर लिया। उसने प्रत्येक के लिए तिलक प्रमुख चौदह-चौदह स्वर्णालंकार बनवाए। जिस दिन जिस कन्या के साथ वह भोग भोगता उसको वे अलंकार देता, शेष काल में नहीं। वह बहुत शंकालु था। घर को कभी खाली नहीं छोड़ता था और दूसरों को घर में आने नहीं देता था। एक बार एक मित्र ने उसको भोज का निमंत्रण दिया। वह मित्र

के घर जाना नहीं चाहता था, फिर भी मित्र बलपूर्वक उसे भोजन के लिए घर ले गया। जब वह घर से चला गया तब उन पांच सौ कन्याओं ने सोचा—‘हमें उस स्वर्णकार से क्या प्रयोजन? आज हम यथेच्छ स्नान आदि कर स्वर्णालंकार धारण करें।’ सभी ने उद्वर्तन किया। स्नान कर उन चौदह प्रकार के अलंकारों को पहन कर सभी कन्याएं कांच में अपना रूप निहारती हुई बैठ गईं।

इतने में ही वह स्वर्णकार मित्र के घर से भोजन कर आ पहुंचा। उसने कन्याओं को देखा। अत्यंत रुष्ट होकर उसने एक को इतना पीटा कि वह मर गई। दूसरी विवाहित कन्याओं ने सोचा, यह हम सबको इसी प्रकार एक-एक कर मार डालेगा। अच्छा है, हम सब अपने-अपने कांच से मारकर इसको ढेर कर दें। सभी ने एक साथ उस पर कांच फेंके। चार सौ निन्यानवे कांचों की मार से वह स्वर्णकार वहीं मर गया। वहां कांचों का ढेर हो गया। फिर उन सभी को पश्चात्ताप हुआ कि पतिमारक स्त्रियों की क्या गति होगी? संसार में हमें अवहेलना सहन करनी पड़ेगी। यह सोच घर के कपाटों को बंद कर चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर उन सभी ने अपनी-अपनी जीवन-लीला समाप्त कर ली। पश्चात्ताप तथा करुणा के कारण अकामनिर्जरा के फलस्वरूप वे सभी मनुष्यरूप में उत्पन्न हुईं। अवस्था प्राप्त करने पर वे पांच सौ चोर बन गए और एक पर्वत पर रहने लगे। स्वर्णकार ने भी मर कर तिर्यञ्च योनि में जन्म लिया। स्वर्णकार ने जिस कन्या की हत्या पहले की थी, वह भी मर कर तिर्यञ्च योनि में गई। फिर वहां से मर कर वह एक ब्राह्मणकुल में बालक बनी। बालक पांच वर्ष का हुआ। उस स्वर्णकार का जीव भी तिर्यञ्चयोनि से उसी ब्राह्मणकुल में एक लड़की के रूप में उत्पन्न हुआ। वह बालक उस कन्या को उठाकर खेलता था, क्रीडा करता था। वह कन्या निरंतर रुदन करती तब वह ब्राह्मणपुत्र उसके उदर को पंपोलता। एक बार उसका हाथ लड़की की योनि को छू गया। लड़की ने रोना बंद कर दिया। लड़के ने सोचा कि मुझे उपाय मिल गया। अब जब कभी लड़की रोती, लड़का उसकी योनि पर धीरे से हाथ फेरता। माता-पिता को यह ज्ञात हुआ। तब उन्होंने बालक को पीटा और उपालंभ दिया। लड़की बड़ी हुई तब वह घर से भाग गई। लड़का भी घर से पलायन कर गया। दुर्जनों के सहवास से उस लड़के का आचार खराब हो गया। वह उस चोरपल्ली में पहुंचा, जहां वे चार सौ निन्यानवे चोर रहते थे। वह लड़की भी अकेली घूमती हुई एक गांव में पहुंची। उसी गांव में उन चोरों ने धावा बोला। उन चोरों ने उसको पकड़ लिया और पांच सौ चोर उसका उपभोग करने लगे। उन सब चोरों को यह आश्चर्य हुआ कि यह अकेली इतने चोरों को कैसे सहन कर पा रही है? यदि दूसरी स्त्री प्राप्त हो जाए तो बेचारी इसको छुटकारा मिल सकता है, विश्राम मिल सकता है। एक बार चोरों ने किसी दूसरी स्त्री को प्राप्त कर लिया। वे उसे अपनी पल्ली में ले आए। उसी दिन से वह ब्राह्मणपुत्री उसके छिद्र देखने लगी और सोचने लगी कि किस उपाय से इसको मारा जाए। एक दिन उसने उससे कहा—‘देख, कूंए में कुछ दीख रहा है क्या?’ वह कूंए में देखने लगी। उसको पीछे से धक्का मार कूंए में गिरा दिया। चोरों ने उससे पूछा—‘वह कहाँ गई?’ तब उस ब्राह्मणपुत्री ने कहा—‘अपनी स्त्री की सार-संभाल क्यों नहीं करते?’ चोरों ने सोचा—‘इसी ने उसको मारा है। तब उस चोर बने ब्राह्मणपुत्र ने मन ही मन निश्चय कर डाला कि यह पापकर्म करने वाली मेरी भगिनी ही है। भगवान् महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, यह सुनकर वह ब्राह्मणपुत्र महावीर के समवसरण में उपस्थित हुआ। उसने ही भगवान् से पूछा—‘जा

सा सा सा' भगवान् ने कहा—'वह तुम्हारी भगिनी ही थी।' उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह प्रव्रजित हो गया। भगवान् ने 'जा सा सा सा' का स्पष्टीकरण कर दिया। यह बात सुनकर परिषद् भी संवेग को प्राप्त हो गई।

रानी मृगावती भगवान् के चरणों में उपस्थित होकर बोली—'भंते! मैं महाराजा प्रद्योत से पूछकर आपके पास प्रव्रजित होना चाहती हूँ।' महारानी ने उस समवसरण में उपस्थित प्रद्योत से पूछा। देव और मनुष्यों से युक्त उस महान् परिषद् में प्रद्योत किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। वह नकारने में असमर्थ रहा। उसने मृगावती को प्रव्रज्या की अनुमति दे दी। तब मृगावती अपने पुत्र उदयनकुमार को धरोहर की भांति महाराज प्रद्योत को सौंपकर प्रव्रजित हो गई। प्रद्योत की अंगारवती आदि प्रमुख आठ रानियां भी दीक्षित हुईं। मुनि बने उस ब्राह्मणपुत्र ने पांच सौ चोरों को संबोध दिया और सबको प्रव्रजित कर दिया।^१

९. (अ) अंधा और पंगु

एक महानगर में आग लग गयी। वहां दो अनाथ थे, जिनमें एक अंधा था और दूसरा पंगु। पंगु पलायनमार्ग को जानता हुआ भी चलने की असमर्थता के कारण अग्नि से जल गया। अंधा चलने का सामर्थ्य रखने पर भी पलायन मार्ग को नहीं देखने के कारण अग्नि से भरे एक गड्ढे में गिरकर जल गया।^२

(ब) अंधा और पंगु

राजा के भय से नागरिक लोग एक अरण्य में इक्कट्टे हो गए। वहां से भी डाकू के भय से वे लोग वाहनों को छोड़कर भाग गए। वहां दो अनाथ थे, जिनमें एक अंधा था तथा दूसरा पंगु। अरण्य में दावाग्नि लग गयी। अंधा व्यक्ति अग्नि वाले मार्ग से जाने लगा तब पंगु ने कहा—'भाई! तुम उधर मत जाओ क्योंकि उधर अग्नि है।' अंधे ने पूछा—'फिर मैं किधर जाऊँ?' पंगु ने कहा—'मैं आगे अधिक दूर का मार्ग देखने में समर्थ नहीं हूँ क्योंकि मैं पंगु हूँ अतः चल नहीं सकता। तुम मुझे अपने कंधे पर बिठा लो जिससे सांप, कांटे, अग्नि आदि मार्ग-दोषों से रक्षा करता हुआ तुम्हें सुखपूर्वक नगर में प्रवेश करवा दूंगा।' अंधे ने पंगु की बात स्वीकार कर ली और वे दोनों सकुशल अपने नगर पहुंच गए।^३

१०. कुब्जा

प्रतिष्ठान नगर में 'शातवाहन' नामक राजा राज्य करता था। वह प्रतिवर्ष भृगुकच्छ नगर में नरवाहन राजा पर चढ़ाई करता और वर्षाश्रुत प्रारम्भ होने पर अपने नगर में लौट आता था। एक बार भृगुकच्छ जाते हुए राजा ने आस्थानमंडप में थूक दिया। उसके पास छत्रधारिणी एक कुब्जा स्त्री थी। थूकने के कारण उसने जाना कि अब यह भूमि अपरिभोग्य हो गई है। राजा कहीं अन्यत्र जाना चाहता है। राज्य का यानशालिक उस कुब्जा से परिचित था। उसने राजा का अभिप्राय यानशालिक को बताया। उस यानशालिक ने यान-

१. आवचू. १ पृ. ८७-९१, हाटी. १ पृ. ४२-४५, मटी. प. १०१-१०४।

२. आवनि. ९५, आवचू. १ पृ. ९६, हाटी. १ पृ. ४७, मटी. प. १०९।

३. आवनि. ९६, हाटी. १ पृ. ४८, मटी. प. १०९, ११०।

४. हाटी. और मटी. में शालिवाहन राजा का उल्लेख मिलता है।

वाहनों को साफ कर, प्रक्षित कर उन्हें प्रस्थित कर दिया। यह देखकर शेष सेना ने भी प्रस्थान कर दिया। राजा रथ में अकेला बैठा था। उसने धूल आदि के भय से प्रातः जाने की बात सोची। उसने देखा कि सारी सेना प्रस्थित हो चुकी है। उसने मन ही मन विचार किया कि मैंने किसी से कुछ नहीं कहा, फिर इन लोगों ने मेरे मन की बात कैसे जानी? उसने गवेषणा की। एक-दूसरे से पूछते-पूछते अंत में बात कुब्जा पर आकर टिकी। राजा ने कुब्जा को बुलाकर उससे कारण पूछा। उसने राजा के सामने यथार्थ बात बता दी।^१

११. स्वाध्याय

एक मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में सूत्र का स्वाध्याय कर रहा था। जल्दी-जल्दी आगम-पाठों का पुनरावर्तन करते-करते काल अतिक्रान्त हो गया। उसे इसका भान नहीं रहा। एक सम्यग्दृष्टि देव ने सोचा—‘किसी मिथ्यादृष्टि देव से यह छला न जाए इसलिए मुनि के हितार्थ उसने ग्वालिन का रूप बनाया। सिर पर छाछ से भरा घड़ा लेकर ‘छाछ लो, छाछ लो’ की आवाज देती हुई वह वहां से निकली। उसने मुनि के उपाश्रय के पास अनेक बार आवागमन किया। स्वाध्याय में बाधा पड़ने से मुनि ने स्वाध्याय को क्षणिक विराम देकर उससे कहा—‘अरे! क्या यह छाछ बेचने की वेला है?’ उस ग्वालिन ने पूछा—‘मुने! क्या यह आगम-स्वाध्याय की वेला है?’ साधु ने जब अस्वाध्याय-काल को जाना तब ‘मिच्छामि दुक्कडं’ किया। देवता ने मुनि को प्रेरणा देते हुए कहा—‘आगे से अकाल में स्वाध्याय मत करना अन्यथा कोई भी मिथ्यादृष्टि देवता तुमको छल सकता है।’ देवता की बात सुनकर मुनि सजग हो गए।^२

१२. बधिरोल्लाप

एक गांव में एक कुटुम्ब के सारे सदस्य बधिर थे। वह बधिर कुटुम्ब के नाम से प्रसिद्ध था। उसमें चार सदस्य थे—माता, पिता, पुत्र और पुत्रवधू। पुत्र खेत में हल जोतता था। एक दिन एक पथिक ने उससे मार्ग पूछा। उसने प्रत्युत्तर में कहा—‘ये दोनों बैल मेरे घर में ही पैदा हुए हैं।’ कुछ समय पश्चात् उसकी भार्या भोजन लेकर आई। पति बोला—‘इन दोनों बैलों के सींग तीखे हैं।’ वह बोली—‘भोजन में नमक है या नहीं, मैं नहीं जानती। तुम्हारी मां ने ही भोजन पकाया है।’ उसने घर आकर अपनी सास से कहा कि आपके पुत्र ने नमक की बात कही है। उसने सोचा यह मोटा कपड़ा कातने की बात कह रही है। सास बोली—‘कपड़ा मोटा हो या खरदरा, स्थविर के अधोवस्त्र के रूप में काम आ जाएगा।’ सास ने स्थविर को बुलाकर कहा कि यह मोटा कपड़ा आपके अधोवस्त्र के काम आएगा। वह स्थविर तिल की सुरक्षा कर रहा था, उसने सोचा यह मुझे तिल खाने की बात पूछ रही है। वह बोला—‘मैं शपथपूर्वक कहता हूँ कि मैंने एक भी तिल नहीं खाया।’ यह अननुयोग का उदाहरण है।^३

१३. ग्रामीण

एक नगर में पति-पत्नी रहते थे। उनके एक पुत्र था। अचानक पति की मृत्यु हो गई। पत्नी अपनी

१. आवनि ११८, आवचू. १ पृ. १०९, हाटी. १ पृ. ५९, ६०, मटी. प. १३३, बृभाटी. पृ. ५२।

२. आवनि ११८, आवचू. १ पृ. ११०, हाटी. १ पृ. ६०, मटी. प. १३३, १३४, बृभाटी. पृ. ५३।

३. आवनि ११८, आवचू. १ पृ. ११०, हाटी. १ पृ. ६०, मटी. प. १३४, बृभाटी. पृ. ५३।

आजीविका के लिए लकड़ियों का गट्टर लाती, बेचती और जीवन चलाती थी। लोग मेरी निंदा करेंगे, इस भय से वह एक दिन अपने पुत्र को लेकर अन्यत्र चली गई। लड़का जब बड़ा हुआ तो उसने अपनी मां से पूछा—‘मेरे पिता कहां हैं?’ मां बोली—‘तुम्हारे पिता स्वर्गस्थ हो गए हैं।’ उसने पुनः पूछा—‘मां! वे अपनी आजीविका कैसे चलाते थे?’ मां बोली—‘बेटे! वे दूसरों की सेवा करते थे।’ पुत्र ने मां से कहा—‘मैं भी सेवक बनूंगा।’ मां बोली—‘वत्स! तुम नहीं जानते कि सेवा कैसे की जाती है? सेवक कैसे बना जाता है? यदि तुम विनय करोगे तो तुम भी सेवा कर सकते हो?’ पुत्र ने पूछा—‘कैसा विनय करूं?’ मां ने कहा—‘वत्स! सुनो, स्वामी की जय-जयकार करना, उनको बड़ा मानना, स्वयं को नीचा मानना तथा उनकी इच्छानुकूल कार्य करना विनय है।’

बेटे ने मां की बात सुनी और वह सेवक बनने की धुन में एक नगर की ओर चल पड़ा। मार्ग में उसने देखा कि एक स्थान पर अनेक शिकारी मृगों को पकड़ने के लिए छुप कर बैठे हैं। उसने बादस्वर से उनका जय-जयकार किया। उसके शब्दों को सुनकर सारे मृग पलायन कर गए। शिकारी बाहर आए और उसको पीटने लगे। उसने यथार्थ रूप से सारी बात बता दी। शिकारी बोले—‘देखो, जब तुम्हें ऐसा अवसर प्राप्त हो तो तुमको धीरे-धीरे छुपते हुए जाना चाहिए, जोर से नहीं बोलना चाहिए। यदि कुछ कहना ही हो तो धीरे बोलना चाहिए।’

वह आगे बढ़ा। एक स्थान पर उसने धोबियों को कपड़े धोते देखा। उनको देखते ही वह छुपते हुए धीरे-धीरे कदम बढ़ाते हुए चलने लगा। उन रजकों के वस्त्र कभी-कभी चोरी हो जाते थे। वे अपने स्थान को सीमाबद्ध कर वस्त्रों की रक्षा करते थे। उन्होंने जब इसको धीरे-धीरे, छुपते-छुपते आते देखा तो उन्हें चोर की आशंका हुई। वे आए और उसे चोर समझकर बांध कर पीटा। उसने गिड़गिड़ाते हुए उन्हें वस्तुस्थिति बतलाई। उन्होंने उसे बंधनमुक्त कर दिया और शिक्षा देते हुए कहा—‘ऐसे अवसरों पर कहना चाहिए कि शुद्ध हो जाए, रिक्त हो जाए।’

आगे चलते हुए उसने देखा कि अनेक कृषक बीज बो रहे थे। उन्हें देखकर वह बोला—‘शुद्ध हो जाए, रिक्त हो जाए।’ यह सुनकर कृषकों ने उसे पकड़ कर पीटा। यथार्थ बात कहने पर उसे मुक्त करते हुए उन्होंने कहा—‘ऐसे अवसरों पर यह कहना चाहिए कि ऐसे बहुत हो, सारी गाड़ी भर जाए।’

आगे चलने पर उसने देखा कि अनेक व्यक्ति एक मृतक को उठा कर ले जा रहे थे। उनके पास जाकर वह बोला—‘ऐसे बहुत हैं, इससे सारी गाड़ी भर जाए।’ यह सुनकर उन लोगों ने उसे खूब पीटा। यथार्थ बात कहने पर लोगों ने उसे छोड़ दिया और समझाया कि ऐसी स्थिति पर यह कहो कि ऐसे अवसरों का अत्यंत वियोग होना चाहिए।

आगे बढ़ने पर उसे एक विवाह की टोली मिली। उसने उस टोली को देखते ही कहा—‘ऐसे अवसरों का अत्यंत वियोग होना चाहिए।’ ऐसे अशुभ शब्दों को सुनकर लोगों ने उसे पीटा। रोते-रोते उसने सही बात बताई। उन्होंने कहा—‘ऐसे शुभ अवसरों पर अशुभ वचन नहीं बोलने चाहिए। इस स्थिति में कहना चाहिए कि ऐसा अवसर बार-बार देखने को मिले तथा यह स्थिति सदा बनी रहे।’

वह आगे बढ़ा। मार्ग में आरक्षिक पुरुष एक कैदी को सांकल से बांधकर ले जा रहे थे। उसको

देखते ही वह बोल पड़ा—‘ऐसा अवसर बार-बार देखने को मिले तथा यह स्थिति सदा बनी रहे।’ आरक्षिकों ने उसे पीटते हुए कहा—‘ऐसे व्यक्ति शीघ्र मुक्त हों, ऐसा कहना चाहिए।’

आगे उसने देखा कि एक स्थान पर अनेक मित्र मिलकर गोष्ठी कर रहे थे। उनको देखते ही वह बोल उठा—‘आप सब लोग शीघ्र मुक्त हो जाएं अर्थात् अलग-अलग हो जाएं।’ वहां भी उसे मार पड़ी। वहां से मुक्त होकर वह एक दंडिककुलपुत्र के घर गया और एक सेवक के रूप में रहने लगा।

एक बार दुर्भिक्ष में कुलपुत्र के घर राबड़ी रांधी गई। कुलपुत्र की वधू ने उससे कहा—‘तुम जाओ, लोगों के बीच बैठे कुलपुत्र को बुला लाओ।’ उन्हें कहना—‘राबड़ी ठंडी होने पर खाने लायक नहीं रहेगी अतः जल्दी आकर खा लो।’ उसने जाकर कुलपुत्र से कहा—‘घर शीघ्र चलो। राबड़ी ठंडी हो रही है।’ लोगों के बीच ऐसा कहने पर कुलपुत्र लज्जित हुआ। घर पहुंचने पर उसने उस सेवक को उपालंभ देते हुए कहा—‘ऐसे कार्य को कान में धीरे से कहना चाहिए।’ सेवक बोला—‘आगे से ध्यान रखूंगा।’

एक बार कुलपुत्र के घर में आग लग गई। वह सेवक दौड़ा-दौड़ा गया और कुलपुत्र के कान में धीरे से बोला—‘घर में आ लग गई है।’ इस विलंब में घर जलकर राख हो गया। दंडिकपुत्र ने उपालंभ दिया। उसे ताड़ित करते हुए कहा—‘ऐसे अवसरों पर स्वामी को बताने के लिए दौड़धूप नहीं करनी चाहिए। स्वयं ही पानी से आग बुझाने का प्रयत्न करना चाहिए। गोरस आदि फेंक कर भी ज्यों-त्यों आग को बुझाना चाहिए।’ एक बार कुलपुत्र धूम्रपान कर रहा था सेवक ने उसे आग समझ कर बुझाने के लिए गोबर आदि फेंका। जो दूसरों के कहने पर अन्य कार्य करता है, वह अननुयोग है।^१

१४. श्रावकभार्या

एक श्रावक ने अपनी पत्नी की सखी को आभूषण आदि से सजा हुआ रूप देखा। वह उसमें आसक्त हो गया और उसकी स्मृति में दिनोंदिन दुर्बल होने लगा। पत्नी ने हठपूर्वक दुर्बल होने का कारण पूछा। उसने अपने मन की बात बता दी। पत्नी बोली—‘तुम चिन्ता मत करो। मैं उसको आपके पास ला दूंगी।’ पति विश्वस्त हो गया। एक दिन पत्नी अपनी सखी के वस्त्राभूषण पहनकर अंधकार में पति के साथ सो गई। पति ने अपनी इच्छा पूरी की। दूसरे दिन वह एकपत्नी व्रत खंडित हो जाने के कारण अत्यंत दुःखी हो गया। पत्नी ने तब प्रमाणपूर्वक उसे विश्वास दिलाया कि सखी के रूप में वह स्वयं ही थी।^२

१५. साप्तपदिक

किसी सीमान्त गांव में एक साप्तपदिक^३ सेवक मनुष्य रहता था। वह साधु और ब्राह्मणों को न सुनता, न उनकी सेवा करता और न उनको आवास-स्थान ही देता था। वह मानता था कि उनको सम्मान देने से वे मेरे घर आएं, मुझे धर्म की बात कहेंगे। उनकी बात सुनकर मैं श्रद्धालु न हो जाऊं अतः अच्छा है उनसे दूर ही रहूं। एक बार उस गांव में साधु आ गए। उन्होंने रहने के लिए स्थान मांगा। साप्तपदिक के

१. आबनि ११८, आवचू. १ पृ. ११०, १११, हाटी. १ पृ. ६०, ६१, मटी. प. १३४, १३५, बृभाटी. पृ. ५३, ५४।

२. आबनि ११९, आवचू. १ पृ. १११, हाटी. १ पृ. ६१, मटी. प. १३५, बृभाटी. पृ. ५४, ५५।

३. जो सात पदों से व्यवहार करता है, वह साप्तपदिक कहलाता है।

मित्रों ने सोचा कि वह स्थान नहीं देता। वह भी इन साधुओं से प्रवंचित हो, ऐसा सोचकर उन्होंने साधुओं को सातपदिक का घर बताते हुए कहा—‘वह आपको स्थान अवश्य देगा क्योंकि वह तुम्हारा भक्त श्रावक है। साधु वहां गए। उन्होंने स्थान के लिए पूछा परन्तु उसने साधुओं को कोई आदर नहीं दिया।’ तब एक साधु ने कहा—‘हम कहीं दूसरे के घर तो नहीं आ गए। हमें तो कहा गया था कि वह श्रावक ऐसा है, वैसा है। हम तो ठगे गए।’ यह सुनकर सातपदिक ने सारी बात पूछी। उत्तर देते हुए मुनि ने कहा—‘अभी एक मित्र ने आपके विषय में बहुत कुछ बताया था, इसीलिए हम यहां आए हैं।’ यह सुनकर उसने सोचा, ‘अकार्य हो गया। मैं भले ही ठगा जाऊं, पर साधुओं की कैसी प्रवंचना!’ उसने मुनियों से कहा—‘मैं आपको स्थान दे सकता हूं, परन्तु आपको एक व्यवस्था रखनी होगी कि आप मुझे कभी धर्म का उपदेश नहीं देंगे।’ साधुओं ने कहा—‘ठीक है।’ उसने रहने के लिए साधुओं को स्थान दे दिया। चातुर्मास प्रारंभ हुआ। धर्मदेशना चलती रही। चातुर्मास पूर्ण होने पर सातपदिक ने धर्म पूछा। मुनियों ने धर्मवार्ता सुनाई परन्तु सातपदिक कुछ भी परित्याग करने में समर्थ नहीं हुआ। न वह मूलगुण-उत्तरगुण विषयक व्रत लेना चाहता था और न मद्य-मांस और मधु की विरति ही करना चाहता था, तब मुनि बोले—‘तुम सातपदिक व्रत ग्रहण करो अर्थात् जिसको तुम मारना चाहो, उसे मारने से पूर्व सात कदम पीछे चलने में जितना समय लगे उतने समय की प्रतीक्षा करने के पश्चात् ही किसी को मारना। यह व्रत उसने स्वीकार कर लिया। साधुओं ने जान लिया कि यह एक न एक दिन संबुद्ध होगा। साधु वहां से अन्यत्र चले गए।

एक बार वह चोरी करने घर से निकला। मार्ग में अपशकुन हो जाने के कारण वह वापस घर की ओर लौटा। चलते-चलते वह रात्रि में घर आया और मंद गति से घर में घुसा। उस दिन उसकी बहिन वहां आई थी और वह पुरुषवेश में अपनी भाभी के साथ नृत्यविशेष को देखने गई थी। देर रात से घर लौटने पर वह भाभी के साथ उसी पुरुषवेश में सो गई। सातपदिक ने देखा कि उसकी पत्नी किसी पर-पुरुष के साथ सो रही है। वह क्रोध से उबल पड़ा और मारने के लिए तलवार बाहर निकाली। इतने में ही गृहीत व्रत की स्मृति हो आई। वह सात कदम पीछे हटा। इतने में ही भगिनी की बाहु पर भार्या का सिर आक्रान्त हुआ। भगिनी की नींद उड़ गई। वह बोली—‘भाभी मेरी भुजा दुःखने लगी है अतः तुम अपना सिर उठाओ।’ सातपदिक ने भगिनी के स्वयं को पहचान लिया। उसने मन ही मन लज्जा का अनुभव किया कि मैंने पुरुषवेश में इसे पर-पुरुष मान लिया। यदि व्रत नहीं होता तो आज अनर्थ हो जाता। प्रतीक्षा करने के कारण आज मैं अनर्थ से बच गया। वह संबुद्ध होकर प्रव्रजित हो गया।’

१६. कोंकण देश का बालक

कोंकण देश में पिता-पुत्र रहते थे। बालक की मां मर गई। पिता दूसरा विवाह करना चाहता था किन्तु सपत्नी-पुत्र के कारण कोई भी महिला विवाह करने के लिए तैयार नहीं होती थी। एक दिन पिता और पुत्र दोनों लकड़ी लाने जंगल में गए। पिता ने सोचा—‘मुझे अपने इस पुत्र के कारण विवाह करने योग्य स्त्री नहीं मिल रही है अतः मुझे इसे मार डालना चाहिए।’ यह सोचकर पिता ने बाण को दूर फेंक कर पुत्र

१. आवनि ११९, आवचू. १ पृ. १११, ११२, हाटी. १ पृ. ६१, ६२, मटी. प. १३५, १३६, बृभाटी. पृ. ५५।

से कहा—‘जा, वह बाण ले आ।’ पुत्र बाण लाने दौड़ा। पिता ने पीछे से दूसरा बाण फेंका। बाण लगने पर पुत्र ने पूछा—‘पिताजी क्या आपने बाण फेंका? मुझे वह लगा।’ पिता ने पुनः बाण फेंका। पिता को बाण फेंकते देख पुत्र रोने लगा। पिता ने बाणों द्वारा उसको मार डाला।^१

१७. नेवला

एक चारक की पत्नी गर्भवती हुई। उसने एक पुत्र का प्रसव किया। उसी दिन एक मादा नेवला ने भी प्रसव किया। चारक की पत्नी ने सोचा कि मेरे पुत्र के लिए यह नेवला शिशु एक खिलौना बना रहेगा। यह सोचकर वह उसको यथेष्ट मात्रा में दूध आदि पिलाने लगी। एक बार चारक पत्नी ने धान कूटने के लिए जाते समय अपने पुत्र को मंचिका पर सुला दिया। वह चली गई। इतने में ही एक सर्प मंचिका पर चढ़ा और बालक को डस दिया। बालक मर गया। मंचिका से उतरते समय सर्प को नेवले ने देख लिया। वह उस पर झपटा और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और रक्त से सने मुंह से चारक-पत्नी के पास जाकर चरणों में लुठने लगा। चारक पत्नी ने सोचा—‘इसने मेरे पुत्र को मार डाला है।’ तब उसने आवेश में मूसल से उसको आहत कर मार डाला। वह दौड़ती हुई पुत्र के पास गई और खंड-खंड हुए सर्प को देखा। अब उसका दुःख दुगुना हो गया।^२

१८. कमलामेला

द्वारिका नगरी में बलदेव का पुत्र निषध रहता था। उसके प्रभावती रानी से सागरचन्द्र नामक पुत्र हुआ, जो अत्यन्त रूपवान् था। शांभ आदि सभी के लिए वह प्रीतिपात्र था। उसी नगरी के वास्तव्य एक राजा की कन्या कमलामेला बहुत सुन्दर थी। उसका वाग्दान (सगाई) महाराज उग्रसेन के पोते धनदेव^३ के साथ हुआ था। एक दिन नारद सागरचन्द्र के पास आए। सागरचन्द्र ने उनका स्वागत किया और आसन-प्रदान कर पूछा—‘भगवन्! कहीं आपने कुछ आश्चर्य देखा है?’ नारद बोले—‘हां, देखा है।’ ‘कहां और कैसा आश्चर्य देखा?’ सागरचन्द्र ने पूछा। नारद बोले—‘यहीं द्वारिका नगरी में कमलामेला कन्या एक आश्चर्य है।’ सागरचन्द्र ने पूछा—‘क्या उसका वाग्दान हो चुका है?’ ‘हां’—नारद ने कहा। सागरचन्द्र ने कहा—‘प्रभो! उसका मेरे साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है?’ ‘मैं नहीं जानता’ ऐसा कहकर नारद ऋषि वहां से चले गए। सागरचन्द्र नारद का कथन सुनकर खिन्न हो गया। वह न शांति से बैठ सकता था और न सो सकता था। अब वह एक फलक पर कमलामेला का चित्र बनाता हुआ उसके नाम की रटन लगाने लगा।

कलह का कारण खोजते हुए नारद कमलामेला के पास पहुंच गए।^४ उसने भी पूछा—‘भंते! क्या आपने कोई नया आश्चर्य देखा है?’ नारद बोले—‘दो आश्चर्य देखे हैं। रूप में बलदेव का पुत्र सागरचन्द्र और विरूपता में उग्रसेन का पौत्र धनदेव।’ इतना कहकर नारद वहां से भी चले गए। यह सुनकर

१. आवनि ११९, आवचू. १ पृ. ११२, हाटी. १ पृ. ६२, मटी. प. १३६, बृभाटी. पृ. ५५।

२. आवनि ११९, आवचू. १ पृ. ११२, हाटी. १ पृ. ६२, मटी. प. १३६, बृभाटी. पृ. ५६।

३. हारिभद्रवीय टीका में उग्रसेन के पुत्र नभसेन के साथ कमलामेला की सगाई हुई थी।

४. चूर्णि में नारदऋषि पहले कमलामेला से मिलते हैं।

कमलामेला सागरचन्द्र के प्रति मोहग्रस्त तथा धनदेव के प्रति विरक्त हो गई। उसने नारद से पूछा—‘क्या सागरचन्द्र मेरा पति हो सकता है?’ नारद ने उसे आश्वासन दिया कि मैं तुम्हारे साथ उसका संयोग कराऊंगा। कमलामेला का चित्र पट्टिका पर बनाकर नारद सागरचन्द्र के पास गया।

नारद ने सागरचन्द्र के पास जाकर कहा—‘कमलामेला तुम्हें चाहती है।’ तब सागरचन्द्र की माता तथा अन्य कुमार खिन्न होकर दुःख करने लगे। इतने में ही शांब आया और उसने सागरचन्द्र को विलाप करते हुए देखा। तब शांब ने उसके पीछे जाकर उसकी दोनों आंखें अपनी हथेलियों से ढंक दीं। सागरचन्द्र बोला—‘कमलामेला।’ शांब ने कहा—‘मैं कमलामेला नहीं, कमलामेल हूं।’ सागरचन्द्र बोला—‘अच्छा, अब तुम ही मुझे विमलकमल नेत्रों वाली कमलामेला से मिलाओगे क्योंकि महापुरुष सत्यप्रतिज्ञ होते हैं।’ तब अन्य कुमारों ने शांब को मद्य पिलाया। जब वह मदिरा से मत्त हो गया तब उससे यह स्वीकृति ले ली कि वह कमलामेला से सागरचन्द्र को मिला देगा। शांब का नशा उतरा तब उसने सोचा—‘ओह! मैंने झूठा वादा कर लिया। क्या अब इससे इन्कार हुआ जा सकता है? अब तो मुझे इसका निर्वाह करना ही होगा।’

शाम्ब ने प्रद्युम्न से अतिशायी प्रज्ञासि विद्या की मांग की। उसने शाम्ब को विद्या प्रदान कर दी। कमलामेला के विवाह के दिन अपनी विद्या से उसने कमलामेला का प्रतिरूप बनाकर रख दिया और कमलामेला का अपहरण कर लिया। रेवत उद्यान में सागरचन्द्र के साथ कमलामेला का विवाह कर दिया गया। वे दोनों वहीं क्रीडारत रहने लगे। विद्या से बनाई गयी कमलामेला की प्रतिकृति का विवाह होने पर अट्टहास करती हुई वह उड़ गयी। यह देखकर सभी क्षुब्ध हो गए। कमलामेला का अपहरण किसने किया यह ज्ञात नहीं हो सका। नारद को पूछने पर उसने कहा—‘मैंने कमलामेला को रेवत उद्यान में देखा था। किसी विद्याधर ने उसका अपहरण किया है।’ तब सेना के साथ कृष्ण कमलामेला की खोज के लिए निकले। शाम्ब विद्याधर का रूप बनाकर युद्ध करने लगा। सारे राजाओं को शाम्ब ने पराजित कर दिया। फिर वह कृष्ण के साथ युद्ध करने लगा। जब शाम्ब ने देखा कि पिताश्री रुष्ट हो गए हैं तो वह श्रीकृष्ण के चरणों में गिर पड़ा। शाम्ब ने श्रीकृष्ण को कहा—‘मैंने कमलामेला को गवाक्ष से आत्महत्या करते देखा इसलिए मैंने कमलामेला का अपहरण किया है।’ तब श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को समझाया।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि वहां समवसृत हुए। कमलामेला और सागरचन्द्र ने भगवान् से धर्म सुनकर अणुव्रत स्वीकार किए और श्रावक बन गए। सागरचन्द्र अष्टमी, चतुर्दशी आदि को शून्यघरों और श्मशानगृह में एकरात्रिकी प्रतिमा करने लगा।

धनदेव को जब यह बात ज्ञात हुई तो उसने तांबे की तीक्ष्ण सुइयों का निर्माण करवाया और शून्यगृह में प्रतिमा में स्थित सागरचन्द्र की बीसों अंगुलियों में सुइयां ठोक दीं। सम्यक् रूप से समतापूर्वक वेदना सहन करते हुए वह कालगत होकर देव बना। सागरचन्द्र की चारों ओर खोज होने लगी। खोजते हुए सागरचन्द्र की अंगुलियों में तांबे की सुइयां देखीं। तांबे को कूटने वाले से ज्ञात हुआ कि इन सुइयों का निर्माण धनदेव ने करवाया था। रुष्ट होकर राजकुमारों ने धनदेव की खोज की। दोनों की सेनाओं में युद्ध होने

१. हाटी. में यह कथा संक्षिप्त रूप में है।

लगा। युद्ध देखकर देवरूप सागरचन्द्र ने उन दोनों को उपशान्त किया। कमलामेला विरक्त होकर भगवान् के पास प्रव्रजित हो गयी।^१

१९. शांब का साहस

जम्बूवती ने कृष्ण से कहा—‘मैंने अपने पुत्र शांब की एक भी भूल नहीं देखी।’ कृष्ण बोले—‘आज मैं तुम्हें उसकी भूल दिखाऊंगा।’ कृष्ण और जम्बूवती—दोनों ने ग्वाले और ग्वालिन का रूप बनाया। दोनों तक्र लेकर द्वारिका में आए और छाछ बेचने लगे। शांब ने उन्हें देखा और पास आकर ग्वालिन से बोला—‘चलो, मैं तुम्हारी छाछ खरीद लूंगा।’ ग्वालिन शांब के पीछे-पीछे चली। ग्वाला भी पीछे चला। शांब ने एक देवकुल में प्रवेश किया। ग्वालिन बोली—‘मैं अन्दर नहीं आऊंगी। मूल्य दो और यहीं तक्र ले लो।’ शांब बोला—‘तुमको अवश्य ही अन्दर आना होगा।’ वह अंदर जाना नहीं चाहती थी। शांब ने तब उसका हाथ पकड़ लिया। ग्वाला दौड़ कर आया और शांब से लड़ने लगा। शांब भी ग्वाले से उलझ गया। इतने में ही ग्वाले ने अपना रूप बदला। वह वासुदेव कृष्ण हो गया और ग्वालिन जम्बूवती हो गई। शांब लज्जा से शिरोवगुंठन कर भाग गया।

दूसरे दिन शांब बलात् लाई हुई एक कीलिका को ठीक करते हुए बैठा था। वासुदेव को देखकर वह उठा और जय-जयकार किया। वासुदेव ने पूछा—‘क्या घड़ रहे हो?’ शांब बोला—‘कल जो घटना घटी थी, उस विषय में जो कोई कुछ कहेगा, उसके मुंह में यह कील टोक दूंगा।’

२०. श्रेणिक का क्रोध

राजगृह में राजा श्रेणिक राज्य कर रहा था। उसकी रानी का नाम चेलना था। एक बार वह चरम तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमान को वन्दना कर विकाल में लौट रही थी। उस समय माघ मास प्रवर्तित था। उसने मार्ग में एक प्रतिमाप्रतिपन्न मुनि को देखा। वह प्रासाद में आकर अपने शयनागार में सो गई। रात्रि में अचानक उसका हाथ रजाई से बाहर आ गया। जब ठंड बढ़ी तो उसका हाथ सुन्न हो गया। वह जागृत हुई और अपना हाथ रजाई के भीतर खींच लिया। हाथ के कारण उसका पूरा शरीर ठंड से आक्रान्त हो गया। तब उसने कहा—‘वह तपस्वी अब क्या करता होगा?’ श्रेणिक ने यह सुना और सोचा—‘रानी द्वारा संकेतित यह कोई पर-पुरुष है।’ राजा रुष्ट हो गया। दूसरे दिन उसने अभय से कहा—‘अन्तःपुर को शीघ्र आग लगा दो।’ आज्ञा देकर श्रेणिक भगवान् की उपासना करने चला गया। अभय ने पुरानी हस्तिशाला में आग लगा दी। श्रेणिक ने परिषद् के बीच भगवान् से पूछा—‘भंते! चेलना एकपति वाली है अथवा अनेक पतिवाली?’ भगवान् बोले—‘एक पतिवाली।’ यह सुनते ही श्रेणिक शांत हुआ। अभयकुमार अन्तःपुर में आग न लगा दे, इसलिए वह त्वरा से भगवान् को वन्दन कर अपने प्रासाद की ओर लौटा। अभय उसे मार्ग में मिला। श्रेणिक ने पूछा—‘अभय! क्या आग लगा दी?’ अभय बोला—‘हां राजन्!’ श्रेणिक ने तब व्याकुल होकर कहा—‘तुम भी उस अग्नि में प्रविष्ट क्यों नहीं हो गए?’ अभय बोला—‘राजन्! मुझे अग्नि

१. आवनि ११९, आवचू. १ पृ. ११२-११४, हाटी. १ पृ. ६३, मटी. प. १३६, १३७, बृभाटी. पृ. ५६, ५७।

२. आवनि ११९, आवचू. १ पृ. ११४, हाटी. १ पृ. ६३, ६४, मटी. प. १३७, बृभाटी. पृ. ५७।

से क्या प्रयोजन ! मैं तो प्रव्रज्या ग्रहण करूंगा।' अभयकुमार ने सोचा—राजा भी कहीं दुःख से प्राण न त्याग दे इसलिए वह बोला—'राजन् ! मैंने अन्तःपुर को आग नहीं लगाई, हस्तिशाला को ही जलाया है।' राजा प्रसन्न हो गया।'

२१. रोगग्रस्त गाय

एक धूर्त के पास एक बहुक्षीरा गाय थी। वह रोगग्रस्त होने के कारण उठ नहीं सकती थी। एक व्यक्ति ने उस बैठी हुई गाय को पचास रुपयों में खरीद लिया। गाय बेचकर वह धूर्त भाग गया। खरीदने के पश्चात् उस व्यक्ति को यह ज्ञात हुआ कि वह रोगिणी थी। उसने उस गाय को बेचना चाहा। ग्राहक आते और कहते—'भाई ! गाय को चला कर दिखाओ, फिर हम खरीदेंगे।' वह कहता—'मैंने भी गाय को बैठी हुई ही खरीदा था। यदि आपको गाय पसंद हो तो बैठी हुई को ही खरीद लें।' उन्होंने कहा—'तुम ठगे गए तो क्या हम भी ठगे जाएंगे?''

२२. चन्दनकन्था

द्वारिका नगरी में वासुदेव के पास तीन प्रकार की भेरियां थीं—सांग्रामिकी, आभ्युदयिकी तथा कौमुदिकी। तीनों प्रकार की भेरियां गोशीर्षचन्दन से बनी हुई तथा देवताधिष्ठित थीं। वासुदेव के पास चौथी भेरी थी, जो अशिव का उपशमन करने में समर्थ थी। उसकी प्राप्ति का वृत्तान्त इस प्रकार है—

एक बार इन्द्र ने देवसभा में वासुदेव का गुणोत्कीर्तन करते हुए कहा—'अहो ! उत्तम पुरुषों के गुणों को क्या कहा जाए ? वे अवगुण ग्रहण नहीं करते तथा अधर्म युद्ध नहीं करते।' देवसभा में उपस्थित एक देव ने इन्द्र के कथन पर विश्वास नहीं किया। वह परीक्षा करने वासुदेव के पास आया। उस समय वासुदेव भगवान् को वंदना करने के लिए प्रस्थित हो रहे थे। देवता मरे हुए, सड़े-गले, दुर्गन्ध युक्त एक काले कुत्ते का रूप बनाकर मार्ग के पास लेट गया। उसकी दुर्गन्ध से सभी लोग भाग गए। वासुदेव ने कुत्ते के कलेवर को देखकर कहा—'अहो ! काले वर्ण के कुत्ते पर सफेद दांत कितने सुन्दर लग रहे हैं।' देवता ने सोचा—'सच है, सच है, वासुदेव वस्तुतः गुणग्राही हैं। फिर वह देवता वासुदेव के अश्वरत्न को लेकर भाग गया। अश्वपालक ने यह देख लिया। वह रुष्ट हो गया। अनेक कुमार और राजा अश्व-हरण करने वाले के पीछे दौड़े। देवता ने उन सबको हत-विहत कर भगा दिया। वासुदेव भी अश्व को मुक्त कराने निकले। उन्होंने कहा—'अरे ! तुम मेरे अश्व का अपहरण क्यों कर रहे हो ?' देवता बोला—'अश्व लेना चाहते हो तो पहले मुझे पराजित करो।' वासुदेव बोले—'ठीक है, पर हम कैसे युद्ध करें ? तुम भूमि पर हो और मैं रथ पर आरूढ़ हूं, तुम भी रथ ग्रहण कर लो।' देव बोला—'रथ को रहने दो।' वासुदेव के कहने पर भी देवता अश्व, हाथी सभी का निषेध करता रहा। अन्त में वह बोला—'मैं भूमि पर ही हूं। तुम रथ पर आरूढ़ होकर मेरे से युद्ध करो।' तब वासुदेव बोले—'मैं पराजित हो गया। तुम अश्वरत्न ले जाओ। मैं निम्नस्तर का युद्ध नहीं करता।' देवता संतुष्ट हुआ और बोला—'महानुभाव ! कोई वरदान मांगो, मैं तुम्हें क्या दूँ?'

१. आवनि ११९, आवचू. १ पृ. ११४, ११५, हाटी. १ पृ. ६४, मटी. प. १३८, बृभाटी. पृ. ५७, ५८।

२. आवनि १२१, आवचू. १ पृ. ११७, हाटी. १ पृ. ६५, मटी. प. १३९।

वासुदेव ने कहा—‘यदि वरदान देना ही चाहते हैं तो मुझे अशिवोपशमनी भेरी दें।’ देवता ने वासुदेव को वह भेरी दे दी।

वह अशिवोपशमनी भेरी छह-छह माह में एक बार बजाई जाती थी। उत्पन्न रोग और व्याधियां उससे शान्त हो जातीं और जो उसके शब्द सुन लेता उसके छह मास तक नए रोग उत्पन्न नहीं होते।

एक बार एक वणिक् भेरीपालक के पास आया। वह दाहज्वर से अत्यंत पीड़ित था। वैद्य ने उसे गोशीर्ष चंदन लगाने को कहा। उसने भेरीपालक से कहा—‘तुम लाख मुद्राएं लो और मुझे भेरी का एक टुकड़ा दो।’ भेरीपालक ने लोभ में आकर भेरी का एक टुकड़ा उसे दे दिया और भेरी को चंदन का दूसरा टुकड़ा लगा दिया। उसके बाद वह जो कोई मांगता उसे भेरी के टुकड़े दे देता। अब वह भेरी चंदन की थेंगली लगी भेरी बन गई। एक बार द्वारिका में अशिव—महामारी का प्रकोप हुआ। वासुदेव ने उस भेरी को बजाया। उसकी ध्वनि सभा तक भी नहीं पहुंच सकी। वासुदेव बोले—भेरी को दिखाओ। भेरी को थिंगलमयी देखकर वासुदेव ने भेरीपालक का वध करवा दिया। तेल की तपस्या कर वासुदेव ने देव की आराधना की और दूसरी भेरी प्राप्त की। दूसरे भेरीपालक की नियुक्ति हुई। वह अपनी आत्मा की भांति भेरी की रक्षा करता था। अपनी कार्यनिष्ठा से वह पूजित हुआ।’

२३. चेटी—सखी

बसन्तपुर नगर के जीर्णश्रेष्ठी और नवक सेठ की दोनों पुत्रियां आपस में सखियां थीं। उनमें परस्पर प्रीति थी फिर भी जीर्णसेठ की पुत्री के मन में द्वेष था क्योंकि वह सोचती थी कि यह नवक सेठ की पुत्री उससे अधिक सुन्दर है। एक बार वे दोनों कहीं स्नान करने गईं। नवक सेठ की पुत्री तिलक आदि चौदह आभूषणों से अलंकृत थी। वह अपने सभी आभूषणों को तालाब के तट पर रखकर पानी में उतरी। जीर्णसेठ की पुत्री उन आभूषणों को लेकर दौड़ गई। नवक सेठ की पुत्री ने सोचा कि यह ऐसे ही क्रीड़ा कर रही है। जीर्णसेठ की पुत्री ने घर जाकर माता-पिता से सारी बात कही। माता पिता ने उसे चुपचाप बैठने को कहा। नवक सेठ की पुत्री स्नान से निवृत्त होकर घर गई। उसने सारी बात माता-पिता से कही। उन्होंने जीर्णसेठ की पुत्री से आभरण मांगे। उसने देने से इन्कार कर दिया। जीर्णसेठ की पुत्री बोली—‘यह रूप में मुझसे सुंदर हो सकती है इसका मतलब यह नहीं कि मेरे पास आभूषण नहीं हैं।’ तब नवक सेठ राज-दरबार में यह शिकायत लेकर गया। इस घटना का कोई साक्षी नहीं था। न्यायकर्त्ताओं ने कहा—‘दोनों सखियों को बुलाया जाए।’ वे दोनों उपस्थित हुईं। न्यायकर्त्ता ने जीर्ण सेठ की पुत्री से कहा—‘यदि आभूषण तुम्हारे हैं तो तुम तिलक आदि सभी आभूषणों को धारण करके दिखाओ। जीर्णसेठ की पुत्री उन आभूषणों को पहनने लगी। जो हाथ का आभरण था उसे पैर में और पैर के आभूषण को हाथ में पहनने लगी। वह जानती नहीं थी अतः एक भी आभूषण नहीं पहन सकी। तब न्यायकर्त्ताओं ने जान लिया कि ये आभूषण इसके नहीं हैं। उन्होंने नवकसेठ की पुत्री से कहा—‘तुम पहन कर दिखाओ।’ उसने सभी आभूषण यथास्थान पहन लिए। फिर उन्होंने कहा—इन्हें खोलकर दिखाओ। उसने क्रमशः एक-एक कर सभी आभूषण निकाल दिए। तब

१. आवनि १२१, आवचू. १ पृ. ११७, ११८, हाटी. १ पृ. ६५, ६६, मटी. प. १३९, १४०।

न्यायकर्ताओं ने जीर्णसेठ को दंडित किया। एक प्रकार से उसकी जीते जी मृत्यु हो गई।^१

श्रावक^२ और बधिरगोध^३ के लिए देखें श्रावकभार्या (कथा सं. १४) और बधिरउल्लाप (कथा सं. १२)

२४. टंकणक

उत्तरापथ में टंकण नामक म्लेच्छ रहते थे। वे स्वर्ण का विनिमय कर दक्षिणापथ के भांडों—वस्तुओं को खरीदते थे। वे एक-दूसरे की भाषा नहीं जानते थे। वे एक ओर स्वर्ण का ढेर रख देते और उस पर हाथ रख देते। जब तक विनिमय की इच्छा पूरी नहीं होती, तब तक हाथ रखे रहते। इच्छा पूरी होने पर हाथ उठा लेते। विनिमय हो जाता।^४

२५. शैलघन

मुद्गशैल और जम्बूद्वीपप्रमाण पुष्कलसंवर्तक नामक महामेघ में नारदस्थानीय किसी व्यक्ति ने परस्पर कलह पैदा कर दिया। वह मुद्गशैल से बोला—‘तुम्हारा नाम लेते ही पुष्कलसंवर्तक मेघ कहता है कि मैं एक ही धारा में उसे आर्द्र बना सकता हूँ।’ यह सुनकर मुद्गशैल क्रोधवश बोला—‘यदि वह मेरा तिलतुषमात्र अंश भी आर्द्र कर देगा तो मैं अपना नाम बदला लूंगा।’ पुष्कलसंवर्तक मेघ के पास जाकर उसने मुद्गशैल की बात कही। वह कुपित होकर युगप्रमाण धाराओं के साथ पूर्ण उत्साह से बरसने लगा। सात दिन-रात बरसने के पश्चात् उसने सोचा कि अब मुद्गशैल पिघल गया होगा। पानी के निकल जाने पर मुद्गशैल चमकता हुआ उज्ज्वलतर हो गया। तिलतुषमात्र भी न खंडित हुआ और न ही आर्द्र हुआ। पुष्कलसंवर्तक मेघ को सामने देखकर वह बोला—‘नमस्कार!’ मेघ लज्जित होकर चला गया।^५

२६. गाय

एक धार्मिक व्यक्ति ने चतुर्वेदी चार ब्राह्मणों को एक गाय दान में दी। उन्होंने परस्पर यह व्यवस्था की कि चारों बारी-बारी से गाय को दुहेंगे और उसकी रक्षा करेंगे। सबने यह व्यवस्था स्वीकार कर ली। पहले वाले ब्राह्मण ने सोचा—‘मुझे आज ही दुहना है, कल दूसरा दुहेगा। मेरा इस गाय को चारा-पानी देने से क्या प्रयोजन?’ उसने गाय को चारा-पानी नहीं दिया। शेष तीनों ने भी ऐसे ही सोचा। चारा-पानी न मिलने से गाय मर गई। ब्राह्मणों की निन्दा हुई। उसके कारण दान का व्यवच्छेद हो गया।

अन्य चार ब्राह्मणों ने भी दान में गाय मिलने पर सोचा—चारा डालने से गाय की पुष्टि होगी, सबको दूध मिलेगा। सबका एक दूसरे पर अनुग्रह रहेगा। गाय का पोषण करने से उन्हें गाय का दूध मिला और गांव में अपकीर्ति भी नहीं हुई।^६

भेरी^७ की कथा हेतु देखें चंदन कथा (कथा सं. २२)

१. आबनि. १२१, आवचू. १ पृ. ११९, हाटी. १ पृ. ६६, मटी. प. १४०।

२.३. आबनि. १२१।

४. आबनि. १२१, आवचू. १ पृ. १२०, हाटी. १ पृ. ६६, मटी. प. १४१।

५. आबनि. १२४, आवचू. १ पृ. १२१, हाटी. १ पृ. ६७, मटी. प. १४२।

६. आबनि. १२४, आवचू. १ पृ. १२३, १२४, हाटी. १ पृ. ६९, मटी. प. १४४, १४५।

७. आबनि. १२४।

२७. (अ) आभीर दंपति

एक आभीर दंपति शकट में घी के घड़े लेकर नगर में बेचने गया। बिक्री प्रारंभ हुई। आभीर गाड़ी के ऊपर और आभीरी गाड़ी के नीचे खड़ी थी। आभीर घी के घड़े उठाकर आभीरी को देता और वह उसे जमीन पर रख देती। देते या लेते समय ध्यान न रहने से एक घड़ा हाथ से छूटा और वह फूट गया। आभीरी बोली—‘अरे ग्रामीण! यह तूने क्या किया?’ आभीर बोला—‘तुम उन्मत्त हो। देखती कहीं हो और ग्रहण कहीं करती हो।’ तुम्हारे प्रमाद से ही यह घड़ा छूटा है। इस प्रकार वे दोनों लड़ने लगे और एक दूसरे को खींचने-पीटने लगे। अन्य घड़े भी नीचे गिर कर फूट गए। वे रात्रि में अपने गांव की ओर प्रस्थित हुए। रास्ते में उनके बैलों का हरण कर चोर ले गए। चोरों ने उनके रुपये भी लूट लिए।”

(ब) आभीर दंपति

एक आभीर दंपति शकट में घी के घड़े लेकर नगर में बेचने गया। बिक्री प्रारंभ हुई। आभीर गाड़ी के ऊपर और आभीरी गाड़ी के नीचे खड़ी थी। आभीर घी के घड़े उठाकर आभीरी को देता और वह उसे जमीन पर रख देती। देते या लेते समय ध्यान न रहने से एक घड़ा हाथ से छूटा और वह फूट गया। आभीर शकट से तत्काल नीचे उतरा। दोनों ने जल्दी-जल्दी भूमि पर गिरे घी को कर्पूरों से ग्रहण कर लिया। प्रायः घी एकत्रित हो गया। कुछ ही नष्ट हुआ। आभीर ने कहा—‘मैंने घड़े को अच्छी तरह से नहीं पकड़ाया इसलिए वह नीचे गिर गया।’ आभीरी बोली—‘नहीं, नहीं, मैंने उसे अच्छे ढंग से नहीं पकड़ा इसलिए वह हाथ से फिसलकर नीचे गिर गया।’”

२८. ग्रामचिन्तक (महावीर को सम्यक्त्व-लाभ)

अपरविदेह के एक गांव में एक ग्रामचिन्तक रहता था। वह राजाज्ञा को प्राप्त कर अनेक शकटों को लेकर लकड़ी लाने के लिए एक महान् अटवी में गया। इधर एक सार्थ (कारवां) कहीं जा रहा था। उसके साथ अनेक साधु भी यात्रा कर रहे थे। सार्थ के एक स्थान पर ठहरने पर साधु भिक्षाचर्या के लिए निकले। इतने में ही वह सार्थ वहां से अन्यत्र चला गया। साधु पीछे रह गए। वे सार्थ के साथ होने के लिए पीछे से तीव्र गति से चले। मार्ग न जानने के कारण वे भटक गए। वे दिग्मूढ़ होकर चलने लगे। उस अटवी मार्ग से वे मध्याह्न में पहुंचे। भूख और प्यास से व्याकुल होकर वे वहां पहुंच गए, जहां शकटों का समूह था। ग्रामचिन्तक ने उन्हें देखा और पूर्ण संवेग से मन ही मन बोला—‘अहो! ये साधु मार्ग से अनजान हैं, तपस्वी हैं, इस अटवी में भटक गए हैं।’ उसने अनुकंपावश मुनियों को अशन-पान देकर कहा—‘भगवन्! आप मेरे साथ चलें। मैं आपको सही मार्ग बता देता हूँ।’ वे साधु उसके पीछे-पीछे चलने लगे। साधुओं में एक साधु धर्मकथा कहने की लब्धि से संपन्न था। उसने धर्मकथा कहनी प्रारम्भ की। धर्मकथा की समाप्ति पर ग्रामचिन्तक को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गयी। मुनि को सही मार्ग बताकर वह पुनः शकटों के पास आ गया। वह अविरत सम्यग्दृष्टि पथदर्शक दिवंगत होकर सौधर्मकल्प में पल्योपम स्थिति वाला देव बना।^१

१. २. आवनि १२४, आवचू. १ पृ. १२४, हाटी. १ पृ. ६९, मटी. प. १४५।

३. आवनि १३१, आवचू. १ पृ. १२८, हाटी. १ पृ. ७२, ७३, मटी. प. १५२।

२९. दो वणिक् मित्र (विमलवाहन)

अपरविदेह में दो वणिक् मित्र रहते थे। एक मायावी था और दूसरा ऋजु। वे साथ-साथ व्यापार करते थे। जो मायावी था, वह ऋजुक से बहुत सारी बातें छुपा लेता था। ऋजुक कुछ भी गुप्त न रखता हुआ सम्यग् सातत्य से व्यवहार करता था। दोनों दानरुचि थे। ऋजुक मरकर दक्षिणार्ध भरत में यौगलिक नर और मायावी मरकर उसी प्रदेश में हस्तिरत्न के रूप में उत्पन्न हुआ। वह श्वेत वर्ण और चार दांतों से युक्त था। यौगलिक प्रतिपूर्ण हुए। एक दिन हाथी घूम रहा था। उसने यौगलिक नर को देखा। देखते ही उसके मन में प्रीति उत्पन्न हुई। तब उसके आभियोगजनित कर्म उदय में आया। उसने यौगलिक नर को उठाकर अपनी पीठ पर बिठा लिया। हाथी पर चढ़े मनुष्य को देखकर अन्य सभी यौगलिकों ने सोचा, 'यह कोई विशिष्ट पुरुष है। इसका यह वाहन भी विमल है।' उन्होंने पुरुष का नाम 'विमलवाहन' कर दिया। दोनों—हाथी और पुरुष को जातिस्मृति हुई। दोनों ने एक-दूसरे को पहचान लिया।

उस समय कालदोष के कारण कल्पवृक्षों की हानि होने लगी। उनकी शक्ति कम हो गई। मत्तांग, भृंगांग, त्रुटितांग, चित्रांग, चित्ररस, गृहाकार और अनग्न आदि कल्पवृक्षों की परिहानि होने पर यौगलिकों में कषाय उत्पन्न होने लगा। वे कहने लगे—'यह कल्पवृक्ष मेरा है, दूसरा कोई यहां न आए।' जब कोई यौगलिक ममकार करके कल्पवृक्षों पर अधिकार जताता तब दूसरे यौगलिकों में क्रोध आदि कषाय उत्पन्न होते और उनको ग्रहण करने में कलह होता। यौगलिकों ने सोचा—'हम किसी अधिष्ठाता को स्थापित करें, जो सम्यग् व्यवस्था कर सके। विमलवाहन हम सबमें श्रेष्ठ है, यह सोचकर उन्होंने विमलवाहन को अपने नेता के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया। उसने कल्पवृक्षों के विभाग कर सबको दे दिए और कहा—'जो कोई इस मर्यादा का उल्लंघन करे, वह मुझे बताया जाए। मैं उसको दंडित करूंगा।' विमलवाहन को वणिक् काल से जातिस्मृति थी। जो कोई अपराध करता, उसको वे अपराध बताते और फिर वे दंड की व्यवस्था करते थे। उस समय का दंड था—हाकार—हाय! तुमने बुरा किया। इस वचनदंड से वह यौगलिक सोचता—ऐसी विडंबना से यही उचित था कि मेरा सर्वस्व छीन लिया जाता, मुझे मार दिया जाता अथवा मेरा शिरच्छेद कर दिया जाता। यह हाकार दंड लंबे समय तक चला। उसकी भार्या का नाम चन्द्रयशा था। उसके साथ भोग भोगने से उसके एक मिथुन उत्पन्न हुआ। उसके भी एक युगल हुआ। इस प्रकार एक ही वंश में सात कुलकर हुए।^१

३०. धन सार्थवाह (ऋषभ का पूर्वभव)

अपरविदेह जनपद में धन नामक सार्थवाह रहता था। वह क्षितिप्रतिष्ठित नगर से बसन्तपुर नगर की ओर व्यापारार्थ जाना चाहता था। उसने नगर में यह घोषणा करवाई—'जो कोई मेरे साथ चलेगा, मैं उसका योगक्षेम वहन करूंगा अर्थात् उसके खान-पान, वस्त्र, पात्र, औषध-भेषज तथा अन्य सभी आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करूंगा।' यह घोषणा सुनकर अनेक तटिक, कार्पटिक आदि उसके साथ जाने के लिए तत्पर हुए। साधुओं का एक गच्छ भी उस सार्थवाह के साथ प्रस्थित हुआ। वह ग्रीष्म ऋतु का चरमकाल

१. आवनि १३५/१, २, आवचू. १ पृ. १२८, १२९, हाटी. १ पृ. ७४, मटी. प. १५४।

था। वह सार्थ जब एक अटवी के बीच पहुंचा तब तक वर्षाकाल प्रारंभ हो गया था। सार्थवाह ने सोचा कि मार्ग अतिदुर्गम है इसलिए आगे जाना संभव नहीं है। सार्थ उसी अटवी में रुक गया। उसके रुक जाने पर साथ वाले सभी वहीं रुक गए। जब सार्थवाह की सारी भोजन-सामग्री समाप्त हो गई तब सभी कंद-मूल-फल आदि खाने लगे। उस समय साधुओं को बड़ी मुश्किल हो गई। यदि यथाकृत सामग्री मिलती तो वे ग्रहण करते, अन्यथा नहीं। काल बीतने लगा। वर्षाकाल थोड़ा रह गया तब धन सार्थवाह को यह चिन्ता हुई कि मेरे साथ वाले कोई कष्ट में तो नहीं हैं? उसको याद आया कि मेरे साथ मुनिजन भी थे। वे कंद-मूल नहीं लेते। वे तपस्वी अभी कष्ट में होंगे। कल मैं उनको दान दूंगा। ऐसा सोचकर दूसरे दिन उसने मुनियों को निर्मंत्रित किया। मुनि बोले—‘हमारे लिए कल्प्य होगा तो हम ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं।’ धन ने पूछा—‘आपके ग्रहण योग्य क्या है? मुनि बोले—‘जो भिक्षा हमारे लिए अकृत और अकारित है, वही कल्प्य है।’ तब धन ने मुनियों को घृत आदि प्रासुक वस्तुओं का प्रचुर दान दिया।

इस शुद्धदान के माहात्म्य से धन सार्थवाह मरकर उत्तरकुरु में मनुष्यरूप में उत्पन्न हुआ। वहां से मरकर वह सौधर्म देवलोक में देव बना। वहां का आयुष्य पूरा कर जंबूद्वीप के अपरविदेह में गंधिलावती विजय के वैताढ्यपर्वत में गांधार जनपद के गंधसमृद्ध विद्याधरनगर में अतिबलराजा का पौत्र, शतबलराजा का पुत्र और महाबल नाम का राजा बना। वह नाटक देखने का रसिक था। उसके अमात्य का नाम था सुबुद्धि। वह उसका मित्र था। उसके द्वारा प्रतिबुद्ध होकर महाबल राजा एक मास का आयुष्य अवशिष्ट रहने पर बावीस दिनों का अनशन कर, समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त कर ईशान कल्प देवलोक के श्रीप्रभ विमान में ललितानांमक देव बना। वहां का आयुष्य पूरा कर वह जंबूद्वीप में पुष्कलावतीविजय के लोहार्गला नगर का स्वामी वज्रजंघ नामक राजा बना। उसने अपने पश्चिम वय में पत्नी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करने की बात सोची। परंतु उसके पुत्र ने योगधूप से धूपित वासगृह में उसे मार डाला। वहां से मरकर उत्तरकुरु में वे मिथुन रूप में उत्पन्न हुए। वहां से सौधर्म देवलोक में देव बना। वहां से च्यवन कर महाविदेह क्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठित नगर में वैद्यपुत्र हुआ। जिस दिन उसका जन्म हुआ, उसी दिन चार बालकों का जन्म हुआ—राजपुत्र, श्रेष्ठीपुत्र, अमात्यपुत्र तथा सार्थवाहपुत्र। वे सभी बालक बढ़ने लगे।

एक बार राजपुत्र आदि चारों मित्र वैद्यपुत्र के यहां बैठे थे। वहां एक तपस्वी मुनि भिक्षा लेने आए। वे कृमिकुष्ठ रोग से ग्रस्त थे। चारों मित्र उपहास करते हुए मीठे वचनों में वैद्यपुत्र से बोले—‘तुम वैद्य लोग सभी को लूट लेते हो, परन्तु तपस्वी और अनाथ की चिकित्सा नहीं करते।’ वैद्य बोला—‘मैं चिकित्सा अवश्य करता परंतु मेरे पास औषधियां नहीं हैं।’ मित्र बोले—‘तुम औषधियां कहीं से भी ले आओ, हम उसका मूल्य चुकायेंगे। बोलो, तुम्हें कौनसी औषधियां चाहिए?’ वैद्यपुत्र बोला—‘इस रोग के निवारण के लिए तीन वस्तुएं आवश्यक होती हैं—कंबलरत्न, गोशीर्षचन्दन तथा सहस्रपाक तैल। तैल मेरे पास है, शेष दो वस्तुएं नहीं हैं।’ तब उन चारों मित्रों ने गवेषणा प्रारंभ की। उन्हें ज्ञात हुआ कि अमुक वणिक् के पास दोनों वस्तुएं हैं। वे उस वणिक् के पास दो लाख मुद्राएं लेकर दोनों चीजों को खरीदने के लिए गए। वणिक् ने संभ्रान्त होकर कहा—‘क्या दू?’ वे बोले—‘हमें कंबलरत्न और गोशीर्षचन्दन चाहिए।’ वणिक् ने पूछा—‘इनसे आपका क्या प्रयोजन है?’ वे बोले—‘हमें मुनि की चिकित्सा करानी है।’ वणिक् बोला—

‘अच्छा, आप दोनों वस्तुएं बिना मूल्य के ले जाएं। मूल्य से मुझे क्या? आप चिकित्सा कराएं तो मुझे भी धर्म होगा।’ उसने बिना मूल्य के दोनों वस्तुएं सौंप दीं।

फिर वणिक् ने सोचा—‘इन बालकों की धर्म के ऊपर इतनी श्रद्धा है। मैं मंदपुण्य हूं, इहलोकप्रतिबद्ध हूं, मेरी इतनी श्रद्धा नहीं है।’ उसे विरक्ति हुई और वह स्थविरों के पास प्रव्रजित होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया।

वे चारों मित्र वणिक् से कंबलरत्न और गोशीर्षचन्दन—दोनों वस्तुएं लेकर वैद्य के पास गए और फिर पांचों उस उद्यान में गए, जहां मुनि प्रतिमा में स्थित थे। उन्होंने मुनि को वंदना कर प्रार्थना के स्वर में कहा—‘भगवन्! आज्ञा दें। हम आपकी चर्या में विघ्न उपस्थित करने आए हैं।’ वैद्य ने तब मुनि के पूरे शरीर पर तैल का अभ्यंगन किया। वह सारा तैल रोम-कूपों से शरीर के भीतर प्रविष्ट हो गया। शरीर में तैल के प्रवेश करते ही सारे कृमि संक्षुब्ध होकर हलन-चलन करने लगे। उस समय मुनि के अत्यंत वेदना प्रादुर्भूत हुई। वे कृमि शरीर से बाहर निकले। यह देखकर वैद्य ने मुनि को रत्नकंबल से ढक दिया। वह रत्नकंबल शीतवीर्य वाला था। तैल उष्णवीर्य वाला था। सारे कृमि उस कंबल पर चिपक गए। तब पूर्व आनीत गाय के कलेवर में उस कंबल को झटक। वे सारे कृमि कंबल से नीचे गिर गए फिर वैद्य ने साधु के शरीर पर गोशीर्षचन्दन का लेप कर दिया।^१ मुनि समाश्वस्त हुए। एक-दो-तीन बार इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति कर उन्होंने मुनि को नीरोग कर दिया। सभी मित्र मुनि से क्षमायाचना कर चले गए।

कालान्तर में वे सभी प्रव्रजित हो गए और पांचों मरकर अच्युत देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्युत होकर वह जंबूद्वीप के पूर्वविदेह की पुष्करावती विजय की पुंडरीकिनी नगरी में वज्रसेन राजा की रानी धारिणी के गर्भ से वज्रनाभ नाम का पुत्र हुआ। यह वैद्यपुत्र का जीव था, जो चक्रवर्ती बनने वाला था। अवशिष्ट जीव बाहु, सुबाहु, पीठ, महापीठ के रूप में उत्पन्न हुए। महाराज वज्रसेन प्रव्रजित हो गए। वे तीर्थंकर बने। शेष सभी गृहवास में महामांडलिक राजा बनकर भोग भोगने लगे। जिस दिन वज्रसेन को केवलज्ञान हुआ, उसी दिन वज्रनाभ के चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। वज्रनाभ चक्रवर्ती हो गया। उसने मुनि की वैयावृत्य की थी इसलिए उसे चक्रवर्ती की समृद्धि प्राप्त हुई। शेष चार मांडलिक राजा हुए। वज्रनाभ चक्रवर्ती का संपूर्ण आयुष्य चौरासी लाख पूर्व का था। उन्होंने कुमारवस्था में तीस लाख पूर्व, मांडलिक राजा के रूप में सोलह लाख पूर्व, महाराजा के रूप में चौबीस लाख पूर्व तथा श्रामण्य पर्याय चौदह लाख पूर्व तक पालन किया। चक्रवर्ती वज्रनाभ भोगों को भोगते हुए जीवन-यापन करने लगे।

एक बार तीर्थंकर वज्रसेन नलिनीगुल्म उद्यान में समवसृत हुए। समवसरण की रचना हुई। चक्रवर्ती वज्रनाभ अपने चारों सहोदरों के साथ तीर्थंकर पिता वज्रसेन के पास प्रव्रजित हो गए। मुनि वज्रनाभ ने चौदह पूर्व पढ़े और शेष चारों भाइयों ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। मुनि बाहु मुनियों की वैयावृत्य

-
१. पहले तैल चुपड़ा जाता है, पश्चात् गोशीर्षचन्दन का लेप किया जाता है, फिर तैल चुपड़ा जाता है और गोशीर्षचन्दन का लेप किया जाता है—इस परिपाटी से प्रथम अभ्यंगन से त्वक्गत कृमि बाहर आते हैं, दूसरे अभ्यंगन में मांसगत कृमि बाहर आते हैं और तीसरे अभ्यंगन में अस्थिगत कृमि बाहर आते हैं। फिर संरोहणी औषधि के प्रयोग से शरीर कनकवर्ण वाला हो जाता है।

करने लगे और सुबाहु अन्यान्य मुनियों को विश्राम देते थे। भगवान् वज्रसेन ने उन दोनों का उपबृंहण करते हुए कहा—‘अहो तुम दोनों ने मनुष्य जन्म का सुफल पा लिया। एक मुनियों की वैयावृत्य करता है और दूसरा परिश्रान्त मुनियों को विश्राम देता है।’ इस प्रकार भगवान् उनकी प्रशंसा करते। उनकी प्रशंसा सुनकर शेष दो भाई मुनियों में अप्रीति उत्पन्न होती। वे सोचते—हम भी तो स्वाध्यायरत रहते हैं, परंतु हमारी प्रशंसा नहीं होती। जो काम करता है, उसकी प्रशंसा होती है। यह सारा लोक-व्यवहार है। मुनि वज्रनाभ ने उस भव में विशुद्ध परिणामों से तीर्थकरनामगोत्र का बंध किया। मुनि बाहु ने वैयावृत्य करने के फलस्वरूप चक्रवर्ती के भोगों का अर्जन किया। सुबाहु ने सेवा-कार्य से बाहुबल की प्राप्ति की। दूसरे दो भाइयों ने मायावी आचरण के कारण स्त्रीनामगोत्र कर्म का बंध किया। पांचों अपना आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान में तेतीस सागरोपम की स्थिति वाले देव बने।

बाहु और पीठ भरत और ब्राह्मी के रूप में तथा सुबाहु और महापीठ बाहुबलि और सुंदरी के रूप में उत्पन्न हुए।^१

३१. ऋषभ का जन्म

वहां से च्युत होकर वज्रनाभ का जीव इस अवसर्पिणी काल के सुषम-सुषमा और सुषमा अर के व्यतीत हो जाने पर तथा सुषम-दुःषमा काल का बहुल भाग व्यतिक्रान्त होने पर उसके चौरासी लाख पूर्व तथा ८९ पक्ष शेष रहने पर आषाढ़ मास के कृष्णपक्ष की चतुर्थी के दिन उत्तराषाढ़ा योगयुक्त चन्द्रमा में, इक्ष्वाकु वंश के नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। मरुदेवा माता ऋषभ, गज आदि चौदह स्वप्न देखकर प्रतिबुद्ध हुई। उसने नाभि कुलकर से चौदह स्वप्नों की बात कही। उन्होंने कहा—‘देवी! तुम्हारा पुत्र महान् कुलकर होगा।’ उस समय इन्द्र का आसन चलित हुआ और वह शीघ्र ही वहां आ पहुंचा। उसने आते ही कहा—‘देवानुप्रिये! तुम्हारा पुत्र समस्त विश्व के लिए भंगलकारी होगा। वह प्रथम नृपति और प्रथम धर्मचक्रवर्ती होगा।’^२ यह सुनकर मरुदेवा हष्ट-तुष्ट हुई। वह आनन्दपूर्वक अपना गर्भ वहन करने लगी। नौ मास और साढ़े आठ (नौ) रात-दिन बीतने पर चैत्रकृष्णा अष्टमी उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में आधी रात के समय उसने एक अत्यंत स्वस्थ पुत्र का प्रसव किया। तीर्थकर जब उत्पन्न होते हैं, तब संपूर्ण लोक में उद्योत होता है। तीर्थकरों की माताएं प्रच्छन्नगर्भ वाली होती हैं। उनके जरा, रुधिर, कल्मष आदि नहीं होते। त्रिलोकीनाथ के जन्म लेते ही अधोलोकवास्तव्य आठ दिक्कुमारियों के आसन चलित हुए। उन्होंने अपने अवधिज्ञान से भगवान् ऋषभ के जन्म को जाना। दिव्ययान-विमान और समृद्धि के साथ शीघ्रता से आकर तीर्थकर और तीर्थकर-जननी की अभिवंदना करती हुई वे बोलीं—‘हे जनयित्री! तुमको नमस्कार है। तुम जगत् प्रकाशी त्रिभुवन-दीपक की मां हो। देवी! हम अधोलोकवासी आठ दिक्कुमारियां हैं। हमारे नाम इस प्रकार हैं—भोगकरी, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, सुवत्सा, वत्समित्रा, पुष्पमाला,

१. आवनि १३६/१-८, आवचू. १ पृ. १३१-१३४, हाटी. १ पृ. ७७-८०, मटी. प. १५८-१६०

२. कई आचार्य मानते हैं कि बत्तीस इन्द्रों ने आकर यह स्तुति की।

आनेन्द्रिया। हम तीर्थंकर भगवान् का जन्म-महोत्सव मनाने आई हैं। आप भय न करें।' तब उन्होंने उस प्रदेश में सैकड़ों खंभेवाले जन्म-भवन की विकुर्वणा की और संवर्तक पवन की विकुर्वणा कर जन्म-भवन के चारों ओर एक-एक योजन तक तृण, काष्ठ, कंकर तथा बालूरेत को साफ कर दूर फेंक दिया। तत्पश्चात् उड़ी हुई रेत आदि को शीघ्र ही उपशान्त कर माता सहित तीर्थंकर को प्रणाम कर उनके उपपात में गाती हुई बैठ गई। उसके पश्चात् ऊर्ध्वलोक वास्तव्य आठ दिक्कुमारियां—मेघंकरी, मेघवती, सुमेधा, मेघमालिनी, तोयधारा, विचित्रा, वारिसेना और बलाहका—आदि आठ दिक्कुमारियों ने आकाश में बादलों की विकुर्वणा की। फिर भगवान् के जन्म-भवन के चारों ओर एक योजन तक वर्षा की। उस वर्षा से न अधिक जल इकट्ठा हुआ और न अधिक मिट्टी। हल्की-हल्की वर्षा से वातावरण में सूक्ष्म रजें भी नहीं रहीं। वर्षा का पानी गंधोदक से सुरभिit था। उसके बाद दिक्कुमारियों ने जल और स्थल में विकसित वृत् से युक्त तथा पांच वर्षा वाले पुष्प के बादलों की विकुर्वणा कर घुटनों की ऊंचाई जितने फूलों की वर्षा की। वे दिक्कुमारियां भी गीत गा रही थीं।

इसके बाद पूर्व दिशा के रुचक प्रदेशों में रहने वाली नंदा, नंदोत्तरा, आनन्दा, नन्दिबर्धना, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता—ये आठ दिक्कुमारियां वहां आईं। दिक्कुमारियों ने मरुदेवा मां को भयभीत न होने के लिए कहा। वे दिक्कुमारियां माता सहित तीर्थंकर ऋषभ के सामने पूर्वदिशा में दर्पण लेकर खड़ी हो गईं और गीत गाने लगीं। इसी प्रकार दक्षिण रुचक प्रदेशों में रहने वाली समाहारा, सुप्रदत्ता, सुप्रबुद्धा, यशोधरा, लक्ष्मीवती, भोगवती, चित्रगुप्ता और वसुंधरा आदि आठ दिक्कुमारियां संसार को आनंद देने वाले ऋषभ और मरुदेवा के समक्ष दक्षिण दिशा में भृंगार लेकर खड़ी हो गयीं। पश्चिम रुचक प्रदेशों में रहने वाली इलादेवी, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मावती, एकनासा, नवमिका, सीता और भद्रा—ये आठ दिक्कुमारियां माता सहित भावी तीर्थंकर के पश्चिम दिशा में पंखें लेकर खड़ी हो गयीं और गीत गाने लगीं। उत्तर रुचक प्रदेशों में रहने वाली अलंबुसा, मिश्रकेशी, पुण्डरीकिनी, वारुणी, हासा, सर्वप्रभा, श्री, ह्री आदि आठ दिक्कुमारियां बालक सहित मरुदेवा माता के उत्तरदिशा में हाथ से चंवर डुलाते हुए गीत गाने लगीं। इसके पश्चात् विदिशा में रहने वाली चित्रा, चित्रकनका, सत्तारा और सौदामिनी—ये चार विद्युत्कुमारियां जननी सहित त्रिभुवनबंधु ऋषभ की चारों विदिशाओं में हाथ में दीपक लेकर खड़ी हो गयीं और गीत गाने लगीं। इसके बाद मध्य रुचक में रहने वाली रुचका, रुचकांशा, सुरुचा और रुचकावती आदि चार दिक्कुमारियां पास आकर कोई रुकावट नहीं है, ऐसा जानकर, भव्यजनों के लिए कमलवन के मंडनस्वरूप भगवान् ऋषभ की चार अंगुल वर्ष्म गर्भनाल काटने लगीं। एक विवर खोदकर नाभिनाल उसमें रखकर उसे रत्न और हीरों से भरने लगी। फिर हरियाली से उस पर वेदी बांधने लगी। तीर्थंकर के जन्म-भवन के पूर्व दक्षिण और उत्तर दिशा में तीन कदलीगृहों की विकुर्वणा करके उसके बीच में तीन चन्द्रशालाओं की विकुर्वणा की। वे दिक्कुमारियां तीर्थंकर को हाथ में लेकर और माता को हाथों का सहारा देकर दक्षिण कदलीगृह के चतुःशाल के सिंहासन पर बिठाकर शतपाक और सहस्रपाक तैल से उनके शरीर का अभ्यंगन किया फिर सुरभिit गंधोदक से उनके शरीर का उदवर्तन किया।

इसके बाद तीर्थंकर भगवान् को हाथों में लेकर तथा माता को भुजाओं से सम्यक् रूप से पकड़कर

पूर्वदिशा वाले कदलीगृह के चतुःशाला में स्थित सिंहासन पर बिठाकर स्नान करवाया। गंध काषायिक वस्त्र से शरीर को पोंछकर गीले गोशीर्षचंदन का लेप कर उन्हें दिव्य देवदूष्य पहनाकर सर्व अलंकारों से अलंकृत किया। इसके पश्चात् उत्तरदिशा में स्थित कदलीगृह के चतुःशाला में स्थित सिंहासन पर उन दोनों को बिठाया। इसके बाद आभियोगिक देवों ने चुल्ल हिमवत पर्वत से गीले गोशीर्षचंदन की लकड़ी लाकर अरणि से अग्नि उत्पन्न की। दिक्कुमारियों ने गोशीर्ष चंदन की लकड़ी से अग्नि को प्रज्वलित किया। तत्पश्चात् अग्निहोम, भूतिकर्म तथा रक्षापोट्टलिका (बच्चे को बुरी नजर से बचाने के लिए किया जाने वाला उपचार) आदि कर्म किए। फिर भगवान् के कर्णमूल में पत्थर के दो गोल टुकड़े बजाए। आपका आयुष्य पर्वत जितना लम्बा हो—ऐसा कहकर तीर्थंकर भगवान् को हस्तपुटों में तथा उनकी माता को भुजाओं से पकड़कर जन्म-भवन की शय्या पर बिठाया और बालक को उनके पास रखकर गीत गाती हुई भगवान् के पास बैठ गयीं।

इसके पश्चात् नाना मणि की किरणों से सुशोभित इंद्र का सिंहासन चलित हुआ। उसने अपने अवधिज्ञान से तीर्थंकर भगवान् के जन्म को देखा और शीघ्र ही अपने पालक विमान से वहां आया। उसने भगवान् तथा उनकी माता को तीन बार दाएं से बाएं प्रदक्षिणा की। वंदन एवं नमस्कार करके वह इस प्रकार बोला—‘रत्न कुक्षिधारक मरुदेवा मां! तुमको नमस्कार! मैं भगवान् का जन्म-महोत्सव करना चाहता हूं।’ माता उत्सव में रुकावट न डाले इसलिए मरुदेवा को अवस्वापिनी नींद में सुला दिया। इंद्र ने तीर्थंकर के प्रतिरूप की विकुर्वणा कर उसको तीर्थंकर की माता के पास रख दिया और भगवान् के शरीर को हस्तपुट में लेकर अपने शरीर की पांच प्रकार से विकुर्वणा की। जिनेन्द्र को गृहीत एक शरीर, दोनों ओर दो इन्द्र हाथों में चमर धारण किए हुए, एक पवित्र आतपत्र लिए हुए और पांचवां हाथ में वज्र लिए हुए—इस प्रकार पांच शरीरों की विकुर्वणा की।

तब इंद्र चार प्रकार के देव समूह के साथ भगवान् को लेकर शीघ्रता से मंदर पर्वत के पंडकवन की मंदरचूलिका की दक्षिण दिशा में स्थित अतिपांडुकंबलशिला पर अभिषेक सिंहासन के पास गया और पूर्व दिशा के अभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ गया। बत्तीस प्रकार के इन्द्र भगवान् के चरण के निकट आए। सबसे पहले अच्युत देवलोक के इन्द्र ने अभिषेक किया फिर क्रमशः चमर, चन्द्र, सूर्य पर्यन्त सभी इन्द्रों ने अभिषेक किया। भगवान् के जन्मअभिषेक के उत्सव से निवृत्त होकर इन्द्र सर्वऋद्धि से चार प्रकार के देवों के साथ तीर्थंकर को लेकर माता के पास लौट आया। तीर्थंकर की प्रतिकृति का संहरण कर मूल तीर्थंकर को माता के पास सुला दिया। अवस्वापिनी विद्या का संहरण कर माता को जागृत किया। इन्द्र ने दिव्य क्षौमयुगल तथा कुंडलयुगल को भगवान् के सिरहाने के पास रखा। एक श्रीदामगंड, स्वर्णोज्ज्वल लड्डियों का एक हार तथा नाना प्रकार के सुवर्णप्रतर मंडित नानामणिरत्नजटित हार-अर्द्धहार आदि आभूषण भगवान् के चंदेवे के ऊपर रखे। बालक तीर्थंकर अनिमेषदृष्टि से देखते हुए सुखपूर्वक क्रीडा करने लगे। इन्द्र के कहने पर वैश्रमण देव ने बत्तीस करोड़ हिरण्य, बत्तीस करोड़ सुवर्ण, बत्तीस नन्दासन, बत्तीस भद्रासन

१. भगवान् के अभिषेक का विस्तृत वर्णन चूर्णि में मिलता है। देखें आवचू. १ पृ. १४३-१५१।

भगवान् के जन्मभवन में स्थापित किए। तब शक्र ने आभियोगिक देवों के साथ उच्च स्वर में उद्घोषणा की कि सभी भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों और देवियों! सुनो, जो कोई भगवान् के प्रति अथवा उनकी जननी के प्रति मन में अशुभ भावना करेगा उसका सिर आर्यमंजरी की भांति सात टुकड़ों में विभक्त हो जाएगा। चारों प्रकार के देव भगवान् की जन्म-महिमा कर नंदीश्वरद्वीप में गए और वहां अष्टाहिक उत्सव संपन्न कर अपने स्थान पर लौट गए।^१

३२. इक्ष्वाकु वंश की स्थापना

यह जीत व्यवहार है कि अतीत, अनागत और वर्तमान के सभी प्रथम तीर्थंकर की वंशस्थापना इंद्र करते हैं। भगवान् के जन्म के बाद देवताओं का समूह एकत्रित होकर आया। इंद्र ने सोचा कि मैं खाली हाथ कैसे जाऊं इसलिए वह एक बड़ा इक्षुदण्ड हाथ में लेकर गया। नाभि कुलकर ऋषभ को अपनी गोद में लिए हुए बैठे थे। इंद्र के आगमन पर भगवान् की दृष्टि इक्षु-दण्ड पर पड़ी। इंद्र ने पूछा—‘भगवन्! क्या आप इक्षु खाएंगे?’ यह सुनकर ऋषभस्वामी ने अपना हाथ फैलाया और हंसकर प्रसन्नता व्यक्त की। इंद्र ने सोचा कि भगवान् को इक्षु खाने की अभिलाषा है, इसलिए इनका वंश इक्ष्वाकु हो।^२ भगवान् के पूर्वजों ने इक्षुरस पीया था अतः उनके वंश का नाम इक्ष्वाकु पड़ा। इस प्रकार इंद्र भगवान् के वंश की स्थापना करके वापिस चला गया।^३

३३. ऋषभ का विवाह

भगवान् ऋषभ सुमंगला के साथ सुखपूर्वक संवर्धित हो रहे थे। उस समय एक यौगलिक के एक युगल प्रसूत हुआ। उस युगल को ताड़ वृक्ष के नीचे रखकर वे स्वयं कदलीगृह में क्रीडारत हो गए। वायु के साथ एक पका हुआ ताड़ का फल नीचे सोए बालक के ऊपर गिरा। अकाल में ही बालक की मृत्यु हो गयी। कुछ समय तक बालिका का पालन-पोषण कर वह यौगलिक कालगत हो गया। बड़ी होने पर वह कन्या देवकन्या की भांति रूपवती और उत्कृष्ट शरीर वाली हो गयी। वह वनदेवता की भांति वन में विचरण करती थी। उसको एकाकी देखकर लोगों ने नाभि को निवेदन किया। नाभि ने कहा—‘यह ऋषभ की पत्नी होगी। इससे स्वतः इसकी सुरक्षा हो जाएगी।’ ऋषभ दो दारिकाओं के साथ बढ़ने लगे।

शक्र के मन में ऐसा चिंतन उत्पन्न हुआ कि अतीत, अनागत और वर्तमान के सभी प्रथम तीर्थंकरों का विवाह-उत्सव किया जाता है, यह हमारा जीत व्यवहार है। चिंतन के साथ वह शीघ्र ही समृद्धि के साथ वहां आया। शक्र ने स्वयं भगवान् ऋषभ का वरकर्म किया तथा दोनों दारिकाओं का इन्द्र की अग्रमहिषी ने वधूकर्म किया। विवाह करके इन्द्र जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में वापिस लौट गया।^४

३४. ऋषभ का राज्याभिषेक

यौगलिक हाकार, माकार आदि दंडनीतियों का अतिक्रमण करने लगे। भगवान् को जातिस्मृति

१. आवनि. १३७/१, २, आवचू. १ पृ. १३५-१५१, हाटी. १ पृ. ८०-८३, मटी. प. १६३-१९१।

२. हाटी. १ पृ. ८४, इक्षुं अकु—भक्षयसि? अकुशब्दः भक्षणार्थे वर्तते।

३. आवनि. १३७/३, ४, आवचू. १ पृ. १५२, हाटी. १ पृ. ८४, मटी. प. १९२।

४. आवनि. १३७/५, ९, आवचू. १ पृ. १५२, १५३, मटी. प. १९३।

ज्ञान था। लोगों ने उनसे पूछा—‘नीतियों का अतिक्रमण हो रहा है अतः अब क्या करना चाहिए?’ तब भगवान् ऋषभ ने कहा—‘अब राजा की आवश्यकता है।’ लोगों ने पूछा—‘राजा कैसा होता है?’ तब ऋषभ ने कहा—‘जो राजा होता है, उसके पास कुमार, अमात्य, दंडपालक और आरक्षक होते हैं इसलिए उनकी उग्र दंडनीति होती है। उसका लोग अतिक्रमण नहीं कर सकते।’ लोगों ने फिर प्रश्न किया—‘राजा कैसे बनता है?’ ऋषभ ने उत्तर दिया—‘उसका राज्याभिषेक किया जाता है।’ लोगों ने कहा—‘आप हमारे राजा बन जाएं।’ ऋषभ ने कहा—‘आप लोग नाभि से राजा की याचना करो।’ लोग नाभि के पास जाकर राजा की मांग करने लगे। नाभि ने कहा—‘मैं अब अवस्था प्राप्त हो गया हूँ तुम लोग ऋषभ को राजा के रूप में स्थापित करो।’ लोग पद्मसरोवर के पास गए। पद्मिनी पत्रों से वे जब पानी ला रहे थे तब इन्द्र का आसन चलित हुआ। इन्द्र लोकपाल के साथ अपनी समस्त ऋद्धि सहित वहां उपस्थित हुआ। उसने ऋषभ का राज्याभिषेक किया। राजा के योग्य जितने अलंकार होते हैं, वह सब लेकर आया। उसने बड़े उत्सव के साथ ऋषभ का राज्याभिषेक किया।

लोगों ने आकर ऋषभ को अभिषिक्त और सब अलंकारों से विभूषित देखा। वे उन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा—‘अलंकृत और विभूषित ऋषभ के ऊपर पानी कैसे डालें?’ तब उन्होंने नलिनीपत्रों में लाये हुए पानी से ऋषभ के पैरों का अभिषेक कर दिया। यह देखकर इन्द्र ने सोचा यहां के लोग बहुत विनीत हैं अतः इस नगरी का नाम भी विनीता हो। तब देवराज शक्र ने वैश्रमण देव को आज्ञा दी—‘देवानुप्रिय! बारह योजन दीर्घ, नव योजन चौड़ी नगरी का निर्माण करो।’ आज्ञा के साथ ही वैश्रमण देव ने दिव्य वन और प्राकारों से शोभित विनीता नगरी का निर्माण कर दिया।

राज्याभिषेक के बाद ऋषभ ने चार प्रकार का राज्यसंग्रह किया—उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय। जिनकी दंडनीति उग्र थी, वे उग्र कहलाए। वे आरक्षक पुरुष बने। ऋषभ के पितृस्थानीय भोग, समवयस्क राजन्य तथा अवशेष क्षत्रिय कहलाए।^१

३५. ऋषभ द्वारा प्रशिक्षण

पहले यौगलिक कंद आदि का आहार करते थे। फिर सतरह प्रकार के धान्य का आहार करने लगे। कालान्तर में वह धान्य उनके लिए अपाच्य हो गया तब वे ऋषभ के पास आए। ऋषभ ने कहा—‘तुम इनको हाथ से घर्षण करके छिलका उतारकर खाओ।’ काल-दोष से वह भी सुपाच्य नहीं रहा। ऋषभ ने चावल आदि धान्यों को दोनों में भिगोकर खाने का निर्देश दिया। जब भिगोया हुआ धान्य हाथ में रखकर खाने पर दुष्पाच्य हो गया तो ऋषभ ने कांख की उष्मा में रखकर खाने की बात कही। एकान्त स्निग्ध और एकान्त रुक्ष काल में अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती।

काल-स्वभाव से वृक्षों के संघर्षण से एक दिन अग्नि उत्पन्न हो गयी। अग्नि फैलने लगी और सूखे पत्ते, कचरे आदि को जलाने लगी। वे मनुष्य अग्नि को अद्भुत रत्न समझकर उसे लेने के लिए दौड़े। जब उन्होंने उसे लेने के लिए हाथ आगे बढ़ाया तो वे जलने लगे अतः वे वहां से दूर चले गए। भयभीत

१. आवनि. १३७/११-१५. आवचू. १ पृ. १५३, १५४, हाटी. १ पृ. ८५, मटी. प. १९४, १९५।

होकर वे राजा ऋषभ के पास आए और सारी बात कही। ऋषभ बोले—‘आग के आसपास की घास को काट डालो।’ तब हाथियों और घोड़ों ने सारी घास को मर्दित कर दिया। अग्नि शान्त हो गयी।

अग्नि उत्पन्न होने पर भगवान् ने उन्हें भोजन पकाने की बात कही। वे पकाना नहीं जानते थे। उन्होंने धान्य को सीधा अग्नि में डाल दिया। इससे सारा धान्य जल गया। वे पुनः ऋषभ के पास उपस्थित हुए और बोले—‘आग ने हमारे सारे धान्य को खा लिया है।’ भगवान् ने उन्हें मिट्टी लाने को कहा। वे हाथी पर आरूढ़ थे। यौगलिक गीली मिट्टी ले आए। भगवान् ने उसे हाथी के कुंभस्थल पर ढालकर बर्तन बनाने की विधि बताई। फिर कहा—‘इस प्रकार बर्तन बनाकर उसमें धान्य पकाओ।’ उन्होंने वैसा ही करना प्रारंभ किया। इस प्रकार सर्वप्रथम कुंभकारों की उत्पत्ति हुई तथा पाकविद्या और पात्र-निर्माण विद्या का प्रारम्भ हुआ।^१

३६. ऋषभ का अभिनिष्क्रमण

कौशल देश में उत्पन्न ऋषभ प्रथम राजा, प्रथम भिक्षाचर तथा प्रथम तीर्थंकर थे। बीस लाख पूर्व तक कुमारावास में रहकर ६३ लाख पूर्व तक राज्य का पालन किया। लेख, गणित आदि ७२ कलाओं, ६४ स्त्री-कलाओं और अनेक शिल्पों का उपदेश दिया। कलाओं एवं शिल्पों का प्रशिक्षण देकर अपने सौ पुत्रों का राज्याभिषेक किया। लोकांतिक देवों द्वारा संबोध दिए जाने पर सांवत्सरिक दान देकर ऋषभ ने भरत को विनीता (अयोध्या) तथा बाहुबलि को बहली का राज्य सौंपा।

कच्छ, महाकच्छ^२ आदि चार हजार व्यक्ति भगवान् के साथ प्रव्रजित हुए। चैत्र कृष्णा अष्टमी को दिवस के अंतिम भाग में सुदर्शना शिविका में देव, मनुष्य और असुरों के साथ राजधानी के मध्य से निकलते हुए भगवान् ऋषभ सिद्धार्थ वन के अशोक वृक्ष के नीचे गए। अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरकर भगवान् ने स्वयं चतुःमुष्टि लोच किया। जब भगवान् पंच मुष्टि लोच कर रहे थे तब इंद्र ने भगवान् को निवेदन किया—‘भगवन्! आपके कनक के समान अवदात शरीर पर अंजन रेखा की भांति ये काले बाल सुशोभित होंगे अतः आप इनको ऐसे ही रहने दें। भगवान् ने इंद्र की बात मान ली अतः भगवान् का चतुःमुष्टि लोच हुआ। लोच करके निर्जल बेलों की तपस्या में आषाढ़ा नक्षत्र में उग्र, भोग आदि क्षत्रिय राजाओं के साथ भगवान् ने दीक्षा स्वीकार कर ली। उन चार हजार व्यक्तियों का पंचमुष्टि लोच हुआ। दीक्षा के समय भगवान् के शरीर पर एक देवदूष्य था। सामायिक चारित्र स्वीकार करके भगवान् ने अनेक घोर अभिग्रह स्वीकार किए। भगवान् ऋषभ एक वर्ष से अधिक समय तक चीवरधारी रहे।^३

३७. नमि-विनमि की याचना

कच्छ और महाकच्छ वन में तापस-जीवन जीने लगे। उन्होंने अपने पुत्रों नमि और विनमि को कहा—‘हमने जो वनवास विधि स्वीकृत की थी, वह कठोर है इसलिए तुम ऋषभ के पास जाओ, वे

१. आवभा. ५-३०, आवनि. १३८-१४१/१, आवचू. १ पृ. १५४-१५६, हाटी. १ पृ. ८६-८८, मटी. प. १९६-२०१।

२. कुछ आचार्यों के अभिमत से कच्छ और महाकच्छ को भी ऋषभ ने राज्य दिया।

३. आवनि. १९५, आवचू. १ पृ. १६०, १६१, हाटी. १ पृ. ९०, ९१, मटी. प. २१५।

तुम्हारी अभिलाषा पूरी करेंगे।' पिता की बात सुनकर वे भगवान् के पास उपस्थित हुए। उन्होंने भगवान् को उपालम्भ देते हुए कहा—'आपने हमारा किसी वस्तु में संविभाग नहीं किया।' वे कवच आदि धारण कर हाथ में तलवार लेकर भगवान् ऋषभ की सेवा में रहने लगे। वे प्रतिदिन कमलपत्र का दोना बनाकर पानी लाते और भगवान् के चारों ओर वर्षण कर सुगंधित फूलों का घुटने जितना ढेर कर देते। वे तीनों संन्याओं में भगवान् को निवेदन करते—'आपने सभी पुत्रों को राज्य और भोग दिए हम आपके दत्तक पुत्र हैं अतः हमें भी दें। इस प्रकार तीनों संन्याओं में निवेदन करते हुए वे भगवान् की सेवा में काल बिताने लगे।'।

एक बार नागकुमारेन्द्र धरण भगवान् को वंदना करने के लिए आया। नमि-विनमि ने उनके सामने भी यही बात कही। नमि-विनमि को याचना करते हुए देखकर धरणेन्द्र ने कहा—'भगवान् तो त्यक्त संग हैं। ये न रोष करते हैं और न ही किसी पर संतुष्ट होते हैं।' ये अपने शरीर के प्रति भी निर्मोही हैं। ये अकिंचन, परमयोगी, निरुद्धास्रव और कमलपत्र की भांति निरुपलेष हैं। आप लोग इनसे याचना मत करो। तुम्हारी भगवान् की सेवा व्यर्थ न हो इसलिए पढ़ने मात्र से सिद्ध होने वाली गंधर्व प्रज्ञप्ति आदि ४८ हजार विद्याएं तुमको देता हूं, उनमें चार विद्याएं ये हैं—१. गौरी, २. गांधारी, ३. रोहिणी, ४. प्रज्ञप्ति। धरणेन्द्र ने कहा—'तुम लोग विद्याधर ऋद्धि से अपने जनपद एवं स्वजन लोगों को प्रलोभन देकर वैताढ्य पर्वत पर विद्याधर-नगरों का निर्माण करो।'।

दोनों भाइयों ने कृपा प्राप्त कर तीर्थंकर और नागराज को वंदना की। पुष्पक विमान की विकुर्वणा कर वे कच्छ महाकच्छ के पास आए। अपनी सफलता और धरणेन्द्र के प्रसाद की बात उन्हें बता वे अयोध्या नगरी गए। उन्होंने भरत को सारा वृत्तान्त बताया। फिर वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी में विनमि ने गगनवल्लभ प्रमुख ६० नगरों का निर्माण किया तथा नमि ने वैताढ्य पर्वत की दक्षिणश्रेणी में चक्रवाल प्रमुख ५० नगरों का निर्माण किया। जो जिस जनपद से मनुष्यों को लाया वैताढ्य पर्वत पर वे उसी नाम की बस्तियां हो गयीं। विद्याधर-निकायों के नाम इस प्रकार थे—

१. गोरियों की गोरिक	६. भूमितुंडिक की भूमितुंडिक	११. समकी की समक
२. मनुओं की मनुज	७. मूलवीर्य की मूलवीर्य	१२. मातंगी की मातंग
३. गंधारियों की गांधार	८. शंबुक्क की शंबुक्क	१३. पार्वती की पार्वत
४. मानवी की मानव	९. पटूकी की पटूक	१४. वंशालय की वंशालय
५. कैशिकों की कैशिक	१०. काली की कालीय	१५. पांशुमूलिक की पांशुमूलिक
		१६. वृक्षमूलिक की वृक्षमूलिक १

नमि विनमि ने सोलह विद्याधर निकायों का विभाग कर आठ-आठ निकाय आपस में बांट लिए। विद्याबल से वे गगनचारी बनकर परिजनों के साथ मनुष्य तथा देव सम्बन्धी भोगों को भोगने लगे।^१

३८. ऋषभ का पारणा

भगवान् ऋषभ निराहार, स्वयंभू सागर की भांति अविचल और शान्त रूप से विहरण करने लगे। उनके साथ दीक्षित चार हजार व्यक्ति भी थे। जब भगवान् भिक्षा के लिए जाते तो लोग अश्व, हाथी,

१. मटी. की अपेक्षा चूर्णि में इन नामों में कुछ अंतर है। आवचू. १ पृ. १६२।

२. आवचि १९८, आवचू. १ पृ. १६१, १६२, हाटी. १ पृ. ९६, मटी. प. २१५, २१६।

आभरण और कन्या आदि का उपहार भेंट करते। लोग भिक्षा की विधि नहीं जानते थे। भिक्षा प्राप्त न होने पर जो चार हजार व्यक्ति भगवान् ऋषभ के साथ प्रव्रजित हुए थे, वे भरत के भय से घर भी नहीं आ सके अतः वन में जाकर तापस बन गए। उन्होंने कंद-मूल और फल खाना प्रारम्भ कर दिया। भगवान् को बिना आहार किए एक साल हो गया। सामुदायिक भिक्षा के लिए जब ऋषभ निकलते तो लोग कहते कि ये हमारे परमस्वामी हैं। पर उन्हें क्या देना है, इस बात से वे अनभिज्ञ थे। छद्मस्थ अवस्था में भगवान् बहली, अडंब आदि देशों में घूमते हुए गजपुर—हस्तिनापुर आए।

कुरु जनपद में गजपुर नाम का नगर था। वहां भरत का पुत्र सोमप्रभ^१ राज्य करता था। उसका पुत्र श्रेयांस युवराज था। एक दिन उसने स्वप्न में मंदर पर्वत को श्याम वर्ण वाला देखा तथा अपने हाथों से अमृतकलशों से उसका अभिसिंचन किया। अभिषेक से मेरु पर्वत अत्यधिक शोभित होने लगा। उसी दिन नगर सेठ सुबुद्धि ने स्वप्न में देखा कि सूर्य की हजार किरणें अपने स्थान से चलित हो गई हैं। श्रेयांस ने उन्हें उठाया जिससे वह सूर्य अत्यधिक तेजस्वी हो गया। महाराज सोमप्रभ ने स्वप्न में एक महाप्रमाण पुरुष को बहुत बड़ी शत्रु-सेना के साथ युद्ध करते देखा। श्रेयांस ने उस महाप्रमाण पुरुष को सहयोग दिया तब वह शत्रुसेना पलायन कर गई। वे तीनों सभामंडप में एकत्रित हुए। तीनों ने अपना-अपना स्वप्न राजा सोमप्रभ को बताया, परंतु तीनों ही स्वप्न का फल नहीं जानते थे। युवराज को कोई बड़ा लाभ होगा, यह कहकर राजा सोमप्रभ चला गया। श्रेयांस भी अपने भवन में चला गया।

गवाक्ष में बैठे हुए श्रेयांस ने ऋषभ स्वामी को नगर में प्रवेश करते हुए देखा। उसने सोचा, जैसा मेरे प्रपितामह का वेश है, वैसा मैंने कहीं देखा है। सोचते-सोचते उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो गयी। पूर्वभव में वह भगवान् का सारथी था। वहां उसने तीर्थंकर वज्रसेन को तीर्थंकर वेश में देखा था। वज्रनाभ के साथ वह भी प्रव्रजित हुआ था। वहां उसने सुना था कि वज्रनाभ भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर होंगे। ये वे ही भगवान् हैं। भगवान् को कुछ भक्त-पान देना चाहिए वह ऐसा सोच ही रहा था कि श्रेयांस के पास एक मनुष्य इक्षुरस से भरे घड़े लेकर आया। श्रेयांस परम हर्ष से युक्त होकर, बहुमूल्य एवं नए कपड़े पहनकर, गोशीर्ष और चंदन का लेप करके, मणि और सुवर्ण से युक्त कुंडलों से उद्योतित मुख वाला होकर, सिर पर मुकुट धारण करके कल्पवृक्ष की भांति अलंकृत और विभूषित होकर, लोगों के द्वारा जय-जय नाद का शब्द किए जाते हुए, परिवार से संवृत होकर उठा। उठकर अपनी पादुका को खोलकर, धोती का उत्तरासंग किया। फिर हाथ जोड़कर आठ-दस कदम भगवान् के सम्मुख आया। तीन बार प्रदक्षिणा देकर भगवान् को वंदना की। अपने भवन के आंगण में स्वयं ही इक्षुरस का घट उठाकर श्रेयांस भगवान् के पास आया। भगवान् ने उसे स्वयं भिक्षा मानकर हाथ पसारे। श्रेयांस ने सारा इक्षुरस अंजलि में उंडेल दिया। भगवान् की अंजलि निश्छद्र होती है। ऊपर शिखा तक भर देने पर भी नीचे कुछ नहीं गिरता, यह भगवान् की लब्धि है।

भगवान् ने एक वर्ष की तपस्या का पारणा किया। वहां पांच दिव्य प्रादुर्भूत हुए—१. वसुधारा की वृष्टि २. देवताओं द्वारा चेलोत्क्षेप ३. देवदुन्दुभि का वादन ४. गन्धोदक और पुष्पवृष्टि ५. आकाश में अहोदानं

१. मलयगिरि और हारिभद्रीय टीका में बाहुबलि के पुत्र सोमप्रभ का पुत्र श्रेयांस था। चूर्णिकार ने इस मान्यता को 'अण्णे भणंति' कहकर उल्लिखित किया है। उन्होंने श्रेयांस को भरत के पुत्र सोमप्रभ का पुत्र माना है। आवचू. १ पृ. १६२

का घोष। वहां देवताओं के समूह को देखकर लोग श्रेयांस के भवन पर आए। कुछ तापस और अन्य राजा भी आए। तब श्रेयांस ने उन्हें कहा—‘ऐसे भिक्षा दी जाती है। ऐसे मुनियों को भिक्षा देने से सुगति होती है।’ तब सभी ने पूछा—‘तुमने कैसे जाना कि स्वामी को भिक्षा देनी है।’ श्रेयांस बोला—‘मैंने जातिस्मृति ज्ञान से यह जान लिया कि मैंने पूर्वभव में स्वामी के साथ आठ जन्म साथ-साथ ग्रहण किए हैं।’ यह सुनकर लोगों के मन में कुतूहल हुआ। वे बोले—‘हम जानना चाहते हैं कि तुम आठ भवों में स्वामी के साथ किस रूप में रहे?’ उनके पूछने पर श्रेयांस ने ऋषभ के साथ अपने आठ भवों के विषय में उन्हें बताया—

१. ईशान देवलोक के श्रीप्रभ विमान में भगवान् ललितांगक देव थे और मैं भगवान् की स्वयंप्रभा देवी थी।
२. पूर्वविदेह के पुष्कलावती विजय के लोहार्गल नगर में भगवान् वज्रजंघ थे और मैं उनकी भार्या श्रीमती थी।
३. उत्तर-पूर्व में भगवान् और मैं युगलरूप में जन्मे।
४. सौधर्म कल्प में हम दोनों देव बने।
५. अपरविदेह में भगवान् वैद्यपुत्र और मैं जीर्णश्रेष्ठी पुत्र केशव भगवान् का छोटा मित्र था।
६. अच्युत कल्प में हम दोनों देव बने।
७. पुंडरीकिनी नगर में भगवान् वज्रनाभ बने और मैं सारथी बना।
८. सर्वार्थसिद्ध विमान में हम दोनों देव बने।^१

इस भव में मैं भगवान् का प्रपौत्र बना। तीनों स्वप्नों की फलश्रुति यही थी कि भगवान् को भिक्षा दी गई। यह सुनकर जनता ने श्रेयांस का अभिवादन किया और सभी अपने-अपने स्थान की ओर प्रस्थित हो गए। जहां भगवान् को दान दिया था, उस स्थान को कोई पैरों से आक्रान्त न करे इसलिए श्रेयांस ने वहां भक्तिभाव से एक रत्नमय पीठ बनवाया। त्रिसंध्य उसकी अर्चना होने लगी। विशेषतः पर्व के दिनों में वह उस पीठ की अर्चना-पूजा करने के बाद ही भोजन लेता था। लोगों ने पूछा—‘यह क्या है?’ श्रेयांस बोला—‘यह आदिकर भगवान् ऋषभ का मंडल है।’ तब लोगों ने भी जहां-जहां भगवान् ठहरे, वहां-वहां पीठों का निर्माण किया। कालान्तर में वे आदित्यपीठ हो गए।^२

३९. भगवान् का तक्षशिलागमन तथा कैवल्यप्राप्ति

एक बार भगवान् ऋषभ विहरण करते-करते बाहुबलि की राजधानी तक्षशिला में गए। भगवान् के विषय में समाचार सुनाने के लिए नियुक्त व्यक्तियों ने महाराज बाहुबलि को भगवान् के पदार्पण के समाचार सुनाए। भगवान् बहली नगरी में विकाल में पधारे थे अतः बाहुबलि ने सोचा—‘कल प्रातःकाल मैं अपने समस्त पारिवारिक जनों तथा पूर्ण समृद्धि के साथ उद्यान में जाकर भगवान् के दर्शन करूंगा। प्रातःकाल वह दर्शन करने के लिए प्रस्थित हुआ। स्वामी वहां से अन्यत्र विहरण कर गए। स्वामी को वहां न देखकर बाहुबलि अत्यंत खिन्न हो गया। उसने जहां भगवान् रहे थे, वहां धर्मचक्र का चिह्न बनवाया। वह

१. आठों भवों का विस्तार चूर्णि पृ. १६४-१८० एवं मलयगिरि टीका प. २१८-२२६ में विस्तार से मिलता है।

२. आवनि. २००-२०३, आवचू. १ पृ. १६२-१६४, हाटी. १ पृ. ९७, ९८, मटी. प. २१७-२२६।

सर्वरत्नमय, एक योजन परिमंडल वाला तथा पांच योजन ऊंचा दंड था। भगवान् वहां से बहली आदि अनेक जनपदों में निर्विघ्न विहरण करते हुए विनीता नगरी के उद्यानस्थान वाले पुरिमताल नगर में समवसृत हुए। उसके उत्तरपूर्वभाग में शकटमुह उद्यान में भगवान् न्यग्रोध पादप के नीचे बैठे थे। उनके तेले की तपस्या थी। फाल्गुनकृष्ण एकादशी, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र, पूर्वाह्न का समय, प्रव्रज्या के दिन से हजार वर्ष बीतने पर, त्रिभुवन के मित्रभूत भगवान् ऋषभ को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। देवताओं ने कैवल्य-प्राप्ति का उत्सव मनाया।^१

४०. चक्ररत्न की उत्पत्ति

भरत के गुप्तचर उसको प्रतिदिन ऋषभ की सुखसाता का संवाद देते थे। भरत को उन्होंने ज्ञानरत्न और चक्ररत्न—दोनों की उत्पत्ति के समाचार एक साथ दिए। भरत ने सोचा—‘पूजा दोनों की करनी है परन्तु पहले किसकी पूजा की जाए? चक्ररत्न की पूजा करूं अथवा पिताश्री की?’ उसने मन ही मन समाधान कर लिया कि पिताश्री की पूजा कर लेने पर चक्ररत्न की पूजा स्वयं संपन्न हो जाती है। चक्र ऐहलौकिक सुख का वाहक है और तात परलोक-सुख के हेतु हैं। भरत सर्वऋद्धि के साथ भगवान् को वंदना करने के लिए प्रस्थित हुआ।^२

४१. मरुदेवा की सिद्धि

ऋषभ के प्रव्रजित हो जाने पर भरत की राज्यश्री को देखकर मरुदेवा बोली—‘मेरे पुत्र की भी ऐसी ही राज्यश्री थी। वर्तमान में वह भूखा-प्यासा और नग्न होकर गांव-गांव में घूमता है।’ वह भरत के सामने बहुत दुःख व्यक्त करने लगी। अनेक बार भरत भगवान् की विभूति का वर्णन करता परन्तु मरुदेवा उस पर विश्वास नहीं करती थी। पुत्रशोक से विह्वल होकर वह रुदन करती। रुदन से उसकी आंखें कुम्हला गईं। भगवान् के दर्शन करने जाते समय भरत ने मरुदेवा को साथ चलने के लिए कहा और बोला—‘चलो, मैं तुमको भगवान् की विभूति दिखाऊं।’ हाथी पर आरूढ़ मरुदेवा को आगे कर भरत दर्शनार्थ चला। समवसरण के निकट जाकर उन्होंने देखा कि विमानों में आरूढ़ देवतागण आ रहे हैं, चारों ओर देवदुन्दुभियां बज रही हैं। पूरा गगनमंडल उनके नाद से भर गया है। भरत ने मरुदेवा से कहा—‘देखो! इनकी ऋद्धि के समक्ष मेरी समृद्धि तिलतुष मात्र या कोटिशतसहस्रभाग भी नहीं है।’ मरुदेवा भगवान् का छत्रातिछत्र अतिशय देख रही थी। उसे तत्काल कैवल्य की प्राप्ति हुई और वह आयुष्य पूर्ण कर सिद्ध हो गई। इस भरत क्षेत्र के अवसर्पिणी काल में वह प्रथम सिद्ध हुई। देवताओं ने पूजा-अर्चा की और मृत शरीर को क्षीर समुद्र में प्रवाहित कर दिया। उस समय भगवान् समवसरण में धर्मकथा कर रहे थे। समवसरण में भरत का पुत्र ऋषभसेन उपस्थित था। उसके पहले ही गणधरनामगोत्र का बंध हो चुका था। उसको विरक्ति हुई और वह प्रव्रजित हो गया। ब्राह्मी ने दीक्षा ग्रहण कर ली। भरत श्रावक बन गया। सुंदरी भी प्रव्रजित हो रही थी, परन्तु भरत ने यह कहकर निषेध कर दिया कि वह उसकी स्त्रीरत्न होगी। तब वह श्राविका बनी। चतुर्विध श्रमणसंघ की उत्पत्ति हुई।

१. आवनि २०४-२०८, आवचू. १ पृ. १८०, १८१, हाटी. १ पृ. ९८, मटी. प. २२८।

२. आवनि २०८, २०९, आवचू. १ पृ. १८१, हाटी. १ पृ. ९९, मटी. प. २२९।

भगवान् के साथ अभिनिष्क्रमण करने वाले और बाद में तापस बनने वाले सभी तापस भगवान् के पास आए। वे भी भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवताओं की परिषद् देखकर भगवान् के पास प्रव्रजित हो गए। कच्छ और महाकच्छ नहीं आए। उस समयसरण में मरीचि आदि अनेक कुमार प्रव्रजित हुए।^१

४२. भरत का विजय-अभियान

भगवान् के कैवल्य का अष्टाह्निक महोत्सव मनाकर भरत चला गया। चक्र की पूजा करने की इच्छा से सिंहासन पर बैठकर उसने कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया कि विनीता राजधानी की बाहर और भीतर से सफाई करके गंधोदक का छिड़काव करो। आदेश देकर वह स्वयं मज्जनगृह में प्रविष्ट हुआ। वहां से धूप, फूल, माला आदि हाथ में लेकर आयुधशाला की ओर गया। अनेक राजा, ईश्वर, मांडलिक, सार्थवाह आदि उसके पीछे-पीछे चलने लगे। अनेक दासियां भृंगार, धूप आदि लेकर राजा भरत के पीछे-पीछे चलने लगीं। आयुधशाला में जाकर भरत ने चक्र को प्रणाम करके उसकी पूजा की। पूजा करके भरत अपनी उपस्थानशाला में उपस्थित हुआ। उसने श्रेणी-प्रश्रेणी आदि को आज्ञा दी कि चक्र-उत्पत्ति की प्रसन्नता में आठ दिन का उत्सव मनाया जाए।

महोत्सव की संपन्नता होते ही चक्ररत्न पूर्वाभिमुख होकर गतिमान् हो गया। महाराज भरत भी अपने सैन्यबल के साथ उसके पीछे चला। चक्ररत्न एक योजन दूरी पर जाकर ठहर गया। तब से योजन की संख्या का प्रवर्तन हुआ। भरत चक्रवर्ती पूर्व में मागधतीर्थ को प्राप्त हुआ। मागधतीर्थ के पास भरत ने बारह योजन लम्बे तथा नौ योजन चौड़े श्रेष्ठ नगर की भांति विजय नामक स्कंधावार का निर्माण किया। फिर वर्धकि रत्न को बुलाकर आदेश दिया कि शीघ्र ही मेरे लिए आवासस्थल एवं पौषधशाला का निर्माण करो और इसके निर्माण की मुझे सूचना दो। इसके बाद चक्रवर्ती भरत हस्तिरत्न पर चढ़कर पौषधशाला में गया और वहां मागधतीर्थ कुमार को लक्ष्य कर दर्भसंस्तारक पर स्थित होकर तेले की तपस्या की। तेले का पारणा करके वह छत्रसहित अश्वरत्न पर चढ़ा। अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ चक्र द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर राजाओं के साथ सिंहनाद और जय-जय की ध्वनि करते हुए पूर्व में मागधतीर्थ से लवण समुद्र का अवगाहन किया। रथ से चक्रनाभि तक समुद्र का अवगाहन कर अपना नामांकित बाण छोड़ा। वह बाण बारह योजन दूर मागधतीर्थ कुमार के भवन में जाकर गिरा। कुमार उस बाण को देखकर क्रुद्ध हुआ और भृकुटि चढ़ाकर बोला—‘कौन है यह अप्रार्थितप्रार्थक?’ फिर उसने बाण पर अपना नाम देखकर जान लिया कि भारत वर्ष में भरत नामक चक्रवर्ती उत्पन्न हो गया है। तब वह शर, हार, कुंडल और चूड़ामणि आदि लेकर भरत के समक्ष उपस्थित होकर बोला—‘मैं आपका पूर्ववर्ती अन्तपाल हूं।’ तब उसने भरत की अष्टाह्निक महामहिमा की। इसी क्रम से भरत ने दक्षिण में वरदाम और पश्चिम में प्रभास को प्राप्त किया। फिर आकाशमार्ग से चलते-चलते वह सिन्धुदेवी को प्राप्त हुआ। सिन्धुदेवी के भवन के पास विजय स्कंधावार का निर्माण कर भरत ने तेले की तपस्या से सिन्धुदेवी की आराधना की। सिन्धुदेवी का आसन चलित हुआ। अवधिज्ञान से उसने सारी स्थिति को देखा। उसने अनेक आभरणों आदि से भरत का सम्मान

१. आर्वणि २२०, आवचू. १ पृ. १८१, हाटी. १ पृ. ९९, १००, मटी. प. २२९, २३०।

किया। राजा ने भी देवी का सम्मान किया। वहां भी अष्टाह्निक महोत्सव करके भरत ने वैताढ्यगिरि कुमार की आराधना की। उसका भी आसन विचलित हुआ। वहां से चलकर तमिस्रगुफा के कृतमाल देव से मिला। तब सुषेण सेनापति ने अर्धसेनाबल के साथ दाक्षिणात्य सिन्धुनिष्कूट तथा उसके पश्चात् तमिस्रगुफा का उद्घाटन किया। सुषेण सेनापति मणिरत्न से प्रकाश कर, दोनों पार्श्वों में पांच-सौ धनुष्य लम्बे-चौड़े उनपचास मंडलों को उत्कीर्ण कर, प्रकाश में दृश्यमान उन्मग्ना-निमग्ना नदी को सेतु से पार कर तमिस्रगुफा से बाहर आया। वहां चिलातों से युद्ध कर उन्हें पराजित किया। पराजित चिलातों ने अपने कुलदेवता मेघमुखकुमारों की आराधना की। कुलदेवता ने सात दिन-रात तक मुसलाधार वर्षा बरसाई। भरत ने भी अपने चर्मरत्न पर स्कंधावार (सेना) को स्थापित कर ऊपर छत्ररत्न स्थापित कर दिया। छत्ररत्न के दंड के मध्य में मणिरत्न रखा। तब लोगों में यह भावना स्थापित हुई कि जगत् अंडे से उत्पन्न हुआ। (यह ब्रह्माण्ड पुराण है।)

पूर्वाह्न में भरत ने शालि को उस किया और अपराह्न में उसका भोजन बना लिया। इस प्रकार भरत सात दिन वहां रहा। फिर आभियोगिक देवों ने मेघमुख आदि देवों को डराया-धमकाया। उनके वचनों से चिलात भरत चक्रवर्ती को प्रणाम कर समर्पित हो गए। वहां से वे क्षुल्लकहिमवद्गिरि कुमार देव के पास आए। बाण फेंकने पर वह ७२ योजन ऊपर गया। वहां से ऋषभकूट पर नामांकन किया। सेनापति सुषेण उत्तरदिशा वाले सिन्धुनिष्कूट के पास आया। भरत गंगा के पास गया। फिर सेनापति सुषेण उत्तर में गंगा निष्कूट के पास आया। भरत ने गंगा के साथ हजार वर्ष तक भोग भोगे। फिर वैताढ्य पर्वत पर नमि-विनमि के साथ बारह वर्ष तक युद्ध लड़ा। वे दोनों पराजित हो गए। तब विनमि स्त्रीरत्न लेकर तथा नमि अन्य रत्न लेकर भरत के समक्ष उपस्थित हुआ। भरत वहां से खंडप्रपात गुफा के नृत्यमाल देव के पास आया। खंडप्रपात गुफा से निकल कर गंगा के कूल पर आया, जहां उसे नवनिधियों की प्राप्ति हुई। उसके पश्चात् सुषेण सेनापति दाक्षिणात्य गंगानिष्कूट पर आया।

साठ हजार वर्षों तक विजय-अभियान का संचालन कर भरत विनीता राजधानी में आया। बारह वर्षों में महाराज्याभिषेक संपन्न हुआ। सभी राजे अपने-अपने स्थान पर चले गए। तब भरत ने अपने पारिवारिक वर्ग को याद किया। पारिवारिक लोगों में उसने क्रमशः सुन्दरी को देखा। वह अत्यंत कृश और पांडुर हो गई थी। जिस दिन से उसे अन्तःपुर में अवरुद्ध किया, उसी दिन से उसने आचाम्ल तप करना प्रारम्भ कर दिया था। उसे देखकर भरत ने रुष्ट होकर कौटुंबिक जनों को कहा—‘क्या मेरे घर में भोजन नहीं है, जो इसकी यह अवस्था हो गई? क्या वैद्य नहीं थे, जिसके कारण चिकित्सा नहीं हो सकी?’ उन्होंने कहा—‘महाराज! यह आचाम्ल तप करती है।’ तब भरत का सुन्दरी पर अनुराग अल्प हो गया। उसने सुन्दरी से कहा—‘यदि तुम चाहो तो मेरे साथ रहो, भोग भोगो। यदि यह इच्छा न हो तो प्रव्रजित हो जाओ।’ सुन्दरी भरत के चरणों में गिरी। भरत ने उसे विसर्जित कर दिया। वह भगवान् के पास प्रव्रजित हो गई।

एक बार भरत ने अपने भाइयों के पास दूत भेजकर कहलाया कि मेरे राज्य के अधीनस्थ हो जाओ। उन्होंने कहा—‘हमको राज्य पिताश्री ने दिए हैं और तुम्हें भी। चलो, हम पिताश्री को पूछेंगे। वे जो कहेंगे, वैसा ही हम करेंगे।’ उस समय विहरण करते-करते भगवान् अष्टापद पर्वत पर आए। वहां सभी

कुमार एकत्रित हुए। उन्होंने भगवान् से कहा—‘प्रभो! भरत आपके द्वारा प्रदत्त राज्य का हरण करना चाहता है। हम क्या करें? क्या हम उसके साथ युद्ध करें अथवा उसकी आज्ञा को स्वीकार करें?’ तब भगवान् ने उन सबको भोगों से निवृत्त करने के लिए धर्मोपदेश देते हुए कहा—‘मुक्ति के सदृश कोई सुख नहीं है। देखो, मैं तुम्हें एक दृष्टान्त सुनाता हूँ। एक अंगारदाहक लकड़ियां लेने जंगल में गया। वह अपने साथ पानी से भरा एक घट ले गया। प्यास लगने पर घट का सारा पानी समाप्त हो गया। ऊपर सूर्य तप रहा था। दोनों पार्श्व में अंगार बनाने के लिए अग्नि प्रज्वलित थी। लकड़ियों को तोड़ने में पूरा परिश्रम हो रहा था। घर जाकर उसने पानी पीया और मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसने स्वप्न में देखा कि उसे तीव्रतम प्यास लगी है और उसने उस समय प्यास को मिटाने के लिए सारे कूट, तालाब, नदी, सरोवर और समुद्र का पानी पी लिया है, फिर भी प्यास नहीं मिटी। उसने एक तृण पूला लिया। एक जीर्ण कूप में थोड़ा सा पानी था। उसने पूले से पानी बाहर निकालना चाहा। कुछेक बूंदें जो तृण पूले के लगी थीं, उनको अपनी जिह्वा पर डालकर स्वाद लेने लगा। क्या उस पानी से उसकी प्यास बुझेगी?’

तुम सबने भी अनुत्तर शब्द, स्पर्श आदि का सर्वार्थसिद्ध देवलोक में उपभोग किया है। फिर भी तृप्ति नहीं मिली। भगवान् ने उन्हें वैतालिक (सूत्राकृतांग का दूसरा अध्ययन) ‘संबुद्धह किं न बुद्ध’ का उपदेश किया। गाथाएं सुनकर एक-एक कर कुमार संबुद्ध होते गए और ९८ श्लोकों को सुनकर सभी भाई प्रव्रजित हो गए।^१

४३. बाहुबलि को कैवल्य

अठानवें भाइयों के प्रव्रजित हो जाने पर भरत ने बाहुबलि के पास दूत भेजा। जब बाहुबलि को यह ज्ञात हुआ कि ९८ भाई प्रव्रजित हो गए हैं, तो वह बहुत रुष्ट हुआ। दूत को सुनाते हुए बाहुबलि बोला—‘भरत! तुमने उन भाइयों को प्रव्रज्या लेने के लिए बाध्य कर दिया। वे बालक थे, असमर्थ थे।’ पर मैं युद्ध करने में समर्थ हूँ। जाओ, भरत को कहो कि मुझे जीते बिना उसकी कौनसी जीत! और कैसा चक्रवर्तित्व? दोनों ओर युद्ध की तैयारी हुई और दोनों सेनाएं देश के प्रान्त भाग में आ मिलीं। बाहुबलि ने भरत से कहा—‘निर्दोष लोगों को मारने से क्या लाभ? मैं और तुम—दो ही युद्ध करें।’ भरत ने स्वीकृति दे दी। सबसे पहले दृष्टियुद्ध हुआ। भरत उसमें पराजित हो गया। दूसरे वाग्युद्ध में भी भरत हार गया। बाहुयुद्ध में भी उसकी पराजय हुई। मुष्टियुद्ध में भी वह हार गया। अब अंतिम था दंडयुद्ध। उसमें भी पराजित होते हुए भरत ने सोचा—‘क्या यह बाहुबलि ही चक्रवर्ती है जो मैं इससे पराजित होता जा रहा हूँ?’ उसके इस प्रकार चिन्तन करने पर देवताओं ने उसे दिव्य दंडरत्न का आयुध दिया। भरत उस दंडरत्न को लेकर दौड़ा। बाहुबलि ने देखा कि भरत दिव्य आयुध लेकर आ रहा है। बाहुबलि का अहं बोला—‘मैं इस भरत को इस दिव्यरत्न के साथ नष्ट कर दूंगा।’ फिर उसने सोचा—‘भरत प्रतिज्ञाच्युत हो गया है। इन तुच्छ कामभोगों के लिए इस भ्रष्टप्रतिज्ञा को मारना उचित नहीं है। मेरे अन्यान्य भाइयों ने प्रव्रज्या लेकर अच्छा किया। मैं भी उसी अनुष्ठान का अनुसरण करूँ’, यह सोचकर वह भरत से बोला—‘धिक्कार है, धिक्कार है तुम्हारे पुरुषार्थ

१. आवनि २१२, आवचू. १ पृ. १८२-२१०, हाटी. १ पृ. १००, १०१, मटी. प. २३०, २३१।

को जो तुम अधर्म-युद्ध करने में प्रवृत्त हुए हो। मुझे अब भोगों से कोई प्रयोजन नहीं है। राज्य तुम ले लो। मैं प्रव्रज्या ग्रहण करता हूँ।' वह अपने हाथ में पकड़े हुए युद्धदंड को वहीं छोड़कर प्रव्रजित हो गया। भरत ने तक्षशिला का राज्य बाहुबलि के पुत्र को दे दिया।

प्रव्रजित होकर बाहुबलि ने सोचा—'पिताश्री के पास मेरे लघु भाई प्रव्रजित हैं। उन्हें ज्ञानातिशय लब्ध है। मैं ज्ञान के अतिशय से शून्य हूँ। मैं उन्हें कैसे वंदन करूंगा? मुझे जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक मैं यहीं साधना करूंगा।' यह सोचकर बाहुबलि प्रतिमा में स्थित हो गए। वे अहंकार रूपी पर्वतशिखर पर आरूढ़ थे। भगवान् ऋषभ बाहुबलि की स्थिति को जानते थे, फिर भी किसी को समझाने नहीं भेजा क्योंकि तीर्थंकर अमूढलक्ष्य होते हैं। बाहुबलि एक वर्ष तक कायोत्सर्ग प्रतिमा में स्थित रहे। लताओं ने उनके शरीर को वेष्टित कर दिया। वल्मीक से निकले भुजंगमों ने पैरों को घेर लिया। एक वर्ष बीत जाने पर भगवान् ऋषभ ने ब्राह्मी और सुन्दरी को बाहुबलि के पास भेजा। पहले उन्होंने इसलिए नहीं भेजा क्योंकि वे जानते थे कि अभी बाहुबलि इसे सम्यक् ग्रहण नहीं करेगा। दूँढते-दूँढते ब्राह्मी और सुन्दरी ने बाहुबलि का शरीर वल्लियों से वेष्टित देखा। उनके केश लंबे हो गए थे। देखकर उन्होंने वन्दना की। दोनों बहिनें बोलीं—'मुने! पिताश्री भगवान् ऋषभ ने कहा है कि हाथी पर आरूढ़ व्यक्ति को कैवल्य की उपलब्धि नहीं हो सकती।' इतना कहकर वे दोनों चली गईं। यह सुनकर बाहुबलि ने सोचा—'यहां हाथी कहां है? पिताश्री असत्य नहीं कहते।' सोचते-सोचते वे जान गए कि मैं मान रूपी हाथी पर आरूढ़ हूँ। मुझे अभिमान किसका करना चाहिए? मैं जाऊँ और भगवान् तथा दूसरे भाई मुनियों को भी वंदना करूँ। यह सोचकर बाहुबलि ने ज्योंही चरण उठाए केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वहां से चलकर वे भगवान् के समवसरण में पहुंचे और केवली-परिषद् के बीच बैठ गए।^१

४४. भरत का भगवान् के पास आगमन और यज्ञोपवीत का प्रवर्तन

भगवान् ऋषभ विहरण करते हुए अष्टापद पर आए। वहां समवसरण की रचना हुई। भाइयों की प्रव्रज्या से भरत बहुत खिन्न हो गया। उसने सोचा, 'कदाचित् प्रव्रजित भाई पुनः भोगों के प्रति आकृष्ट होंगे। यदि वे भोग स्वीकार करेंगे तो मैं उनको दे दूंगा।' वह भगवान् के पास आया और भोग-स्वीकार करने के लिए मुनियों को निमंत्रण दिया पर वे सब त्यक्तसंग थे अतः वान्त भोगों की इच्छा नहीं की। भरत ने सोचा, 'इन त्यागी मुनियों को आहार का दान देकर धर्मानुष्ठान करूँ।' यह सोचकर वह पांच-सौ शकटों में विभिन्न प्रकार का आहार भरकर वहां लाया और मुनियों को आहार लेने के लिए निमंत्रित किया। भगवान् ने मुनियों को आधाकर्म आहार लेना नहीं कल्पता—यह कहकर आहार ग्रहण करने की मनाही कर दी फिर भरत ने अकृत और अकारित अन्न-पान के लिए निमंत्रित किया पर मुनियों ने उसे भी राजपिंड कहकर नकार दिया। भरत ने सोचा—'मैं सभी प्रकार से भगवान् द्वारा परित्यक्त हो गया हूँ।' वह उन्मत्ता और उदास हो गया। यह देखकर इन्द्र ने उसके शोक को शान्त करने के लिए भगवान् को अवग्रह के विषय में पूछा। भगवान् बोले—'अवग्रह पांच प्रकार का होता है—देवेन्द्रावग्रह, राजावग्रह, गृहपतिअवग्रह, सागारिकअवग्रह और साधर्मिकअवग्रह। इन अवग्रहों में राजा—भरत, गृहपति—मांडलिक राजा, सागारिक—शय्यातर और

१. आवनि २१३, आवचू. १ पृ. २१०, २११, हाटी. १ पृ. १०१, १०२, मटी. प. २३१-२३२।

साधर्मिक—मुनि हैं। इनमें उत्तरोत्तर से पूर्व-पूर्व बाधित होता है। जैसे—राजावग्रह से देवेन्द्रावग्रह बाधित होता है।' यह सुनकर देवेन्द्र ने भगवान् से कहा—'भंते! ये सारे श्रमण मेरे अवग्रह में विहरण कर रहे हैं, मैं इनको अवग्रह की आज्ञा देता हूँ', इतना कहकर वह भगवान् के उपपात में बैठ गया। भरत ने सोचा, 'मैं भी अपना अवग्रह समर्पित कर कृतार्थता का अनुभव करूँ।' भगवान् के समक्ष उसने अपने अवग्रह की आज्ञा दी। फिर उसने देवेन्द्र से पूछा—'जो भक्तपान लाया गया है, उसका मैं क्या करूँ?' देवेन्द्र बोला—'स्वयं से गुणों में उत्तम की पूजा करो।' भरत ने सोचा कि साधुओं के अतिरिक्त मेरे से उत्तर कौन है? सोचते-सोचते उसने जाना कि विरताविरत होने के कारण श्रावक उत्तर हैं। उसने आनीत सारा भक्तपान श्रावकों को दे दिया।

भरत ने श्रावकों को बुलाकर कहा—'तुम सब प्रतिदिन मेरे यहीं भोजन करो। खेती आदि मत करो, निरंतर स्वाध्याय में निरत रहो। भोजन करने के पश्चात् मेरे भवन के द्वार पर स्थित होकर प्रतिदिन मुझे प्रतिबोधित करो।' वे प्रतिदिन भरत को कहने लगे—'जितो भवान् वर्धते भयं तस्मान् मा हन मा हनेति' भोगप्रमत्त भरत ने उन शब्दों को सुनकर तत्काल सोचा, 'मैं किनके द्वारा जीता गया हूँ। ओह, जान गया। कषायों ने मुझको जीत लिया है। उनसे ही भय बढ़ता है'—यह सोचकर भरत को संवेग उत्पन्न हुआ।

इधर भोजन करने वालों की संख्या अधिक हो जाने के कारण रसोइये रसोई बनाने में असमर्थ हो गए। वे भरत के पास आकर बोले—'हम नहीं जान पाते कि कौन श्रावक है और कौन नहीं।' लोग बहुत आते हैं। भरत बोला—'तुम उनको पूछ-पूछ कर भोजन दिया करो।' वे पूछने लगे—'आप कौन हैं?' वे कहते—'हम श्रावक हैं।' जब उनको पूछा जाता कि श्रावकों के कितने व्रत होते हैं तो वे कहते—'श्रावकों के कोई व्रत नहीं होते।' कुछेक कहते—हमारे पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत हैं। जो ऐसे थे, उनके विषय में राजा को बताया गया। भरत ने उन श्रावकों को काकिणीरत्न से चिह्नित कर दिया। छह महीने बाद जो अन्य श्रावक बनते उनको भी चिह्नित कर दिया जाता। इस प्रकार छह-छह मास बाद अनुयोग (परीक्षण) होने लगा। इस प्रकार ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई। उन्होंने अपने पुत्रों को साधुओं के चरणों में समर्पित किया। वे प्रव्रजित हो गए। शेष व्यक्ति परीषहों के भय से मुनि नहीं बने, श्रावक ही बने रहे। यह भरत के राज्य की स्थिति थी। जब भरतपुत्र आदित्ययश राजा बना, उसके पास काकिणीरत्न नहीं था। उसने स्वर्णमय यज्ञोपवीत बनवाए। महायश आदि राजाओं ने चांदी के तथा किसी ने सूत के यज्ञोपवीत बनवाकर पहनाए। यह यज्ञोपवीत के प्रवर्तन की कहानी है।

कालान्तर में भगवान् अष्टापद पर्वत पर समवसृत हुए। भरत वहां ऋद्धि के साथ भगवान् के दर्शनार्थ गया। भगवान् की महिमा और ऋद्धि को देखकर उसने भगवान् से पूछा—'भगवन्! क्या आपके समान इस भरतक्षेत्र में और भी तीर्थकर होंगे?' भगवान् ने कहा—'मेरे समान तेवीस तीर्थकर और होंगे।' भरत ने पुनः पूछा—'क्या मेरे जैसे चक्रवर्ती भी और होंगे?' भगवान् ने कहा—'तुम्हारे जैसे सगर आदि ग्यारह चक्रवर्ती और होंगे।' भगवान् की पर्युपासना कर भरत वापिस अपने स्थान पर लौट गया।'

४५. शक्रोत्सव का प्रारम्भ

भरत ने देवेन्द्र का दिव्य रूप देखकर पूछा—‘क्या तुम इसी रूप में देवलोक में रहते हो या अन्य रूप में?’ देवेन्द्र बोला—‘नहीं, यह उत्तर रूप है। हमारा मूलरूप मनुष्य नहीं देख सकता क्योंकि वह बहुत तेजस्वी होता है।’ भरत बोला—‘उस आकृति को देखने के लिए हमारे मन में कुतूहल है। आप हमें दिखाएं।’ देवराज ने कहा—‘तुम उत्तमपुरुष हो इसलिए शरीर का अवयव मात्र दिखाता हूं।’ तब देवेन्द्र ने योग्य अलंकारों से विभूषित अत्यंत भास्वर अंगुलि मात्र दिखाई। उसे देखकर भरत अत्यन्त प्रसन्न हुआ। भरत ने इन्द्रांगुलि के रूप में इंद्रध्वज की स्थापना कर अष्टाह्निक महिमा का आयोजन किया। यही शक्रोत्सव का प्रारंभ था, जो प्रतिवर्ष मनाया जाने लगा।

४६. ऋषभ का निर्वाण

अष्टापद पर्वत पर भगवान् ने बेले की तपस्या में प्रायोपगमन अनशन स्वीकार कर लिया। भरत ने जब यह समाचार सुना तो शोक-संतप्त हृदय से पैदल ही अष्टापद पर्वत की ओर दौड़ा। उसने दुःखी हृदय से भगवान् को वंदना की। उस समय शक्र का आसन चलित हुआ। अवधिज्ञान से उसने सारी स्थिति को जाना। भगवान् के पास आकर अश्रुपूर्ण नयनों से उसने भगवान् को वंदना एवं पर्युपासना की। उस समय वे अनेक देवी-देवताओं से संवृत थे। छट्ठमभक्त में दस हजार अनगारों के साथ भगवान् निर्वाण को प्राप्त हो गए।

भगवान् का निर्वाण होने पर शक्र ने देवों को आदेश दिया—‘नंदनवन से शीघ्र ही गोशीर्ष चंदन लाकर चिता की रचना करो। गोलाकार आकृति वाली चिता पूर्व में निर्मित करो, वह तीर्थंकर ऋषभ के लिए होगी। एक त्र्यंश आकार वाली चिता दक्षिण दिशा में निर्मित करो, जो इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न अनगारों के लिए होगी। एक चतुरस्र चिता उत्तरदिशा में निर्मित करो, जो शेष अनगारों के लिए होगी।’ देवताओं ने उसी रूप में चिताओं का निर्माण किया। इसके पश्चात् इंद्र ने आभियोगिक देवों को बुलाकर उन्हें आदेश दिया—‘शीघ्र ही क्षीरोदक समुद्र से पानी लेकर आओ। देवताओं ने उस आदेश का पालन कर दिया। तब शक्र ने तीर्थंकर के शरीर को क्षीर समुद्र के पानी से स्नान करवाया। स्नान कराकर श्रेष्ठ गोशीर्ष चंदन का शरीर पर लेप किया। भगवान् को श्वेत वस्त्र धारण करवाए तथा सब प्रकार के अलंकारों से उनके शरीर को विभूषित किया। इसके पश्चात् भवनपति और व्यंतर देवों ने गणधर और शेष अनगारों के शरीर को स्नान करवाकर अक्षत देवदूष्य पहनाए।

तब इंद्र ने भवनपति और वैमानिक देवों को आदेश दिया कि अनेक चित्रों से चित्रित शिविकाओं का निर्माण करो। एक भगवान् ऋषभ के लिए, एक गणधर के लिए तथा एक अवशेष साधुओं के लिए। देवताओं ने आदेश के अनुसार शिविकाओं का निर्माण कर दिया। इंद्र ने भगवान् के शरीर को शिविका में ले जाकर दुःखी हृदय और अश्रुपूर्ण नयनों से चिता पर स्थापित किया। अनेक भवनपति और वैमानिक देवों ने गणधरों और शेष अनगारों के शरीर को चिता पर रखा। तब इंद्र ने अग्नि कुमार देवों को बुलाकर तीनों चिताओं में अग्निकाय की विकुर्वणा करने का आदेश दिया। अग्नि कुमार देवों ने मुख से अग्नि का प्रक्षेप

१. आवनि. २२७, आवचू. १ पृ. २१३, मटी. प. २३५।

किया तभी से जगत् में प्रसिद्ध हो गया कि ‘अग्निमुखाः वै देवाः।’ वायुकुमार देवों ने वायु की विकुर्वणा की, जिससे अग्नि तीव्र गति से प्रज्वलित हो सके। इंद्र के आदेश से भवनपति देवों ने चिता में अगुरु, तुरुष्क, घृत, मधु आदि द्रव्य डाले, जिससे शरीर का मांस और शोणित जल जाए। मेघकुमार देवों ने क्षीरसागर के पानी से चिता को शान्त किया।

भगवान् की ऊपरी दक्षिण दाढ़ा को शक्र ने, वाम दाढ़ा को ईशानेन्द्र ने, नीचे की दक्षिण दाढ़ा को चमर ने तथा वाम दाढ़ा को बलि ने ग्रहण किया। शेष देवों ने भगवान् के शेष अंग ग्रहण किए।

इसके पश्चात् भवनपति और वैमानिक देवों ने इंद्र के आदेश से तीन चैत्य-स्तूपों का निर्माण किया। चारों प्रकार के देव निकायों ने भगवान् का परिनिर्वाण महोत्सव मनाया। फिर देवों ने नंदीश्वरद्वीप में जाकर अष्टाह्निक महोत्सव मनाया। महोत्सव सम्पन्न करके सब अपनी-अपनी सुधर्मा-सभा के चैत्यस्तम्भ के पास गए। वहां वज्रमय गोल डिब्बे में भगवान् की दाढ़ा को रख दिया।

नरेश्वरों ने भगवान् की भस्म ग्रहण की। सामान्य लोगों ने भस्म के डोंगर बनाए। तब से भस्म के डोंगर बनाने की परम्परा चलने लगी। लोगों ने उस भस्म के पुंड़ भी बनाए। श्रावक लोगों ने देवताओं से भगवान् की दाढ़ा आदि की याचना की। याचकों की अत्यधिक संख्या से अभिद्रुत होकर देवों ने कहा— ‘अहो याचक! अहो याचक!’ तब से याचक परम्परा का प्रारम्भ हुआ। उन्होंने वहां से अग्नि ग्रहण करके उसे अपने घर में स्थापित कर लिया इसलिए वे आहिताग्नि कहलाने लगे। उस अग्नि को भगवान् के पुत्र, इक्ष्वाकुवंशी अनगारों तथा शेष अनगारों के पुत्र भी ले गए।

भरत ने वर्धकिरत्न से चैत्यगृह का निर्माण करवाया। उसने एक योजन लम्बा-चौड़ा तथा तीन गव्यूत ऊंचा सिंह निषद्या के आकार में आयतन बनवाया। कोई आक्रमण न कर दे इसलिए लोहमय यंत्रपुरुषों को द्वारपाल के रूप में नियुक्त किया। दंडरत्न से अष्टापद की खुदाई करवाकर एक-एक योजन पर आठ-आठ पगलिए बनवा दिए। सगर के पुत्रों ने अपनी कीर्ति एवं वंश के लिए दंडरत्न से गंगा का अवतरण करवाया।^१

४७. भरत को कैवल्य-प्राप्ति

भगवान् के निर्वाण के पश्चात् भरत अयोध्या आ गया। कुछ समय पश्चात् वह शोक से मुक्त हो गया और पांच लाख पूर्व तक भोग भोगता रहा। एक बार वह सभी अलंकारों से विभूषित होकर अपने आदर्शगृह में गया। वहां एक कांच में सर्वांग पुरुष का प्रतिबिम्ब दीखता था। वह स्वयं का प्रतिबिम्ब देख रहा था। इतने में ही उसकी अंगूठी नीचे गिर पड़ी। उसको ज्ञात नहीं हुआ। वह अपने पूरे शरीर का निरीक्षण कर रहा था। इतने में ही उसकी दृष्टि अपनी अंगुलि पर पड़ी। उसे वह असुंदर लगी। तब उसने अपना कंकण भी निकाल दिया। इस प्रकार वह एक-एक कर सारे आभूषण निकालता गया। सारा शरीर आभूषण रहित हो गया। उसे पद्मविकल पद्मसरोवर की भांति अपना शरीर अशोभायमान लगा। उसके मन में संवेग उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा— ‘आगतुक पदार्थों से विभूषित मेरा शरीर सुंदर लगता था पर वह स्वाभाविक

१. चैत्यगृह के विस्तृत वर्णन हेतु देखें आवचू. १ पृ. २२४-२२७।

२. आवनि. २३०, आवचू. १ पृ. २२१-२२७, हाटी. १ पृ. ११३, मटी. प. २४५-२४६।

रूप से सुंदर नहीं है।' इस प्रकार चिन्तन करते हुए अपूर्वकरणध्यान में उपस्थित भरत को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। देवराज शक्र ने आकर कहा—'आप द्रव्यलिंग धारण करें, जिससे हम आपका निष्क्रमण-महोत्सव कर सकें।' तब भरत ने पंचमुष्टि लुंचन किया। देवता ने रजोहरण, पात्र आदि उपकरण प्रस्तुत किए। महाराज भरत दस हजार राजाओं के साथ प्रव्रजित हो गए। शेष नौ चक्रवर्ती हजार-हजार राजाओं से प्रव्रजित हुए। शक्र ने भरत को वंदना की। भरत एक लाख पूर्व तक केवली-पर्याय का पालन कर मासिक संलेखना में श्रवण नक्षत्र में अष्टापद पर्वत पर परिनिर्वृत हो गया। भरत के बाद इन्द्र ने आदित्ययश का अभिषेक किया। इस प्रकार एक के बाद एक आठ पुरुषयुग अभिषिक्त हुए। उसके बाद के राजा उस मुकुट को धारण करने में समर्थ नहीं हुए।'

४८. मरीचि का भव-भ्रमण

भगवान् के परिनिर्वृत होने पर मरीचि साधुओं के साथ विहरण करता था। उसके पास जो भी व्यक्ति प्रवचन सुनने आता उसे दीक्षा देकर वह साधुओं को उपहृत कर देता। एक बार वह ग्लान हो गया। साधु असंयत की सेवा नहीं करते इसलिए संक्लिष्ट परिणामों के साथ वह सोचने लगा—'अहो, ये साधु अनुकंपा रहित हैं अतः मुझे किसी सेवाभावी को दीक्षा देनी चाहिए।' कालान्तर में वह रोगमुक्त होकर पुनः विहरण करने लगा। एक बार कपिल नामक राजकुमार उसके पास धर्म-श्रवण करने आया। मरीचि ने उसे अनगर धर्म में प्रव्रजित होने की प्रेरणा दी। कपिल ने पूछा—'आपने यह अलग मार्ग क्यों अपना रखा है?' मरीचि बोला—'साधुओं का धर्म ही सही है। मैं भारीकर्मा इस पथ पर चलने में समर्थ नहीं हूँ। इन साधुओं में पूरा धर्म है पर कुछ धर्म यहां भी है।' इस एक दुर्भाषित से उसने संसार की वृद्धि कर ली और कोटाकोटि सागरोपम तक संसार में भ्रमण करता रहा।

कपिल भी कर्मोदय से साधुधर्म की ओर अभिमुख नहीं हुआ। मरीचि ने सोचा कि यह साधुधर्म स्वीकार नहीं करता अतः उसे सहायक समझकर दीक्षित कर दिया। कपिल अब मरीचि के साथ विहरण करने लगा।

दुर्भाषित एवं गर्व का प्रतिक्रमण किए बिना मरीचि ८४ लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर ब्रह्मलोक में दस सागरोपम की स्थिति वाला देव बना। कपिल शास्त्र एवं पुस्तक के ज्ञान से विकल था। वह प्रवचन करना नहीं जानता था। उसने एक शिष्य आसुरी को दीक्षित किया और उसे आचार का प्रशिक्षण दिया। कालान्तर में वह भी मरकर ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुआ। कपिल ने अवधिज्ञान का उपयोग किया और सोचा—'मैंने कौन सा यज्ञ और हवन किया? क्या दान दिया, जिससे मुझे यह दिव्य ऋद्धि प्राप्त हुई है?' अवधिज्ञान से उसने आसुरी को देखा। उसे चिंता उत्पन्न हो गयी कि मेरा शिष्य आसुरी कुछ भी नहीं जानता है अतः उसे तत्त्वों का उपदेश देना चाहिए। कपिल पांच वर्ण का मंडल बनाकर आकाश में स्थित हो गया और तत्त्वों की जानकारी दी। तभी षष्टितंत्र का निर्माण हुआ। इस प्रकार कुतीर्थ का प्रवर्त्तन हो गया।'

१. आवर्ति. २५७, आवचू. १ पू. २२७, २२८, हाटी. १ पू. ११३, ११४, मटी. प. २४६।

२. आवर्ति. २५८-२७१, आवचू. १ पू. २२८, २२९, हाटी. १ पू. ११४, ११५, मटी. प. २४७, २४८।

४९. त्रिपृष्ठ वासुदेव

राजगृह नगर में विश्वनंदी राजा राज्य करता था। उसके भाई का नाम विशाखभूति था। वह युवराज था। उसकी पत्नी धारिणी देवी थी। उसके विश्वभूति नामक पुत्र था। राजा के पुत्र का नाम था विशाखनंदी। विश्वभूति की आयु कोटि वर्ष की थी। राजगृही में पुष्पकरंडक नाम का उद्यान था। विश्वभूति वहां अंतःपुर के साथ सुखपूर्वक विचरण कर रहा था। विशाखनंदी की माता की दासियां पुष्पकरंडक उद्यान से पुष्प-पत्र लाती थीं। वे विश्वभूति को क्रीडा करती हुई देखती थीं। ईर्ष्यावश उन्होंने महारानी से कहा—‘कुमार विश्वभूति वहां इस प्रकार क्रीडा करता है फिर केवल राज्य और बल से हमारा क्या प्रयोजन? यदि विशाखनंदी राजकुमार भी विश्वभूति जैसे भोग नहीं भोगता तो हमारा तो केवल नाम है। राज्य तो युवराज का है। महारानी दासी की यह बात सुनकर ईर्ष्यावश कोपगृह में प्रविष्ट हो गई। यदि राजा की जीवित अवस्था में ऐसी दशा है तो राजा के मर जाने पर हमारा क्या होगा? हमें कौन गिनेगा? राजा ने उसे बहुत समझाया पर वह प्रसन्न नहीं हुई। उसने कहा—‘मुझे राज्य से अथवा तुमसे क्या प्रयोजन?’ राजा ने अमात्य को समझाने के लिए कहा। अमात्य के समझाने पर भी वह नहीं मानी तब अमात्य बोला—‘राजन्! देवी के वचनों का अतिक्रमण मत करो। वह कहीं आत्मघात न कर ले।’ राजा ने पूछा—‘इसके लिए क्या उपाय किया जाए? हमारे वंश की यह परम्परा नहीं कि उद्यान में एक व्यक्ति के जाने पर दूसरा राजकुमार जाए।’

बसन्त ऋतु आने तक विश्वभूति वहां रहा। आगे एक मास और रह गया। अमात्य ने राजा से कहा—‘अब उपाय करना चाहिए।’ उसने सुझाव देते हुए राजा से कहा—‘अमुक प्रत्यन्त देश का राजा अत्यन्त उद्धत हो गया है। ऐसा कूटलेख आज्ञापित पुरुष यहां लाए। तब राजा यात्रा करने और युद्ध के लिए प्रस्थान करने का निश्चय करे।’ विश्वभूति ने जब यात्रा की बात सुनी तो उसने कहा—‘मेरे जीवित रहते आप युद्ध के लिए प्रस्थान क्यों करते हैं? विश्वभूति प्रत्यन्त देश में गया। तब विशाखनंदी उद्यान में जाने लगा। वहां किसी उपद्रवकारी राजा या जनता को नहीं देखा तो वह घूम-फिर कर लौट आया। कोई भी राजाज्ञा का अतिक्रमण नहीं कर रहा है, यह सोचकर वह पुनः पुष्पकरंडक उद्यान में आ गया। द्वारपालों ने उसे रोकते हुए कहा—‘स्वामिन्! अन्दर न जाएं।’ उसने पूछा—‘क्यों?’ द्वारपाल बोला—‘यहां विशाखनंदी क्रीडारत है।’ यह सुनकर विश्वभूति कुपित हो गया। उसने जान लिया कि धोखे से मुझे यहां से निकाला गया है। वहां कपित्थ की अनेक लताएं थीं। वे फलों के भार से झुकी हुई थीं। एक मुष्टि के प्रहार से बहुत सारे कपित्थ भूमि पर आ गिरे। उसने रूपक की भाषा में उनको संबोधित कर कहा—‘जैसे मैंने तुमको नीचे गिराया है, वैसे ही चाचा के गौरव को भी नीचे न कर डाला तो मेरा नाम नहीं। मुझे छद्म से हटाय़ा गया है। अब मुझे भोगों से क्या प्रयोजन?’ वह भोगों को अपमान का निमित्त मानकर, उनका परित्याग कर स्थविर आर्यसंभूत के पास दीक्षित हो गया। उसके प्रव्रजित होने की बात सुनकर राजा अपने अन्तःपुर के साथ वहां गया। युवराज भी वहां पहुंचा। उन सबने मुनि से क्षमायाचना की। मुनि ने उनकी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया। वह विविध बेलें-तेलें आदि तपस्या से अपने आपको भावित करता हुआ विहरण करने लगा।

विहार करते हुए एक बार वे मथुरा नगरी में गए। इधर विशाखनंदी भी कार्यवश मथुरा की ओर

चला। वहां के राजा की अग्रमहिषी उनकी भुआ थी। उसकी लड़की के साथ उसका वाग्दान हो गया। उसे राजमार्ग पर आवास दिया गया। अनंगार विश्वभूति मासक्षण के पारणे के लिए घूमता हुआ उसी स्थान पर आया, जहां विशाखनंदी ठहरा हुआ था। उसके अनुचरों ने कहा—‘स्वामिन्! आप इसे नहीं जानते। यह कुमार विश्वभूति है।’ यह सुनकर अनंगार विश्वभूति को देखकर उसके मन में रोष उत्पन्न हुआ। इतने में ही एक तत्काल ब्याई हुई गाय ने मुनि को नीचे गिरा दिया। तब वहां उपस्थित सभी लोगों ने जोर से अट्टहास किया और कहा—‘कपित्थ को गिरा देने का तुम्हारा बल आज कहां चला गया? तब अनंगार ने उस ओर देखा तो विशाखनंदी कुमार दृगोचर हुआ। उसने आवेश में उस गाय को अग्रसींगों से उठाकर ऊपर उछाला। क्या शृगाल दुर्बल सिंह के बल का अतिक्रमण कर सकते हैं? मुनि वहां से चला गया। उसने सोचा, इस युवराज का आज भी मेरे प्रति रोष है। तब उसने निदान किया—‘यदि मेरे इस तपनियम तथा ब्रह्मचर्य का फल हो तो मैं आगे अपरिमित बल वाला बनूं। उसने निदान की आलोचना-प्रतिक्रमण नहीं किया। वह महाशुक्र देवलोक में उत्कृष्ट स्थिति वाला देव बना। महाशुक्र से च्युत होकर वह पोटनपुर नगर में राजा प्रजापति की मृगावती रानी के गर्भ से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। मां ने सात स्वप्न देखे। स्वप्नपाठकों ने बताया कि यह पहला वासुदेव होगा। गर्भ की अवधि पूरी होने पर मृगावती ने पुत्र का प्रसव किया। उसके तीन पृष्ठकरण्डक थे इसलिए पुत्र का नाम त्रिपृष्ठ रखा। माता ने उष्णतैल से उसकी मालिश की। क्रमशः वह यौवन को प्राप्त हुआ।’

अश्वग्रीव महामांडलिक राजा था। उसने नैमित्तिक से पूछा—‘मुझे किससे भय है?’ नैमित्तिक बोला—‘जो चंडमेघ नामक दूत तथा तेरे महाबलशाली सिंह को मारेगा, उससे तुझे भय है।’ अश्वग्रीव ने सुना कि प्रजापति के दोनों पुत्र महाबलशाली हैं तो उसने वहां एक दूत को भेजा। उस समय अन्तःपुर में नाट्य-संगीत चल रहा था। दूत भीतर गया। नाट्य-संगीत का क्रम टूट गया। दोनों कुमारों ने रुष्ट होकर कहा—‘कौन है वह?’ अनुचरों ने कहा—‘महाराज अश्वग्रीव का दूत है।’ कुमार बोले—‘जब यह वहां से जाए तब हमें बताना।’ राजा ने दूत का सम्मान कर उसे विसर्जित कर दिया। वह अपने देश की ओर चल पड़ा। अनुचरों ने दूत के जाने की बात कही। कुमार उसके पीछे गए और मार्ग में ही उसको मार डाला। दूत के जो सहायक पुरुष थे, वे चारों ओर भाग गए। महाराज प्रजापति ने सुना कि दूत मारा गया है तो वे संभ्रान्त

१. प्रजापति का पूर्व नाम रिपुप्रतिशत्रु था। भद्रा रानी से उसके अचल नाम का पुत्र हुआ। अचल की भगिनी मृगावती अतीव रूपवती थी। वह यौवन अवस्था में पहुंची। एक दिन वह सर्व अलंकारों से विभूषित होकर पिता के चरण-वन्दन के लिए गई। पिता ने उसे गोद में बिठा लिया। पिता उसके रूप, यौवन और अंगस्पर्श से मूर्च्छित हो गया। उसने अपनी पुत्री को विसर्जित कर पुरवासियों से पूछा—‘यहां जो रत्न उत्पन्न होता है, वह किसका होता है?’ पुरवासियों ने कहा—‘आपका।’ इस प्रकार तीन बार पूछा और फिर अपनी पुत्री को वहां उपस्थित किया। वह लज्जित होकर चली गई। पुरवासियों के कहने पर गन्धर्व विवाह के द्वारा पिता के साथ उसका विवाह हो गया। वह भार्या बन गई। रानी भद्रा अपने पुत्र अचल के साथ दक्षिणापथ में माहेश्वरी नगरी में रहने चली गई। अचल माता को वहां स्थापित कर पुनः पिता के पास आ गया। तब लोगों ने राजा का नाम प्रजापति रखा क्योंकि उसने अपनी प्रजा—पुत्री को ही स्वीकार कर लिया था। वेद में भी कहा है—‘प्रजापतिः स्वां दुहितरमकामयत्’ (आवचू. १ पृ. २३२, हाटी. १ पृ. ११६, मटी. प. २४९, २५०)।

होकर वहां आए। उन्होंने दुगुना, तिगुना धन देकर कहा कि महाराजा अश्वग्रीव को यह ज्ञात न होने पाए कि कुमारों ने दूत को मारा है। उसने कहा—‘मैं नहीं कहूंगा।’ परन्तु जो पहले पहुंच गए थे उन्होंने दूत के मारे जाने की बात अश्वग्रीव को बताई। वह अत्यंत कुपित हो गया।

अश्वग्रीव ने दूसरे दूत को बुलाकर कहा—‘तुम जाओ और महाराज प्रजापति को कहो कि मेरे शालिवन की रक्षा करे।’ दूत ने जाकर सारी बात बताई। राजा ने कुमारों को उपालंभ देते हुए कहा—‘तुमने अकाल में ही मृत्यु को क्यों आमंत्रित किया है?’ उसने बिना क्रम के ही हमें यात्रा की आज्ञा दी है। आज्ञा के अनुसार राजा जाने लगा तो कुमार बोले—‘हम जाएंगे।’ रोकने पर भी वे नहीं रुके। उन्होंने क्षेत्रिकों से पूछा—‘क्या अन्य राजाओं ने भी खेतों की रक्षा की है?’ वे बोले—‘अश्व, हाथी, रथ और पुरुषों का प्राकार बनाकर जब तक कर्षण होता है, तब तक वे रक्षा करते हैं।’ त्रिपृष्ठ ने पूछा—‘वे इतने समय तक कहां रहते हैं, मुझे वह स्थान दिखाओ।’ छद्मवश आरक्षक बोले—‘वे इस गुफा में रहते हैं।’ त्रिपृष्ठकुमार रथ पर बैठ कर गुफा में प्रविष्ट हुआ। लोगों ने दोनों ओर से हर्षध्वनि की। गुफावासी सिंह अंग मरोड़ता हुआ बाहर निकला। कुमार ने सोचा—यह पैदल है, मैं रथ पर आरूढ़ हूं। यह असदृश युद्ध होगा। हाथ में तलवार लेकर वह रथ से नीचे उतर गया। फिर उसने सोचा—‘इस सिंह के पास दाढ़ा और नख ही आयुध हैं, मेरे हाथ में तलवार है। यह भी असमानता है।’ उसने हाथ से तलवार दूर फेंक दी। सिंह क्रोधित हो गया। उसने सोचा—पहली बात है—यह रथ पर आरूढ़ होकर अकेला गुफा में आया है। दूसरी बात वर्तमान में यह भूमि पर खड़ा है। तीसरी बात इसने शस्त्रास्त्र भी छोड़ दिए हैं। आज इसको मार डालूंगा, यह सोचकर सिंह दहाड़ा और मुंह को फाड़कर कुमार के पास आया। कुमार ने तत्काल एक हाथ से उपरितन ओष्ठ और दूसरे से नीचे का ओष्ठ पकड़कर एक जीर्ण-शीर्ण वस्त्र की भांति उसको फाड़ डाला। उसको दो भागों में फाड़कर दूर फेंक दिया। लोगों ने जय-जयकार की हर्षध्वनि की। आसन्न देवता ने आभरण, वस्त्र और कुसुम बरसाए। सिंह क्रोध से कंपित हो रहा था। ओह! मैं इस कुमार से युद्ध में मारा गया।

उस समय गौतमस्वामी रथसारथि थे। उन्होंने सिंह से कहा—‘रोष मत करो। यह नरसिंह है। तुम मृगाधिप हो। यदि सिंह सिंह को मारता है तो इसमें अपमान की बात ही क्या है?’ उन वचनों का सिंह ने मधु की भांति पान किया। वह भरकर नरक में उत्पन्न हुआ।

कुमार त्रिपृष्ठ सिंह के चर्म को लेकर अपने नगर की ओर चला। उसने उन ग्रामवासियों को कहा—‘जाओ, अश्वग्रीव को कहो कि अब वह आश्वस्त होकर रहे।’ वे ग्रामीण अश्वग्रीव के पास गए और सारी बात बताई। अश्वग्रीव ने रुष्ट होकर दूत को भेजकर प्रजापति से कहा कि तुम दोनों पुत्रों को मेरी सेवा में भेज दो। तुम बूढ़े हो गए हो। मैं उनका सत्कार करूंगा, राज्य दूंगा। प्रजापति बोला—‘कुमारों को रहने दो। मैं स्वयं सेवा में उपस्थित होता हूं।’ दूत बोला—‘यदि कुमारों को नहीं भेजते हो तो युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।’ तब कुमारों ने दूत को तिरस्कृत कर निकाल दिया। अश्वग्रीव इस व्यवहार पर कुपित हो गया और अपनी सेना के साथ सीमा पर आ डटा। प्रजापति भी सेना के साथ सीमा पर आ गया। लंबे समय तक युद्ध चला। अश्व, हाथी, रथ और पैदल सैनिकों की भारी क्षति हुई। कुमार ने तब कहलाया—व्यर्थ की

जनहानि से क्या प्रयोजन ? हम दोनों परस्पर युद्ध करें। दूसरे दिन दोनों रथ पर आए। आयुध क्षीण हो जाने पर चक्र फेंका। चक्र ने उसकी छाती विदीर्ण कर शिरच्छेद कर डाला। देवों ने उद्धोषणा की—यह त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव हैं। तब सभी राजे उसे ग्रणिपात करने लगे। उसने अर्धभरत को अपने अधीन किया। अपने बाहु और दंड से कोटिशिला धारण की। यह युद्ध रथावर्त पर्वत के समीप हुआ। त्रिपृष्ठ का संपूर्ण आयुष्य ८४ लाख वर्ष का था। उसको पूरा कर वह सातवें नरक के अप्रतिष्ठान नरक में उत्पन्न हुआ। वहां तेतीस सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाला नारक बना।^१

५०. भगवान् महावीर का गर्भ-संहरण और जन्म

आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन महाविजय के पुष्पोत्तर विमान से च्युत होकर भगवान् महावीर ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानंदा की कुक्षि में अवतरित हुए। अर्धजागृत अवस्था में देवानंदा ब्राह्मणी चौदह स्वप्न देखकर प्रतिबुद्ध हुई। उसने प्रसन्नमन से ऋषभदत्त ब्राह्मण को स्वप्नों की बात कही। उसने कहा—‘देवानुप्रिय ! तुमने उत्तम स्वप्न देखे हैं।’ इससे तुमको अन्नलाभ, भोगलाभ, पुत्रलाभ और सौख्यलाभ होगा। तुम नौ मास और ८ दिन व्यतीत होने पर अत्यन्त सुकुमाल, पांचों इन्द्रियों से परिपूर्ण, समस्त लक्षणों से युक्त बालक का प्रसव करोगी। यह सुनकर देवानंदा प्रसन्न होकर बोली—‘देवानुप्रिय ! आपने जो कहा, वह यथार्थ है।’

उस समय सौधर्म कल्प का देवेन्द्र सौधर्मवतंसक विमान की सुधर्मा सभा में सिंहासन पर सुखपूर्वक निषण्ण था। उसने अचानक अवधिज्ञान से जंबूद्वीप को देखा। देवानंदा के गर्भ में श्रमण भगवान् महावीर को व्युत्क्रान्त होते देखकर वह परम प्रसन्न हुआ। उसका हृदय हर्ष के वशीभूत होकर उछलने लगा। उसने सिंहासन से नीचे उतरकर, अपनी रत्नमय पादुकाओं को एक ओर रखकर, एक श्लाटक से उत्तरासंग कर, तीर्थकराभिमुख होकर, सात-आठ पैर पीछे हटकर, भूमि पर वंदना की मुद्रा में बैठकर, हाथ जोड़कर, मस्तक को भूमि पर टिकाकर ‘नमोत्थुण’ का पाठ दो बार कहा और बोला—‘मैं यहां से आपको वंदना करता हूं।’ फिर वह पूर्वाभिमुख होकर सिंहासन पर बैठ गया। तब उसके मन में यह विचार आया कि भगवान् महावीर देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए हैं परन्तु ऐसा न कभी हुआ है, न होता है और न होगा कि अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि अंत-प्रांत तथा तुच्छ और दरिद्र कुलों में जन्मे हों, जन्मते हों अथवा जन्मेंगे। वे उग्र, भोग, राजन्य और इक्ष्वाकु आदि विशुद्ध जाति-कुलों में, महान् राज्यों का परिभोग करने वाले कुलों में जन्म लेते हैं। भगवान् महावीर का ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होना अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का महान् आश्चर्य होगा। यह सच है कि नीचगोत्र कर्म के उदय से अरिहंत आदि अंत-प्रांत कुलों में उत्पन्न स्त्रियों के गर्भ में आते हैं, परन्तु जन्म नहीं लेते। इसलिए देवराज शक्र का यह जीत-व्यवहार है (परंपरागत नियम है) कि तीर्थकर के जीव का अंत-प्रांत कुल से विशुद्धजाति वाले कुलों में आहरण करे। इसलिए चरमतीर्थकर भगवान् महावीर को ब्राह्मणकुंडग्राम नगर से क्षत्रियकुंडग्राम नगर में काश्यपगोत्रीय क्षत्रिय सिद्धार्थ की भार्या वासिष्ठगोत्रीय क्षत्रियाणी त्रिशला की कुक्षि में गर्भरूप में

१. आवनि. २६५-२६८, आवचू. १ पृ. २३०-२३५, हाटी. १ पृ. ११५-११८, मटी. प. २४८-२५१।

साहरण करना श्रेय है और जो त्रिशला का गर्भ है, वह देवानंदा की कुक्षि में साहरण करना उचित है। इन्द्र ने ऐसा सोचकर, पैदल सेना के अधिपति हरिणगमेषी देव को बुलाकर कहा—‘जाओ, देवानन्दा की कुक्षि से श्रमण भगवान् महावीर का साहरण कर त्रिशला की कुक्षि में स्थापित करो।’

यह सुनकर हरिणगमेषी देव बहुत प्रसन्न हुआ और इन्द्र की आज्ञा को विनयपूर्वक शिरोधार्य किया। उसने उत्तर-पूर्व दिशा में अवक्रम कर वैक्रिय समुद्घात से उत्तरवैक्रिय रूप की विकुर्वणा की। वह तीव्र गति से देवानन्दा के स्थान पर आया और झरोखे से भगवान् महावीर को प्रणाम कर ‘भगवन्! मुझे कार्य की अनुमति दें’—यह कहकर देवानन्दा सहित समूचे परिवार को अवस्वापिनी विद्या से निद्रित कर दिया। उसने दिव्य प्रभाव से अपने करतलपुट में सहजरूप से भगवान् के गर्भ को ग्रहण कर लिया। उस समय गर्भ के ८२ दिन-रात व्यतिक्रान्त हो गए थे, ८३ वें दिन अर्थात् वर्षा के तीसरे मास, पांचवें पक्ष, आसोजकृष्णा तेरस के दिन देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि से उस गर्भ का क्षत्रियाणी त्रिशला की कुक्षि में संहरण किया गया और त्रिशला के गर्भ को देवानन्दा की कुक्षि में स्थापित किया गया। वह देव अपना कार्य संपन्न कर शक्र के पास गया और उसे सारी बात कही।

गर्भस्थ भगवान् तीन ज्ञान के धनी थे। जिस रात्रि में गर्भ का संहरण हुआ तब देवानन्दा अपने स्वप्नों को हृत होते देखकर जागृत हो गई। त्रिशला भी अपने मनोरम शयनीय पर सुप्त-जागृत अवस्था में चौदह महास्वप्न देखकर जागृत हो गई। उसने सिद्धार्थ से स्वप्नों की बात कही। वह भी स्वाभाविक बुद्धि-प्रकर्ष से उन स्वप्नों का अर्थ बताते हुए बोला—‘देवानुप्रिय! तुमने उत्तम स्वप्न देखे हैं।’ तुम कुलकर, कीर्तिकारक तथा इन्द्रियों से परिपूर्ण एक बालक का प्रसव करोगी। यह सुनकर त्रिशला अत्यन्त प्रसन्न हुई। उसने उन वचनों को सम्यग्रूप से स्वीकार किया। प्रातःकाल होते ही सिद्धार्थ ने स्वप्नपाठकों को बुलाकर स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नपाठकों ने स्वप्नशास्त्र के अनुसार स्वप्नों का अर्थ बताते हुए कहा—‘बालक चातुरंत चक्रवर्ती राजा होगा, जिन अथवा त्रिलोकनायक धर्मवरचक्रवर्ती होगा।’

त्रिशला महारानी स्नान तथा कौतुकमंगलोपचार करती हुई गर्भ का संरक्षण करने लगी। अब वह न अति उष्ण, न अति शीत, न अति तिक्त, न अति कटुक, न अति काषायित, न अति अम्ल और न अति मधुर आहार करती। वह गर्भ के लिए देश और काल के अनुसार हितकर तथा पथ्य आहार करती। एकान्त में मृदु शयन-आसन पर सुखपूर्वक बैठी रहती। जिस रात्रि में त्रिशला के गर्भ का संहरण हुआ, उसी रात्रि में शक्र के वचनों के आधार पर तिर्यग् जंभक देवों ने विविध मणि-निधान सिद्धार्थ राजा के भवन में पहुंचा दिए। ज्ञातकुल हिरण्य, सुवर्ण, राज्य, बल, वाहन, कोष्ठागार सभी प्रकार के धन-धान्य से अत्यन्त वृद्धिगत हुआ। सिद्धार्थ महाराज के प्रति सभी सामन्त राजे प्रणत हो गए। तब भगवान् के माता-पिता के मन में यह संकल्प उपजा—‘जब से यह बालक गर्भ में आया है तब से ही हम हिरण्य, सुवर्ण आदि से बढ़े हैं इसलिए जब हमारा पुत्र उत्पन्न होगा तब हम उसका तथारूप नाम वर्द्धमान रखेंगे।’ इस प्रकार वे मन ही मन हजारों मनोरथ संजोने लगे।

गर्भस्थ भगवान् माता की अनुकंपा से प्रेरित होकर निश्चल हो गए। तब त्रिशला के मन में यह

चिन्तन उभरा—‘क्या किसी ने मेरे गर्भ का अपहरण कर लिया? क्या मेरा गर्भ मर गया? यह गर्भ पहले प्रकंपित होता था अब कंपित क्यों नहीं होता?’ इस प्रकार उसके मन में विविध अनिष्ट संकल्प आने लगे। वह चिंता के सागर में डूब गई और दोनों हथेलियों से मुंह को छुपाती हुई भूमि पर दृष्टि टिकाए आर्त्त-रौद्र ध्यान करने लगी। तब सिद्धार्थ महाराज के पूरे भवन में बजने वाले मृदंग, तंत्री, ताल आदि वाद्य तथा नृत्य-गीत सभी बंद हो गए। भगवान् ने सोचा—‘मृदंग आदि के शब्द क्यों नहीं सुनाई देते?’ भगवान् ने अवधिज्ञान से कारण जान लिया तब उन्होंने अपना अंगुष्ठ हिलाया। गर्भ को प्रकंपित जान त्रिशला अत्यन्त प्रसन्न हुई। सिद्धार्थ के राजभवन में पूर्ववत् गाजे-बाजे बजने लगे। सारा वातावरण आनन्दित हो उठा। एक दिन भगवान् ने सोचा—‘मैं गर्भस्थ हूँ फिर भी माता-पिता का मेरे साथ इतना प्रतिबंध है। यदि मैं बाल्य अवस्था को पार कर देव-दानव तथा परिजनों से परिवृत होकर प्रव्रज्या ग्रहण करूंगा तो माता-पिता को अत्यन्त खेद और दुःख होगा।’ यह सोचकर माता-पिता पर अनुकंपा कर गर्भ के सातवें महीने में ही भगवान् ने यह अभिग्रहण कर लिया—‘माता-पिता के जीवित रहते मैं श्रमण नहीं बनूंगा।’

त्रिभुवननाथ महावीर के उत्पन्न होने पर महाराज सिद्धार्थ ने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—‘नगर में दस दिनों तक महान् उत्सव का आयोजन करो। सभी शुल्क और करों को माफ करो। भवनों को शुक्ल पताकाओं से सजाओ और चारों ओर नाटक आदि की व्यवस्था करो। जब बालक तीन दिन का हुआ तब माता-पिता ने चांद-सूर्य के दर्शन किए। छठे दिन जागरण किया। ग्यारह दिन बीतने पर, अशुचिजातकर्म संपन्न होने पर, बारहवें दिन विपुल अन्न-पान, खादिम-स्वादिम आदि उपस्कृत कराकर भोजनवेला में अपने मित्र, ज्ञातिजन तथा स्वजन-परिजनों को आमंत्रित कर भोजनमंडप में उन सबके साथ सुखासन में बैठकर विपुल भोज्य पदार्थों का उपभोग किया। भोजन कर चुकने पर उन सबका विपुल वस्त्र-गंध, माल्य, अलंकारों से सत्कार-सम्मान किया। फिर सिद्धार्थ ने उन सबसे कहा—‘देवानुप्रियो!’ पहले भी हमारे मन में विचार आया था कि जब से यह बालक गर्भ में आया है, तब से हम हिरण्य आदि से वृद्धिगत होते रहे हैं अतः इस शिशु का तथारूप नाम ‘वर्द्धमान’ रखेंगे।’ यह सुनकर सभी ने कहा—‘आर्य! मनोरथ के आधार पर कुमार का नाम वर्द्धमान रखा जाए।’

भगवान् के पारिवारिक लोगों के नाम इस प्रकार थे—चाचा का नाम सुपाश्व, ज्येष्ठ भ्राता का नाम नंदिवर्धन, बहिन का नाम सुदर्शना, भार्या का नाम यशोदा, पुत्री के दो नाम—अनवद्या और प्रियदर्शना, दौहित्री के भी दो नाम—यशोमती और शेषमती।^१

५१. बालक महावीर की देव द्वारा परीक्षा

एक बार इन्द्र ने देवसभा में महावीर के गुणकीर्तन करते हुए कहा—‘भगवान् बालक होते हुए भी परम पराक्रमी हैं।’ उनको देव और दानव भी नहीं डरा सकते। एक देव को इन्द्र के वचनों पर श्रद्धा नहीं हुई। वह परीक्षा के लिए भगवान् के पास आया। भगवान् उस समय बालकों के साथ वृक्षक्रीड़ा कर रहे थे। उन वृक्षों पर जो प्रथम चढ़ता और नीचे उतरता वह बालकों द्वारा वहन किया जाता। देव वहां आकर वृक्ष

१. आवनि. २७२-२७४, आवचू. १ पृ. २३६-४५, हाटी. १ पृ. ११९, १२०, मटी. प. २५३-२५७।

के नीचे महावीर को डराने के लिए विकराल सर्प का रूप बना, ऊंचा फन किए बैठ गया। बालक महावीर ने उसे देखा और सहजभाव से बाएं हाथ से पकड़कर फेंक डाला। देव ने सोचा—‘भगवान् नहीं ठगे गए।’

कुछ समय पश्चात् स्वामी तिन्दुक क्रीड़ा करने लगे। वह देवता बालक का रूप बनाकर उनके साथ खेलने लगा। बालक महावीर जीत गए। तब वे बालक बने देव की पीठ पर बैठे। वह ताल पिशाच का रूप बनाकर बढ़ने लगा। भगवान् तनिक भी नहीं डरे। उन्होंने उस पर मुक्के से प्रहार किया। वह वहीं शांत बैठ गया। यहां भी वह सफल नहीं हुआ। फिर वह देवरूप में प्रगट होकर भगवान् को वंदना करके चला गया।^१

५२. ऐन्द्र व्याकरण का प्रारम्भ

जब महावीर आठ वर्ष के हुए तब उन्हें लेखाचार्य के पास अध्ययन हेतु भेजा। उसी समय देवराज इंद्र का आसन चलित हुआ। अवधिज्ञान से उसने जाना कि जगद्गुरु भगवान् को माता-पिता स्नेह के वशीभूत होकर उपाध्याय के पास भेज रहे हैं। तब इंद्र ने भगवान् को उपाध्याय के लिए परिकल्पित बृहद् आसन पर बिठाकर शब्द का लक्षण एवं अकार आदि के भंग और पर्याय पूछे। भगवान् ने उसका पूरा व्याकरण (शब्दशास्त्र) बता दिया। उपाध्याय आश्चर्यचकित रह गया। उसे व्याकरण के नये अवयव ज्ञात हुए। तब से ऐन्द्र व्याकरण का प्रारम्भ हुआ। इंद्र ने कहा—‘भगवान् जातिस्मृति एवं तीन ज्ञान से युक्त हैं अतः इन्हें पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है।’^२

५३. महावीर का अभिनिष्क्रमण

भगवान् जब अट्ठाइस वर्ष के हुए तब उनके माता-पिता दिवंगत हो गए। गर्भकाल में की गई प्रतिज्ञा पूरी होने पर भगवान् अपने बड़े भाई नंदिवर्धन के पास पहुंचे और दीक्षा की बात कही। नंदिवर्धन बोले—‘माता-पिता के दिवंगत होने पर तुम दीक्षा की बात करते हो, यह घाव पर नमक छिड़कने जैसी बात है। अभी कुछ समय ठहरो, जिससे हम शोकमुक्त हो सकें।’ भगवान् ने पूछा—‘कितने दिन और रुकना पड़ेगा?’ नंदिवर्धन बोला—‘दो वर्ष में शोक सम्पन्न होगा।’ महावीर ने कहा—‘मैं इतने दिन घर में रहने को तैयार हूँ लेकिन भोजन आदि क्रिया मैं अपनी इच्छा से करूंगा।’ स्वजनों ने इसे स्वीकार कर लिया। दो वर्ष तक भगवान् ने प्रासुक आहार किया एवं रात्रिभोजन का परिहार किया। इस अवधि में भगवान् ने सचित्त जल से स्नान भी नहीं किया। महावीर हाथ-पैर आदि भी प्रासुक जल से धोते थे। निष्क्रमण^३-महोत्सव के अवसर पर भगवान् ने अप्रासुक जल से स्नान किया।

इंद्र का आसन विचलित हुआ उसने अवधिज्ञान से जाना कि अर्हत् महावीर अभिनिष्क्रमण करना चाहते हैं। उसने वैश्रमण देव को ३८८ करोड़ और ८० हजार सौनैया खजाने में रखने का आदेश दिया। भगवान् ने वर्षादान दिया। लोकान्तिक देवों ने भगवान् को संबोध दिया। जल, स्थल एवं दिव्य फूलों से

१. आवनि. २७३, आवचू. १ पृ. २४६-२४८, हाटी. १ पृ. १२१, मटी. प. २५८, २५९।

२. आवचू. १ पृ. २४८, २४९, हाटी. १ पृ. १२१, १२२, मटी. प. २५९।

३. अभिनिष्क्रमण के विस्तृत वर्णन हेतु देखें आवचू. १ पृ. २५१-२६७, मटी. प. २६०।

युक्त लम्बी-चौड़ी चंद्रप्रभा शिविका में सिंहासन पर बैठकर भगवान् ने अभिनिष्क्रमण किया। उस दिन भगवान् के निर्जल बेलें की तपस्या थी। हस्तोत्तर नक्षत्र में देव, दानव और मनुष्यों की परिषद् के बीच शिविका से उतरकर भगवान् ने स्वयं ही पंचमुष्टि लोच किया। इंद्र ने भगवान् के केशों को कीमती वस्त्र में लेकर उन्हें क्षीरसमुद्र में प्रवाहित कर दिया। फिर भगवान् ने सिद्धों को नमस्कार करके सामायिक चारित्र स्वीकार कर सर्व सावद्य योगों का प्रत्याख्यान कर दिया। दीक्षा लेते ही भगवान् को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया।^१

५४. देवदूष्य का परित्याग

भगवान् एक देवदूष्य से प्रव्रजित हुए। वे उस वस्त्र को कंधे पर धारण कर रहे थे। उस समय पिता सिद्धार्थ का एक मित्र ब्राह्मण वहां आया। भगवान् ने जब वार्षिक दान दिया था, तब वह कहीं प्रवासित था। जब वह प्रवास से घर लौटा तब उसकी पत्नी ने उसे डांटते हुए कहा—‘भगवान् प्रव्रजित हो गए। उन्होंने वर्षों दान दिया और तुम जंगलों में भटकते रहे। जाओ, उनसे कुछ मांगो। संभव है कि कुछ मिल जाए।’ वह भगवान् के पास आकर बोला—‘स्वामिन्! आपने मुझे कुछ भी नहीं दिया, अब तो कुछ दो।’ तब भगवान् ने उस दूष्य का आधा भाग देते हुए कहा—‘मेरे पास और कुछ नहीं है। सब कुछ छोड़ दिया है।’ वह ब्राह्मण उस दूष्य-खंड को लेकर, उसके किनारे बंधवाने के लिए जुलाहे के पास गया। जुलाहे ने पूछा—‘यह कहां से लाए हो?’ वह बोला—‘भगवान् ने दिया है।’ जुलाहा बोला—‘इसका अन्य आधा भाग भी ले आओ।’ ब्राह्मण बोला—‘कैसे लाऊं?’ जुलाहे ने कहा—‘जब भगवान् के कंधे से वह गिर पड़े तब ले आना, मैं किनारे बांध दूंगा। तब इस पूरे वस्त्र का मूल्य एक लाख हो जाएगा। आधा तेरा और आधा मेरा।’ ब्राह्मण जुलाहे की बात स्वीकार कर भगवान् के साथ चलने लगा।^२

५५. अनुकूल उपसर्ग

भगवान् ने जब अभिनिष्क्रमण किया तब दिव्य गोशीर्ष चंदन एवं सुगंधित चूर्ण आदि से उनका शरीर वासित किया गया। इंद्रों ने विशेष रूप से चंदन आदि के लेप से शरीर को सुवासित किया। प्रव्रजित होने के बाद चार मास से अधिक समय तक उनके शरीर से सुगंध आती रही। सुरभित सुगंध से अनेक भ्रमर आदि जीव आकृष्ट होकर उनके शरीर को बाँधते रहते थे। जब भगवान् के शरीर से कोई स्वाद नहीं मिलता तो आकृष्ट होकर वे मुख से भगवान् की त्वचा को काटते रहते। चींटियां भी उनके शरीर पर चढ़ती रहती थीं। असंयमी तरुण-तरुणियां भगवान् के शरीर से निकलने वाली गंध में मूर्च्छित होकर भगवान् से उस गंध द्रव्य की मांग करते रहते थे। भगवान् के चुप रहने पर वे प्रतिकूल उपसर्ग देते थे। प्रतिमा में स्थित भगवान् को भी वे उपसर्ग देते रहते थे। स्त्रियां भी भगवान् के स्वेद मल रहित निर्मल देह को, निःश्वास से सुगंधित मुख को तथा नीलोत्पल जैसी स्वाभाविक आंखों को देखकर अनेक प्रकार से अनुलोम उपसर्ग उपस्थित करती थीं।^३

१. आवनि. २७५, आवचू. १ पृ. २४९-२६८, हाटी. १ पृ. १२३-१२५, मटी. प. २६०-२६६।

२. आवचू. १ पृ. २६८, हाटी. १ पृ. १२५, मटी. प. २६६।

३. आवचू. १ पृ. २६८, २६९, मटी. प. २६७।

५६. ग्वाले का उपद्रव

कुंडपुर के बाहर ज्ञातखंड नाम का उद्यान था। भगवान् वहां प्रव्रजित हुए। जो स्वजन उपस्थित थे, भगवान् उन्हें पूछकर कर्मारग्राम की ओर प्रस्थित हुए। उसके दो मार्ग थे—स्थलमार्ग और जलमार्ग। भगवान् स्थलमार्ग से चले और मुहूर्तमात्र शेष दिन-वेला में कर्मारग्राम गांव पहुंचकर प्रतिमा में स्थित हो गए।

एक ग्वाला दिन भर खेत में बैलों से बुवाई कर सायंकाल गांव के निकट आया। उसने सोचा—‘ये बैल यहां आसपास चरते रहें, तब तक मैं गायों को दुहकर आ जाऊंगा।’ भगवान् अन्तःपरिकर्म में लगे हुए थे। बैल चरते-चरते अटवी में चले गए। ग्वाला घर से लौट कर आया और भगवान् से पूछा—‘मेरे बैल कहां हैं?’ भगवान् मौन थे। उसने सोचा—भगवान् नहीं जानते अतः वह बैलों को खोजने चला। पूरी रात खोजता रहा पर उसे बैल नहीं मिले। वे बैल लंबे समय तक अटवी में चरते-चरते गांव के समीप आ गए और प्रतिमा में स्थित मनुष्य को देखकर वहीं उगाली करते हुए बैठ गए। इतने में ही ग्वाला वहां आया। उसने बैलों को वहीं बैठे देखा। उसने निश्चय कर लिया कि इसी बाबे ने ही मेरे बैल चुराए हैं। अत्यंत कुपित होकर वह रस्सी से भगवान् को मारने के लिए उद्यत हुआ। शक्र ने सोचा—‘आज दीक्षा का पहला दिन है। स्वामी इस स्थिति में क्या कर सकेंगे?’ इंद्र ने देखा, ग्वाला हाथ में रस्सी लिए दौड़ा-दौड़ा आ रहा है। शक्र ने उसे स्तम्भित कर दिया और तर्जना देते हुए कहा—‘अरे दुष्ट! तू नहीं जानता, ये सिद्धार्थ महाराजा के पुत्र हैं और प्रव्रजित हो गए हैं।’

५७. सिद्धार्थ देव का आगमन

इतने में ही भगवान् का मामा सिद्धार्थ, जो बालतपःकर्म के कारण व्यन्तर देव बना था, वह आया। शक्र ने तब भगवान् से कहा—‘भंते! आपका साधना-जीवन उपसर्ग-बहुल है। मेरी भावना है कि मैं बारह वर्षों तक आपकी सेवा में रहूँ।’ भगवान् बोले—‘देवेन्द्र! ऐसा न कभी हुआ है, न हो रहा है और न होगा कि अर्हत् देवेन्द्र अथवा असुरेन्द्र की निश्रा में रहकर केवलज्ञान प्राप्त करते हों, सिद्धिगति को प्राप्त होते हों। अर्हत् स्वयं के उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम से ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।’ तब शक्र ने व्यन्तर देव सिद्धार्थ से कहा—‘ये स्वामी तुम्हारे निजक-परिवार के हैं। दूसरी बात, मेरी यह आज्ञा है कि इन पर जो कोई मारणांतिक उपसर्ग आए, तुम उसका निवारण करना।’ सिद्धार्थ देव ने ‘ऐसा ही हो’—यह कहकर शक्र के वचन को स्वीकार किया। शक्र चला गया। सिद्धार्थ देव सेवा में ही रहा।

उस दिन भगवान् के बेले की तपस्या का पारणा था। भगवान् वहां से कोल्लाग सन्निवेश में गए। वहां बहुल नामक ब्राह्मण के घर भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुए। उसने भगवान् को घृत-मधु-संयुक्त खीर की भिक्षा दी। उस समय वहां पांच दिव्य प्रादुर्भूत हुए।^१

५८. प्रथम वर्षावास की प्रतिज्ञाएं

भगवान् वहां से विहार करते हुए मोराक सन्निवेश में पहुंचे। वहां द्वितीयान्तक नामक पाषंडी गृहस्थों का आश्रम था। उनके कुलपति भगवान् के पिता के मित्र थे। वे स्वामी के स्वागत के लिए आए।

१. आवर्त्ति. २७६, आवचू. १ पृ. २६९, २७०, हाटी. १ पृ. १२५, मटी. प. २६७।

२. आवचू. १ पृ. २७०, हाटी. १ पृ. १२६, मटी. प. २६७।

तब भगवान् ने पूर्व प्रयोग के आधार पर स्वागत में अपने बाहू प्रसारित किए। कुलपति बोला—‘कुमार! यह उपयुक्त स्थान है। आप यहां ठहरें।’ स्वामी वहां एक रात रुककर विहार कर गए। उस समय कुलपति ने निवेदन किया—‘यहां एकान्त स्थान है, यदि आप वर्षावास बिताना चाहें तो यहां अवश्य आएँ। हम कृतार्थ होंगे।’ तब स्वामी आठ ऋतुबद्ध मास का अन्यत्र विहार कर वर्षाऋतु के प्रारंभ में द्वितीयान्तक ग्राम में आए और एक कुटीर में वर्षावास के लिए स्थित हो गए। वर्षाऋतु के प्रारंभ में गायों को चरने के लिए घास नहीं मिलता था अतः वे जीर्ण तृण खाती थीं। वे घास की कुटीरों पर जाकर जीर्ण तृण को खाने लगीं। तत्रस्थ लोग उसको हटाते परन्तु भगवान् अपने कुटीर के तृण खाने वाली गायों को निवारित नहीं करते। आश्रमवासियों ने कुलपति से यह बात कही कि यह भिक्षुक गायों को निवारित नहीं करता। तब कुलपति ने अनुशासित करते हुए भगवान् से कहा—‘कुमारवर! पक्षी भी अपने नीड़ की रक्षा करते हैं। तुम भी अपने कुटीर की रक्षा करो।’ कुलपति ने पूर्ण प्रेमभाव से यह बात कही।

इस बात को सुनकर भगवान् ने सोचा, यह अप्रीतिकर स्थान है। वे वहां से अन्यत्र विहार कर गए। वहां उन्होंने पांच अभिग्रह धारण किए—१. अप्रीतिकर स्थान में नहीं रहूंगा। २. नित्य व्युत्सृष्टकाय रहूंगा। ३. प्रायः मौन रहूंगा। ४. पाणिपात्र रहूंगा। ५. गृहस्थों की वंदना-अभ्युत्थान आदि से सत्कार-क्रिया नहीं करूंगा। वहां उस आश्रम में अर्धमास रहकर भगवान् अस्थिकग्राम में आए।^१ उस अस्थिकग्राम का पूर्व नाम वर्द्धमानक था।^२

५९. शूलपाणि यक्ष का पूर्वभव

एक बार धनदेव नामक वणिक् पांच सौ शकटों में गणिम-धरिम-मेय आदि पदार्थों को भरकर उस मार्ग से निकला। वहां वेगवती नाम की नदी बह रही थी। उसने अपने शकटों को नदी में उतारा। एक शक्तिशाली बैल सबसे आगे के शकट में जुता हुआ था। उसके पराक्रम से सभी शकट उस नदी को पार कर गए। वह धुरी बैल श्रान्त होकर भूमि पर गिर पड़ा। धनदेव ने उसके लिए तृण-पानी की व्यवस्था कर, उसे वहीं छोड़ आगे प्रस्थान कर दिया। वह बैल उस ज्येष्ठमास की तपती बालु में पड़ा हुआ गर्मी, भूख और प्यास से अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। उस मार्ग से वर्द्धमानक गांव के अनेक लोग आते-जाते थे। परन्तु किसी ने भी उस बैल के तृण-पानी की व्यवस्था नहीं की। बैल के मन में सबके प्रति प्रद्वेष भाव जागा और वह अकाममरण से मर कर उसी गांव के अग्रोद्यान में शूलपाणि यक्ष के रूप में उत्पन्न हुआ। यक्षरूप में उत्पन्न होकर उसने ज्ञान के उपयोग से अपने मृत बैल के शरीर को देखा। उसने रुष्ट होकर गांव में मारी का प्रकोप किया। मारी के प्रभाव से लोग मरने लगे। सारे लोग क्षुब्ध हो गये। उन्होंने मारी के प्रकोप को नष्ट करने के लिए सैकड़ों कौतुक—मंत्र-तंत्र आदि किए, फिर भी प्रकोप उपशान्त नहीं हुआ। ग्रामवासी वहां से अन्यत्र जाने लगे। गांव उजड़ने लगा फिर भी यक्ष उपशान्त नहीं हुआ। तब ग्रामवासियों को चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा, हमें ज्ञात नहीं है कि हमने किसी देव अथवा दानव की विराधना की हो इसलिए हम नगरदेवता के द्वार पर ही चलें। ग्रामवासी उस यक्षमंदिर में आए। नगरदेवता के समक्ष विपुल अशन-पान,

१. आवनि. २७७, २७८, आवचू. १ पृ. २७१, २७२, हाटी. १ पृ. १२६, मटी. प. २६८।

खाद्य और स्वाद्य को उपहृत किया, फिर ऊर्ध्वमुख होकर बोले—‘आपकी ही शरण है, आपके प्रति हमने यदि असम्यक् व्यवहार किया हो तो आप हमें क्षमा करें।’ तब आकाश में स्थित उस देव ने कहा—‘तुम सब दुरात्मा हो, दयाहीन हो। जिस मार्ग से तुम आते-जाते थे, वहां एक मृतप्रायः बैल को तुमने कभी तृण-पानी भी नहीं दिया इसलिए मैं तुमको नहीं छोड़ सकता। तब लोगों ने स्नान कर, फूल आदि को हाथ में लेकर गिड़गिड़ाते हुए कहा—‘आपका कोप हमने देख लिया, अब आप अनुग्रह दिखाएं।’ तब देव बोला—‘मनुष्यों की इन अस्थियों का ढेर बनाकर उस पर देवकुल बनाओ उसमें शूलपाणि यक्ष तथा एक ओर बलिवर्द की स्थापना करो। उन्होंने वैसा ही किया।’

उस यक्षमंदिर की व्यवस्था का भार इन्द्रशर्मा को सौंपा गया। जब पथिक पांडुर अस्थियों का ढेर और देवकुल को देखकर आगे जाते तब दूसरे लोग उन्हें पूछते—‘कौन से गांव से आ रहे हो अथवा जा रहे हो?’ तब वे कहते—‘जहां अस्थियों का ढेर है, उस गांव से आ रहे हैं अथवा जा रहे हैं।’ तब से उस वर्द्धमानक गांव का नाम अस्थिकग्राम हो गया।^१

६०. शूलपाणि यक्ष का उपद्रव

जो कोई व्यक्ति रात में उस व्यन्तरगृह में रहता, वह शूलपाणि यक्ष के द्वारा मार दिया जाता। इसलिए उस यक्षायतन में लोग दिन-दिन में ठहरते, रात में अन्यत्र चले जाते। इन्द्रशर्मा भी धूप-दीप कर दिन रहते-रहते वहां से घर चला जाता।

एक बार भगवान् द्वितीयान्तक ग्राम के पार्श्व से होते हुए अस्थिकग्राम आ पहुंचे। गांव के सभी लोग वहां एकत्रित थे। स्वामी ने इन्द्रशर्मा से देवकुल में रहने की आज्ञा मांगी। उसने कहा—‘मैं नहीं जानता, आप गांव वालों से पूछें।’ ग्रामवासी वहां एकत्रित थे। स्वामी ने उनसे आज्ञा मांगी। ग्रामवासियों ने कहा—‘यहां नहीं रहा जा सकता।’ भगवान् बोले—‘तुम केवल आज्ञा दे दो।’ तब उन्होंने कहा—‘ठहरो!’ ग्राम के प्रत्येक व्यक्ति ने पुनः प्रार्थना की—‘तुम हमारे गांव में चलो। वहां जहां चाहे ठहर जाना लेकिन यहां रहना उचित नहीं है।’ प्रत्येक व्यक्ति ने अपने घर में रहने के लिए कहा परन्तु स्वामी नहीं चाहते थे। वे जानते थे कि शूलपाणि यक्ष प्रतिबुद्ध होगा। वे उस यक्षमंदिर के एक कोने में प्रतिमा में स्थित हो गए।

इन्द्रशर्मा सूर्य के रहते-रहते धूप-दीप कर घर जाने के लिए प्रस्थित हुआ। वहां ठहरे हुए कार्पटिक-करोटिकों को देखकर उसने कहा—‘अब आप यहां से चले जाएं। रातभर यहां रहने से मृत्यु का वरण करना होगा। उसने प्रतिमा में स्थित देवार्य से भी कहा—‘आप भी यहां से चले जाएं, अन्यथा मारे जायेंगे।’ भगवान् ने सुना पर मौन रहे। उस व्यन्तरदेव ने सोचा—‘यह मुनि देवकुलिक तथा ग्रामवासियों के कहने पर भी नहीं गया। देखना, अब मैं क्या करता हूं।’ तब व्यन्तरदेव संध्या के समय ही भीषण अट्टहास कर देवार्य को डराने लगा। इस भीषण अट्टहास की ध्वनि को सुनकर ग्रामवासी लोग भयभीत हो गए। उन्होंने सोचा, ‘आज देवार्य मारे जाएंगे।’

वहां उत्पल^२ नामक परिव्राजक रहता था। वह अष्टांगनिमित्त का ज्ञाता था। उसने जनता से सारा

१. आवनि. २७८, आवचू. १ पृ. २७२, २७३, हाटी. १ पृ. १२६, १२७, मटी. प. २६८, २६९।

२. पार्श्वपत्योय मुनिवेष को छोड़कर परिव्राजक बना हुआ व्यक्ति।

वृत्तान्त सुना। अपने निमित्तबल से उसने जान लिया कि ये तीर्थकर हैं। ये कभी खिन्न नहीं होते। लोग उस यक्षायतन में रात में जाने से डरते थे। जब व्यन्तर देव ने देखा कि अट्टहास से यह मुनि भयभीत नहीं हुआ है तब उसने हाथी का रूप बनाकर उपसर्ग देना प्रारंभ किया। फिर पिशाच का रूप बनाया, फिर भयंकर नाग का रूप विकुर्वित किया। जब इन सबसे भी देवार्य प्रकंपित नहीं हुए तब देव ने सात प्रकार की रौद्र वेदनाएं उदीरित कीं—शीर्षवेदना, कर्णवेदना, चक्षुवेदना, नासावेदना, दंतवेदना, नखवेदना तथा पीठवेदना। एक-एक वेदना भी सामान्य मनुष्य का जीवन-हरण करने वाली थी। उसका क्या कहना जब सातों वेदनाएं एक साथ उत्पन्न हों। भगवान् ने सभी वेदनाओं को समभाव से सहन किया। जब देव इन सब उपसर्गों से देवार्य को क्षुब्ध करने या चलित करने में समर्थ नहीं हुआ तब परितप्त होकर वह देवार्य के चरणों में लुठकर क्षमायाचना करता हुआ बोला—‘भट्टारक! आप मुझे क्षमा करें।’ तब सिद्धार्थ देव उस व्यन्तर को ताड़ना देते हुए बोला—‘दुष्ट शूलपाणियक्ष! अप्रार्थितप्रार्थक! तुम नहीं जानते, ये महाराज सिद्धार्थ के पुत्र हैं। ये तीर्थकर हैं।’ यदि शक्र को तुम्हारी चेष्टाओं का पता लग गया तो वह तुमको स्थान से च्युत कर देगा। तब वह व्यन्तर भयभीत होकर बार-बार क्षमायाचना करने लगा। सिद्धार्थ देव ने उसे धर्म का रहस्य बताया। वह व्यन्तर उपशान्त होकर देवार्य की महिमा और स्तुति-पूजा करने लगा। लोगों ने सोचा—‘यक्ष देवार्य को मार कर अब क्रीड़ा कर रहा है, नाचगान कर रहा है।’ उस यक्षायतन में देवार्य कुछ न्यून चार प्रहर तक अत्यन्त परितप्तित होते रहे थे अतः परिश्रान्त होने के कारण प्रभातबेला में मुहूर्त्तमात्र काल तक भगवान् निद्राप्रमाद में गए। निद्रा में दस महास्वप्नों को देखकर वे जागृत हुए। वे दस स्वप्न ये थे—१. तालपिशाच को मार गिराना, २. श्वेत पक्षी ३. चित्रकोकिल को पर्युपासना करते देखना, ४. सुरभित पुष्पों की दो मालाएं, ५. पर्युपासना करने वाला गोवर्ग, ६. विकसित कमलों से परिपूर्ण पद्मसरोवर, ७. सागर में स्वयं को तैरते देखना, ८. प्रकीर्ण रश्मिमंडल से सूर्य को उगते हुए देखना, ९. आंतों से मानुषोत्तरपर्वत को वेष्टित करते हुए देखना, १०. स्वयं का मन्दर पर्वत पर आरोहण।^१

६१. उत्पल द्वारा स्वप्नों का अर्थ-कथन

प्रातःकाल हुआ। उत्पल, पुजारी इन्द्रशर्मा तथा अन्य लोग वहां आए। उन्होंने यक्षायतन के प्रांगण में दिव्य सुगंधित चूर्ण तथा पुष्पों की वृष्टि देखी तथा देवार्य को अक्षत अंग-प्रत्यंग वाला देखा। वे सभी लोग देवार्य की उत्कृष्ट जय-जयकार करते हुए चरणों में लुठकर बोले—‘आपने देव को उपशान्त कर दिया। आप महिमा को प्राप्त हुए।’ उत्पल भी स्वामी को देखकर वन्दना करता हुआ बोला—‘स्वामिन्! आपने रात्रि के अन्त में दस स्वप्न देखे थे, उनका फल इस प्रकार है—आपने तालपिशाच को पछाड़ा, इसके फलस्वरूप आप शीघ्र ही मोहनीय कर्म का उन्मूलन करेंगे। शुक्ल पक्षी को देखने का तात्पर्य है कि आप शुक्लध्यान में आरूढ होंगे। विचित्र कोकिल को देखना इस बात का द्योतक है कि आप द्वादशांगी की रचना करेंगे। गोवर्ग इस बात का प्रतीक है कि आप चतुर्विध संघ की स्थापना करेंगे। पद्मसरोवर देखने का अर्थ है कि चार प्रकार के देव निकायों का संघात आपकी सेवा में उपस्थित रहेगा। सागर को तैरने का अर्थ भव-

१. आवनि. २७९, आवचू. १ पृ. २७३, २७४, हाटी. १ पृ. १२७, १२८, मटी. प. २६९, २७०।

सागर को तैर जाना है। सूर्य का दर्शन यह बताता है कि आप शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेंगे। आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करने का अर्थ है—संपूर्ण त्रिभुवन में आपका यश, कीर्ति और प्रताप फैलेगा। मंदरपर्वत पर आरूढ़ होने का अर्थ है कि आप सिंहासन पर आरूढ़ होकर मनुष्य, देव और असुरों की परिषद् में धर्म की प्रज्ञापना करेंगे। दो मालाएं देखने का अर्थ मैं नहीं समझ सका।’ स्वामी बोले—‘हे उत्पल! तुम इसका अर्थ नहीं जानते। मैं इसका फल बताता हूँ—मेरे द्वारा दो प्रकार के धर्म की प्ररूपणा होगी—सागर धर्म और अनगारधर्म।’ समाधान होने पर उत्पल वंदना कर चला गया। वहां भगवान् अर्द्धमास तक रहे। यह पहला वर्षावास था।^१

६२. सिद्धार्थ और अच्छंदक

शरद् ऋतु में भगवान् वहां से विहार कर मोराक सन्निवेश के बाहर एक उद्यान में ठहरे। वहां अच्छंदक नामक तपस्वी रहते थे। वहां एक अच्छंदक जादू-टोने से जीवन-यापन करता था। सिद्धार्थ यह देखकर दुःखी था कि वहां भगवान् की पूजा नहीं हो रही है। उसने उधर से जाते हुए एक ग्राम-प्रमुख को बुलाकर भगवान् के बारे में अनेक बातें बताईं।

वह ग्राम-प्रमुख गांव में गया और उसने अपने मित्रों तथा परिचितों को सारी बात बताई। सारे गांव में यह बात प्रसारित हो गई कि उद्यान में ठहरे हुए देवार्य अतीत, अनागत और वर्तमान—तीनों काल की बात जानते हैं। एक-दूसरे से यह बात सर्वत्र फैल गई। लोग आए और देवार्य की महिमा-पूजा करने लगे। लोग उनको घेरे रहते। लोगों ने कहा—यहां अच्छंदक नामक व्यक्ति है, जो भूत व भविष्य का जानकार है। सिद्धार्थ ने कहा—‘यह अच्छंदक कुछ नहीं जानता।’ तब लोगों ने जाकर उससे कहा—‘तुम कुछ नहीं जानते, देवार्य जानते हैं।’ वह अच्छंदक अपने आपको लोगों के मध्य प्रतिष्ठापित करने के लिए बोला—‘चलें, यदि वह मेरे प्रश्न का उत्तर दे देगा तो मैं मानूंगा कि वह जानता है।’ वह लोगों को साथ ले देवार्य के पास गया और सामने बैठ कर एक तिनका हाथ में लेकर बोला—‘यह तिनका टूटेगा या नहीं?’ उसने सोचा—‘यदि देवार्य कहेंगे कि यह तिनका नहीं टूटेगा तो मैं तत्काल उसे तोड़ कर दिखा दूंगा और यदि कहेंगे कि यह तिनका टूटेगा तो मैं उसे नहीं तोड़ूंगा।’ तब सिद्धार्थ ने कहा—‘यह तिनका नहीं टूटेगा।’ अच्छंदक ने उसे तोड़ने का प्रयत्न किया। शक्र ने उपयोग से सारी बात जान ली और वज्र फेंका। अच्छंदक की दसों अंगुलियां भूमि पर आ गिरां। तब लोगों ने उसको फटकारा। सिद्धार्थ अच्छंदक से रुष्ट हो गया। सिद्धार्थ ने लोगों से कहा—‘अरे सुनो। यह अच्छंदक चोर है।’ लोगों ने पूछा—‘बताओ, इसने क्या चुराया है?’ तब सिद्धार्थ बोला—‘क्या यहां वीरघोष नाम का कर्मकर है?’ वीरघोष सामने आया और सिद्धार्थ के चरणों में गिर कर बोला—‘मैं वीरघोष हूँ।’ सिद्धार्थ ने पूछा—‘क्या अमुक समय में तुम्हारा दसपल वजन वाला करोटक गुम हो गया था?’ उसने कहा—‘हां, गुम हो गया।’ सिद्धार्थ बोला—‘इस अच्छंदक ने उसे चुरा लिया था।’ वीरघोष बोला—‘अब वह करोटक कहां है?’ सिद्धार्थ ने कहा—‘इस अच्छंदक के घर के आगे खर्जूर का एक वृक्ष है। उसके पूर्व दिग्भाग में एक हाथ की दूरी पर गड्ढा खोदकर इसने वहां

१. आबनि. २७९, आवबू. १ पृ. २७४, २७५, हाटी. १ पृ. १२८, १२९, मटी. प. २७०, २७१।

करोटक को छुपा रखा है। तुम जाओ और वहां खोदकर उसे निकाल लो।' वीरघोष वहां गया और निर्दिष्ट स्थान से करोटक निकालकर सिद्धार्थ की जय-जयकार करता हुआ आ गया। सिद्धार्थ ने पुनः उस परिषद् में पूछा—'क्या यहां इन्द्रशर्मा नामक गृहपति उपस्थित है?' लोगों ने कहा—'हां, वह उपस्थित है।' इन्द्रशर्मा स्वयं सामने आकर बोला—'क्या आज्ञा है?' सिद्धार्थ बोला—'क्या अमुक समय में तुम्हारा भेड़ खो गया था?' इन्द्रशर्मा ने स्वीकृति दी। तब सिद्धार्थ बोला—'इस अच्छंदक ने उसे मारकर खा लिया है। उसकी हड्डियां बदरी वृक्ष के दक्षिण पार्श्व में उकुरडी के नीचे छिपाकर रखी हैं।' इन्द्रशर्मा अनेक लोगों को साथ लेकर वहां गया और हड्डियों का समूह देखा। सभी सिद्धार्थ की जय-जयकार करते हुए लौट आए। लोग सिद्धार्थ से और बात बताने का आग्रह करने लगे तब उसने कहा—'और बातें इसकी भार्या बताएगी।'

अच्छंदक ने उस दिन पत्नी की पिटाई की थी अतः वह अच्छंदक के दोष देख रही थी। जब उसने सुना कि लोगों ने उसकी विडंबना की है और उसकी अंगुलियां काट दी गई हैं। तब उसने सोचा—'लोग आएंगे तो मैं भी उसकी पोल खोल दूंगी।' लोग आए और अच्छंदक के विषय में पूछा। उसने कहा—'उसका नाम भी मत लो। वह अपनी भगिनी का पति है, मुझे बिल्कुल नहीं चाहता।' लोगों ने उसकी अवहलेना करते हुए कहा—'यह अच्छंदक पापी है, दुष्ट है।' अब गांव में उसे भिक्षा की प्राप्ति भी दुर्लभ हो गई। वह अन्यमनस्क हो गया। एक दिन वह भगवान् के पास आया और बोला—'भंते! आपकी पूजा तो अन्यत्र भी होगी ही। मैं कहाँ जाऊँ?' तब भगवान् ने सोचा—'यहां रहना अप्रीति का कारण है।' ऐसा सोचकर भगवान् वहां से चले गए।^१

६३. वस्त्र का परित्याग (२)

रास्ते में उत्तरवाचाला और दक्षिणवाचाला के बीच में दो नदियां बहती थीं—स्वर्णबालुका और रुप्यबालुका। भगवान् दक्षिणवाचाला सन्निवेश से उत्तरवाचाला जा रहे थे। वहां स्वर्णबालुका नदी के किनारे कांटों में भगवान् का वस्त्र उलझ कर नीचे गिर पड़ा। भगवान् आगे बढ़ गए पर उन्होंने पीछे मुड़कर उस वस्त्र को देखा।^१ तेरह महीनों तक सहजभाव से भगवान् ने उस वस्त्र को धारण किया फिर अचेत हो गए। उस ब्राह्मण ने वह देवदूष्य उठा लिया और जुलाहे को दे दिया। जोड़ने से वस्त्र का मूल्य एक लाख हो गया। दोनों ने पचास-पचास हजार ले लिए।^२

६४. दृष्टिविष सर्प का उपद्रव और उसको प्रतिबोध

उत्तरवाचाला के रास्ते में कनकखल नाम का आश्रम था। वहां से दो मार्ग थे—ऋजु और वक्र। जो ऋजु मार्ग था, वह कनकखल आश्रम के मध्य से गुजरता था। वक्र मार्ग से आश्रमपद नहीं आता था।

१. आवनि. २७९, २८१, आवचू. १ पृ. २७५-२७७, हाटी. १ पृ. १२९, १३०, मटी. प. २७०-२७२।

२. भगवान् ने पीछे मुड़कर क्यों देखा इस बारे में अनेक अभिमत हैं—कोई कहते हैं कि भगवान् ने ममत्व के कारण पीछे मुड़कर देखा। कोई कहते हैं कि वस्त्र स्थण्डिल भूमि में गिरा है अथवा अस्थण्डिल भूमि पर, यह देखने के लिए पीछे मुड़कर देखा। किसी का मानना है कि बिना कुछ विचार किए पीछे देखा तथा किसी के अभिमत से शिष्यों को वस्त्र एवं पात्र सुलभ होंगे इस दृष्टि से भगवान् ने पीछे मुड़कर देखा।

३. आवनि. २८१, आवचू. १ पृ. २७७, हाटी. १ पृ. १३०, मटी. प. २७२।

भगवान् ऋजु मार्ग से चले। कुछ ग्वालों ने भगवान् को उस मार्ग से जाने के लिए रोका। उन्होंने कहा—‘इस मार्ग पर एक दृष्टिविष सर्प रहता है अतः इस मार्ग से न जाएं।’ भगवान् बोले—‘वह भव्य है अतः संबुद्ध हो जाएगा।’ भगवान् उसी मार्ग से चले। आगे जाकर वे यक्षगृह के मंडप में प्रतिमा धारण कर स्थित हो गए।

चंडकौशिक ने प्रतिमा में स्थित भगवान् को देखा और अत्यंत क्रुद्ध होकर मन ही मन बोला—‘क्या यह मुझे नहीं जानता?’ तब उसने सूर्य की ओर दृष्टिपात कर भगवान् की ओर दृष्टि-निक्षेप किया। भगवान् अन्य प्राणियों की भांति भस्मसात् नहीं हुए। दो-तीन बार उसने वैसा ही किया। भगवान् अकंप रहे तब वह भगवान् के पास गया और भगवान् को डसकर यह सोचकर दूर खिसक गया कि कहीं भगवान् मेरे ऊपर न गिर पड़ें। भगवान् पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने तीन बार भगवान् को डसा। भगवान् को निष्कंप देखकर वह क्रोध से अभिभूत होकर भगवान् को देखने लगा। भगवान् के रूप को देखते-देखते उसकी विष से परिपूर्ण आंखें भगवान् की कान्ति और सौम्यता से बंद हो गईं। तब भगवान् बोले—‘ओ चंडकौशिक! शान्त हो जाओ।’ ये शब्द सुनकर चंडकौशिक के मन में ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा प्रारंभ हो गई। ऐसा करते-करते उसे पूर्वजन्म की स्मृति हुई। तब उसने मन ही मन ‘आयाहिणं-पयाहिणं’ कहते हुए भक्तप्रत्याख्यान कर लिया।

कहीं मैं रुष्ट होकर लोगों को न मार डालूं यह सोचकर वह दृष्टिविष सर्प बिल में अपना मुंह

१. चंडकौशिक का पूर्वभव

पूर्वभव में वह दृष्टिविष सर्प एक क्षपक था। तपस्या के पारणे में वह पर्युषित भक्तपान के लिए गांव में गया। उसके पैरों तले एक मेंढकी मर गई। साथ वाले बाल मुनि ने इस बात की जानकारी दी। क्षपक बोला—‘यह मेंढकी लोगों द्वारा मारी गई है, इसे तू मेरे द्वारा मारी गई क्यों बता रहा है?’ तब क्षुल्लक मुनि ने सोचा—‘संभव है स्नान प्रतिक्रमण के समय ये इसकी आलोचना करेंगे।’ क्षपक ने वैसा नहीं किया तब क्षुल्लक ने सोचा—‘संभव है, इनको इसकी विस्मृति हो गई हो। तब वह क्षपक के पास पहुंचा और उनको मेंढकी की स्मृति कराई। क्षपक रुष्ट होकर क्षुल्लक पर प्रहार करने के लिए दौड़ा। अंधकार में वह खंभे से टकराया और वहीं मृत्यु को प्राप्त हो गया। श्रामण्य की विराधना करने के कारण वह ज्योतिष्क देव बना। वहां से च्युत होकर वह कनकखल आश्रम के पांच सौ तापसों के कुलपति की पत्नी के उदर में आया। गर्भ की अवधि पूरी होने पर वह पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम कौशिक रखा गया। वहां अन्य बालकों का नाम भी कौशिक था। वह अपने स्वभाव से अत्यंत चंड था अतः वह चंडकौशिक नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुलपति के दिवंगत हो जाने पर वह कुलपति बना। वह अपने वनखंड के प्रति अत्यन्त भूच्छिंत था अतः अन्यान्य तापसों को फल नहीं देता था। वे तापस उस वनखंड को छोड़कर अन्यत्र चले गए। वहां जो भी गोपाल आदि आता, वह उसे मारकर भगा देता। वहां निकट में ही श्वेतांबिका नगरी थी।

एक बार नगरी के राजकुमार वहां आए। जब कुलपति वहां नहीं था, तब उन्होंने उस वनखंड को विनष्ट कर डाला। कुलपति उस समय कांटों की बाड़ के लिए गया हुआ था। गोपालकों ने उसको सारा वृत्तान्त बताया। वह कुठार हाथ में लेकर कुमारों को मारने दौड़ा। उसे आते देखकर कुमार वहां से पलायन कर गए। वह उनके पीछे भागा और अचानक एक गढ़े में गिर गया। उसके हाथ के कुठार से उसका सिर दो भागों में विभक्त हो गया। उससे मृत्यु प्राप्त कर वह उसी वनखंड में दृष्टिविष सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। वह अब रोष और लोभ से उस वनखंड की रक्षा करने लगा। उसके तीव्र विष से सभी तापस दग्ध हो गए। जो बचे, वे वहां से भाग गए। दृष्टिविष सर्प चंडकौशिक त्रिसन्ध्य उस वनखंड की परिक्रमा करता और यदि चिड़िया भी दृष्टिगत हो जाती तो उसे जलाकर भस्म कर डालता (आवनि. २८२, आवचू. १ पृ. २७८, हाटी. १ पृ. १३०, १३१, मटी. प. २७३)।

डालकर बैठ गया। भगवान् उसकी अनुकंपा से वहीं ठहरे। भगवान् को देखकर गोपालक आदि वहां आए। वे स्वयं को वृक्षों की ओट में छुपाकर उस सर्प पर पत्थर फेंकने लगे। वह कंपन नहीं कर रहा है यह देखकर उन्होंने उसे काष्ठ से हिलाना शुरू किया। फिर भी वह अस्पंदित रहा। उन्होंने लोगों को सर्प की स्थिति बतलाई। लोग आकर भगवान् को वंदना कर सर्प की भी पूजा करने लगे। कुछ लोगों ने घृत से सर्प का मर्दन किया, उसका स्पर्श किया। घृत के कारण चींटियों ने सर्प को चारों ओर से जकड़ दिया। उस विपुल वेदना को सर्प पन्द्रह दिनों तक सहता रहा और मरकर सहस्रार देवलोक में उत्पन्न हुआ।^१

६५. नागसेन द्वारा भिक्षा-दान

वहां से भगवान् उत्तरवाचाला गए। वहां पाक्षिक तपस्या के पारणे के लिए वे गृहपति नागसेन के घर पहुंचे। गृहपति ने उन्हें क्षीर भोजन से प्रतिलाभित किया। वहां पांच दिव्य प्रादुर्भूत हुए। भगवान् वहां से श्वेतांबिका गए। वहां का प्रदेशी राजा श्रमणोपासक था। उसने भगवान् की वन्दना-पूजा की। कुछ दिन वहां रहकर भगवान् सुरभिपुर की ओर प्रस्थित हुए। रास्ते में उन्हें पांच रथों पर आरूढ नैयिक राजा मिले, जो प्रदेशी राजा के पास जा रहे थे। वे राजा रथों से उतरे, भगवान् को वंदना कर उनकी स्तुति की। वहां से भगवान् आगे बढ़े और सुरभिपुर पहुंचे।^२

६६. नौका में नागकुमार का उपद्रव

आगे भगवान् को गंगा नदी पार करनी थी। वे तट पर पहुंचे। वहां सिद्धयात्र नामक नाविक की नौका तैयार थी। उसमें लोग बैठ रहे थे। शकुनों का ज्ञाता क्षेमिल भी वहीं था। उस समय एक शकुनदाता उलूक बोला। उसकी आवाज सुनकर क्षेमिल बोला—‘बुरे शकुन के आधार पर यह प्रतीत होता है कि हमें मारणान्तिक कष्ट झेलना पड़ेगा। पर इस महात्मा (भगवान् महावीर) के प्रभाव से हम कष्टमुक्त हो जाएंगे।’ नौका आगे बढ़ी। तीक्ष्णदाढा वाले नागकुमार ने भगवान् को नौका में बैठे देखा। उसका रोष उभर आया। यह वही सिंह का जीव था, जिसको वासुदेव त्रिपृष्ठ के भव में महावीर ने मारा था। वह संसार में परिभ्रमण करता हुआ नाग बना। उसने संवर्तकवायु की विकुर्वणा कर नौका को डुबोना चाहा। इतने में कंबल-संबल रूप नागकुमार देवों का आसन चलिता हुआ। उन्होंने अवधिज्ञान के उपयोग से जाना कि तीर्थंकर को उपसर्ग दिया जा रहा है। उन्होंने सोचा—‘दूसरों से हमें क्या प्रयोजन?’ हमें भगवान् को उपसर्ग से मुक्त करना चाहिए। यह सोचकर वे दोनों देव वहां आए। एक देव ने नौका को थामा। दूसरा देव सुदाढानाग से युद्ध करने लगा। नागदेव का च्यवनकाल निकट था। कंबल देव अधुनोपपन्न तथा महर्द्धिक देव था। उसने नागदेव को पराजित कर डाला। वे दोनों नागकुमार भगवान् को वंदना कर उनके रूप और सत्त्व का गुणगान करने लगे। लोगों ने भी भगवान् की पूजा की। नदी को पार कर भगवान् नौका से उतरे। उस समय देवताओं ने सुरभित पुष्पों तथा गन्धोदक की वृष्टि की।^३

१. आवनि. २८२, आवचू. १ पृ. २७७-२७९, हाटी. १ पृ. १३०, १३१, मटी. प. २७३, २७४।

२. आवनि. २८३, आवचू. १ पृ. २७९, २८०, हाटी. १ पृ. १३१, १३२, मटी. प. २७४।

३. आवनि. २८४, २८६, आवचू. १ पृ. २८०, २८१, हाटी १ पृ. १३२, १३३, मटी. प. २७४, २७५।

६७. कंबल-संबल देव की उत्पत्ति

मथुरा नगरी में जिनदास वणिक् श्रावक था। उसकी पत्नी सोमदासी श्राविका थी। वे दोनों जीवादि तत्त्वों के ज्ञाता तथा कृत-परिमाण अर्थात् व्रतों के धारक थे। उन्होंने चतुष्पद रखने का प्रत्याख्यान कर लिया था इसलिए वे दूसरों से दूध लेते थे। एक दिन एक आभीरी गोरस लेकर आई। श्राविका ने उससे कहा—‘गोरस बेचने के लिए तुम अन्यत्र मत जाया करो। तुम जितना गोरस लाओगी, मैं ले लूंगी।’ इस प्रकार दोनों के परस्पर बात हो गई। श्राविका उसको गंधपुट आदि देती और वह आभीरी श्राविका को दूध, दही आदि देती। इस प्रकार दोनों में दृढ़ मैत्री हो गई। एक बार आभीरी के घर गोपाल का विवाह था। उसने श्रावक-श्राविका—दोनों को निमंत्रण दिया। श्रावक बोला—‘अभी हम बहुत व्यस्त हैं, वहां नहीं आ सकते। तुम्हें विवाह-कार्य में भोजन के लिए कटाह आदि बरतन तथा वस्त्र, आभरण, पुष्प, फल आदि जो वस्तु चाहिए वह यहां से ले जाओ।’ वे सारी वस्तुओं को पाकर परम प्रसन्न हुए। लोगों ने बहुत प्रशंसा की। उस आभीरी ने सेठ को तीन वर्षीय कंबल-संबल नाम वाले दो बैल दिए। श्रावक लेना नहीं चाहता था फिर भी बलात् उन दोनों बैलों को उसके घर बांध दिया। एक दिन श्रावक ने सोचा—‘यदि मैं इन बैलों को ऐसे ही छोड़ देता हूं तो दूसरे लोग इनको वाहन में जोत लेंगे अतः अच्छा हो ये यहीं रहें। वह उनका प्रासुक चारा से पोषण करने लगा। श्रावक अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास करता, धर्म की पुस्तक पढ़ता। वे दोनों बैल उसे ध्यान से सुनते। श्रावक उपवास करता तो वे भी भूखे रहते। दोनों बैल भद्रक और सम्यक्त्वयुक्त थे। श्रावक ने सोचा कि ये दोनों बैल भव्य हैं, उपशांत हैं। श्रावक और इनके परस्पर बहुत स्नेह हो गया।

एक बार नगर में भंडीरमणयात्रा का आयोजन था। श्रावक का मित्र ‘भंडीरमणयात्रा’ में बिना पूछे ही दोनों बैलों को ले गया। उनको खूब दौड़ाया। दोनों बैल परिश्रान्त हो गए। उसने दोनों को लाकर श्रावक के घर बांध दिया। उसी दिन से दोनों ने चारा-पानी छोड़ दिया। अंत में श्रावक ने दोनों बैलों को अनशन कराया। तब श्रावक उन्हें भक्त प्रत्याख्यान कराकर नमस्कार मंत्र सुनाता रहा। वे मरकर नागकुमार देव-योनियों में उत्पन्न हुए।^१

६८. महावीर का चक्रवर्तित्व

भगवान् ने नौका से उतर कर ‘ईर्यावही’ प्रतिक्रमण किया और आगे बढ़ गए। नदी के तट पर ‘मधुसिक्थकर्दम’ में भगवान् के पदचिह्न अंकित हुए। पुष्य नामक सामुद्रिक ने वे चिह्न देखे। उसने सोचा—‘आश्चर्य है चक्रवर्ती एकाकी गया है। ये पदचिह्न उसके चक्रवर्तित्व की सूचना दे रहे हैं। मैं जाऊं और उसे चक्रवर्तित्व की सूचना दूं, जिससे वह मुझे जीवन में सुख-सुविधा प्रदान करेगा।’ भगवान् चलते-चलते स्थूणाक सन्निवेश के बाह्य उद्यान में पहुंचे और वहां प्रतिमा में स्थित हो गए। उसने वहां मुनि को देखकर सोचा—‘मेरा सामुद्रिक शास्त्र का अध्ययन पलालभूत है, निस्सारप्राय है।’ ऐसे लक्षणों वाला श्रमण नहीं हो सकता। इधर इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा कि भगवान् कहां हैं? उसने भगवान् और उस पुष्य सामुद्रिक को भी देखा। वह आया और भगवान् को वंदना कर बोला—‘पुष्य! तुम लक्षणों को नहीं जानते। ये मुनि अपरिमित लक्षणों से युक्त हैं। इनके आभ्यन्तर लक्षण ये हैं—इनका रुधिर गाय के क्षीर के समान श्वेत है।’

१. आवनि. २८५, आवचू. १ पृ. २८०, २८१, हाटी. १ पृ. १३२, मटी. प. २७४।

यह प्रशस्त लक्षण है। शास्त्र असत्य नहीं होता। ये धर्म के चातुरन्तचक्रवर्ती हैं। देवेन्द्र, नरेन्द्र द्वारा पूजित हैं। ये भव्यजनरूपी पद्मों के लिए आनन्ददायी होंगे। पुष्य ने यह सुना और समाहित हो गया। वहां से भगवान् राजगृह की ओर प्रस्थित हुए। वहां नालन्दा के बहिर्भाग में तन्तुवायशाला के एक प्रदेश में यथाप्रतिरूप अवग्रह की आज्ञा लेकर प्रथम मासक्षपण स्वीकार कर वहां स्थित हो गए।^१

६९. गोशालक की कुचेष्टाएं

उस समय और उस काल में मंखली नाम का एक मंख रहता था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। वह गर्भवती हुई। उसने शरवण नामक सन्निवेश के गोबहुल नामक ब्राह्मण की गोशाला में पुत्र का प्रसव किया। उसका गौण नाम गोशाल रखा। जब वह बड़ा हुआ, तब उसे मंखविद्या सिखाई गई। वह चित्रफलक पर चित्रकारी करने लगा। एक बार वह अकेला घूमता हुआ राजगृह की उसी तन्तुवायशाला में आकर ठहरा, जहां भगवान् ठहरे हुए थे। उसने वहीं चातुर्मास किया।

भगवान् मासखमण के पारणे के लिए नगर में विजय नामक गृहपति के घर गए, वहां उन्हें विपुल भोजन की प्राप्ति हुई। पांच दिव्य प्रादुर्भूत हुए। गोशाले ने जब पांच दिव्यों की बात सुनी तो वहां आया और पांच दिव्यों को देखकर बोला—‘भगवन्! मैं आपका शिष्य हूं।’ भगवान् मौनभाव से वहां से चल पड़े। दूसरे मासक्षपण के पारणे में आनन्द गृहपति ने भगवान् को खाद्यक-विधि से प्रतिलाभित किया। तीसरे मासक्षपण का पारणा सुनन्द के घर में सर्वकामगुणित भोजन से किया। तत्पश्चात् चौथे मासक्षपण की तपस्या स्वीकार कर भगवान् विचरण करने लगे।

कार्तिकपूर्णिमा के दिन गोशालक ने पूछा—‘भगवन्! क्या मुझे आज भक्तपान मिलेगा?’ सिद्धार्थ बोला—‘कोद्रव, तन्दुल और अम्ल-पान के साथ एक खोटा रूप्यक मिलेगा।’ गोशालक नगरी में घूमा। कहीं भी उसे आदर नहीं मिला। अपराह्न में एक कर्मकर ने उसे अम्ल के साथ ओदन दिया, तब उसने भोजन किया। जो एक रूप्यक मिला था, उसकी परीक्षा करने पर वह खोटा निकला। तब उसने सोचा—‘जो जैसा होता है, उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता।’ वह लज्जित होकर स्थान पर आया। भगवान् चौथे मासक्षपण की तपस्या के पारणक के लिए नालन्दा से निकल कर कोल्लाक सन्निवेश की ओर गए। वहां बहुल ब्राह्मण ने दूध और मधु से संयुक्त खीर के भोजन से भगवान् को प्रतिलाभित किया। वहां पांच दिव्य प्रादुर्भूत हुए। गोशालक तन्तुवायशाला में भगवान् को न देखकर राजगृह की ओर गया। गवेषणा करने पर भी भगवान् नहीं मिले। तब अपने भंडोपकरण ब्राह्मणों को देकर, पूरा मुंडन कराकर वह कोल्लाक सन्निवेश पहुंचा। वहां भगवान् से मिला और उनके साथ सुवर्णखल गया। रास्ते में कुछेक ग्वाले बड़े पात्र में गाय के दूध के साथ तंदुलों से खीर पका रहे थे। गोशालक बोला—‘भगवन्! वहां चलें और खीर का भोजन करें।’ सिद्धार्थ बोला—‘खीर नहीं पकेगी बीच में ही बर्तन फूट जाएगा।’ गोशालक को इस पर विश्वास नहीं हुआ। वह ग्वालों के पास जाकर बोला—‘ये देवार्य त्रिकालज्ञाता हैं। ये कहते हैं कि खीर का भाजन फूट जाएगा अतः तुम सावधानीपूर्वक इसकी रक्षा करना।’ तब उन ग्वालों ने बर्तन को बांस की खपचियों से बांध दिया। फिर उन्होंने उस दूध भरे बर्तन में बहुत मात्रा में तन्दुल डाले। मात्रा की बहुलता

१. आवनि. २८७, आवचू. १ पृ. २८१, २८२, हाटी. १ पृ. १३३, मटी. प. २७५, २७६।

से भाजन फूट गया। फूटे बर्तन के खप्पर में जो खीर रह गई, उसे ग्वालों ने खाया। गोशालक को कुछ नहीं मिला। तब गोशालक को नियति पर दृढ़ विश्वास हो गया।

वहां से भगवान् ब्राह्मणग्राम में गए। वहां नंद और उपनंद—दो भाई रहते थे। गांव दो भागों में विभक्त था। एक नंद के अधीन था और दूसरा उपनंद के। भगवान् नंद के विभाग में नंद के घर पारणक के लिए पहुंचे। नंद ने बासी अन्न से भगवान् को प्रतिलाभित किया। गोशालक उपनंद के घर गया और भिक्षा देने के लिए कहा। उस समय भोजन की वेला नहीं थी तब उसने ठंडा ओदन देना चाहा। गोशालक ने लेने से इन्कार कर दिया। तब उपनंद ने दासी से कहा—‘यह ठंडा ओदन इस पर फेंक दो।’ दासी ने वैसा ही किया। तब गोशालक ने रोष में आकर कहा—‘यदि मेरे धर्माचार्य का तप अथवा तेज हो तो इसका घर जलकर राख हो जाए।’ तब वहां सन्निहित व्यंतर देव ने सोचा कि भगवान् का प्रभाव झूठा न हो जाए, इसलिए उसने घर जला डाला। भगवान् चंपा नगरी में गए और वर्षावास की स्थापना की। वहां द्विमासिक तपस्या तथा अन्य विचित्र तपःकर्म स्वीकार किए और खड़े-खड़े प्रतिमा में स्थित हो गए। साथ ही कायोत्सर्ग, उत्कटुक आसन आदि में लीन हो गए। यह भगवान् का तीसरा वर्षावास था।

चंपा नगरी में दूसरा द्विमासिक तपस्या का पारणक बाह्य परिसर में करके भगवान् गोशालक के साथ कालाय सन्निवेश की ओर प्रस्थित हुए। भगवान् वहां जाकर शून्यगृह में प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक भी उस शून्यगृह के द्वारपथ पर बैठ गया। ग्राम-प्रधान का पुत्र सिंह गोष्ठीदासी विद्युन्मती के साथ उस शून्यगृह में आया। उसने वहां आकर कहा—‘यहां शून्यगृह में कोई श्रमण, ब्राह्मण अथवा कोई पथिक ठहरा हुआ हो तो बताए, हम अन्यत्र चले जाएंगे।’ भगवान् मौन रहे और गोशालक भी कुछ नहीं बोला। ग्रामप्रधान का पुत्र और विद्युन्मती वहां कुछ समय बिताकर जाने लगे। गोशालक ने उस महिला को झूआ। उसने कहा—‘अरे! यहां कोई है।’ ग्रामप्रधान के पुत्र ने गोशालक को पीटा और कहा—‘यह धूर्त है। इसने हमें अनाचार का आचरण करते हुए देख लिया है।’ गोशालक भगवान् के पास जाकर बोला—‘भंते! मैं अकेला पीटा जाता हूं। आप उसका निवारण नहीं करते।’ सिद्धार्थ ने कहा—‘तुम अपना आचरण ठीक क्यों नहीं रखते? क्या हम भी तुम्हारे साथ पीटे जाएं? तुम भीतर क्यों नहीं बैठते, द्वार पर क्यों बैठते हो?’

भगवान् वहां से पात्रालक सन्निवेश में जाकर एक शून्यगृह में प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक पीटे जाने के भय से अन्दर जाकर बैठा। वहां ग्रामप्रधान का पुत्र स्कन्दक अपनी पत्नी से लज्जित होकर अपनी निजी दासी दत्तिलिका के साथ उसी शून्यगृह में प्रविष्ट हुआ। उन्होंने भी पूछा—‘कोई भीतर है?’ किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया, मौन रहे। जब वे दोनों बाहर जाने लगे तब गोशालक हंस पड़ा। ग्रामप्रधान के पुत्र ने उसे पीटा। भगवान् पर कुपित होकर गोशालक बोला—‘मैं पीटा जाता हूं फिर भी आप इसको नहीं रोकते। मैं आपके पीछे क्यों चल रहा हूं?’ तब सिद्धार्थ बोला—‘तुम अपने ही अपराध से पीटे जाते हो। तुम अपनी वाणी और मुंह पर नियंत्रण क्यों नहीं रखते?’

भगवान् कुमाराक सन्निवेश में गए। वहां जाकर चम्पकरमणीय उद्यान में प्रतिमा में स्थित हो गए। उसी सन्निवेश में पार्श्वपत्न्यीय बहुश्रुत स्थविर मुनिचन्द्र अपने शिष्यों के साथ कूपनय नामक कुम्भकार की शाला में स्थित थे। वे अपने शिष्य को गण का भार सौंपकर जिनकल्पप्रतिमा की साधना कर रहे थे। वे

अपनी आत्मा को 'सत्त्व भावना' से भावित कर रहे थे। इस भावना के पांच चरण होते हैं—पहले इसकी साधना उपाश्रय में, फिर उपाश्रय से बाहर, फिर चौराहों पर, फिर शून्यगृह में और अंत में श्मशान भूमि में होती है। स्थविर मुनिचन्द्र दूसरे चरण की साधना कर रहे थे। गोशालक भगवान् के पास आकर बोला—'भंते! भिक्षाचार्या के लिए निकलें।' सिद्धार्थ ने कहा—'आज तपस्या है।' तब गोशालक अकेला गया। घूमते हुए उसने पार्श्वपत्नीय श्रमणों को देखा। उसने पूछा—'आप कौन हैं?' उन्होंने कहा—'हम श्रमण-निर्ग्रन्थ हैं?' उसने आश्चर्य के साथ कहा—'अहो! निर्ग्रन्थ होते हुए भी आपके पास इतना ग्रन्थ (परिग्रह) है। आप कैसे निर्ग्रन्थ हुए?' उसने अपने आचार्य (भगवान् महावीर) का वर्णन किया—'मेरे आचार्य ऐसे महात्मा हैं।' तब उन्होंने कहा—'जैसे तुम हो, वैसे ही तुम्हारे धर्माचार्य हैं। उन्होंने स्वयं लिंग ग्रहण किया है।' यह सुनकर गोशालक ने कहा—'मेरे धर्माचार्य की शपथ है। यदि मेरे धर्माचार्य का प्रभाव है तो आपका उपाश्रय जल जाए। उन्होंने कहा—'तुम्हारे कहने मात्र से हम नहीं जलेंगे।' गोशालक वहां से भगवान् के पास आकर बोला—'भंते! मैंने आज सारंभ और सपरिग्रही श्रमणों को देखा है। उसने सारी बात बताई।' तब सिद्धार्थ ने कहा—'वे पार्श्वपत्नीय साधु हैं। वे नहीं जलेंगे।'

रात्रि-वेला में उपाश्रय से बाहर आकर आचार्य मुनिचन्द्र प्रतिमा में स्थित हो गए। उस दिन कूपनक कुंभकार पंक्ति में भक्तपान कर विकाल में मत्त होकर आया। उसने मुनिचन्द्र आचार्य को बाहर खड़े देखा। उसने सोचा—'यह चोर है।' उसने उन्हें गले से पकड़ा। उनका श्वास रुक गया पर वे ध्यान से विचलित नहीं हुए। उन्हें अवधिज्ञान हुआ और दिवंगत हो गए। उस समय निकटस्थ व्यंत्तर देवों ने उत्सव और पूजा की। गोशालक बाहर बैठा हुआ यह सब देख रहा था। देव बाहर जा रहे थे और अंदर प्रवेश कर रहे थे। गोशालक ने सोचा कि आचार्य जल गए हैं अतः उसने स्वामी से कहा कि इस प्रत्यनीक का उपाश्रय जल गया। सिद्धार्थ बोला—'उनका उपाश्रय नहीं जला है। उनके आचार्य को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया और उनका आयुष्य भी पूर्ण हो गया है। वे मरकर देवलोक में गए हैं इसलिए आसपास के व्यंत्तर देवों ने यह उत्सव किया है।' जब देव पूजा-अर्चना कर चले गए तब वह उस स्थान पर गया तथा गंधोदक और पुष्पों की सुगंध देखकर अत्यधिक हर्षित हुआ। फिर उसने आचार्य मुनिचन्द्र के साथ वाले साधुओं को जगाकर कहा—'अरे! तुम नहीं जानते? तुम मुंड ऐसे ही घूम रहे हो। उठो, आचार्य दिवंगत हो गए, यह भी तुम नहीं जानते। क्या सारी रात सोते रहोगे?' तब उन साधुओं ने सोचा—'यह पिशाच है, रात में भी घूमता है।' वे भी उसके कहने पर उठे। आचार्य के पास गए। उन्होंने देखा—'आचार्य दिवंगत हो गए हैं।' दुःख का अनुभव करते हुए उन्होंने सोचा—'हमें ज्ञात ही नहीं हुआ कि आचार्य कालगत हो गए हैं।' गोशालक उनका तिरस्कार कर चला गया।

वहां से प्रस्थान कर भगवान् चौराक सन्निवेश में गए। वहां के नगररक्षक ने उन्हें गुप्तचर समझकर पकड़ लिया और बांधकर कूप में लटका दिया। उन्होंने पहले गोशालक को बाहर निकाला। लेकिन भगवान् को नहीं निकाला। वहां उत्पल की दो बहिनें सोमा और जयंती नामक दो परिव्राजिकाएं रहती थीं। पहले वे पार्श्व की परंपरा में साध्वियां थीं परन्तु चारित्र की परिपालना न कर सकने के कारण वे परिव्राजिकाएं बन गई थीं। उन्होंने सुना कि यहां के प्रहरियों ने दो व्यक्तियों को बंदी बना कर कूप में उतारा है। उन्हें ज्ञात था कि चरम तीर्थकर प्रव्रजित हो चुके हैं। वे वहां आई और भगवान् को देखा। उनके कहने

पर प्रहरियों ने भगवान् और गोशालक को मुक्त कर दिया। परिव्राजिकाओं ने प्रहरियों से कहा—‘यह तुमने क्या किया? क्या अपना विनाश चाहते हो? ये भगवान् हैं।’ प्रहरियों ने भयभीत होकर भगवान् से क्षमायाचना कर उनकी पूजा की।

भगवान् पृष्ठचंपा नगरी गए। वहां चौथा वर्षावास किया। वहां उन्होंने चातुर्मासिक तप स्वीकार कर विचित्र प्रतिमा आदि की साधना की। पृष्ठचंपा की बाहिरिका में तपस्या का पारणा कर वे कृतंगला नगरी गए। वहां दरिद्रस्थविर नामक तापस (पाषंडी) रहते थे। वे सपरिग्रही, हिंसा करने वाले तथा स्त्रियों के साथ रहते थे। उनके वाटक के मध्य एक देवकुल था। भगवान् वहां प्रतिमा में स्थित हो गए। उस दिन वहां भयंकर ठंड थी। हवा में शीत बिन्दुओं का पात भी हो रहा था। उस दिन उन पाषंडियों का जागरण था। वे सारी रात महिलाओं के साथ गाते-बजाते रहे। गोशालक ने कहा—‘अहो! ये पाषंडी हैं। हिंसा में रत हैं। महिलाओं के साथ रहते हैं और उनके साथ गाते-बजाते हैं। यह सुनकर पाषंडियों ने गोशालक को बाहर निकाल दिया। अत्यंत शीत पवन के कारण गोशालक बाहर संकुचित होकर बैठ गया। पाषंडियों ने अनुकंपा कर उसे भीतर बुला लिया। पुनः उसने वैसे ही शब्द कहे। उन्होंने उसे फिर बाहर निकाल दिया। पुनः दया करके वे उसे भीतर ले आए। तीन बार ऐसा हुआ। उसने फिर कहा—‘मैं स्पष्ट कहता हूं तो मुझे बाहर निकाल दिया जाता है।’ दूसरे लोगों ने कहा—‘यह देवार्थ महावीर का सेवक अथवा भगवान् का छत्रधार होगा अतः मौन रहो।’ वह बैठ गया। पाषंडियों ने अपने वाद्य जोर-जोर से बजाने प्रारंभ कर दिए, जिससे गोशालक के शब्द सुनाई न पड़ें।

भगवान् श्रावस्ती नगरी के बाह्य उद्यान में प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक ने पूछा—‘आप चलेंगे?’ सिद्धार्थ बोला—‘आज तपस्या है।’ उसने पूछा—‘आज मुझे भोजन में क्या प्राप्त होगा?’ सिद्धार्थ ने कहा—‘आज तुम्हें मनुष्य का मांस खाने को मिलेगा।’ उसने कहा—‘मैं आज ऐसे घर में भोजन करूंगा, जहां मांस संभव नहीं है। फिर मनुष्य के मांस की तो बात ही क्या?’ वह नगर में भिक्षा के लिए घूमने लगा।

श्रावस्ती नगरी में पितृदत्त नामक गृहपति रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीभद्रा था। वह मृत संतान का प्रसव करने वाली थी। उसने एक दिन शिवदत्त नामक नैमित्तिक से पूछा—‘मेरी संतान जीवित कैसे रह सकती है?’ उस नैमित्तिक ने कहा—‘तुम अपने मृत गर्भ को सुशोभित कर, उसे पका कर, खीर बनाकर सुतपस्वी को दोगी तो तुम्हारी संतान जीवित रह पाएगी। तपस्वी को वह खीर खिलाकर तुम अपने घर का द्वार अन्य दिशा में कर देना, जिससे कि वह तपस्वी घटना को जान लेने पर तुम्हारा घर जला न पाए। इस प्रकार तेरी संतान जीवित रह सकेगी। उसने वैसा ही किया। गोशालक घूमता हुआ उसी के घर में गया। गृहस्वामिनी ने उसे मधु-घृत संयुक्त खीर का भोजन दिया। उसने सोचा, इसमें मांस कैसे हो सकता है? उसने भरपेट भोजन किया। अपने स्थान पर जाकर वह बोला—‘तुम चिरकाल से निमित्त-विद्या का प्रयोग करते रहे हो पर आज वह मिथ्या हो गयी।’ सिद्धार्थ बोला—‘मेरा वचन मिथ्या नहीं हो सकता। यदि तुम्हें विश्वास न हो तो वमन करके देखो।’ गोशालक ने वमन किया। उसमें नाखून तथा अन्य अवयवों के टुकड़े देखे। वह रुष्ट होकर उस घर की खोज में गया। उस घर के मालिक ने घर के द्वार बदल दिए थे। घर नहीं मिला तब वह चिल्लाया। जब पता नहीं लगा तब आवेश में उसने कहा—‘यदि मेरे धर्माचार्य का तपःतेज हो तो वह घर जल जाए।’ तब घर की सारी बाहिरिका जल गई।

वहां से भगवान् हरिद्राक गांव में गए। वहां विशाल हरिद्राक वृक्ष था। श्रावस्ती नगरी में प्रवेश करते अथवा निर्गमन करते समय सार्थवाह उस वृक्ष के नीचे रुकते थे। भगवान् उसी वृक्ष के नीचे प्रतिमा में स्थित हो गए। शीतकाल का समय था। एक सार्थ आया और उसने रात में वहां अग्नि जलाई। प्रभात में सार्थ वहां से चला गया। अग्नि बुझाई नहीं अतः जलती हुई अग्नि भगवान् के निकट आ गई, जिससे भगवान् को परिताप हुआ। गोशालक बोला—‘भंते! यहां से भागो। अग्नि इधर ही बढ़ रही है।’ भगवान् के पैर जल गए। गोशालक वहां से भाग गया।

वहां से भगवान् नंगला गांव में गए और वासुदेव के मंदिरगृह में प्रतिमा में स्थित हो गए। वहां कुछ बालक खेल रहे थे। गोशालक आंखें निकालकर बालकों को डराने लगा। भय से बालक दौड़ने लगे। उनमें कुछ नीचे गिर पड़े। उनके घुटने घायल हो गए। कुछेक के गुल्फ टूट गए। उन बालकों के माता-पिता वहां आए और गोशालक को पीटने लगे। उन्होंने भगवान् से कहा—‘यह आपका दास स्थान पर नहीं बैठता, कुचेष्टाएं करता रहता है।’ कुछ लोगों ने कहा—‘इसे क्षमा कर देना चाहिए।’ फिर गोशालक भगवान् के पास आकर बोला—‘मैं पीटा जाता हूं, आप निवारण नहीं करते।’ सिद्धार्थ ने कहा—‘तुम स्थान पर स्थिरता से नहीं बैठते अतः अकेले पीटे जाओगे।’

भगवान् आवर्त नामक गांव में गए। वहां बलदेव के मंदिरगृह में प्रतिमा में स्थित हो गए। वहां भी गोशालक बच्चों को मुखविकारों के द्वारा डराने लगा। बच्चों को उसने पीटा। वे रोते-रोते माता-पिता के पास गए और अपनी बात कही। माता-पिता ने वहां आकर गोशालक की पिटाई की। ‘यह पागल है’, यह सोचकर उन्होंने उसे छोड़ दिया। लोगों ने सोचा—‘इसको पीटने से क्या प्रयोजन? हम इसके स्वामी को मारें, जो इसको बुरी हरकतों से निवारित नहीं करते।’ वे भगवान् को मारने के लिए उठे। इतने में ही बलदेव की प्रतिमा हल को भुजा पर रख कर उठी। वे सभी लोग भयभीत होकर भगवान् के चरणों में गिरे और क्षमायाचना कर घर चले गए।

भगवान् चोराक नामक सन्निवेश में गए। वहां सामूहिक भोज पक रहा था। वहां भगवान् प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक बोला—‘आज यहां से चलना है।’ सिद्धार्थ ने कहा—‘आज हम यहीं रहेंगे।’ गोशालक वहां ऊंचा-नीचा होकर देखने लगा कि भिक्षा के लिए देश-काल हुआ या नहीं? वहां चोरों का भय था। वहां के लोगों ने सोचा—‘यह बार-बार इधर-उधर देख रहा है अतः चोर होना चाहिए।’ लोगों ने उसे पीटकर बाहर निकाल दिया। भगवान् भीतर थे। गोशालक ने कहा—‘मेरे धर्माचार्य का यदि तपः प्रभाव हो तो वह मंडप जल जाए। उसके कहते ही मंडप जल गया।’

वहां से भगवान् कलंबुका सन्निवेश में गए। वह सीमान्तवर्ती गांव था। मेघ और कालहस्ती वहां के शासक थे। दोनों भाई थे। एक बार कालहस्ती कुछ चोरों को साथ ले चोरी करने निकला। गोशालक और भगवान् आगे चल रहे थे। कालहस्ती ने पूछा—‘तुम कौन हो?’ भगवान् मौन थे। तब उन्होंने उनको पीटा। फिर भी वे कुछ नहीं बोले। तब उन दोनों को बांधकर वे बड़े भाई मेघ के पास ले गए। उसने ज्योंही भगवान् को देखा, वह आसन से उठा, भगवान् की पूजा कर उन्हें बंधन-मुक्त किया। मेघ ने भगवान् को पहले कुंडग्राम में देखा था।

भगवान् लाट देश में गए। उनका लक्ष्य था—अत्यधिक कर्म—निर्जरा करना। वहां अवहेलना, निंदा आदि को सहनकर बहुत कर्मों की निर्जरा की। पूर्णकलश नाम का अनार्य गांव था। वहां के दो चोर लाट देश में जाना चाहते थे। भगवान् को अपशकुन मानकर वे तलवार से शिरच्छेद करने के लिए भगवान् की ओर दौड़े। शक्र ने अवधिज्ञान से जाना। वज्र फेंककर उसने दोनों चोरों को मार डाला। विहरण करते हुए भगवान् भद्रिका नगरी में आए। वहां पांचवां वर्षावास बिताया और चातुर्मासिक तपस्या स्वीकार की। विचित्र तपःकर्म और कायोत्सर्ग—प्रतिमा आदि की साधना की।

चातुर्मासिक तप का पारणा बाहिरिका में संपन्न कर वहां से भगवान् कदलीसमागम नगर में गए। वहां शरदकाल में लावकभक्त दध्यन्न के साथ दिया जाता था। गोशालक बोला—‘वहां चलें।’ सिद्धार्थ बोला—‘आज हमारे तपोनुष्ठान है।’ गोशालक वहां गया और दध्यन्न का भोजन करने लगा। वह तृप्त नहीं हुआ। तब लोगों ने कहा—‘बड़े भाजन में दध्यन्न तैयार करो। वैसा ही किया गया।’ फिर गोशालक ने उसे नहीं लिया तब लोगों ने वह दध्यन्न उसके ऊपर फेंक दिया। वह उनसे रुष्ट होकर चला गया।

भगवान् तंबाक गांव में गए। वहां पार्श्वपत्नीय बहुश्रुत स्थविर आचार्य नंदिसेन अपने शिष्यों के साथ आए थे। वे जिनकल्प की साधना कर रहे थे। भगवान् भी वहीं प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक नंदिषेण के पास गया। पूर्ववत् उनकी अवहेलना—निन्दा की। उस दिन आचार्य नंदिषेण एक चौराहे पर प्रतिमा में स्थित थे। वहां आरक्षकपुत्र आया और चोर समझ कर उन पर भाले से प्रहार किया। नंदिषेण को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। (शेष कथा मुनिचंद्र आचार्य के समान है।)

भगवान् कूपिक सन्निवेश में गए। वहां के आरक्षकों ने उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ा और बांधकर पीटा। लोगों में यह प्रवाद फैल गया कि देवार्य को गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया है। वहां पार्श्व-परंपरा की दो परिव्राजिकाएं विजया और प्रगल्भा रहती थीं। उन्होंने यह प्रवाद सुना और सोचा—‘चरम तीर्थकर प्रव्रजित हो गए हैं, हम चलें और उन्हें देखें। कौन जाने, वे ही हों।’ वहां जाकर परिव्राजिकाओं ने उन सैनिकों से कहा—‘दुरात्माओ! तुम नहीं जानते। ये अंतिम तीर्थकर हैं। महाराज सिद्धार्थ के पुत्र हैं। इंद्र कुपित होकर तुम्हें उपालंभ देगा।’ उन्होंने भगवान् को मुक्त कर क्षमायाचना की।

वहां से आगे जाने के दो रास्ते थे। गोशालक ने भगवान् से कहा—‘मैं आपके साथ नहीं चलूंगा। आप मेरा पीटने वालों से निवारण नहीं करते। एक बात और है। आप के साथ चलने से अनेक उपसर्ग सहन करने पड़ते हैं और मैं ही पहले पीटा जाता हूं अतः अब मैं अकेला विहार करूंगा।’ सिद्धार्थ बोला—‘जैसी तुम्हारी इच्छा।’ भगवान् वैशाली की ओर प्रस्थित हुए। गोशालक भगवान् से पृथक् होकर दूसरी ओर चला। वह पथ आगे जाकर रुक गया। वहां एक चोर वृक्ष की ओट में खड़ा रहकर उसे देख रहा था। उसने देखा—‘एक नग्न श्रमणक आ रहा है।’ चोरों ने कहा—‘इसके पास कुछ भी नहीं है। यह भयभीत भी नहीं है। इसका कोई साथी नहीं है, जो हमें पराजित कर सके। पांच सौ चोर उसे पागल समझकर मारने लगे। तब गोशालक ने सोचा—‘भगवान् के साथ रहना ही अच्छा है। साथ रहने से जो भगवान् को मुक्त करता है, वह मुझे भी मुक्त कर देगा। अब वह भगवान् की खोज करने लगा।’

१. आवनि २८७-३००, आवचू. १ पृ. २८२-२९२, हाटी. १ पृ. १३३-१३९, मटी. प. २७६-२८२।

७०. कर्मकर द्वारा प्रहार

भगवान् वैशाली पहुंचे और वहां से आज्ञा लेकर कर्मकरशाला में प्रतिमा में स्थित हो गए। वह साधारण शाला थी। वहां एक कर्मकर छह महीनों के पश्चात् शुभतिथि और करण में लोहकार के आयुध लेकर काम प्रारंभ करने आया। आते ही उसने नग्न खड़े महावीर को देखा। भगवान् को अमंगल समझकर वह उन्हें मारने दौड़ा। हाथ में घन लिया और प्रहार करने के लिए ऊपर उठाया। इन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना और क्षण भर में ही वहां आकर उसी घन से उस कर्मकर की घात कर दी। शक्र भगवान् को वंदना कर चला गया।^१

७१. कटपूतना का उपद्रव

भगवान् ग्रामाक सन्निवेश में बिभेलक उद्यान में प्रतिमा में स्थित हो गए। वहां बिभेलक नामक यक्ष का आयतन था। वह यक्ष प्रतिमा में स्थित भगवान् की पूजा करता था। वहां से भगवान् शालिशीर्षक नामक गांव में गए और वहां उद्यान में प्रतिमा में स्थित हो गए। उस समय माघ महीना था। वहां कटपूतना^२ नाम की व्यन्तरी रहती थी। वह भगवान् के तेज को सहन नहीं कर सकी। उसने तापसी का रूप बनाया, वल्कल धारण किया और जटा में पानी भरकर संपूर्ण शरीर को आर्द्र कर, भगवान् के ऊपर ठहर कर शरीर को कंपित करने लगी। उसने भयंकर वायु की विकुर्वणा की। यदि वहां कोई अन्य साधक होता तो वह छिन्न-भिन्न हो जाता। भगवान् ने उस तीव्र वेदना को समभाव से सहन किया। समभावपूर्वक सहन करने से अवधिज्ञान की सीमा का विस्तार हुआ और वे संपूर्ण लोक को जानने-देखने लगे। गर्भ से प्रारंभ कर शालिशीर्ष ग्राम तक भगवान् का देवलोक प्रमाण अवधिज्ञान था। उनके शरीर के ग्यारह अंग (चैतन्यकेन्द्र) अतीन्द्रिय ज्ञान के साधन थे। उनसे वे देवलोक के पदार्थों तक का ज्ञान कर लेते थे। अब वे लोकावधि से संपन्न हो गए। वह व्यन्तरी पराजित हो गई। जब वह उपशांत हुई, तब उसने भगवान् की पूजा की।^३

७२. गोशालक का पुनः आगमन

भगवान् भद्रिका नगरी में गए और वहां छठा वर्षावास बिताया। वहां गोशालक छठे महीने में आकर भगवान् से मिला। भगवान् ने वहां चातुर्मासिक तप तथा विचित्र अभिग्रह किए। उस गांव की बाहिरिका में पारणा कर भगवान् आठ मास तक निरुपसर्ग रूप में मगध जनपद में विहरण करते रहे।

भगवान् ने सातवां वर्षावास आलभिका नगरी में बिताया। वहां भी चातुर्मासिक तप किया और बाहिरिका में पारणा कर कुंडाग सन्निवेश में वासुदेव मंदिर के एक कोने में प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक भी वासुदेव की प्रतिमा के लिंग को मुंह में डालकर स्थित हो गया। इतने में ही मंदिर का पुजारी

१. आवनि. ३००, आवचू. १ पृ. २९२, हाटी. १ पृ. १३९, मटी. प. २८२, २८३।

२. सा य किल तिविदुःकाले अंतपुरिया आसि ण य तदा पडियरिय ति पदोसं वहति—कटपूतना त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में उनके अंतःपुर की एक रानी थी। उस समय सम्यक् परिचर्या न होने से वह त्रिपृष्ठ के प्रति द्वेष से भर गयी थी।

३. आवनि. ३०१, आवचू. १ पृ. २९२, २९३, हाटी. १ पृ. १३९, मटी. प. २८३।

वहां आया। गोशालक को उस अवस्था में देखकर उसने सोचा—‘लोग मुझे राग-द्वेष युक्त न मान लें, इसलिए वह गांव में गया और लोगों से कहा—‘चलो, मंदिर में जाकर देखो। अन्यथा तुम मुझे रागी कहोगे।’ लोगों ने आकर गोशालक को उस स्थिति में देखा तो उसे पीटा और फिर बांधा।

वहां से भगवान् मर्दना नामक गांव में गए। वहां भगवान् बलदेव के मंदिर के एक कोने में प्रतिमा में स्थित हो गए। गोशालक वहां भी बलदेव प्रतिमा की जननेन्द्रिय अपने मुंह में डालकर स्थित हो गया। वहां भी वह पीटा गया। लोगों ने उसे पिशाच मानकर छोड़ दिया।

वहां से भगवान् बहुशालक गांव के शालवन उद्यान में ठहरे। वहां ‘सालज्जा’ नामक व्यन्तरी रहती थी। वह भगवान् की पूजा और स्तुति करती थी। वहां से भगवान् लोहार्गला नामक राजधानी में गए। वहां उस समय जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी अन्य राजाओं के साथ शत्रुता चल रही थी। सीमा में प्रवेश करते ही भगवान् को गुप्तचर समझ कर राजपुरुषों ने उनका निग्रह कर डाला। पूछने पर भगवान् मौन रहे। तब आस्थानमंडप में स्थित राजा के समक्ष दोनों को उपस्थित किया गया। वहां अस्थिकग्राम से आया हुआ नैमित्तिक उत्पल पहले से ही उपस्थित था। उसने राजपुरुषों द्वारा भगवान् को लाते हुए देखा। वह उठा और तिक्युतो के पाठ से वंदना कर राजा से बोला—‘राजन्! ये गुप्तचर नहीं अपितु सिद्धार्थ महाराज के पुत्र धर्मवरचक्रवर्ती हैं, भगवान् हैं। इनके शारीरिक लक्षणों को आप देखें।’ राजा ने उनका आदर-सत्कार किया और मुक्त कर दिया।

वहां से भगवान् पुरिमताल नगर में गए। वहां वग्गुर नाम का श्रेष्ठी रहता था। उसकी भार्या का नाम भद्रा था। वह वन्ध्या थी। वह अनेक देवी-देवताओं की मनौती करके थक गई। एक बार वह उज्जैनी नगरी के शकटमुख उद्यान में गई। वहां उसने एक खंडहर मंदिर को देखा। वहां मल्लिस्वामी की प्रतिमा थी। उसने वहां प्रतिमा के समक्ष प्रणाम कर यह संकल्प किया कि यदि मेरे संतान हो जाएगी तो मैं इस मंदिर का जीर्णोद्धार करा दूंगी। मैं इसकी भक्ता हो जाऊंगी। इस प्रकार संकल्प के साथ प्रणाम करके वह चली गई। सन्निहित व्यन्तरी देवी ने अपना अतिशय दिखाया। भद्रा गर्भवती हुई। उसने यथासमय पुत्र का प्रसव किया। मंदिर का जीर्णोद्धार करवा दिया गया। प्रतिमा की त्रिसंध्य पूजा होने लगी। इस प्रकार वह वग्गुर श्रावक बन गया।

भगवान् महावीर विचरण करते हुए शकटमुख उद्यान में जाकर प्रतिमा में स्थित हो गए। वग्गुर श्रेष्ठी स्नान आदि से शुद्ध होकर, नए वस्त्र धारण कर, हाथ में विविध प्रकार के पुष्पों से सज्जित थाल लेकर, अपने परिजनों के साथ मंदिर में पूजा करने आया। ईशान देवलोक का इन्द्र उस समय अपने यान-विमान एवं ऋद्धि के साथ भगवान् की पर्युपासना में बैठा था। उसने पूजा के लिए हाथ में फूल आदि लिए हुए वग्गुर को आयतन में जाते देखा। इन्द्र बोला—‘वग्गुर! तुम प्रत्यक्ष तीर्थंकर की महिमा न कर प्रतिमा को पूजने जा रहे हो। ये जगनाथ, लोकपूज्य भगवान् महावीर वर्द्धमान हैं।’ वग्गुर ने ‘मिच्छामि दुक्कडं’ कहकर क्षमायाचना की और भगवान् की पूजा में लग गया।

वहां से भगवान् ऊर्णाक गांव की ओर चले। मार्ग में वर-वधू का युगल मिला। दोनों दन्तुर और विरूप थे। उन्हें देखकर गोशालक बोला—‘यह सुसंयोग है। विधि दक्ष है। कोई दूरस्थ भी क्यों न हो, जो जिसके योग्य होता है, वह उसका संयोग करा देती है।’ यह सुनकर लोगों ने गोशालक को पीटा और बांस

के झुरमुट में फेंक दिया। अत्राण होकर उसने भगवान् को बुलाया। सिद्धार्थ बोला—‘यह तुम्हारी स्वकृत कुचेष्टा का परिणाम है।’ भगवान् आगे जाकर रुके। लोगों ने सोचा—‘यह भगवान् का सेवक अथवा छत्रधर है, इसलिए भगवान् यहां ठहरे हैं। यह सोचकर लोगों ने गोशालक को मुक्त कर दिया।’

वहां से भगवान् गोभूमि की ओर चले। वहां सदा गायें चरने आती थीं इसलिए उसका नाम गोभूमि पड़ा। बीच में एक सघन अटवी थी। गोशालक ने वहां ग्वालों से पूछा—‘अरे वज्रलाढो! यह मार्ग किस गांव की ओर जाता है।’ तब ग्वाले बोले—‘रोषपूर्वक अटसंट क्यों बोल रहे हो?’ तब गोशालक बोला—‘अरे अपितृपुत्रो! अरे क्षौरपुत्रो! मैं ठीक ही कह रहा हूं।’ तब ग्वालों ने मिलकर उसे पीटा और बांधकर बांस के झुरमुट में फेंक दिया। भगवान् के उपशम को देखकर लोगों ने उसे छोड़ दिया।

भगवान् ने राजगृह में आठवां वर्षावास किया। विचित्र अभिग्रहों से संयुक्त चातुर्मासिक तपस्या का पारणक बाहिरिका में संपन्न कर भगवान् ने शरद्ऋतु में अपनी मति से एक दृष्टान्त कहा—‘एक कौटुम्बिक के खेत में प्रचुर शालि धान हुआ।’ तब वह पथिकों को कहता—‘तुम इस धान की कटाई करो मैं तुम्हें मन-इच्छित भोजन दूंगा। इस प्रकार उपाय से उसने धान के फसल की कटाई करा दी। उस कौटुम्बिक की भांति मेरे भी बहुत कर्म अवशिष्ट हैं। इनको भी काटकर निर्जरा करनी है। इसी उद्देश्य से भगवान् अनार्य देश की लाट भूमि और वज्रभूमि में गए। वहां के अनार्य लोगों ने उनकी निंदा और अवहेलना की। वहां नौवां वर्षावास बिताया। स्थान न मिलने से वह वर्षावास अस्थिर था। वहां छह महीने तक भगवान् ने अनित्य जागरिका की साधना की।

वहां से प्रथम शरद्ऋतु में भगवान् सिद्धार्थपुर गए। वहां से कूर्मग्राम की ओर प्रस्थित हुए। मार्ग में एक तिलस्तंब को देखकर गोशालक ने पूछा—‘भगवन्! यह तिलस्तंब निष्पन्न होगा या नहीं? भगवान् बोले—‘यह निष्पन्न होगा। इस तिलस्तंब में सात तिल के जीव आकर तिल की फली में उत्पन्न होंगे।’ गोशालक को इस बात पर श्रद्धा नहीं हुई। उसने तिलस्तंब के पास जाकर उसको जड़ सहित उखाड़ कर एक ओर फेंक दिया। सन्निहित व्यंतर देवों ने सोचा—‘भगवान् का वचन मिथ्या न हो इसलिए उन्होंने वर्षा की।’ काली गाय उस ओर आई और उसके खुर से वह उत्पाटित तिलस्तंब भूमि में गड़ गया। कालान्तर में वह अंकुरित होकर पुष्पित हो गया।’

७३. बालतपस्वी वैश्यायन

चंपा और राजगृह नगरी के मध्य में गोब्बर ग्राम में एक गोशंखी कौटुम्बिक रहता था। वह आभीरों का अधिपति था। उसकी भार्या का नाम बंधुमती था। वह वन्ध्या थी। उस गांव के निकटवर्ती गांव को चोरों ने लूट लिया। वे लोगों को मारकर तथा बंदी बनाकर भाग गए। एक नवप्रसूता स्त्री को सद्यःजात बालक के साथ पकड़ा। उसके पति को चोरों ने मार दिया था। दुःखी होकर उस स्त्री ने सद्यःजात बालक को जंगल में छोड़ दिया। उस बालक को गोशंखी आभीर ने देखा। ग्वालों के चले जाने पर उसने वह बालक उठाया और अपनी पत्नी को दे दिया। लोगों में यह बात प्रचारित कर दी कि मेरी पत्नी के गूढ गर्भ था। गोशंखी

१. आवनि. ३०३-३०६, आवचू. १ पृ. २९३-२९७, हाटो. १ पृ. १३९-१४२, मटी. प. २८३-२८६।

ने एक बकरे को मारकर, उसके खून की गंध फैलाकर, प्रसूति के योग्य कपड़े पहनाकर पत्नी को नेपथ्य के पीछे सुला दिया। प्रसूत महिला के लिए जो करणीय था, वह उसने किया जिससे लोगों को कोई भ्रम न हो।

वह बालक वहां बढ़ने लगा। उसकी मूल माता को चोरों ने चंपा में बेच दिया। स्थविरा वेश्या ने उसे अपनी बेटी के रूप में रख लिया। स्थविरा ने उसे वेश्या के सारे उपचार सिखा दिए। वह प्रसिद्ध गणिका हो गयी।

वह गोशंखी पुत्र तरुण हो गया। एक बार वह मित्रों के साथ घी की गाड़ियां को लेकर चंपा नगरी गया। वहां उसने अपने मित्रों और नागरिकों को यथेच्छ क्रीड़ा करते हुए देखा। उसकी भी काम-क्रीड़ा करने की इच्छा हो गयी। वह वेश्या के बाड़े में गया। उसे वेश्या बनी हुई अपनी माता पसंद आई। उसने उसका मूल्य दिया। स्नान और विलेपन से निवृत्त होकर वह वहां जाने के लिए प्रस्थित हुआ। रास्ते में उसका पैर गंदगी से लिप्त हो गया। उसे ज्ञात नहीं हुआ कि पैर पर क्या लगा है? इसी बीच उसके कुलदेवता ने सोचा कि कहीं यह अकृत्य का आचरण न कर ले अतः इसे प्रतिबोध देना चाहिए। रास्ते में देव ने गोबाड़े में गाय सहित बछड़े की विकुर्वणा की। गोशंखी पुत्र उधर से गुजरा। उसने अपने पैर की गंदगी को बछड़े के शरीर से पोंछा। तब वह बछड़ा गाय से बोला—‘अम्मा! यह व्यक्ति अमेध्यलिप्त पैर को मेरे शरीर से साफ क्यों कर रहा है?’ तब वह गाय मनुष्य की भाषा में बोली—‘पुत्र! तुम इतने अधीर क्यों हो रहे हो?’ यह व्यक्ति आज अपनी माता के साथ अकृत्य का सेवन करेगा। जब यह ऐसा अकृत्य कर सकता है तो और दूसरे अकृत्य क्यों नहीं कर सकता? यह बात सुनकर उस गोशंखी पुत्र को आशंका हो गयी। उसने निश्चय किया कि मैं उस वेश्या से पूछूंगा। वह वेश्या के पास गया और पूछा—‘तुम कौन हो और तुम्हारी उत्पत्ति कैसे हुई?’ उसने स्त्रियोचित हाव-भाव प्रदर्शित किए लेकिन वह उससे प्रभावित नहीं हुआ। गोशंखी पुत्र बोला—‘मैं तुम्हें इतना ही मूल्य और दूंगा, तुम मुझे यथार्थ बात बताओ।’ उसने शपथ दिलाकर सारी बात बता दी।

गोशंखी पुत्र तत्काल अपने गांव गया और अपने माता-पिता से यथार्थ बात पूछी। जब उन्होंने कुछ बताना नहीं चाहा तब वह अनशन लेकर बैठ गया। उसको अनशन में देखकर माता-पिता ने यथार्थ स्थिति बता दी। उसने वेश्या बनी हुई अपनी माता को छुड़ाया और विरक्त हो गया। कामभोगों की यह स्थिति है यह सोचकर वह पाणामा प्रव्रज्या से दीक्षित हो गया और वैश्यायन के नाम से प्रसिद्ध हो गया।^१

७४. गोशालक और वैश्यायन

भगवान् कूर्मग्राम पहुंचे। उस ग्राम के बाहर बालतपस्वी वैश्यायन आतापना ले रहा था। सूर्य के आतप से उसकी जटा से जूएं नीचे गिर रही थीं। वह तपस्वी जीवदया से प्रेरित होकर उन जूओं को पुनः जटा में स्थापित कर रहा था। यह देखकर गोशालक तपस्वी के निकट जाकर बोला—‘तुम ज्ञानी मुनि हो अथवा जूओं के शय्यातर?’ स्त्री हो अथवा पुरुष? यह सुनकर तपस्वी मौन रहा। उसने दो-तीन बार ऐसे

१. आवनि. ३०८, आवचू. १ पृ. २९८, हाटी. १ पृ. १४२, मटी. प. २८६।

ही कहा। तपस्वी वैश्यायन रुष्ट होकर उठा और तेजोलेश्या निकाली। यह देखकर भगवान् ने तपस्वी की उष्णतेजोलब्धि को प्रतिहत करने के लिए शीतल तेजोलेश्या निकाली। भगवान् की वह शीतल तेजोलेश्या जंबूद्वीप को भीतर से परिवेष्टित कर रही थी। तपस्वी की उष्णतेजोलेश्या गोशालक के निकट आते ही शीतल हो गई। तपस्वी ने भगवान् की ऋद्धि देखकर पूछा—‘भगवन्! तेजोलेश्या प्रतिहत हो गई। मैं नहीं जानता था कि यह गोशालक आपका शिष्य है। आप क्षमा करें।’ गोशालक ने भगवान् से पूछा—‘स्वामिन्! यह जूओं का शय्यातर क्या कह रहा है?’ स्वामी ने सारी बात बताई तब वह भयभीत होकर बोला—‘भगवन्! संक्षिप्त-विपुल तेजोलेश्या कैसे उत्पन्न होती है?’ भगवान् बोले—‘गोशालक! जो व्यक्ति छह महीने तक बेले-बेले की तपस्या करके निरंतर आतापना लेता है, पारणक में सनख कुल्माषपिंड खाता है तथा एक चुल्लु भर प्रासुक जल पीता है, उस मनुष्य के संक्षिप्त-विपुल तेजोलेश्या उत्पन्न होती है।’

७५. गोशालक द्वारा नियतिवाद का ग्रहण

एक बार भगवान् कूर्मग्राम से सिद्धार्थपुर की ओर प्रस्थित हुए। वे उस तिलस्तम्ब के निकट से गुजर रहे थे। गोशालक बोला—‘भंते! वह तिलस्तम्ब निष्पन्न नहीं हुआ।’ भगवान् ने कहा—‘निष्पन्न हुआ है। यह वनस्पति काय का परावृत्यपरिहार (च्युत होकर उसी शरीर में पुनः उत्पन्न होना) है।’ गोशालक को विश्वास नहीं हुआ। वहां जाकर उसने तिल की फली को स्वयं फोड़ा। उसमें सात तिल निकले। उस दिन से गोशालक ‘पउट्टपरिहार’ के आधार पर नियतिवाद का पूर्ण समर्थक बन गया। वहां से वह श्रावस्ती नगरी में जाकर एक कुंभकारशाला में ठहरा। छह महीने तक उसने भगवद्-प्ररूपित तेजोलेश्या की साधना की। उसकी परीक्षा करने के लिए उसने कूपतट पर स्थित दासी को जला डाला। फिर वहां छह दिशाचरों ने उसे निमित्त-ज्ञान का बोध कराया। अब वह अजिन होकर भी स्वयं को जिन कहने लगा। उसको इस विभूति की प्राप्ति हो गई।^१

७६. भगवान् की नौका-यात्रा

भगवान् वैशाली में जाकर प्रतिमा में स्थित हो गए। वहां बच्चों ने पिशाच समझकर उनको स्वलित किया। वहां गणराज्य था। वहां का राजा शंख भगवान् के पिता सिद्धार्थ का मित्र था। उसने भगवान् की पूजा-अर्चना की। वहां से भगवान् वाणिज्यग्राम की ओर चले। बीच में गंडकी नदी आई। नौका से उसे पार कर भगवान् दूसरे तट पर आए। नाविक ने नौका में चढ़ने का मूल्य मांगा। मूल्य न देने पर वह उनको व्यथित करने लगा। उसी समय शंख राजा का भानजा चित्र, जो दूतकार्य के लिए अन्यत्र गया हुआ था, नौका-सेना से वहां आ पहुंचा। उसने भगवान् को पहचान लिया और उन्हें मुक्त कर उनकी पूजा की।^२

७७. आनन्दश्रावक को अवधिज्ञान

वहां से भगवान् वाणिज्यग्राम के बाह्य उद्यान में प्रतिमा में स्थित हो गए। वहां आनन्द नामक

१. आवनि. ३०८, आवचू. १ पृ. २९८, २९९, हाटी. १ पृ. १४२, १४३, मटी. प. २८६, २८७।

२. आवनि. ३०७, आवचू. १ पृ. २९९, हाटी. १ पृ. १४३, मटी. प. २८७, देखें कथा सं. ७२ का अंतिम पैराग्राफ।

३. आवनि. ३०९, आवचू. १ पृ. २९९, हाटी. १ पृ. १४३, मटी. प. २८७।

श्रावक बेले-बेले की तपस्या करता था। उसको अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। उसने तीर्थंकर को देखा और वंदना करके बोला—‘अहो! अभी भगवान् को उपसर्ग सहन करने हैं। इतने समय के पश्चात् आपको केवलज्ञान होगा, उसने भगवान् की पूजा-अर्चना की।’

७८. प्रतिमाओं की विशिष्ट साधना एवं पारणा

वहां से भगवान् श्रावस्ती नगरी में गए। वहां दसवां वर्षावास बिताया। अनेक प्रकार के तपोनुष्ठान किए। वहां से सानुलक्षिक ग्राम गए। वहां भद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा प्रतिमाओं की एक साथ साधना की। प्रतिमाओं को संपन्न कर भगवान् ने आनन्द गाथापति के घर में बाहुलिका दासी के हाथ से पारणा ग्रहण किया। दासी रसोई के बर्तन साफ करते समय जो बासी अन्न बचा था, उसे फेंकने के लिए बाहर जा रही थी। उसी समय भगवान् उसके घर में प्रविष्ट हुए। उसने पूछा—‘भंते! किस प्रयोजन से आए हैं?’ स्वामी ने हाथ फैलाए। उसने परम श्रद्धा से बासी भोजन भगवान् को दिया। पांच दिव्य प्रकट हुए।

वहां से भगवान् दृढभूमि गए। गांव की बाहिरिका में पेढाल नामक उद्यान में पोलास चैत्य था। वहां भगवान् ने तेले की तपस्या कर एकरात्रिकी प्रतिमा में अनिमेषदृष्टि से एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थापित कर ध्यान किया। इस ध्यान में अचित्त पुद्गलों पर ही दृष्टि टिकाई, सचित्त पुद्गलों से दृष्टि हटा ली। वे ईषत् अवनतकाय मुद्रा में रहे।^१

७९. संगम देव द्वारा बीस मारणांतिक कष्ट

इन्द्र ने भगवान् की साधना को अवधिज्ञान से देखा। वह सुधर्मा सभा में बैठे-बैठे भगवान् को वंदना करके बोला—‘अहो! आप त्रिलोक को जीत चुके हैं। कोई भी देव या दानव आपको विचलित नहीं कर सकता। संगम देव ने यह सुना।’ वह सौधर्म देवलोक के इन्द्र का सामानिक अभव्यसिद्धिक देव था। उसने कहा—‘इन्द्र ने राग के वशीभूत होकर ऐसा कहा है। कौन पुरुष ऐसा होगा, जो देवों से विचलित न हो। मैं उसे विचलित करूंगा।’ इन्द्र ने सोचा—‘मैं अगर इसको रोकूंगा तो इसका अर्थ होगा महावीर दूसरों के सहारे तपस्या कर रहे हैं।’ भगवान् तो अनंतबली हैं ऐसा सोचकर इन्द्र मौन रहा।

वह संगम देव वहां से चलकर भगवान् के पास आया। सबसे पहले उसने प्रतिमा में स्थित भगवान् पर वज्रधूलि की वर्षा की। उससे आंख, नाक, कान आदि सारे शरीर के स्रोत धूलि से भर गए। श्वास तक रुक गया। स्वामी तिलतुषमात्र भी ध्यान से विचलित नहीं हुए। तब देव ने थककर धूलि का संहरण कर तीक्ष्ण मुंह वाली चींटियों की विकुर्वणा की। वे चारों ओर शरीर को काटने लगीं। वे शरीर के एक स्रोत से प्रवेश कर दूसरे स्रोत से बाहर निकलतीं। वे शरीर के भीतर चारों ओर व्याप्त हो गईं। शरीर चलनी जैसा हो गया, फिर भी भगवान् ध्यान से चलित नहीं हुए। तब देव ने वज्रमुखी खटमलों की विकुर्वणा की। वे एक ही प्रहार (दंश) से शरीर का लहु निकाल देते थे। भगवान् ध्यान में अप्रकंपित थे। तत्पश्चात् वज्रमुखी तिलचट्टों की बाढ़ आ गई। वे तीक्ष्ण दंस देने लगे। जैसे-जैसे उपसर्ग आते गए, वैसे-वैसे भगवान् की ध्यानधारा प्रबल होती गई। फिर देव ने बिच्छुओं से भगवान् को सताया। जब इनसे भी भगवान् विचलित

१. आवनि. ३१०, आवचू. १ पृ. ३००, हाटी. १ पृ. १४३, मटी. प. २८८।

२. आवनि. ३११, ३१२, आवचू. १ पृ. ३००, ३०१, हाटी. १ पृ. १४३, १४४, मटी. प. २८८, २८९।

नहीं हुए तब नेवले आए। वे अपनी तीक्ष्ण दाढ़ा से भगवान् को काटने लगे। उन्होंने शरीर के टुकड़ों को नाच-नाच कर बाहर निकाल दिया। इसके बाद संगम देव ने सर्पों की विकुर्वणा की। वे विष के रोष से परिपूर्ण, उग्रविष युक्त तथा दाहज्वर पैदा करने वाले थे। उन्होंने भगवान् को डसा पर भगवान् अविचलित रहे। तब चूहों का दल आया। वे शरीर के खंडों को निकाल कर वहीं मल-मूत्र का विसर्जन करने लगे। इससे भगवान् को अतुल वेदना हुई। जब इससे भी भगवान् पराजित नहीं हुए तब हाथियों की टोली आई। एक हाथी ने भगवान् को सूंड में पकड़ा और सात-आठ ताल-हाथ आकाश में उछाल कर अपने दंतशूलों में थामा। फिर भूमि पर पटककर बीधा और पहाड़ जैसे भारी-भरकम पैरों से कुचला। इतने पर भी भगवान् विचलित नहीं हुए, तब हथिनी का रूप बनाकर भगवान् को सूंड से, दांतों से बीधा, शरीर को फाड़कर उसको मूत्र से सींचा और पैरों तले कुचल कर मसल डाला। इतने पर भी भगवान् का ध्यान भग्न नहीं हुआ तो देव ने पिशाच और व्याघ्र के रूप की विकुर्वणा की। उन्होंने दाढ़ाओं और नखों से भगवान् को विदारित किया तथा क्षारयुक्त पेशाब से उनके शरीर को सींचा। जब इन सब प्रकार के उपसर्गों से भगवान् चलित नहीं हुए तब संगम देव ने अनुकूल उपसर्गों का सहारा लेते हुए सबसे पहले सिद्धार्थ राजा का रूप बनाया और करुण-क्रन्दन करते हुए बोला—‘पुत्र! घर चलो। हमें मत छोड़ो। फिर त्रिशला का रूप बनाकर सामने आया। वैसे ही करुण विलाप किया। इसके पश्चात् रसोइया बनकर सामने आया। उसने निकट ही एक स्कन्धावार की विकुर्वणा की। पत्थर न मिल सकने पर रसोइये ने भगवान् के दोनों पैरों के बीच अग्नि जलाकर पकाने का पात्र रखा। जब इससे भी भगवान् विचलित नहीं हुए, तब एक चांडाल के रूप की विकुर्वणा की। उसने पक्षी युक्त पिंजरों को, भगवान् की भुजाओं में, गले में तथा कानों में टांग दिया। उनमें रहे हुए पक्षी भगवान् को काटने लगे, बीधने लगे और मल-मूत्र का विसर्जन करने लगे। भगवान् के विचलित न होने पर मंदर पर्वत को विचलित करने वाली खरवात वायु की विकुर्वणा की। फिर भी भगवान् अविचल रहे। उस वायु ने भगवान् को ऊपर उठा-उठा कर भूमि पर पटका। इसके बाद कलंकलिका वायु का तूफान आया। उसने भगवान् को चक्र की भांति घुमाना प्रारंभ किया। फिर नंदावर्त वायु चली। जब वह भी भगवान् को विचलित करने में असमर्थ हुई तब उसने कालचक्र को आकाश में उछाला और भगवान् को मारने के लिए उसे छोड़ा। वह वज्रसदृश कालचक्र ऐसा था कि मंदर को भी चूर-चूर कर डाले। उसके प्रहार से भगवान् पूरे के पूरे भूमि में दब गए। केवल हाथ के अग्रनखमात्र दृष्टिगोचर हो रहे थे। जब इन सब प्रहारों से भगवान् का बाल भी बांका नहीं हुआ तब संगम देव ने सोचा कि इनको मारना या विचलित करना शक्य नहीं है। मुझे अनुलोम उपसर्ग उपस्थित कर इनको विचलित करना चाहिए। यह विचार कर संगम देव ने प्रभात काल की विकुर्वणा की। सभी लोग इधर-उधर आने-जाने लगे। उन्होंने भगवान् से कहा—‘देवार्थ! अभी तक यहाँ खड़े हो?’ भगवान् ने अपने ज्ञान से जान लिया कि अभी प्रभात नहीं हुआ है। यह बीसवां उपसर्ग था। कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार संगम देव बोला—‘मैं तुम पर तुष्ट हूँ। बोलो, क्या दूँ? तुम्हारे शरीर को स्वर्ग में ले जाऊँ अथवा मोक्ष में? अथवा तीनों लोकों को तुम्हारे पैरों में लाकर गिरा दूँ।’ जब भगवान् इस प्रलोभन में नहीं आए तब वह लौट गया और सोचा कि कल फिर उपसर्ग करूँगा।’

१. आवनि. ३१३-३२१, आवचू. १ पृ. ३०१-३१०, हाटी. १ पृ. १४४, १४५, मटी. प. २८९-२९१।

८०. संगम देव के अन्य उपद्रव

दूसरे दिन भगवान् बालुका नामक गांव की ओर चले। संगम ने वहां पांच सौ चोरों की विकुर्वणा की। बालुका में पैर धंसते थे। यह पिशाच अथवा पागल है, ऐसा कहकर एक-एक चोर ने भगवान् पर चढ़ कर उस बालुका को पार किया। भगवान् बालुका गांव में भिक्षा के लिए गए। संगम देव भगवान् का रूप बनाकर काणाक्षि से स्त्रियों को बाधित करने लगा। स्त्रियों ने उन्हें पीटा। आगे भगवान् सुभौम नगर में भिक्षा के लिए गए। वहां भी देव स्त्रियों के प्रति अंजलिकर्म करने लगा। स्त्रियों ने पीटा। वहां से भगवान् सुच्छत्रा गांव में गए। देव ने वहां भगवान् के रूप में विट् की विकुर्वणा की और अट्टहास करता हुआ, नाचता-गाता हुआ गांव में चलने लगा, अशिष्ट बोलने लगा। वहां भी भगवान् की पिटाई हुई। वहां से मलय गांव में देव ने भगवान् का उन्मत्त रूप बनाया और स्त्रियों को त्रास देने लगा, पकड़ने लगा। लड़कों ने वहां उन पर कचरा डाला, ढेलों से मारा। वहां से भगवान् हस्तिशीर्ष नगर में गए। देव ने भगवान् को भव्य रूप में प्रस्तुत किया। उनकी जननेन्द्रिय को स्तब्ध कर दिया। जब स्त्री दृष्टिगोचर होती तब वह उत्थापित होती। यह देखकर लोगों ने भगवान् को पीटा।

भगवान् ने सोचा कि यह देव अत्यधिक लोकापवाद कर रहा है, साथ ही भोजन भी अनेषणीय बना रहा है अतः अब मैं गांव में प्रवेश न करके बाहर ही रहूंगा। भगवान् गांव के बाहर चले गए। जहां महिलाओं का समूह होता, वहां वह देव जननेन्द्रिय को स्तब्ध कर देता। भगवान् की उस स्थिति में इंद्र ने उनकी पूजा की। तभी से ढोंड शिव का प्रचलन हुआ।

भगवान् ने सोचा कि यह देव अत्यन्त अवहेलना कर रहा है अतः एकान्त में रहना ही श्रेयस्कर है। भगवान् को एकान्त में देखकर देव ने उपहास करते हुए कहा—‘मैं आपको विचलित नहीं कर सकता पर आप गांव में चलें तब आपका पराक्रम देखूंगा।’ इंद्र ने वहां आकर भगवान् की संयमयात्रा और अव्याबाध प्रासुक विहार की सुखपृच्छा की और वंदना करके चला गया।

वहां से भगवान् तोसलि गांव के बाहर ही प्रतिमा में स्थित हो गए। उस अभव्य देव ने सोचा—‘ये गांव के अंदर नहीं जाएंगे अतः मैं यहीं उपसर्ग पैदा करूं।’ वह गांव में गया। वहां क्षुल्लक का रूप बनाकर घरों में संध लगाने लगा। उपकरणों सहित गृहस्वामी ने उसे पकड़ा और पीटने लगा। तब वह देव बोला—‘मुझे मत पीटो। इस बारे में मैं कुछ नहीं जानता। मेरे गुरु ने मुझे ऐसा करने के लिए भेजा है।’ लोगों ने पूछा—‘तुम्हारा गुरु कहां है?’ देव ने कहा—‘गांव के बाहर उद्यान में मेरे गुरु बैठे हैं। लोग उद्यान में आए। उन्होंने भगवान् को पकड़कर पीटा और वध के लिए ले जाने लगे। इसी बीच भूतिल नामक इंद्रजालिक वहां आया। उसने कुंडग्राम में भगवान् को पहले देखा था। उसने भगवान् को मुक्त कराया और कहा—‘ये सिद्धार्थ राजा के पुत्र हैं।’ लोगों ने भगवान् से क्षमायाचना की और उस क्षुल्लक की खोज की लेकिन वह नहीं मिला तो लोगों ने जान लिया कि यह देवकृत उपसर्ग है।

वहां से भगवान् मोसलि गांव गए। वहां गांव के बाहर प्रतिमा में स्थित हो गए। वहां भी वह क्षुल्लक का रूप बनाकर संध लगाने का मार्ग देखने लगा। उसने भगवान् के पास उपकरणों की विकुर्वणा कर दी। लोगों ने उस क्षुल्लक को पकड़कर पूछा—‘तुम यहां क्या खोज रहे हो?’ वह बोला—‘मेरे

धर्माचार्य रात को यहां सेंध लगाने आएंगे। उनके पैरों में कांटे न चुभें, वे सुखपूर्वक सेंध लगा सकें इसलिए मैं यहां आया हूं।' लोगों ने पूछा—'तुम्हारे धर्माचार्य कहां हैं?' देव ने कहा—'अमुक उद्यान में स्थित हैं।' लोगों ने वहां जाकर भगवान् को देखा। उनके पास उपकरण पड़े थे। लोग भगवान् को पकड़कर ले जाने लगे। वहां भगवान् का प्रियमित्र सुमागध नामक राक्षिक आया और भगवान् को छुड़वाया। वहां से भगवान् तोसलि ग्राम गए। वहां भी भगवान् को ऐसे ही पकड़ा और फांसी पर चढ़ाया। फांसी का रस्सा बीच में ही टूट गया। सात बार ऐसे ही रस्सी एक सिरे से टूट गई। तब फांसी लगाने वाले लोगों ने तोसलिक क्षत्रिय से सारी बात कही। उसने कहा—'यह निर्दोष है, चोर प्रतीत नहीं होता। उस क्षुल्लक की खोज करो। क्षुल्लक की खोज करने पर वह नहीं मिला तो लोगों ने जान लिया कि यह देवकृत उपसर्ग था।

वहां से भगवान् सिद्धार्थपुर गए। वहां भी चोरी के आरोप में भगवान् को पकड़ा। वहां कौशिक नामक अश्ववणिक् ने भगवान् को पहले कुंडपुर में देखा था। उसने भगवान् को मुक्त करवाया। वहां से भगवान् वज्रगांव के गोकुल में गए। वहां उत्सव के कारण सब घरों में परमान्न का भोजन था। भगवान् ने सोचा—'छह मास बीत गए अब वह देव चला गया होगा। भगवान् भिक्षा के लिए गये। देव ने अनेषणा कर दी। भगवान् ने अवधिज्ञान से देखा अतः भिक्षार्थ गए हुए आधे रास्ते से ही वापिस लौट गए और गांव के बाहर प्रतिमा में स्थित हो गए। देव ने अवधिज्ञान से देखा कि भगवान् के परिणाम विचलित हुए या नहीं? उसने देखा कि भगवान् पूर्ववत् शुद्ध परिणामों की श्रेणी में स्थित तथा षड्जीवनिकाय के प्रति हितचिंतन में लीन थे। भगवान् को उस रूप में देखकर उसने सोचा—'भगवान् को क्षुब्ध करना शक्य नहीं है। जो छह महीनों में विचलित नहीं हुए, उनको दीर्घकाल में भी क्षुब्ध करना संभव नहीं है।' वह भगवान् के चरणों में गिरकर बोला—'भंते! जो इंद्र ने कहा वह सत्य है। मैं भग्नप्रतिज्ञ हूं और आप सत्यप्रतिज्ञ हैं। मैं जा रहा हूं। आप कहीं घूमें अब मैं कोई उपसर्ग नहीं करूंगा।' भगवान् बोले—'संगम! मैं किसी के कहने से कुछ नहीं करता। अपनी इच्छा होती है तो घूमता हूं, अन्यथा नहीं।' दूसरे दिन उसी गोकुल में भगवान् भिक्षा के लिए गए। वहां वत्सपालिका नामक एक वृद्धा ने भगवान् को बासी खीर से प्रतिलाभित किया। वहां पांच दिव्य प्रादुर्भूत हुए।

सौधर्म देवलोक में संगम की प्रतिज्ञा के दिन से सभी देव उद्विग्न थे। संगम देवलोक में पहुंचा। शक्र उसे देखते ही मुंह फेर कर बैठ गया। उसने देवताओं को संबोधित कर कहा—'देवगण! सुनो, यह संगम दुरात्मा है।' इसने न मेरी और न देवताओं के चित्त की रक्षा की है। इसने तीर्थंकर की आशातना की है। इससे हमारा अब कोई प्रयोजन नहीं है। इसके साथ कोई भाषण न करे। इसको यहां से निकाल देना चाहिए। तब संगम अपनी देवियों के साथ पानक विमान से मंदरचूलिका पर आ गया। शेष देवों को इंद्र ने उसको सम्मान आदि देने से रोक दिया। उस समय संगम देव के सागरोपम की स्थिति शेष थी।^१

८१. इंद्रों द्वारा भगवान् की अर्चा एवं अन्य उपद्रव

वहां से भगवान् आलभिका नगरी में गए। विद्युत्कुमार का इंद्र हरि वहां आकर भगवान् को वंदना और पूजा करके बोला—'भगवन्! आपकी सुखपृच्छा कर रहा हूं। सभी उपसर्गों को आपने पार पा लिया

१. आवनि. १ पृ. ३२२-३२९, आवचू. १ पृ. ३११-३१४, हाटी. १ पृ. १४५-१४७, मटी. प. २९१-२९३।

है। बहुत गया, अब अल्प शेष है। शीघ्र ही आपको केवलज्ञान उत्पन्न होगा।'

वहां से भगवान् श्वेतविका नगरी में गए। वहां हरिस्सह इन्द्र सुखपृच्छा करने आया। वहां से भगवान् श्रावस्ती गए और बाह्य उद्यान में प्रतिमा में स्थित हो गए। वहां के लोग स्कन्दक प्रतिमा की पूजा करते थे। शक्र ने अवधिज्ञान का प्रयोग करके देखा कि लोग स्कन्दक प्रतिमा की पूजा कर रहे हैं और भगवान् का आदर-सत्कार नहीं कर रहे हैं तब शक्र वहां आया। स्कन्दक की अलंकृत प्रतिमा रथ में स्थापित होने वाली थी। उस समय इन्द्र उस प्रतिमा में प्रविष्ट होकर भगवान् की ओर प्रस्थित हुआ। लोगों ने संतुष्ट होकर कहा—'देव स्वयं रथ में आएगा परंतु वह प्रतिमा भगवान् के पास गई और भगवान् को वंदना करने लगी। तब लोगों ने कहा—'ये देवाधिदेव हैं।' उन्होंने भगवान् की पूजा-अर्चा की।

वहां से भगवान् कौशाम्बी नगरी गए। वहां सूर्य और चन्द्रमा—दोनों अपने विमान सहित आए, भगवान् को वंदना कर सुखपृच्छा की। वाराणसी नगरी में शक्र ने आकर सुखपृच्छा की। राजगृह में ईशान देवलोक के इन्द्र ने आकर सुखपृच्छा की। मिथिला में राजा जनक ने भगवान् की पूजा-अर्चा और धरणेन्द्र ने आकर सुखपृच्छा की। वहां से भगवान् विशाला नगरी गए और ग्यारहवां वर्षावास बिताया। भूतानन्द देव ने वहां आकर सुखपृच्छा की और केवलज्ञान की बात कही। वहां से भगवान् सुंसुमारपुर गए। चमर के उत्पात^१ का यही स्थान था। वहां से भगवान् भोगपुर गए। वहां महेन्द्र नामक क्षत्रिय भगवान् को देखकर खर्जूरीकंद से उनको मारने दौड़ा। इतने में ही सनत्कुमार देव वहां आ पहुंचा और उसकी ताड़ना-तर्जना की। उसने भगवान् की प्रियपृच्छा की। वहां से नन्दीग्राम में भगवान् के प्रियमित्र नन्दी ने भगवान् की पूजा-अर्चा की। वहां से भगवान् मेंढिकाग्राम गए। वहां ग्वाले ने कर्मार ग्राम की भांति उपसर्ग दिया। इन्द्र ने उसे रज्जू से पीटा।^२

८२. चंदनबाला का उद्धार

कौशाम्बी के राजा का नाम शतानीक और रानी का नाम मृगावती था। वहां तत्त्ववादी नामक धर्मपाठक रहता था। वहां के अमात्य का नाम सुगुप्त और उसकी भार्या का नाम नन्दा था। वह श्रमणोपासिका थी। वह मृगावती की साधर्मिणी थी। उसी नगर में धनावह श्रेष्ठी रहता था। उसकी पत्नी का नाम मूला था। वे सभी अपने-अपने कार्यों में तल्लीन थे। वहां भगवान् ने पौष के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को एक अभिग्रह स्वीकार किया। उस अभिग्रह के चार कोण थे—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः—

द्रव्यतः—छाज के कोने में उड़द हों।

क्षेत्रतः—घर की देहली का अतिक्रमण।

कालतः—सभी भिक्षाचर भिक्षा लेकर निवृत्त हो गए हों।

भावतः—राजा की पुत्री हो, दासत्व को प्राप्त हो, सांकल से बंधी हुई हो, शिर मुंडा हुआ हो, आंखों में आंसू हो, तीन दिन की तपस्या हो—इस प्रकार की संयुति से ही मुझे आहार-पानी लेना है, अन्यथा नहीं। इस

१. चमर के उत्पात का वर्णन देखें भगवई।

२. आवनि. ३३०-३३३, आवचू. १ पृ. ३१५, ३१६, हाटी. १ पृ. १४७, १४८, मटी. प. २९३, २९४।

अभिग्रह को स्वीकार कर भगवान् कौशाम्बी में स्थित थे। वे प्रतिदिन भिक्षाचर्या के लिए जाते क्योंकि भिक्षाचर्या में बावीस परीषहों की उदीरणा होती है। चार मास तक भगवान् कौशाम्बी में घूमते रहे। एक दिन वे अमात्य सुगुप्त के घर में प्रविष्ट हुए। अमात्य-पत्नी नन्दा ने भगवान् को जाना-पहचाना। उसने परम आदरभाव से भिक्षा देनी चाही। स्वामी बिना कुछ ग्रहण किए चले गए। नन्दा खिन्न हो गई। उसकी दासियों ने कहा—‘देवार्य यहां प्रतिदिन आते हैं, परंतु भिक्षा नहीं लेते।’ तब उसने सोचा—‘निश्चित ही भगवान् के कोई अभिग्रह है।’ उसकी खिन्नता बढ़ी। अमात्य घर आया तब उसने नन्दा से खिन्नता का कारण पूछा। उसने कहा—‘आपके अमात्यत्व का क्या प्रयोजन है? भगवान् को इतने दिनों से भिक्षा नहीं मिली। हमारे ज्ञान का भी क्या प्रयोजन है? यदि हम उनके अभिग्रह को नहीं जान सके।’ अमात्य ने नन्दा को आश्वस्त करते हुए कहा—‘कल भगवान् को भिक्षा मिल सके, वैसा प्रबंध करूंगा।’

प्रतिहारी विजया किसी कारणवश नन्दा के घर गई थी। उसने भगवान् के विषय में बात सुनी और सारी बात महारानी मृगावती से कही। मृगावती बहुत दुःखी और खिन्न हो गई। वह चेटक की पुत्री थी। राजा के पूछने पर उसने कहा—‘आपको राज्य से क्या? आपको मेरे से भी क्या प्रयोजन? भगवान् महावीर इतने समय से शहर में घूम रहे हैं और आपको उनके भिक्षा संबंधी अभिग्रह भी ज्ञात नहीं हैं।’ राजा ने रानी को यह कहकर आश्वस्त किया कि मैं वैसा प्रबंध करता हूं, जिससे कल आपको भिक्षा मिल जाए। उन्होंने अमात्य सुगुप्त को बुलाया और उपालंभ की भाषा में कहा—‘तुम भगवान् के आगमन की बात भी नहीं जानते। आपको यहां घूमते हुए चार मास बीत गए हैं।’ फिर तत्त्ववादी धर्मगुप्त को बुलाकर शतानीक ने पूछा—‘तुम्हारे शास्त्र में सभी त्रिर्थकरों के आचार का वर्णन आया है, वह मुझे बताओ।’ अमात्य से कहा—‘तुम भी अपने बुद्धिबल से बताओ।’ दोनों ने कहा—‘शास्त्रों में अनेक प्रकार के अभिग्रह हैं। पता नहीं, महावीर के कौनसा अभिग्रह है? द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से संयुक्त सात पिंडेषणाएं और सात पानैषणाएं हैं। उनमें भगवान् के क्या संकल्प हैं, यह ज्ञात नहीं है।’ तब राजा ने लोगों को सारी बात समझाई। परलोक के कांक्षी लोगों ने वैसा ही करने का वचन दिया। भगवान् भिक्षा के लिए आए, परन्तु किसी से भगवान् ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया।

इधर महाराज शतानीक ने महाराजा दधिवाहन का निग्रह करने के लिए चंपा नगरी पर आक्रमण कर दिया। वह एक ही रात में नौसेना द्वारा चंपा पहुंच गया और अकल्पित रूप से नगरी को घेर लिया। दधिवाहन पलायन कर गया। शतानीक ने युद्ध की घोषणा कर दी। दधिवाहन की रानी धारिणी देवी और उसकी पुत्री वसुमती—दोनों को एक नाविक उठाकर ले गया। राजा शतानीक विजय प्राप्त कर चला गया। उस नाविक ने सोचा, इसे मैं अपनी पत्नी बना लूंगा और लड़की को बेचकर धन कमा लूंगा। धारिणी अत्यंत दुःखी हो गई। लड़की की चिन्ता से दुःखी होकर धारिणी ने प्राण-त्याग दिए। तब नाविक ने सोचा—‘मैंने उचित नहीं कहा कि यह महिला (धारिणी) मेरी पत्नी हो जाएगी।’ इस लड़की को मैं अब कुछ भी नहीं कहूंगा, कहीं यह भी प्राण-त्याग न कर बैठे और मुझे धन भी न मिले। वह कौशाम्बी में आया और बाजार में लाकर, उसे ऊंचे स्थान पर खड़ी कर, बेचने का एलान कर दिया। धनावह सेठ ने देखा। उसने सोचा, बिना किसी अलंकार के यह कन्या इतनी लावण्यमयी है, प्रतीत होता है कि यह किसी राजा अथवा धनाढ्य

घर की बेटी है। इसे कष्ट न होने पाए यह सोचकर उस नाविक ने जितना मूल्य बताया उस मूल्य में सेठ ने वसुमती को खरीद लिया। सेठ ने पूछा—‘बेटी! तुम कौन हो?’ वह कुछ नहीं बोली। वह उसे पुत्री मानकर घर ले गया। सेठ ने मूला से कहा—‘यह तेरी बेटी है।’ वसुमती अपने घर की भांति वहां सुखपूर्वक रहने लगी। वसुमती ने अपने शील और विनीत व्यवहार से पूरे परिजनों को आत्मीय बना डाला। सभी परिजन कहने लगे—‘यह शीलचन्दना है।’ वहां उसका दूसरा नाम चंदना हो गया। काल बीतता गया।

उसकी सुन्दरता को देखकर मूला के मन में अन्यथाभाव आने लगे। उसमें मत्सरभाव बढ़ा। उसने सोचा, संभव है सेठ इसे अपनी पत्नी बना ले। उस समय यह गृहस्वामिनी हो जाएगी और मैं अस्वामिनी बन जाऊंगी। चन्दना की केशराशि अतीव दीर्घ, रमणीय और काली थी। एक दिन सेठ मध्याह्न में घर आया। उस समय सेठ के पैर प्रक्षालन करने वाला कोई दास नहीं था। तब चंदना पानी लेकर पैर धोने आई। सेठ ने निषेध किया पर वह हठपूर्वक पैर प्रक्षालन करने लगी। उस समय उसकी चोटी खुल गई और बाल बिखर गए। बाल पैर धोने के पानी में न गिर पड़ें, इस दृष्टि से सेठ ने एक लकड़ी के टुकड़े से उन्हें उठा लिया और जूड़े में बांध दिया। मूला झरोखे से यह सब देख रही थी। उसने सोचा, सारा काम बिगड़ गया। यदि सेठ किसी भी प्रकार से इससे विवाह कर लेगा तो फिर मेरा स्थान यहां कुछ भी नहीं रहेगा। नीतिकार कहते हैं—‘व्याधि जब तरुण हो, तभी उसकी चिकित्सा कर लेनी चाहिए।’

सेठ चला गया। मूला ने एक नाई को बुलाकर वसुमती को मुंड कर डाला। उसे सांकलों से बांधा और पीटा। फिर मूला ने सभी परिजनों से कहा कि जो कोई इस घटना की चर्चा सेठ के समक्ष करेगा, उसे मैं घर में नहीं रहने दूंगी। सारे लोग भयभीत हो गए। मूला ने चंदना को एक ओरे में बंद कर उसके ताले जड़ दिए।

कुछ समय बाद सेठ घर आया। उसने पूछा—‘चंदना कहां है?’ सभी मौन थे। भय के कारण कोई नहीं बोला। सेठ ने सोचा, वह भवन के ऊपरी भाग में खेलती होगी। रात्रि में भी सेठ ने पूछा पर कोई उत्तर नहीं मिला। सेठ ने सोचा, ‘सो गई होगी।’ दूसरे दिन भी चन्दना नहीं दिखी। तीसरे दिन सेठ ने सघन पृच्छा की। उसने कहा—‘सही बात बताओ, अन्यथा मैं सबको मार डालूंगा।’ तब एक वृद्धा दासी ने कहा—‘मुझे जीने से क्या? वह बेचारी जी जाए।’ तब उसने सेठ से कहा—‘चंदना अमुक कमरे में बंद है।’ धनावह ने कमरा खोला और क्षुधा से आहत चंदना को देखा। उसने दासी से ओदन मांगा। वह नहीं मिला। तब बासी कुल्माषों को देख सेठ ने एक सूर्प के कोने में उन्हें रख चंदना को खाने के लिए दिया। वह स्वयं लोहकार को सांकल खोलने या तोड़ने के लिए बुलाने चला गया। जैसे हथिनी आलान स्तंभ से छूटकर अपने घर (विंध्य पर्वत) का स्मरण करती है, वैसे ही चंदना अपने कुल की स्मृति करती हुई, घर की दहलीज के बाहर आई और अपने पूर्वकृत कर्मों का स्मरण करती हुई अन्तःकरण में रोने लगी। भगवान् भिक्षाचर्या के लिए घूमते हुए वहां आए। चंदना ने सोचा—‘भगवान् को दान दूं। मेरे द्वारा आचीर्ण अधर्म के परिणाम स्वरूप ही मेरी यह दशा हुई है।’ उसने कहा—‘भगवन्! ये उड़द के बाकुले आपको कल्पते हैं।’ चारों प्रकार के अभिग्रहों की संपूर्ति जान कर भगवान् ने हाथ पसारे। चंदना ने उड़द के बाकुले दिए। भगवान् का पारणा हो गया। पांच दिव्य प्रगट हुए। चंदना की केशराशि पूर्ववत् रमणीय हो गई। उसकी सांकलें स्वतः

टूट गई। पैरों में बेड़ियों के स्थान पर स्वर्ण के नुपूर हो गए। देवताओं ने सारे शरीर को अलंकृत-सुशोभित कर दिया। देवराज इन्द्र वहां आया। साढ़े बारह करोड़ सोनैयों की वृष्टि हुई। समूचे शहर में यह बात फैल गई। सभी पूछने लगे कि किस पुण्यात्मा ने भगवान् को दान से प्रतिलाभित किया? राजा अपने अन्तःपुर के साथ वहां आया। महाराज दधिवाहन का संपुल नामक कंचुकी वहां था। वह बंदी था, उसे वहां लाया गया। उसने चंदना को पहचान लिया। वह पैरों में गिर कर रोने लगा। राजा ने पूछा—‘यह चंदना कौन है?’ उसने कहा—‘यह महाराजा दधिवाहन की पुत्री वसुमती है।’ तब मृगावती बोली—‘यह मेरी बहिन की बेटी है।’ अमात्य भी अपनी पत्नी नन्दा के साथ वहां आ गया। भगवान् को वंदना की। भगवान् वहां से चले गए। तब राजा शतानीक ने सोनैयों को बटोरना चाहा। शक्र ने मनाही करते हुए कहा—‘चंदना जिसको देना चाहेगी, उसी को यह धनराशि होगी।’ चंदना के पूछने पर उसने वह धन सेठ को देने को कहा। सेठ ने सोनैये ले लिए। शक्र ने राजा शतानीक से कहा—‘यह चंदना चरमशरीरी है। इसकी तुम संरक्षा करो।’ जब भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्राप्त होगा, तब यह प्रथम शिष्या बनेगी। राजा ने चंदना को कन्याओं के अन्तःपुर में रखा। वहां वह सुखपूर्वक बढ़ने लगी। भगवान् को जिस दिन चंदना ने भिक्षा दी, उस समय भगवान् की तपस्या के छह महीनों में पांच दिन न्यून थे। लोगों ने मूला सेठानी का तिरस्कार किया और उपालंभ दिया।^१

८३. भगवान् का सुमंगला आदि ग्रामों में आगमन

वहां से भगवान् सुमंगला गांव में गए। वहां देव सनत्कुमार ने आकर वंदना-पूजा करके सुखपृच्छा की। वहां से भगवान् सुक्षेत्र गांव में गए। वहां माहेन्द्र ने आकर सुखपृच्छा की। वहां से भगवान् पालक गांव में गए। वहां वातबल नामक वणिक् यात्रा के लिए प्रस्थित हुआ। वह भगवान् के दर्शन को अमंगल मानकर तलवार से उनका शिरच्छेद करने चला। तब सिद्धार्थ ने उस वणिक् का हाथ सहित शिरच्छेद कर डाला।^२

८४. यक्षों द्वारा प्रश्न तथा इंद्र द्वारा कैवल्य की पूर्व सूचना

वहां से भगवान् चंपा नगरी में स्वातिदत्त ब्राह्मण की अग्निहोत्रशाला में ठहरे। वहां वर्षावास बिताया। रात्रि में पूर्णभद्र और मणिभद्र नाम के दो यक्ष भगवान् की पूजा-उपासना करते। उन्होंने चार महीनों तक यह क्रम निभाया। उन्होंने सोचा कि इन्हें क्या पता कि देवता उपासना करते हैं? यह जताने के लिए उन्होंने भगवान् से पूछा—‘यह आत्मा कौन है?’ भगवान् बोले—‘जो मैं हूं, वही आत्मा है।’ फिर पूछा—‘आत्मा कैसा है?’ भगवान् ने कहा—‘वह सूक्ष्म है।’ उन्होंने पूछा—‘वह सूक्ष्म क्या है?’ भगवान् ने कहा—‘जिसको हम ग्रहण नहीं कर सकते, वह सूक्ष्म है।’ यक्षों ने फिर पूछा—‘शब्द, गंध और पवन को भी हम नहीं देखते, क्या वे भी सूक्ष्म हैं?’ भगवान् ने उत्तर नहीं दिया, वे सब इन्द्रियग्राह्य हैं। आत्मा ग्रहण करता है अतः वह ग्राहयिता है। स्वातिदत्त ने पूछा—‘भदन्त! प्रदेशन और प्रत्याख्यान क्या है?’ भगवान् ने कहा—‘प्रदेशन के दो प्रकार हैं—धार्मिक और अधार्मिक। प्रदेशन का अर्थ है—उपदेश। प्रत्याख्यान भी दो

१. आवनि. ३३४, ३३५, आवचू. १ पृ. ३१६-३२०, हाटी. १ पृ. १४८-१५०, मटी. प. २९४-२९६।

२. आवनि. ३३६, आवचू. १ पृ. ३२०, हाटी. १ पृ. १५०, मटी. प. २९६, २९७।

प्रकार का है—मूलगुणप्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान।

भगवान् जृम्भिका ग्राम में गए। वहां शक्र ने आकर वंदना कर नाट्य दिखाकर कहा—‘इतने दिनों के बाद आपको केवलज्ञान प्राप्त होगा।’ वहां से भगवान् मिण्डिका गांव में गए। वहां चमर ने आकर वंदना और सुखपृच्छा की तथा पुनः लौट गया।^१

८५. ग्वाले द्वारा कान में शलाका ठोकना

षण्माणी गांव के बाहर भगवान् प्रतिमा में स्थित हो गए। वहां एक ग्वाला अपने बैलों को छोड़कर गांव में गया। वह गायों, भैसों को दुहकर लौटा। वहां से वे बैल चरते-चरते अटवी में चले गए। उसने आकर पूछा—‘देवार्य! बैल कहां हैं?’ भगवान् मौन रहे। तब उसने क्रुद्ध होकर भगवान् के कानों में बांस की शलाकाएं डाल दीं। एक इस कान में और दूसरी दूसरे कान में। जब दोनों मिल गईं तब मूल में उन्हें तोड़ डाला। जिससे उन्हें कोई कानों के बाहर न निकाल सके। भगवान् ने पूर्वभव में त्रिपृष्ठ वासुदेव राजा के रूप में गोप के कानों में गरम तांबा डलवाया था, उसी का यह परिणाम था। भगवान् के उस समय असह्य वेदनीय कर्म की उदीरणा हुई। भगवान् मध्यमा नगरी गए। वहां सिद्धार्थ नामक वणिक् रहता था। भगवान् उसके घर गए। सिद्धार्थ के एक खरक नामक वैद्य-मित्र था। वह उस समय वहीं था। भगवान् भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुए। सिद्धार्थ ने भगवान् को वंदना और स्तुति की। वैद्य ने तीर्थंकर को देखकर कहा—‘अहो! भगवान् सर्वलक्षणसंपन्न हैं फिर इनके शरीर में शल्य कैसे?’ तब वणिक् ने वैद्य से कहा—‘देखो, शल्य कहां है?’ कान में शल्य दिखा। वणिक् ने वैद्य से कहा—‘इस महातपस्वी के शल्य को बाहर निकालो। तुम्हें पुण्य होगा और मुझे भी।’ वणिक् बोला—‘भगवान् निष्प्रतिकर्म हैं, वे चिकित्सा नहीं चाहते फिर भी इनकी चिकित्सा करनी है।’ भगवान् उद्यान में जाकर प्रतिमा में स्थित हो गए। वणिक् और वैद्य औषधियां लेकर उद्यान में गए। उन्होंने भगवान् को तैलद्रोणी में निमज्जित किया, मर्दन किया। फिर अनेक लोगों द्वारा नियंत्रित कर संडास से खींचकर कान की शलाकाएं बाहर निकालीं। वे शलाकाएं रक्त से सनी हुई थीं। उन शलाकाओं को निकालते समय भगवान् के मुख से जोर से आवाज निकली। शलाकाएं निकालने वालों के जाने पर भगवान् उठे। उद्यान तथा मंदिर अत्यंत भयानक हो गया। फिर वैद्य ने घाव पर व्रण-संरोहण औषधि का लेप किया। उससे भगवान् तत्काल स्वस्थ हो गए। वणिक् और वैद्य भगवान् को वंदना और क्षमायाचना कर चले गए।

प्रश्न है कि सभी उपसर्गों में कौन सा उपसर्ग दुःसह था? कटपूतना द्वारा शीत की विकुर्वणा, कालचक्र या कानों से शल्य का उद्वर्तन। इस बारे में ऐसे कहा जा सकता है—कटपूतना का जघन्य, कालचक्र का मध्यम और शल्योद्धरण का उत्कृष्ट। इस प्रकार ग्वाले द्वारा आरब्ध उपसर्ग की परंपरा ग्वाले द्वारा ही समाप्त हुई। ग्वाला सातवीं नरक में तथा वणिक् सिद्धार्थ और वैद्य खरक देवलोक में गए।^२

१. आवनि. ३३७, ३३८, आवचू. १ पृ. ३२०, ३२१, हाटी. १ पृ. १५०, १५१, मटी. प. २९७।

२. आवनि. ३३९, आवचू. १ पृ. ३२१, ३२२, हाटी. १ पृ. १५१, मटी. प. २९७, २९८।

८६. महावीर को कैवल्य-प्राप्ति

वहां से भगवान् जम्बिक ग्राम गए। उसके बाहरी भाग में व्यावृत्त नामक एक जीर्ण चैत्य था। ऋजुबालुका नदी के उत्तरी तट पर श्यामाक गाथापति का खेत था। वहां शालवृक्ष के नीचे भगवान् गोदोहिका आसन में सूर्य का आतप ले रहे थे। भगवान् के बेले की तपस्या थी। वैशाख शुक्ला दशमी का दिन था। चौथा प्रहर होने पर, विजय मुहूर्त में, चन्द्रमा के साथ उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र का योग होने पर शुक्लध्यान की आंतरिका में वर्तमान भगवान् ने एकत्व-वितर्क को व्यतिक्रान्त कर सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति को प्राप्त किया तब भगवान् को केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि हुई।^१

८७. वृद्धा दासी और वणिक्

एक वणिक् था। उसके एक वृद्धा दासी थी। वह प्रभात में काठ का भारा लेने गई। वह प्यास और भूख से आकुल-व्याकुल होकर मध्याह्न में आई। काठ न्यून आया है, यह सोचकर वणिक् ने उसे पीटा और बिना भोजन कराए उसे पुनः काठ लाने भेज दिया। उस समय ज्येष्ठ मास चल रहा था। वह अटवी में जाकर काठ का बड़ा भारा लेकर आ रही थी। उस समय दिन का अंतिम प्रहर समीप था। चलते-चलते उसके काष्ठभार से एक लकड़ी नीचे गिर पड़ी। वह उसे लेने के लिए झुकी। उस समय भगवान् योजनगामिनी वाणी के द्वारा धर्म-देशना दे रहे थे। वे शब्द उस वृद्धा के कान में पड़े और जब तक देशना चलती रही, वह झुकी ही रही। उसे न गर्मी, न प्यास, न भूख और न श्रम का ही भान रहा। सूर्यास्त के समय जब भगवान् धर्म-देशना से निवृत्त हुए, तब वह वृद्धा घर की ओर चली।^२

८८. विनय और अविनय का फल

वाह्लीक देश का एक अश्व किशोर था। राजपुरुषों ने उसका दमन करने एवं वाह्य बनाने के लिए विकालवेला में उसको अधिवासित किया। प्रभात में उसकी पूजा-अर्चा कर वे उसे वाह्यपंक्ति में ले गए। मुखयंत्र (कविक) उसके सामने रखा गया। वह विनीत था, इसलिए उसने स्वयं उस मुखयंत्र को ग्रहण कर लिया। राजा स्वयं उस पर आरूढ़ हुआ। वह राजा के अनुकूल चलने लगा। राजा उससे उतरा और समीचीन आहार-लयन आदि से उसकी प्रतिचर्या की। प्रतिदिन वह इसी प्रकार रहने लगा। उस पर कोई बलप्रयोग नहीं होता था।

मगध आदि जनपद में उत्पन्न एक अन्य अश्व किशोर था। राजा उसको भी दमित कर वाह्य बनाना चाहता था। उसको विकालवेला में अधिवासित किया गया। उसने मां से पूछा—‘यह क्या किया जा रहा है?’ मां ने कहा—‘कल तुम वाहन के रूप में प्रयुक्त किए जाओगे, तब तुम स्वयं मुखयंत्र ग्रहण कर राजा को तुष्ट करना। एक-एक कदम को सौ कदम जितना मापना।’ अश्व ने कहा—‘ऐसा ही होगा।’ दूसरे दिन कौतुक मंगल करने के बाद उसने स्वयं ही मुखयंत्र को ग्रहण कर लिया। संतुष्ट होकर राजा ने उसको स्नान

१. आवनि. ३४०, आवचू. १ पृ. ३२२, ३२३, हाटी. १ पृ. १५२, मटी. प. २९८।

२. आवनि. ३६२/२६, आवचू. १ पृ. ३३१, ३३२, हाटी. १ पृ. १५८, मटी. प. ३०८, ३०९।

करवाया तथा अच्छा भोजन दिया। फिर अनेक अलंकारों से उसे अलंकृत किया। मां के पास जाकर उसने सारी बात कही। मां बोली—‘वत्स! यह विनयगुण का प्रतिफल है। कल ऐसा मत करना। मुख्यंत्तः स्वयं ग्रहण मत करना।’ दूसरे दिन उस अश्व किशोर ने मां के कथनानुसार स्वयं मुख्यंत्तः ग्रहण नहीं किया। राजा ने उसे चाबुक आदि से पीटा, बलपूर्वक मुख्यंत्तः डाला और उसको घुमाया तथा चारा-पानी भी बंद कर दिया। भूख से व्याकुल उस अश्व किशोर ने सारी बात मां से कही। मां बोली—‘यह तुम्हारी दुश्चेष्टा और अविनय का फल है। तुमने दोनों मार्ग देख लिए हैं। अब जो रुचिकर लगे, उसका अनुसरण करो।’

८९. आचार्य द्वारा वैयावृत्य का प्रतिबोध (मरुक और वानर)

एक मुनि में वैयावृत्य करने की लब्धि थी पर वह बाल और वृद्ध मुनियों की वैयावृत्य नहीं करता था। आचार्य के द्वारा प्रेरित करने पर वह कहता—‘वैयावृत्य के लिए मुझसे कोई प्रार्थना नहीं करता। कोई मुझसे काम नहीं करवाना चाहता।’ आचार्य ने प्रेरणा देते हुए कहा—‘प्रार्थना की प्रतीक्षा करते हुए तुम निर्जरा के लाभ से चूक जाओगे। जैसे ज्ञानमद से मत होकर वह ब्राह्मण।’

एक गांव में चौदह विद्यास्थानों का पारगामी एक ब्राह्मण रहता था। उसको अपने ज्ञान का बहुत अहंकार था। वहां का राजा कार्तिकपूर्णिमा के दिन जनता को दान देता था। ब्राह्मण दान लेने नहीं गया। ब्राह्मणी ने कहा—‘तुम सब ब्राह्मणों में प्रमुख हो, दान लेने जाओ राजा तुमको प्रचुर दान देगा।’ उसने कहा—‘पहली बात तो यह है कि मैं शूद्र का प्रतिग्रह करूं? दूसरी बात बिना निमंत्रण के मैं उसके घर जाऊं? मैं मांगने नहीं जाऊंगा। जिसको माता-पिता आदि सात पीढ़ी का काम कराना हो, वह स्वयं यहां आकर दान दे।’ ब्राह्मणी ने कहा—‘उसके पास तुम्हारे जैसे अनेक ब्राह्मण हैं। यदि धन चाहिए तो राजा के पास जाना ही पड़ेगा।’ इस अहं के कारण वह यावज्जीवन दरिद्र ही रहा।^१ गुरु ने कहा—‘इसी प्रकार तुम भी वैयावृत्य की मार्गणा करते हुए निर्जरा के लाभ से वंचित रहोगे। इन बाल और वृद्ध मुनियों की वैयावृत्य करने के लिए तो दूसरे मुनि तैयार हैं। तुम्हारी यह शक्ति वैसे ही व्यर्थ चली जाएगी जैसे उस मरुक की। इस प्रकार कहने पर वह शिष्य बोला—‘यदि सेवा करना अच्छी बात है तो आप स्वयं क्यों नहीं करते?’ यह सुनकर आचार्य बोले—‘तुम भी उस वानर के सदृश हो, जो हितकर शिक्षा देने पर सामने वाले का अहित करता है।’

एक वानर था। वह वृक्ष पर रहता था। वर्षाकाल में ठंडी हवाओं से वह कांप रहा था। उसी वृक्ष पर पक्षी का एक सुन्दर घोंसला बना हुआ था। उसमें रहने वाला पक्षी वानर से बोला—‘वानर! तुम पुरुष हो। व्यर्थ ही दो-दो हाथों को ढो रहे हो। तुम वृक्ष के शिखर पर कुटिया क्यों नहीं बना लेते, एक छतनुमा घर सा बनाकर क्यों नहीं रहते?’ वानर ने यह सुना। वह मौन रहा। पक्षी ने दो-तीन बार उससे कहा। वानर कुपित होकर वृक्ष पर चढ़ा। वह पक्षी अपने घोंसले में चला गया। वानर घोंसले के पास गया और उसका तिनका-तिनका बिखेर डाला और बोला—‘न तुम मेरे मालिक हो और न ही मेरे मित्र अथवा बन्धु। हे सुगृहिक! तुम दूसरों की चिन्ता करते हो अतः अब बिना घर के सुखपूर्वक रहो।’

१. आर्वि. ४३६/१३, आवचू. १ पृ. ३४३, ३४४, हाटी. १ पृ. १७४, मटी. प. ३४४।

२. बृभाटी. पृ. ५५० में केवल ब्राह्मण की कथा है।

आचार्य बोले—‘शिष्य! वानर की भांति तुम स्वयं को मेरे बराबर मानने लगे। मेरे लिए तो निर्जरा के अन्य कार्य भी हैं। उनसे बहुत निर्जरा होती है। यदि मैं वैयावृत्य में लग जाऊंगा तो उस निर्जरा लाभ से वंचित हो जाऊंगा। जैसे—वह वणिक्।’

एक गांव में दो बनिये व्यापार करते थे। वर्षाकाल के प्रारंभ में एक बनिये ने सोचा—‘आषाढी पूर्णिमा से पहले घर को वर्षाकाल के अनुरूप बनाना है, आच्छादित करना है। वर्षा का प्रारंभ है, इसलिए कर्मकरों को इस कार्य में नियोजित करने पर दाम देने पड़ेंगे।’ यह सोचकर वह स्वयं व्यापार बंद कर इस कार्य में लग गया। दूसरे बनिये ने आधा अथवा त्रिभाग देकर घर को आच्छादित करवा लिया और स्वयं व्यापार में लगा रहा। उसको विपुल लाभ हुआ। पहला बनिया इस लाभ से वंचित रह गया। आचार्य बोले—‘वत्स! यदि मैं वैयावृत्य में लग जाऊंगा तो सूत्रार्थ का चिंतन-मनन नहीं कर सकूंगा।’ इससे सूत्र और अर्थ की विस्मृति हो जाएगी। उनके नष्ट होने पर गण की सारणा-वारणा नहीं हो सकेगी। उसके अभाव में आज्ञा का प्रवर्तन न होने पर वह विलुप्त हो जाएगी और उसके नष्ट होने पर बहुत कुछ विलुप्त हो जाएगा।’

१०. राग से होने वाला आयुष्य-भेद

एक गांव से कुछ चोर गाएं चुराकर ले गए। ग्रामरक्षकों को ज्ञात होने पर वे कुपित होकर चोरों के पीछे गए और गाएं लेकर वापिस लौट आए। उन ग्रामरक्षकों में एक तरुण रक्षक भी था, जो विद्याधर की भांति अतिशय रूपधारी था। प्यास से आक्रान्त होकर वह मध्यगत एक गांव में पानी पीने के लिए गया। एक तरुणी उसे पानी पिलाने लगी। वह उसमें अनुरक्त हो गई। तरुण के निषेध करने पर भी वह पानी उंडेलती रही। युवक उठकर चला गया फिर भी वह वैसे ही खड़ी रही। जब तक वह आंखों से ओझल नहीं हुआ, तब तक वह उसे एकटक निहारती रही। जब वह अदृश्य हो गया, तब उस तरुणी ने अत्यंत राग से वहीं प्राण त्याग दिए।^१

११. स्नेह से आयुष्य-भेद

एक वणिक् अपनी पत्नी में बहुत अनुरक्त था। दोनों में परस्पर अतीव अनुराग था। एक बार वणिक् व्यापार के लिए परदेश चला गया। वह परदेश से लौट कर गांव में आया। घर जाने से पूर्व कुछ मित्र मिले। उसे वहीं रोक लिया। कुछ मित्र दोनों के परस्पर अनुराग की परीक्षा करने उसके घर गए और पत्नी से कहा—‘सेठ मर गया।’ उसने पूछा—‘क्या यह सच है?’ उन्होंने कहा—‘हां!’ पत्नी ने तीन बार पूछा और मित्रों ने तीनों बार मरने की बात कही। वह वहीं ढेर हो गई।

फिर मित्र वहां से वणिक् के पास गए और बोले—‘मित्र! तुम्हारी पत्नी मर गई।’ उसने आश्चर्यचकित होकर पूछा—‘क्या यह सच है?’ मित्रों ने कहा—‘सत्य है। यह सुनते ही उसने भी वहीं प्राण त्याग दिए।’

१२. भय से आयुष्य-भेद (सोमिल ब्राह्मण)

द्वारिका नगरी के उत्तरपूर्व दिशा में रेवतक नामक पर्वत था। उस पर्वत के पास ही नंदनवन नामक

१. आवनि. ४३६/१५, आवचू. १ पृ. ३४४-३४६, हाटी. १ पृ. १७५, मटी. प. ३४५, ३४६।

२. आवनि. ४३७, आवचू. १ पृ. ३५५, हाटी. १ पृ. १८१, १८२, मटी. प. ३५५, ३५६।

३. आवनि. ४३७, आवचू. १ पृ. ३५५, हाटी. १ पृ. १८२, मटी. प. ३५६।

उद्यान था। उसके मध्यभाग में सुरप्रिय नामक यक्षायतन था। उस नगरी का राजा वासुदेव कृष्ण था।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में विराज रहे थे। अरिष्टनेमि के अंतेवासी छह भाई भी बेले-बेले की तपस्या करते हुए वहीं विचरण कर रहे थे। एक बार पारणे के दिन दो युगल देवकी के घर में प्रविष्ट हुए। उनको देखकर प्रसन्नमना वह भद्रासन से उठी और उनको केशरिया मोदक से प्रतिलाभित किया। थोड़ी देर बाद मुनियों का दूसरा और फिर तीसरा युगल उसके घर पहुंचा। उनको केशरिया मोदक की भिक्षा देकर देवकी बोली—‘कृष्ण वासुदेव की इस द्वारिका नगरी में क्या साधुओं को भिक्षा नहीं मिलती जो उन्हीं घरों में उन्हीं साधुओं को बार-बार आना पड़ता है।’ अंतिम युगल में देवयश अनगार बोला—‘तुम्हारा सोचना यथार्थ नहीं है। हम छह भाई रूप-रंग और आकार-प्रकार में एक जैसे हैं।’ युगल रूप में तीन बार तुम्हारे घर अलग-अलग साधु आए हैं। जो पहली बार आए, वे दुबारा नहीं आए हैं।

मुनि की बात सुनकर देवकी सोचने लगी कि पोलासपुर नगर में अतिमुक्तक अनगार ने कहा था कि तुम नलकुबेर के समान आठ पुत्रों की माता बनोगी लेकिन वर्तमान में यह बात असत्य प्रतीत हो रही है अतः मैं स्वामी अरिष्टनेमि के पास जाकर इस संदर्भ में पृच्छा करूंगी। भगवान् अरिष्टनेमि ने उसके मनोगत भावों को जानकर कहा—‘अतिमुक्तक मुनि ने जो कहा, वह सत्य है। भद्रिलपुर नगर में नाग गृहपति की पत्नी का नाम सुलसा था। एक बार नैमित्तिक ने उससे कहा—‘तुम मृत संतान पैदा करोगी।’ सुलसा बचपन से ही हरिणगेमेषी देव की भक्ता थी। उसने भक्ति-बहुमान पूर्वक देव की आराधना की। प्रसवकाल की समाप्ति पर उसने और तुमने एक साथ प्रसव किया। उसने आठ मृत संतान का प्रसव किया और तुमने देवकुमार सदृश आठ पुत्रों को जन्म दिया। हरिणगेमेषी देव ने अनुकम्पावश तुम्हारे पुत्रों को उसके पास तथा उसकी मृत संतान को तुम्हारे पास रख दिया। इसलिए आज जो मुनि भिक्षार्थ तुम्हारे घर आए थे, वे तुम्हारे ही पुत्र थे, सुलसा के नहीं।’

यह सुनकर देवकी आश्चर्यचकित रह गई। उसने अरिष्टनेमि को वंदना की। वहां से वह छहों अनगारों के पास गयी और वंदना करके उनको हर्ष-मिश्रित आंसुओं से युक्त आंखों से अनिमेष देखने लगी। वह सोचने लगी, मैंने एक जैसे सात पुत्रों को जन्म दिया लेकिन बचपन में किसी का अपने हाथों से लालन-पालन नहीं किया। यह कृष्ण वासुदेव भी छह-छह महीनों से मेरे पास पाद-वंदन के लिए आता था। वे माताएं धन्य हैं, जो अपनी कुक्षि से उत्पन्न बच्चों को स्तन का दूध पिलाती हैं, उनसे तुतली भाषा में मधुर संलाप करती हैं और उनको अपनी गोद में लेकर क्रीड़ा करती हैं। मैं अधन्य माता हूं, जो एक बालक को भी स्तनपान नहीं करा सकी। चिंतन करते हुए वह उदास हो गयी। उसी समय कृष्ण वासुदेव पाद-वंदन हेतु आए। पाद-वंदन करके कृष्ण ने पूछा—‘मातुश्री! मुझे देखकर आप सदा प्रसन्नवदन हो जाती हैं लेकिन आज आपका मुख उदास क्यों है?’ तब देवकी ने अपने मन का सारा दुःख वासुदेव कृष्ण को सुना दिया। कृष्ण ने कहा—‘मैं देवप्रभाव से प्रयत्न करूंगा, जिससे मेरे एक सहोदर और हो सके।’ कृष्ण ने देव की आराधना की। देव ने कहा—‘देवलोक से च्युत होकर देवकी की कुक्षि से एक पुत्र का जन्म होगा, जो तुम्हारा सहोदर होगा।’ उत्पन्न बालक हाथी के तालु के समान कोमल था अतः उसका नाम गजसुकुमाल रख दिया गया। वह बालक सभी यादवों को अत्यन्त प्रिय था। वह सुखपूर्वक वृद्धिगत होने लगा।

द्वारिका नगरी में सोमिल नामक धनाढ्य ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम सोमश्री और पुत्री का नाम सोमा था। वह रूप-यौवन और लावण्य में उत्कृष्ट थी। एक बार वह अलंकृत-विभूषित होकर

दासियों के साथ अपने घर से बाहर निकली और राजमार्ग में सोने की गेंद से खेलने लगी।

उसी समय वासुदेव कृष्ण ने सुधर्मा सभा में कौमुदिकी भेरी को बजाया और परिषद् के साथ अरिष्टनेमि को वंदन करने निकले। गजसुकुमाल भी उनके साथ था। श्रीकृष्ण ने सोमिल ब्राह्मण की पुत्री सोमा को देखा और उसके रूप से विस्मित होकर पूछा—‘यह किसकी पुत्री है?’ कौटुम्बिक पुरुषों ने उसके बारे में सारी जानकारी दी। कृष्ण ने कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया कि सोमिल ब्राह्मण से याचना करके इस सोमा को कन्या-अंतपुर में रख दो। यह गजसुकुमाल की प्रथम पत्नी होगी। कौटुम्बिक पुरुषों ने उसे कन्या-अंतपुर में रख दिया। कृष्ण भी सहस्राम्ब वन में स्वामी की पर्युपासना करने गये। धर्मकथा सुनकर परिषद् वापिस लौट गयी। गजसुकुमाल ने अरिष्टनेमि से कहा—‘मैं अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर आपके पास प्रव्रजित होना चाहता हूँ।’ उसने अपने माता-पिता से कहा—‘मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन में प्रव्रजित होना चाहता हूँ।’ पिता ने कहा—‘तुम धन्य हो, कृतपुण्य हो, जो तुम्हें निर्ग्रन्थ प्रवचन में रुचि हुई है। देवकी गजसुकुमाल की बात सुनकर दुःखी और विषण्ण हो गयी।’ आसू बहाती हुई वह बोली—‘वत्स! मेरे लिए तुम अत्यन्त प्रिय पुत्र हो। मेरे हृदय को आनन्द उत्पन्न करने वाले हो अतः जब तक हम जीवित हैं तब तक तुम भोगों को भोगो। हमारे कालगत हो जाने पर तुम प्रव्रजित हो जाना।’ गजसुकुमाल ने कहा—‘भोग तो छोड़ने ही हैं। समझदारी इसी में है कि वे हमें छोड़ें उससे पहले हम उन्हें छोड़ दें।’

जब श्रीकृष्ण को गजसुकुमाल की दीक्षा की बात ज्ञात हुई तो वे उसके पास गए और उसको आलिंगनबद्ध करते हुए बोले—‘तुम मेरे छोटे भ्राता हो। तुम दीक्षा मत लो। मैं तुम्हारा राज्याभिषेक करना चाहता हूँ।’ कृष्ण के ऐसा कहने पर गजसुकुमाल ने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। श्रीकृष्ण ने कहा—‘अधिक नहीं तो एक दिन का राज्याभिषेक देखना चाहता हूँ।’ माता-पिता और कृष्ण के बहुत आग्रह करने पर गजसुकुमाल मौन रहा। मौन को स्वीकृति मानकर कृष्ण ने कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया कि शीघ्र ही गजसुकुमाल के लिए राज्याभिषेक की बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करो। राज्याभिषेक करके श्रीकृष्ण ने निष्क्रमण-महोत्सव मनाया और गजसुकुमाल के साथ अरिष्टनेमि के समक्ष उपस्थित हुए। वे बोले—‘गजसुकुमाल हम सबका अत्यन्त प्रिय है। जैसे कमल पानी और कीचड़ में बढ़ता है लेकिन उससे लिप्त नहीं होता वैसे ही यह गजसुकुमाल भोगों में बड़ा हुआ है पर उनमें लिप्त नहीं है। यह संसार के भय से उद्दिग्ध है अतः आपके पास प्रव्रजित होना चाहता है। हम भगवान् को शिष्य की भिक्षा देना चाहते हैं। भगवान् कृपा करके शिष्य की भिक्षा स्वीकार करें।’ भगवान् की स्वीकृति पाकर गजसुकुमाल उत्तरपूर्व दिशा में गया और सारे आभूषण उतार दिए। पंचमुष्टि लोचन करके भगवान् को निवेदन किया—‘अब आपकी शरण में मैं आत्मकल्याण करना चाहता हूँ।’ अरिष्टनेमि ने प्रव्रजित करके उसको यतनापूर्वक सारी क्रिया करने का निर्देश दिया।

गजसुकुमाल मुनि जिस दिन प्रव्रजित हुए, उसी दिन भगवान् अरिष्टनेमि के पास पहुंचे और तीन बार वंदना करके बोले—‘आपकी आज्ञा से मैं श्मशान में एकरात्रिकी प्रतिमा करना चाहता हूँ।’ भगवान् से आज्ञा प्राप्त करके वे श्मशान की प्रासुक भूमि में एकरात्रिकी प्रतिमा स्वीकार करके स्थित हो गए।

सोमिल ब्राह्मण यज्ञ की लकड़ी लाने के लिए द्वारिका नगरी के बाहर गया हुआ था। लौटते हुए सन्ध्या के समय उसने श्मशान में मुनि गजसुकुमाल को ध्यानस्थ देखा। उनको देखकर उसके मन में वैर उभर आया। उसने सोचा—‘यह मेरी बेटी से विवाह किए बिना ही प्रव्रजित हो गया अतः आज वैर का

बदला लेने का अच्छा समय है।' उसने चारों ओर देखा। गीली मिट्टी से उसके मस्तिष्क के चारों ओर पाल बांध दी। फिर जलती हुई चिता से अंगारे लाकर सिर पर रख दिए। भयभीत होकर वह शीघ्र ही वहां से चला गया। गजसुकुमाल के शरीर में विपुल वेदना उत्पन्न हो गई। सोमिल ब्राह्मण के प्रति किसी प्रकार की द्वेष भावना लाए बिना उन्होंने समता से उस वेदना को सहा। तब शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या द्वारा तदावरणीय कर्म के क्षय होने से अपूर्वकरण में प्रविष्ट होकर उन्होंने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति कर ली। उसके पश्चात् सब कर्मों का क्षय करके वे मुक्त हो गए। निकटस्थ देवों ने कैवल्य-महोत्सव मनाया।

भगवान् अरिष्टनेमि को वंदना हेतु श्रीकृष्ण द्वारिका नगरी के मध्य से निकल रहे थे। उन्होंने एक वृद्ध पुरुष को देखा, जो गली से एक-एक ईंट उठाकर अपने घर के अंदर ले जा रहा था। अनुकम्पावश श्रीकृष्ण ने हाथी पर बैठे-बैठे ही एक ईंट उसके घर पहुंचा दी। श्रीकृष्ण को देखकर अनेक पुरुषों ने ईंटों को उठाकर उसके घर में रख दिया।

वासुदेव ने भगवान् अरिष्टनेमि को चरण-वंदना कर अन्यान्य मुनियों को वंदना की। मुनि गजसुकुमाल को न देखकर उन्होंने पूछा—'भगवन्! मुनि गजसुकुमाल कहां हैं?' भगवान् अरिष्टनेमि ने श्रीकृष्ण को सारी बात बताई। श्रीकृष्ण ने रोषारुण होकर सोमिल ब्राह्मण के बारे में पूछा। भगवान् ने कहा—'वासुदेव! तुमको क्रोध नहीं करना चाहिए क्योंकि वह सोमिल ब्राह्मण तो कर्म काटने में उसका सहायक बना है। जैसे कल तुमने उस वृद्ध व्यक्ति को सहायता दी वैसे ही सोमिल अनेक भव के संचित कर्मों की उदीरणा और निर्जरा करवाने में सहायक बना है।'

श्रीकृष्ण ने भगवान् से पूछा—'मैं उस सोमिल ब्राह्मण को कैसे पहचानूंगा?' भगवान् ने कहा—'नगर में प्रवेश करते हुए तुमको देखकर भय से हृदय-गति रुक जाने से वह मृत्यु को प्राप्त कर लेगा। यहां से वह अप्रतिष्ठान नरक में नैरयिक के रूप में उत्पन्न होगा। श्रीकृष्ण भगवान् को वंदना करके अपने महलों की ओर जाने लगे। सोमिल ब्राह्मण ने प्रभात काल में सोचा कि वासुदेव जब भगवान् को वंदना करने जाएंगे तब भगवान् से उन्हें सारी बात ज्ञात हो जाएगी। बात ज्ञात होने पर श्रीकृष्ण कहीं मुझे कुमौत से न मार दें, यही सोचकर वह अपने घर से बाहर निकला। दौड़ते हुए उसने सामने से आते हुए श्रीकृष्ण को देखा। श्रीकृष्ण को देखते ही भय के कारण वह कालगत होकर धरती पर गिर पड़ा। श्रीकृष्ण ने उसे देखा और क्रोध में आकर चांडालों को आदेश दिया—'इसने मेरे सहोदर को अकाल में ही मौत के घाट उतारा है अतः इसके शरीर की दुर्दशा करो और उस स्थान को पानी से साफ करो। श्रीकृष्ण ने उसके परिवार का सर्वस्व हरण कर लिया और पुत्रों को भी अपने अधीन कर लिया।'

१३. त्वक् विष से आयुष्य-भेद

चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त मर गया तब उसके पुत्र ने ब्रह्मदत्त की स्त्रीरत्न से कहा—'मेरे साथ सहवास करो।' वह बोली—'तुम मेरे स्पर्श को सहन नहीं कर सकोगे।' उसे विश्वास नहीं हुआ। उसे विश्वास

१. हाटी और मटी के अनुसार भय के कारण सोमिल ब्राह्मण के सिर के टुकड़े-टुकड़े हो गए।

२. आवनि. ४३७, आवचू. १ पृ. ३५५-३६६, हाटी. १ पृ. १८२, मटी. प. ३५६-३५९।

दिलाने हेतु एक अश्व लाया गया। स्त्री रत्न ने उस अश्व का मुंह से लेकर कटि तक स्पर्श किया। वह अश्व पिघल कर शुक्र क्षय के कारण मृत्यु को प्राप्त हो गया। फिर भी पुत्र को विश्वास नहीं हुआ तब लोहमय पुरुष का निर्माण किया गया। स्त्रीरत्न ने उस लोहमय पुरुष का आलिंगन किया। वह तत्काल पिघलकर विलीन हो गया।^१

९४. आचार्य वज्र का इतिवृत्त

व्रजस्वामी पूर्वभव में वैश्रमण इन्द्र के सामानिक देव थे। भगवान् वर्द्धमान स्वामी पृष्ठचंपा नगरी के सुभूमिभाग उद्यान में समवसृत हुए। उस नगरी का राजा शाल तथा युवराज महाशाल था। उनकी भगिनी यशोमती के पति का नाम पिठर और पुत्र का नाम गागली था। शाल भगवान् के समवसरण में गया। धर्म सुनकर वह बोला—‘भगवन्! मैं युवराज महाशाल का राज्याभिषेक कर आपके पास प्रव्रज्या ग्रहण करूंगा।’ वह अपने राजप्रासाद में आकर महाशाल से बोला—‘तुम राजा बन जाओ। मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूंगा।’ महाशाल ने कहा—‘राजन्! जैसे आप यहां हमारे मेढीभूत हैं, वैसे ही प्रव्रजित होने पर भी होंगे। मैं भी आपके साथ प्रव्रजित होना चाहता हूँ।’ तब कांपिल्यपुर से गागली को बुलाकर उसका राज्याभिषेक कर दिया गया। उसकी माता यशोमती कांपिल्यपुर में ही थी। उसके पिता पिठर भी वहीं थे। राजा बनते ही गागली ने उनको पृष्ठचंपा नगरी में बुला लिया। उसने दो दीक्षार्थियों के लिए हजार पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली दो शिविकाएं बनवाईं। वे दोनों प्रव्रजित हो गए। भगिनी यशोमती भी श्रमणोपासिका बन गई। उन दोनों ने मुनि बनकर ग्यारह अंगों का अध्ययन कर लिया।

एक बार भगवान् राजगृह में समवसृत हुए। वहां से वे चंपा नगरी की ओर जाने लगे। तब शाल और महाशाल—दोनों मुनियों ने भगवान् से पूछा—‘हम पृष्ठचंपा नगरी जाना चाहते हैं। वहां कोई सम्यक्त्व-लाभ कर सकता है अथवा कोई दीक्षित हो सकता है।’ भगवान् ने जान लिया कि वहां कुछ लोग प्रतिबुद्ध होंगे। भगवान् ने उनके साथ गौतमस्वामी को भेजा। भगवान् चंपा नगरी में पधारे। गौतमस्वामी भी पृष्ठचंपा गए। समवसरण में गागली, पिठर और यशोमती ने दर्शन किए। उनमें परम वैराग्य का उदय हुआ। धर्म सुनकर गागली अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर माता-पिता के साथ दीक्षित हो गया। गौतमस्वामी उनको साथ ले चंपा नगरी की ओर प्रस्थित हुए। उनको चंपा नगरी की ओर जाते देखकर शाल-महाशाल को बहुत हर्ष हुआ। उन्होंने सोचा, ‘संसार से इनका उद्धार हो गया। तदनन्तर शुभ अध्यवसाय में प्रवर्तमान उन दोनों को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।’ इधर गौतमस्वामी के साथ जाते हुए तीनों ने सोचा—‘शाल-महाशाल ने हमें राज्य दिया। फिर हमें धर्म में स्थापित कर संसार से मुक्त होने का अवसर दिया।’ इस प्रकार के चिन्तन से शुभ अध्यवसायों में प्रवर्तन करते हुए तीनों को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। केवली अवस्था में वे चंपा नगरी पहुंचे। भगवान् को प्रदक्षिणा और तीर्थ को नमस्कार कर वे केवली-परिषद् की ओर गए। गौतमस्वामी भी भगवान् को प्रदक्षिणा दे उनके चरणों में वंदना करके उठे और तीनों से कहा—‘कहां जा रहे हो? आओ, भगवान् को वंदना करो।’ भगवान् बोले—‘गौतम! केवलियों की आशातना मत करो।’ तब गौतमस्वामी ने मुड़कर उनसे क्षमायाचना की। उनका संवेग बढ़ा। उन्होंने सोचा—‘बस, मैं अकेला ही सिद्ध नहीं हो सकूंगा।’

१. आवनि. ४३८, आवचू. १ पृ. ३६६, हाटी. १ पृ. १८३, मटी. प. ३५९, ३६०।

‘जो अष्टापद पर्वत पर चढ़कर धरणीगोचर चैत्यों की वंदना करेगा, वह उसी भव में सिद्ध हो जाएगा।’ इस बात को देवता एक-दूसरे को कहते थे। यह बात सुनकर गौतमस्वामी ने सोचा—‘अच्छा है, मैं भी अष्टापद पर्वत पर आरोहण करूँ।’ भगवान् ने गौतम के हृदयगत भावों को जान लिया और यह भी जान लिया कि वहां तापस प्रतिबुद्ध होंगे और इसका चित्त भी स्थिर हो जाएगा। वे बोले—‘गौतम! तुम अष्टापद के चैत्यों की वंदना करने जाओ।’ यह सुनकर गौतम बहुत प्रसन्न हुए और अष्टापद की ओर चल पड़े। अष्टापद पर्वत पर तीन तापस कौंडिन्य, दत्त और शैवाल अपने पांच सौ-पांच सौ शिष्य परिवार के साथ रहते थे। उन्होंने जनश्रुति से गौतम की बात सुनी और सोचा—‘हम भी अष्टापद पर्वत पर आरोहण करें।’ कौंडिन्य तापस और उसके पांच सौ शिष्य उपवास करते और पारणे में सचित्त कंद-मूल खाते थे। उन्होंने अष्टापद पर चढ़ने का प्रयास किया। वे पर्वत की प्रथम मेखला तक ही चढ़ पाए।

दत्त तापस अपने शिष्य परिवार के साथ बेलें-बेलें की तपस्या करता था और पारणक में वृक्ष से नीचे गिरे सड़े, गले और पीले पत्तों को खाता था। उसने भी अष्टापद पर चढ़ने का प्रयत्न किया परन्तु वह दूसरी मेखला तक ही चढ़ पाया। शैवाल तापस अपने शिष्यों के साथ तेलें-तले की तपस्या करता और पारणक में केवल म्लान शैवाल को ही खाता था। वह भी अष्टापद की तीसरी मेखला तक ही आरोहण कर पाया।

इधर भगवान् गौतमस्वामी पर्वत पर चढ़ रहे थे। उनका शरीर अग्नि, तडित् रेखा और दीप्त सूर्य की भांति तेजस्वी और सुंदर था। तापसों ने उन्हें आते देखकर व्यंग्य में कहा—‘देखो! यह स्थूलशरीरी श्रमण अब अष्टापद पर्वत पर चढ़ेगा। हम महातपस्वी हैं, हमारा शरीर दुर्बल और शुष्क है। हम भी पर्वत पर नहीं चढ़ पाए तो भला यह कैसे चढ़ पाएगा?’

भगवान् गौतम जंघाचारणलब्धि से संपन्न थे। वे मकड़ी के जाल के तंतुओं के सहारे भी ऊपर चढ़ सकते थे। तापसों ने देखा, गौतम आए और देखते-देखते अदृश्य हो गए। वे पर्वत पर चढ़ गए। तीनों तापस उनकी प्रशंसा करने लगे और वहीं खड़े-खड़े आश्चर्यचकित होकर देखने लगे। उन्होंने सोचा, जब ये पर्वत से नीचे उतरेंगे, तब हम सब इनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेंगे।

गौतमस्वामी वहां चैत्यों की वंदना कर उत्तर-पूर्व दिग्भाग में अशोकवृक्ष के नीचे पृथ्वीशिलापट्टक पर रात बिताने के लिए आए और वहां स्थित हो गए। शक्र का लोकपाल वैश्रमण भी अष्टापद के चैत्यों की वंदना करने आया। चैत्यों की वंदना कर वह गौतमस्वामी को वंदना करने पहुंचा। गौतमस्वामी ने धर्मकथा करते हुए उसे अनगर के गुण बतलाते हुए कहा—‘मुनि अंत और प्रान्त आहार करने वाले होते हैं।’ वैश्रमण ने सोचा—‘ये भगवान् अनगरों के ऐसे गुण बता रहे हैं लेकिन इनके शरीर की जैसी सुकुमारता है, वैसी देवताओं में भी नहीं है।’ गौतम ने वैश्रमण के मनोगत भाव जानकर पुंडरीक अध्ययन का प्ररूपण करते हुए बताया—‘पुंडरीकिनी नगरी में पुंडरीक राजा राज्य करता था। उसके युवराज का नाम कंडरीक था। युवराज कंडरीक दुर्बलता के कारण आर्त, दुःखार्त था। वह मर कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ। पुंडरीक शरीर से हृष्ट-पुष्ट और बलवान् था। वह मरकर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुआ। इसलिए देवानुप्रिय! दुर्बलत्व या सबलत्व गति में अकारण है। इनमें ध्याननिग्रह ही परम प्रमाण है।’ तब वैश्रमण ने सोचा—‘अहो! भगवान् गौतम ने मेरे हृदयगत भावों को जान लिया।’ वह वैराग्य से भर गया और वंदना करके लौट

गया। वैश्रमण देव के एक सामानिक देव का नाम जृंभक था। उसने उस पुंडरीक अध्ययन का पांच सौ बार पारायण किया। इससे उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

दूसरे दिन गौतम चैत्य-वंदन कर अष्टापद पर्वत से नीचे उतरे। वे तापस गौतम के पास आकर बोले—‘आप हमारे आचार्य हैं, हम सब आपके शिष्य।’ गौतम बोले—‘मेरे और तुम्हारे आचार्य हैं—त्रिलोकगुरु भगवान् महावीर।’ तापस बोले—‘आपके भी कोई दूसरे आचार्य हैं?’ तब गौतम ने भगवान् महावीर के गुणों की स्तुति की। गौतम ने उनको प्रव्रजित कर दिया। देवताओं ने उनके लिए साधु के वेश प्रस्तुत किए। सभी गौतम स्वामी के साथ चले। चलते-चलते भिक्षावेला हो गई। गौतम ने पूछा—‘पारणक में क्या लाएं?’ तापस बोले—‘पायस।’ भगवान् गौतम भिक्षा लेने गए। वे सभी लब्धियों से परिपूर्ण थे। वे घृतमधुसंयुक्त पायस से पात्र भरकर लाए और अपनी अक्षीणमहानस लब्धि से एक पात्र पायस से सबको पारणा करा दिया। फिर स्वयं ने भी पारणा किया। सभी पूर्ण तृप्त हो गए। शैवाल खाने वाले पांच सौ तापसों को गौतम स्वामी की इस लब्धि को देखकर केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। दत्त तापस और उसके शिष्यों को भगवान् महावीर के छत्रातिछत्र अतिशय देखकर केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। भगवान् के साक्षात् दर्शन कर कौंडिन्य और उसके शिष्यों को भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया। गौतम स्वामी आगे चल रहे थे। शेष सभी उनके पीछे चल रहे थे। सभी ने भगवान् को प्रदक्षिणा दी और जो केवली थे, वे केवली-परिषद् की ओर जाने लगे। गौतम स्वामी ने कहा—‘आओ, पहले भगवान् को वंदना करो।’ तब भगवान् महावीर बोले—‘गौतम! केवलियों की आशातना मत करो।’ गौतम भगवान् की ओर मुड़े और मिच्छामि दुक्कडं किया। भगवान् गौतम को गहरी अधृति हो गई। भगवान् महावीर ने तब कहा—‘देवता का वचन ग्राह्य है अथवा जिनेश्वर देव का?’ गौतम बोले—‘जिनेश्वर देव का।’ भगवान् ने कहा—‘तब तुम अधृति क्यों कर रहे हो?’ भगवान् ने तब चार प्रकार के कटों की बात कही। चार प्रकार के कट होते हैं—शुंबकट, विदलकट, चर्मकट और कंबलकट। इसी प्रकार शिष्य भी चार प्रकार के होते हैं—शुंबकट के समान, विदलकट के समान, चर्मकट के समान तथा कंबलकट के समान। गौतम! तुम मेरे कंबलकट के सदृश शिष्य हो। तुम मेरे चिर-संसृष्ट और चिर-परिचित हो। अंत में हम दोनों समान हो जायेंगे। तब भगवान् ने गौतमस्वामी की निश्रा में द्रुमपत्रक अध्ययन की प्रज्ञापना की।

इधर वैश्रमण सामानिक देव वहां से च्युत होकर अवन्ती जनपद में तुंबवन सन्निवेश में धनगिरि नामक श्रेष्ठी के घर में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। धनगिरि प्रव्रज्या ग्रहण करने को इच्छुक था। उसके माता-पिता निषेध करते थे। जहां-जहां माता-पिता उसके विवाह की बात करते, वहां-वहां वह उन कन्याओं को यह कह कर विपरिणत कर देता कि वह दीक्षा लेगा। उसी नगर में सेठ धनपाल की पुत्री सुनन्दा ने पिता से कहा—‘मैं धनगिरि के साथ विवाह करूंगी।’ पिता ने उसका विवाह कर दिया। उसका भाई आर्य समित आचार्य सिंहगिरि के पास पहले ही दीक्षित हो गया था। वैश्रमण का यह सामानिक देव देवलोक से च्युत होकर सुनन्दा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। तब धनगिरि ने सुनन्दा से कहा—‘इस गर्भ में उत्पन्न पुत्र के कारण तुम दो हो जाओगी, अकेली नहीं रहोगी।’ यह कहकर धनगिरि सिंहगिरि आचार्य के पास दीक्षित हो गया।

गर्भ के नौ मास बीते। सुनन्दा ने बालक का प्रसव किया। वहां आने वाली महिलाएं कहने लगीं—‘यदि इस बालक के पिता प्रव्रजित नहीं होते तो अच्छा होता।’ बालक ने जब यह सुना कि उसका पिता

प्रव्रजित हो गया है तो वह चिंतन की गहराई में उतरा। उसे जातिस्मृति ज्ञान की प्राप्ति हो गई। अब वह रात-दिन रोने लगा। उसने सोचा—‘यदि निरंतर रोता रहूंगा तो परिवार के लोगों को मेरे से विरक्ति हो जाएगी, तब मुझे प्रव्रज्या लेने में सुविधा होगी।’ इस प्रकार छह मास बीत गए।

एक बार आचार्य उस नगरी में आए। तब मुनि आर्यसमित और धनगिरि ने आचार्य से पूछा—‘भंते! हम दोनों ज्ञातिजनों को दर्शन देने जाते हैं, आप आज्ञा प्रदान करें।’ पक्षी की आवाज सुनकर आचार्य बोले—‘आज महान् लाभ होगा। तुम्हें सचित्त या अचित्त—जो भी मिले, वह ले आना।’ वे दोनों गए। लोग उन्हें बुरा-भला कहकर पीड़ित करने लगे। बालक छह महीनों से रो रहा था। मां अत्यंत दुःखी थी। अन्य स्त्रियों ने सुनन्दा से कहा—‘इस बालक को मुनियों के समक्ष रख दो।’ सुनन्दा बोली—‘महाराज! मैंने इतने दिनों तक इसकी अनुपालना की, अब आप इसकी संभाल करें।’ मुनि बोले—‘बाद में तुम्हें पश्चात्ताप न हो।’ मुनियों ने दूसरे को साक्षी रखकर उस छह महीने के बालक को चोलपट्टे की झोली बनाकर उसमें ले लिया। बालक ने रोना बंद कर दिया। वे दोनों मुनि आचार्य के पास आए। भाजन भारी है, यह सोचकर आचार्य ने हाथ पसारे। उन्होंने झोली आचार्य के हाथ में दी। भार के कारण हाथ भूमि पर जा टिका। आचार्य बोले—‘प्रतीत होता है कि इसमें वज्र है।’ फिर देखा कि उसमें देवकुमारसदृश एक बालक है। बालक को देखकर आचार्य ने कहा—‘इसका संरक्षण करो। यह भविष्य में जिन-प्रवचन का आधार होगा।’ उसका नाम ‘वज्र’ रखा गया। आचार्य ने बालक साध्वियों को सौंप दिया। उन्होंने शय्यातर को दे दिया। शय्यातर जैसे अपने बालकों को स्नान कराता, मंडन करता, दूध पिलाता वैसे ही सबसे पहले बालक वज्र की सार-संभाल करता। जब बालक को शौच जाना होता तो बालक कुछ संकेत करता अथवा चिल्लाता। इस प्रकार वह बड़ा होने लगा। बालक को प्रासुक-प्रतिकार इष्ट था। साधु वहां से विहार कर अन्यत्र चले गए। सुनन्दा ने शय्यातर से अपना पुत्र मांगा। शय्यातर ने बालक को देने से यह कहकर इन्कार कर दिया कि वह अमुक द्वारा दिया गया है अतः यह हमारा निक्षेपक है, धरोहर है। सुनन्दा वहां आकर रोज उसे स्तनपान कराती। इस प्रकार वह बालक तीन वर्ष का हो गया।

एक बार मुनि विहार करते हुए वहां आए। राजकुल में बालक विषयक विवाद पहुंचा। शय्यातर ने राजा से कहा—‘इन साध्वियों ने मुझे यह बालक सौंपा है।’ सारा नगर सुनन्दा के पक्ष में था। वह बहुत सारे खिलौने लेकर वहां उपस्थित हुई। राजा के समक्ष इस विवाद का निबटारा होना था। राजा पूर्वाभिमुख होकर बैठा। उसके दक्षिण दिशा में मुनि तथा वामपार्श्व में सुनन्दा और उसके पारिवारिक जन बैठ गए। राजा ने कहा—‘ममत्व से प्रेरित होकर यह बालक जिस ओर जाएगा, वह उसी का होगा।’ सभी ने इस बात को स्वीकार किया। पहले कौन बुलाए—इस प्रश्न पर राजा ने कहा—‘धर्म का आदि है पुरुष इसलिए पहले पुरुष बुलाए। तब नागरिकों ने कहा—‘यह इनके परिचित है, इसलिए अच्छा हो कि पहले माता बुलाए क्योंकि मां दुष्करकारिका तथा कोमलांगी होती है।’ मां आगे आई। उसके हाथ में अश्व, हाथी, रथ, वृषभ आदि खिलौने थे। वे मणि, सोना, रत्न आदि से जटित थे। वे सभी खिलौने बालक को लुभाने वाले थे। उन्हें दिखाती हुई मां सुनन्दा ने बालक की ओर देखकर कहा—‘आओ, वज्रस्वामी!’ यह सुनकर बालक उस ओर देखता रहा। उसने मन ही मन जान लिया कि यदि मैं संघ की अवमानना करता हूं तो

दीर्घसंसारी बनूंगा। अन्यथा मां भी प्रव्रजित होगी। यह सोचकर मां के द्वारा तीन बार बुलाने पर भी बालक वज्र मां की ओर नहीं गया। तब मुनि बने हुए पिता ने कहा—‘यदि तुमने प्रव्रज्या का मन बना लिया है तो वज्र! इस ऊपर उठाए हुए धर्मध्वज रजोहरण को आकर ले लो। यह कर्मरूपी रजों का अपहरण करने वाला है।’ बालक वज्र तत्काल आगे आया और शीघ्रता से उसने रजोहरण को ग्रहण कर लिया। लोगों ने ‘धर्म की जय हो’ कहकर जोर से जयनाद किया। तब माता सुनन्दा ने सोचा—‘मेरा भाई, पति और पुत्र तीनों— प्रव्रजित हो गए। मैं अकेली घर में क्यों रहूँ?’ यह सोचकर वह भी प्रव्रजित हो गई।

बालक वज्र ने जब स्तनपान करना छोड़ दिया, तब साध्वियों ने उसे प्रव्रज्या दे दी। वह साध्वियों के पास ही रहने लगा। ग्यारह अंग का पाठ करती हुई साध्वियों से उसने ग्यारह अंग सुने। सुनने मात्र से वह उनका ज्ञाता हो गया।

मुनि वज्र पदानुसारी लब्धि से सपन्न थे। जब बालक मुनि वज्र आठ वर्ष के हुए तब साध्वियों के स्थान से वे आचार्य के पास आकर रहने लगे। आचार्य उज्जयिनी गए। वहां उस समय एकधार वर्षा बरस रही थी। उस समय आर्य वज्र के पूर्व मित्र जृंभक देव ने उस ओर जाते हुए वज्र को देखा। वे वज्र की परीक्षा करने के लिए वणिक् का रूप बनाकर आए और बैलों से समान उतार कर रसोई बनाने लगे। जब रसोई बन गई तब उन्होंने आर्य वज्र को भिक्षा के लिए निमंत्रित किया। वे भिक्षा के लिए निकले परन्तु पानी के फुहारे गिर रही थीं अतः वे लौट गए। फुहारे रुकी। वणिक् बंधुओं ने भिक्षा के लिए पुनः कहा। वज्र जब भिक्षा हेतु वहां गए तो उन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भिक्षा के लिए उपयोग लगाया। उन्हें प्रतीत हुआ कि द्रव्यतः पुष्प-फल आदि, क्षेत्रतः उज्जयिनी, कालतः प्रथम वर्षाकाल और भावतः वे वणिक् धरणिस्पर्श रहित खड़े थे तथा उनके नयन निमेष से रहित थे। आर्य वज्र ने जान लिया ये मनुष्य नहीं, देव हैं। उन्होंने उनसे भिक्षा लेने का निषेध कर दिया। देवता तुष्ट होकर बोले—‘हम तो तुमको देखने आए थे।’ देवताओं ने तुष्ट होकर आर्य वज्र को वैक्रिय विद्या दी।

एक बार आर्य वज्र जेठ के महीने में संज्ञाभूमि में गए। वहां भी देवों ने गृहस्थ का रूप बनाकर घेवर लेने के लिए उन्हें निमंत्रित किया। वहां भी आर्य वज्र ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में उपयुक्त होकर यथार्थ जान लिया और भिक्षा लेने से इन्कार कर दिया। देवों ने तब प्रसन्न होकर उन्हें आकाशगामिनी विद्या दी। इस प्रकार आर्य वज्र विचरण करने लगे। उन्होंने पदानुसारी लब्धि से जैसे-तैसे जो ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया था, वह ज्ञान मुनियों के मध्य स्थिर हो गया। वहां जो मुनि पूर्वगत पढ़ रहे थे, वह ज्ञान भी आर्य वज्र ने कर लिया। इस प्रकार उन्होंने बहुत ज्ञान प्राप्त कर लिया। जो ज्ञान गृहीत था, उसे वे बार-बार प्रत्यावर्तन करते और नया सुनते रहते।

एक बार मुनि भिक्षा के लिए चले गए। मध्याह्न का समय था। आचार्य संज्ञाभूमि के लिए गए। आर्य वज्र मूल उपाश्रय में ही रहे। उन्होंने अन्यान्य साधुओं के कंबलों की मंडली बनाकर सामने रख दी और स्वयं मध्य में बैठकर वाचना देने लगे। वाचना की परिपाटी में ग्यारह अंगों तथा पूर्वगत की वाचना देने लगे। आचार्य संज्ञाभूमि से लौटे। भीतर से आने वाली गुनगुनाहट को सुनकर आचार्य ने सोचा—‘भिक्षा के लिए निर्गत मुनि शीघ्र ही लौट आए हैं।’ भीतर से आने वाले शब्दों को सुनते हुए आचार्य बाहर ही ठहर गए। शब्द ऐसे गंभीर थे मानो मेघ मंद-मंद गर्जन कर रहे हों। आचार्य ने आर्य वज्र की आवाज को पहचान

लिया। तब उन्होंने बाढस्वर से 'निस्सिही, निस्सिही' शब्द करते हुए भीतर की ओर प्रवेश किया। शब्द सुनते ही आर्य वज्र आसन से उठे। आचार्य को शंका न हो इसलिए शीघ्रता से उन कंबलों को उठाकर यथास्थान रख दिया। आगे आकर उन्होंने आचार्य के हाथ में स्थित दंड को ग्रहण कर उनके पैरों की प्रमार्जना की। आचार्य ने सोचा—'अन्यान्य मुनि आर्य वज्र का पराभव न करें, इसलिए मैं इनको ज्ञापित कर दूँ।' रात्रि में आचार्य ने कहा—'मैं अमुक गांव जा रहा हूँ। वहां दो-तीन दिन रहूंगा।' तब योगप्रतिपन्न मुनियों ने पूछा—'हमारे वाचनाचार्य कौन होंगे?' आचार्य ने कहा—'वज्र वाचनाचार्य होगा।' मुनियों ने विनीत भाव से तहत् कहकर इसे स्वीकार कर लिया और सोचा आचार्य ही हमारे प्रमाण हैं।

आचार्य विहार कर गए। प्रातःकाल मुनियों ने वसति की प्रतिलेखना की और वसति का काल-निवेदन आदि भी आर्यवज्र के समक्ष किया। मुनियों ने उनके लिए निषद्या की रचना की। आर्य वज्र उस निषद्या पर आकर बैठ गए। वे सभी मुनि आचार्य की भांति उनके प्रति विनय करने लगे। तब आर्य वज्र अनुक्रम से सभी मुनियों को व्यक्त शब्दों से आलापक देने लगे। जो मुनि मंदबुद्धि थे, वे भी उन प्रदत्त आलापकों को शीघ्र प्रस्थापित करने लगे। वे सब विस्मित हो गए। जो पूर्वपठित आलापक ज्ञात था, उसे भी सम्यग् विन्यास के लिए उन्होंने आर्यवज्र से पूछा। आर्यवज्र ने पूरा आलापक अच्छी तरह से समझाया। तब वे मुनि संतुष्ट होकर आपस में बोले—'ये बालक होकर भी प्रौढ़ हैं। यदि आचार्यवर कुछ दिन और उसी गांव में रहें तो हमारा यह श्रुतस्कंध शीघ्र समाप्त हो जाएगा। आचार्य के पास जिस श्रुतस्कंध को चिर परिपाटी से हम ग्रहण करते थे, उसे आर्यवज्र ने एक पौरुषी में संपन्न कर दिया। इस प्रकार आचार्य वज्र सभी मुनियों के लिए बहुमान्य हो गए। आचार्य ने मुनियों से पूछा—'स्वाध्याय कर लिया? इसने वाचना कैसी दी?' मुनि बोले—'हां, अब आर्य वज्र ही हमारे वाचनाचार्य हों। अवशेष ज्ञान भी हम आर्यवज्र से करना चाहते हैं।' आचार्य ने कहा—'अब यही तुम्हारे वाचनाचार्य होंगे। इनका कहीं तुम पराभव न कर दो, इसलिए बहाना बनाकर मैं दूसरे गांव गया था।' आर्यवज्र अभी कल्पिक नहीं हुए हैं। इन्होंने सारा ज्ञान कानों से सुनकर ग्रहण किया है इसलिए इसका उत्सारकल्प करना चाहिए। आचार्य ने शीघ्र ही उनका उत्सारकल्प करवा दिया। दूसरे ग्रहर में अर्थ की वाचना दी। अब यह उभयकल्प योग्य है। जो अर्थ आचार्य के लिए शंकित थे, उन अर्थों को भी आर्यवज्र ने स्पष्ट किया। आचार्य जितना दृष्टिवाद जानते थे, आर्यवज्र ने उतना ग्रहण कर लिया।

वे विहार करते हुए दशपुर नगर में गए। उज्जयिनी में भद्रगुप्त नाम के आचार्य स्थविरकल्प में स्थित थे। वे दृष्टिवाद के ज्ञाता थे। आचार्य ने आर्यवज्र के साथ दो मुनियों को भेजा। वे आचार्य भद्रगुप्त के पास दृष्टिवाद का ज्ञान लेने के लिए गए। उस दिन आचार्य भद्रगुप्त ने एक स्वप्न देखा कि मेरा पात्र दूध से भरा हुआ है। एक आगंतुक आया और सारा दूध पीकर आश्वस्त हो गया। प्रातः आचार्य ने साधुओं को स्वप्न की बात बताई। उन्होंने इसका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से लगाया। गुरु बोले—'तुम नहीं जानते। आज एक प्रतीच्छक (अन्य गच्छ का शिष्य) आयेगा। वह सारा सूत्र और अर्थ ग्रहण करेगा।' स्थविर आचार्य भद्रगुप्त प्रतिश्रय के बाहर आकर बैठ गए। उन्होंने आर्य वज्र को आते देखा। आर्यवज्र के विषय में उन्होंने पहले से सुन रखा था। वे उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए। आते ही उन्होंने उसे बांहों में भर लिया। आर्य वज्र ने आचार्य

के पास दस पूर्व पढ़ लिए। उन्होंने आचार्य से वाचना के लिए अनुज्ञा ली। आचार्य ने कहा—‘जहां उद्दिष्ट किया है, वहीं अनुज्ञा लो।’ तब वे मुनियों के साथ दशपुर नगर लौट आए। वहां उन्होंने अनुज्ञा प्रारंभ की। जृम्भक देव अनुज्ञा की उपस्थापना करते हुए दिव्य पुष्प और चूर्ण वहां ले आए।

आचार्य सिंहगिरि ने गण का दायित्व वज्र स्वामी को देकर, स्वयं भक्तप्रत्याख्यान अनशन स्वीकार कर लिया और दिवंगत हो गए। आचार्य वज्र पांच सौ शिष्यों के साथ विहरण करने लगे। वे जहां भी जाते, उनका यशोगान होता। लोग कहते—‘अहो! भगवान् आ गए। भगवान् आ गए।’ वे भव्यजनों को प्रतिबोध देते हुए विहरण करने लगे।

पाटलिपुत्र नगर में धन नामक सेठ रहता था। उसकी पुत्री अत्यंत रूपवती थी। एक बार उसकी यानशाला में साध्वियां ठहरीं। वे परस्पर आर्य वज्र की गुणगाथाएं कहने लगीं। स्वभावतः लोग कामितकामुक होते हैं अतः श्रेष्ठीपुत्री ने सोचा—‘यदि आर्य वज्र मेरे पति हो जाएं तो मैं भोग भोगूंगी, अन्यथा भोगों से मुझे क्या?’ उसकी मंगनी के लिए अनेक युवक आते परन्तु वह प्रतिषेध करती रही। साध्वियों ने उसको कहा कि आर्य वज्र तो प्रव्रजित हैं, वे विवाह नहीं करेंगे। वह बोली—‘यदि वे विवाह नहीं करेंगे तो मैं भी प्रव्रजित हो जाऊंगी।’ आर्य वज्र विहरण करते हुए पाटलिपुत्र में आए। वहां का राजा अपने परिवार के साथ तत्परता से गुरुवन्दन के लिए अपने आवास से निकला। साधुओं के समूह एक-एक कर आने लगे। एक साधु की सुंदरता को देखकर राजा ने पूछा—‘क्या ये भगवान् वज्रस्वामी हैं?’ लोग बोले—‘नहीं, यह तो उनका शिष्य है।’ अन्तिम समूह आया। कुछ साधुओं के साथ वज्रस्वामी को देखा। लोगों ने कहा कि ये आचार्य हैं। आचार्य इतने सुंदर नहीं थे।

राजा ने उनको वंदना की। आचार्य वज्र उद्यान में ठहरे और प्रवचन किया। वे क्षीरास्रवलब्धि से संपन्न थे। राजा का मन उन्होंने जीत लिया। राजा ने अन्तःपुर में आचार्य के विषय में कहा तो सभी रानियां बोलीं—‘हम भी चलेंगी प्रवचन सुनने।’ पूरा अन्तःपुर दर्शनार्थ गया। उस श्रेष्ठीपुत्री ने लोगों से सब बात सुनी तो वह सोचने लगी—‘मैं भगवान् वज्र को कैसे देख पाऊंगी?’ दूसरे दिन उसने अपने पिता से कहा—‘आप मुझे वज्रस्वामी को दे देवें, अन्यथा मैं मर जाऊंगी?’ पिता उसे सर्वालंकार से भूषित कर, अनेक धनकोटियों को साथ ले घर से निकला। आचार्य ने धर्म का प्रवचन किया। क्षीरास्रवलब्धिसंपन्न आचार्य वज्र का प्रवचन सुनकर लोग कहने लगे—‘अहो! भगवान् का स्वर बहुत मधुर है, ये सर्वगुणसंपन्न हैं। यदि रूप-संपन्नता होती तो सर्वगुणसंपन्न होते।’

आर्य वज्र ने लोगों के मानसिक भाव जान लिए। उन्होंने लक्षपत्रवाले कमल की विकुर्वणा की और उस पर बैठ गए। उन्होंने अपना बहुत सौम्य रूप बनाया। अब वे परम देव के सदृश दिखने लगे। लोगों ने लौटकर देखा और कहा—‘यह उनका स्वाभाविक रूप है। मैं किसी के लिए प्रार्थनीय न बनूं इसलिए ये विरूप रूप बनाकर रहते हैं। ये अतिशयशाली हैं।’ राजा ने भी देखकर कहा—‘अहो! भगवान् की ऐसी शक्ति भी है।’ आर्यवज्र ने अनगारगुणों का वर्णन करते हुए कहा—‘अनगार असंख्येय द्वीप-समुद्रों की विकुर्वणा कर आकीर्ण-विप्रकीर्ण करने में समर्थ होता है।’ भगवान् ने उसी रूप में धर्म-प्रवचन किया। सेठ

ने उन्हें निमंत्रण दिया। आर्यवज्र ने इन्द्रियों के विषय-सेवन की निन्दा की और श्रेष्ठीपुत्री से कहा—‘यदि तुम मुझे चाहती हो तो प्रव्रजित हो जाओ।’ वह प्रव्रजित हो गई।

आर्यवज्र ने पदानुसारी विद्या के आधार पर विस्मृत महापरिज्ञा अध्ययन (आचारांग, प्रथमश्रुतस्कंध का सातवां अध्ययन) से आकाशगामिनी विद्या का उद्धार किया। वे आकाश में गमनागमन करने में समर्थ हो गए। इस विद्या से जंबूद्वीप में जाया जा सकता है और मानुषोत्तर पर्वत पर ठहरा जा सकता है। उन्होंने कहा—‘मैं इस विद्या का उपयोग प्रवचन के उपकार के लिए करूंगा। अब मनुष्य अल्पवृद्धि वाले होंगे अतः मैं उनको यह विद्या नहीं दूंगा।’

अनेक विद्याओं के धारक आचार्य वज्र विहार करते हुए पूर्वदेश से उत्तरापथ की ओर गए। वहां दुर्भिक्ष की स्थिति आ गई। सारे मार्ग व्युच्छिन्न हो गए। सम्पूर्ण संघ एकत्रित होकर आचार्य वज्र के पास आकर बोला—‘भंते! हमारा निस्तार करें।’ आचार्य पटविद्या के जानकर थे। उन्होंने एक पट (वस्त्र) पर संघ को बिठाया और वह पट आकाश में उड़ने लगा। उस समय शय्यातर चारा लाने के लिए कहीं गया हुआ था। उसने संघ को आकाश-मार्ग से जाते देखा। तत्काल अपने हासिये से चोटी को काटकर वह बोला—‘भगवन्! मैं भी आपका साधर्मिक हूं।’ तब वह भी इस सूत्र को पढ़ते हुए उसके साथ लग गया—

साहम्मियवच्छल्लमि, उज्जुया उज्जया य सज्झाए।

चरणकरणमि य तहा, तित्थस्स पभावणाए य॥

आचार्य वज्र अपने संघ के साथ पुरिका नगरी में आए। वहां सुभिक्ष और श्रावकों का बाहुल्य था। वहां का राजा बौद्ध धर्म का उपासक था। वहां जैन श्रावकों तथा बौद्ध श्रावकों में माल्यारोहण—मूर्तियों पर फूल चढ़ाने में कोई विवाद चल रहा था। सर्वत्र उपासक पराजित होते थे। तब वहां बौद्ध राजा ने पर्युषणपर्व पर पुष्पों का निवारण कर दिया। श्रावक खिन्न हो गए कि अब पुष्प कहां से लायेंगे? सबालवृद्ध सभी नागरिक वज्रस्वामी के पास पहुंचे और बोले—‘गुरुदेव! अब आप जानें। आपके नाथ तीर्थंकरों के प्रवचन मलिन हो रहे हैं।’ बहुत बार प्रार्थना करने पर आचार्य वज्र आकाश मार्ग से माहेश्वरी नगरी में गए। वहां ‘हुताशन’ व्यंतर का आयतन था। वहां एक कुंभ जितने पुष्प प्रतिदिन प्राप्त होते थे। वहां आचार्य के पिता का मित्र आरामिक था। उसने आचार्य को देखकर संभ्रान्त होकर पूछा—‘आपका यहां आने का प्रयोजन क्या है?’ आचार्य ने कहा—‘पुष्पों को ले जाना ही एक मात्र प्रयोजन है।’ आरामिक बोला—‘आपने बड़ा अनुग्रह किया। मैं बाहर जाकर आ रहा हूं। आपको जितने फूल चाहिए, उतने ले लेवें।’

आर्यवज्र फिर चुल्लहिमवंत पर्वत पर श्री के पास गए। श्री ने चैत्यपूजा के लिए पद्म उखाड़ा। वंदना कर श्री ने आर्य वज्र को निमंत्रित किया। उसे लेकर वे अग्निगृह में आए। वहां उन्होंने एक विमान की विकुर्वणा की और उसमें कुंभ प्रमाण पुष्पों को रखकर जृंभक देवों से परिवृत होकर दिव्य गीतों के साथ आकाशमार्ग से आए। उस कमल के वृत्त पर वज्रस्वामी स्थित थे। तब बौद्ध उपासकों ने कहा—‘यह हमारा प्रातिहार्य है, चमत्कार है।’ वे सभी अर्घ्य लेकर आए। बौद्ध विहार को लांघकर वज्रस्वामी अर्हत् मंदिर में गए। देवताओं ने वहां महिमा की। वहां उन्होंने लोगों का बहुमान प्राप्त किया। राजा भी आया और वह

श्रमणोपासक हो गया। वहां से विहार कर आर्यवज्र आभीर देश में गए।^१

९५. आर्य वज्र का भक्तप्रत्याख्यान

वज्रस्वामी वहां से विहार कर दक्षिणापथ में चले गए। वहां उनके कफाधिक्य का रोग हो गया। एक दिन उन्होंने साधुओं से कहा—‘मेरे लिए सूंठ ले आओ।’ साधु सूंठ का गांठिया लेकर आए। उस समय उन्होंने सूंठ के गांठिए को यह सोचकर कान पर रख दिया कि भोजन के समय इसका उपयोग करूंगा। वे भूल गए। सायंकालीन प्रतिक्रमण के समय मुंहपत्ती से संघट्टित होकर वह गांठिया नीचे गिरा। उन्होंने उपयोग लगाया और सोचा, ‘अहो! मेरे से प्रमाद हो गया। प्रमत्त के संयम नहीं होता। अच्छा है अब मैं भक्तप्रत्याख्यान कर अनशन कर लूं।’ उन्होंने ज्ञान से देखा। उस समय बारह वर्ष का दुर्भिक्ष था। चारों ओर मार्ग छिन्न हो चुके थे। तब वज्रस्वामी विद्याबल से आहतपिंड लाकर साधुओं को देने लगे। उन्होंने साधुओं से कहा—‘बारह वर्षों तक ऐसे ही खाना होगा। भिक्षा प्राप्त नहीं होगी।’ यदि संयम गुणों का उत्सर्पण होता हो तो ऐसा भोजन करें। यदि ऐसा न होता हो तो भक्तप्रत्याख्यान कर लें। तब साधुओं ने कहा—‘ऐसे विद्याबल से आनीत पिंड से हमारा क्या प्रयोजन? हम भक्तप्रत्याख्यान करेंगे।’ आचार्य वज्र को सुभिक्ष का पहले ही पता लग गया था। उन्होंने अपने वज्रसेन नामक शिष्य को यह कहकर भेजा कि जब तुम्हें लाख मूल्य से निष्पन्न भिक्षा मिले तो जान लेना कि दुर्भिक्ष नष्ट हो गया है। उसके बाद आर्यवज्र श्रमणों से परिवृत्त होकर एक पर्वत के पास यह सोचकर गए कि वहां भक्तप्रत्याख्यान करना है। एक क्षुल्लक मुनि को साधुओं ने कहा—‘तुम अन्यत्र चले जाओ।’ वह जाना नहीं चाहता था। तब मुनियों ने उसे एक गांव में ले जाकर विमोहित कर दिया और पर्वत पर भक्तप्रत्याख्यान के लिए तत्पर हो गए। क्षुल्लक मुनि भी उन साधुओं के पदचिह्नित मार्ग से उसी पर्वत तक पहुंच गया। साधुओं को मेरी ओर से असमाधि न हो इसलिए वह उसी पर्वत की तलहटी पर पादपोषगमन अनशन में स्थित हो गया। जैसे ताप से नवनीत पिघल जाता है, वैसे ही वह क्षुल्लक मुनि भी शीघ्र ही कालगत हो गया। देवताओं ने महिमा की। तब आचार्य वज्र ने कहा—‘क्षुल्लक मुनि ने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया है।’ साधुओं ने जब यह सुना तो उनके मन में द्विगुणित श्रद्धा—संवेग उदित हुआ। उन्होंने कहा—‘उस मुनि ने बालक होते हुए भी अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया तो क्या हम उससे सुंदरतर नहीं कर सकेंगे?’ वहां एक देवता प्रत्यनीक था। उसने श्राविका का रूप बनाया और साधुओं को भक्तपान ग्रहण करने के लिए निमंत्रण दिया। उसने कहा—‘आज मेरे पारणक का दिन है अतः आप भिक्षा की कृपा करें।’ तब आचार्य ने जान लिया कि यह भक्तपान अकल्पनीय है। वहीं निकट में एक दूसरा पर्वत था। मुनि वहां गए। वहां देवता के आह्वान हेतु कायोत्सर्ग किया। देवता ने प्रगट होकर कहा—‘अहो! मेरे पर आपने अनुग्रह किया है। आप यहां ठहरें।’ वहां वे मुनि कालगत हो गए। इन्द्र वहां रथ में आया और प्रदक्षिणा देते हुए वंदना की। उसने तरुवर और तृणों को अवनत कर दिया। आज भी वे वहां उसी अवस्था में हैं। तब से उस पर्वत का नाम रथावर्त हो गया। आर्यवज्र के दिवंगत होने पर अर्द्धनाराचसंहनन तथा दसवां पूर्व व्युच्छिन्न हो गया।

१. आवनि. ४७६/१-९, आवचू. १ पृ. ३८१-३९७, हाटी. १ पृ. १९१-१९७, मटी. प. ३८३-३९१।

आर्यवज्र ने जिस वज्रसेन शिष्य को कार्य हेतु भेजा था, वह घूमता हुआ सोपारक गांव में आया। वहां एक धनाढ्य और तत्त्वज्ञानी श्राविका रहती थी। उसने सोचा—दुर्भिक्ष है अतः कैसे जीवित रहेंगे? कोई आधार नहीं है। इसलिए उसने लक्ष मूल्य वाला भक्तपान निष्पन्न किया और सोचा—यहां हम सदा ऊर्जित जीवन जीते रहे हैं। अब हम यहां इस ऊर्जित देह का पोषण नहीं कर सकते। अब कोई आधार नहीं है अतः इस लक्षमूल्य से निष्पन्न भक्त में विष मिलाकर खा लें और 'नमोक्कार' का जाप करते हुए मृत्यु का वरण कर लें। वे सब यह करने के लिए तत्पर हो गए। वे उस भोजन में विष मिलाने ही वाले थे कि वज्रसेन मुनि घूमता हुआ वहां आ पहुंचा। गृहस्वामिनी ने बहुत प्रसन्न होकर उसे परमान्न की भिक्षा दी। मुनि ने उसे यथार्थ तथ्य बताते हुए कहा—'तुम अनशन मत करो। मुझे वज्रस्वामी ने कहा है कि जब तुम्हें लक्षमूल्य वाली भिक्षा मिलेगी उसके दूसरे दिन सुभिक्ष हो जाएगा। तब तुम प्रव्रज्या ग्रहण कर लेना।' गृहस्वामिनी ने साधु को वहीं रहने के लिए कहा।

इधर उसी दिन प्रवहणों से तन्दुल आ गए। तब सबके लिए जीने का आधार हो गया। वह मुनि वहीं रहा। सुभिक्ष हो गया। वे सभी श्रावक उसके पास प्रव्रजित हो गए। वह मुनि वज्रस्वामी के पद पर आ गया और वज्रस्वामी का शिष्यवंश अवस्थित हो गया।^१

९६. दशपुर नगर की उत्पत्ति

चंपानगरी में कुमारनंदी नामक स्वर्णकार रहता था। वह बहुत स्त्री-लोलुप था। वह जहां-जहां सुरूप कुमारियों को देखता या सुनता तो वह पांच सौ स्वर्ण-मुद्राएं देकर उनके साथ विवाह कर लेता। इस प्रकार उसने पांच सौ ललनाओं के साथ विवाह कर लिया। वह ईर्ष्यालु था। उसने एक स्तंभ वाला विशाल प्रासाद बनवाया और उन सबको वहीं रखा। उनके साथ वह क्रीड़ा करता। नाइल नामक श्रमणोपासक उसका मित्र था। एक बार पंचशैलद्वीप में रहने वाली दो व्यंत्तर देवियां सुरपति के आदेश से नंदीश्वर द्वीप की यात्रा के लिए प्रस्थित हुईं। उनका पति विद्युन्माली देव, जो पंचशैलद्वीप का अधिपति था, वह वहां से च्युत हो गया। तब दोनों व्यंत्तर देवियों ने सोचा कि जो हमारा पति बनने योग्य हो, उसका हम अपहरण कर ले आएं। वे यात्रा पर जा रहीं थीं। जाते-जाते उन्होंने चंपा नगरी में कुमारनंदी को पांच सौ ललनाओं के साथ क्रीड़ा करते देखा। उन्होंने सोचा—'यह स्त्रीलोलुप है, इसका हम अपहरण करें।' जब कुमारनंदी उद्यान में गया तब दोनों देवियां उसके सम्मुख उपस्थित हुईं। उसने पूछा—'तुम कौन हो?' उन्होंने कहा—'हम देवियां हैं।' उनके रूप पर मूर्च्छित होकर वह उनसे कामभोगों की प्रार्थना करने लगा। देवियां बोलीं—'यदि हमारे से कार्य है तो तुम पंचशैल द्वीप में आओ'—यह कहकर दोनों देवियां आकाशमार्ग से चली गईं। कुमारनंदी उनके प्रति अत्यंत आसक्त हो गया। उसने राजकुल में स्वर्ण देकर यह पटह घोषित किया कि कुमारनंदी को जो पंचशैल द्वीप में ले जाएगा उसे वह करोड़ रुपए धन देगा। एक स्थविर नाविक ने पटह को झेला और उसने एक विशेष नौका का निर्माण किया। उसमें आवश्यक भोजन सामग्री रखी। कुमारनंदी ने मूल्य स्थविर नाविक को दे दिया। धन पुत्रों को सौंप वह नाविक यानपात्र से कुमारनंदी के साथ प्रस्थित

१. आवचू. १ पृ. ४०४-४०६, हाटी. १ पृ. २०२, २०३, मटी. प. ३९५, ३९६।

हो गया। वे समुद्र में दूर तक चले गए। आगे जाकर स्थविर ने पूछा—‘भद्र! कुछ देख रहे हो क्या?’ उसने कहा—‘हां, कुछ काला-काला-सा दृष्टिगोचर हो रहा है।’ यानपात्रवाहक स्थविर बोला—‘यह पर्वत के मूल में उत्पन्न समुद्रकूल पर स्थित वटवृक्ष है।’ यह नौका इस वटवृक्ष के नीचे से जाएगी। उस समय तुम जागरूक रहकर उस वटवृक्ष की शाखा को पकड़ लेना। वहां पंचशैल से भारंड पक्षी आयेंगे। वे दो होंगे। उनके तीन-तीन पैर होंगे। जब वे सो जाएं तब मध्य पैर को पकड़ लेना और स्वयं को एक कपड़े से बांध लेना। वे तुमको पंचशैल में ले जाएंगे। यदि तुम उस वृक्ष की शाखा को नहीं पकड़ोगे तो यह यानपात्र वलयमुख में प्रविष्ट होकर नष्ट हो जाएगा।

यानपात्र वटवृक्ष के नीचे पहुंचा। कुमारनंदी ने तत्काल वटवृक्ष की शाखा पकड़ ली। भारंड पक्षियों ने उसे पंचशैल द्वीप पहुंचा दिया। व्यन्तरियों ने उसे देखा, अपनी ऋद्धि दिखाई। कुमारनंदी उनमें गृद्ध हो गया। उन्होंने कहा—‘भद्र! तुम इस शरीर से हमारा उपभोग नहीं कर पाओगे। अग्नि आदि में प्रवेश करो और संकल्प करो कि मैं पंचशैल द्वीप का अधिपति बनूंगा।’ कुमारनंदी बोला—‘अब घर कैसे जाऊं?’ व्यन्तरियों ने उसे करतलपुट पर बिठाकर चंपा नगरी के उद्यान में लाकर छोड़ दिया। लोगों के पूछने पर पंचशैल द्वीप में जो देखा, सुना या अनुभव किया, वह सारा बताने लगा। मित्र के द्वारा निषेध करने पर भी इंगिनीमरण अनशनपूर्वक उसने प्राण त्याग दिए। मरकर वह पंचशैल का अधिपति बना। उसके मित्र श्रावक को विरक्ति हुई कि यह भोगों के लिए कितना कष्ट पाता है। मैं जानता हुआ घर में क्यों रहूं? यह सोचकर वह प्रव्रजित हो गया। मरकर वह अच्युत कल्प में देव बना। अवधिज्ञान से उसने कुमारनंदी को देखा।

एक बार नंदीश्वर द्वीप की यात्रा में गले में पटह डालकर, उसे बजाता हुआ वह नंदीश्वर द्वीप गया। श्रावक देव ने उसे देखा। वह उसका तेज सहन न करता हुआ पलायन करने लगा। श्रावक ने अपने दिव्य तेज का संहरण कर कहा—‘क्या तुम मुझे पहचानते हो?’ वह बोला—‘शक्र आदि इंद्रों को कौन नहीं जानता?’ तब उस देव ने अपना श्रावकरूप बनाया और सारा वृत्तान्त सुनाया। संवेग को प्राप्त कुमारनंदी बोला—‘बताओ अब मैं क्या करूं?’ उसने कहा—‘वर्द्धमान स्वामी की प्रतिमा का निर्माण करो, इससे तुम्हें सम्यक्त्व बीज की प्राप्ति होगी।’ तब उसने महाहिमवान् पर्वत से गोशीर्षचंदन का एक वृक्ष छेदा और प्रतिमा बनाकर उसे एक काष्ठ के संपुट में डालकर भरत क्षेत्र में आया। उसने उत्पात के कारण छह महीनों से घूमते हुए समुद्र के बीच एक प्रवहण को देखा। देव ने उत्पात को शांत किया और अपनी काष्ठ पेटिका देते हुए कहा—‘इससे देवाधिदेव की प्रतिमा बनवानी है।’ प्रवहण वीतभय नगर में पहुंचा। काष्ठ संपुट वहां उतारा गया। वहां का राजा उदयन तापसभक्त था। उसकी रानी का नाम प्रभावती था। व्यापारियों ने राजा से कहा—‘इस काष्ठ से देवाधिदेव की प्रतिमा करानी है।’ राजा की आज्ञा से बड़ई इंद्र आदि की प्रतिमा बनाने लगे लेकिन काष्ठ पर परशु नहीं चला। प्रभावती ने जब यह सुना तो उसने कहा—‘देवाधिदेव वर्धमानस्वामी हैं, उनकी प्रतिमा बनवाओ।’ वैसा ही प्रयत्न करने पर चंदनकाष्ठ से पूर्व निर्मित प्रतिमा स्पष्ट हो गई। रानी ने अंतःपुर में चैत्यगृह बनवाकर उसमें मूर्ति की स्थापना कर दी। प्रभावती स्नान आदि करके तीनों सन्ध्याओं में मूर्ति की अर्चना करने लगी।

एक बार रानी प्रभावती मूर्ति के समक्ष नृत्य कर रही थी। राजा वीणा-वादन कर रहा था। उसे नृत्य

करती हुई रानी का सिर दिखाई नहीं दिया। वह धैर्य खो बैठा और उसके हाथ से वीणा छूटकर नीचे गिर पड़ी। देवी ने रुष्ट होकर कहा—‘क्या मैंने नृत्य ठीक नहीं किया?’ बहुत पूछने पर राजा ने यथार्थ बात बताई। उसने कहा—‘मरने की मुझे क्या चिंता?’ चिरकाल तक मैंने श्रावकत्व का पालन किया है। एक बार रानी ने स्नान करके दासी से कहा—‘कपड़े लेकर आओ।’ दासी लाल रंग के कपड़े ले आई। रानी ने रुष्ट होकर उसे दर्पण से आहत करते हुए कहा—‘मैं मंदिर में जा रही हूँ और तुमने लालवस्त्र लाकर दिए हैं।’ दासी दर्पण की चोट से मर गई। रानी ने सोचा—‘मैंने पहला व्रत खंडित कर डाला। अब जीने से क्या प्रयोजन?’ उसने राजा से पूछा—‘मैं भक्तप्रत्याख्यान करना चाहती हूँ।’ राजा ने कहा—‘यदि देव बनकर तुम मुझे प्रतिबुद्ध करो तो मेरी आज्ञा है।’ रानी ने स्वीकार कर लिया। भक्तप्रत्याख्यान द्वारा मृत्यु को प्राप्त कर वह प्रभावती देव बनी। इधर देवदत्ता नामक कुब्जा दासी जिन प्रतिमा की पूजा-अर्चना करने लगी। प्रभावती देव ने उदयन को प्रतिबोध दिया परन्तु तापसभक्त होने के कारण वह संबुद्ध नहीं हुआ। तब देव तापस रूप बनाकर अमृतफल लेकर आया। राजा ने फल चखे और पूछा—‘ये फल कहां से लाए हो?’ देव रूप तापस बोला—‘नगर से दूर मेरा आश्रम है। वहां से ये फल लाया हूँ।’ राजा उसके साथ आश्रम में गया। आगे वनखण्ड में प्रवेश किया। वहां साधुओं को देखा। साधुओं से धर्म-वार्ता सुनकर राजा संबुद्ध हो गया। देव ने अपना मूल रूप दिखाया। राजा ने देखा कि वह तो सभामण्डप में ही बैठा है। वह श्रावक बन गया।

गांधार श्रावक तीर्थकरों की जन्मभूमि में चैत्य-वंदना कर वैताढ्य पर्वत पर यह सुनकर गया कि वहां स्वर्ण प्रतिमा है। वह वहां उपवास करके बैठ गया। देवता प्रगट हुए। तुष्ट होकर देव ने समस्त इच्छाएं पूर्ण करने वाली सौ गुटिकाएं दीं। वह गुटिकाओं को साथ लेकर जा रहा था। इतने में ही उसने सुना कि वीतभय नगर में गोशीर्षचंदन की प्रतिमा है। वह वंदन करने चला। वह वहां बीमार पड़ गया। देवदत्ता ने उसकी प्रतिचर्या की। श्रावक ने तुष्ट होकर सारी गुटिकाएं देवदत्ता को दे दीं। कालान्तर में वह श्रावक प्रव्रजित हो गया।

एक दिन देवदत्ता ने गुटिका को मुंह में रखकर मन ही मन सोचा—‘मेरा वर्ण कनक सदृश हो जाए।’ गुटिका के प्रभाव से उसका शरीर सुंदर और स्वर्ण आभा वाला हो गया। वह देवकन्या के समान प्रतीत होने लगी। उसने पुनः सोचा—‘मैं भी भोग भोगूँ। यहां का राजा मेरे पिता के समान है। दूसरे सारे रक्षक हैं अतः अच्छा हो यदि प्रद्योत मुझे पति के रूप में मिल जाए।’ यह बात सोचकर उसने गुटिका खाई। इधर देवता ने प्रद्योत से कहा—‘देवदत्ता अत्यन्त रूपवती है।’ प्रद्योत ने स्वर्णगुटिका के पास दूत भेजा। देवदत्ता ने कहा—‘मैं भी प्रद्योत को देखना चाहती हूँ।’ प्रद्योत अनलगिरि हाथी पर आरुढ़ होकर रात्रि में वहां आया। देवदत्ता उसमें आसक्त हो गई। उसने प्रद्योत से कहा—‘यदि तुम प्रतिमा को साथ ले जा सको तो मैं तुम्हारे साथ चल सकती हूँ।’ दूसरी प्रतिमा नहीं है, यह सोचकर रात भर वहां रहकर वह वापस चला गया। दूसरी बार वह प्रतिरूप जिन-प्रतिमा को साथ लेकर आया। मूल प्रतिमा के स्थान पर उसे रखकर वह प्रतिमा और स्वर्णगुटिका दासी को साथ लेकर उज्जयिनी लौट गया।

अनलगिरि हाथी ने वीतभय में मूत्र और लीद की थी। उसकी गंध से दूसरे सारे हाथी उन्मत्त हो गए। जिस दिशा से गंध आ रही थी वहां नगररक्षकों ने अनलगिरि हाथी के पदचिह्न देखे। उन्होंने सोचा—

‘राजा प्रद्योत यहां क्यों आया?’ खोज की गयी। दासी देवदत्ता को न देखकर राजा बोला—‘वह दासी को ले गया।’ राजा ने प्रतिमा को देखने के लिए कहा। राजपुरुषों ने निवेदन किया कि प्रतिमा यथास्थान पर स्थित है। राजा प्रतिमा की पूजाबेला में वहां गया। उसने देखा कि प्रतिमा के पुष्प म्लान हो गए हैं। प्रतिमा का निरीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि मूल प्रतिमा नहीं, अपितु प्रतिरूपक है। आगंतुक ने प्रतिमा का भी हरण कर लिया है।

तब राजा ने प्रद्योत के वहां दूत भेजकर कहलवाया—‘मुझे दासी से कोई प्रयोजन नहीं है लेकिन प्रतिमा को लौटा दो।’ प्रद्योत इसके लिए तैयार नहीं हुआ। तब महाराज उदयन ने ज्येष्ठ मास में, दस राजाओं के साथ प्रद्योत पर आक्रमण कर दिया। मरुप्रदेश में जाते हुए स्कंधावार तृषा से मरने लगा। यह बात राजा तक पहुंची। राजा ने देवी प्रभावती का स्मरण किया। वह प्रगट हुई। उसने तीन पुष्करिण्यां बनाई—‘एक आगे वाले स्कंधावार के लिए, एक मध्यवर्ती स्कंधावार के लिए तथा एक पृष्ठगामी स्कंधावार के लिए। सभी आश्वस्त हो गए।’ राजा स्कंधावार के साथ उज्जयिनी पहुंचा और प्रद्योत से कहा—‘निरपराध लोगों को मारने से क्या? हम दोनों के बीच युद्ध हो जाए। अश्व, रथ, हाथी अथवा पैदल जैसी तुम्हारी रुचि हो।’ तब प्रद्योत ने कहा—‘हम रथ पर आरूढ़ होकर युद्ध करें परन्तु प्रद्योत अनलगिरि हाथी पर चढ़कर आया और उदयन रथ पर।’ उदयन ने प्रद्योत से कहा—‘अहो! तुम सत्यप्रतिज्ञ नहीं हो। फिर भी तुम छूट नहीं सकोगे।’ तब उदयन अपने रथ को चक्राकार घुमाने लगा। हाथी उसके पीछे लग गया। उदयन जीत गया। हाथी जहां-जहां पांव रखता, उदयन वहां बाण फेंक देता। हाथी के पैर बिंध गए, वह भूमि पर गिर पड़ा। प्रद्योत जब उससे उतरने लगा तब उदयन के सैनिकों ने उसे बंदी बना लिया। सैनिकों ने उसके ललाट पर एक पट्ट बांध दिया, जिस पर अंकित था—‘महाराज उदयन की दासी का पति।’ उदयन अपने नगर की ओर प्रस्थित हुआ। प्रतिमा को वह नहीं ले जा सका। रास्ते में वर्षा आ जाने के कारण उसे बीच में ही रुकना पड़ा। दसों राजा साथ थे। आक्रमण के भय से उन्होंने वहां मिट्टी का एक प्राकार बनाया। बंदी के रूप में प्रद्योत भी साथ ही था। महाराज उदयन जो भोजन करता, वही भोजन प्रद्योत को भी दिया जाता। पर्युषणा का पर्व आ गया। तब सूपकार ने प्रद्योत से पूछा—‘क्या आज आप भोजन करेंगे?’ प्रद्योत ने सोचा—‘आज मैं मारा जाऊंगा।’ उसने सूपकार से पूछा—‘आज भोजन के लिए क्यों पूछ रहे हो?’ सूपकार बोला—‘आज पर्युषणा है। महाराज उदयन आज उपवास करेंगे।’ प्रद्योत ने कहा—‘मैं भी आज उपवास रखूंगा।’ मेरे भी माता-पिता प्रव्रजित हैं। मुझे ज्ञात नहीं था कि आज पर्युषणा है। राजा प्रद्योत बोला—‘जानता हूं, वह धूर्त है। मुझे इस प्रकार बंदी बनाकर रखने से उसकी पर्युषणा शुद्ध नहीं होगी।’ यह सुनकर महाराज उदयन ने प्रद्योत को बंदीगृह से मुक्त कर दिया और उसके साथ क्षमायाचना की। ललाट पर लिखे पूर्व पट्ट के अक्षरों को आच्छादित करने के लिए स्वर्णपट्ट बंधवा दिया। उसे उसका राज्य लौटा दिया। उस दिन से पट्टबद्ध राजा होने लगे। इससे पूर्व ‘मुकुटबद्ध’ राजा होते थे। वर्षावास बीत जाने पर राजा अपने राज्य में चला गया। जो वणिग्वर्ग आया था, वह वहीं रुका रहा। दस राजा साथ रहने से वह नगर दशपुर कहलाने लगा।’

१. आवचू. १ पृ. ३९७-४०१, हाटी. १ पृ. १९८-२००, मटी. प. ३९१-३९४।

१७. आर्यरक्षित

दशपुर नगर में सोमदेव नामक ब्राह्मण रहता था। उसकी भार्या का नाम रुद्रसोमा था, जो श्राविका थी। उसके पुत्र का नाम रक्षित था। रक्षित के छोटे भाई का नाम फल्गुरक्षित था। रक्षित ने अपने पिता के पास अध्ययन किया। घर में आगे पढ़ना नहीं होगा यह सोचकर वह अध्ययन हेतु पाटलिपुत्र गया। वहां उसने सांगोपांग चारों वेदों का अध्ययन किया। वह समाप्तपारायण और शाखापारग हो गया। उसने चौदह विद्यास्थान अच्छी तरह ग्रहण कर लिए। अध्ययन पूर्ण कर वह दशपुर नगर आया। उसके पारिवारिक जन राजकुल के सेवक थे। उन्होंने राजा को उसके आगमन की सूचना दी। राजा ने उसके सम्मान में नगर को पताकाओं से सजाया। राजा स्वयं उसकी अगवानी में गया। उसका सत्कार किया और बैठने के लिए सबसे आगे आसन दिया। इस प्रकार रक्षित पूरे नगरवासियों से अभिनन्दन स्वीकार करता हुआ, हाथी के हौदे पर बैठकर अपने घर पहुंचा। वहां भी बाह्य और आभ्यन्तर परिषद् से वह सम्मानित हुआ। चन्दन और कलश आदि से उपशोभित वह बाह्य आस्थानमंडप में बैठा था। लोगों से वह उपहार लेने लगा। तब उसने देखा कि उसके वयस्य और मित्र वहां आए हुए हैं। परिजनों तथा अन्य लोगों ने उसको अर्घ्य चढ़ाया, स्तुति की। उसका घर द्विपद, चतुष्पद तथा हिरण्यसुवर्ण से भर गया। उसने सोचा—‘क्या बात है, मां नहीं दिखाई दे रही है।’ घर के भीतर उसने मां को बैठे हुए देखा। उसने मां को प्रणाम किया। ‘स्वागत है पुत्र!’ इतना कहकर मां मौन हो गई। रक्षित ने पूछा—‘मां क्या तुम मेरे अध्ययन से प्रसन्न नहीं हो? मैंने चौदह विद्यास्थानों का अध्ययन कर पूरे नगर को विस्मित कर डाला है। तुम तुष्ट क्यों नहीं हो?’ मां बोली—‘पुत्र! मुझे तुष्टि कैसे हो?’ तुम अनेक प्राणियों के वधकारक ज्ञान को अर्जित कर आए हो। जिस ज्ञान से भवभ्रमण बढ़ता है, उससे मैं कैसे संतुष्ट हो सकती हूँ? क्या तुम दृष्टिवाद पढ़कर आए हो?’ रक्षित ने सोचा—‘वह दृष्टिवाद कितना विशाल होगा? जाऊँ और पढ़ूँ, जिससे मां को संतोष होगा। केवल लोगों को संतुष्ट करने से क्या?’ वह बोला—‘मां! कहां है वह दृष्टिवाद?’ मां बोली—‘दृष्टिवाद का ज्ञान साधुओं के पास है। रक्षित दृष्टिवाद के अक्षरार्थ को सोचने लगा—‘दृष्टियों-मत-मतान्तरों का वाद—दृष्टिवाद। उसने सोचा—नाम बहुत सुन्दर है। यदि कोई मुझे पढ़ायेगा तो मैं पढ़ूँगा, जिससे मां को भी संतोष होगा। उसने मां से पूछा—‘दृष्टिवाद के ज्ञाता कौन हैं?’ मां ने कहा—‘हमारे इक्षुगृह में तोसलिपुत्र नामक आचार्य हैं, वे दृष्टिवाद के ज्ञाता हैं।’ रक्षित बोला—‘कल से मैं उसका अध्ययन प्रारंभ कर दूँगा, तुम उदासीन मत बनो।’ रक्षित दृष्टिवाद के अर्थ में इतना तल्लीन हो गया कि रातभर सो नहीं सका। दूसरे दिन प्रभात होने से पूर्व ही वह घर से चल दिया। उसके पिता का मित्र ब्राह्मण उपनगर के एक गांव में रहता था।

उसने कल रक्षित को नहीं देखा था। आज रक्षित को देखूँगा यह सोच वह उसके स्वागत-उत्सव को देखने तथा उपहार देने के लिए नौ इक्षुदंड पूरे तथा एक इक्षुदंड आधा लेकर आ रहा था। रास्ते में रक्षित मिल गया। उस ब्राह्मण ने पूछा—‘तुम कौन हो?’ उसने कहा—‘मैं आर्यरक्षित हूँ।’ तब ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर उसको गले लगा लिया और कहा—‘स्वागत है तुम्हारा! मैं तुमको देखने के लिए ही आ रहा था।’ रक्षित बोला—‘आप पधार मैं शरीरचिन्ता से निवृत्त होने के लिए जा रहा हूँ। इन इक्षुदंडों को मेरी मां को देकर कहना कि मैंने आर्यरक्षित को सबसे पहले देखा है।’ घर पहुंचकर मां को इक्षुदंड देकर वह बोला—

‘मैंने आज सबसे पहले आर्यरक्षित को देखा है।’ मां तुष्ट होकर सोचने लगी—‘मेरे पुत्र ने सुन्दर और मंगल वस्तु देखी है। वह नौ पूर्व पूरे तथा दसवें का कुछ अंश ही प्राप्त कर सकेगा। इधर आर्यरक्षित ने भी सोचा, मुझे दृष्टिवाद के नौ अंग अथवा अध्ययन ही मिलेंगे, दसवां पूरा नहीं मिलेगा। वह वहां से इक्षुगृह में गया और सोचा—‘क्या मैं ऐसे ही प्रवेश करूं? मैं विधि नहीं जानता। आचार्य का कोई श्रावक आयेगा तो उसके साथ प्रवेश करूंगा।’ यह सोचकर वह एक ओर बैठ गया। उसी समय ढडुर नामक श्रावक शरीरचिन्ता से निवृत्त होकर उपाश्रय में जा रहा था। उसने दूर से ही तीन बार उच्च स्वर में नैषेधिकी का उच्चारण किया। आर्यरक्षित मेधावी था, उसने वंदन-विधि की अवधारणा कर ली। वह भी उसी क्रम से भीतर गया और सभी मुनियों को वंदना की। श्रावक को वंदना नहीं की। तब आचार्य ने सोचा—‘यह नया श्रावक आया है।’ साधुओं ने पूछा—‘कौन से धर्म से आए हो?’ रक्षित बोला—‘इस ढडुर श्रावक के मूल से।’ साधुओं ने आचार्य को बताया कि यह श्राविका का पुत्र है। इसने कल हाथी पर चढ़कर नगर में प्रवेश किया था। उन्होंने आचार्य को पूरा वृत्तान्त कहा। रक्षित बोला—‘मैं आपके पास दृष्टिवाद का अध्ययन करने आया हूं।’ आचार्य बोले—‘हमारे पास दीक्षित होने पर ही हम दृष्टिवाद का अध्ययन करवाते हैं।’ रक्षित बोला—‘मैं प्रव्रजित हो जाऊंगा।’ आचार्य ने कहा—‘प्रव्रजित हो जाने पर भी परिपाटी से दृष्टिवाद पढ़ाया जाता है।’ रक्षित बोला—‘परिपाटी से पढ़ूंगा किन्तु मैं यहां प्रव्रजित नहीं हो सकूंगा क्योंकि यहां का राजा मुझमें अनुरक्त है। लोग भी बहुत अनुरक्त हैं। प्रव्रजित होने के पश्चात् वे बलात् मुझे घर ले जायेंगे अतः यहां से अन्यत्र चले।’ आचार्य आर्यरक्षित को साथ लेकर अन्यत्र चले गए। यह पहली शिष्य-निष्पत्ति थी। आर्यरक्षित ने शीघ्र ही ग्यारह अंग पढ़ लिए। आचार्य तोसलिपुत्र जितना दृष्टिवाद जानते थे, वह भी उसने सारा पढ़ लिया। उसने सुना कि आर्यवज्र युगप्रधान आचार्य हैं, वे दृष्टिवाद के अधिक ज्ञाता हैं। तब आर्यरक्षित उज्जयिनी के बीच से होते हुए चले। वहां वह स्थविर भद्रगुप्त के पास पहुंच गया। उन्होंने भी उसका उपबृंहण करते हुए कहा—‘तुम धन्य हो, कृतार्थ हो। मैं संलेखना कर रहा हूं। मेरा निर्यापक—सहायक कोई नहीं है। तुम मेरे निर्यापक बन जाओ।’ आर्यरक्षित ने यह बात स्वीकार कर ली। मरते समय स्थविर भद्रगुप्त बोले—‘आर्य! तुम वज्रस्वामी के पास जा रहे हो परन्तु उनके साथ उपाश्रय में मत रहना। दूसरे उपाश्रय में ठहर कर पढ़ना क्योंकि जो उनके साथ एक रात भी रह जाता है, वह मर जाता है।’ आर्यरक्षित ने यह बात मान ली। स्थविर भद्रगुप्त के कालगत हो जाने पर वह वज्रस्वामी के पास गया। वह उपाश्रय के बाहर ही ठहरा। आर्यवज्र ने उसी रात एक स्वप्न देखा कि एक आगंतुक ने उनके पास से बहुत ले लिया लेकिन उनके पास कुछ अवशिष्ट रह गया। आर्यरक्षित आए तब आचार्य ने पूछा—‘कहां से आए हो?’ उसने कहा—‘तोसलिपुत्र आचार्य के पास से आया हूं। मेरा नाम आर्यरक्षित है।’ आचार्य बोले—‘अच्छ, आओ स्वागत है तुम्हारा। कहां ठहरे हो?’ रक्षित बोला—‘बाहर ठहरा हूं।’ आचार्य बोले—‘क्या बाहर स्थित व्यक्ति को अध्ययन कराया जा सकता है? क्या तुम यह नहीं जानते?’ तब आर्यरक्षित बोले—‘क्षमाश्रमण स्थविर भद्रगुप्त ने मुझे कहा था कि उपाश्रय के बाहर ही ठहरना।’ तब आचार्य वज्र ने उपयुक्त होकर जान लिया कि आर्य निष्कारण कुछ नहीं कहते। अच्छा, तुम बाहर ही ठहरो। उन्होंने उसे पढ़ाना प्रारंभ किया। आर्यरक्षित ने शीघ्र ही नौ पूर्व पढ़ लिए। दसवें पूर्व का अध्ययन चल रहा था तब आर्यवज्र ने कहा—‘इसके यविक करो। इसका यही परिकर्म है। ये गूढ और सूक्ष्म हैं।’ आर्यरक्षित ने दसवें पूर्व के चौबीस यविक ग्रहण कर लिए। आर्यवज्र भी पढ़ाते रहे।

इधर आर्यरक्षित के माता-पिता पुत्र-शोक से विह्वल हो गए। उन्होंने सोचा—‘आर्यरक्षित उद्योत करने की बात कह रहा था परन्तु उसने तो अंधकार कर दिया।’ उन्होंने आर्यरक्षित को बुलाने का संदेश भेजा परन्तु वह नहीं आया। तब उन्होंने छोटे भाई फल्गुरक्षित को भेजा और कहलवाया—‘तुम शीघ्र आ जाओ। यहां आओगे तो सभी सदस्य प्रव्रजित हो जायेंगे।’ आर्यरक्षित को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने फल्गुरक्षित से कहा—‘यदि वे सब प्रव्रजित होना चाहते हैं तो पहले तुम प्रव्रजित हो जाओ।’ वह प्रव्रजित हो गया। उसे अध्ययन कराया गया।

आर्यरक्षित दसवें पूर्व की यविकाओं का अध्ययन कर रहे थे। उनमें वे बहुत कठिनाई अनुभव करने लगे। एक दिन उन्होंने आचार्य वज्र से पूछा—‘भगवन्! दसवां पूर्व कितना शेष रहा है?’ आचार्य बोले—‘अभी तो बिन्दुमात्र ग्रहण किया है, समुद्र जितना शेष है। अभी सर्षप और मंदर जितना अन्तर है।’ यह सुनकर आर्यरक्षित विषादग्रस्त हो गये। सोचा, मेरे में इतनी शक्ति कहां है कि मैं इसका पार पा सकूँ? उन्होंने आचार्य से पूछा—‘भगवन्! मैं घर जाना चाहता हूँ। यह मेरा भाई फल्गुरक्षित आ गया है।’ आचार्य बोले—‘अभी पढ़ो।’ इस प्रकार आर्यरक्षित आगे पढ़ता और प्रतिदिन आचार्य से घर जाने की बात पूछता। एक दिन आचार्य ने ज्ञान से उपयोग लगाकर देखा और जाना कि दसवां पूर्व मेरे साथ ही व्युच्छिन्न हो जाएगा। उन्होंने जान लिया कि मेरा आयुष्य अल्प है। आर्यरक्षित घर जाने के पश्चात् लौटकर नहीं आयेगा अतः मेरे बाद यह दसवां पूर्व व्युच्छिन्न हो जाएगा। उन्होंने आर्यरक्षित को घर जाने की अनुमति दे दी। आर्यरक्षित भाई के साथ वहां से प्रस्थित हुए और दशपुर नगर पहुंचे।

आर्यरक्षित ने वहां पहुंचकर अपने समस्त स्वजनवर्ग को प्रव्रजित कर दिया। माता और भगिनी भी प्रव्रजित हो गयीं। आर्यरक्षित का पिता उनके प्रति अनुराग के कारण उनके साथ ही रहता किन्तु लज्जा के कारण मुनिवेश धारण करने का इच्छुक नहीं बना। मैं श्रमणदीक्षा कैसे ले सकता हूँ? यहां मेरी लड़कियां, पुत्रवधुएं तथा पौत्र आदि हैं, मैं उन सबके समक्ष नग्न कैसे रह सकता हूँ? आचार्य आर्यरक्षित ने अनेक बार प्रव्रज्या की प्रेरणा दी। उसने कहा—‘यदि वस्त्र-युगल, कुंडिका, छत्र, जूते तथा यज्ञोपवीत रखने की अनुमति दो तो मैं प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता हूँ।’ आचार्य ने सब स्वीकार कर लिया। वह प्रव्रजित हो गया। उसे चरण-करण स्वाध्याय करने वालों के पास रखा गया। वह कटिपट्टक, छत्र, जूते, कुंडिका तथा यज्ञोपवीत आदि को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था।

एक बार आचार्य चैत्य-वन्दन के लिए गए। आचार्य ने पहले से ही बालकों को सिखा रखा था। सभी बालक एक साथ बोल पड़े—‘हम सभी मुनियों को वंदना करते हैं, एक छत्रधारी मुनि को छोड़कर।’ तब उस वृद्ध मुनि ने सोचा, ये मेरे पुत्र-पौत्र सभी वंदनीय हो रहे हैं। मुझे वंदना क्यों नहीं की गयी? वृद्ध ने बालकों से कहा—‘क्या मैं प्रव्रजित नहीं हूँ।’ वे बोले—‘जो प्रव्रजित होते हैं, वे छत्रधारी नहीं होते।’ वृद्ध ने सोचा, ये बालक भी मुझे प्रेरित कर रहे हैं। अब मैं छत्र का परित्याग कर देता हूँ। स्थविर ने अपने पुत्र आचार्य से कहा—‘पुत्र! अब मुझे छत्र नहीं चाहिए।’ आचार्य ने कहा—‘अच्छा है। जब गर्मी हो तब अपने सिर पर वस्त्र रख लेना।’ बालक फिर बोले—‘कुंडिका क्यों? संज्ञाभूमि में जाते समय पात्र ले जाया जा सकता है।’ उसने कुंडिका भी छोड़ दी। यज्ञोपवीत का भी परित्याग कर दिया। आचार्य आर्यरक्षित बोले—‘हमें कौन नहीं जानता कि हम ब्राह्मण हैं।’ वृद्ध मुनि ने सारी चीजें छोड़ दीं, एक कटिपट्ट रखा।

बालक फिर बोल पड़े—‘हम सभी को वंदना करते हैं, केवल एक कटिपट्टधारी मुनि को छोड़कर।’ वृद्ध मुनि बोला—‘तुम अपनी दादी-नानी को वंदना करो। मुझे और कोई वंदना करेगा। मैं कटिपट्टक नहीं छोड़ूंगा।’ उस समय वहां एक मुनि ने भक्तप्रत्याख्यान किया था। आचार्य रक्षित ने कटिपट्टक के परिहार के लिए कहा—‘जो इस मृत मुनि के शव को वहन करेगा, उसे महान् फल होगा।’ जिन मुनियों को पहले से ही समझा रखा था, वे परस्पर कहने लगे—‘इस शव को हम वहन करेंगे।’ आचार्य का स्वजनवर्ग बोला—‘इसको हम वहन करेंगे।’ वे आपस में कलह करते हुए आचार्य के पास पहुंचे। आचार्य बोले—‘क्या मेरे स्वजनवर्ग इस निर्जरा के अधिकारी नहीं हैं? जो तुम लोग शव को वहन करने की बात कह रहे हो।’ तब स्थविर ने आर्यरक्षित से पूछा—‘क्या इसमें बहुत निर्जरा है?’ आचार्य बोले—‘हां’ तब स्थविर ने कहा कि शव का वहन मैं करूंगा। आचार्य बोले—‘इसमें उपसर्ग उत्पन्न होंगे। बालक नग्न कर देंगे। यदि तुम सहन कर सको तो वहन करो। यदि तुम सहन नहीं कर सकोगे तो हमारा अपमान होगा, अच्छा नहीं लगेगा।’ इस प्रकार आचार्य ने स्थविर को स्थिर कर दिया। स्थविर बोला—‘मैं सहन करूंगा।’ जब उसने शव को उठाया, तब उसके पीछे-पीछे मुनि उठे। बालकों ने एक बालक से कहा—‘इनका कटिवस्त्र खोल दो। उसने कटिवस्त्र खोलना शुरू कर दिया। दूसरे बालक ने कटिवस्त्र आगे करके डोरे से बांध दिया। वह लज्जित होकर भी शव का वहन करने लगा। उसने सोचा—‘पीछे से मेरी पुत्रवधुएं देख रही हैं। उपसर्ग है, किन्तु मुझे सहन करना है, इस दृष्टि से वह चलता रहा और पुनः उसी अवस्था में लौट आया।’ स्थविर को बिना शाटक देख आचार्य ने पूछा—‘अरे यह क्या?’ स्थविर बोला—‘उपसर्ग उत्पन्न हुआ था।’ आचार्य बोले—‘क्या दूसरा शाटक मंगवाएं?’ स्थविर बोला—‘अब शाटक का क्या प्रयोजन? जो देखना था, वह देख लिया। अब चोलपट्टक ही पहनूंगा।’ उसे चोलपट्टक दे दिया गया।

वह स्थविर भिक्षाचर्या के लिए नहीं जाता था। आचार्य ने सोचा—‘यदि वह भिक्षाचर्या नहीं करेगा तो कौन जानता है, कब क्या हो जाए? फिर यह एकाकी क्या कर सकेगा? इसे निर्जरा भी तो करनी है। इसलिए ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे यह भिक्षा के लिए जाए। इससे आत्म-वैयावृत्य होगी। फिर यह पर-वैयावृत्य भी कर सकेगा।’ एक दिन आचार्य ने मुनियों से कहा—‘मैं अन्यत्र जा रहा हूं। तुम सभी स्थविर के समक्ष एकाकी-एकाकी भिक्षा के लिए जाना।’ सभी ने स्वीकार कर लिया। आचार्य ने दूसरे गांव जाते हुए साधुओं से कहा—‘स्थविर की सार-संभाल रखना।’ आचार्य चले गए। सभी मुनि एकाकी-एकाकी भिक्षा के लिए गए, भक्तपान ले आए और अकेले भोजन करने लगे। स्थविर ने सोचा—‘यह मुनि मुझे भोजन देगा, यह मुनि मुझे भोजन देगा।’ परन्तु किसी ने भोजन नहीं दिया। स्थविर क्रुद्ध हो गया परन्तु कुछ बोला नहीं। मन ही मन सोचा—‘आचार्य को कल आने दो। फिर देखना, इन मुनियों को क्या-क्या उपालंभ दिलाता हूं।’ दूसरे दिन आचार्य आ गए। आचार्य ने स्थविर से पूछा—‘कैसा रहा?’ स्थविर ने कहा—‘यदि तुम नहीं होते तो मैं एक दिन भी जीवित नहीं रह सकता। ये मेरे पुत्र-पौत्र जो मुनि हैं, उन्होंने भी मुझे कुछ आहार लाकर नहीं दिया।’ तब आचार्य ने स्थविर के सामने उन सबकी निर्भर्त्सना की। उन्होंने उसे स्वीकार किया। आचार्य बोले—‘लाओ पात्र! मैं स्वयं स्थविर पिता मुनि के लिए पारणक लेकर आता हूं।’

तब स्थविर ने सोचा—‘आचार्य कहां-कहां घूमेंगे? ये कभी लोगों के समक्ष भिक्षा के लिए नहीं

गए हैं। मैं ही भिक्षा के लिए जाऊं।' स्थविर स्वयं भिक्षा लेने गया। चिरकाल तक गृहवास में रहने के कारण वह लोगों के लिए परिचित था। वह घूम रहा था। उसे ज्ञात नहीं था कि द्वार कौनसा है और अपद्वार कौनसा? घूमते-घूमते वह एक घर में अपद्वार से प्रविष्ट हुआ। उस घर में उस दिन लड्डू (मिठाई) बने थे। गृहस्वामी बोला—'तुम मुनि हो, अपद्वार से कैसे आए?' स्थविर बोला—'आती हुई लक्ष्मी के लिए क्या द्वार और क्या अपद्वार, जिस रास्ते से वह आए, वही सुंदर है।' गृहस्वामी ने अपने व्यक्तियों से कहा—'इसको भिक्षा दो।' वहां उसे बत्तीस मोदक मिले। वह उन्हें लेकर स्थान पर आया। उसने भिक्षाचरी की आलोचना की। आचार्य बोले—'परंपरा से शिष्य-परंपरा चलाने वाले तुम्हारे बत्तीस शिष्य होंगे।' आचार्य ने स्थविर से पूछा—'गृहस्थावस्था में यदि किसी राजकुल से विशेष द्रव्य प्राप्त होता तो किसको देते?' स्थविर बोला—'ब्राह्मणों को।' आचार्य बोले—'इसी प्रकार ये मुनि भी पूजनीय हैं। तुम्हारा यह प्रथम लाभ इनको दो।' स्थविर ने सभी साधुओं में बत्तीस मोदक बांट दिए। स्थविर स्वयं के लिए भक्तपान लाने पुनः प्रस्थित हुआ। उसे घृतमधु संयुक्त परमान्न मिला। उसने उसे स्वयं खाया। इस प्रकार वह स्थविर मुनि स्वयं की भिक्षा के लिए घूमता परन्तु अनेक बाल, दुर्बल मुनियों के लिए आधारभूत बन गया।

उस गच्छ में तीन पुष्यमित्र थे—दुर्बलिका पुष्यमित्र, घृतपुष्यमित्र और वस्त्रपुष्यमित्र। दुर्बलिका पुष्यमित्र स्मारक था, प्रत्यावर्तन करने वाला था। घृतपुष्यमित्र घी प्राप्त करने में कुशल था। उसकी यह लब्धि थी कि द्रव्यतः वह घृत का उत्पादन कर लेता था। क्षेत्रतः उज्जयिनी में। कालतः जेट, आसाढ के महीनों में। भावतः एक गर्भवती ब्राह्मणी, जिसके पति ने यह सोचकर थोड़ा-थोड़ा घी इकट्ठा कर छह महीनों में एक घड़ा घी एकत्रित किया कि गर्भवती पत्नी के प्रसव के बाद काम आयेगा। घृतपुष्यमित्र उसके घर जाए और घी की याचना करे तो उसके पास अन्य घृत न होने पर भी ब्राह्मणी घी का पूरा घट उसे प्रसन्नता से दे देगी। इस प्रकार गच्छ के लिए जितने घृत की आवश्यकता होती, वह प्राप्त हो जाता। वह जाते समय मुनियों से पूछता—'किसको कितना घी चाहिए?' जितनी मांग होती, उतनी वह पूरी कर देता था।

वस्त्र पुष्यमित्र की वस्त्र के उत्पादन में ऐसी ही लब्धि थी। द्रव्यतः वस्त्र। क्षेत्रतः विदेश में अथवा मथुरा में। कालतः वर्षाकाल अथवा शीतकाल में। भावतः एक विधवा स्त्री, जिसने अत्यंत दुःखद स्थिति में भूख-प्यास और शीत से क्लान्त होते हुए सूत से साड़ी बुनी और यह सोचा कि कल इसे पहनूंगी। इतने में ही वस्त्र पुष्यमित्र ने उसकी याचना कर ली तो वह अत्यंत प्रसन्नता से वह वस्त्र दे देगी। गच्छ के लिए जितना वस्त्र आवश्यक होता था, वह उसकी पूर्ति कर देता।

दुर्बलिका पुष्यमित्र ने नौ पूर्वों का अध्ययन कर लिया था। वह रात-दिन उनका प्रत्यावर्तन करता था। इस प्रकार निरंतर प्रत्यावर्तन में लगे रहने से वह दुर्बल हो गया। यदि वह उनका पुनः स्मरण नहीं करता तो भूल जाने का भय रहता। दशपुर में उसके कुछेक बंधु रक्तपट के उपासक थे। वे आचार्य के पास आकर बोले—'हमारे साधु ध्यान करते हैं। आपके यहां ध्यान की परम्परा नहीं है।'

आचार्य बोले—'हमारे यहां ध्यान की परंपरा है। आपका यह जो निजी दुर्बलिका पुष्यमित्र है, यह ध्यान के कारण इतना दुर्बल हुआ है। उन्होंने कहा—'जब यह गृहस्थ अवस्था में था, तब स्निग्ध और पौष्टिक आहार करने के कारण बलिष्ठ था। अब यहां वैसा आहार प्राप्त नहीं होता अतः यह दुर्बल हो गया

है।' आचार्य बोले—'ऐसी बात नहीं है। यह बिना घृत के कभी आहार करता ही नहीं।' उन्होंने पूछा कि आपको घृत की प्राप्ति कहां से होती है? आचार्य बोले—'हमारे यहां मुनि घृतपुष्पमित्र जितना चाहें उतना घृत ला देते हैं।' उनको विश्वास नहीं हुआ। तब आचार्य आर्यरक्षित ने उनसे कहा—'आप दुर्बलिका पुष्पमित्र को अपने यहां आहार करवाओ।' उनको संबोध देने के लिए आचार्य ने दुर्बलिका पुष्पमित्र को उनके साथ भेज दिया। वे उन्हें प्रतिदिन स्निग्ध आहार देते। वह प्रतिदिन आगमों का पुनरावर्तन करता। उनका स्निग्ध आहार राख में डालने वैसा हुआ। अब वे उसे प्रचुर स्निग्ध आहार देने लगे। वे निर्विण्ण हो गए पर शरीर बलिष्ठ नहीं हुआ। उन्होंने कहा—अब आगमों का प्रत्यावर्तन मत करो। उसने आगम का प्रत्यावर्तन छोड़ दिया और अंत-प्रांत आहार करने लगा। उसका शरीर पहले जैसा ही बलिष्ठ हो गया। वे रक्तपट वाले उसको लेकर आचार्य के पास आए। आचार्य ने उन्हें धर्म का प्रवचन दिया। वे सभी श्रावक हो गए।

उस गण में चार मुनि मुख्य थे—दुर्बलिका पुष्पमित्र, विन्ध्य, फल्गुरक्षित तथा गोष्ठामाहिल। विन्ध्य अतीव मेधावी था। सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ—इनको ग्रहण करने एवं धारने में समर्थ था परन्तु सूत्रमंडली में कुछ विस्मृत हो जाता था। क्रमशः सूत्रालापकों की स्मृति करते-करते उसका क्रम टूट जाता था। उसने आचार्य से कहा—'मैं सूत्रमंडली में विषादग्रस्त हो जाता हूं, सूत्र भूल जाता हूं। विलम्ब से क्रम आने के कारण सूत्र स्मृतिपटल पर नहीं रहता। आप मुझे कोई वाचनाचार्य दें।' तब आचार्य आर्यरक्षित ने उसे दुर्बलिका पुष्पमित्र को वाचनाचार्य के रूप में दे दिया। दुर्बलिका पुष्पमित्र ने कुछेक दिनों तक वाचना दी। एक दिन वह आचार्य के पास आकर बोला—वाचना देते रहने से मेरे श्रुत की हानि होती है। मैंने ज्ञातिजनों के गृह में रहते उस श्रुत की अनुप्रेक्षा नहीं की है। इसलिए यदि मैं श्रुत का पुनरावर्तन नहीं करूंगा तो नौवां पूर्व नष्ट हो जाएगा। तब आचार्य ने सोचा—'जब परममेधावी इस शिष्य का श्रुत पुनरावर्तन के अभाव में नष्ट हो जाएगा तो दूसरों का तो कहना ही क्या? उनके तो वह श्रुत स्थिर रह ही नहीं सकता।'

आचार्य आर्यरक्षित ने अतिशय उपयोग लगाया और जान लिया कि क्षेत्रानुभाव तथा कालानुभाव से पुरुषों की मति, मेधा और धारणा शक्ति परिहीन हो गई है। उनके अनुग्रह के लिए उन्होंने सूत्रविभाग के आधार पर अनुयोगों का पृथक्करण कर दिया। अतिगूढ़ नयविभागों को सुखपूर्वक ग्रहण करने के लिए यह उपक्रम किया।

आचार्य आर्यरक्षित विहार करते हुए मथुरा में आए और वहां भूतगुफा में स्थित व्यंतर के मंदिर में ठहरे। इन्द्र महाविदेह क्षेत्र में गया तब सीमंधर स्वामी ने निगोद जीवों के विषय में विस्तार से बताया। इन्द्र ने पूछा—'भगवन्! क्या भरतवर्ष में कोई ऐसे आचार्य हैं, जो निगोद के जीवों का वर्णन कर सकते हैं?' सीमंधर भगवान् बोले—'आचार्य आर्यरक्षित इनका वर्णन करने में समर्थ हैं।' इन्द्र तब स्थविर ब्राह्मण का रूप बनाकर आया। जब सभी मुनि इधर-उधर चले गए तब वह आचार्य के पास आकर वंदना करके बोला—'भगवन्! मेरे शरीर में महान् व्याधि है। मैं भक्तप्रत्याख्यान करना चाहता हूं, इसलिए आप कृपा कर बताएं कि मेरा आयुष्य कितना है?' पूर्वों की यविकाओं में आयुष्य की प्रज्ञापना है। आचार्य उपयुक्त हो गए। उन्होंने सोचा—'इस व्यक्ति का आयुष्य सौ, दो सौ, तीन सौ वर्ष का है।' यह भारत का मनुष्य नहीं है। यह विद्याधर अथवा व्यंतर है। ऐसा सोचते-सोचते आचार्य दो सागरोपम की स्थिति तक पहुंच गए। तब

हाथ से भौहों को ऊपर कर कहा—‘तुम शक्र हो?’ तब ब्राह्मण वेशधारी देव ने सारा वृत्तान्त बताते हुए कहा—‘मैंने महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी के दर्शन किए थे। वहां मैंने निगोद के विषय में पूछा था। अब आपके मुख से निगोद जीवों का वर्णन सुनना चाहता हूं।’ आचार्य ने निगोद जीवों के विषय में बताया। शक्र परम संतुष्ट होकर बोला—‘भगवन्! अब मैं जाऊं।’ आचार्य बोले—‘कुछ समय तक ठहरो। मुनिगण आ जाएं।’ इन्द्र बोला—‘यह दुर्वृत्तान्त हो जाएगा कि आजकल भी इन्द्र आते हैं क्या?’ वह बोला—‘भते! यदि आपके शिष्य मुझको देखेंगे तो वे अल्पसत्त्व होने के कारण निदान कर लेंगे। इसलिए मैं जा रहा हूं।’ आचार्य बोले—‘कोई निशान कर चले जाओ।’ तब शक्र ने उस उपाश्रय का द्वार दूसरी दिशा में करके प्रस्थान कर दिया। मुनियों ने आकर उपाश्रय का द्वार देखा पर मिला नहीं। तब आचार्य बोले—‘इधर से आ जाओ।’ आचार्य ने उन्हें इन्द्र के आगमन की बात बताई। शिष्य बोले—‘अहो! हम उन्हें नहीं देख पाए। आपने उनको मुहूर्त भर के लिए क्यों नहीं रोका?’ आचार्य इन्द्र के शब्दों को दोहराते हुए बोले—‘आज के मनुष्य अल्पसत्त्व वाले होते हैं। वे मुझे देखकर निदान कर देंगे।’ इसलिए यह चमत्कार कर इन्द्र चला गया। इस प्रकार आचार्य आर्यरक्षित देवेन्द्र वन्दित थे।

एक बार वे विहार कर दशपुर नगर गए। उस समय मथुरा में एक अक्रियावादी उठा। वह कहता था कि न माता है और न पिता। इस प्रकार वह नास्तिकवाद का प्रबल समर्थक था। अन्य कोई वादी वहां नहीं था। तब संघ ने साधुओं के एक संघाटक को आर्यरक्षित के पास भेजा। वे युगप्रधान थे। संघाटक ने आचार्य से सारी बात कही। वे वृद्ध थे अतः उन्होंने अपने मामा मुनि गोष्ठामाहिल को वहां भेजा। वह वादलब्धि से संपन्न था। वह मथुरा में गया और उसने वादी का निग्रह कर दिया। श्रावकों की प्रार्थना पर गोष्ठामाहिल ने वहीं वर्षारात्र बिताने का निश्चय कर लिया।

आचार्य अब सोचने लगे—‘मेरे पश्चात् गणधारक कौन होगा?’ उन्होंने मन ही मन दुर्बलिका पुष्पमित्र को निर्धारित कर लिया। जो आचार्य का स्वजनवर्ग था, उनको गोष्ठामाहिल अथवा फल्गुरक्षित अभिमत था। तब आचार्य ने सबको बुलाकर दृष्टान्त देते हुए कहा—‘तीन घड़े हैं। एक चने से भरा है, दूसरा तेल से भरा है और तीसरा घृत से भरा है। उन तीनों को उल्टा करने पर जिस घट में चने भरे होंगे वे सारे नीचे गिर पड़ेंगे। तेल के घट को उल्टा करने पर कुछ तेल घड़े के लगा रह जाएगा। घी के घट को उल्टा करने पर कुछ अधिक घी घड़े से लगा रह जाएगा। इसी प्रकार आर्यों! दुर्बलिका पुष्पमित्र ने सूत्र अर्थ और तदुभय से मुझे चने के घट के समान कर दिया है। फल्गुरक्षित ने मुझे तेलघट के समान तथा गोष्ठामाहिल ने घृतघट के समान बना डाला है इसलिए अब सूत्र और अर्थ से समन्वित दुर्बलिका पुष्पमित्र तुम्हारे आचार्य हों। सबने उन्हें आचार्य रूप में स्वीकार कर लिया। तब आचार्य ने दुर्बलिका पुष्पमित्र से कहा—‘मैंने फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल के प्रति जैसा बर्ताव किया, वैसा ही तुम भी उनके प्रति व्यवहार करना।’ उनसे भी कहा—‘जैसा व्यवहार तुम मेरे प्रति करते थे, वैसा ही व्यवहार तुम दुर्बलिका पुष्पमित्र के प्रति करना।’ मेरे प्रति किसी ने उचित व्यवहार निभाया या नहीं, मैं उसके प्रति रुष्ट नहीं होता था। किन्तु दुर्बलिका पुष्पमित्र सहन नहीं करेगा, क्षमा नहीं करेगा। इसलिए निरंतर इनके प्रति जागरूक रहना। इस प्रकार दोनों वर्गों को संदेश देकर आर्यरक्षित भक्तप्रत्याख्यानपूर्वक पंडितमरण को प्राप्त कर दिवंगत हो गए।

गोष्ठामाहिल ने सुना कि आचार्य दिवंगत हो गए हैं तो वह आने-जाने वालों से पूछता—‘आचार्य ने गण का भार किसको सौंपा है?’ उसने कुटक दृष्टान्त सुना। वह दशपुर नगर आया और एक पृथक् उपाश्रय में ठहरा। सभी संत आए और बोले—‘आप यहां क्यों ठहरे हो? हमारे साथ ठहरो।’ वह उनके साथ जाना नहीं चाहता था। वह अलग रहकर लोगों को भ्रान्त करने लगा। मुनियों को वह भ्रान्त नहीं कर सका।

आचार्य अर्थपौरुषी देने लगे। वह नहीं सुनता। वह कहता—‘तुम सब यहां निष्पावकुट के समान हो।’ आचार्य के उठ जाने पर विंध्य अर्थपौरुषी देने बैठा। उसको वह सुनता था। उस समय आठवें पूर्व कर्मप्रवाद के अन्तर्गत कर्म का वर्णन चल रहा था कि जीव के कर्मों का बंध कैसे होता है? जीव और कर्म का आपस में संबंध कैसे होता है? इसकी व्याख्या सुनते हुए अभिनिवेश के कारण वह निहव हो गया।^१

९८. आनन्द श्रावक

वाणिज्यग्राम में आनन्द नामक गाथापति रहता था। उसकी भार्या का नाम शिवानन्दा था। वाणिज्यग्राम के निकट ही कालक नामक सन्निवेश था। वहां आनन्द के अनेक मित्र और ज्ञातिजन रहते थे। एक बार भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम के दूतिपलाश चैत्य में समवसृत हुए। महाराज जितशत्रु अपने परिवार के साथ भगवान् की उपासना करने गए। आनन्द ने भी भगवान् के आगमन की बात सुनी। वह भी भगवान् के दर्शन करने गया। भगवान् ने धर्म-प्रवचन किया। परिषद् अपने-अपने गंतव्य की ओर चली गई। धर्म-प्रवचन सुनकर आनन्द ने अत्यंत हृष्टतुष्ट होकर भगवान् से कहा—‘भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति श्रद्धा करता हूं, प्रतीति करता हूं किन्तु मैं प्रव्रज्या ग्रहण करने में समर्थ नहीं हूं।’ मैं श्रावक धर्म के बारह व्रतों को स्वीकार कर सकता हूं। भगवान् बोले—‘ठीक है, जितना तुम्हारा सामर्थ्य हो उतना स्वीकार करो।’ आनन्द ने श्रावकधर्म के बारह व्रत स्वीकार कर लिए। चौदह वर्षों तक उसने उनका संपूर्णरूप से पालन किया। तत्पश्चात् वह श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं स्वीकार कर उनका यथाविधि पालन करने लगा। जब वह ग्यारहवीं प्रतिमा में संलग्न था, तब उसे अवधिज्ञान की उपलब्धि हुई। इस प्रकार बीस वर्ष तक श्रावकधर्म की सविधि परिपालना कर अन्त में मासिक संलेखना से मरण प्राप्त कर वह सौधर्म देवलोक के अरुण विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ।^२

९९. कामदेव श्रावक

चंपा नगरी में कामदेव गाथापति रहता था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। एक बार भगवान् महावीर चंपा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में समवसृत हुए। कामदेव ने भगवान् से श्रावक के बारह व्रत स्वीकार किए। बारह वर्षों तक उनका यथाविधि पालन कर वह श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की साधना में संलग्न हो गया। वह ग्यारहवीं प्रतिमा कर रहा था। उस समय देव-उपसर्ग हुआ। देव ने पिशाच, हाथी और सर्प का रूप धारण कर कामदेव को विचलित करना चाहा। कामदेव अपनी साधना से तनिक भी स्खलित नहीं

१. आवनि. ४७९-४८०, आवचू. १ पृ. ४०१-४१३, हाटी. १ पृ. २००-२०७, मटी. प. ३९४-४०१।

२. आवनि. ५४५, आवचू. १ पृ. ४५२, ४५३, मटी. प. ४५६, ४५७।

हुआ। भगवान् महावीर ने साधुओं की गोष्ठी में कामदेव की सहिष्णुता की प्रशंसा करते हुए श्रमण-श्रमणियों को परीषद तथा उपसर्गों में दृढ़ रहने की प्रेरणा दी। जब कामदेव भगवान् की उपासना में पहुंचा तब भगवान् ने कहा—‘निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति तुम्हारी आस्था को धन्य है।’ भगवान् के वचनों से उसका उत्साह बढ़ा और अंत में वह मासिक संलेखना से मरण प्राप्त कर अरुणाभ विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ।^१

१००. वल्कलचोरी

गणधर सुधर्मास्वामी चंपा नगरी में समवसृत हुए। राजा कोणिक वंदना करने गया। उसकी दृष्टि मुनि जंबू पर पड़ी। उसका रूप-लावण्य देखकर वह विस्मित हुआ। उसने सुधर्मा से पूछा—‘भगवन्! इस महती परिषद् में यह मुनि घृत से सिंचित अग्नि की भांति दीप्त और मनोहर है। इसका क्या कारण है? मैं यह मानूँ कि इसने पूर्वजन्म में शील का पालन किया, तपस्या की अथवा दान दिया, जिससे इसको ऐसी शरीर-संपदा प्राप्त हुई है?’

सुधर्मा बोले—‘राजन्! सुनो। तुम्हारे पिता महाराज श्रेणिक ने भगवान् महावीर से प्रश्न पूछा तब महावीर ने कहा—एक बार मैं (महावीर) राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में ठहरा हुआ था। राजा श्रेणिक तीर्थंकर की उपासना करने के लिए अपने प्रासाद से निकला। उसके आगे-आगे दो पुरुष अपने-अपने कुटुंब की बात करते हुए चल रहे थे। उन्होंने एक मुनि को आतापना लेते हुए देखा। वह मुनि दोनों बाहुओं को ऊपर उठाए हुए एक पैर पर खड़ा था।’ उनमें से एक बोला—‘अहो! यह महात्मा ऋषि सूर्याभिमुख होकर आतापना ले रहा है। इसके स्वर्ग और मोक्ष तो हस्तगत ही मानना चाहिए।’ दूसरे व्यक्ति ने मुनि को पहचान लिया। वह बोला—‘क्या तुम नहीं जानते? यह महाराज प्रसन्नचन्द्र है। इसके कैसा धर्म? इसने बालक को राज्य देकर अभिनिष्क्रमण किया है। वह बाल-राजा मंत्रियों द्वारा राज्यच्युत कर दिया जाएगा। इसने राज्य का नाश कर डाला। न जाने इसके अन्तःपुर का क्या होगा?’

ध्यान में व्याघात करने वाले इन वचनों को मुनि ने सुना और सोचा—‘अहो! वे अनार्य अमात्य मेरे द्वारा प्रतिदिन सम्मानित होते रहे हैं। अब वे मेरे पुत्र से विपरीत हो गए हैं।’ यदि मैं वहां होता और वे इस प्रकार करते तो मैं उन पर अनुशासन करता। यह सोचते मुनि को वह कारण वर्तमान में घटित होने जैसा दिखाई देने लगा अतः वह मन ही मन उन अमात्यों के साथ युद्ध करने लगा। उसी समय तीर्थंकर के दर्शनार्थ प्रस्थित महाराज श्रेणिक वहां आए। मुनि को देखकर उसने विनयावनत होकर वंदना की और देखा कि मुनि ध्यान में अडोल खड़े हैं। उसने मन ही मन सोचा—‘अहो! आश्चर्य है कि राजर्षि प्रसन्नचन्द्र में तपस्या का इतना सामर्थ्य है।’ यह सोचता हुआ राजा श्रेणिक तीर्थंकर महावीर के पास पहुंचा। विनयपूर्वक वंदना कर उसने भगवान् से पूछा—‘भगवन्! जिस समय मैंने अनगार प्रसन्नचन्द्र को वंदना की, उस समय यदि वे कालगत हो जाते तो उनकी कौनसी गति होती?’ भगवान् बोले—‘सातवीं नरक।’ श्रेणिक ने सोचा—‘मुनियों का नरक-गमन कैसे?’ पुनः उसने भगवान् से पूछा—‘भगवन्! प्रसन्नचन्द्र यदि अब

१. आवनि. ५४५, आवचू. १ पृ. ४५४, ४५५, मटी. प. ४५७।

कालगत हो जाए तो कौन सी गति में जायेंगे?’ भगवान् बोले—‘सर्वार्थसिद्ध महाविमान में।’ श्रेणिक बोला—‘यह दो प्रकार का कथन कैसे? तपस्वियों का नरक और देवगति में गमन एक साथ कैसे?’ भगवान् ने कहा—‘ध्यान-विशेष से ऐसा होता है। इन ध्यान अवस्थाओं में उसकी ध्यान-संपदा ऐसी थी कि उसने असात और सात वेदनीय कर्मों का आदान किया।’ श्रेणिक ने पूछा—‘भगवन्! यह कैसे हुआ?’ भगवान् बोले—‘तुम्हारे आगे चलने वाले पुरुष के मुंह से अपने पुत्र का परिभव सुनकर मुनि ने प्रशस्तध्यान छोड़ दिया। जब तुम उसे वंदना कर रहे थे तब वह मुनि अपने अधीनस्थ अमात्यों से सेना के साथ युद्ध कर रहा था अतः उस समय वह अधोगति के योग्य हो गया।’ तुम वहां से आगे बढ़ गए। तब मुनि प्रसन्नचन्द्र यान-करण आदि युद्ध-सामग्री की शक्ति से अपने आपको रहित जानकर, शीर्षत्राण से शत्रु पर प्रहार करूं यह सोचकर सिर पर हाथ रखा। लुंचित सिर पर हाथ रखते हुए उसने प्रतिबुद्ध होकर सोचा—‘अहो! अकार्य! अहो! अकार्य! मैंने राज्य को छोड़ दिया। परन्तु यतिजनविरुद्ध मार्ग में प्रस्थित हो गया।’ यह सोचकर मुनि अपने कृत्य की निन्दा-गर्हा करता हुआ मुझे वंदना कर मूल स्थान में आरूढ़ होकर आलोचना-प्रतिक्रमण कर प्रशस्त ध्यान में संलग्न हो गया। उस प्रशस्तध्यान से मुनि ने सारे अशुभ कर्मों का नाश कर पुण्य अर्जित किया। इन दो काल-विभागों के आधार पर दो प्रकार की गतियों का कथन किया है।

तब कोणिक ने सुधर्मा से पूछा—‘भगवन्! प्रसन्नचन्द्र बालकुमार को राज्य सौंपकर कैसे प्रव्रजित हो गया? यह वृत्तान्त मैं सुनना चाहता हूं।’ तब सुधर्मास्वामी बोले—‘पोतनपुर का राजा सोमचन्द्र अपनी पटरानी धारिणी के साथ गवाक्ष में बैठा था। रानी राजा के केशों को संवार रही थी।’ उसने श्वेत केश को देखकर कहा—‘स्वामिन्! दूत आ गया है।’ राजा ने चारों ओर देखा। उसे कोई दूसरा व्यक्ति दिखाई नहीं दिया तब वह बोला—‘देवी! तुम्हें दिव्यचक्षु प्राप्त हैं।’ तब रानी ने राजा को सफेद केश दिखाते हुए कहा—‘राजन्! यह धर्मदूत है।’ यह देखकर राजा का मन खिन्न हो गया। यह जानकर देवी बोली—‘क्या आप वृद्धत्व के भावों से लज्जित हो रहे हैं? पटहवादन से इस वृद्धत्व का निवारण करवा लो।’ राजा बोला—‘देवी! ऐसी कोई बात नहीं है। कुमार अभी बालक है। वह प्रजापालन में असमर्थ है—यह सोचकर ही मेरा मन खिन्न हुआ है। मैंने अपने पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण नहीं किया, यही विचार मुझे खिन्न कर रहा है। तुम कुमार प्रसन्नचन्द्र का संरक्षण करती हुई घर में ही रहो।’ देवी ने इसको मानने से इन्कार कर दिया।

तब राजा ने राज्य-परित्याग का निश्चय कर पुत्र को राज्यभार संभलाकर एक धायमाता तथा रानी के साथ दिशाप्रोक्षित तापस के रूप में दीक्षा ग्रहण कर ली। वह चिरकाल से शून्य आश्रम में निवास करने लगा। दीक्षित होते समय रानी गर्भवती थी। गर्भ वृद्धिगत होने लगा। प्रसन्नचन्द्र के चारपुरुषों (गुप्तचरों) ने उसे यह बात बताई। समय पूरा होने पर रानी ने एक बालक को जन्म दिया। उसे वल्कल में रखने के कारण बालक का नाम वल्कलचीरी रखा। वह इसी नाम से प्रसिद्ध हो गया। विसूचिका रोग से ग्रस्त होकर रानी मर गई तब धायमाता ने बालक को वनमहिषी के दूध से पालन-पोषण किया। कुछ ही समय के पश्चात् धायमाता भी काल-कवलित हो गई। ऋषि रूप में सोमचन्द्र वल्कलचीरी के लालन-पालन में कठिनाई का अनुभव करता था। ज्यो-ज्यो बालक बड़ा होने लगा, महाराज प्रसन्नचन्द्र अपने गुप्तचरों से प्रतिदिन वल्कलचीरी के विषय में जानकारी प्राप्त करता रहता। जब बालक बड़ा हुआ तब चित्रकारों ने उसका

चित्रांकन कर राजा प्रसन्नचन्द्र को दिखाया। तब महाराज प्रसन्नचन्द्र ने स्नेह के वशीभूत होकर लघुवयवाली गणिकाओं को ऋषि का रूप धारण कराकर उसके पास भेजा और कहा—‘तुम वल्कलचीरी को विविध प्रकार के फलों के टुकड़ों से, मीठे वचनों से तथा शरीर के स्पर्श से लुभाओ। वे ऋषिवेश में आश्रम में गईं और ऋषि वल्कलचीरी को गुप्त रूप में विविध फलों से, मीठे वचनों से तथा सुकुमाल, पीवर और उन्नत स्तनों के पीलन रूप स्पर्श से उसे मोहित किया। उनमें लुब्ध होकर उसने उनके साथ जाने का संकेत दे दिया। जब वह अपने तापस उपकरणों को एकत्र संस्थापित करने के लिए वहां से गया तब वृक्ष पर आरूढ़ चारपुरुषों ने उन गणिकाओं को संकेत दिया कि ऋषि आ रहे हैं। वे गणिकाएं वहां से खिसक गईं। वल्कलचीरी उन गणिकाओं के मार्ग का अनुसरण करता हुआ आगे बढ़ने लगा। परन्तु उन्हें न देखकर अन्य मार्ग से चला और एक अटवी में पहुंच गया।

अटवी में भटकते हुए उसने रथ में बैठे एक व्यक्ति को देखकर पूछा—‘तात! मैं तुम्हारा अभिवादन करता हूं।’ रथिक ने पूछा—‘कुमार! तुम कहां जाना चाहते हो?’ वह बोला—‘पोतन नामक आश्रम में जाना चाहता हूं। तुम कहां जाओगे?’ रथिक बोला—‘मैं भी वहीं जा रहा हूं।’ वल्कलचीरी उनके साथ चल पड़ा। वह रथिक की पत्नी को ‘तात’ इस संबोधन से संबोधित करने लगा। पत्नी ने रथिक से पूछा—‘यह कैसा उपचार-संबोधन?’ रथिक बोला—‘सुंदरी! यह कुमार स्त्री-विरहित आश्रम में बड़ा हुआ है इसलिए यह विशेष कुछ नहीं जानता। इस पर कुपित नहीं होना चाहिए।’ घोड़ों को देखकर वह बोला—‘तात! इन मृगों को रथ में क्यों जोता गया है?’ रथिक बोला—‘कुमार! इस कार्य में ये ही लगाए जाते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है।’ रथिक ने कुमार को मोदक दिए। कुमार बोला—‘पोतन आश्रमवासियों ने भी मुझे पहले ऐसे ही फल दिए थे।’

वे आगे बढ़े। मार्ग में एक चोर मिला। रथिक ने उसके साथ युद्ध प्रारंभ कर दिया। रथिक ने उस पर गाढ़ प्रहार किया। चोर उसकी युद्ध-शिक्षा से परितुष्ट होकर बोला—‘हे वीर! मेरे पास विपुल धन है। तुम उसे ले लो।’ तब तीनों ने रथ को धन से भर दिया। आगे चलते हुए वे पोतन नगर में पहुंचे। वल्कलचीरी को कुछ धन समर्पित कर उसे उदक की गवेषणा करने के लिए विसर्जित कर दिया। वह घूमता हुआ एक गणिका के घर में प्रविष्ट हुआ। गणिका बोली—‘तात! मैं तुम्हारा अभिवादन करती हूं।’ वल्कलचीरी बोला—‘इतना मूल्य लेकर मुझे उदक दो।’ गणिका बोली—‘पहले मैं तुम्हें यहां निवास देती हूं।’ उसने नापित को बुला भेजा। वल्कलचीरी नख-परिकर्म करवाना नहीं चाहता था। उसके वल्कल उतार दिए गए। उसको ज्योंही स्नान कराने का उपक्रम किया गया, वह बोला—‘मेरा ऋषिवेश मत उतारो।’ तब गणिका ने कहा—‘जो यहां उदकार्थी आते हैं, उनके साथ ऐसा ही व्यवहार किया जाता है।’ फिर उसको स्नान करवाया और विशेष वस्त्र पहनाए। अनेक आभूषणों से उसको अलंकृत किया और गणिका की कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण कर दिया। तब वे गणिकाएं वधूवर संबंधी गीत गाने बैठ गईं।

इधर कुमार वल्कलचीरी को लुब्ध करने के लिए ऋषिवेश में भेजी गई गणिकाएं भी वहां आ पहुंचीं। उन्होंने आकर राजा प्रसन्नचन्द्र से कहा—‘कुमार अटवी में चला गया। हम ऋषि के भय से उसे बुला नहीं सकीं।’ यह सुनकर राजा विषण्ण हो गया। अहो! अकार्य हो गया। न कुमार पिता के पास ही

रह सका और न यहां ही आया। पता नहीं, उसके साथ क्या हुआ होगा? राजा चिंतातुर हो गया। इतने में ही उसके कानों में मृदंग की ध्वनि पड़ी। उसका मन दुःखी हो गया। उसने सोचा—‘मैं दुःखी हो रहा हूं। कौन दूसरा व्यक्ति इस प्रकार नृत्य-गीत से क्रीड़ा कर रहा है?’ गणिका को यह बात एक व्यक्ति ने कही। वह आई और प्रसन्नचन्द्र महाराज के चरणों में गिरकर बोली—‘देव! एक नैमित्तिक ने मुझे यह बताया था कि अमुक दिन, अमुक वेली में जो तरुण तापसवेश में तुम्हारे घर आए, उसे उसी समय अपनी दारिका दे देना, उसके साथ दारिका का विवाह कर देना। वह उत्तम पुरुष है। उसके साथ वह दारिका विपुल सौख्यभागिनी होगी। नैमित्तिक ने मुझे जैसा बताया था, वैसा तरुण आज मेरे घर पर आया। नैमित्तिक के कथन को प्रमाण मानकर मैंने अपनी दारिका उसे दे दी। उसके निमित्त यह उत्सव मनाया जा रहा है। मुझे ज्ञात नहीं था कि आपका कुमार भाग गया है। आप मेरा अपराध क्षमा करें।’ राजा ने अपने आदमियों को भेजा। जिन लोगों ने कुमार को पहले उद्यान में देखा था, वे गए और कुमार को पहचान लिया। उन्होंने आकर राजा को प्रिय बात सुनाई। तब राजा स्वयं गणिका के घर गया। उसने चांद की भांति सोमलेश्या से युक्त कुमार को देखा। राजा का मन परम प्रीति से आप्लावित हो गया। वह बधूसहित कुमार को अपने प्रासाद में ले गया। सदृश कुल, रूप, यौवन आदि गुणों से युक्त कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। राज्य का संविभाग प्राप्त कर कुमार वल्कलचीरी सुखपूर्वक रहने लगा।

उस रथिक को चोर द्वारा प्रदत्त धन ले जाते हुए देखकर राजपुरुषों ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया। राजकुमार वल्कलचीरी ने प्रसन्नचन्द्र को ज्ञात कराकर उसे मुक्त करवा दिया।

इधर राजर्षि सोमचन्द्र कुमार को आश्रम में न देखकर शोकसागर में डूब गया। महाराज प्रसन्नचन्द्र द्वारा भेजे गए पुरुषों ने आकर कहा—‘हमने पोतनपुर में राजा के पास कुमार को देखा है।’ यह सुनकर राजर्षि आश्वस्त हुआ। फिर भी प्रतिदिन कुमार की स्मृति करने के कारण वह अंधा हो गया। वह दयार्द्र ऋषियों के साथ वहीं आश्रम में रहने लगा।

कुमार वल्कलचीरी को राजप्रासाद में रहते बारह वर्ष बीत गए। एक बार आधी रात बीत जाने पर वह जाग गया और अपने पिता के विषय में चिंतन करने लगा। उसने सोचा—‘मैं निर्घृण हूं। न जाने मेरे से विरहित मेरे पिता कहां हैं?’ उसके मन में पिता के दर्शन की उत्सुकता जाग गई। प्रभात हुआ। वह महाराज प्रसन्नचन्द्र के पास जाकर बोला—‘देव! पिता को देखने की मेरी उत्कंठा जाग गई है। आप मुझे विसर्जित करें।’ प्रसन्नचन्द्र ने कहा—‘हम साथ चलते हैं।’ वे आश्रम में गए और राजर्षि से बोले—‘प्रसन्नचन्द्र प्रणाम करता है।’ चरणों में लुठते प्रसन्नचन्द्र का राजर्षि ने हाथ से स्पर्श किया और कहा—‘पुत्र! नीरोग तो हो?’ वल्कलचीरी ने प्रणाम किया। राजर्षि ने चिर समय तक उसे आलिंगित किया। आंखों से आसुओं की बाढ़ चल पड़ी। राजर्षि के नयन खुल गए। दोनों पुत्रों को देखकर राजर्षि परम संतुष्ट हुए। बीते समय की सारी बातें उनसे पूछी। कुमार वल्कलचीरी उटज में यह देखने के लिए गया कि राजर्षि पिता के तापस-उपकरण प्रतिलेखित होते हुए किस स्थिति में हैं? वह उटज में गया और अपने उत्तरीय के पल्ले से उनकी प्रतिलेखना करने लगा। अन्यान्य उपकरणों की प्रतिलेखना कर चुकने के पश्चात् ज्योंही वह पात्र-केसरिका की प्रतिलेखना करने लगा तो प्रतिलेखना करते-करते उसने सोचा—‘मैंने ऐसी क्रियाएं पहले भी

की हैं।' वह विधि का अनुस्मरण करने लगा। तदावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होने पर उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। उससे देवभव, मनुष्यभव तथा पूर्वाचरित श्रामण्य की स्मृति हो आई। इस स्मृति से उसका वैराग्य बढ़ा। धर्मध्यान से अतीत हो, विशुद्ध परिणामों में बढ़ता हुआ, शुक्ल-ध्यान की दूसरी भूमिका का अतिक्रमण कर, ज्ञान-दर्शन, चारित्र और मोहान्तराय को नष्ट कर वह केवली हो गया। वह उटज से बाहर निकला। उसने अपने पिता राजर्षि सोमचन्द्र तथा महाराज प्रसन्नचन्द्र को जिनप्रज्ञप्त धर्म का उपदेश दिया। दोनों को सम्पत्त्व की प्राप्ति हुई। दोनों ने केवली को सिर नमाकर प्रणाम किया। वे बोले—'तुमने हमको अच्छा मार्ग दिखाया। प्रत्येकबुद्ध वल्कलचोरी पिता को साथ ले वर्द्धमानस्वामी के पास गया। महाराज प्रसन्नचन्द्र अपने नगर में चले गए। तीर्थंकर भगवान् महावीर विहरण करते हुए पोतनपुर के मनोरम उद्यान में समवसृत हुए। महाराज प्रसन्नचन्द्र को वल्कलचोरी के उपदेश से वैराग्य उत्पन्न हुआ। तीर्थंकर के वचनों से उसका उत्साह बढ़ा और वह बाल-पुत्र को राज्यभार संभलाकर प्रव्रजित हो गया। उसने सूत्रार्थ का ज्ञान प्राप्त कर लिया। तप और संयम से अपने आपको भावित करता हुआ राजर्षि प्रसन्नचन्द्र मगधपुरी (राजगृह) में आए। वहां वे आतापना ले रहे थे। महाराज श्रेणिक ने उनको सादर वंदना की। यह उनके निष्क्रमण की कहानी है।

भगवान् महावीर श्रेणिक के समक्ष प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के अशुभ-शुभ ध्यान के कारण नरक-देवगति की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन कर रहे थे, इतने में ही राजर्षि जहां आतापना में स्थित थे, वहां देवों का उपपात हो रहा था। श्रेणिक ने भगवान् से पूछा—'भगवन्! यह देव-संपात क्यों हो रहा है?' भगवान् बोले—'अनगार प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है इसलिए देव आ रहे हैं।' फिर श्रेणिक ने पूछा—'भगवन्! केवलज्ञान कब-किससे व्युच्छिन्न होगा?' उस समय ब्रह्मलोक का देवेन्द्र सामानिक विद्युन्माली देव अपने तेज से दसों दिशाओं में उद्योत करता हुआ वंदना करने आया। भगवान् ने श्रेणिक को दिखाया कि यही अंतिम केवली होगा।'

१०१. अनुकम्पा से सामायिक (बोधि) की प्राप्ति

द्वारिका में कृष्ण वासुदेव के दो वैद्य थे—धन्वन्तरी और वैतरणी। धन्वन्तरी अभव्य था और वैतरणी भव्य। वैतरणी ग्लान साधुओं की प्रेमपूर्वक सेवा करता था। वह उनको प्रासुक औषधि बताता और जो औषधियां उसके पास होतीं, वह उन साधुओं को देता था। धन्वन्तरी ऐसी सावद्य औषधियां बताता, जो साधुओं के प्रायोग्य नहीं होती थीं। साधु कहते—'वैद्यराज! ये औषधियां हमारे योग्य कहां हैं?' वह कहता—'मैंने श्रमणों के लिए वैद्यकशास्त्र पढ़ा है क्या?' ये दोनों वैद्य महारंभी और महापरिग्रही थे। वे पूरी द्वारिका में चिकित्सा करते थे। एक बार वासुदेव कृष्ण ने तीर्थंकर से पूछा—'ये वैद्य ढंक आदि अनेक प्राणियों का वध करते हैं। यहां से मरकर कहां जायेंगे?' तब तीर्थंकर बोले—'यह धन्वन्तरी वैद्य अप्रतिष्ठान नरक में उत्पन्न होगा और वैतरणी वैद्य कालंजर अटवी के पास बहती गंगा और विन्ध्य के मध्य में वानर के रूप में उत्पन्न होगा।' अवस्था प्राप्त होने पर वह वानर-यूथपति बन जायेगा। वहां एक बार साधुओं का

१. आवनि. ५४५, आवचू. १ पृ. ४५५-४६०, मटी. प. ४५७-४६०।

यूथ आएगा। एक साधु के पैर में कांटा लगेगा। कांटा अपरिहार्य होगा। अन्य साधु कहेंगे—‘कांटे की पीड़ा का शमन होने तक हम यहीं रहेंगे।’ तब वह साधु कहेगा—‘आप सभी यहां रहकर मरने के बदले यहां से प्रस्थान कर दें, मैं अकेला अनशन कर लूंगा।’ वह जबरन वहां रह जाएगा। कांटा नहीं निकलने से वह एक छायादार भूभाग में जाकर बैठ जाएगा। दूसरे मुनि चले जाएंगे। तब वह वानरयूथाधिपति उस प्रदेश में आएगा, जहां वह साधु बैठा था। वहां पहले से आए हुए वानर ‘किलकिल’ शब्द करेंगे। उनकी किलकिलाहट सुनकर यूथाधिपति रुष्ट होकर वहां आएगा। साधु को ध्यान से देखकर ईहा-अपोह करते हुए उसे ज्ञात होगा कि मैंने ऐसा रूप कहीं देखा है। जातिस्मृति के द्वारा उसे द्वारिका की स्मृति होगी। तब वह मुनि को वंदना करके उनके पैर में चुभे शल्य को देखेगा। उसे चिकित्सा की पूरी विधि का स्मरण होगा। वह तत्काल पर्वत पर जाकर वहां से शल्योद्धारिणी तथा शल्यरोहिणी—दो औषधियां लेकर आएगा। सबसे पहले वह शल्योद्धारिणी औषधि का पैर पर लेप करेगा। एक मुहूर्त के पश्चात् शल्य स्वयं ही निकलकर बाहर आ जाएगा। फिर शल्यरोहिणी के लेप से घाव ठीक हो जाएगा। फिर वह वानर मुनि के समक्ष भूमि पर ये अक्षर लिखेगा—‘मैं वैतरणी नामक वैद्य पूर्वभव में द्वारिका में था।’ मुनि ने भी यह नाम सुन रखा था। वह वानर को धर्म सुनाएगा। वानर भक्तप्रत्याख्यान कर तीन दिन तक जीवित रहेगा। वहां से मरकर सहस्रार देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होगा।

देवलोक में अवधिज्ञान का प्रयोग कर वह अपने मृत शरीर को देखेगा। वहां आकर देव मुनि को ऋद्धि बताकर कहेगा—‘तुम्हारी कृपा से मुझे देवर्द्धि प्राप्त हुई है।’ फिर वह वानर मुनि के शरीर को उन साधुओं के पास ले जाएगा। साधुओं के पूछने पर वह सारा वृत्तान्त बताएगा। इस प्रकार अनुकंपा के कारण उस वानर को सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक तथा चारित्राचारित्रसामायिक की प्राप्ति होगी। अन्यथा वह नरकप्रायोग्य कर्म बांधकर नरकगामी होता। वह देव योनि से च्युत होकर चारित्रसामायिक प्राप्त करेगा, फिर सिद्धि गति को प्राप्त होगा।^१

१०२. अकामनिर्जरा से सामायिक की प्राप्ति

बसंतपुर नगर में एक धनिक वधू नदी पर स्नान कर रही थी। एक तरुण ने उसे देखकर कहा—‘हे मदोन्मत्त हाथी के सूंड सी जंघा वाली सुंदरी! नदी तुझे पूछ रही है कि क्या तूने भलीभांति स्नान कर लिया? नदी के ये वृक्ष और मैं तेरे चरणों में नत हैं।’ प्रत्युत्तर में वह बोली—‘नदियां सुभग हों तथा ये नदी के वृक्ष चिरकाल तक जीवित रहें। जो मुझे यह पूछ रहे हैं कि क्या तुमने भलीभांति स्नान कर लिया, हम उसके लिए प्रियता संपादित करने का प्रयत्न करेंगे।’ तरुण उसका घर-द्वार नहीं जानता था। उसने सोचा नीतिकार कहते हैं कि—‘अन्नपान के द्वारा बालिकाओं का, विभूषा से यौवनस्थ नारियों का, उपचार के द्वारा वैश्या का तथा कठोर सेवा से वृद्धा का हरण किया जा सकता है, आकृष्ट किया जा सकता है।’ उस तरुणी के साथ आने वाली बालिकाएं वृक्षों को देख रही थीं। वह तरुण उनके पास गया। उन्हें फल-फूल देकर पूछा—‘यह तरुणी कौन है?’ उन बालिकाओं ने कहा—‘अमुक सेठ की पुत्रवधू है।’ तब उसने

१. आवनि. ५४७, आवचू. १ पृ. ४६०, ४६१, हाटी. १ पृ. २३२, मटी. प. ४६१।

सोचा, किस उपाय से मेरा इस तरुणी के साथ मिलाप हो ? उसने एक तापसी को दान-मान देकर उस तरुणी के पास भेजा। वह तापसी तरुणी के पास जाकर बोली—‘अमुक तरुण तुमको पूछ रहा था। उस समय वह बर्तनों को राख से मांज रही थी। तापसी की बात सुनकर वह रुष्ट हो गई और राख से लिप्त हाथ से उस तापसी की पीठ आहत की। उसकी पीठ पर पांचों अंगुलियों के निशान अंकित हो गए। तरुणी ने उस तापसी को पिछवाड़े से निकाल दिया।’

तापसी उस तरुण के पास जाकर बोली—‘वह तो तुम्हारी बात भी सुनना नहीं चाहती।’ तापसी से सारी बात सुनकर तथा उसकी पीठ पर अंकित अंगुलियों के चिह्न देखकर तरुण जान गया कि कृष्णपक्ष की पंचमी को बुलाया है। तरुण ने पुनः तापसी को यह जानने के लिए भेजा कि कहां मिलना है ? तापसी गई तब तरुणी कुछ शरमाती हुई—सी उसे आहत करने लगी तथा अशोकवाटिका की बाड़ से उसे बाहर निकाल दिया। वह तरुण के पास जाकर बोली—‘भद्र ! वह तो तेरा नाम भी सुनना नहीं चाहती। तरुण ने पूरी बात तापसी से पूछी और यह जान लिया कि उसे कहां मिलना है ?’ वह पिछवाड़े के द्वार से वहां गया और तरुणी को साथ ले अशोकवाटिका में विश्राम करने लगा। दोनों सो गए। श्वसुर ने यह देख लिया। वह वहां आया, जहां दोनों सो रहे थे। उसने जान लिया कि वधू के साथ सोने वाला उसका पुत्र नहीं है। फिर वह धीरे से वधू के एक पांव से एक नुपूर निकालकर ले गया। वह तरुणी जाग गई। उसने उस तरुण को उठा कर कहा—‘जल्दी भागो यहां से। अवसर आने पर मेरी सहायता करना।’ वह तरुण वहां से चला गया। तरुणी अपने घर गई और पति से बोली—‘यहां गर्मी बहुत है। हम अशोकवाटिका में चलें और वहीं सो जाएं।’ दोनों अशोकवाटिका में जाकर सो गए। कुछ ही समय पश्चात् उस तरुणी ने अपने पति को जगाकर कहा—‘क्या यह तुम्हारे कुल के अनुरूप है ? श्वसुर अभी मेरे पांव से नुपूर निकालकर ले गए।’ पति बोला—‘अभी सो जाओ, प्रातः वह मिल जाएगा।’ पुत्र ने स्थविर पिता से रुष्ट होकर कहा—‘विपरीत आचरण करने लगे हो ?’ स्थविर पिता बोला—‘मैंने वधू को किसी दूसरे पुरुष के साथ सोते हुए देखा था।’ विवाद होने पर वधू बोली—‘मैं आत्मा की शुद्धि करूंगी—धीज करूंगी।’ पुत्र और पिता ने कहा—‘अच्छा है करो।’ वह स्नान कर यक्षगृह की ओर गई। वहां यह बात प्रसिद्ध थी कि जो अपराधी होगा वह यक्षमूर्ति की दोनों जंघाओं के बीच से निकलता हुआ वहीं फंस जाएगा और जो अपराधी नहीं होगा, वह उस अन्तराल से निकल जाएगा, फंसेगा नहीं। तरुणी के कथनानुसार वह तरुण पिशाच का रूप बनाकर उसी यक्ष मंदिर में रह रहा था। उसने उस युवती को पकड़कर आलिंगन कर लिया। तरुणी यक्ष की मूर्ति के समक्ष जाकर लोगों को सुनाई दे, ऐसे स्वरों में बोली—‘मैंने अपने जीवन में पिता के द्वारा प्रदत्त पति तथा पिशाच को छोड़कर यदि किसी पर पुरुष से नाता जोड़ा हो तो हे यक्ष ! तुम मुझे फंसा देना।’ वह छूट गई। यक्ष ने सोचा—‘देखो, इसने मुझे भी ठग लिया। इसमें कोई सतीत्व नहीं है।’ यक्ष ने सोचा इतनी देर में वह यक्ष के पंजे से छूटकर चली गई। सभी लोगों ने स्थविर श्वसुर को बुरा-भला कहा। अधृति के कारण उसकी नींद उचट गई। राजा ने यह सुना तो उसे अन्तःपुर पालक के रूप में नियुक्त कर लिया।

आभिषेक हस्तिरत्न राजा के वासगृह के नीचे ही बंधा रहता था। एक रानी महावत में आसक्त थी। रात्रि में हाथी अपनी सूंड ऊपर उठाता और रानी उस पर पैर रखकर नीचे उतर जाती। वह रात महावत के

साथ बिताती। प्रातः उसी विधि से अपने प्रासाद में चली जाती। इस प्रकार समय बीतता गया। एक बार रानी विलंब से पहुंची। महावत ने हाथी की सांकल से उसे पीटा। वह बोली—‘वहां एक अन्तःपुर पालक है। वह रात भर सोता ही नहीं। तुम मेरे ऊपर क्रोध मत करो।’

एक बार अन्तःपुर पालक ने रानी को आते-जाते देख लिया। उसने सोचा—‘यदि ये भी ऐसी हैं तो जो सामान्य स्त्रियां हैं, उनका तो कहना ही क्या?’ वह सो गया। प्रभात हुआ। सभी लोग जाग गए। वह नहीं जागा। राजा ने कहा—‘इसे सोने दो।’ वह सातवें दिन उठा। राजा के पूछने पर उसने कहा—‘एक रानी मैं नहीं जानता कौन है, वह प्रतिरात्रि हाथी की सूंड के सहारे बाहर जाती है। तब राजा ने एक मिट्टी का हाथी बनवाया और अन्तःपुर की सभी रानियों को आज्ञा दी कि इस हाथी की पूजा कर, सभी इसके ऊपर चढ़कर नीचे उतरे। सभी रानियों ने वैसा ही किया परन्तु उस रानी ने कहा—‘मुझे हाथी पर चढ़ने-उतरने में भय लगता है।’ तब राजा ने उसे कमलनाल से आहत किया। वह उस प्रहार से मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। राजा ने जान लिया कि यही अपराधिनी है। राजा बोला—‘हे मदोन्मत्त हाथी पर आरोहण करने वाली! तू इस मिट्टी के हाथी पर चढ़ने से डर रही है। तू कमलनाल से आहत होने पर मूर्च्छित हो गई और गजसांकल से आहत होने पर भी मूर्च्छित नहीं हुई।’ राजा ने उसकी पीठ पर सांकल से प्रहार के चिह्न देखे। तब राजा ने महावत तथा उस रानी को हाथी पर बिठाकर छिन्न मेखला वाले पर्वत पर भेज दिया। राजा ने महावत से कहा—‘तुम तीनों उस पर्वत से नीचे गिर जाना।’ हाथी के दोनों पार्श्वों में दो सैनिक हाथों में भाला लिए हुए खड़े थे। हाथी का एक पैर बांधकर ऊंचा कर दिया। लोगों ने कहा—‘बेचारे इस पशु की क्या गलती है? महावत और रानी को मारा जाए।’ तब भी राजा का रोष शान्त नहीं हुआ। दूसरी बार हाथी के दोनों पैर ऊपर कर दिए और तीसरी बार तीनों पैर। अब हाथी एक पैर पर खड़ा था। लोगों ने आक्रन्दन करते हुए कहा—‘अरे! इस हस्तिरत्न को क्यों मार रहे हो?’ राजा का मन पिघला। उसने कहा—‘क्या कोई इसे निर्वर्तित कर सकता है?’ एक व्यक्ति बोला—‘यदि अभय दें तो।’ राजा ने अभय दे दिया। उसने अंकुश से उसे निर्वर्तित कर, कुछ घुमाकर एक स्थान पर खड़ा कर दिया। महावत और रानी को हाथी से नीचे उतार कर दोनों को देश से निकाल दिया।

महावत और रानी—दोनों एक प्रत्यंत गांव में गए और एक शून्यगृह में ठहरे। गांव में चोरी कर एक चोर वहां आकर ठहरा। रानी महावत से बोली—‘हम दोनों एक दूसरे से वेष्टित होकर बैठें, जिससे यहां कोई दूसरा प्रवेश न कर सके।’ प्रभात होने पर यहां से चलेंगे। चोर भी इधर-उधर लुढ़कता हुआ रानी से छू गया। रानी ने स्पर्श का वेदन किया। स्मृष्ट होने पर वह बोली—‘कौन हो तुम?’ वह बोला—‘मैं चोर हूं।’ वह बोली—‘तुम मेरे पति हो जाओ और तब हम इस (महावत) को चोर बता देंगे।’

प्रभात हुआ। गांव वालों ने महावत को चोर समझकर पकड़ लिया। उसे शूली पर चढ़ाकर मार डाला। वह रानी चोर के साथ चली जा रही थी। मार्ग में एक नदी आई। चोर ने उससे कहा—‘तुम यहां ठहरो। मैं वस्त्र और आभूषणों को लेकर नदी के उस पार रखकर लौट आऊंगा।’ चोर वस्त्र और आभूषण लेकर नदी में उतरा और वहां से चला। रानी बोली—‘यह नदी परिपूर्ण है। गहरे पानी वाली है। मेरी सारी वस्तुएं तुम्हारे हाथ में हैं। जैसे तुम नदी के पार जाना चाहते हो, क्या वैसे ही मेरा सारा भांड ले जाना चाहते हो?’ वह चोर नदी के पानी में रुक कर बोला—‘बाले! जो चिर-परिचित था उसे छोड़कर तुम अपरिचित

के साथ जा रही हो। ध्रुव को छोड़कर अध्रुव को ग्रहण कर रही हो। मैं तुम्हारी प्रकृति और स्वभाव को जान गया हूँ। दूसरा कौन व्यक्ति तुम्हारे में विश्वास करेगा।' रानी बोली—'क्या तुम वास्तव में चले जा रहे हो?' वह बोला—'जैसे तुमने महावत को मरवाया वैसे ही मुझे भी कभी मरवा डालोगी।' वह चोर पलायन कर गया।

नदी तट पर एक व्यक्ति कांटों से विद्ध होकर पड़ा था। उसने पानी मांगा। वहां एक श्रावक आया। वह बोला—'यदि तुम नमस्कार मंत्र का जाप करोगे तो मैं पानी दूंगा।' वह विद्ध व्यक्ति उसके निकट गया और नमस्कार मंत्र का जाप करते हुए दिवंगत हो गया। मरकर वह व्यंतर देव बना। आरक्षक पुरुषों ने श्रावक को चोर समझकर पकड़ लिया। उस व्यंतर देव ने अवधिज्ञान का प्रयोग कर देखा कि उसके पूर्वभव का शव पड़ा है और श्रावक आरक्षकों द्वारा बद्ध है। तब उसने शिला की विकुर्वणा कर फेंकी। व्यंतर देव ने रानी को शरस्तंब में छुपी हुई देखा। तब उसके मन में घृणा उत्पन्न हुई। देव ने शृगाल का रूप बनाया और अपने मुंह में मांसपेशी लेकर नदी की ओर चला। इतने में ही नदी से उछलकर एक मत्स्य तट पर आ गिरा। शृगाल मांसपेशी को वहीं छोड़कर मत्स्य को पकड़ने दौड़ा। मत्स्य पानी में चला गया तभी बाज उस मांसपेशी को लेकर उड़ गया। तब शृगाल शोकाकुल हो गया। यह देखकर वह रानी बोली—'हे जम्बुक! मांसपेशी को छोड़कर मत्स्य की आशा करते हो? मांसपेशी भी गई और मत्स्य भी नहीं मिला। अब तुम विलाप क्यों कर रहे हो?' वह सियालरूप देव बोला—'हे पत्रपुटों से आच्छादित सुंदरी! पिता की अपकीर्ति करने वाली! तेरा पति भी गया और जार भी। हे पुंश्चली! अब क्यों शोक कर रही है?' ऐसा सुनकर वह उदासीन और लज्जित हो गई। तब देव ने अपना असली रूप दिखाया और बोला—'तुम प्रव्रजित हो जाओ।' देव ने राजा को तर्जित किया। उसने श्रावक को छोड़ दिया। उसका अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाया। मरकर वह देवलोक में उत्पन्न हुई।^१

१०३. बाल-तपस्या से सामायिक की प्राप्ति (इन्द्रनाग)

वसंतपुर^२ नगर में मारी के प्रकोप से एक सेठ का घर उजड़ गया। उनके इन्द्रनाग नामक एक पुत्र था, जो मारी के प्रकोप से बच गया। बालक ने भूख और प्यास से व्याकुल होकर, प्यास बुझाने के लिए पानी मांगा। उसने देखा कि परिवार के सारे सदस्य मर गए। उसके घर के द्वार को गांव के लोगों ने कांटों की बाड़ से ढक दिया था। उसको वहां छह दिन बीत गए। तब वह एक शून्य छिद्र से घर से बाहर निकलकर उसी नगर में भीख मांगने लगा। लोग उसको अपने नगर का भूतपूर्व सदस्य समझकर कुछ न कुछ देते। इस प्रकार वह बढ़ रहा था। एक बार राजगृह से एक वणिक् आया। उसने घोषणा करवाई कि यदि कोई साथ आना चाहे तो आ सकता है। उस बालक ने यह घोषणा सुनी और वह सार्थ के साथ हो गया। सार्थ के साथ उसे खाने के लिए चावल का भोजन मिला। उसने भोजन किया पर वह पचा नहीं। दूसरे दिन वह वहीं रहा लेकिन भोजन नहीं किया। सेठ ने सोचा इसके उपवास है तथा यह अव्यक्तलिंगी है। दूसरे दिन भोजन के लिए घूमने पर सेठ ने उसे अति स्निग्ध आहार दिया। दूसरे दिन भी उसके अजीर्ण हो गया। सार्थवाह ने समझा कि यह षष्ठ्यन्तकालिक है अर्थात् बेले की तपस्या वाला है। उसके प्रति सार्थवाह

१. आवर्णि. ५४७, आवचू. १ पृ. ४६१-४६५, हाटी. १ पृ. २३३-२३५, मटी. प. ४६१-४६३।

२. चूर्णि में जीर्णपुर नगर का उल्लेख है।

की श्रद्धा जागी। तीसरे दिन वह भोजन के लिए घूम रहा था। सार्थवाह ने बुलाकर पूछा—‘कल क्यों नहीं आए?’ मौन रहने पर सार्थवाह ने सोचा कि इसने बेले की तपस्या की है अतः उसे स्निग्ध भोजन दिया। दो दिन और ऐसे ही बीत गए। लोगों में उसके प्रति श्रद्धा भावना बढ़ी। उसे कोई भोजन का निमंत्रण देता तो भी वह स्वीकार नहीं करता। लोगों में यह प्रसिद्धि हो गई कि यह एकपिंडिक है।

चलते-चलते वे अष्टापद पर्वत पर पहुंचे। वणिक् ने कहा—‘तुम दूसरों के यहां पारणा ग्रहण मत किया करो। जब तक नगर न आ जाए, तब तक मैं तुमको भिक्षा दूंगा।’ नगर में पहुंचने पर वणिक् ने उसके लिए अपने घर में मठ बना दिया। उसने अपना सिर मुंडाया और भगवे वस्त्र धारण कर लिए। लोगों में वह संन्यासी के रूप में प्रसिद्ध हो गया। अब वह उस घर में भी रहना नहीं चाहता था। जिस दिन उसके पारणा होता उस दिन अनेक लोग आहार लेकर आते। वह एक ही व्यक्ति का पिंड लेता पर लोग नहीं जानते थे कि वह किसका ग्रहण करेगा। तब लोगों ने ज्ञापित करने के लिए भेरी की व्यवस्था कर कहा कि जो भोजन देगा, वह भेरी बजायेगा। जो उसको भोजन देता, वह भेरी बजाता। इस प्रकार काल बीतने लगा।

एक बार भगवान् महावीर वहां पधारे। उन्होंने साधुओं से कहा—‘कुछ देर ठहरो, अभी अनेकपण है।’ जब वह संन्यासी भोजन कर चुका तब भगवान् बोले—‘अब भिक्षा के लिए जाओ।’ उन्होंने गौतम को बुलाकर कहा—‘तुम जाओ और मेरे वचन से उस साधु को कहो—‘अहो! अनेकपिंडिक! तुमको एकपिंडिक देखना चाहते हैं।’ गौतम स्वामी वहां गए और भगवान् के निर्देशानुसार उसे कहा। वह रुष्ट होकर बोला—‘तुम अनेक पिंड खाते हो। मैं एकपिंड खाता हूँ इसलिए मैं एकपिंडिक हूँ और तुम अनेकपिंडिक हो।’

कुछ क्षण बीतने पर उसका रोष उपशान्त हुआ। उसने सोचा—‘ये मुनि मृषा नहीं बोलते। इनकी बात सच हो सकती है?’ उसे श्रुति प्राप्त हुई। उसने सोचा—‘मैं अनेकपिंडिक हूँ क्योंकि जिस दिन मेरे पारणा होता है, सैंकड़ों पिंड बनाए जाते हैं। ये मुनि अकृत और अकारित पिंड लेते हैं इसलिए इनका कहना सत्य है।’ इस प्रकार सोचते-सोचते उसे जातिस्मृति ज्ञान प्राप्त हो गया। वह प्रत्येकबुद्ध हो गया। इन्द्रनाग नामक वह साधु अर्हत् हुआ और सिद्धि गति प्राप्त कर ली। उसने बालतप से सामायिक-बोधि प्राप्त की।

१०४. दान से सामायिक की प्राप्ति (कृतपुण्य)

एक नगर में एक वत्सपाली—धायमाता रहती थी। उसके एक पुत्र था। एक दिन उत्सव पर लोगों ने अपने-अपने घरों में खीर बनाई। वत्सपाली के पुत्र ने दूसरे बच्चों को खीर खाते देखा तो वह अपनी मां से बोला—‘मुझे भी खीर पकाकर दो।’ सामग्री नहीं है, यह सोचकर वह रो पड़ी। उसकी सखियों ने उससे रोने का कारण पूछा। उसने सरलता से कारण बता दिया। तब उन्होंने सारी सामग्री लाकर दे दी। कोई दूध ले आई, कोई तन्दुल और कोई चीनी। तब उस स्थविरा ने खीर पकाकर घृत-मधु से संयुक्त कर एक थाली में परोस कर बालक के सामने रख दी। इतने में मासक्षण की तपस्या के पारणे में घूमते-घूमते एक मुनि वहां आ पहुंचे। मां भीतर गई हुई थी। बालक ने सोचा—‘मुझे भी धर्म का लाभ कमाना है।’ उसने अपनी थाली में पड़ी खीर का तीसरा भाग मुनि को दे दिया। फिर सोचा, यह तो बहुत कम है। तब उसने दूसरा भाग

१. आवनि. ५४७, आवचू. १ पृ. ४६५, ४६६, हाटी. १ पृ. २३५, मटी. प. ४६३, ४६४।

भी दे दिया। फिर सोचा, यदि इसी पात्र में अन्य अम्ल आदि द्रव्य लिए जायेंगे तो यह बिगड़ जाएगी अतः उसने शेष खीर भी दे दी। तब उसने द्रव्यशुद्ध, दायकशुद्ध और ग्राहकशुद्ध—इस शुद्ध दान से देव-आयुष्य का बंध किया।

मां ने आकर थाली को खाली देखा तो उसने सोचा—‘बच्चे ने सारी खीर खा ली है।’ मां ने पुनः खीर परोसी। उस बालक ने थोड़ी मात्रा में अपना पेट भरा। रात्रि में विसूचिका से मरकर वह देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहां से च्युत होकर वह राजगृह नगर में प्रधान सेठ धनावह की भार्या भद्रा के गर्भ से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। जब वह गर्भ में था तब लोग कहते—‘जो गर्भ में आया है, वह कृतपुण्य है।’ जब मां ने पुत्र का प्रसव किया तब उसका नाम ‘कृतपुण्य’ रखा। वह बड़ा होने लगा। उसने अनेक कलाएं सीखीं। युवा होने पर उसका विवाह हुआ। माता ने उसे दुर्ललित गोष्ठी के सदस्यों के साथ रखा। उन्होंने उसे गणिकागृह में प्रविष्ट करा दिया। बारह वर्षों तक वह वहां रहा। पूरा कुल निर्धन हो गया। फिर भी वह गणिका के घर से नहीं निकला। उसके माता-पिता मर गए। अंतिम दिन उसकी भार्या ने अपने आभूषण वेश्या के घर भेजे। गणिका की माता ने जान लिया कि अब यह निःस्सार हो गया है। तब वे आभूषण तथा सहस्र मुद्राएं लौटा दीं। गणिका की माता ने कहा—‘इसे घर से निकाल दो।’ वेश्या की पुत्री ऐसा नहीं चाहती थी। तब उसे चोरी के आरोप से वहां से निकाल कर घर भेजना चाहा। वह घर के बाहर बैठ गया। तब दासी ने कहा—‘घर से निकाल देने पर भी अभी यहीं बैठे हो?’ तब वह अपने जीर्ण-शीर्ण घर पर आया, भार्या ससंभ्रम उठी। कृतपुण्य ने पत्नी को सारी बात बताई और शोकग्रस्त होकर पत्नी से पूछा—‘घर में कुछ है?’ उसने कहा—‘दूसरों से मांग कर काम चला रही हूं।’ तब उसने गणिका की माता द्वारा लौटाए गए आभरण तथा सहस्र मुद्राएं उसे दिखाईं।

उसी दिन एक सार्थ किसी गांव की ओर प्रस्थित होने वाला था। कृतपुण्य भांडमूल्य लेकर उसके साथ प्रस्थित हो गया। मार्ग में वह एक देवालय के बाहर खाट बिछाकर सो गया। वहीं एक वणिक् की माता ने सुना कि उसका पुत्र नौका के टूट जाने पर मर गया तब उसने उस व्यक्ति को धन देते हुए कहा—‘भाई! यह बात किसी को मत बताना।’ माता ने सोचा—‘मुझे पुत्र रहित समझकर राजा मेरा सारा धन न ले ले, यह सोचकर वह रात्रि में उस सार्थ के पास आई। वह किसी अनाथ की खोज में थी। उसने मंदिर के बाहर खाट पर सोए कृतपुण्य को देखा, उसे समझाकर वह घर ले गई। घर पहुंच कर वह रोने लगी। पुत्रवधुएं एकत्रित हुईं। वृद्धा ने कहा—‘अनेक दिनों से खोया हुआ मेरा बेटा मुझे मिला है। चिरकाल से यह घर से चला गया था। यह तुम्हारा देवर है। आज यह यहां आया है।’ चारों उसके साथ लग गईं। वह बारह वर्ष तक वहां रहा। चारों के चार पुत्र हुए। बूढ़ी सास ने कहा—‘अब इसे घर से निकाल दो। वे उसका जाना सहन नहीं कर पा रही थीं। उन चारों ने उसके लिए पाथेय रूप में मोदक बनाए और उनमें एक-एक रत्न रख दिया, जिससे कि वे उसके जीवन-निर्वाह में काम आ सकें। उसे मदिरा पिलाई और उसी मंदिर के बाहर खाट पर लिटाकर सिरहाने वह पाथेय रखकर वे चारों लौट आईं। प्रभात हुआ। शीतल पवन के झोंकों से वह जागा। अकस्मात् वह सार्थ भी उसी दिन वहां आया। उसकी मूल भार्या ने उसकी खोज करने एक आदमी भेजा। वह उसके साथ घर आया। भार्या ने ससंभ्रम उठ कर पाथेय की धैली अपने हाथ में ले ली।

वह उसे भीतर ले गई और स्नान-अभ्यंगन आदि करवाया। जब वह घर से निकला था, तब भार्या गर्भवती थी। अब उसका पुत्र ग्यारह वर्ष का हो गया था। वह पाठशाला से आकर रोने लगा। उसने कहा—‘मां! मुझे जल्दी खाना दो अन्यथा उपाध्याय मुझे पीटेंगे।’ मां ने तब लड्डुओं की थैली में से एक मोदक निकालकर दिया। वह उसे खाता हुआ बाहर निकला। उसने उसमें रत्न देखा। साथियों ने भी रत्न देखा। उन्होंने उसे पूषिका बनाने वाले एक व्यक्ति को देते हुए कहा—‘प्रतिदिन हमें पूषिका देते रहना।’ उसने भी भोजन करते समय मोदक को तोड़ा। उसने रत्न देखकर सोचा, शुल्क देने के भय से रत्नों को मोदकों में छुपाया है। उसने रत्नों को पूर्ववत् रख दिया।

एक बार महाराज श्रेणिक के गंधहस्ती सेचनक को नदी में तेंदुक (जलजीव) ने पकड़ लिया। राजा खिन्न हो गया। अभय ने कहा—‘यदि कहीं जलकांत मणि मिल जाए तो तेंदुक इसे छोड़ सकता है। राजा के खजाने में रत्नों की बहुलता थी। उनमें से जलकांत मणि को खोजने में समय लगेगा, यह सोचकर नगर में पटह बजवाया कि जो कोई जलकांत मणि देगा, राजा उसको आधा राज्य और पुत्री देगा।’ तब आपूषिक ने जलकांत मणि राजा को ले जाकर दी। जलकांत मणि को वहां पानी में डाला, जहां हाथी फंसा हुआ था। मणि के प्रभाव से जल के भीतर प्रकाश हो गया। तेंदुक ने जाना कि मैं स्थल पर ले जाया गया हूँ। उसने हाथी को छोड़ दिया और पानी में पलायन कर गया। राजा ने सोचा—‘इस आपूषिक के पास यह मणि कहां से आयी?’ उसने आपूषिक को बुलाकर पूछा—‘यह मणि तुम्हें कहां से प्राप्त हुई?’ उसने कहा—‘कृतपुण्य के पुत्र ने मुझे दी है।’ राजा संतुष्ट हुआ और कहा—‘यह और किसकी हो सकती है?’ उसने कृतपुण्य को बुलाया और अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया। साथ ही कुछ देश भी उसको दे दिए। वह भोग भोगता रहा। गणिका ने जब सुना कि कृतपुण्य राजा बन गया है, तो वह भी वहां आकर बोली—‘इतने समय तक तुम्हारे विरह में मैंने वेणी भी नहीं बांधी। सभी स्थानों पर तुम्हारी खोज की, वैतालिक भेजे। अब तुम यहां मिले हो।’ कृतपुण्य ने अभयकुमार से कहा—‘मेरी चार पत्नियां हैं पर मैं उनका घर नहीं जानता।’ तब अभय ने एक मंदिर बनवाया और कृतपुण्य सदृश एक लेप्ययक्ष बनाया। नगर में उस मंदिर के यक्ष की पूजा की घोषणा करवाई। दो द्वार बनवाये। एक से प्रवेश और दूसरे से निर्गम। वहां द्वार के पास कृतपुण्य और अभय—दोनों आसन बिछाकर बैठ गए। कौमुदी उत्सव की घोषणा करते हुए कहा गया—‘मंदिर में प्रवेश और प्रतिमा की अर्चना सभी महिलाओं को करनी है।’ लोग भी आए और महिलाएं भी आईं। वे चारों महिलाएं अपने बच्चों के साथ वहां आईं। बच्चों ने कृतपुण्य को पहचान लिया और बापू, बापू कहते हुए उसकी गोद में बैठ गए। उसने भी पत्नियों को पहचान लिया। उसने स्थविरा की प्रताड़ना की और पत्नियों को बुला लिया। अब वह सातों के साथ भोग भोगते हुए रहने लगा। एक बार भगवान् वर्द्धमान वहां समवसृत हुए। कृतपुण्य ने भगवान् को वंदना कर पूछा—‘मेरी संपत्ति और विपत्ति का कारण क्या है?’ भगवान् बोले—‘संपत्ति का कारण है—मुनि को पायसदान।’ वह वैराग्य से प्रव्रजित हो गया। यह दान से प्राप्त बोधि है।’

१०५. विनय से सामायिक की प्राप्ति (पुष्पशालसुत)

मगध जनपद के गोब्बरग्राम में पुष्पशाल नाम का गाथापति था। उसकी पत्नी का नाम भद्रा और

१. आवनि. पृ. ५४७, आवचू. १ पृ. ४६६-४६९, हाटी. १ पृ. २३५-२३७, मटी. प. ४६४, ४६५।

पुत्र का नाम पुष्पशालपुत्र था। उसने एक दिन माता-पिता से पूछा—‘धर्म क्या है?’ उन्होंने कहा—‘वत्स! धर्म है माता-पिता की सेवा करना।’ इस संसार में देवता दो ही हैं—माता और पिता। इसमें भी पिता विशिष्ट होता है क्योंकि माता उसके वशवर्ती होती है।

अब वह प्रतिदिन प्रातःकाल से माता-पिता की मुखधावन आदि सारी सेवाएं करने लगा। वह उनकी शुश्रूषा देवता की भांति करने लगा। एक बार ग्रामभोजिक उसके घर आया। माता-पिता ने उसका आतिथ्य किया। बालक ने सोचा—‘माता-पिता के लिए वह भी देवतुल्य है। मैं इसकी पूजा करूंगा तो धर्म होगा।’ उसने ग्रामभोजिक की शुश्रूषा भी शुरू कर दी। ग्रामभोजिक के लिए भोजिक देवतुल्य था और भोजिक के कोई दूसरा, उसके भी कोई अन्य, इस प्रकार शुश्रूषा करते-करते वह राजा श्रेणिक की शुश्रूषा करने लगा।

भगवान् महावीर राजगृह में समवसृत हुए। राजा श्रेणिक अपनी ऋद्धि के साथ वंदना करने लगा। तब पुष्पशालपुत्र ने भगवान् से कहा—‘मैं आपकी सेवा-शुश्रूषा करूंगा क्योंकि आप श्रेणिक के भी पूज्य हैं।’ भगवान् बोले—‘मैं रजोहरण और पात्र की पूजा-अर्चा करता हूँ।’ यह सुनकर पुष्पशालपुत्र संबुद्ध हो गया।^१

१०६. विभंगज्ञान से सामायिक की प्राप्ति (शिवऋषि)

हस्तिनापुर नगर में शिव नामक राजा था। उसकी पत्नी का नाम धारिणी तथा पुत्र का नाम शिवभद्र था। राज्य की धुरा वहन करते हुए शिव राजा के मन में एक संकल्प उभरा—‘मेरे पूर्वजन्म के सुचीर्ण कर्मों का फल है, जिसके कारण मेरे भंडार में सोना, चांदी तथा धन-धान्य आदि बढ़ रहे हैं इसलिए अब मुझे पुनः पुण्यकर्म करना चाहिए। ऐसा सोचकर उसने दूसरे दिन विपुल भोजन बनवाया। लोगों को भोजन कराकर दान दिया और अत्यधिक समृद्धि व उत्सव के साथ शिवभद्र का राज्याभिषेक किया। फिर ताम्रमय तापस भाण्डों को बनवाकर उन्हें लेकर दिशाप्रोक्षित तापस बन गया। यावज्जीवन बेले-बेले की तपस्या में दोनों हाथ ऊपर उठाकर सूर्य की आतापना लेते हुए वह विहरण करने लगा। वह प्रथम बेले के पारणे के दिन आतापन भूमि से उतरकर वल्कल वस्त्रों को पहनकर, तांबे के बर्तनों को ग्रहण कर पूर्व दिशा की प्रेक्षा करता था। प्रेक्षा करके वह बोलता—‘पूर्व दिशा में सोम महाराज प्रस्थानप्रस्थित शिव राजर्षि की रक्षा करें। वहां जो हरियाली आदि हैं, उनकी आज्ञा दें।’ ऐसा कहकर पूर्व दिशा में नीचे पड़े हुए कंद आदि को ग्रहण करता, उपलेपन, सम्मार्जन आदि करता, स्वच्छ जल ग्रहण करके दर्भ और वालुका से वेदिका की रचना करता, उसमें समिधा, काष्ठ आदि डालता, मधु, घृत आदि से अग्नि प्रज्वलित करता फिर अतिथि-पूजा करके स्वयं आहार ग्रहण करता। इसी प्रकार दूसरे बेले के पारणे में दक्षिण दिशा की प्रेक्षा करता और यम महाराज की आज्ञा लेता। तीसरे बेले के पारणे में पश्चिम दिशा की प्रेक्षा कर वरुण महाराज की आज्ञा ग्रहण करता। चौथे बेले के पारणे में उत्तरदिशा की प्रेक्षा करते हुए वैश्रमण महाराज की आज्ञा लेता। इस प्रकार बेले-बेले की तपस्या में दिशाचक्रवाल तपःकर्म के साथ सूर्याभिमुख होकर आतापना लेने से उसके तदावरणीय कर्मों के क्षयोपयशम से विभंगअज्ञान उत्पन्न हो गया। वह शिव राजर्षि हस्तिनापुर के लोगों को

१. आवनि. ५४७, आवचू. १ पृ. ४६९, हाटी. १ पृ. २३७, मटी. प. ४६५, ४६६।

कहता कि इस लोक में सात द्वीप एवं सात समुद्र हैं, इसके आगे द्वीप एवं समुद्र नहीं हैं।

उस समय भगवान् महावीर हस्तिनापुर में समवसृत हुए। भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए गौतम स्वामी ने अनेक लोगों के मुख से यह बात सुनी। इस संदर्भ में गौतम ने अपना संशय भगवान् के सामने रखा। देवता और मनुष्यों की सभा में भगवान् महावीर ने कहा—‘गौतम! जो शिव राजर्षि ने कहा है, वह मिथ्या है। इस तिर्यक् लोक में जंबूद्वीप आदि असंख्येय द्वीप तथा लवण समुद्र आदि असंख्येय समुद्र हैं।’ यह बात सुनकर परिषद् प्रसन्न होकर भगवान् को वंदना कर वापस चली गयी। लोगों से भगवान् महावीर की बात सुनकर उसके मन में शंका उत्पन्न हो गयी और उसका विभंगअज्ञान पतित हो गया। उसने मन में सोचा—‘भगवान् महावीर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं, वे सहस्राम्ब वन में विहरण कर रहे हैं। मैं जाऊँ और भगवान् को वंदना करूँ, यह इहलोक और परलोक के लिए हितकर होगा।’ ऐसा सोचकर वह सब भंडोषकरण लेकर भगवान् महावीर के पास गया और वंदना-नमस्कार किया। भगवान् से धर्म-देशना सुनकर उसे परम संवेग उत्पन्न हो गया। ईशानकोश की ओर अभिमुख होकर उसने तापस के उपकरण छोड़ दिए और स्वयं ही पंचमुष्टि लोच किया। फिर भगवान् के पास जाकर चारित्र्य स्वीकार किया और ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। विशुद्ध परिणामों से उसको केवलज्ञान की उत्पत्ति हो गई और वह सिद्ध बन गया।^१

१०७. संयोग-वियोग से सामायिक की प्राप्ति

दो मथुराएं थीं—दक्षिण मथुरा और उत्तर मथुरा। एक बार उत्तर मथुरा का वणिक् दक्षिण मथुरा में गया। वहां एक वणिक् उसके समान रूप रंग वाला था। उसने आगंतुक वणिक् का आतिथ्य किया। वे दोनों मित्र हो गए। उन्होंने सोचा, हमारी प्रीति स्थिर हो जाएगी यदि हम अपने पुत्र और पुत्री का जन्म होने पर उनका परस्पर विवाह-संबंध करेंगे तो। दक्षिणात्य वणिक् ने उत्तर वणिक् के घर में जन्मी बेटी को अपने बेटे के लिए ग्रहण कर लिया। कालान्तर में दक्षिण मथुरा का वणिक् कालगत हो गया। उसका स्थान उसके पुत्र ने ले लिया। एक बार वह स्नान करने बैठा। उस समय उसने चारों दिशाओं में चार स्वर्ण कलश स्थापित किए। उनके बाहर रूप्य कलश, उनके बाहर ताम्र कलश और उनके बाहर मृत्तिका के कलश स्थापित किए। दूसरी स्नान विधि की रचना की तब उसके पूर्व दिशा का स्वर्णिम कलश अदृश्य हो गया। क्रमशः चारों दिशाओं के स्वर्ण-कलश अदृश्य हो गए। इसी प्रकार एक-एक कर सभी प्रकार के कलश अदृश्य हो गये। ज्योंही वह स्नान करके उठा उसका स्नानपीठ भी अदृश्य हो गया। उसमें अधृति उत्पन्न हो गई। जब वह घर में गया तब भोजनविधि का प्रारंभ हुआ। वहां स्वर्ण और रूप्यमय भाजन रखे गए। तब एक-एक भाजन अदृश्य होता गया। वह सबको अदृश्य होते हुए देख रहा था। जब उसकी मूलपात्री भी अदृश्य होने लगी तो उसने उसे पकड़ लिया। जितना वह पकड़ सका उतना टुकड़ा उसके हाथ में रह गया। शेष पात्री अदृश्य हो गई। तब वह श्रीगृह में गया, वह भी रिक्त था। जो भूमि में गढ़ा हुआ धन था, वह भी अदृश्य हो गया। जो आभूषण थे, वे भी नहीं रहे। जिनको धन व्याज पर दिया गया था, वे भी कहने लगे—‘हम तुमको नहीं जानते।’ जो दास-दासी वर्ग था, वह भी चला गया। तब उसने सोचा—‘अहो! मैं अधन्य हूँ।

१. आबनि. ५४७, आवचू. १ पृ. ४६९-४७२, हाटी. १ पृ. २३७, २३८, मटी. प. ४६६, ४६७।

मुझे प्रव्रजित हो जाना चाहिए।' वह धर्मघोष आचार्य के पास प्रव्रजित हो गया। ग्यारह अंगों का अध्ययन कर वह धूमने लगा। कुतूहलवश उसने उस पात्री-खंड को अपने हाथ में ले रखा था। उसने सोचा—जो वस्तुएं अदृश्य हो गई हैं, उन्हें मैं देखूंगा।

वह धूमता हुआ उत्तर मथुरा में पहुंचा। वे सारे रत्न तथा कलश श्वसुर-कुल में चले गए थे। एक बार उत्तर मथुरा का वणिक् स्नान करते हुए गा रहा था तब वे सारे कलश आदि वहां आ गए थे। उसने उन्हीं से स्नान आदि किया। भोजनवेला में वे सारे भांड भी आ गए। उसने उन्हीं से पेट भरा। क्रम से और भी सारी चीजें आ गयीं।

वह वणिक् साधु भिक्षा करता हुआ उस उत्तरमथुरा वाले वणिक् के घर में प्रविष्ट हुआ। वहां उस सार्धवाह की यौवनस्था पुत्री हाथ में पंखा लेकर बैठी थी। वह साधु उस भोजनपात्र को वहां देख रहा था। गृहस्वामी ने भिक्षा मंगवाई। भिक्षा लेने के पश्चात् भी वह साधु वहीं खड़ा रहा तब उसने पूछा—'भगवन्! आप इस लड़की को क्यों देख रहे हैं?' वह बोला—'मेरा इस लड़की से कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो यह भोजनपात्र देख रहा हूँ।' उसने फिर पूछा—'यह तुम्हें कहां मिला?' गृहस्वामी बोला—'यह तो दादे-परदादे से आया हुआ है।' साधु ने फिर पूछा—'यथार्थ बात बताएं।' उसने कहा—'एक बार जब मैं स्नान कर रहा था, तब यह स्नानविधि स्वयं उपस्थित हो गई। इसी प्रकार भोजन-विधि, श्रीगृह की परिपूर्णता, भूमिगत निधि आदि भी उपस्थित हो गए।' साधु बोला—'ये सब मेरे थे।' गृहस्वामी ने पूछा—'कैसे?' तब साधु ने स्नान आदि से लेकर सारा वृत्तान्त सुनाते हुए कहा—'यदि विश्वास न हो तो इस भोजन-पात्र के खंड को देखो।' वह खंड उस त्रुटित पात्र के तत्काल चिपक गया। उसने अपने पिता का नाम बताया, तब उसने जान लिया कि यही उसका जामाता है। गृहस्वामी ने उठकर साधु का आलिंगन किया और रोने लगा। गृहस्वामी बोला—'सारा धन यथावत् है। मेरी बेटी की भी आपके साथ सगाई की हुई है। धन के साथ इसको भी तुम स्वीकार करो।' यह सुनकर साधु बोला—'कभी मनुष्य कामभोगों को पहले छोड़ता है और कभी कामभोग मनुष्य को पहले छोड़ते हैं।' यह सुनकर उत्तर मथुरावासी वणिक् ने सोचा—'ये कामभोग मुझे भी छोड़ेंगे।' इस विचार से वह विरक्त होकर प्रव्रजित हो गया। प्रस्तुत दृष्टान्त में एक को विप्रयोग से और दूसरे को संयोग से सामायिक का लाभ हुआ।'

१०८. व्यसन (कष्ट) से सामायिक की प्राप्ति

दो भाई शकट पर बैठकर यात्रा कर रहे थे। शकट के चक्कों की वर्तनी में एक द्विमुख सर्प बैठा हुआ था। बड़े भाई ने यह देखकर कहा—'शकट को पीछे ले चलो।' छोटा भाई शकट चलाता रहा। संजी होने के कारण सर्प ने यह सुना। वह चक्के से मर गया। मरकर वह सर्प हस्तिनागपुर नगर में स्त्री रूप में उत्पन्न हुआ। बड़ा भाई मरकर उस स्त्री के उदर से पुत्ररूप में आया। वह उसे बहुत प्रिय था। दूसरा भाई भी उसी के पेट में पुत्ररूप में आया। उस स्त्री ने सोचा—'यह क्या! एक शिला की भांति मैं इसे वहन कर रही हूँ। गर्भपात कराने पर भी वह गर्भ विगलित नहीं हुआ।' जब उसने पुत्र का प्रसव किया तब दासी को बुलाकर कहा—'इसे कहीं फेंक दो।' सेठ ने उस दासी को ले जाते हुए देख लिया। तब एक दूसरी दासी

१. आवनि. ५४७, आवचू. १ पृ. ४७२-४७४, हाटी. १ पृ. २३८, मटी. प. ४६७।

को देकर उसके लालन-पालन का भार सौंपा। वह वहीं बढ़ने लगा। बड़े का नाम राजललित और छोटे का नाम गंगदत्त रखा गया। बड़े भाई को जो कुछ मिलता, वह छोटे भाई को भी देता था। मां को छोटा भाई अप्रिय लगता था। वह जहां भी उसे देखती लकड़ी, पत्थर आदि से पीटने लग जाती।

एक बार इन्द्रमहोत्सव का अवसर था। घर में कोई नहीं था। पिता अपने उस छोटे पुत्र गंगदत्त को घर लाकर उसे पर्यंक के नीचे बिठा कर भोजन देने लगा। एक बार उसे पर्यंक से बाहर निकाला। मां ने उसे देख लिया। उसने हाथ पकड़कर उसे खींचा और शौचालय में डाल दिया। तब वह रोने लगा। पिता ने उसे वहां से निकाला और स्नान कराया। इतने में ही एक मुनि भिक्षा के लिए वहां आ पहुंचे। श्रेष्ठी ने मुनि से पूछा—‘भगवन्! क्या माता के लिए भी पुत्र अनिष्टकारी होता है?’ मुनि बोले—‘हां, होता है।’ श्रेष्ठी ने पूछा—‘कैसे?’ मुनि बोले—‘जिसे देखकर क्रोध बढ़ता है, स्नेह क्षीण होता है तो जानना चाहिए कि वह पूर्व जन्म का वैरी है। जिसे देखकर स्नेह बढ़ता है और क्रोध क्षीण होता है तो जानना चाहिए कि वह पूर्व जन्म का बंधु है।’ तब श्रेष्ठी बोला—‘भगवन्! आप इसे प्रव्रज्या दे दें।’ मुनि ने स्वीकार कर उसे दीक्षित कर दिया। भाई के स्नेहानुराग से उसका बड़ा भाई राजललित भी उसी आचार्य के पास प्रव्रजित हो गया। दोनों मुनि ईर्यासमिति का सम्यक् पालन करते हुए अनिश्रित तप में संलग्न हो गये। एक बार छोटे भाई ने निदान किया—‘यदि इस तपस्या और संयम का कोई फल है तो भविष्य में मैं जन-मन को आनन्द देने वाला बनूँ।’ वह घोर तपस्या कर देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहां से च्युत होकर वह वसुदेव का पुत्र वासुदेव बना और दूसरा बलदेव हुआ। इस प्रकार गंगदत्त ने व्यसन—कष्ट से सामायिक प्राप्त की।^१

१०९. उत्सव से सामायिक की प्राप्ति

एक प्रत्यंत ग्राम में आभीरों की बस्ती थी। वे साधुओं के पास धर्म सुनते थे। एक बार साधुओं ने देवलोक का वर्णन किया। आभीरों की धर्म में सुबुद्धि थी। एक बार इन्द्रमह अथवा अन्य उत्सव के दिनों में वे आभीर नगरी में गए। वह नगरी द्वारिका जैसी थी। वहां उन्होंने लोगों को विचित्र वेशभूषा में मंडित, प्रसाधित और सुगंधित रूप में देखा। उनको देखकर वे परस्पर बोले—‘साधुओं ने जो देवलोक का वर्णन किया था, वह यही है। हम भी सुन्दर कार्य करेंगे और देवलोक में उत्पन्न होंगे।’ वे साधुओं के पास जाकर बोले—‘आपने जो देवलोक का वर्णन किया था, उसे हमने प्रत्यक्ष देख लिया है।’ साधुओं ने कहा—‘देवलोक वैसा नहीं होता। वह दूसरे प्रकार का होता है। वह इससे भी अनन्तगुना अधिक सुन्दर होता है।’ तब वे आभीर अत्यंत विस्मित हुए और मुनि के पास प्रव्रजित हो गए।^२

११०. ऋद्धि से सामायिक की प्राप्ति (दशार्णभद्र)

दशार्णपुर नगर में दशार्णभद्र राजा राज्य करता था। उसके अन्तःपुर में पांच सौ रानियां थीं। वह राजा रूप, यौवन, सेना और वाहनों से प्रतिबद्ध होकर यह सोचता था कि जो मेरे पास है, वैसा दूसरों के पास नहीं है।

एक बार भगवान् महावीर दशार्णकूट पर्वत पर समवसूत हुए। राजा ने सोचा—‘मैं कल भगवान्

१. आवनि. ५४७, आवचू. १ पृ. ४७४, ४७५, हाटी. १ पृ. २३८, २३९, मटी. प. ४६७, ४६८।

२. आवनि. ५४७, आवचू. १ पृ. ४७५, हाटी. १ पृ. २३९, मटी. प. ४६८।

को इतनी समृद्धि के साथ वंदना करने जाऊंगा कि जैसी समृद्धि से किसी ने पहले वंदना न की हो।' राजा के मन की बात इन्द्र ने जान ली। उसने सोचा—'यह बेचारा स्वयं को नहीं जानता।' राजा दूसरे दिन महान् जनसमुदय को साथ ले धूमधाम से दर्शन करने निकला। देवराज इन्द्र ऐरावत हाथी पर बैठकर वहां आया। उसने ऐरावत हाथी के आठ मुखों की विकुर्वणा की। प्रत्येक मुंह में आठ-आठ दांत, प्रत्येक दांत पर आठ-आठ पुष्करिण्यां, एक-एक पुष्करिणी में आठ-आठ कमलों की विकुर्वणा की। प्रत्येक पद्म पर आठ-आठ पत्र, प्रत्येक पत्र पर बत्तीस प्रकार के दिव्य नाटक हो रहे थे। इन्द्र दिव्य समृद्धि^१ के साथ वहां आया। उसने ऐरावत पर बैठे-बैठे ही भगवान् को वंदना की। तब वह ऐरावत हाथी अग्र पैरों से भूमि पर बैठा। तब उस हाथी के दशार्ण पर्वत पर देवता के प्रसाद से अगले पैर उठे। इस कारण उस पर्वत का नाम 'गजाग्रपदक' हो गया। पूर्व निर्गत राजा दशार्णभद्र ने इन्द्र की देवर्द्धि को देखा। उसने विस्मित होकर अनिमेष दृष्टि से ऐरावत हाथी पर बैठे इन्द्र की शोभा को देखा। इन्द्र की ऋद्धि के समक्ष राजा की ऋद्धि एवं प्रभाव नगण्य जैसा लग रहा था। तब देवराज इन्द्र ने दशार्णभद्र को कहा—'हे दशार्णभद्र! क्या तुम नहीं जानते कि अर्हत् भगवान् महावीर देवेन्द्र, असुरेन्द्र एवं नागेन्द्र द्वारा पूजित हैं।' फिर भी तुमने यह कैसे सोचा कि भगवान् को ऐसी ऋद्धि दिखाऊं जैसी किसी अन्य की न हो। यह सुनकर राजा दशार्णभद्र लज्जित हो गया। उसने सोचा—'इन्द्र जैसी ऋद्धि हमारे पास कैसे संभव है।' इसने धर्म का आचरण किया है तभी इसे इतनी ऋद्धि मिली है। 'मैं भी करूं, यह सोचकर वह प्रव्रजित हो गया।'^२

१११. असत्कार से सामायिक की प्राप्ति (इलापुत्र)

एक ब्राह्मण मुनियों के पास धर्म सुनकर अपनी पत्नी के साथ प्रव्रजित हो गया। वह उग्र संयम का पालन करने लगा परन्तु दोनों की पारस्परिक प्रीति नहीं छूटी। 'मैं ब्राह्मणी हूं' इस प्रकार वह साध्वी गर्व करती थी। दोनों भरकर देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां दोनों अपना आयुष्य भोगकर च्युत हुए।

इलावर्द्धननगर में इला देवता का मंदिर था। उस देवता की पूजा एक सार्थवाही पुत्र की कामना से करती थी। देवलोक से च्युत होकर वह ब्राह्मण साधु का जीव उसी के यहां पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम इलापुत्र रखा गया। उस ब्राह्मणी का जीव गर्वदोष के कारण एक नटनी की कोख से पुत्री के रूप में उत्पन्न हुआ। दोनों ने यौवन में पदार्पण किया। एक दिन इलापुत्र ने उस नट-पुत्री को देखा। पूर्वजन्म के अनुराग से वह उसमें आसक्त हो गया। इलापुत्र ने उसकी मांग की और कहा मैं इसको प्राप्त करने के लिए इसके वजन जितना स्वर्ण देने को तैयार हूं। परन्तु नट-पिता ने यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि यह लड़की हमारी अक्षय निधि है। यदि तुम हमारी नटविद्या सीख लो और हमारे साथ घूमते रहो तो यह तुम्हें प्राप्त हो सकती है। इलापुत्र उनके साथ घूमने लगा। उसने नट-विद्याएं सीख लीं।

एक बार राजा ने विवाह के निमित्त नट-मंडली को अपने करतब दिखाने के लिए कहा। वे वेन्यातट पर गए। राजा ने अपने अन्तःपुर के साथ नटों के करतब देखे। इलापुत्र करतब दिखा रहा था। राजा की दृष्टि उसी नटकन्या पर टिकी हुई थी। उसने पूरा करतब देखा ही नहीं। खेल का एक भाग संपन्न हुआ।

१. इन्द्र की ऋद्धि का वर्णन घूर्णि में बहुत विस्तार से है।

२. आबनि. ५४७, आवचू. १ पृ. ४७५-४८४, हाटी. १ पृ. २३९, २४०, मटी. प. ४६८।

राजा ने नटों को कुछ भी दान नहीं दिया। उसके न देने पर दूसरों ने भी अपने हाथ खींच लिए। सारी जनता नटों के करतब देखकर साधुवाद, साधुवाद की आवाज करने लगी। राजा ने नट से कहा—‘ऊपर चढ़ो और पुनः करतब दिखाओ।’ वहां वंश के अग्रभाग पर तिरछा काष्ठ रखा गया। उसमें दो कीलिकाएं थीं। नट पादुकाएं पहनकर हाथ में असिखेटक लेकर ऊपर चढ़ा। उन कीलिकाओं का पादुका की नलिकाओं से प्रवेश हो सकता था। वे पादुकाएं सात आगे और पांच पीछे आविद्ध थीं। राजा ने सोचा—‘यदि यह वहां से स्खलित होकर नीचे गिर पड़ेगा तो शरीर के सैकड़ों खंड हो जाएंगे।’ इलापुत्र ने वह करतब भी सफलतापूर्वक कर डाला। राजा अब भी उसी नटपुत्री की ओर देख रहा था। लोगों ने जय-जयकार किया फिर भी राजा की आंखें नहीं खुलीं। राजा ने नटमंडली को कुछ नहीं दिया और न ही ध्यान से नाटक देखा। राजा तो बस यही सोच रहा था कि यदि यह नट इलापुत्र मर जाए तो मैं इस नटपुत्री के साथ विवाह कर लूं। राजा को पूछने पर वह कहने लगा—‘मैंने करतब देखा ही नहीं, पुनः करो।’ इलापुत्र ने पुनः किया। राजा ने फिर भी नहीं देखा। तीसरी बार करने पर भी नहीं देखा। चौथी बार इलापुत्र से कहा—‘पुनः करो।’ सारी जनता विरक्त हो गई। इलापुत्र चौथी बार चढ़ा और बांस के अग्रभाग पर स्थिर होकर सोचने लगा—‘भोगों को धिक्कार है। यह राजा इतनी रानियों से भी तृप्त नहीं हुआ और इस नटिनी को अपनी बनाना चाहता है। इस नटपुत्री को प्राप्त करने के लिए मुझे मारना चाहता है।’ यह सोचते-सोचते उसकी दृष्टि एक श्रेष्ठिगृह में सर्वालंकार भूषित स्त्रियों की ओर गई, जो एक मुनि को भिक्षा देने के लिए प्रवृत्त थीं। वे स्त्रियां सर्वांग-सुंदर थीं परन्तु मुनि अत्यंत विरक्तभाव से नीचे दृष्टि किए हुए थे। इलापुत्र ने मन ही मन सोचा—‘अहो! ये साधु धन्य हैं, जो विषयों से निस्पृह हैं। मैं श्रेष्ठपुत्र हूं, अपने परिजनों को छोड़कर यहां आया हूं। यहां भी मेरी ऐसी स्थिति है।’ उसके परिणाम श्रेष्ठ होते गए और उसी अवस्था में उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

उस नट-पुत्री को भी वैराग्य हुआ। अग्रमहिषी और राजा के मन में भी विशुद्ध भाव उमड़े और सभी कैवल्य को प्राप्त कर सिद्ध हो गए।^१

११२. दमदन्त अनगर

हस्तिशीर्ष नगर में दमदन्त नामक राजा राज्य करता था। हस्तिनापुर नगर में पांच पांडव रहते थे। दोनों में परस्पर वैर था। एक बार महाराज दमदंत राजगृह में जरासंध के पास गए हुए थे। पांडवों ने उसके राज्य को लूट लिया और उसे जला डाला। जब दमदंत वापिस आया तो उसने हस्तिनापुर पर चढ़ाई कर दी। दमदंत के भय से कोई नगर से बाहर नहीं आया तब दमदंत ने कहा—‘शृगालों की भांति शून्य स्थानों में जहां घूमना हो, वहां इच्छानुसार घूमो। जब मैं जरासंध के पास गया था तब तुमने मेरे देश को लूटा था। अब बाहर निकलो।’ जब हस्तिनापुर से कोई बाहर नहीं निकला तब महाराज दमदंत अपने देश चले गए। कालान्तर में वे कामभोगों से विरक्त हुए और प्रव्रजित हो गए।

एक बार एकलविहार प्रतिमा को स्वीकार कर वे विहार करते हुए हस्तिनापुर आए और गांव के बाहर प्रतिमा में स्थित हो गए। अनुयात्रा के लिए निर्गत युधिष्ठिर ने आकर वंदना की। शेष चारों पांडवों ने

१. आवनि. ५४७, आवचू. १ पृ. ४८४, ४८५, हाटी. १ पृ. २४०, मटी. प. ४६८, ४६९।

भी मुनि को वंदना की। इतने में ही दुर्योधन वहां आ गया। उसके साथियों ने उसे कहा—‘यही वह दमदंत है।’ तब दुर्योधन ने उसे बिजौरे के फल से आहत किया। उसके पीछे जो सेना आ रही थी, सबने एक-एक पत्थर मुनि की ओर फेंका। देखते-देखते मुनि पत्थर की राशि से ढक गए। लौटते समय युधिष्ठिर ने पूछा—‘यहां एक मुनि प्रतिमा में स्थित थे। वे कहां हैं?’ लोग बोले—‘इस पत्थर-राशि के पीछे मुनि हैं और ये पत्थर दुर्योधन के कारण फेंके गए हैं।’ युधिष्ठिर ने दुर्योधन को फटकारा और पत्थरों को हटाया। मुनि का तैल से अभ्यंगन किया और क्षमायाचना की। मुनि दमदंत का दुर्योधन तथा पांडवों के प्रति समभाव था।^१

११३. मुनि मेतार्य

साकेत नगर का राजा चन्द्रावतंसक था। उसके दो पत्नियां थीं—सुदर्शना और प्रियदर्शना। सुदर्शना के दो पुत्र थे—सागरचन्द्र और मुनिचन्द्र। प्रियदर्शना के भी दो पुत्र थे—गुणचन्द्र और बालचन्द्र। सागरचन्द्र को युवराज बनाया और मुनिचन्द्र को उज्जयिनी नगरी का आधिपत्य दिया।^१ एक बार महाराज चन्द्रावतंसक माघ महीने में अपने वासगृह में प्रतिमा में स्थित हुए। उन्होंने यह संकल्प किया कि जब तक दीपक जलता रहेगा मैं प्रतिमा में स्थित रहूंगा। शय्यापालिका ने सोचा—‘अंधेरे में राजा को कष्ट होगा इसलिए दूसरे प्रहर में बुझते दीपक में उसने तैल डाल दिया।’ वह आधी रात तक जलता रहा। उसने आकर पुनः उस दीपक में तैल डाल दिया, जिससे रात्रि के तीसरे प्रहर तक वह दीपक जलता रहा। अंतिम प्रहर में भी दीपक में तैल डाला जिससे वह प्रभातकाल तक जलता रहा। राजा बहुत सुकुमार था। वेदना से अभिभूत होकर वह प्रभात बेला में दिवंगत हो गया।

उसके बाद सागरचन्द्र राजा बना। एक दिन उसने अपनी माता की सौत से कहा—‘तुम्हारे दोनों पुत्रों के लिए मेरा यह राज्य ले लो।’ मैं प्रव्रजित होऊंगा। मुझे इससे राज्य प्राप्त हुआ है, यह सोचकर उसने राज्य लेना नहीं चाहा। कालान्तर में सागरचन्द्र को राज्य-लक्ष्मी से सुशोभित देखकर उसने सोचा—‘यह मेरे पुत्रों के लिए राज्य दे रहा था परन्तु मैंने नहीं लिया। यदि मैं राज्य ले लेती तो मेरे पुत्र भी इसी प्रकार सुशोभित होते। अभी भी मैं इसको मार डालूं।’ अब वह अवसर देखने लगी।

एक दिन सागरचन्द्र भूख से आकुल था। उसने रसोइये को आदेश दिया कि पौर्वाहिक भोजन वहीं भेज देना, मैं सभागृह में भोजन करूंगा। रसोइये ने सिंहकेशरी मोदक बनाकर दासी के हाथ भेजे। प्रियदर्शना ने यह देख लिया। उसने दासी से कहा—‘मोदक इधर लाओ। मैं इसे देखूं तो सही।’ दासी ने उसे वह मोदक दिखाया। प्रियदर्शना ने पहले से ही अपने दोनों हाथ विषलित कर रखे थे। मोदक का स्पर्श कर उसे विषमय बना डाला। वह दासी से बोली—‘अहो! सुरभिमय मोदक है, इसे ले जाओ। उसने दासी को मोदक दे दिया। दासी ने वह मोदक राजा को अर्पित कर दिया। उस समय दोनों कुमार गुणचन्द्र और बालचन्द्र—राजा के पास ही बैठे थे। राजा ने सोचा—‘ये दोनों कुमार भी भूखे हैं। मैं अकेला इन्हें कैसे खाऊं?’ उस मोदक के दो भाग कर दोनों को एक-एक भाग दे दिया। दोनों उस मोदक को खाने लगे। तत्काल

१. आवनि. ५६५, आवचू. १ पृ. ४९२, हाटी. १ पृ. २४३, २४४, मटी. प. ४७५।

२. चूर्णि के अनुसार रानी का नाम धारिणी था, जिसके दो पुत्र थे—गुणचन्द्र और मुनिचन्द्र। गुणचन्द्र युवराज था और मुनिचन्द्र के पास उज्जयिनी का आधिपत्य था। एक अन्य रानी से राजा के दो पुत्र थे। (आवचू. १ पृ. ४९२)

विष का वेग बढ़ा। वह उनके मुंह पर प्रतीत होने लगा। राजा ने हड़बड़ाकर वैद्यों को बुलाया। वैद्यों ने आकर राजकुमारों को स्वर्ण पिलाया। दोनों स्वस्थ हो गए। राजा ने दासी को बुलाकर सारी बात पूछी। दासी बोली—‘किसी ने इस मोदक को नहीं देखा, केवल इन कुमारों की माता ने इसका स्पर्श किया था। राजा ने प्रियदर्शना को बुलाकर कहा—‘पापिनी! मैंने राज्य देना चाहा, तब तुमने नहीं लिया। अब तुम मुझे मारकर राज्य लेने का प्रयत्न कर रही हो। तुम्हारे प्रयत्न से तो मैं बिना कुछ परलोक का संबल लिए ही परलोकगामी बन जाता।’ यह सोच, दोनों भाइयों को राज्य देकर राजा सागरचन्द्र प्रव्रजित हो गया।

एक बार उज्जयिनी से साधुओं का एक संघाटक वहां आया। प्रव्रजित राजा ने पूछा—‘वहां कोई उपद्रव तो नहीं है?’ उन्होंने कहा—‘वहां राजपुत्र और पुरोहितपुत्र दोनों साधुओं को बाधित करते हैं।’ वह कुपित होकर उज्जयिनी गया। वहां के मुनियों ने उसका आदर-सत्कार किया। वे सांभोगिक मुनि थे अतः भिक्षावेला में उन्होंने कहा—‘सबके लिए भक्त-पान ले आना।’ उसने कहा—‘मैं आत्मलब्धिक हूं। आप मुझे स्थापनाकुल बताएं।’ उन्होंने एक शिष्य को साथ में भेजा। वह उसे पुरोहित का घर दिखाकर लौट आया। वह वहां अंदर जाकर ऊंचे शब्दों में धर्मलाभ देने लगा। यह सुनकर भीतर से स्त्रियां हाहाकर करती हुई बाहर आईं। मुनि जोर से बोला—‘क्या यह श्राविकाओं के लक्षण हैं?’ इतने में ही राजपुत्र और पुरोहितपुत्र—दोनों ने बाहर जाकर रास्ता रोक दिया। दोनों बोले—‘भगवन्! आप नृत्य करें।’ वह पात्रों को रखकर नाचने लगा। वे बजाना नहीं जानते थे। उन्होंने कहा—‘युद्ध करें।’ वे दोनों एक साथ सामने आए। मुनि ने उनके भर्मस्थान पर प्रहार किया। उनकी अस्थियां ढीली हो गईं। उनको छोड़कर मुनि द्वार को खोलकर बाहर चला गया। राजा के पास शिकायत पहुंची। राजा ने साधुओं को बुलाया। उन्होंने कहा—‘हमारे यहां एक अतिथि मुनि आया था। हम नहीं जानते वह कहां है?’ उसकी खोज की गई। साधु उद्यान में था। राजा वहां गया और क्षमायाचना की। वह उन दोनों को मुक्त करना नहीं चाहता था। साधु बोला—‘यदि दोनों प्रव्रजित हों तो मुक्त कर सकता हूं।’ दोनों को पूछा तो उन्होंने प्रव्रजित होना स्वीकार कर लिया। उनकी सारी अस्थियां अपने-अपने स्थान पर स्थित हो गईं। साधु ने लोच करके दोनों को प्रव्रजित कर लिया। राजपुत्र ने सोचा—‘मेरे पितृव्य ने ठीक ही किया है।’ लेकिन पुरोहित पुत्र साधु से जुगुप्सा करने लगा। वह सोचता था कि मुनि ने कपट से मुझे प्रव्रजित किया है। वे दोनों मरकर देवलोक में उत्पन्न हुए। दोनों ने यह संकेत दिया कि जो देवलोक से पहले च्युत हो, वह दूसरे को प्रतिबोध दे।

पुरोहित पुत्र का जीव देवलोक से च्युत होकर जुगुप्सा के कारण राजगृह नगर में एक मातंगी के गर्भ में आया। उस मातंगी की सखी एक सेठानी थी। उनके सखित्व का एक कारण था कि वह मातंगी मांस बेचती थी। एक दिन सेठानी ने उससे कहा—‘मांस बेचने के लिए अन्यत्र मत घूमना। सारा मांस मैं खरीद लूंगी।’ मातंगी प्रतिदिन मांस लाती। दोनों में घनिष्ठ प्रीति हो गई। वह सेठानी निन्दु—मृतप्रसवा थी। उसने मृतपुत्री का प्रसव किया। तब मातंगी ने एकांत में सेठानी को अपना पुत्र दे दिया और उसकी मृतपुत्री को ले लिया। वह सेठानी मातंगी के पैरों में उस बालक को लुटाती और कहती कि यह तुम्हारे प्रभाव से जी सके। उसका नाम मेलार्थ रखा गया। वह बढ़ने लगा। उसने अनेक कलाएं सीखीं। उसके मित्र देव ने उसे प्रतिबोध दिया परन्तु वह प्रतिबोधित नहीं हुआ। तब माता-पिता ने एक ही दिन में आठ इश्य कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण कर दिया। नगर में वह शिविका में घूमने लगा।

इधर वह मित्र देवता मातंग के शरीर में प्रविष्ट हुआ और रोने लगा। मातंग के शरीर में स्थित देव बोला—‘यदि मेरी पुत्री जीवित होती तो आज मैं भी उसका विवाह इसके साथ करके प्रसन्न होता और मातंगों को भोजन कराता।’ तब उस मातंगी ने आकर सारा यथार्थ वृत्तान्त बताया। यह सुनते ही वह मातंग रुष्ट हो गया और देवता के प्रभाव से उस शिविका में बैठे मातंग को नीचे गड्ढे में गिराते हुए बोला—‘तुम असदृश कन्याओं के साथ परिणय रचा रहे हो।’ मेतार्य बोला—‘कैसे?’ वह बोला—‘तुम अवर्ण हो।’ मेतार्य बोला—‘कुछ समय के लिए मुझे मुक्त कर दो। मैं बारह वर्ष तक घर में और रहूंगा।’ देव बोला—‘फिर मैं तुम्हारे लिए क्या करूं?’ मेतार्य ने कहा—‘तुम मुझे राजा की कन्या दिला दो।’ इससे सारी बातें स्पष्ट हो जायेंगी। सारी मलिनता धुल जाएगी। देवता ने उसे एक बकरा दिया। वह मींगनियों के बदले रत्नों का विसर्जन करता था। उससे रत्नों का थाल भर गया। मेतार्य ने पिता से कहा—‘रत्नों का थाल ले जाकर राजा से उनकी बेटी मांगो।’ पिता ने राजा को रत्नों का थाल भेंट किया। राजा ने पूछा—‘क्या चाहते हो?’ वह बोला—‘आपकी पुत्री मेरे पुत्र के लिए चाहता हूं।’ राजा ने उसे तिरस्कृत करके बाहर निकाल दिया। वह प्रतिदिन रत्नों से भरा थाल ले जाता परन्तु राजा उसे बेटी देने को तैयार नहीं हुआ।

एक दिन अभयकुमार ने पूछा—‘इतने रत्न कहां से लाते हो?’ वह बोला—‘मेरा बकरा प्रतिदिन रत्नों का व्युत्सर्ग करता है।’ अभय बोला—‘हमें भी वह बकरा दिखाओ।’ वह बकरे को लेकर आया। उसने वहां अत्यंत दुर्गन्ध युक्त मल का व्युत्सर्ग किया। अभय बोला—‘यह देवता का प्रभाव है। परीक्षा करनी चाहिए।’ अभय ने कहा—‘महाराज भगवान् को वंदना करने वैभार पर्वत पर जाते हैं परन्तु मार्ग बड़ा कष्टप्रद है इसलिए रथमार्ग का निर्माण करो।’ उसने रथमार्ग का निर्माण कर दिया, जो आज तक विद्यमान है। अभय ने कहा—‘स्वर्णमय प्राकार बना दो।’ उसने वैसा ही कर डाला। अभय फिर बोला—‘यदि यहां समुद्र को लाकर उसमें स्नान कर शुद्ध हो जाओ तो बेटी दे देंगे।’ वह समुद्र ले आया और उसमें स्नान कर शुद्ध हो गया। राजा ने अपनी बेटी दे दी। राजा ने शिविका में घूमते हुए उसका विवाह कर दिया। सभी विवाहित कन्याएं भी वहां आ गईं। इस प्रकार बारह वर्ष तक वह भोग भोगता रहा। देवता ने उसे फिर प्रतिबोधित किया। तब महिलाओं ने बारह वर्षों की मांग की। उनकी मांग पूरी की। फिर चौबीस वर्षों के पश्चात् सभी प्रव्रजित हो गए। मेतार्य नौ पूर्वों का अध्येता बन गया। वह एकलविहार प्रतिमा स्वीकार कर राजगृह में घूमने लगा।

एक दिन वह एक स्वर्णकार के घर में गया। वह स्वर्णकार महाराज श्रेणिक के लिए स्वर्ण के आठ सौ यव बना रहा था। श्रेणिक चैत्य की अर्चना त्रिसंध्या में करता था इसलिए यवों का निर्माण हो रहा था। मुनि उस स्वर्णकार के घर गए। एक बार कहने पर उन्हें भिक्षा नहीं मिली। वे वहां से लौट गए। स्वर्णकार के यव एक क्रौंच पक्षी ने निगल लिए। स्वर्णकार ने आकर देखा तो उसे यव नहीं मिले। राजा की चैत्य-अर्चनिका की वेला आ गई। स्वर्णकार ने सोचा—‘आज मेरी हड्डी-पसली तोड़ दी जाएगी।’ स्वर्णकार ने साधु को शंका की दृष्टि से देखा। उसे यवों के विषय में पूछा पर मुनि मौन रहे। तब स्वर्णकार ने मुनि के शिर को गीले चमड़े के आवेष्टन से बांध दिया। मुनि से कहा—‘बताओ, किसने वे यव लिए हैं?’ कुछ ही समय में शिरोवेष्टन के कारण मुनि की दोनों आंखें भूमि पर आ गिरीं। क्रौंच पक्षी वहीं बैठा था। स्वर्णकार

के घर में लकड़ी काटी जा रही थी। उसकी एक शलाका क्रौंच पक्षी के गले पर लगी जिससे उसने सारे स्वर्ण-यवों का वमन कर दिया। लोगों ने स्वर्णकार से कहा—‘अरे पापिष्ठ! ये रहे तेरे यव।’ मुनि कालगत होकर सिद्ध गति को प्राप्त हो गए। लोगों ने आकर मेलार्थ मुनि को मृत अवस्था में देखा। बात राजा तक पहुंची। राजा ने स्वर्णकार के वध की आज्ञा दे दी। वधक स्वर्णकार के घर गए। स्वर्णकार के सभी सदस्य द्वार बंद कर प्रव्रजित हो गए और बोले—‘श्रावक धर्म से बढ़ो।’ यह सुन राजा ने उन्हें मुक्त कर दिया और कहा—‘यदि मुनित्व को छोड़कर उत्प्रव्रजित हुए तो मैं सबको तैल के कड़ाह में उबाल दूंगा।’

११४. कालकाचार्य से पृच्छा

तुरुमिणी नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। वहां भद्रा नाम की ब्राह्मणी रहती थी। उसके पुत्र का नाम दत्त था। दत्त के मामे का नाम आर्यकालक था। वे प्रव्रजित हो गए थे। दत्त मदिरा और द्यूत का व्यसनी था। वह चाटुकारिता करने लगा और एक दिन प्रधान दंडिक के पद पर आसीन हो गया। कुलपुत्र के साथ मिलकर उसने राजा को राज्य से बाहर निकाल दिया और स्वयं राजा बन गया। उसने अनेक यज्ञ करवाए। एक बार अपने मातुल आर्यकालक से कहा—‘मैं धर्म सुनना चाहता हूं। यज्ञों का फल क्या है?’ आर्यकालक बोले—‘क्या धर्म पूछते हो?’ आचार्य ने धर्म का स्वरूप बताया। पुनः प्रश्न पूछने पर आचार्य बोले—‘क्या नरक का मार्ग पूछते हो?’ अधर्म का फल है नरक। फिर अशुभ कर्मों के उदय का फल पूछने पर वह भी बताया। पुनः पूछने पर आचार्य बोले—‘यज्ञ का फल है नरकगामिता।’ क्रुद्ध होकर दत्त बोला—‘इसका प्रमाण क्या है?’ आचार्य बोले—‘आज से सातवें दिन तुम श्वकुंभी में पकाए जाओगे?’ दत्त बोला—‘इसका प्रमाण क्या है?’ आचार्य ने कहा—‘सातवें दिन तुम्हारे मुंह में मल प्रवेश करेगा।’ दत्त रुष्ट होकर बोला—‘आपकी मौत कब और कैसे होगी?’ आर्यकालक बोले—‘मैं लंबे समय तक प्रव्रज्या का पालन कर देवलोक में जाऊंगा।’ राजा ने रुष्ट होकर अपने आदमियों को कहा—‘इस मुनि को बांध दो। दंडिक भय से अभिभूत हो गए। उन्होंने राजा से कहा—‘आप आगे आएँ हम इसे बांधकर आपको अर्पित कर देंगे।’

राजा एकान्त में प्रच्छन्नरूप से रहने लगा। उसे दिनों की विस्मृति हो गई। सातवें दिन राजपथ का शोधन हो रहा था। उसकी सुरक्षा की जा रही थी। एक पुजारी हाथ में पुष्पकरंडक लेकर प्रातःकाल मंदिर की ओर जा रहा था। रास्ते में वह मलोत्सर्ग कर उसे पुष्पों से ढककर आगे चल दिया। राजा भी सातवें दिन अश्वसमूह के साथ आ रहा था। उसने सोचा, मैं उस श्रमण के पास जाऊँ और उसका वध कर दूँ। चलते-चलते एक किशोर अश्व ने मार्ग में मल पर पड़े उन पुष्पों को खुरों से कुरेदा। इससे मल के कण उछलकर पास में चल रहे राजा के मुंह में प्रविष्ट हो गए। राजा जान गया कि मैं मारा जाऊंगा। वह दंडिकों को पूछे बिना ही घर लौट पड़ा। उसने जान लिया कि दंडपुरुषों को मेरी मृत्यु का रहस्य ज्ञात हो गया है। दंडिकों ने सोचा—‘जब यह दत्त प्रासाद में प्रवेश करे, उससे पहले ही हम इसका निग्रह कर लें।’ उन्होंने आगे आकर महाराज दत्त का निग्रह कर डाला। उसके स्थान पर दूसरा राजा बना दिया। फिर उन दंडिकों ने एक

१. आबनि. ५६५/४, ५, आवचू. १ पृ. ४९२-४९५, हाटी. १ पृ. २४४-२४६, मटी. प. ४७६-४७८।

कुंभी में कुत्तों को डालकर राजा को उसी में डाल दिया और उस कुंभी का द्वार बंद करके नीचे से आग जला दी। अग्नि के ताप के कारण कुंभीगत कुत्तों ने दत्त को नोच-नोच कर उसके शरीर के खंड-खंड कर डाले।^१

११५. चिलातक और सुंसुमा

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में एक पंडितमानी ब्राह्मण शासन की निन्दा करता था। एक बार एक मुनि ने वाद में प्रतिज्ञा के अनुसार उसे पराजित कर दिया। फिर देवता द्वारा प्रेरित होने पर उसने दीक्षा स्वीकार कर ली। दीक्षित होने पर भी वह जुगुप्सा छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। उसके सभी पारिवारिक जन उपशान्त थे लेकिन उसकी पत्नी स्नेह नहीं छोड़ती थी। उसने पति बने साधु को वश में करने के लिए कर्मण आदि वशीकरण का प्रयोग किया। वह मरकर देवलोक में उत्पन्न हुआ। उसकी पत्नी भी विरक्त होकर प्रव्रजित हो गई। दोष की ओलाचना किए बिना वह मरकर देवलोक में उत्पन्न हुई। मुनि देवलोक से च्युत होकर राजगृह नगर में धन नामक सार्थवाह के घर में चिलाता नामक दासी के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। बालक का नाम चिलातक रखा गया। ब्राह्मण-पत्नी भी च्युत होकर उसी सार्थवाह के घर में पांच पुत्रों के बाद पुत्री रूप में उत्पन्न हुई। उसका नाम सुंसुमा रखा गया। चिलातक को सुंसुमा की देखरेख के लिए रखा गया। उसको सुंसुमा के साथ कुचेष्टा करते देख सेठ ने चिलातक को घर से निकाल दिया। वह वहां से सिंह गुफा नामक चोरपल्ली में चला गया। वहां वह अग्रप्रहारी और क्रूर बन गया। चोर-सेनापति के मरने पर चिलातक को चोर-सेनापति बना दिया गया।

एक बार उसने अपने साथियों से कहा—‘राजगृह नगर में धन सार्थवाह रहता है। उसकी पुत्री का नाम सुंसुमा है, वहां चलें। जो धन प्राप्त हो, वह सब तुम्हारा और सुंसुमा मेरी होगी।’ चोर-सेनापति चिलातक वहां गया। उसने अवस्थापिनी विद्या से धन और उसके सभी पुत्रों को निद्राधीन कर डाला। चोर उसके घर में घुसे। धन और सुंसुमा को लेकर वे भाग गए। धन सेठ ने नगर-रक्षकों को बुलाकर कहा—‘मेरी पुत्री को लाकर दो। जो धन मिले, वह सब तुम बांट लेना।’ पीछा होता देख चोर धन की गठरियों को फेंक कर भाग गए।

नगर-रक्षक धन की गठरियों को लेकर लौट आए। चिलातक सुंसुमा को लेकर भागता रहा। धन अपने पुत्रों के साथ चिलातक का पीछा करने लगा। चिलातक सुंसुमा के भार से दब गया। जब वह उसे उठाने में समर्थ नहीं रहा और पीछा करने वालों को निकट आते देखा तो उसने सुंसुमा का सिर काट दिया। वह धड़ को वहीं जमीन पर छोड़कर सिर लेकर भाग गया। यह देखकर पीछा करने वाले लौटने लगे। वे सभी क्षुधा से आकुल-व्याकुल हो रहे थे। तब धन ने पुत्रों से कहा—‘तुम मुझे मारकर खा लो और नगर में सकुशल पहुंच जाओ।’ वे नहीं चाहते थे कि वैसा हो। तब बड़ा पुत्र बोला—‘मुझे खा लो।’ इस प्रकार सभी पुत्रों ने अपने आपको प्रस्तुत किया। तब पिता ने उनसे कहा—‘एक-दूसरे को क्यों मारें? चिलातक के द्वारा मारी गई सुंसुमा को ही खा लें।’ इस प्रकार पुत्री का मांस खाकर वे नगर में गए।

१. आवनि. ५६५/६, आवचू. १ पृ. ४९५, ४९६, हाटी. पृ. २४६, २४७, मटी. प. ४७८, ४७९।

चिलातक सुंसुमा का सिर लिए भागा जा रहा था। वह दिग्मूढ हो गया। उस समय उसने एक मुनि को आतापना लेते हुए कायोत्सर्ग की स्थिति में देखा। चिलातक उसके निकट जाकर बोला—‘मुने! संक्षेप में मुझे धर्म की बात कहो, अन्यथा मैं तुम्हारा भी सिर काट डालूंगा।’ मुनि बोले—‘संक्षेप में धर्म है—उपशम, विवेक और संवर।’ चिलातक इन शब्दों को ग्रहण कर वहां से उठा और एकान्त में जाकर चिन्तन करने लगा। उसने सोचा क्रोध आदि कषायों का उपशमन करना चाहिए। मैं क्रुद्ध हूं, मुझे क्रोध को शांत कर देना है। दूसरा शब्द है—विवेक। इसका अर्थ है—त्याग। मुझे धन और स्वजन का त्याग कर देना है। उसने तत्काल सुंसुमा के कटे सिर तथा तलवार को फेंक दिया। तीसरा शब्द है—संवर। मुझे इन्द्रिय और नोइन्द्रिय—मन का संवरण करना है। वह ध्यानलीन हो गया। रुधिर की गंध से चींटियां चिलातक को काटने लगीं। उन्होंने उसके शरीर को चालनी जैसा बना डाला। चींटियों पैरों से शरीर के भीतर प्रवेश कर सिर की चोटी के भाग से बाहर निकलीं। चींटियों ने शरीर के भीतरी भाग को आवागमन का मार्ग बना डाला। फिर भी मुनि ध्यान से विचलित नहीं हुए। ढाई दिन तक उसने वेदना को समभाव से सहा। मरकर वह वैमानिक देव बना।^१

११६. संक्षेप का उदाहरण

आत्रेय, कपिल, बृहस्पति तथा पांचाल—इन चारों ऋषियों ने एक-एक लाख श्लोकों के चार ग्रन्थ बनाए। वे चारों महाराज जितशत्रु के समक्ष आए और बोले—‘आप पांचवें लोकपाल हैं अतः हमारे शास्त्र सुनें।’ राजा ने पूछा—‘आपका ग्रन्थ कितना बड़ा है?’ वे बोले—‘प्रत्येक ग्रन्थ एक-एक लाख श्लोक परिमाण वाला है। चारों को मिलाने पर चार लाख श्लोक होंगे। राजा बोला—‘इतना समय यदि मैं दूं तो राज्य की व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी। आप अपने ग्रन्थों को संक्षिप्त करें।’ ग्रन्थों को संक्षिप्त करते-करते प्रत्येक ग्रन्थ में एक-एक श्लोक सुनने के लिए भी राजा तैयार नहीं हुआ। तब चारों ऋषियों ने अपने-अपने मत का प्रतिपादन करने वाले एक-एक चरण का निर्माण कर एक श्लोक बनाया। वह यह था—

‘जीर्णे भोजनमात्रेयः, कपिलः प्राणिनां दया।

बृहस्पतिरविश्वासः, पाञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम्॥’

११७. धर्मरुचि

बसंतपुर नगर में जितशत्रु महाराजा की रानी धारिणी ने पुत्र का प्रसव किया। पुत्र का नाम धर्मरुचि रखा गया। स्थविर अवस्था में राजा ने प्रव्रज्या लेनी चाही। उसने धर्मरुचि को राजा बनाना चाहा। धर्मरुचि ने मां से पूछा—‘मां! पिताश्री राज्य का त्याग क्यों करना चाहते हैं?’ मां बोली—‘पुत्र! राज्य संसार बढ़ाने का हेतु है।’ वह बोला—‘मां! मैं भी राज्य नहीं चाहता।’ वह अपने पिता के साथ तापस बन गया। एक दिन आश्रम में यह घोषणा की गई कि कल अमावस्या है। अमावस्या के दिन फल-फूल तोड़ना निषिद्ध है अतः जिनको संग्रह करना हो वे आज ही कर लें। धर्मरुचि ने यह घोषणा सुनी। उसने सोचा—‘यदि कभी भी फल-फूल का छेदन-भेदन न किया जाए तो कितना सुन्दर हो। एक दिन कुछेक मुनि आश्रम के निकट

१. आवनि. ५६५/७-१०, आवचू. १ पृ. ४९६-४९८, हाटी. १ पृ. २४७, २४८, मटी. प. ४७९, ४८०।

२. आवनि. ५६५/११, आवचू. १ पृ. ४९८, हाटी. १ पृ. २४८, मटी. प. ४८०।

से जा रहे थे। उनको देखकर धर्मरुचि ने पूछा—‘प्रभो! क्या आपके अनाकुट्टि नहीं है जो कि आप जंगल की ओर जा रहे हैं?’ साधुओं ने कहा—‘हमारे यावज्जीवन अनाकुट्टि है। यह सुनकर वह संभ्रान्त होकर सोचने बैठा। मुनियों का संघ आगे चला गया। सोचते-सोचते धर्मरुचि को जातिस्मृति ज्ञान की उपलब्धि हुई और वह प्रत्येकबुद्ध हो गया।’

परिज्ञा विषयक इलापुत्र^१ की कथा हेतु देखे—कथा संख्या ११०।

११८. तेतलिपुत्र

तेतलिपुर नगर में कनकरथ नामक राजा राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम पद्मावती था। राजा अत्यन्त राज्य-लोलुप था। जब-जब उसके संतान उत्पन्न होती, वह उनको विकृत अंग वाला कर देता, जिससे बड़े होकर वे राज्य की मांग न कर सकें।

राजा का अमात्य तेतलिपुत्र साम, दाम आदि नीतियों में निपुण था। उसी नगर में एक स्वर्णकार था, जिसकी पत्नी का नाम भद्रा था। उस स्वर्णकार की पुत्री का नाम पोट्टिला था, जो अत्यन्त रूपवती थी। एक बार वह अपनी छत पर सोने की गेंद से खेल रही थी। तेतलिपुत्र उसे देखकर आसक्त हो गया और शादी के लिए उसका हाथ मांगा। स्वर्णकार ने अपनी पुत्री की शादी तेतलिपुत्र के साथ कर दी।

एक दिन रानी पद्मावती ने अमात्य को बुलाकर कहा—‘पुत्र पैदा होते ही भोगलिप्सा के कारण राजा उनको अंगविहीन कर देता है अतः एक पुत्र को जैसे-तैसे बचाओ, जिससे वह तुम्हारा और मेरा—दोनों का सहारा बन सके। मेरे उदर में अभी पुत्र है, हम उसका एकान्त में संरक्षण करेंगे।’ अमात्य ने उसकी बात स्वीकार कर ली। पोट्टिला ने भी उसके साथ ही गर्भ धारण किया। कालान्तर में रानी पद्मावती ने पुत्र का प्रसव किया और पोट्टिला ने मृत दारिका को जन्म दिया। पद्मावती ने मंत्री को गुप्त रूप से बुलाकर अपना पुत्र उसे दे दिया और मृत दारिका अपने पास रख ली। राजकुमार तेतलिपुत्र के यहां बढ़ने लगा। उसने अनेक कलाएं सीख लीं।

एक बार तेतलिपुत्र पोट्टिला से नाराज हो गया। वह उसको अप्रीतिकर लगने लगी। तेतलिपुत्र उसका नाम भी सुनना नहीं चाहता था। पोट्टिला घबरा गई। एक बार कुछ साध्वियां उसके घर आईं। उसने एक साध्वी से पूछा—‘पहले मैं अपने पति के लिए बहुत प्रिय थी लेकिन अब वह मेरी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखना चाहता अतः कोई ऐसा उपाय बताओ जिससे मैं पुनः अपने पति के लिए प्रिय हो जाऊं।’ साध्वी ने कहा—‘हम ऐसी बात सुनना नहीं चाहतीं हम तो तुम्हें केवलप्रज्ञ धर्म का उपदेश दे सकती हैं।’ साध्वी से धर्म-वार्ता सुनकर वह विरक्त हो गयी। उसने श्रावक-व्रत स्वीकार कर लिए। एक दिन उसके मन में प्रव्रजित होने का विकल्प उठा। उसने तेतलिपुत्र से कहा—‘आपकी आज्ञा हो तो मैं प्रव्रजित होना चाहती हूं।’ तेतलिपुत्र बोला—‘समय आने पर तुम मुझे संबोध दो तो प्रव्रजित होने की आज्ञा दे सकता हूं।’ पोट्टिला ने स्वीकृति दे दी। यथोचित श्रामण्य का पालन कर वह देवलोक में उत्पन्न हुई। कालान्तर में राजा दिवंगत हो गया। तेतलिपुत्र ने राजकुमार कनकध्वज को पौरजनों के समक्ष प्रस्तुत किया और नागरिकों ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। माता पद्मावती ने कुमार कनकध्वज के सामने रहस्य का उद्घाटन करते हुए

१. आवनि. ५६५/१२, आवचू. १ पृ. ४९८, हाटी. १ पृ. २४८, २४९, मटी. प. ४८०, ४८१।

२. आवनि. ५६५/१३।

कहा—‘अमात्य तेतलिपुत्र के प्रभाव से ही तुम राजा बने हो अतः उसके साथ अच्छा संबंध रखना। राजा ने उसे सारे अधिकार दे दिए।’

पोट्टिला रूप देव ने तेतलिपुत्र को सम्बोधित किया लेकिन वह प्रतिबुद्ध नहीं हुआ। तब पोट्टिल देव ने राजा कनकध्वज को अमात्य से विमुख कर दिया। जहां-जहां अमात्य तेतलिपुत्र जाता या बैठता राजा उससे मुंह फेर लेता। वह भयभीत और उद्विग्न होकर घर आया। वहां रास्ते में भी किसी ने उसे सत्कार और सम्मान नहीं दिया। घर में बाह्य व आन्तरिक परिषद् दास, नौकर तथा पुत्र-परिजन आदि भी उससे विमुख हो गए। किसी ने उसको आदर नहीं दिया। अपमानित होने पर वह विषण्ण हो गया। उसने आत्महत्या के लिए तालपुट विष खा लिया पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। गर्दन पर तीक्ष्ण तलवार चलाई, वह भी धारहीन हो गई। तत्पश्चात् वह रस्सी गले में बांधकर वृक्ष पर लटका लेकिन रस्सी बीच में ही टूट गई। भारी शिला को गले में बांधकर गहरे पानी में कूदा पर वहां भी पानी अल्प हो गया। तृण-कुटीर में प्रवेश कर उसने आग लगाई लेकिन वह भी शान्त हो गयी।

परेशान होकर वह नगर से बाहर अटवी में चला गया। पीछे से हाथी उसे मारने दौड़ा। आगे एक गहरा गढ़ था। अंधकार के कारण आगे-पीछे कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। मध्य में बाण गिरने लगे। भयभीत होकर वह बैठ गया और जोर से बोला—‘हा पोट्टिले! हा पोट्टिले! श्राविके! मैं कहां जाऊं? तुम मेरा निस्तार करो।’ तब पोट्टिल देव ने पोट्टिला के रूप की विकुर्वणा की और बोला—‘जैसे रोगी के लिए भैषज, अभियुक्त के लिए विश्वास, श्रान्त के लिए वाहन, महाजल में पोत, मायावी के लिए रहस्य, उत्कंठित के लिए देशगमन, क्षुधित के लिए भोजन, पिपासित के लिए पानी और शोकातुर के लिए युवती त्राण है, वैसे ही भीत के लिए प्रव्रज्या त्राण है। शुभ परिणामों से तेतलिपुत्र को जातिस्मृति उत्पन्न हो गयी। उसने देखा कि पूर्वभव में वह जंबूद्वीप के महाविदेह में पुष्करावती की पुंडरीकिनी नगरी में महाबल नामक राजा था। स्थविरों के पास प्रव्रजित होकर सामायिक आदि अंग तथा १४ पूर्वों का अध्ययन कर बहुत वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय का पालन कर मासिक संलेखना में काल करके महाशुक्ल कल्प में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहां से वह तेतलिपुर नगर में अमात्य का पुत्र बना।’

सोचते-सोचते तेतलिपुत्र संबुद्ध हो गया। प्रमदवन में अशोकवृक्ष के नीचे चिंतन करते हुए पूर्व पठित चौदह पूर्व स्वतः ज्ञात हो गए। कालान्तर में शुभ परिणामों से उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। सन्निहित देवों ने कैवल्य-प्राप्ति का उत्सव मनाया। इस वृत्तान्त को सुनकर राजा कनकध्वज अपनी माता के साथ वहां आया और क्षमायाचना की। केवली तेतलिपुत्र से धर्म का उपदेश सुनकर राजा कनकध्वज श्रावक बन गया। आपद्गस्त होने पर भी तेतलिपुत्र ने प्रत्याख्यान में समता रखी।^१

११९. द्रव्य नमस्कार का फल

बसंतपुर नगर में जितशत्रु राजा था। उसकी रानी का नाम धारिणी था। एक दिन राजा रानी के साथ

१. आगे से चूर्णि की कथा में कुछ अंतर है।

२. आवनि. ५६५/१४, आवचू. १ पृ. ४९९-५०१, हाटी. १ पृ. २४९, मटी. प. ४८१, ४८२।

झरोखे में बैठा था। उसकी दृष्टि मार्ग पर चलते किसी एक द्रमक—गरीब पर पड़ी। रानी ने भी उस द्रमक को देखा। दोनों के मन में उसके प्रति अनुकम्पा उत्पन्न हो गई। रानी ने कहा—‘राजा नदी के समान होते हैं, वे भरे हुए को भरते हैं।’ राजा के आदेश से उस गरीब को आभूषण और वस्त्रों से अलंकृत कर राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। उसे खुजली की बीमारी थी। राजा ने उसे सेवक के रूप में रख लिया।

कुछ काल बीता। राजा ने उसे राज्य दे दिया। एक दिन उसने देखा कि दंडनायक, भट और भोजिक मंदिर में पूजा कर रहे हैं। उसने मन ही मन सोचा—‘मैं किसकी पूजा करूं?’ सोच-विचार कर उसने राजा का मंदिर बनवाया और राजा और रानी की प्रतिमा बनवाई। मंदिर में प्रतिमाओं की स्थापना करते समय उसने राजा-रानी को आमंत्रित किया। उन्होंने पूछा—‘क्या बात है? उसने सारी बात बताई। राजा ने प्रसन्न होकर उसका विशेष सम्मान किया। वह अब तीनों संध्याओं में प्रतिमा की अर्चा-पूजा करने लगा। वह राजा की सेवा करता रहा। राजा ने संतुष्ट होकर उसके प्रवेश-निर्गमन के लिए सभी स्थान आज्ञापित कर दिए। एक बार राजा दंडयात्रा के लिए प्रस्थित हुआ। यात्रा पर जाते समय वह उस द्रमक राजा को संपूर्ण अन्तःपुर का दायित्व देकर चला गया। काफी समय बीत गया। अन्तःपुर की रानियां निरोध को सहन न कर सकने के कारण उस द्रमक राजा की सेवा करने लगीं। वह उनके साथ सहवास करना नहीं चाहता था। उनसे भोजन-पानी प्राप्त करना भी नहीं चाहता था। धीरे-धीरे उन्होंने उसे पथच्युत कर डाला। राजा यात्रा से आ गया। शिकायत करने पर राजा ने उसे देश से निकाल दिया।’

१२०. अटवी में मार्गदर्शक

बसंतपुर नगर में धन नामक सार्थवाह रहता था। उसने देशान्तर जाते समय अपने प्रस्थान की घोषणा करवाई। उस घोषणा को सुनकर तटिक, कार्पटिक आदि एकत्रित हुए और सार्थ के साथ जाने की इच्छा प्रगट की। धन सार्थवाह ने उनको मार्ग के गुण बतलाते हुए कहा—‘एक मार्ग ऋजु है और दूसरा वक्र। वक्र मार्ग से सुखपूर्वक जाया जा सकता है पर उससे अपने ईप्सित नगर में प्रलंब काल में पहुंचा जाता है। अंत में वह मार्ग भी ऋजु मार्ग में ही मिल जाता है। जो ऋजु मार्ग है, उससे नगर में शीघ्र पहुंचा जा सकता है, परंतु उसमें गमन करना कष्टदायी है। वह अत्यन्त विषम और संकड़ा है। उसके प्रवेश पर ही दो महा भयंकर व्याघ्र और सिंह रहते हैं। वे मार्ग के दोनों छोर पर पड़े रहते हैं। उनको छोड़े बिना मार्ग को पार करना संभव नहीं है। मार्ग के अवसान तक वे पीछा करते हैं। वहां मार्गगत अनेक मनोहर वृक्ष हैं। उनकी छाया में विश्राम नहीं करना चाहिए क्योंकि उनकी छाया मारणांतिक है। वृक्ष के जो पत्ते नीचे गिरे हुए हों, वहीं कुछ क्षण विश्राम किया जा सकता है। वहां मार्गान्तर में स्थित अनेक रूपवान् पुरुष मधुर वाणी से पथिकों को बुलाते हैं। उनके वचन कभी नहीं सुनने चाहिए। अपने सार्थ वालों का साथ कभी नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि एकाकी को निश्चित ही भय होता है। दुरन्त और घोर दावाग्नि आने पर अप्रमत्त होकर उसको बुझाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि उसे बुझाया न जाए तो वह जलती ही रहती है। जो दुर्ग और ऊंचे पर्वत हैं, उन्हें सावधानीपूर्वक पार करना है। उसे पार न करने पर निश्चित ही मृत्यु है। उसके बाद

एक बड़ा गहन बांस का झुरमुट पार करना होगा। अन्यथा उसमें रहने से अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं। उसके आगे एक छोटा गढ़ा है, जिसके पास मनोरथ नामक ब्राह्मण सदा बैठा रहता है। वह बोलेगा—‘इस गड्ढे को थोड़ा भर दो। उसकी यह बात नहीं सुननी चाहिए क्योंकि वह गड्ढा भरने वाला नहीं है। ज्यों-ज्यों वह गड्ढा भरा जाता है, त्यों-त्यों बड़ा होता जाता है। उससे गंतव्य मार्ग टूट जाते हैं। इस मार्ग में किम्पाक के पांच प्रकार के फल प्राप्त होंगे, वे आंखों के लिए सुखकर तथा प्रेक्षणीय हैं, परन्तु उनको कोई न खाए। इस पथ पर बावीस पिशाच रहते हैं, जो महाभयंकर और घोर हैं। वे प्रतिफल पथिकों को सताते हैं। उनकी भी परवाह नहीं करनी चाहिए। भक्तपान वहां विरल एवं दुर्लभ है। वहां बिना रुके सतत चलते रहना है। रात्रि में केवल दो प्रहर सोना है और शेष दो प्रहर चलते रहना है। इस प्रकार चलने से ही अटवी को शीघ्र पार किया जा सकेगा। उसको पार कर एकान्त सुखमय शिवपुर नगरी में पहुंचा जा सकता है। वहां किसी प्रकार के क्लेश की उत्पत्ति नहीं होती।

कुछ पथिक उस लौकिक देशिक के साथ ऋजु मार्ग से चले और कुछ वक्र मार्ग से। वह देशिक प्रशस्त दिन देखकर वहां से चला। वह आगे-आगे चलते हुए मार्ग को सम करता और मार्गगत शिलाओं पर मार्ग के गुण-दोष बताने वाले अक्षर उत्कीर्ण करता और यह भी लिखता कि कितना मार्ग तय किया है और कितना शेष है। इस प्रकार उस देशिक के अनुसार चलने वाले पथिक गन्तव्य तक पहुंच गए और जो मार्गगत वृक्षों की छाया में विश्राम करने लगे वे यथासमय वहां नहीं पहुंच पाए।^१

१२१. अग्रशस्त राग-(अर्हन्मित्र)

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में दो भाई रहते थे—अर्हन्नक और अर्हन्मित्र। बड़े भाई की पत्नी छोटे भाई में अनुरक्त हो गई। छोटा भाई उसको नहीं चाहता था। वह उसे पीड़ित करने लगी। तब उसने कहा—‘क्या तुम मेरे भाई को नहीं देखती?’ उसने अपने पति अर्हन्नक को मार डाला फिर अर्हन्मित्र से बोली—‘क्या अब भी तुम मुझे नहीं चाहोगे? अर्हन्मित्र के मन में इस स्थिति से विरक्ति उत्पन्न हुई और वह प्रव्रजित हो गया। वह भी आर्तध्यान से मरकर कुतिया बनी। साधु उस ग्राम में गए, जहां वह कुतिया उत्पन्न हुई थीं। कुतिया ने मुनि को देखा। वह उसके पीछे लग गई और बार-बार उसका आश्लेष करने लगी। ‘यह उपसर्ग है’—ऐसा सोचकर मुनि रात्रि में वहां से विहार कर गए। वह कुतिया मरकर अटवी में बंदरी बनी। एक बार वे मुनि कर्मधर्म संयोग से उसी अटवी के मध्य से गुजर रहे थे। बंदरी ने मुनि को देखा और उनके कंठों से चिपक गई। मुनि बड़ी मुश्किल से छुटकारा पाकर पलायन कर गए। वहां से मरकर वह बंदरी यक्षिणी हुई। उसने अपने अवधिज्ञान से देखा पर वह मुनि के छिद्र नहीं खोज पाई क्योंकि मुनि अप्रमत्त थे। वह पूर्णरूप से मुनि के छिद्र देखने लगी।

काल बीतने पर मुनि के समवयस्क श्रमणों ने उससे कहा—‘अर्हन्मित्र! धन्य हो तुम क्योंकि तुम कुतिया और बंदरी के प्रिय हो।’ एक बार वह मुनि गढ़े को पार कर रहा था। उसमें ‘पादविष्कंभ’ जितना पानी था। उसने पानी को पार करने के लिए पैर पसारे। गतिभेद हुआ तब यक्षिणी ने छिद्र देखकर उसका

१. आवनि. ५८२/१, आवचू. १ पृ. ५०९-५११, हटी. १ पृ. २५६, २५७, मटी. प. ४९४, ४९५।

ऊरु तोड़ डाला। कहीं मैं पानी में गिरकर अप्काय की विराधना न कर डालूँ—यह सोचकर मिथ्यादुष्कृत कहता हुआ वह मुनि जमीन पर गिर पड़ा। सम्यग्दृष्टि वाली किसी दूसरी यक्षिणी ने उस पूर्व यक्षिणी को डांटा और देवप्रभाव से मुनि का ऊरु पुनः उसी स्थान पर जुड़ गया।^१

१२२. अप्रशस्त द्वेष (नाविक नंद और साधु)

नन्द नामक नाविक लोगों को गंगा नदी के आर-पार पहुंचाता था। एक बार धर्मरुचि अनगार नाव में बैठकर गए। तट आने पर अन्यान्य लोग नाविक को भृति (मूल्य) देकर चले गए। अनगार बिना मूल्य दिए जाने लगे। नाविक ने उन्हें रोक लिया। उस गांव की भिक्षा-वेला अतिक्रान्त हो गई। फिर भी नाविक ने उन्हें मुक्त नहीं किया। उस तट बालु में वे मुनि भूखे-प्यासे खड़े थे। वे कुपित हो गए। मुनि दृष्टिविषलब्धि से सम्पन्न थे। नाविक की ओर दृष्टि जाते ही वह जलकर भस्म हो गया और मरकर एक सभा में छिपकली बना। संयोग से साधु भी विहार करते-करते उसी गांव में पहुंचे। गांव में भिक्षा ग्रहण कर उस सभा में भोजन करने बैठे। छिपकली उसी कमरे की भित्ति पर थी। उसकी दृष्टि मुनि पर पड़ी। वह क्रोधारुण हो गई। जब मुनि भोजन करने लगे, तब वह ऊपर से कचरा गिराने लगी। मुनि अन्यत्र जाकर बैठे। वहां भी उसने वैसा ही किया। मुनि स्थान बदलते रहे और वह भी वहां जाती रही। मुनि को भोजन करने का स्थान नहीं मिला। मुनि ने छिपकली की ओर देखा और सोचा—‘अरे! यह कौन है?’ उन्हें याद आया यह तो पापी नाविक नंद है। मुनि ने अपनी दृष्टि से उसको जला डाला।

जहां गंगा समुद्र में प्रविष्ट होती है, वह स्थान प्रतिवर्ष बदल जाता है। वह भिन्न-भिन्न मार्ग से बहती है। जो पुरातन मार्ग होता है, वह मृतगंगा कहलाता है। वह छिपकली मरकर मृतगंगा में हंस रूप में उत्पन्न हुई। एक बार मुनि माघ मास में सार्थ के साथ प्रभातकाल में उधर से निकले। हंस ने मुनि को देखा। वह अपने पंखों में पानी भरकर मुनि को सींचने लगा। वहां भी वह हंस जलकर सिंह योनि में अंजनक पर्वत पर जन्मा। एक बार मुनि सार्थ के साथ उधर से विहरण कर रहे थे। सिंह मुनि को देखकर उठा। सारा सार्थ भाग गया। सिंह ने मुनि को पकड़ लिया। मुनि ने उसे जला डाला। वहां से मरकर वह बनारस में एक बटुक बना। मुनि वहां गए और भिक्षा के लिए घूमने लगे। उस समय अन्य बालकों के साथ वह बटुक भी उनको मारने लगा, धूलि फेंकने लगा। मुनि ने रुष्ट होकर उस बटुक को जला डाला। वह बटुक मरकर वहीं का

१. (अ) कुछ आचार्य इस कथा के बारे में अपना भिन्न मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि एक बार वह मुनि भिक्षा के लिए किसी दूसरे गांव में गया। वहां उस व्यंतरी ने मुनि के रूप को आच्छादित किया और स्वयं मुनि का रूप बनाकर तालाब में स्नान करने लगी। लोगों ने यह देखा और गुरु को जाकर शिकायत कर दी। प्रतिक्रमण के समय उसने गुरु के समक्ष आलोचना की। वह मुनि गुरु के पास पहुंचा और सारा वृत्तान्त बताया, आलोचना की। गुरु ने कहा—‘वत्स! पूरी आलोचना करो।’ वह उपयुक्त होकर बोला—‘क्षमाश्रमण! मुझे कुछ याद नहीं है।’ पुनः पूछने पर मुनि ने कहा—‘मुझे और दोष स्मृति में नहीं है।’ गुरु के डांटने पर भी वह यही कहता रहा। तब आचार्य बोले—‘आचार्य अनालोचित का प्रायश्चित्त नहीं देते।’ मुनि ने सोचा—‘आज यह कैसे हुआ?’ मुनि को उपशान्त देखकर उस यक्षिणी का मन बदल गया। उसने आचार्य से कहा—‘यह सब मैंने किया था।’ यक्षिणी श्राविका बन गई।

(ब) आवनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५१४, ५१५, हाटी. १ पृ. २५९, मटी. प. ४९८।

राजा बन गया। वह अपने पूर्वजन्म की स्मृति करने लगा। उसने अपने पूर्वभव के अशुभ जन्मों को देखा और सोचा यदि मैं अभी मारा जाऊंगा तो सबके द्वारा तिरस्कृत होऊंगा इसलिए उसने अपने ज्ञान से एक समस्या प्रस्तुत करके कहा—‘जो इस समस्या की पूर्ति करेगा, उसे मैं आधा राज्य दूंगा।’ वह समस्या इस प्रकार है—‘गंगा नदी पर नाविक नंद, सभा में छिपकली, मृतांगंगा के तट पर हंस, अंजनकपर्वत पर सिंह, बनारस में बटुक और वहीं राजा।’ लोगों ने यह समस्या सुनी। आबाल-गोपाल इस समस्या को पढ़ने लगे।

एक बार मुनि विहार करते हुए बनारस आए और उद्यान में ठहरे। उद्यानपालक भी यही समस्या बार-बार उच्चारित कर रहा था। मुनि के पूछने पर उसने सारी बात बता दी। मुनि बोला—‘मैं इस समस्या की पूर्ति कर दूंगा।’ मुनि ने कहा—‘जो इन सबका घातक है, वह यहीं आया हुआ है।’ वह आरामिक राजा के समक्ष गया और यही बात कही। इस बात को सुनकर राजा मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। राजा के आरक्षक आरामिक को पकड़ कर मारने लगे। उसने कहा—‘जिसने इसकी पूर्ति की है, वह हन्यमान है, मैं इस संदर्भ में कुछ नहीं जानता। एक मुनि ने मुझे यह पूर्ति दी है। राजा की मूर्च्छा टूटी।’ राजा ने पूछा—‘यह पूर्ति किसने की?’ आरामिक बोला—‘एक श्रमण ने।’ राजा ने श्रमण के पास अपने आदमियों को भेजा और पूछा—आपकी अनुमति हो तो मैं आपको वंदना करने आऊं। मुनि ने अनुमति दी। राजा आया और मुनि के समक्ष श्रावक बन गया। मुनि पूर्वाचरित पापों का प्रायश्चित्त कर सिद्ध हो गए।’

१२३. परशुराम

बसंतपुर नगर में एक सेठ का घर उजड़ गया। एक बालक बचा। वह एक सार्थवाह के साथ देशांतर के लिए निकला। सार्थवाह ने उसे छोड़ दिया। घूमते-घूमते वह एक तापसपल्ली में पहुंचा। उसका नाम आग्निक था। वह तापसों के यहां बढ़ने लगा। तापसाश्रम के अधिपति का नाम यम था। यम का पुत्र होने के कारण उसका नाम जामदग्निक हो गया। वह घोर तप तपने लगा। सर्वत्र उसकी ख्याति फैल गई।

दो देव थे। उनमें एक का नाम वैश्वानर था, वह श्रमणभक्त था। दूसरे देव का नाम धन्वन्तरी था, वह तापसभक्त था। दोनों देवों ने परस्पर परामर्श कर यह निश्चय किया कि हमें श्रमण और तापस की परीक्षा करनी है। जो श्रावक देव था, वह बोला—श्रमणों में जो सबसे अंतिम है उसका तथा तापस में जो सर्वप्रधान है, उसकी परीक्षा करेंगे।

मिथिला नगरी में तरुणधर्मा पद्मरथ राजा राज्य करता था। वह भगवान् वासुपूज्य के पास प्रव्रजित होने के लिए चंपा जा रहा था। देवताओं ने भक्त और पान से उसकी परीक्षा की। विषम रास्ते में उसके कोमल शरीर को कष्ट देना प्रारम्भ किया। देवों ने अनुलोम उपसर्ग भी उपस्थित किए फिर भी वह अत्यंत स्थिर रहा। देव उसे क्षुभित नहीं कर सके। दोनों देव पक्षी का रूप बनाकर जामदग्निक के पास गए। तापस की जटा में उन्होंने नीड बना लिया। पुरुष शकुनि ने कहा—‘भद्रे! मैं हिमवान् पर जाना चाहता हूं।’ वह बोली—‘वहां मत जाओ।’ शकुनि गोघातक आदि की शपथपूर्वक कहने लगा—‘मुझे जाना ही है।’ वह बोली—‘मैं इन शपथों में विश्वास नहीं करती। यदि तुम इस ऋषि के पापों को पी सकते हो तो मैं वहां जाने

१. आवर्नि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५१६, ५१७, हाटी. १ पृ. २५९, २६०, मटी. प. ४९९।

की अनुमति दूंगी।' यह सुनकर ऋषि रुष्ट हो गया। उसने दोनों हाथों से दोनों पक्षियों को पकड़ लिया और अपने पाप के बारे में पूछने लगा। पूछने पर वे पक्षी बोले—'महर्षे! तुम अनपत्य हो।' ऋषि ने स्वीकृति दी और वह क्षुब्ध हो गया। तापसभक्त देव श्रावक बन गया। इधर ऋषि जामदग्निक अपनी आतापना को छोड़कर मृगकोष्ठक नगर में गया। वहां जितशत्रु राजा राज्य करता था। ऋषि को देखकर राजा अपने आसन से उठा और पूछा—'महर्षे! आपको क्या दूं?' ऋषि बोले—'अपनी पुत्री दो।' राजा बोला—'मेरी सौ पुत्रियां हैं, जो आपको पसंद आए उसे ले जाओ।' ऋषि कन्याओं के अन्तःपुर में गया। ऋषि को देखकर कन्याओं ने थूका और कहा—'लज्जा नहीं आती इस प्रकार आते हुए।' यह सुनकर ऋषि ने सबको कुब्जा बना डाला।

राजा की एक कन्या धूल में खेल रही थी। ऋषि ने उसको एक फल देते हुए कहा—'क्या तुम इसे लेना चाहोगी?' उस कन्या ने हाथ फैलाए। ऋषि उसको लेकर चलने लगा। सारी कुब्जा कन्याएं आकर ऋषि से बोलीं—'आप अपनी सालियों को पुनः रूप दें, मूल की स्थिति में ले आए।' ऋषि ने सबको मूलरूप में परिवर्तित कर दिया। तब से उस नगर का नाम कन्याकुब्ज हो गया। ऋषि उस छोटी कन्या को लेकर आश्रम में पहुंचा। उसके साथ गाएं-भैंसे तथा दास-दासी भी गए। वह कन्या वहां बड़ी हुई और जब वह यौवन को प्राप्त हुई तब उसके साथ ऋषि ने विवाह कर लिया। एक बार जब वह ऋतुधर्मा हुई तब जामदग्निक ने उसे कहा—'मैं तुम्हारे 'चरुक' करूंगा, जिससे तुम्हारा जो पुत्र होगा वह ब्राह्मणों में प्रधान होगा।' उसने स्वीकार कर लिया। उसने ऋषि से कहा—'मेरी बहिन हस्तिनापुर में अनन्तवीर्य की पत्नी है। उसके लिए भी क्षत्रिय चरुक करें।' ऋषि ने वैसा ही किया। तापसपत्नी ने सोचा—'मैं तो जंगल की मृगी हो गई। मेरा पुत्र ऐसे ही नष्ट न हो जाए', यह सोचकर उसने क्षत्रियचरुक को खा लिया और अपनी बहिन के लिए दूसरा भेजा। दोनों के पुत्र हुए। तापस-पत्नी के पुत्र का नाम राम और दूसरी के पुत्र का नाम कार्तवीर्य रखा गया।

राम आश्रम में बढ़ रहा था। एक बार एक विद्याधर वहां आया। राम उसके साथ लग गया। उसने विद्याधर की परिचर्या की। विद्याधर ने प्रसन्न होकर उसे 'परशुविद्या' दी। उसने उसे सिद्ध कर ली। ऋषि-पत्नी रेणुका अपनी बहिन के घर गई। वह राजा में अनुरक्त हो गई। उससे उसके पुत्र हुआ। जमदग्नि पुत्र के साथ ही रेणुका को आश्रम में ले आया। राम ने रुष्ट होकर रेणुका को पुत्रसहित मार डाला। उसने आश्रम में ही रहकर धनुःशास्त्र सीखा था। रेणुका की बहिन (राजा की पत्नी) ने बहिन की मृत्यु का वृत्तान्त सुना। उसने राजा से कहा। राजा आश्रम में आया और उसको नष्ट-भ्रष्ट कर गायों को लेकर चला गया। राम को यह बात ज्ञात हुई। उसने राजा का पीछा कर, उसे परशु से मार डाला। कार्तवीर्य राजा बना। उसकी रानी का नाम तारा था। एक बार उसे पिता की मृत्यु का वृत्तान्त बताया। कार्तवीर्य ने आकर जमदग्नि को मार डाला। राम को यह ज्ञात हुआ तो उसने जलते हुए परशु से कार्तवीर्य को मार डाला और स्वयं राजा बन गया। इधर वह तारा देवी संभ्रम से पलायन कर आश्रम में आई। उसका गर्भ मुख की ओर से नीचे आकर गिरा। उसका नाम सुभूम रखा गया। राम का परशु जहां-जहां क्षत्रिय को देखता, वह जलने लग जाता। एक बार राम तापस आश्रम के पास से गुजर रहा था। परशु जल उठा। तापसों ने कहा—'हम क्षत्रिय नहीं हैं।' राम ने सात बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय कर डाला अर्थात् पृथ्वी से सभी क्षत्रियों को मार डाला और उनके जबड़ों से थाल

भरा। इस प्रकार क्रोध के वशीभूत होकर राम ने क्षत्रियों का वध किया।^१

१२४. सुभूम

वह सुभूम वहां बढ़ रहा था। वह विद्याधर से परिगृहीत था। इधर राम ने नैमित्तिक से पूछा—‘मेरा विनाश किससे होगा?’ नैमित्तिक बोला, जो इस सिंहासन पर बैठेगा और इन जबड़ों की खीर खाएगा, उससे ही तुम्हें भय है।’ राम ने अलग भोजन बनवाया। उसे सिंहासन पर रखा। जबड़े से भरा थाल उसके आगे रखा गया। इधर मेघनाद नामक विद्याधर ने अपनी पुत्री पद्मश्री के विषय में नैमित्तिक से पूछा—‘इसका विवाह किसके साथ करें?’ नैमित्तिक ने कहा—‘सुभूम को यह कन्या दी जाए, वह चक्रवर्ती बनेगा।’ विष आदि से परीक्षा करने पर उसे विश्वास हो गया कि यह चक्रवर्ती बनेगा। मेघनाद सुभूम के पीछे-पीछे रहने लगा। काल बीतता रहा।

एक बार सुभूम ने अपनी माता से पूछा—‘क्या लोक इतना ही है या और भी है?’ उसने राम की सारी बात बताई और कहा—‘तुम मत जाओ, अन्यथा मारे जाओगे।’ सुभूम बोला—‘मृत्यु भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगी। सुभूम मान के वशीभूत होकर हस्तिनापुर की उस सभा में गया और सिंहासन पर बैठा। सारे देव पलायन कर गए। वे दंष्ट्राएं खीर बन गईं। ब्राह्मण उसको मारने लगे। विद्याधर ने वे प्रहार ब्राह्मणों पर गिराने प्रारंभ किए। तब सुभूम विश्वस्त होकर खीर खाने लगा। राम को जब यह बात ज्ञात हुई तो वह सन्नद्ध होकर वहां आया और अपने परशु को फेंका लेकिन वह बुझ गया। सुभूम उसी थाल को लेकर उठा, वह चक्ररत्न हो गया। उसने उससे राम का शिरच्छेद कर डाला। फिर सुभूम ने अहंकार वश इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्मण रहित कर डाला। उसने ब्राह्मणियों के गर्भों को फाड़ कर नष्ट कर डाला।^२

१२५. पांडु आर्या

आर्या पांडु ने भक्तप्रत्याख्यान कर अनशन स्वीकार किया। उसने अपनी ख्याति और पूजा के लिए तीन बार लोगों को एकत्रित किया। आचार्य को यह ज्ञात हुआ। उन्होंने उसे आलोचना करने के लिए कहा। उसने आलोचना की। तीसरी बार उसने आलोचना नहीं की। गुरु द्वारा पूछने पर उसने कहा—‘पूर्वाभ्यास के कारण लोग आते हैं।’ वह मरकर मायाशक्त्य दोष के कारण किल्बिषिक देव के रूप में उत्पन्न हुई।^३

१२६. सर्वांगसुंदरी*

बसन्तपुर नगर में जितशत्रु राजा था। वहां धनपति और धनावह नामक दो भाई श्रेष्ठी थे। उनकी बहिन का नाम धनश्री था, जो बालविधवा थी। वह धर्मध्यान में लीन रहती थी। एक बार मासकल्प की इच्छा से आचार्य धर्मघोष वहां आए। धनश्री उनके पास प्रतिबुद्ध हुई। दोनों भाई भी बहिन के स्नेहवश आचार्य के पास प्रतिबुद्ध हुए। धनश्री प्रव्रजित होना चाहती थी पर भाई उसको सांसारिक स्नेह के कारण दीक्षा की अनुमति नहीं दे रहे थे।

१. आवनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५१८-५२१, हाटी. १ पृ. २६१, २६२, मटी. प. ५००, ५०१।

२. आवनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५२१, ५२२, हाटी. १ पृ. २६२, मटी. प. ५०१।

३. आवनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५२२, हाटी. १ पृ. २६२, मटी. प. ५०२।

४. चूर्णि में यह शुक की कथा के बाद है।

धनश्री धार्मिक कार्यों में बहुत अधिक व्यय करने लगी। उसकी दोनों भौजाइयां उसके इस कार्य से बहुत क्लेश पाती थीं और अटसंट बोलती रहती थीं। धनश्री ने सोचा—‘मुझे भाइयों के चित्त की परीक्षा करनी चाहिए। इनसे मुझे क्या? शयनकाल में विश्वस्त होकर माया से आलोचना करके वह भाभी से धार्मिक चर्चा करने लगी। फिर आवाज बदलकर उसका पति सुन सके वैसी आवाज में भाभी से बोली—‘और अधिक क्या? शाटिका की रक्षा करना।’ यह सुनकर भाई ने सोचा—‘निश्चित ही मेरी पत्नी दुश्चरित्रा है। भगवान् ने असती स्त्रियों के पोषण का निषेध किया है अतः मुझे इसका परित्याग कर देना चाहिए, यह सोचकर उसने पर्यंक पर बैठी हुई अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया। उसने सोचा—‘यह क्या हुआ?’ भाई ने अपनी पत्नी से कहा—‘तुम मेरे घर से निकल जाओ।’ उसने सोचा—‘मैंने ऐसा क्या दुष्कृत किया, जो मुझे घर से निकाला जा रहा है।’ उसे अपनी कोई भी गलती याद नहीं आई। उसने भूमि पर बैठ कर कष्ट से सारी रात बिताई। प्रभात होने पर वह म्लान बनी हुई बाहर आई। धनश्री ने कहा—‘आज इतनी म्लान क्यों हो?’ उसने रोते हुए बताया—‘मुझे मेरा कोई अपराध नहीं दीख रहा है फिर भी मुझे घर से निष्कासित किया जा रहा है।’ धनश्री बोली—‘तुम विश्वस्त रहो। मैं तुम्हें तुम्हारे पति से मिला दूंगी।’ धनश्री ने अपने भाई से कहा—‘यह क्या? यह म्लान क्यों है?’ भाई बोला—‘यह दुःशीला है।’ धनश्री ने पूछा—‘यह कैसे जाना?’ उसका भाई बोला—‘यह तुम्हारी बात से ही ज्ञात हुआ है।’ भाई ने कहा—‘मैंने भगवान् की देशना सुनी है। उन्होंने असती स्त्रियों के निवारण की बात कही है। धनश्री बोली—‘अहो, तुम्हारी पंडिताई और विचार करने की क्षमता भी विचित्र है। मैंने सामान्य रूप से तुम्हारी पत्नी को भगवान् की देशना सुनाई और शाटिका की रक्षा करने की बात कही। क्या इतने मात्र से वह दुश्चारिणी हो गई?’ यह सुनकर भाई लज्जित हुआ और मिथ्या दुष्कृत किया। धनश्री ने सोचा कि मेरा भाई सम्पूर्णतः पवित्र और निर्मल रूप को स्वीकार करना चाहता है। दूसरे भाई की भी इसी प्रकार परीक्षा हुई। उसने भाभी से कहा—‘और अधिक क्या कहूँ? तुम हाथ की रक्षा करना।’ यह सुनकर उसने भी अपनी पत्नी को तिरस्कृत करके घर से निकालना चाहा लेकिन बहिन ने उसे यथार्थ स्थिति की अवगति दी। धनश्री ने सोचा—‘मेरा यह भाई भी पूर्ण पवित्रता को स्वीकार करने वाला है।’ माया और अभ्याख्यान दोष से उसने तीव्र कर्म बांध लिए। उसकी आलोचना-प्रतिक्रमण किए बिना ही तीव्र भावना से वह प्रव्रजित हो गयी।

दोनों भाई भी अपनी पत्नियों के साथ प्रव्रजित हो गए। आयुष्य का पालन कर सभी देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां से दोनों भाई पहले च्युत होकर साकेत नगर में सेठ अशोकदत्त के घर में पुत्ररूप में उत्पन्न हुए। उनका नाम समुद्रदत्त और सागरदत्त रखा गया। पूर्वभव की बहिन धनश्री भी वहां से च्युत होकर गजपुर नगर में धनवान् श्रावक शंख के घर में पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई। वह अत्यंत सुंदर थी इसलिए उसका नाम ‘सर्वांगसुंदरी’ रखा गया। दोनों भाइयों की दोनों पत्नियां देवलोक से च्युत होकर कौशलपुर में नन्दन नामक धनिक के घर में दो पुत्रियों के रूप में जन्मीं। दोनों का नाम रखा गया—श्रीमती और कांतिमती। दोनों यौवन अवस्था को प्राप्त हुईं।

एक बार सर्वांगसुंदरी साकेत नगर से गजपुर आई। अशोकदत्त श्रेष्ठी भी वहां आया हुआ था। उसने सर्वांगसुंदरी को देखा और पूछा—‘यह किस की कन्या है?’ उसे बताया गया कि यह शंख श्रेष्ठी की कन्या

है। उसने शंख से अपने पुत्र समुद्रदत्त के लिए ससम्मान उसकी याचना की। शंख की स्वीकृति पर विवाह संपन्न हो गया। कुछ समय पश्चात् समुद्रदत्त उसे लेने आया। ससुराल वालों ने उसका स्वागत किया। वासगृह सजाया गया। उसी समय सर्वांगसुंदरी के माया के कारण बंधा हुआ कर्म उदय में आ गया। समुद्रदत्त वासगृह में बैठा था। उसने जाती हुई दैविकी पुरुष-छाया को देखा और सोचा—‘मेरी पत्नी दुःशीला है क्योंकि कोई उसको देखकर अभी-अभी गया है।’ इतने में ही सर्वांगसुंदरी वासगृह में आई। पति ने उसके साथ आलाप-संलाप नहीं किया। अत्यंत दुःखी होकर उसने धरती पर उदास बैठकर रात बिताई। प्रभात होने पर उसका पति अपने स्वजनवर्ग से बिना पूछे केवल एक ब्राह्मण को बताकर साकेत नगर चला गया। उसने कौशलपुर के श्रेष्ठी नन्दन की पुत्री श्रीमती और उसके भाई ने नन्दन की दूसरी पुत्री कान्तिमती के साथ विवाह कर लिया। सर्वांगसुंदरी ने जब इस विवाह की बात सुनी तो वह अत्यंत खिन्न हो गई। अब उसके और पति समुद्रदत्त के बीच व्यवहार समाप्त हो गया। सर्वांगसुंदरी धर्म-ध्यान में तत्पर रहने लगी और कालान्तर में वह प्रव्रजित हो गई।

एक बार अपनी प्रवर्तिनी के साथ विहरण करती हुई वह साकेत नगर में आई। उस समय सर्वांगसुंदरी के माया द्वारा बंधा हुआ दूसरा कर्म उदय में आया। वह पारणक करने के लिए नगर में भिक्षाचार्या के लिए श्रीमती के घर गई। उस समय वह शयनगृह में हार पिरो रही थी। साध्वी को देखकर हार को वहीं रख कर वह भिक्षा देने उठी। इतने में ही चित्र में चित्रित एक मयूर उतरा और हार को निगल गया। साध्वी ने सोचा—‘यह कैसा आश्चर्य?’ भिक्षा लेकर साध्वी चली गई। श्रीमती ने देखा कि हार नहीं है। उसने सोचा, यह कैसी गजब की क्रीड़ा। परिजनों के पूछने पर वे बोले—‘यहां केवल एक आर्या के अतिरिक्त कोई नहीं आया।’ श्रीमती ने साध्वी का तिरस्कार किया और घर से निकाल दिया। साध्वी ने अपने उपाश्रय में जाकर प्रवर्तिनी से मयूर वाली आश्चर्यकारी बात कही। प्रवर्तिनी बोली—‘कर्मों का परिणाम विचित्र होता है।’ वह साध्वी उग्रतप करने लगी। अनर्थ से भयभीत होकर उसने श्रीमती के घर जाना छोड़ दिया। श्रीमती और कान्तिमती के पति अपनी पत्नियों का उपहास करने लगे परन्तु दोनों विपरिणत नहीं हुईं। उग्रतप करने वाली साध्वी सर्वांगसुंदरी के कर्म कुछ शिथिल हुए।

एक बार श्रीमती अपने पति के साथ वासगृह में बैठी थी। उस समय चित्र से नीचे उतरकर मयूर ने हार को उगल दिया। यह देखकर दोनों में विरक्ति पैदा हुई। उन्होंने सोचा—‘ओह! साध्वी की कितनी गंभीरता है कि उसने कुछ नहीं बताया।’ वे उससे क्षमायाचना करने प्रवृत्त हुए। इतने में ही साध्वी को केवलज्ञान हो गया। देवताओं ने उसकी महिमा की। वे दोनों पति-पत्नी वहां आए। साध्वी से कारण पूछने पर उसने पूर्वभव का कथन किया। वे भी प्रव्रजित हो गए।^१

१२७. माया विषयक शुक की कथा

एक वृद्ध अपने पुत्र के साथ दीक्षित हुआ। पुत्र सुखशील बन गया। पिता ने उसकी सभी इच्छाएं पूरी कीं। अन्त में पुत्र ने कहा—‘मैं स्त्री के बिना नहीं रह सकता।’ तब पिता ने उसे तिरस्कृत करके निकाल

१. आवनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५२६-५२८, हाटी. १ पृ. २६२-२६४, मटी. प. ५०२, ५०३।

दिया। अब वह नौकरी करता हुआ इधर-उधर घूमने लगा। एक दिन वह आर्तध्यान से दुःखी होकर मर गया। माया के दोष से मरकर वह एक वृक्ष के कोटर में शुक रूप में उत्पन्न हुआ। उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ और वह आख्यानक तथा धर्मकथा करने लगा। एक वनचारी ने उसे पकड़ लिया। उसने उसका एक पैर और एक आंख निकाल कर उसे लंगड़ा और काना बना दिया। वह उसे बेचने के लिए बाजार में ले गया परन्तु उसे कौन खरीदता? एक श्रावक की दुकान पर शुक को रखकर वह दूसरी दुकानों से मूल्य लेने गया। शुक ने अपना परिचय दिया। श्रावक जिनदास ने उसे खरीद लिया और पिंजरे में डाल दिया। उसके स्वजन मिथ्यादृष्टि थे। शुक उन्हें धर्म बताने लगा। धर्म से वे उपशांत हो गए।

एक बार उस श्रावक का पुत्र माहेश्वर की पुत्री को देखकर उत्तम हो गया। उस दिन उन सभी ने न धर्म सुना और न प्रत्याख्यान ही किया। पूछने पर उन्होंने यथार्थ बात बता दी। शुक ने कहा—‘तुम विश्वस्त रहो।’ तोते ने पुत्र को सिखा दिया कि तुम जाओ, भस्म लगाने वाले संन्यासियों के पास जाकर ठीकरियों की अर्चना करो। बाद में एक ईंट को उखाड़कर मुझे पीछे से मारना। उसने वैसा ही किया। संन्यासियों का श्रद्धालु लड़की का पिता उसके पैरों में लुठकर बोला—‘मेरी पुत्री को वर दो।’ शुक बोला—‘धनाढ्य जिनदास को पुत्री ब्याह दो।’ उसका विवाह हो गया। वह पुत्री अहंकार से ग्रस्त हो गई और वह मानने लगी कि मैं देवदत्ता हूं अर्थात् देवता द्वारा प्रदत्त हूं। एक बार शुक हंसा। पूछने पर उसने पूर्व वृत्तान्त बता दिया। यह सुनकर वह उसके प्रति ईर्ष्या करने लगी.....। ‘तुम पंडित हो’ यह कहकर वह उसकी पांख उखाड़ देती। शुक ने सोचा—मुझे काल बिताना है। एक दिन वह बोला—‘मैं पंडित नहीं हूं।’ पंडिता तो वह नाईन है।

एक बार नाईन खेत की ओर भत्ता लेकर जा रही थी। चोरों ने उसे पकड़ लिया। उसने कहा—मुझे भी ऐसे पुरुष ही चाहिए। रात को तुम मेरे यहां आना। हम रुपयों को लेकर भाग जायेंगे। वे रात को आए। उसने क्षुरप्र से उन चोरों के नाक काट डाले। दूसरे दिन खेत की ओर जाते हुए चोरों ने उसे फिर पकड़ लिया। वह सिर पीटती हुई बोली—‘तुम कौन हो?’ वह उनके साथ भाग गई। एक गांव में शराब बेचने वाले के घर भक्त लाने के बहाने उन्होंने उसे बेच डाला। वे रुपये लेकर भाग गए। वह रात को एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगी। वे चोर भी वहीं विश्राम करने लगे। वे गायों का अपहरण करके वहां लाए थे अतः उसका मांस खाने लगे। एक व्यक्ति मांस को लेकर वृक्ष के पास आकर दिशाओं की ओर देखने लगा। उसने स्त्री को देखा। वह स्त्री उसे रुपये दिखाने लगी। वह उस स्त्री के पास आया। उस स्त्री ने दांतों और जीभ से उसे पकड़ लिया। गिरते हुए को ‘बैठ’—ऐसा कहने पर वह बैठ गया। अवसर देखकर वह मांस लेकर घर भाग गई। शुक बोला—‘वह नाईन पंडिता थी, मैं पंडित नहीं हूं।’ तब उसने उसकी दूसरी पांख उखाड़ कर शुक से कहा—‘तुम पंडित हो।’ शुक बोला—‘मैं पंडित नहीं, पंडित तो वह वणिक्पुत्री है।’ माहेश्वर की पुत्री ने पूछा—‘वह वणिक्पुत्री पंडिता कैसे हुई?’ इसका उत्तर देते हुए शुक बोला—

बसंतपुर नगर में एक वणिक् था। उसने एक दूसरे वणिक् के साथ शर्त लगाई कि जो माघ महीने में रात्रि को पानी के बीच खड़ा रहेगा, उसको मैं हजार रुपए दूंगा। एक दरिद्र वणिक् रात भर पानी में खड़ा रह गया। वणिक् ने सोचा—‘यह इतनी शीत ऋतु में रात को पानी में कैसे रहा? मरा क्यों नहीं?’ वह उससे

इसका कारण पूछने लगा। वह बोला—‘इस नगर में एक दीपक जलता है, मैंने उसको देखते हुए पानी में पूरी रात बिता दी।’ उस वणिक् ने शर्त के अनुसार हजार रुपए मांगे। वणिक् ने कहा—‘तुम शर्त के अनुसार पानी में नहीं रहे अतः मैं रुपए नहीं दूंगा।’ उसने रुपये न देने का कारण पूछा। वणिक् बोला—‘तुम दीपक के प्रभाव से पानी में खड़े रह गए।’ रुपए न मिलने पर वह अधीर हो गया। उसकी पुत्री बहुत बुद्धिमती थी। उसने पिता से अधैर्य का कारण पूछा। वणिक् बोला—‘मैं व्यर्थ ही पूरी रात पानी के मध्य खड़ा रहा।’ पुत्री बोली—‘आप अधीर न बनें।’ उष्णकाल आने पर आप उस वणिक् को अन्य व्यापारियों के साथ भोजन के लिए निमंत्रण देना। जब वे खाना खाते हुए पानी मांगें तो उनके सामने दूरी पर पानी रखकर कहना—‘यह पानी है, प्यास बुझा लो।’ वणिक् ने सभी व्यापारियों को भोजन के लिए निमंत्रित किया। सबने भोजन करने के पश्चात् पानी की मांग की। वह दरिद्र वणिक् बोला—‘इस पानी को देखते हुए आप लोगों की तृष्णा दूर हो जाएगी।’ वह व्यापारी बोला—‘इस प्रकार दूर से पानी देखने से प्यास कैसे दूर होगी?’ तब वह दरिद्र वणिक् बोला—‘जब पानी को देखते हुए तुम्हारी प्यास नहीं बुझी तो दीपक देखते हुए मुझे ठंड नहीं लगी, यह कैसे संभव है?’ वह जीत गया और व्यापारियों ने उसे हजार मुद्राएं दिलवा दीं। उस व्यापारी ने सोचा—‘इस मंदबुद्धि को यह बुद्धि किसने दी?’ व्यापारी ने कारण पूछा तो उसने बताया कि पुत्री की बुद्धि से ऐसा संभव हुआ है। वह उसकी पुत्री से द्वेष करने लगा। रोष में आकर उसने उसकी कन्या के साथ शादी करना चाहा। पिता अपनी कन्या को उसे नहीं देना चाहता था। उसने सोचा कि कहीं मात्सर्य दोष से यह कन्या को भविष्य में दुःख न दे। पुत्री ने पिता से कहा—‘मेरा विवाह उसके साथ कर दो। क्या यह मुझे मार देगा, जो आप इतने भयभीत हो रहे हैं?’ पिता ने पुत्री का विवाह कर दिया। उधर उस व्यापारी ने अपने घर में कुआ खुदवाना शुरू किया। पुत्री ने पिता से कहा आप जाकर खोज करो कि उसके घर के मध्य में क्या है? गवेषणा करने पर ज्ञात हुआ कि वहां कुआ खोदा जा रहा है। तब उस वणिक्पुत्री ने उस कुएं से लेकर अपने घर तक सुरंग खुदवा ली। उन दोनों का विवाह हो गया। शादी के बाद उसने पत्नी को कुएं में डाल दिया। उसके ऊपर सौ किलो कपास देते हुए कहा अब तुम्हारी पंडिताई का प्रयोग करो। मैं यात्रा पर जा रहा हूं। तुम इस कपास को कातो और तीन पुत्र मुझे दो। उसने अपने घर वालों को आदेश दिया कि इसे कोद्रव का भोजन और कांजी का पानी प्रतिदिन देते रहना है। वह भी सुरंग के माध्यम से अपने पिता के घर जाकर बोली—‘इस कपास का सूत कतवाओ और जो भोजन कूप में मिले, उसे स्वीकार करो। मैं गणिकावेश में किसी दूसरे नगर में जा रही हूं।’ उसने भाड़े पर एक मकान खरीदा। अपने व्यापारी पति को परिचित किया और उसे अपने घर लेकर आ गई। उसने पूछा—‘तुम अभी तक कन्या कैसे रही हो?’ वह बोली—‘मैं पुरुषद्वेषिणी हूं। तुम मुझे अच्छे लगे इसलिए तुम्हें अपने घर लेकर आई हूं।’ उसने व्यापारी की सेवा की और अनेक वर्षों तक उसके साथ रही। उसके तीन पुत्र उत्पन्न हो गए। उसने व्यापारी से सारा धन ग्रहण कर लिया।

एक दिन व्यापारी अपने घर लौट गया। वह भी गुप्त रूप से उसी सार्थ के साथ अपने गांव लौट आई और सबसे पहले अपने पिता के घर पहुंच गई। सूत और पुत्रों को लेकर वह उसी सुरंग से कुएं में चली गई। वणिक् अपने घर पहुंचा और उसको याद किया। वह पुराने द्वेष को भूलकर उसके प्रति दयामय हो गया था। उसने अपने परिजनो से पूछा—‘क्या वह कुएं में भक्त-पान आदि ग्रहण करती थी?’ परिजनो ने

स्वीकृति दी। तब रस्सी से उसने कुंए में कुर्सी उतारी। कुर्सी पर पहले सारा सूत उतारा फिर दोनों पुत्रों को तथा बाद में तीसरे पुत्र के साथ वह बाहर आई। सारी बात सुनकर वह उस पर प्रसन्न हो गया और उसे गृहस्वामिनी बना दिया। शुक बोला—‘इसलिए वह वणिक्पुत्री पंडिता थी, मैं नहीं।’

देवदत्ता ने फिर तोते की पांख उखाड़ी और कहा—‘तुम पंडित हो।’ शुक बोला—‘पंडित मैं नहीं, पंडिता तो कौलजातीय वह स्त्री है।’ एक कौलजातीय कुमारी कन्या थी। उसके माता-पिता एक दिन गांव चले गए अतः घर में वह अकेली थी। एक दिन एक चोर उसके घर घुस गया। वह उसको विश्वास दिलाती हुई बोली—‘मेरी शादी मेरे मामा के पुत्र से होगी। जब मेरे पुत्र होगा तो उसका नाम चन्द्र रखा जाएगा।’ बड़ा होने पर मैं उसे इस प्रकार आवाज दूंगी—‘ओ चन्द्र इधर आ।’ उसकी तेज आवाज सुनकर पड़ोसी चन्द्र आवाज करता हुआ वहां आया। उसे देखकर चोर भाग गया अतः पंडिता वह कौलजातीय कन्या थी, मैं नहीं।

माहेश्वर पुत्री ने पुनः तोते की एक पांख उखाड़कर कहा—‘तुम पंडित हो।’ तोते ने कहा—‘पंडित मैं नहीं, वह कुलपुत्र की दारिका है।’ जिज्ञासा करने पर तोते ने कथा प्रारंभ की—‘बसंतपुर नगर में जितशत्रु राजा था। उसके कुलपुत्र के एक पुत्री थी।’ एक बार राजा ने कहा—‘जो मुझे असत् वस्तु का विश्वास दिला देगा, उसे मैं प्रचुर भोग सामग्री दूंगा।’ वह कुलपुत्र सूर्यास्त के पश्चात् घर पहुंचा। उसकी पुत्री ने पूछा—‘आज सूर्यास्त के पश्चात् क्यों आए?’ कुलपुत्र ने कहा—‘राजा ने आज घोषणा की है कि जो उसे असत् बात का विश्वास दिला देगा, उसको वह प्रचुर भोग-सामग्री देगा।’ राजा की बात पर विचार करते-करते सूर्यास्त हो गया। उसकी पुत्री ने कहा—‘मैं राजा को विश्वास दिला दूंगी।’ कुलपुत्र उसे राजा के पास ले गया। वह राजा से बोली—‘मैं घर में सबसे बड़ी कन्या हूं। मेरा विवाह मातुल पुत्र से किया गया। मेरे माता-पिता प्रवास पर चले गए।’ एक बार वह मातुल पुत्र अतिथि के रूप में आया। वह मेरे हृदय में अवस्थित था अतः उसका खूब आतिथ्य किया। रात को उसे सर्प ने काट लिया। वह मर गया। रात्रि में ही मैं उसे श्मशानघाट ले गयी। वहां भयंकर शिव आदि देव उपद्रव करने लगे।’ राजा ने बीच में पूछा—‘क्या तुमको भय नहीं लगा?’ वह बोली—‘यदि यह बात सत्य होती तो भय लगता।’ राजा पराजित हो गया।

इस प्रकार उस तोते ने वणिक्दारिका, तिलखादिका, कोलिणी आदि ५०० कथानक सुनाए। कथानक सुनते-सुनते रात बीत गई। उसने पंखविहीन उस तोते को मुक्त कर दिया। सम्यक् प्रकार उड़ने का सामर्थ्य न होने के कारण उस तोते को एक बाजपक्षी ने पकड़ लिया। दो बाजपक्षियों के लड़ने के कारण वह अशोकवनिका में गिरा। वहां एक दासी-पुत्र ने उसे देखा। तोते ने दासी-पुत्र से कहा—‘तुम मेरी रक्षा और पालन-पोषण करो, समय आने पर मैं तुम्हारा काम करूंगा। उस दासीपुत्र ने उसका पोषण एवं संरक्षण किया।

संतान न होने के कारण राजा किसी अन्य को राज्य दे रहा था। वह तोता एक मिट्टी के मयूर के साथ लगकर रात को राजा से बोला—‘तुम दासी-पुत्र को राज्य दो।’ राजा ने उसे राज्य दे दिया। राजा बने दासी-पुत्र से शुक ने सात दिन के लिए राज्य मांगा।’

१. मटी में यह कथा अनुपलब्ध है तथा हाटी में अत्यंत संक्षेप में कथा का संकेत मात्र है।

माहेश्वर और श्रावक जिनदास—इन दोनों के कुल प्रव्रजित हो गए। उस शुक ने भक्तप्रत्याख्यान किया और सहस्रार देवलोक में उत्पन्न हुआ।^१

१२८. लोभ विषयक लुब्धनन्द का उदाहरण

पाटलिपुत्र नगर में लुब्धनन्द नामक वणिक् रहता था। वहां जिनदत्त श्रावक था। वहां का राजा जितशत्रु एक तालाब का उत्खनन करवा रहा था। तालाब खोदते समय कर्मकरों ने कुश्य देखे। हमारे मदिरापान के लिए इनका मूल्य पर्याप्त होगा, यह सोचकर वे कुश्य—लोहे की कीलें लेकर बाजार में श्रावक के पास गए। उसने उन्हें लेने से इन्कार कर दिया। तब वे उन्हें नन्द के पास ले गए। नन्द ने उन्हें लेकर कहा—‘और भी ले आना, मैं ही उन्हें खरीद लूंगा।’ अब वह प्रतिदिन कीलें लेने लगा। एक बार मित्रों के अत्यधिक आमंत्रण पर वह बलात् उनके साथ बाहर चला गया। जाते-जाते उसने पुत्रों से कहा—‘लोह-कीलिकाएं आए तो उन्हें ले लेना।’ वह चला गया। पुत्रों ने लोहे की कीलें लाने पर उन्हें नहीं खरीदा। वे कर्मकर निराश और आक्रुष्ट होकर आपूपिकशाला में गए। ‘यह न्यून मूल्य दे रहा है’ यह सोचकर उन्होंने अपने कुश्य एकान्त में रख दिए। कुश्य से लोहे का किट्ट भूमि पर गिरा। राजपुरुषों ने यह देखा। उन्होंने कर्मकरों को पकड़ा और राजा के पास ले गए। उन्होंने राजा के समक्ष यथार्थ बात कह दी।

इतने में नन्द अपने घर गया और पुत्रों से पूछा—‘कुश्य लिए या नहीं?’ पुत्र बोले—‘क्या हम ग्रहग्रस्त हैं, जो कुश्य लें।’ उसने सोचा इतने लाभ से मैं वंचित रह गया। लोभ के कारण उसने कुश्य से दोनों पुत्रों के एक-एक पैर काट डाले। स्वजन विलाप करने लगे। इधर राजपुरुष उस श्रावक तथा नन्द को लेकर राजकुल में गए। उनसे यथार्थ बात पूछी गयी। श्रावक बोला—‘मेरे इच्छापरिमाण व्रत है अतः अधिक न रखने का संकल्प है इसके अतिरिक्त धोखा देकर कपटपूर्वक वस्तु लेने का भी प्रत्याख्यान है—यह सोचकर मैंने ये कुश्य नहीं लिए। राजा ने श्रावक को ससत्कार मुक्त कर दिया। नन्द को शूली पर चढ़ा दिया और उसके कुल का विनाश कर डाला। श्रावक को श्रीगृह का अधिकारी बना दिया।^२

१२९. श्रोत्रेन्द्रिय के प्रति आसक्ति

बसंतपुर नगर में पुष्पशाल नामक गांधर्विक रहता था। वह विरूप था परन्तु उसके स्वर बहुत मीठे थे। गायन से उसने बसंतपुर के लोगों का हृदय आकृष्ट कर लिया था। उस नगर का सार्धवाह दिग्यात्रा के लिए प्रस्थित हुआ। उसकी पत्नी का नाम भद्रा था। उसने किसी प्रयोजन से अपनी दासियों को बाहर भेजा। वे दासियां उस गांधर्विक का गायन सुनने बैठ गईं। उन्हें समय का भान नहीं रहा। वे विलंब से घर पहुंचीं। भद्रा ने उन्हें उपालंभ दिया। दासियां बोलीं—‘स्वामिनी! रुष्ट मत होओ। आज हमने जो सुना है, वह पशुओं को भी लुब्ध करने वाला था फिर भला कान से सुनने और समझने वालों का तो कहना ही क्या?’ भद्रा ने पूछा—‘कैसे?’ दासियों ने सारी बात सुनाई। भद्रा ने मन ही मन सोचा—‘मैं उसे कैसे देख पाऊंगी?’

एक बार नगर-देवता की यात्रा प्रारंभ हुई। सारा नगर वहां एकत्रित हो गया। भद्रा भी वहां गई।

१. आवनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५२२-५२६, हाटी. १ पृ. २६४, २६५।

२. आवनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५२८, ५२९, हाटी. १ पृ. २६५, मटी. प. ५०३।

लोग नगर-देवता को प्रणाम कर घर लौटने लगे। प्रभात का समय था। पुष्पशाल गांधर्विक भी गाने से परिश्रान्त हो गया था अतः वहीं सो गया। सार्थवाही भद्रा दासियों के साथ वहां आई। वह देवता को प्रणाम कर मंदिर की परिक्रमा करने लगी। दासी ने बताया—‘यही वह गायक है।’ वह संभ्रान्त होकर उसके पास गई। देखा कि वह कुरूप और दंतुर है। वह बोली—‘देख लिया, इसके रूप से ही इसका गायन जान लिया।’ घृणा से उसने उस पर थूक दिया। गायक की नींद टूटी। विदूषकों ने उससे सारी बात कही। वह मन ही मन क्रोध से उबल पड़ा। दूसरे दिन गायक भद्रा के घर के बाहर प्रातःकाल प्रोषितपतिका द्वारा बनाया गया गीत गाने लगा। कैसे वह पूछता है, कैसे चिन्तन करता है, कैसे पत्र लिखता है, कैसे आकर घर में प्रवेश करता है आदि। भद्रा ने सोचा—‘पति पास में ही है, मैं जाऊँ और उनका स्वागत करूँ।’ वह उठी और असावधानी के कारण ऊपर से नीचे गिरकर मर गई।

जब उसके पति ने सुना कि इस गायक ने मेरी पत्नी को मारा है तो एक दिन उसने उसको बुलाया। उसने गायक को पेट भरकर विशिष्ट भोजन करवाया। भोजन के बाद सार्थवाह ने गायक से गाते हुए ऊपर चढ़ने को कहा। उसने गाना प्रारंभ किया। ऊर्ध्व श्वास से उसका सिर फूट गया और वह मर गया।^१

१३०. चक्षु इन्द्रिय के प्रति आसक्ति

मथुरा नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम धारिणी था। वह स्वभावतः धर्मपरायणा थी। वहां एक भंडीरवन^२ नामक चैत्य था। एक दिन उसकी यात्रा के लिए अपनी रानियों के साथ राजा तथा नगरजन सज-धज कर निकले। एक वाहन में एक वणिक्पुत्र ने यवनिका से बाहर निकले नुपूर सहित रानी के पैरों को देखा। उसके पैरों में अलक्तक लगा हुआ था। युवक ने सोचा कि जिस स्त्री के चरण इतने सुन्दर हैं, वह अवश्य ही स्वर्ग की अप्सरा से भी अधिक सुन्दर होगी। वह उसमें आसक्त हो गया। उसने पूछताछ कर जान लिया कि वह कौन है? उसने उसके घर के पास दुकान खरीद ली और उसकी दासियों से परिचय किया। उन्हें दुगुना धन देकर वह यह दर्शाने लगा कि वह स्वयं महामनुष्य है। वे दासियां उससे प्रभावित हो गईं। उन्होंने रानी से भी कहा कि इस रूप वाला एक वणिक्पुत्र है। अब वे दासियां इस धनिक वणिक् के यहां से पदार्थ खरीदने लगीं। देवी भी वहीं से गंध आदि द्रव्य मंगाली थी। एक बार उस युवक ने दासी से पूछा—‘कौन इन मूल्यवान् गंध-द्रव्यों का प्रयोग करती है?’ दासी बोली—‘मेरी स्वामिनी!’ तब उस तरुण ने भूर्जपत्र पर कुछ लिखकर एक गंध-पुटिका में रख दिया। उसने लिखा—

काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु।

मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे!, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु॥

कालोऽयमानंदकरः शिखीनां, मेघान्धकारश्च दिशि प्रवृत्तः।

मिथ्या न वक्ष्यामि विशालनेत्रे!, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु॥

इन दो श्लोको के चारों चरणों के प्रथम अक्षरों ‘कामेमि ते’ मैं तुमको चाहता हूं, लिखकर अपनी भावना व्यक्त की।

१. आवनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५२९, ५३०, हाटी. १ पृ. २६५, २६६, मटी. प. ५०४, ५०५।

२. चूर्णि में भंडीरवत्सक नाम है।

जब दासी गंधपुटिका लेने आई तब उसे वही गंधपुटिका देकर भेजा। देवी ने पत्र खोलकर पढ़ा और सोचा—‘धिक्कार है भोगों को।’ उसने प्रतिलेख लिखा और उसी गंधपुटिका में बंद कर दिया। दासी उस पुटिका को लेकर तरुण के पास जाकर बोली—‘देवी ने कहा है कि गंध सुंदर नहीं है।’ तरुण ने संतुष्ट होकर गंधपुटिका को खोला। पत्र में लिखा था—

नेह लोके सुखं किञ्चिच्छादितस्याहसा भृशम्।

मितं च जीवितं नृणां, तेन धर्मे मतिं कुरु॥

पाद के प्रथम अक्षर से भावार्थ निकलता था ‘नेच्छामि’ अर्थात् मैं तुम्हें नहीं चाहती हूं। पत्र को पढ़कर युवक विषण्ण हो गया। वह दुःखी होकर अपने कपड़े फाड़ने लगा। उसने सोचा—‘जब तक यह देवी प्राप्त न हो जाए, तब तक मैं जीवित कैसे रह सकता हूं?’ वह वहां से चला और घूमता-घूमता दूसरे राज्य में चला गया। वहां वह सिद्धपुत्रों के आश्रम में रहा। वहां नीति की व्याख्या की जा रही थी।

‘न शक्यं त्वरमाणेन, प्रातुमर्थान् सुदुर्लभान्।

भार्या च रूपसपन्नां, शत्रूणां च पराजयम्॥’

इसकी व्याख्या करते हुए सिद्धपुत्रों ने यह कथानक सुनाया। बसंतपुर नगर में जिनदत्त नामक सार्थवाहपुत्र रहता था। वह श्रमणों का उपासक था। चंपा नगरी में धन नाम का सार्थवाह रहता था। वह परम ऋद्धिशाली था। उसके पास दो आश्चर्य थे—चार समुद्रों की सारभूत मुक्तावली और हारप्रभा नाम की पुत्री। जिनदत्त ने यह बात सुनी। उसने सार्थवाह से हारप्रभा पुत्री की मांग की। धन सार्थवाह ने पुत्री को देने से इन्कार कर दिया। तब जिनदत्त ने ब्राह्मण का वेष बनाया और अकेला चंपा नगरी में गया। उस समय वहां पूजाकाल चल रहा था। वह एक अध्यापक के पास गया। पूछने पर कहा—‘मैं पढ़ने के लिए आया हूं।’ अध्यापक बोला—‘मेरे पास भोजन की व्यवस्था नहीं है। वह अन्यत्र कहीं प्राप्त कर लेना। धन सार्थवाह सरजस्कों को भोजन देता है।’ वह धन के पास गया और बोला—‘जब तक मैं विद्या-ग्रहण करूं, तब तक आप मेरे लिए भोजन की व्यवस्था करें।’ धन ने स्वीकार कर लिया। उसने अपनी पुत्री हारप्रभा को बुलाकर कहा—‘इसको भोजन दे देना।’ जिनदत्त ने सोचा—‘बहुत अच्छा हुआ।’ चूहे ने बिडाल को मार डाला। अब वह हारप्रभा को फल आदि भेंट देने लगा। वह भेंट स्वीकार नहीं करती। जिनदत्त नियतिवादी था। वह अवसर-अवसर पर हारप्रभा को भेंट देने लगा। सरजस्कों ने उसकी भर्त्सना की।

कुछ समय के पश्चात् उसने हारप्रभा को प्रसन्न कर लिया और वह उसमें आसक्त हो गई। उसने कहा—‘हम यहां से पलायन कर जायें।’ जिनदत्त बोला—‘यह उचित नहीं होगा, तुम विश्वस्त रहो। जल्दीबाजी में कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। तुम पागल होने का बहाना बनाओ और जो वैद्य उपचार करने आएँ उन्हें बुरा-भला कहो।’ उसने वैसे ही किया। वैद्यों ने उपचार करने से इन्कार कर दिया। पिता उदास हो गया। विप्र बना हुआ जिनदत्त बोला—‘यह विद्या मुझे परंपरा से प्राप्त है किन्तु इसको करना दुष्कर है।’ धन सार्थवाह ने कहा—‘मैं व्यवस्था कर दूंगा।’ विप्र बोला—‘मैं करता हूं।’ जिनदत्त बोला—‘जो लोग आएँ, वे सारे ब्रह्मचारी होने चाहिए।’ सेठ बोला—‘यहां सरजस्क रहते हैं’ मैं उन्हें ले आऊंगा। विप्र बोला—‘यदि किसी प्रकार से कोई भी अब्रह्मचारी होंगे तो कार्य सिद्ध नहीं होगा। वे परिताप देंगे। धन

बोला—‘मैं अच्छे सरजस्कों को ले आऊंगा पर कितने लाऊं?’ जिनदत्त बोला—चार। वह चार शब्दवेधी दिक्पालों को लेकर आया। मंडल करके दिशापालों से कहा—‘जब तुम्हें लोमड़ी का शब्द सुनाई दे तब उसे शीघ्र ही बाणों से बींध देना और सरजस्कों से कहा कि ‘हुं फट्’ इतना कहने पर लोमड़ी की आवाज करना। हारप्रभा लड़की से कहा कि तुम यथावत् ही रहना। वैसा करने पर सरजस्क बींधे गए पर पुत्री ठीक नहीं हुई। धन सार्थवाह उद्विग्न हो गया। विप्र बोला—‘मैंने पहले ही कह दिया था कि यदि अब्रह्मचारी होंगे तो काम सिद्ध नहीं होगा।’ धन ने कहा—‘अब क्या उपाय है?’ विप्र ने ब्रह्मचारियों का स्वरूप बताया तथा गुप्तियों की साधना बताई। धन ने जल शौचवादियों में ऐसे ब्रह्मचारी की खोज की पर कोई ब्रह्मचारी नहीं मिला। वह धन श्रेष्ठी को साधुओं के पास ले गया। साधुओं ने ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों की बात बताते हुए कहा—‘जो इनमें पवित्र मन से निवास करता है, वह ब्रह्मचारी होता है। जो मन का निरोध करता है, वह ब्रह्मचारी होता है।’ धन सार्थवाह ने मुनियों को कहा कि मुझे ऐसे ही ब्रह्मचारियों से प्रयोजन है। साधुओं ने कहा कि ऐसे प्रयोजन में सम्मिलित होना हमें नहीं कल्पता। निराश होकर धन विप्र के पास आकर बोला—‘ब्रह्मचारी तो मुझे मिल गए किन्तु वह यहां आना नहीं चाहते।’ विप्र बोला—‘ऐसे ही लोकव्यापार से मुक्त मुनि साधु कहलाते हैं। उनकी पूजा-अर्चना करने से भी कार्य की सिद्धि होती है। उनके नाम लिखने पर क्षुद्र व्यन्तरदेव भी आक्रमण नहीं करते।’ धन श्रेष्ठी ने साधुओं की पूजा की। मंडल बनाकर साधुओं के नाम लिखे। दिक्पालों की स्थापना की। सियाल नहीं बोले। पुत्री स्वस्थ हो गई। धन सार्थवाह साधुओं की सेवा करने लगा और श्रावक बन गया। विप्र वेषधारी जिनदत्त को धर्मोपकारी मानकर धन ने उसको अपनी बेटी हारप्रभा तथा मोतियों की माला दे दी। त्वरा न करने के कारण जिनदत्त को वह उपलब्धि हुई।

सिद्धपुत्रों ने दूसरी कथा सुनाते हुए कहा—‘एक कार्पटिक ने जंगल में एक तोते की आराधना की।’ वह मोर बन गया और प्रतिदिन नर्तन करते समय स्वर्ण की एक-एक पिच्छ देने लगा। कार्पटिक का लोभ बढ़ा। उसने सोचा—‘मैं कितने दिन प्रतीक्षा करूंगा।’ उसने उस मयूर की सारी पिच्छें उखाड़ दीं। वह पुनः मयूर से कौआ हो गया। वह उससे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका अतः त्वरा कार्य-विनाशिका होती है।

ये कथाएं सुनकर बसंतपुर का वह धनिकपुत्र संभला और उसने सोचा कि मैं भी अपने घर जाऊं और त्वरा न कर उस देवी को पाने का उपाय सोचूं। वह अपने देश में गया। वहां अनेक दंडरक्षक चांडाल विद्यासिद्ध थे। वह उनके पास गया। उन्होंने पूछा—‘हमारे से तुम्हें क्या प्रयोजन है?’ उसने कहा—‘देवी से मुझे मिलाओ।’ चांडालों ने सोचा—‘देवी पर कोई झूठा कलंक आने पर राजा उसे छोड़ देगा।’ उन्होंने विद्याबल से मारी की विकुर्वणा की। मारी के प्रभाव से लोग मरने लगे। राजा ने चांडालों को आदेश दिया—‘मारी पर नियंत्रण करो।’ वे बोले—‘हम विद्याबल से गवेषणा करेंगे, उसके बाद आपको कुछ निवेदन करेंगे।’ चांडालों ने चौथी रात्रि में देवी के वासगृह में मनुष्य के हाथ-पैरों की विकुर्वणा की। देवी का मुंह रक्त से खरंटित कर दिया। वे राजा के पास जाकर बोले—‘मारी यहीं से उत्पन्न हुई है, आप अपने घर में खोजें।’ राजा ने रानी के वासगृह में जाकर देखा। वहां मनुष्यों के हाथ-पैर और रानी का मुंह रक्त से लिस देखकर राजा ने चांडालों से कहा—‘जाओ, विधिपूर्वक देवी को मार डालो। मध्यरात्रि में जहां कोई पुरुष न देखता हो, वहां इसका वध कर देना।’ यह स्वीकार कर चाण्डाल रात्रि में देवी को अपने घर ले गए। वह

धनिक पुत्र भी वहां आ गया। वे पूजा-अर्चा कर देवी को मारने का उपक्रम करने लगे। उस तरुण ने पूछा—‘इसने क्या अपराध किया है? इसे मत मारो, मुक्त कर दो।’ वे बोले—‘यह मारी है, इसलिए इसे मारते हैं।’ वह बोला—‘क्या मारी ऐसी आकृति वाली होती है? किसी ने तुमको गुमराह किया है, इसे मत मारो।’ किन्तु वे चांडाल उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। तब वह तरुण बोला—‘मैं तुम्हें अपार धन राशि दूंगा, करोड़ों मूल्य के अलंकार दूंगा, तुम इसे छोड़ दो।’ उसने अलंकार प्रस्तुत किए। देवी ने सोचा—‘यह कौन है, जो मुझ पर अकारण वात्सल्य दिखा रहा है?’ देवी का उस तरुण के प्रति प्रतिबंध हो गया। चांडालों ने तरुण से कहा—‘यदि इस नारी के प्रति तुम्हारा प्रतिबंध है तो हम इसे एक शर्त पर मुक्त कर सकते हैं। वह शर्त यह है कि तुम यहां न रहो दूसरे देश में चले जाओ।’ तरुण ने शर्त स्वीकार कर ली। चांडालों ने देवी को मुक्त कर दिया। वह देवी को लेकर वहां से दूर देश चला गया। रानी ने सोचा—‘यह प्राण देने वाला है, वत्सल है।’ उसका उसके प्रति दृढ़ अनुराग हो गया। वह उसके आलाप-संलाप से प्रभावित हो गई। देशान्तर में दोनों भोग भोगते हुए सुखपूर्वक रहने लगे।

एक बार वह तरुण नाटक देखने के लिए प्रस्थित हुआ। देवी स्नेह के वशीभूत होकर उसे जाने देना नहीं चाहती थी। उसके स्नेह को देखकर तरुण हंसा। देवी ने हंसने का कारण पूछा तो उसने यथार्थ बात बता दी। देवी विरक्त हो गई। वह विशुद्ध संयम पालने वाली आर्याओं के पास प्रव्रजित हो गई। वह तरुण आर्त रौद्र-ध्यान में मरकर नरक में उत्पन्न हुआ।^१

१३१. घ्राणेन्द्रिय के प्रति आसक्ति

एक कुमार था, जो गंधप्रिय था। वह सदा नौकाओं में क्रीडा करता था। उसकी सौतेली मां ने एक दिन मंजूषा में विष रखकर उसे नदी में प्रवाहित कर दिया। कुमार ने नदी में आती हुई मंजूषा को देखा। वह मंजूषा को तट पर ले आया। उसको खोलकर देखने लगा। उस बड़ी मंजूषा के भीतर एक छोटी मंजूषा थी। उसने उत्सुकता से उसे खोला और गंधद्रव्य जानकर सूंघा। सूंघते ही वह मर गया।^२

१३२. रसनेन्द्रिय के प्रति आसक्ति

राजा सौदास मांसप्रिय था। उस दिन अमावस्या थी। शुक का मांस एक विडाल ले गया। कसाइयों से मांस की खोज की लेकिन वह नहीं मिला। तब रसोइए ने एक बालक को मार डाला। राजा के पूछने पर रसोइए ने बताया कि यह बालक का मांस है। उसने प्रतिदिन बच्चों को मारने की आज्ञा दे दी। नागरिकों को भी पता लग गया। उन्होंने राजा को राक्षस मानकर उसे भृत्यों द्वारा मद्य पिलाकर अटवी में छोड़ दिया। चौराहे पर बैठ हाथी को लेकर वह प्रतिदिन मनुष्यों की घात करने लगा। (कोई कहते हैं—‘वह एकान्त में मनुष्यों को मारने लगा।’)

एक बार उधर से एक सार्थ निकला। वह सो रहा था। उसे सार्थ का पता नहीं चला। सार्थ के साथ प्रवासी मुनि आवश्यक—प्रतिक्रमण करने के लिए एकान्त में ठहरे। वे सार्थ से बिछुड़ गए। उन्हें देखकर वह राजा उनकी सेवा में पहुंचा। उसने उनको मारना चाहा लेकिन उनके तप के प्रभाव से वह कुछ नहीं कर

१. आबनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५३०-५३३, हाटी. १ पृ. २६६-२६८, मटी. प. ५०५, ५०६।

२. आबनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५३३, ५३४, हाटी. १ पृ. २६८, मटी. प. ५०६।

सका। साधुओं ने धर्म कहा। उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

(कुछ कहते हैं—उसने मुनि से कहा—‘ठहरो।’ मुनि बोले—‘हम तो ठहरे हुए ही हैं, तुम ठहरो।’ उसने चिंतन किया कि मुझे आत्मा में ठहरना है। वह आत्मा में स्थिर हो गया।^१)

१३३. स्पर्शनेन्द्रिय के प्रति आसक्ति (सुकुमालिका)

बसंतपुर नगर के राजा जितशत्रु की महारानी का नाम सुकुमालिका था। उसका स्पर्श अत्यंत सुकुमाल था। उसमें लुब्ध होकर राजा राज्य-चिन्ता से उपरत हो गया। वह प्रतिदिन अपनी पत्नी में ही आसक्त रहता था। कुछ समय बीता। राज्य के कर्मकरों तथा सामन्तों ने परस्पर मंत्रणा कर राजा और रानी—दोनों को निष्कासित कर उनके पुत्र को राज्यगद्दी पर बिठा दिया। राजा-रानी दोनों अटवी में घूम रहे थे। रानी को प्यास लगी। उसने पानी मांगा। राजा ने उसकी दोनों आंखों पर पट्टी बांधते हुए कहा—‘यह अटवी भयंकर है, तुमको भय न लगे इसलिए पट्टी बांधी है।’ राजा ने उसे अपनी भुजाओं का रक्त पिलाया। रक्त में मूलिका डाली जिससे कि वह गाढ़ा न हो। जब रानी को भूख लगी तब उसने अपनी जांघ का मांस काटकर उसको खिलाया और व्रण-संरोहिणी जड़ी लगा कर जांघ के घाव को ठीक कर दिया।

वे चलते-चलते एक नगर में पहुंचे। रानी ने अपने आभूषण छुपा लिए। राजा वहां व्यापार करने लगा। उसी गली में एक पंगु बैठा था। एक बार रानी ने राजा से कहा—‘मैं घर में अकेली नहीं रह सकती। किसी दूसरे की व्यवस्था करो।’ राजा ने सोचा—‘यह जो पंगु व्यक्ति है, वह निरपाय है।’ राजा ने उसे गृहपालक के रूप में नियुक्त कर दिया। वह रानी को गीत, संगीत तथा कथा आदि से प्रसन्न करने लगा। रानी उसमें आसक्त हो गई। अब वह अपने पति राजा के छिद्र देखने लगी। उसे कोई छिद्र नहीं मिला। एक दिन राजा उद्यान में टहलने के लिए गया। उस समय उसने उसे अत्यधिक मद्य पिलाकर बेहोश कर नदी में फेंक दिया। उनका धन पूरा हो गया। अब वह रानी मादक द्रव्य खाकर उस पंगु को अपने कंधे पर बिठाकर गाती हुई गांव-गांव और घर-घर घूमने लगी। लोगों के पूछने पर वह कहती—‘माता-पिता ने मेरे लिए ऐसा ही वर ढूंढा, मैं क्या करूं?’ इधर गंगा के प्रवाह में बहते-बहते राजा एक नगर के किनारे पहुंचा। वह एक वृक्ष की छाया में विश्राम कर रहा था। उस वृक्ष की छाया स्थिर हो गई। उस नगर का राजा अपुत्र था। वह मर गया। मंत्रियों ने अश्व को अधिवासित कर घुमाया। अश्व उसी वृक्ष के पास आकर रुका। लोगों ने जय-जयकार किया। राजा नींद से उठा। वह उस नगर का राजा बन गया।

एक बार पंगु को कंधे पर लिए वह रानी भी उसी नगर में आई। राजा को ज्ञात हुआ। राजा ने दोनों को बुलाने भेजा। राजा ने उसका परिचय पूछा। वह बोली—‘माता-पिता ने मेरा विवाह ऐसे ही व्यक्ति के साथ किया है, मैं क्या करूं?’ राजा बोला—

‘बाहुभ्यां शोणितं पीतं, ऊरुमांसं च भक्षितम्।

गंगायां वाहितो भर्ता, साधु साधु पतिव्रते॥

अर्थात् जिसकी बाहुओं का खून पीया, जंघा का मांस खाया, उस पति को गंगा में प्रवाहित कर दिया, ऐसी पतिव्रता को साधुवाद है। राजा ने दोनों को अपने जनपद से निर्वासित कर डाला। सुकुमालिका

१. आवनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५३४, हाटी. १ पृ. २६८, मटी. प. ५०६, ५०७।

ने स्पर्शनिन्द्रिय के कारण बहुत दुःख भोगा।^१

१३४. कर्मसिद्ध

कोंकण देश के सह्य पर्वत के एक दुर्ग से माल उतारा और चढ़ाया जाता था। वहां पांच सौ भारवाहक रहते थे। ये काम करने वाले गुरुभारवाही हैं, यह सोचकर राजा ने यह आज्ञा प्रसारित की—‘मैं भी इन गुरुभारवाही पुरुषों को पहले मार्ग दूंगा, रोकूंगा नहीं। ये पुरुष आते-जाते मार्ग से न हटें, अन्य किसी को मार्ग न दें। जो इस आदेश का पालन नहीं करेगा, उसे मैं दंडित करूंगा।’ सिन्धु देश का एक पुराना भारवाही था। श्रामण्य से उसका मन उचट गया था। उसने सोचा कि मैं वहां जाऊं, जहां यह जीव कार्यभार से विचलित न हो और सुख में लुब्ध न हो। उन भारवाहियों ने उसे अपने साथ मिला लिया। रात्रि के अवसान में कुक्कुट की ध्वनि से प्रतिबुद्ध होकर वह बोलता—‘मुझे सिद्धि दो.....’ फिर वह सह्य गिरि की यात्रा प्रारंभ कर देता। वह सबसे अधिक भार वहन करता था इसलिए वह भारवाहकों में प्रधान बन गया।

एक बार उसे रास्ते में साधु मिले। उसने साधुओं को मार्ग दे दिया। साथी रुष्ट होकर राजा के पास जाकर बोले—‘राजा भी भार से कष्ट पाते हुए हमको मार्ग देता है, परंतु इस भारवाही ने खाली हाथ वाले निर्धन श्रमणों को मार्ग दिया है।’ राजा ने उसे बुलाकर कहा—‘तुमने उचित नहीं किया, मेरी आज्ञा का भंग किया है।’ उसने राजा से कहा—‘देव! क्या आपने हमको गुरुभारवाही मानकर यह आज्ञा प्रसारित की थी?’ राजा बोला—‘हां।’ वह बोला—‘यदि ऐसा है तो मैंने जिनको रास्ता दिया है, वे गुरुतर भारवाही हैं।’ राजा ने पूछा—‘कैसे?’ वह बोला—‘देव! वे बिना विश्राम किए यावज्जीवन अठारह हजार शीलांग और पांच महाव्रत का भार वहन करते हैं, जिसे उठाने में मैं भी समर्थ नहीं हुआ। साधु मेरु पर्वत से भी अधिक भार वहन करने वाले हैं।’ धर्मकथा करते हुए उसने कहा—‘राजन्! जो भारवाही हैं, वे विश्राम करते हुए भार वहन करते हैं। शील का भार बिना विश्राम किए यावज्जीवन के लिए होता है। यह सुनकर राजा प्रतिबुद्ध हुआ। संवेग को प्राप्त होकर वह प्रव्रज्या के लिए उद्यत हो गया।^२

१३५. शिल्पसिद्ध-(कोक्कास वर्धकि)

सोपारक नगर में रथकार की दासी और ब्राह्मण पुरुष से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। मुझे कोई पहचान न ले इसलिए वह मूक रहने लगा। रथकार के कई पुत्र थे। वह उन्हें शिक्षित करना चाहता था परंतु वे मंदबुद्धि होने के कारण पिता की शिक्षा को ग्रहण नहीं कर सके। उस दासपुत्र ने सारी शिक्षा ग्रहण कर ली। रथकार की मृत्यु हो गई। राजा ने उसके घर का सम्पूर्ण धन दासपुत्र को दे दिया। वह उस घर का स्वामी बन गया।

उज्जयिनी का राजा श्रावक था। उसके पास चार अन्य श्रावक थे। एक रसोइया था, वह भोजन पकाता। उसका भोजन जिसको रुचिकर लगता, वह तत्काल पच जाता। अन्यथा दो, तीन, चार, पांच प्रहरों में भी नहीं पचता। दूसरा व्यक्ति तैलमर्दक था, वह शरीर का तैलमर्दन करते समय एक-एक कुडव तैल शरीर में रमा देता था और पश्चात् वह तैल उतनी ही मात्रा में पुनः बाहर निकाल देता था। तीसरा व्यक्ति

१. आवनि. ५८३, आवचू. १ पृ. ५३४, ५३५, हाटी. १ पृ. २६८, २६९, मटी. प. ५०७।

२. आवनि. ५८८/२, आवचू. १ पृ. ५३९, ५४०, हाटी. १ पृ. २७२, २७३, मटी. प. ५१२।

शय्या बिछाने वाला था, उसकी शय्या पर सोने वाला यदि चाहता कि वह एक प्रहर के बाद जाग जाए तो वैसा ही होता था। अन्यथा दूसरे, तीसरे और चौथे प्रहर में भी उसकी नींद नहीं टूटती थी वह सोता ही रह जाता था। चौथे व्यक्ति ने ऐसा श्रीगृह बनाया, उसमें प्रवेश करने वाले को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। इन चारों पुरुषों के ये चार विशिष्ट गुण थे। उज्जयिनी का वह राजा अपुत्र था। उसे कामभोगों से विरक्त हो गई। वह प्रब्रज्या ग्रहण करने का उपाय सोच रहा था। एक बार पाटलिपुत्र के राजा जितशत्रु ने उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया। इसी समय उज्जयिनी के राजा के पूर्वकर्मों की परिणति के कारण सघन शूल रोग उत्पन्न हुआ। उसने अनशन कर मृत्यु का वरण कर लिया। मरकर वह देवरूप में उत्पन्न हुआ। नागरिक एकत्रित हुए और राज्य की बागडोर जितशत्रु राजा को सौंप दी। उसने विशिष्ट गुण वाले चारों व्यक्तियों को बुलाकर पूछा—‘तुम क्या करते हो?’ भांडागारिक राजा को श्रीगृह में ले गया। राजा को भंडार में कुछ भी दिखाई नहीं दिया तब उसने दूसरे द्वार से खजाना दिखाया। शय्यापालक ने ऐसी शय्या की रचना की, जिससे राजा मुहूर्त-मुहूर्त में जागने लगा। रसोइये ने ऐसा भोजन बनाया कि वह बार-बार भोजन करना चाहता। तैलमर्दक ने राजा के शरीर का तैलमर्दन किया पर एक पैर से तैल नहीं निकाला। उसने कहा—‘जो मेरे समान हो, वह इस पैर का तैल निकाले।’ वे चारों विशिष्ट पुरुष विरक्त होकर प्रब्रजित हो गए। राजा एक पैर में समाए तेल के कारण दग्ध होकर कृष्णवर्ण का हो गया। रंग परिवर्तन होने के कारण जितशत्रु का नाम काकवर्ण हो गया।

एक बार सोपारक नगर में दुर्भिक्ष पड़ा। रथकार का पुत्र कोक्कास उज्जयिनी चला गया। उसने सोचा—‘राजा को मेरे आगमन की बात कैसे बताऊं?’ उसे एक उपाय सूझा। उसने यंत्रमय कबूतरों का निर्माण किया। वे कबूतर प्रतिदिन राजा के अन्न भंडार से गंधशालि का अपहरण करने लगे। भाण्डागारिक ने राजा से शिकायत की। खोजी व्यक्तियों ने यथार्थ जान लिया। वे कोक्कास को राजा के पास ले आए। राजा ने उसकी योग्यता को जानकर उसे अपने ही राज्य में आजीविका दे दी। कुछ समय पश्चात् कोक्कास ने कीलिका प्रयोग से उड़ने वाले आकाशगामी गरुड़ का निर्माण किया। राजा अपनी पटरानी के साथ कोक्कास को साथ लेकर गरुड़ पर बैठकर आकाशमार्ग में विहरण करने लगा। जो अधीनस्थ व्यक्ति नत नहीं होता, उसे राजा कहता—‘मैं आकाशमार्ग से आकर मार दूंगा।’ अब वे सब राजा उसकी आज्ञा मानने लगे। एक दिन पटरानी से अन्य रानियों ने पूछकर यह जान लिया कि अमुक कीलिका के प्रयोग से गरुड़ स्थान पर लौट आता है। एक दिन उन रानियों में से एक ने ईर्ष्यावश निवर्तन करने वाली कीलिका को चुरा लिया। राजा गरुड़ पर प्रस्थित हुआ। निवर्तनकाल में कोक्कास को ज्ञात हुआ कि निवर्तन-कीलिका नहीं है। गरुड़ निवर्तित नहीं हो रहा था। वह बहुत तेज चलने लगा। कलिंग देश में उसके पंख टूट गए। वह नीचे गिर पड़ा। उसका संधान करने के लिए उचित औजार लेने कोक्कास नगर में गया। वहां एक रथकार के घर पहुंचा। उस समय रथकार रथ के निर्माण में व्यस्त था। वह एक चक्र बना चुका था। दूसरे चक्र का निर्माण हो रहा था इतने में ही कोक्कास ने उपकरणों की मांग की। रथकार बोला—‘मैं घर से उपकरण लेकर आता हूं क्योंकि तुम्हें जो उपकरण चाहिए, वे राजकुल में नहीं मिलते हैं।’ वह घर की ओर चला गया। पीछे से कोक्कास ने उस चक्र का संधान कर दिया। ऊंचा उठाने पर वह चलता और आस्फोटित करने पर वह रुक जाता और पीछे चलता। स्थित होने पर भी वह नीचे नहीं गिरता था। रथकार उपकरण लेकर आया। उसने

देखा कि चक्र का निर्माण हो गया है। उसने तत्काल जाकर राजा से कहा—‘कोक्कास यहां आया है, जिसकी शक्ति से काकवर्ण राजा ने सभी राजाओं को वश में कर लिया है।’ राजा ने कोक्कास का निग्रह कर लिया। पीटे जाने पर उसने राजा और रानी की बात कही। राजा ने सबको बंदी बना डाला और उनका भोजन बंद कर दिया। नागरिकों ने अपयश से भयभीत होकर ‘काकपिंड’ का प्रवर्तन किया। राजा ने कोक्कास से कहा—‘मेरे सौ पुत्रों के लिए सातभूमिक प्रासाद का निर्माण करो। मेरा कक्ष मध्य में रखना। मैं सभी पुत्रों को राजकुल में ले आऊंगा।’ कोक्कास ने वैसा ही प्रासाद बना दिया और गुप्तरूप से काकवर्ण राजा के पुत्रों को यंत्रमय पक्षी के साथ संदेश भेजा कि यहां ससैन्य आओ, जिससे कि मैं इस विरोधी राजा को पुत्रों सहित मार डालूं। तब तुम मुझे और माता-पिता को मुक्त करा सकोगे। तुम अमुक दिन यहां उपस्थित हो जाना। कलिंग देश का राजा अपने पुत्रों के साथ उस नवनिर्मित प्रासाद में आ गया। कोक्कास ने एक कीलिका लगाई और वह पूरा प्रासाद संपुटित हो गया। राजा अपने पुत्रों के साथ मर गया। काकवर्ण के पुत्रों ने नगर पर आधिपत्य कर लिया। पुत्रों ने माता-पिता और कोक्कास को मुक्त करवा लिया। कुछ मानते हैं कि कोक्कास ने निर्विण्ण होकर आत्महत्या कर ली।’

१३६. विद्यासिद्ध (खपुट आचार्य)

आचार्य खपुट विद्यासिद्ध आचार्य थे। उनके साथ एक बाल मुनि था, जो उनका भानजा था। उसने आचार्य से सुन-सुनकर अनेक विद्याएं ग्रहण कर लीं। एक बार विद्याचक्रवर्ती खपुट आचार्य अपने भानजे मुनि को भृगुकच्छ में साधुओं के पास छोड़कर स्वयं गुडशस्त्र नगर में गए। वहां एक परिव्राजक रहता था। वह मुनियों से वाद में पराजित हो चुका था इसलिए उसके मन में अधृति हो गई थी। वह मरकर उसी गुडशस्त्र नगर में ‘बृहत्कर’ नामक व्यन्तर देव बना। वह वहां सभी साधुओं को पीड़ित करने लगा इसलिए आचार्य खपुट वहां गए थे। आचार्य ने वहां जाकर उस व्यन्तर देव की प्रतिमा के कानों में दो जूते लटका दिए। पुजारी ने जब यह देखा तो लोगों को एकत्रित कर वहां आया। जैसे-जैसे जूते निकाले जाते वैसे-वैसे पुनः लग जाते। राजा तक बात पहुंची। राजा ने आकर देखा। राजपुरुषों ने आचार्य पर लकड़ियों से प्रहार किया परन्तु वे प्रहार अन्तःपुर की रानियों पर लगने लगे। राजा ने घबराकर आचार्य को मुक्त कर दिया। तत्पश्चात् बृहत्कर तथा अन्य व्यन्तर लोगों को पीड़ित करते हुए घूमने लगे। लोगों ने उनके पैरों में गिरकर कहा—‘हमें छोड़ दो।’ उस मंदिर में पाषाणमयी दो बृहदाकार द्रोणियां थीं। वे दोनों द्रोणियां व्यन्तर के साथ खट्कार करती हुई पीछे घूमने लगीं। लोगों ने आचार्य से कहा। आचार्य ने व्यन्तर देवों को मुक्त कर दिया। वे दोनों द्रोणियां भी पहले ही लाकर छोड़ दीं। सोचा कि भविष्य में मेरे सदृश कोई होगा तो वह ले आएगा।

आचार्य खपुट का भानजा भृगुकच्छ में आहार की गृद्धि के वशीभूत होकर बौद्ध भिक्षु बन गया। वह अपने विद्याबल से उपासकों के घरों से खाद्य से भरे पात्र आकाशमार्ग से मंगाने लगा। इस चमत्कार से अनेक लोग उसके उपासक बन गए। संघ ने एकत्रित होकर आचार्य खपुट के पास विज्ञप्ति भेजी। आचार्य आए तब लोगों ने कहा—‘ऐसी अक्रिया चल रही है। वस्त्र से आच्छादित पात्र आकाशमार्ग से आने लगे हैं।’ आचार्य ने यह बात जानी। उन्होंने अपने विद्याबल से आकाशमार्ग में पत्थर स्थापित कर दिए। आने

१. आवर्ति. ५८८/३, आवचू. १ पृ. ५४०, ५४१, हाटी. १ पृ. २७३, २७४, मटी. प. ५१२, ५१३।

वाले सारे पात्र पत्थर से फूटने लगे। वह क्षुल्लक भिक्षु डरकर भाग गया। आचार्य बौद्धों के विहार में गए। भिक्षु बोले—‘आओ और बुद्ध के पैरों में गिरो।’ आचार्य बुद्ध-प्रतिमा को संबोधित कर बोले—‘आओ वत्स! शुद्धोदनपुत्र! मुझे वंदना करो।’ प्रतिमा से बुद्ध निकले और आचार्य के चरणों में गिर गए। वहां द्वार पर एक स्तूप था। आचार्य ने उसे भी संबोधित कर कहा—‘आओ, पैरों में गिरो।’ स्तूप वहां से उठा और आचार्य के पैरों में गिरा। आचार्य ने कहा—‘उठो।’ स्तूप वहां से उठा और अर्धावनत होकर स्थित हो गया। आचार्य ने कहा—‘ऐसे ही स्थित रहो।’ वह एक ओर झुका हुआ वैसे ही स्थित हो गया। उसका प्रचलित नाम निर्ग्रन्थनामित हो गया।^१

१३७. मंत्रसिद्ध

एक राजा विषयलोलुप था। एक बार वह सुंदर साध्वी पर आसक्त होकर उसे अपने भवन में ले आया। पूरा संघ एकत्रित हुआ। उसमें एक व्यक्ति मंत्रसिद्ध था। उसने राजभवन के सभी खंभों को मंत्रित कर डाला। वे आकाश में अधर रहकर खट्कार करने लगे। पूरे प्रासाद के स्तंभ भी हिल उठे। राजा भयभीत हो गया। उसने साध्वी को मुक्त कर संघ से क्षमायाचना की।^२

१३८. योगसिद्ध (आर्य समित)

आभीर देश में कृष्णा नदी और वेन्ना नदी के मध्य एक गांव में तापसों का आश्रम था। वहां अनेक तापस रहते थे। उनमें एक तापस अपनी पादुकाओं पर लेप कर पानी पर आता-जाता और घूमता था। लोगों को बहुत आश्चर्य होता था। वहां श्रावकों की अवहेलना होने लगी। एक बार वज्रस्वामी के मामा आर्य समित विहरण करते हुए वहां आए। श्रावक आर्य समित के पास गए और इस समस्या से उनको अवगत कराया। आर्य कुछ करना नहीं चाहते थे। उन्होंने श्रावकों से कहा—‘आर्यो! कुछ प्रतीक्षा क्यों नहीं करते? वह तापस अपनी पादुकाओं को लेप लगाता है।’ इतना सुनते ही श्रावक समझ गए। एक दिन श्रावकों ने तापस के पास जाकर प्रार्थना की—‘भगवन्! हम भी आपको दान देना चाहते हैं। आप हमारे घर पर पधारें।’ तापस उनकी प्रार्थना स्वीकार कर उनके घर गया। श्रावक बोले—‘भगवन्! आप अपने पैर धो लें। हम भी दान देकर अनुगृहीत होंगे।’ तापस पैर धोना नहीं चाहता था परन्तु श्रावकों ने उसके पैर और पादुकाएं पानी से धोकर साफ कर दीं। दान लेकर तापस वहां से लौटा। नदी के पानी में पैर रखते ही वह डूब गया। लोग चिल्लाए। लोगों ने तापस का दंभ देख लिया।

आर्य समित उस गांव से चले। उन्होंने द्रव्ययोग को नदी में फेंककर नदी से कहा—‘हे वेन्ने नदी! मुझे तट दो। मैं उस तट पर जाना चाहता हूं।’ इतने में ही दोनों तट एक हो गए। आर्य समित ने सहजता से नदी पार कर ली। तापसों ने देखा तो वे प्रभावित होकर आर्य समित के पास प्रव्रजित हो गए। वे ब्रह्मद्वीप के निवासी थे, इसलिए वे ब्रह्मद्वीपिक कहलाए।^३

१. आवनि. ५८८/५, आवचू. १ पृ. ५४१, ५४२, हाटी. १ पृ. २७४, २७५, मटी. प. ५१४।

२. आवनि. ५८८/६, आवचू. १ पृ. ५४२, ५४३, हाटी. १ पृ. २७५, मटी. प. ५१४।

३. आवनि. ५८८/७, आवचू. १ पृ. ५४३, हाटी. १ पृ. २७५, मटी. प. ५१५।

१३९. अर्थसिद्ध (मम्मण सेठ)

राजगृह नगर में मम्मण सेठ रहता था। उसने अत्यंत परिश्रम से प्रचुर अर्थ का अर्जन किया। वह न पूरा भोजन करता और न ही पीता था। उसने अपने प्रासाद की छत पर स्वर्णमय एक बैल का निर्माण करवाया। उसमें दिव्य रत्न जटित किए। उसके सींग वज्रमय थे। उसमें करोड़ों का व्यय हो गया। उसने दूसरे बैल का निर्माण प्रारम्भ किया। वह भी पूर्णता की ओर ही था। एक बार उस बैल की निर्मिति के निमित्त वर्षारत्रि में मम्मण लंगोटी लगाए नदी से काठ के गट्टर निकाल रहा था। राजा श्रेणिक और रानी चेलना दोनों गवाक्ष में बैठे थे। रानी की दृष्टि उस पर पड़ी। वह दयाभिभूत हो गई। उसने सात्विक आक्रोश करते हुए राजा से कहा—

‘सच्चं सुव्वइ एयं, मेहनइसमा हवंति रायाणो।

भरियाइं भरेंति दढं, रितं जत्तेण वज्जेइ॥’

यह सही सुना जाता है कि राजा लोग वर्षा की नदियों के समान होते हैं। वे भरे हुए को और अधिक भरते हैं, जो रिक्त हैं उन्हें प्रयत्नपूर्वक रिक्त ही रखते हैं। राजा ने पूछा—‘कैसे?’ रानी बोली—‘देखिए, वह गरीब कितना कष्ट पा रहा है।’ रानी ने नदी की ओर अंगुलि कर राजा को दिखाया। राजा ने मम्मण को अपने पास बुला भेजा। राजा ने पूछा—‘इतना कष्ट क्यों पा रहे हो?’ उसने कहा—‘मेरे पास एक बैल है, मैं उसकी जोड़ी का दूसरा बैल चाहता हूं। वह प्राप्त नहीं हो रहा है।’ राजा बोला—‘एक नहीं, सौ बैल ले लो। वह बोला—‘इन बैलों से मेरा क्या प्रयोजन? पहले जैसा ही दूसरा चाहिए।’ राजा बोला—‘तेरा वह बैल कैसा है?’ मम्मण राजा को अपने घर ले गया और स्वर्णनिर्मित बैल दिखाया। राजा बोला—‘यदि मैं अपना संपूर्ण खजाना भी दे दूं, फिर भी इस बैल की संपूर्ति नहीं हो सकती। आश्चर्य है इतना वैभव होने पर भी तुम्हारी तृष्णा नहीं भरी।’ मम्मण बोला—‘जब तक मैं इसकी पूर्ति नहीं कर लूंगा, तब तक मुझे चैन नहीं होगा।’

मम्मण के अनेक व्यापार चालू थे। अनेक दिशाओं में व्यापार के लिए अनेक पदार्थों के शकट भेजे। कृषि प्रारंभ की। हाथी, घोड़े और नपुंसकों को लेने-देने का कार्य प्रारंभ किया। राजा ने पूछा—‘तुम्हारे इतना व्यापार है तो फिर नदी में खड़े रहकर कष्ट क्यों पाते हो?’ मम्मण बोला—‘मेरा शरीर कष्ट सहने में सक्षम है। वर्षाकाल के कारण अन्य व्यापार नहीं चलते। वर्षाकाल में काठ बहुमूल्य हो जाते हैं इसलिए नदी से मैं उन गट्टरों को निकाल रहा हूं।’ राजा बोला—‘तुम्हारे मनोरथ पूरे हों। तुम ही उन्हें पूरा कर सकते हो, दूसरा कोई अन्य उन्हें पूरा करने में समर्थ नहीं हो सकता। मैं भी समर्थ नहीं हूं—इतना कहकर राजा चला गया। मम्मण श्रम करता रहा। समय पर मनोरथ पूरा हुआ। उसने दूसरे बैल का निर्माण कर लिया।’

१४०. यात्रासिद्ध (तुंडिक)

एक गांव में तुंडिक नामक वणिक् रहता था। वह सामुद्रिक व्यापार करता था। हजारों बार उसका प्रवहण भग्न हो गया, फिर भी वह विरत नहीं हुआ। वह कहता—‘जो जल में नष्ट हुआ है, वह पुनः जल

१. आवनि. ५८८/८, हाटी. १ पृ. २७५, २७६, मटी. प. ५१५, चूर्णि में यह कथा नहीं है।

में ही प्राप्त होगा।' उसकी अवस्था देखकर परिवार के लोग उसे कुछ सहयोग देना चाहते थे परंतु वह इन्कार कर देता। वह बार-बार सामान लेकर व्यापारार्थ समुद्रयात्रा के लिए निकल पड़ता। उसके इस दृढ़ निश्चय पर समुद्र का देवता प्रसन्न हुआ और उसे प्रचुर धन देकर बोला—'तुम्हारे लिए मैं और क्या कर सकता हूँ?' वह तुंडिक वणिक् बोला—'जो मेरा नाम लेकर समुद्र का अवगाहन करे, वह अविघ्नरूप से घर लौट आए।' देवता ने स्वीकार कर लिया। तुंडिक यात्रासिद्ध वणिक् था। जो बारह बार समुद्र का अवगाहन कर कार्य पूरा करके वापिस आ जाता है, वह यात्रासिद्ध है।'

औत्पत्तिकी बुद्धि के दृष्टान्त

१४१. भरतपुत्र

उज्जयिनी नगरी के पास एक नदों का गांव था। वहां भरत नामक नट रहता था। उसकी भार्या का देहान्त हो गया। उसका पुत्र रोहक अभी छोटा था। नट दूसरी पत्नी ले आया। वह सौतेली मां उस लड़के के साथ उचित बर्ताव नहीं करती थी। उस लड़के ने सोचा कि सौतेली मां मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नहीं करती। मैं उसके साथ ऐसा बर्ताव करूंगा कि वह मेरे पैरों में गिरेगी। रात में रोहक पिता के साथ सो रहा था। सहसा आधी रात में उसने चिल्लाकर कहा—'पिताजी! देखिए वह पुरुष भागा जा रहा है।' नट ने सोचा—'मेरी पत्नी भ्रष्ट एवं कुलटा हो गई है।' उसके प्रति नट का रागभाव शिथिल हो गया। पत्नी को यह बुरा लगा। उसने प्रेमपूर्वक अपने पुत्र से कहा—'तुम ऐसा मत करो।' वह बोला—'तुम मेरे प्रति उचित व्यवहार नहीं करती।' वह बोली—'अब मैं उचित बर्ताव करूंगी।' बायदे के अनुसार वह पुत्र के प्रति स्नेहमय बर्ताव करने लगी।

एक दिन रात को पुत्र चिल्लाया—'यह पापी पुरुष जा रहा है।' पिता ने पूछा—'वह पुरुष कहां है?' उसने चांदनी में अपनी छाया दिखाई और कहा उस दिन भी यही पुरुष था। पिता अपने कृत्य पर लज्जित हुआ। उसके बाद वह अपनी पत्नी के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहने लगा।

मेरे अप्रिय व्यवहार से रुष्ट होकर सौतेली मां मुझे विष न दे दे, यह सोच भयभीत होकर वह अपने पिता के साथ भोजन करने लगा। एक बार वह पिता के साथ उज्जयिनी नगरी में गया। उसने नगरी की सुंदरता देखी। रोहक के मन पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। दोनों पिता-पुत्र नगरी से बाहर आ गए। 'अमुक वस्तु भूल आया हूँ' यह सोचकर पिता पुनः नगरी में गया। रोहक सिप्रा नदी के तट पर बालू में उज्जयिनी का रेखांकन करने लगा। उसने चत्वर, राजप्रासाद सहित उज्जयिनी नगरी का हुबहू रेखांकन कर डाला। इतने में ही घोड़े पर सवार राजा उधर से गुजरा। उसने राजा को रोकते हुए कहा—'ए घुड़सवार! तुम राजप्रासाद के मध्य से मत जाओ, यहां बिना आज्ञा प्रवेश निषिद्ध है।' राजा ने कुतूहलवश पूछा—'क्यों?' उसने चत्वर सहित उज्जयिनी नगरी का रेखांकन दिखाया। राजा बहुत विस्मित हुआ और पूछा—'तुम कहां रहते हो?' वह बोला—'गांव में।' इतने में ही उसका पिता भी आ गया। राजा उसकी बुद्धि को देखकर आश्चर्यचकित हो गया क्योंकि रोहक पहली बार ही उज्जयिनी आया था।

१.आवर्ति. ५८८/९, हाटी. १ पृ. २७६, मटी. प. ५१६, चूर्णि में यह कथा नहीं है।

राजा के पांच सौ मंत्रियों की परिषद् में एक मंत्री की कमी थी। वह एक मंत्री की गवेषणा करना चाहता था। रोहक की परीक्षा के निमित्त राजा ने नट-गांव के प्रधानों को कहलवाया—‘तुम्हारे गांव के बाहर एक बड़ी शिला है। उसको हटाए बिना ऐसा मंडप बनाओ, जिसमें राजा बैठ सके। गांव वालों ने जब राजा का यह आदेश सुना तो बहुत चिंतित हो गए।

समस्या को सुलझाने के लिए सभा बुलाई गयी। भरत नट भी उसमें सम्मिलित हुआ। सायंकाल होने पर बालक रोहक भूख से पीड़ित हो रहा था अतः वह अपने पिता को बुलाने वहां गया। सबको चिंतातुर देखकर उसने पूछा—‘आप सब लोग चिंतित क्यों हैं? पिता ने शिला-मंडप की बात कही।’ रोहक बोला—‘इसमें चिंता की क्या बात है? आप सब विश्वस्त रहें।’ आप लोग शिला के नीचे से जमीन खोदकर चारों ओर खंभों का आधार देकर फिर धीरे-धीरे जमीन खोदें। इसके बाद दीवार बनाकर लिपाई आदि कार्य करवा दें, मंडप तैयार हो आएगा। गांव वालों ने वैसा ही किया। मंडप तैयार होने पर राजा को सूचित किया गया। राजा ने पूछा—‘यह किसकी सूझबूझ से हुआ?’ उन्होंने रोहक का नाम बताया। राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ।^१

१४२. मेंढा

रोहक की बुद्धि-परीक्षा हेतु राजा ने गांव में एक मेंढा भेजा और कहा—‘पन्द्रह दिन बाद इसे लौटाना है पर इतने समय में न यह दुर्बल हो और न बलिष्ठ अर्थात् इसका वजन न घटना चाहिए और न ही बढ़ना चाहिए।’ ग्रामवासी चिंतातुर हो गए। उन्होंने रोहक को बुलाकर सारी बात बताई। रोहक ने कहा—‘इस मेंढे को खाने के लिए जौ आदि चारा यथासमय दो पर इसके पास भेड़िए का पिंजरा रख दो।’ यह जब भेड़िए को देखेगा तो इसका वजन नहीं बढ़ेगा तथा चारा खाने से वजन क्षीण नहीं होगा। पन्द्रह दिन बाद राजा ने वजन किया लेकिन उसमें कोई अंतर नहीं आया। राजा रोहक की सूझबूझ से अत्यंत प्रसन्न हुआ।^२

१४३. कुक्कुट

राजा ने एक मुर्गे को गांव वालों के पास भेजकर कहा—‘इसे किसी दूसरे मुर्गे के बिना ही लड़ाकू बनाना है।’ रोहक ने एक दर्पण मंगाकर मुर्गे को उसके सामने रखा। उस प्रतिबिम्ब को अपना शत्रु मुर्गा समझकर वह प्रतिदिन उससे लड़ने लगा और कुछ ही दिनों में वह लड़ाकू हो गया। राजा रोहक की सूझबूझ से अत्यंत प्रभावित हुआ।^३

१४४. तिल

एक बार राजा ने तिलों की कुछ गाड़ियां नटों के गांव में भेजीं और तिलों की संख्या बताने का आदेश दिया। गांव वालों के समक्ष समस्या हो गई कि इतने तिलों की गिनती कैसे की जाए? उन्होंने रोहक को बुलाया। उससे समाधान प्राप्त कर वे राजा के पास गए और बोले—‘स्वामिन्! हम ग्रामीण लोग गणित

१. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४४, हाटी. १ पृ. २७७, मटी. प. ५१७।

२. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४५, हाटी. १ पृ. २७७, २७८, मटी. प. ५१७।

३. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४५, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१७।

नहीं जानते फिर भी सामान्य ज्ञान के आधार पर इतना बताना सकते हैं कि आकाश में जितने तारे हैं, उतने ही तिल हैं।' आप किसी गणितज्ञ राजपुरुष द्वारा तिलों और तारों की संख्या करवा लीजिए। यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ।^१

१४५. बालुका

राजा ने ग्रामवासियों को कहा कि तुम्हारे गांव में बालू सुलभ है अतः उसकी रस्सी बनाकर भेजो। रोहक के कथनानुसार गांव वालों ने राजा से कहा—‘नट होने के कारण हम तो केवल नाचना जानते हैं, रस्सी बनाना नहीं जानते।’ आप नमूने के तौर पर एक बालुका की रस्सी भेजें, जिसे देखकर हम दूसरी रस्सियां बनाकर भेज देंगे। रोहक की औत्पत्तिकी बुद्धि से समाधान प्राप्त कर राजा ने उन्हें आदेश से मुक्त कर दिया।^२

१४६. हस्ती

राजा ने एक बूढ़े, रोगग्रस्त और मरणासन्न हाथी को गांव में भेजकर लोगों से कहा—‘हाथी की स्थिति से मुझे प्रतिदिन अवगत कराना पर उसकी मृत्यु की सूचना कभी मत देना। जो ऐसा नहीं करेगा, उसका निग्रह किया जाएगा।’ सारे लोग चिन्ताग्रस्त हो गए। रोहक ने कहा—‘चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। समय पर जो होगा, वह देखा जाएगा।’ एक दिन हाथी मर गया। लोगों ने भरत के पुत्र रोहक के अनुसार राजा के पास जाकर कहा—‘राजन्! आज वह हाथी न उठता है, न बैठता है, न कुछ खाता है, न नीहार करता है, न उच्छ्वास लेता है, न निःश्वास लेता है और तो क्या वह कोई चेष्टा भी नहीं करता।’ राजा ने पूछा—‘तो क्या हाथी मर गया?’ लोग बोले—‘राजन्! ऐसा तो आप ही कह सकते हैं।’^३

१४७. कूप

राजा ने अपने व्यक्तियों को भेजकर गांव वालों को आदेश दिया—‘तुम्हारे गांव में पीने योग्य मीठे जल का कूप है अतः उसे यहां ले आओ।’ ग्रामवासी रोहक के पास एकत्रित हुए। उसने लोगों को एक युक्ति बता दी। ग्रामवासी राजा के पास जाकर बोले—‘स्वामिन्! हमारे गांव का कूप जंगली है अतः किसी सजातीय सहायक के बिना एकाकी आने में असमर्थ है।’ आप नगर के किसी कुंए को भेजने की कृपा करें, उसके साथ वह नगर में आ जाएगा। राजा ने पूछा—‘यह उत्तर किसने दिया है?’ ग्रामवासियों ने कहा—‘भरत के पुत्र रोहक ने।’^४

१. आवश्यक हारिभद्रीय टीका में ‘तिलसमं तेल्लं दायव्वं ति तिला अद्वाएण मविया’ पाठ का उल्लेख है। नंदी की हारिभद्रीय टीका में भी यही पाठ है। इससे कथा का स्पष्टीकरण नहीं होता अतः हमने नंदी से इस कथा को यहां लिया है। (नंदी पृ. २११, आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४५, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१७)

२. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४५, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१७।

३. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४५, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१७, ५१८।

४. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४५, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१८।

१४८. वनषण्ड

राजा ने ग्रामवासियों को आदेश दिया कि ग्राम की पूर्वदिशा में जो वनषण्ड है, उसे पश्चिम दिशा में कर दो। ग्रामवासी चिंतातुर होकर रोहक के पास गए। रोहक ने समाधान दिया कि ग्रामवासी उस वनषण्ड की पूर्व दिशा में जाकर अपने मकान बना लें। रोहक के कथनानुसार ग्रामवासी वनषण्ड के पूर्वभाग में चले गए। राजपुरुषों ने राजा को निवेदन किया कि वनषण्ड पश्चिम दिशा में हो गया है। राजा ने आश्चर्य से पूछा—‘कैसे?’ राजपुरुषों ने कहा—‘ग्रामवासी वनषण्ड की पूर्वदिशा में बस गए हैं।’

१४९. खीर

एक बार राजा ने आदेश दिया कि अग्नि जलाए बिना खीर पकाओ। ग्रामवासियों ने रोहक से समाधान प्राप्त किया। उसने कहा—‘चावलों को पानी में भिगोओ। फिर सूर्य की किरणों में तपे उपले एवं पलाल की उष्मा से खीर पकाओ। इस विधि से खीर तैयार हो गयी।’ यह देखकर राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ।^१

१५०. बकरी

सारी परीक्षाएं करने के पश्चात् राजा ने गांववासियों को कहलवाया—‘तुम उस बुद्धिमान् बालक को साथ लेकर यहां आओ पर ध्यान रहे वह न शुक्लपक्ष में आए न कृष्णपक्ष में। न रात में आए न दिन में। न धूप में आए न छाया में। न छत्र धारण कर आए और न बिना छत्र आए। न आकाशमार्ग से आए और न पैदल चलकर आए। न पंथ से आए और न उत्पथ से आए। न स्नान करके आए और न बिना स्नान के आए।’

गांव वालों ने रोहक को सारी बात कही। राजा की आज्ञा पाकर रोहक ने गले तक स्नान किया। वह अमावस्या और प्रतिपदा के संधि समय अर्थात् संध्या के समय में चालनी को सिर पर रखकर मेंढे पर बैठकर गाड़ी के पहिए के मध्यवर्ती मार्ग से गया। राजा, गुरु और देवता के दर्शन खाली हाथ नहीं करने चाहिए, इस जनश्रुति के आधार पर उसने एक मिट्टी का ढेला राजा को भेंट किया। राजा ने पूछा—‘यह क्या है?’ रोहक बोला—‘आप पृथ्वीपति हैं अतः उपहार स्वरूप यह पृथ्वी लाया हूं।’ उसके वचनों और बुद्धि-चातुर्य को देखकर राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ। राजा ने ग्रामवासियों को वापिस भेज दिया और रोहक को अपने पास रख लिया।^२

१५१. मींगणियां

राजा ने रोहक को अपने पास सुलाया। एक प्रहर रात बीतने पर राजा ने पूछा—‘रोहक! तुम सो रहे हो अथवा जाग रहे हो?’

रोहक बोला—‘स्वामिन्! मैं जाग रहा हूं।’

१. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४५, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१८।

२. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४५, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१८।

३. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४५, ५४६, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१८।

राजा—‘क्या सोच रहे हो?’

रोहक—‘राजन्! मैं सोच रहा हूँ कि बकरी के पेट में मींगणियां गोल कैसे हो जाती हैं?’

राजा ने कहा—‘तुमने अच्छा विमर्श किया है। इसका उत्तर तुमने क्या खोजा?’

राजा के पूछने पर रोहक बोला—‘बकरी के पेट में संवर्तक नामक वायु होती है, उसके कारण मींगणी गोल हो जाती है।’

१५२. पत्र

दूसरे प्रहर में राजा जागा और पूछा—‘रोहक! तुम जाग रहे हो अथवा सो रहे हो?’

रोहक—‘जाग रहा हूँ।’

राजा—‘क्या सोच रहे हो?’

रोहक—‘सोच रहा हूँ कि पीपल के पत्ते का दंड बड़ा होता है अथवा उसकी शिखा—अग्रभाग।’

राजा ने पूछा—‘इसमें तुम्हारा क्या निर्णय है?’

रोहक—‘जब तक अग्रभाग नहीं सूखता, तब तक दोनों समान होते हैं।’

१५३. गिलहरी

तीसरे प्रहर में राजा जागा और पुनः पूछा—‘रोहक! तुम जाग रहे हो अथवा सो रहे हो?’

रोहक—‘स्वामिन्! जाग रहा हूँ।’

राजा—‘क्या सोच रहे हो?’

रोहक—‘मैं सोच रहा हूँ कि गिलहरी के शरीर पर सफेद और काली धारियां कितनी-कितनी होती हैं? तथा उसका शरीर लम्बा होता है अथवा पूंछ।’

राजा के पूछने पर रोहक बोला—‘गिलहरी के शरीर पर जितनी सफेद धारियां होती हैं, उतनी ही काली धारियां होती हैं। उसका शरीर और पूंछ दोनों बराबर होते हैं।’

१५४. पंच पिता

चौथे प्रहर में राजा ने पूछा—‘रोहक! तुम सो रहे हो अथवा जाग रहे हो?’ रोहक चुप रहा तब राजा ने उसे कम्बिका—बांस की खपच्ची से छुआ। वह जागा तब राजा ने पुनः पूछा—‘तुम सो रहे हो अथवा जाग रहे हो?’

रोहक—‘जाग रहा हूँ।’

राजा—‘क्या सोच रहे हो?’

१. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४६, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१८।

२. आवश्यक चूर्ण एवं हारिभद्रीया टीका में पहले पत्र का दृष्टान्त है और फिर अजिका—बकरी का। मलयगिरि टीका में पहले अजिका एवं बाद में पत्र का दृष्टान्त है। हमने गाथा के मूलपाठ के आधार पर प्रथम प्रहर में अजिका तथा दूसरे प्रहर में पत्र का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है।

३. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४५, ५४६, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१८।

४. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४६, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१८।

रोहक—‘सोच रहा हूं कि आपके कितने पिता हैं?’

रोहक की बात सुनकर राजा विस्मित हुआ और पूछा कि तुमने क्या सोचा है?

रोहक—‘आप पांच पिता के पुत्र हैं।’

राजा ने पुनः पूछा—‘पांच पिता कौन-कौन से हैं?’

रोहक बोला—‘राजा, वैश्रमण, चांडाल, रजक और बिच्छू—ये पांच आपके पिता हैं।’

शरीर-चिंता से निवृत्त होकर राजा अपनी मां के पास पहुंचा और आग्रहपूर्वक पूछा—‘सच बताना मेरे कितने पिता हैं?’ मां ने कहा—‘तुम अपने पिता से उत्पन्न हुए हो।’ राजा ने पुनः जोर देकर आग्रहपूर्वक पूछा तब रानी ने कहा—‘वैसे तो तुम्हारा पिता राजा ही है किन्तु जिस दिन मैं ऋतुस्नाता होकर वैश्रमण देव की पूजा करने गयी तब उसे अलंकृत और विभूषित देखकर मेरे मन में उसके प्रति अनुरक्ति पैदा हो गयी। पूजा करके घर लौटते समय रास्ते में एक चाण्डाल युवक को देखा। उसके प्रति भी अनुराग पैदा हो गया। फिर धोबी मिला उसके प्रति भी अनुराग हो गया। घर लौटकर आई तब उत्सव के अवसर पर आटे का बिच्छू बनाया हुआ था। उसे हाथ में लिया तब उस पर भी मेरा अनुराग हो गया। यदि अनुराग मात्र से पिता होते हैं तो तेरे पांच पिता हैं अन्यथा राजा ही तेरा पिता है।’

माता को प्रणाम करके राजा अपने भवन में आया। रोहक को बुलाकर उसने एकान्त में पूछा—‘तुमने कैसे जाना कि मैं पांच पिताओं से उत्पन्न हुआ हूं?’ रोहक बोला—‘आप न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते हैं अतः आप राजा के पुत्र हैं। आप खुले हाथों से दान देते हैं, इससे मैंने जाना कि आप वैश्रमण के पुत्र हैं। आप शत्रु के प्रति चाण्डाल की भांति क्रोध करते हैं, इससे मुझे ज्ञात हुआ कि आप चाण्डाल से उत्पन्न हैं। धोबी जैसे वस्त्रों को निचोड़ता हैं वैसे ही आप सर्वस्व हरण कर लेते हैं, इससे मैंने जाना कि आप रजकपुत्र हैं। विश्वस्त होकर सोते हुए मेरे शरीर पर आपने कम्बिका को चुभोया इससे मैंने जान लिया कि आप वृश्चिक से उत्पन्न हैं।’

रोहक के उत्तर सुनकर राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ और उसे मंत्रियों में प्रधान बनाकर प्रचुर भोग सामग्री भी दी।

१५५. यणित (शर्त)

एक ग्रामीण ककड़ियों से भरी गाड़ी लेकर शहर गया। शहर के बाहर एक धूर्त व्यक्ति मिला। ठगने की दृष्टि से वह धूर्त बोला—‘जो व्यक्ति शकट की इन सारी ककड़ियों को खा ले तो उसको तुम क्या दोगे?’ ककड़ियों का स्वामी वह ग्रामीण बोला—‘यदि तुम इन सारी ककड़ियों को खा लो तो मैं तुम्हें इतना बड़ा लड्डू दूंगा जो इस नगरद्वार से न निकल सके।’ कुछ लोगों की साक्षी से शर्त निश्चित हो गयी।

उस धूर्त ने शकट की सारी ककड़ियां चख-चखकर छोड़ दीं। शर्त के अनुसार वह अपना पुरस्कार मांगने लगा। ग्रामीण बोला—‘तुमने सारी ककड़ियां कहां खाई हैं?’ धूर्त बोला—‘लोग ही इस विषय में प्रमाण बनेंगे।’ धूर्त उस ग्रामीण को बाजार में ले गया और बोला—‘अब इसे बेचो।’ जो भी ग्राहक

१. आवनि. ५८८/१३, आवचू. १ पृ. ५४६, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१८, ५१९।

ककड़ी खरीदने आता वह कहता कि ये तो सारी खाई हुई हैं, इन्हें कैसे खरीदें? धूर्त ने अपनी बात प्रमाणित कर दी कि उसने सारी ककड़ियां खा लीं। ग्रामीण ने भयभीत होकर एक दो यावत् सौ रुपये देने की बात कही लेकिन धूर्त संतुष्ट नहीं हुआ।

वह ग्रामीण शहर के जुआरियों के पास गया और अपनी समस्या का समाधान मांगा। द्यूतकारों ने उसे बुद्धि दी और उपाय बताया। वह ग्रामीण एक कंदोई की दुकान से एक मोदक लेकर आया और उसे नगरद्वार पर स्थापित करके बोला—‘लड्डू! नगरद्वार से बाहर आओ, बाहर आओ। वह बाहर नहीं आया, वह शर्त जीत गया। यह जुआरियों की औत्पत्तिकी बुद्धि थी।’

१५६. वृक्ष

एक रास्ते पर पथिक जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने आम का वृक्ष देखा। वृक्ष पर बंदर बैठे थे अतः वे फल तोड़ने में बाधक बन रहे थे। तब पथिकों ने उपाय सोचा और वे बंदरों पर पत्थर फेंकने लगे। बंदर कुपित होकर आम तोड़कर यात्रियों के ऊपर फेंकने लगे। पथिकों का प्रयोजन सिद्ध हो गया, उन्हें आम मिल गए।^१

१५७. मुद्रिका

राजगृह नगरी में महाराज प्रसेनजित् का पुत्र श्रेणिक राजलक्षणों से युक्त था। राज्य के लोभ में कोई राजकुमार इसे मार न डाले इसलिए राजा उसके प्रति रूखा व्यवहार करता था। ‘मुझे कोई मार न डाले’ इस भय से तथा पिता के रूखे व्यवहार से खिन्न होकर वह राज्य को छोड़कर चला गया। कुछेक सहायकों के साथ वह वेन्नातट पर पहुंचा और एक क्षीणवैभव सेठ की दुकान के बाहर जाकर बैठ गया। उसके पुण्यप्रभाव से उस दिन सेठ की दुकान में वर्ष भर में बिकने जितने भांड बिक गए। उसे प्रचुर अर्थलाभ हुआ। कुछ आचार्यों के अनुसार सेठ ने उस रात स्वप्न में रत्नाकर को अपने घर आया हुआ देखा और उसके साथ अपनी कन्या का विवाह होते हुए देखा। सेठ ने सोचा कि इसकी कृपा से महती विभूति मिलेगी। श्रेणिक दुकान पर बैठने लगा। उसकी विशिष्ट आकृति देखकर सेठ ने सोचा—‘यही रत्नाकर होगा।’ उसके प्रभाव से उसने म्लेच्छ व्यक्तियों से अनर्घ्य रत्न प्राप्त किए। अत्यधिक लाभ होता देख सेठ ने उससे पूछा—‘तुम किसके अतिथि हो?’ श्रेणिक बोला—‘अभी तो मैं आपका अतिथि हूं।’ तब सेठ उसे घर ले गया। कुछ समय बाद सेठ ने उसके साथ अपनी पुत्री नंदा का विवाह कर दिया। वह वहीं रहने लगा। कालान्तर में नंदा स्वप्न में सफेद हाथी देखकर गर्भवती हुई।

इधर महाराज प्रसेनजित् ने श्रेणिक को लाने के लिए एक ऊंटनी भेजी और कहलवाया कि शीघ्र आ जाओ। वह दूत वहां पहुंचा। श्रेणिक ने सेठ से कहा—‘हम राजगृह के प्रसिद्ध गोपाल पांडुरकुड्य हैं। यदि कोई प्रयोजन हो तो वहां आ जाना।’ श्रेणिक चला गया। देवलोक से च्युत पुण्यशाली गर्भ के प्रभाव से नंदा के दोहद उत्पन्न हुआ कि वह श्रेष्ठ हाथी पर चढ़कर सब प्राणियों को अभय दे।

१. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४६, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१९।

२. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४६, हाटी. १ पृ. २७८, मटी. प. ५१९।

सेठ धनराशि लेकर राजा के पास गया और अपनी पुत्री के दोहद की बात कही। राजा ने भेंट स्वीकार की और उसका दोहद पूर्ण कराने की आज्ञा प्रदान कर दी। दोहद पूर्ण होने पर कालान्तर में नंदा ने पुत्र-रत्न का प्रसव किया, उसका नाम अभय रखा। कुछ वयस्क होने पर अभय ने मां से पूछा—‘मेरे पिता का क्या नाम है और वे कहां रहते हैं?’ मां ने राजगृह के पांडुरकुड्य की बात बताई। अभय बोला—‘हम वहां चलें।’ वे सार्थ के साथ राजगृह की ओर चले और राजगृह के बाह्य भाग में ठहरे। अभय गवेषणा करने गया। उसने एक स्थान पर लोगों को देखकर वहां एकत्रित होने का कारण पूछा। तब उसे लोगों से ज्ञात हुआ कि राजा एक मंत्री की खोज कर रहा है। परीक्षा के निमित्त राजा ने अपनी मुद्रिका कुंए में डाल दी और यह घोषणा करवाई कि जो कोई व्यक्ति कुंए की मेंढ पर बैठकर अपने हाथ से मुद्रिका निकालेगा, राजा उसको जीविका के साधन देगा। अभयकुमार ने यह सुना। उसने मुद्रिका पर गोबर डाल दिया और जब वह सूखकर उपल हो गया तब कुंए में पानी भरा। वह उपल तैरता हुआ ऊपर आ गया। कुंए की मेंढ पर बैठे अभय ने अपने हाथ से उसे उठा लिया। मुद्रिका लेकर वह राजा के समीप गया। राजा ने पूछा—‘तुम कौन हो?’ वह बोला—‘मेरा नाम अभयकुमार है, मैं आपका पुत्र हूं।’ राजा बोला—‘कैसे?’ उसने सारी बात बता दी। राजा ने प्रसन्न होकर अभय को गोद में बिठा लिया। अभयकुमार ने माता को सारी बात बताई। वह राजा से मिलने के लिए श्रृंगार करने लगी लेकिन स्वाभिमान के कारण अभय ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। राजा ने अभय को मंत्री बना दिया और नंदा को वस्त्र-आभूषण आदि देकर ससम्मान अपने महल में लेकर आ गया।^१

१५८. वस्त्र

दो व्यक्ति तालाब पर स्नान करने गए। एक व्यक्ति का कपड़ा मजबूत और ऊनी था तथा दूसरे का कपड़ा जीर्ण-शीर्ण था। दोनों कपड़े उतारकर स्नान करने लगे। जीर्ण वस्त्र वाला व्यक्ति स्नान करके पहले बाहर निकला और मजबूत तथा कीमती वस्त्र को लेकर चला गया। मूल स्वामी ने उससे अपना वस्त्र मांगा पर उसने देने से इंकार कर दिया। राजकुल में शिकायत पहुंची। न्यायाधिकारियों ने पूछा—‘ये वस्त्र तुम लोगों ने खरीदे हैं या अपने घर में बुने हैं?’ दोनों ने कहा—‘घर में बुने हैं।’ न्यायाधीशों ने दोनों की पत्नियों को बुलाकर सूत कतवाया। फिर सूत के आधार पर जो जिसका कपड़ा था, वह उसे दे दिया।

कुछ आचार्यों के अनुसार न्यायाधीशों ने दोनों के सिर पर कंधी करवाई। जिसका ऊनी कपड़ा था उसके सिर से ऊनी तंतु निकले तथा जिसका सूती कपड़ा था उसके सूती तंतु निकले। इस आधार पर जो जिसका कपड़ा था, वह उसे समर्पित कर दिया। यह न्यायाधीशों की औत्पत्तिकी बुद्धि थी।^२

१५९. (अ) गिरगिट

एक व्यक्ति शौच के लिए गया। जहां वह बैठा था ठीक उसके नीचे गिरगिट का बिल था। दो गिरगिट लड़ते-लड़ते आए। एक गिरगिट अपने बिल में घुस गया। उस समय उसकी पूंछ से व्यक्ति के गुदा भाग का स्पर्श हो गया। उसने सोचा—‘गिरगिट गुदा-मार्ग से भीतर चला गया है।’ वह घर गया। पर

१. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४६, ५४७, हाटी. १ पृ. २७८, २७९, मटी. प. ५१९।

२. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४७, हाटी. १ पृ. २७९, मटी. प. ५१९, ५२०।

चिन्ता के कारण से वह दुर्बल हो गया।

एक दिन उसने वैद्य को बुलाकर सारी बात बताई और स्वस्थ होने का उपाय पूछा। वैद्य को रोग समझ में नहीं आया पर उसने बुद्धि-कौशल का प्रयोग किया। वह बोला—‘यदि मुझे सौ रुपए दोगे तो मैं चिकित्सा कर दूंगा क्योंकि मूल्यवान् औषधि देनी होगी।’ उसने स्वीकार कर लिया। वैद्य ने एक जीवित गिरगिट को लाख के रस से लिप्त कर उसे घड़े में डाल दिया। उस व्यक्ति को विरेचक औषधि देकर उसी घड़े में शौच करने को कहा। व्यक्ति जब शौच से निवृत्त हुआ तो वैद्य ने तड़फड़ाता हुआ लाक्षा रस से लिप्त गिरगिट उसे दिखाया। व्यक्ति चिन्ता मुक्त होकर पहले की भांति स्वस्थ हो गया।^१

(ब) गिरगिट

एक भिक्षु ने शैक्ष से पूछा—‘यह गिरगिट सिर क्यों हिला रहा है?’ शैक्ष बोला—‘यह सोच रहा है कि यह भिक्षु है अथवा भिक्षुणी?’^२

१६०. काक (अ)

वेन्नातट पर एक बौद्ध भिक्षु ने शैक्ष साधु से पूछा—‘तुम्हारे अर्हत् सर्वज्ञ हैं अतः सब कुछ जानते हैं।’ साधु ने स्वीकृति दी तब उसने पूछा—‘बताओ, इस शहर में कितने कौए हैं?’ शैक्ष बोला—‘इस वेन्नातट पर ६० हजार कौए हैं। इस प्रश्न का उत्तर उसने बुद्धिबल से दिया। बौद्ध भिक्षु ने पूछा—‘यदि कौए कम या अधिक होंगे तो?’ शैक्ष ने उत्तर दिया—‘यदि कम हों तो जान लेना यात्रा पर गए हैं और यदि अधिक हों तो समझ लेना कि बाहर से कुछ कौए अतिथि रूप में आ गए हैं। यह सुनकर बौद्ध भिक्षु निरुत्तर हो गया।’^३

(ब) काक

एक वणिक् था। बाहर-जंगल जाते हुए उसने निधि देखी। उसने सोचा कि मेरी पत्नी इस रहस्य को गुप्त रख सकती है या नहीं, इसकी परीक्षा करनी चाहिए। उसने अपनी पत्नी से कहा—‘मेरे अधिष्ठान में एक सफेद कौआ घुस गया है।’ उसने अपनी सहेलियों को बात बता दी। सहेलियों ने अपने-अपने पति को यह बात बता दी। घूमते-घूमते बात राजा तक पहुंची। राजा ने वणिक् को बुलाकर पूछा तो उसने सारा वृत्तान्त बता दिया। राजा उसकी सत्यवादिता और बुद्धिकौशल से बहुत संतुष्ट हुआ। वह सारी निधि उसे दे दी और मंत्री पद पर नियुक्त कर दिया।^४

(स) काक

एक कौआ विष्ठा को पैरों से बिखेर रहा था। भागवत के एक अनुयायी ने जैन श्रावक से पूछा—‘अरे! यह कौआ विष्ठा को क्यों बिखेर रहा है? प्रत्युत्तर देते हुए उसने कहा—कौआ सोच रहा है कि यहां विष्णु हैं या नहीं?’^५

१, २. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४७, हाटी. १ पृ. २७९, मटी. प. ५२०।

३. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४७, हाटी. १ पृ. २७९, मटी. प. ५२०।

४. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४७, ५४८, हाटी. १ पृ. २७९, मटी. प. ५२०।

५. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४८, हाटी. १ पृ. २७९, मटी. प. ५२०।

१६१. उत्सर्ग

एक ब्राह्मण अपनी युवा सुंदर पत्नी के साथ ग्रामान्तर जा रहा था। मार्ग में वह युवती एक धूर्त व्यक्ति के पास जाने के लिए तैयार हो गई। ब्राह्मण और धूर्त के बीच विवाद छिड़ गया। युवती को पूछने पर उसने धूर्त को अपना पति बताया। ग्राम-प्रधान के पास विवाद पहुंचा। ग्रामप्रधान ने दोनों को अलग-अलग बुलाकर पूछा—‘इस युवती ने कल क्या भोजन किया था?’ ब्राह्मण ने कहा—‘तिल के मोदक खाए थे।’ धूर्त को पूछने पर उसने कुछ और ही बताया। उस स्त्री को विरेचन दिया और मल का परीक्षण किया। मल में तिल निकले। न्यायाधीश ने धूर्त की अत्यंत भर्त्सना की और तरुणी को ब्राह्मण के साथ कर दिया।^१

१६२. गज

वसन्तपुर का राजा योग्य मंत्री की खोज में था। उसने घोषणा करवाई कि जो कोई इस अति विशाल हाथी को तोलकर इसका वजन बतायेगा, उसे लाख मुद्राएं दी जायेंगी। एक बुद्धिमान व्यक्ति ने यह घोषणा सुनकर हाथी को तोलने की बात स्वीकार कर ली। वह हाथी को बड़े तालाब पर ले गया। उसे एक मजबूत नौका पर चढ़ाकर नौका को गहरे पानी में उतारा। हाथी के भार से नौका जितने पानी में डूबी, वहां एक चिह्न कर दिया। तट पर आकर हाथी को नौका से उतार कर उसमें काठ, पाषाण आदि भर दिए। जितने भार से नौका तालाब में चिह्नित रेखा तक डूबी, उतने पत्थरों के भार को तोल कर बता दिया कि हाथी का भार इतना है। उसने एक लाख मुद्राएं प्राप्त कर लीं।^२

१६३. भांड^३

एक भांड अत्यंत गुप्त बातों को जानने वाला था। राजा उसको बहुत मानता था। राजा अनेक बार उसके सामने रानी के गुणों की प्रशंसा करता था। राजा कहता कि रानी अत्यंत निरामय है, कभी अधोवात भी नहीं निकलती। भांड बोला—‘ऐसा नहीं हो सकता।’ राजा ने पूछा—‘क्यों?’ कारण बताते हुए भांड

१. आवर्णि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४८, हाटी. १ पृ. २७९, २८०, मटी. प. ५२०।

२. आवर्णि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४८, हाटी. १ पृ. २८०, मटी. प. ५२०।

३. आवश्यक चूर्णि, हारिभद्रिया टीका, मलयगिरि टीका तथा नंदी हारिभद्रिया टीका में उपर्युक्त कथा मिलती है। लेकिन नंदी (पृ. २०४, २०५) में भांड के अन्तर्गत एक दूसरी कथा का उल्लेख है। वह कथा इस प्रकार है—एक भांड राजा के बहुत मुंहलगा था। राजा उसके सामने रानी की प्रशंसा करता था। भांड ने कहा—‘महाराज! रानी बहुत अच्छी है, पर तब तक ही है जब तक उसका स्वार्थ सधता है।’ राजा ने इसका खंडन किया। भांड बोला—‘आप रानी की परीक्षा ले सकते हैं।’ परीक्षा का उपाय बताते हुए उसने कहा—‘आप रानी से कहिए कि मैं दूसरा विवाह करना चाहता हूं और नई रानी को पटरानी बनाने की सोच रहा हूं, फिर देखिए क्या होता है?’

राजा ने ऐसा ही किया। रानी बोली—‘नाथ! आप चाहें तो दूसरा विवाह कर सकते हैं पर राज्य का उत्तराधिकारी परम्परा के अनुसार मेरा पुत्र ही होगा।’ यह सुनकर राजा को हंसी आ गई। रानी ने कारण पूछा। राजा ने टालना चाहा पर रानी के अति आग्रह पर उसे सही बात बतानी पड़ी। रानी ने कुपित होकर भांड को निर्वासित होने का आदेश दे दिया।

रानी का आदेश सुनकर भांड बहुत घबराया। आखिर उसे एक उपाय सूझा। वह जूतों की एक गठरी बांधकर रानी के महल के सामने से गुजरा। सिर पर गठरी देखकर रानी ने पूछा—‘यह क्या ले जा रहे हो?’ भांड ने उत्तर दिया—‘यह जूतों की गठरी है। इन्हें पहनकर मैं जहां तक जा सकूंगा, आपका यश फैलाता रहूंगा।’ रानी भांड का अभिप्राय समझ गई। बदनामी के भय से उसने निर्वासन का आदेश वापिस ले लिया।

बोला—‘रानी सदा फूल, केशर आदि सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग करती है इसलिए आपको अधोवात का ज्ञान नहीं होता। जब इनका प्रयोग न करे तब पता चलेगा कि अधोवात निकलती है या नहीं।’

एक दिन राजा ने पुष्प आदि सुगंधित द्रव्यों को रानी से दूर हटा दिया। राजा को अधोवात का ज्ञान हुआ तब उसे हंसी आ गयी। रानी ने पूछा—‘अकारण क्यों हंस रहे हो?’ राजा ने जब कारण नहीं बताया तो उसने आग्रह किया। आखिर राजा ने रानी को सारी बात बता दी। रानी ने क्रुद्ध होकर भांड को देशनिकाला दे दिया। भांड जूतों की गठरी बांधकर रानी के सामने उपस्थित हुआ। रानी ने पूछा—‘इतने जूते क्यों ले जा रहे हो?’ भांड बोला—‘देशान्तरों में जहां तक मैं इन जूतों के सहारे जा सकूंगा, वहां सब जगह देवी के गुणों को प्रकाशित करता रहूंगा।’ अपयश के भय से रानी ने निर्वासन का आदेश वापिस ले लिया। यह भांड की औत्पत्तिकी बुद्धि थी।^१

१६४. लाख

एक बालक के नाक में लाख की गोली फंस गयी। एक बुद्धिमान् सुनार ने शलाका गर्म करके उससे लाख के गोलक को पिघलाकर बाहर निकाल दिया। बालक स्वस्थ हो गया।^२

१६५. स्तम्भ

एक राजा मंत्री की खोज में था। उसने एक युक्ति निकाली। तालाब में एक खंभा गड़वाया और यह घोषणा करवाई कि जो व्यक्ति किनारे पर बैठा-बैठा इस स्तम्भ को रस्सी से बांध देगा, उसे लाख मुद्राओं से पुरस्कृत किया जायेगा। एक व्यक्ति आया और तालाब के किनारे एक कीलक गाड़कर उसमें रस्सी बांध कर तालाब के चारों ओर घूमा। तालाब का मध्यगत स्तम्भ रस्सी के बीच में आ गया। फिर उसने अपने कीलक को उखाड़कर रस्सी खींच ली। खंभा रस्सी से बंध गया। उस व्यक्ति को राजा ने अपना मंत्री बना दिया।^३

१६६. क्षुल्लक

एक परिव्राजिका प्रतिज्ञापूर्वक कहती थी कि मैं कुशलकर्मा हूं। पुरुष जो कुछ करता है, वह सब मैं कर सकती हूं। मेरे लिए कोई कार्य अशक्य नहीं है। राजा ने नगर में पटह के द्वारा यह घोषणा करवा दी। भिक्षा के लिए घूमते हुए क्षुल्लक ने यह घोषणा सुनी। क्षुल्लक ने इस घोषणा का प्रतिवाद किया। घोषणा बंद कर राजपुरुष राजकुल में पहुंचे। परिव्राजिका ने क्षुल्लक से पूछा—‘मैं क्या करूं?’ क्षुल्लक ने अपनी जननेन्द्रिय दिखाकर कहा—‘तुम भी दिखाओ, लेकिन वह ऐसा नहीं कर सकी।’ क्षुल्लक ने मूत्र विसर्जित करते हुए उससे पद्म का आलेख किया लेकिन परिव्राजिका ऐसा नहीं कर सकी। परिव्राजिका पराजित

१. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४८, हाटी. १ पृ. २८०, मटी. प. ५२०।

२. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४८, हाटी. १ पृ. २८०, मटी. प. ५२०।

३. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४८, हाटी. १ पृ. २८०, मटी. प. ५२०।

४. इस कथा में नंदी की मलयगिरिया वृत्ति में कुछ परिवर्तन मिलता है। वहां क्षुल्लक ने मूँछ एवं दाढ़ी के केशों का लुञ्चन किया और परिव्राजिका से कहा—‘तुम भी ऐसा करो’ लेकिन वह ऐसा नहीं कर सकी।

हो गयी और क्षुल्लक जीत गया।^१

१६७. (अ) मार्गस्त्री

एक व्यक्ति पत्नी के साथ वाहन से ग्रामान्तर जा रहा था। पत्नी शरीरचिन्ता की निवृत्ति के लिए वाहन से नीचे उतरी। वहां एक व्यन्तरी उस पुरुष के रूप में आसक्त होकर वाहन में आकर बैठ गई। शौच-क्रिया से निवृत्त होकर जब उसकी मूल पत्नी आई तो वाहन को न देखकर वह रोने लगी। वाहन का पीछा कर वह गांव में पहुंची और पति के पास अपने समान रूप वाली स्त्री को देखा। उसने ग्राम-प्रधान से न्याय मांगा। दोनों स्त्रियां उस पुरुष को स्वयं का पति तथा एक दूसरे को व्यन्तरी बताने लगीं। प्रधान ने दोनों स्त्रियों को दोनों ओर तथा बीच में पुरुष को खड़ा करके कहा—‘जो अपने हाथ से इसका स्पर्श कर लेगी, वही इसकी स्त्री मानी जाएगी।’ मूल पत्नी का हाथ पुरुष तक नहीं पहुंचा। वह निराश होकर खड़ी रही। व्यन्तरी ने वैक्रिय शक्ति से हाथ लंबा कर पुरुष का स्पर्श कर डाला। प्रधान ने जान लिया कि यह व्यन्तरी है। पुरुष अपनी मूल पत्नी को साथ लेकर चला गया।^२

(ब) मार्गस्त्री

मूलदेव और कंडरीक मार्ग से कहीं जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक पुरुष को महिला के साथ जाते हुए देखा। कंडरीक^३ महिला के रूप में आसक्त हो गया। मूलदेव कंडरीक से बोला—‘मैं तुम दोनों का मिलाप कराता हूं।’ मूलदेव ने कंडरीक को एक वन-निकुंज में बिठा दिया और स्वयं मार्ग पर बढ़ने लगा। जब वह पुरुष स्त्री के साथ आया तब मूलदेव ने उससे कहा—‘यहां मेरी पत्नी प्रसव के निकट है अतः कृपा करके तुम अपनी पत्नी को वहां भेज दो।’ उसने पत्नी को उस वन-निकुंज में भेज दिया। वह उसके साथ रहकर लौट आई और मूलदेव का वस्त्र पकड़ कर हंसती हुई बोली—‘तुम्हारी पत्नी ने एक सुन्दर बालक को जन्म दिया है।’^४

१६८. पति

एक गांव में दो भाई थे। दोनों के एक ही पत्नी थी। लोगों को इस बात का आश्चर्य था कि स्त्री का दोनों के प्रति समान राग है। राजा को भी यह सुनकर विस्मय हुआ। उसने अपने अमात्य से कहा। अमात्य बोला—‘ऐसा होना संभव नहीं है। अवश्य ही इसमें कोई विशेष बात है।’ अमात्य ने उस स्त्री को आदेश दिया कि वह दोनों पतियों को दो गावों में भेजे। एक को पूर्व दिशा के गांव में तथा दूसरे को पश्चिम दिशा के गांव में और उन्हें यह भी कह दे कि उसी शाम को घर लौट आना है। यह आदेश प्राप्त कर उस स्त्री ने बड़े भाई को पूर्व दिशा की ओर तथा छोटे भाई को पश्चिम दिशा की ओर भेजा। इससे मंत्री ने जान

१. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४८, हाटी. १ पृ. २८०, मटी. प. ५२१।

२. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४९, हाटी. १ पृ. २८०, मटी. प. ५२१।

३. नंदी के ‘हारिभट्टीय टिप्पणकम्’ में मूलदेव महिला के प्रति आसक्त हुआ और कंडरीक ने उसे वननिकुंज में बिठाया। (नंदीहाटि पृ. १३५)

४. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४९, हाटी. १ पृ. २८०, मटी. प. ५२१, चूर्णि में मार्ग और स्त्री को अलग-अलग मानकर कथा का संकेत किया गया है, हाटी और मटी में मार्गस्त्री को एक साथ स्वीकार किया है।

लिया कि जिसको पूर्व की ओर भेजा है, वह द्विष्ट है क्योंकि उसको आते-जाते दोनों समय ललाट पर सूर्य का ताप झेलना पड़ा। पश्चिम की ओर जाने वाले को नहीं।

मंत्री के निर्णय पर राजा ने विश्वास नहीं किया क्योंकि दोनों दिशाओं में एक-एक को भेजना जरूरी था। मंत्री ने दूसरा प्रयोग भी किया। कुछ समय पश्चात् पूर्ववत् दोनों भाइयों को प्रस्थित कर दोनों के लौटने के समय दो व्यक्तियों ने एक ही समय में आकर पत्नी से कहा—‘मार्ग में आते हुए तुम्हारे पति अत्यंत बीमार हो गए हैं। यह सुनकर पत्नी ने बड़े भाई की बीमारी के प्रति उपेक्षा के भाव दिखाए। छोटे भाई की बीमारी के प्रति चिंता व्यक्त करती हुई वह बोली—‘वे प्रारंभ से ही शिथिल संहनन और कोमल शरीर वाले हैं, उनको संभालना आवश्यक है।’ वह उसी दिशा में प्रस्थित हो गई। सभी को मंत्री की बात पर विश्वास हो गया।^१

१६९. पुत्र

एक श्रेष्ठी के दो पत्नियां थीं। एक के पुत्र था, दूसरी के नहीं। एक बार सेठ अपनी दोनों पत्नियों को साथ ले अन्य राज्य में गया। वहां उसकी मृत्यु हो गई। पुत्र छोटा और भोला था। उसके प्रति दोनों का समान स्नेह था अतः वह मूल मां को नहीं पहचानता था। दोनों पत्नियों में विवाद हो गया। एक कहती—यह मेरा पुत्र है और दूसरी कहती—यह मेरा है। दोनों में सामंजस्य नहीं हुआ। वे राज-दरबार में पहुंचीं। विचित्र विवाद था। अमात्य ने न्याय करते हुए कहा—‘सेठ की संपत्ति के दो भाग कर दो। फिर करवत से बच्चे के दो भाग कर दोनों को एक-एक दे दो।’ मूल मां बोली—‘यह इसी का पुत्र है, इसे दे दो पर बच्चे को मत मारो।’ दूसरी स्त्री चुपचाप बैठी रही तब अमात्य ने जान लिया कि सच्ची मां कौन है? उसी को पुत्र सौंप दिया और दूसरी का तिरस्कार करके निकाल दिया।^२

१७०. शहद का छत्ता^३

एक जुलाही उद्भ्रामिका थी। एक जार पुरुष के साथ मैथुन क्रीड़ा में रत उसने मधुमक्खी का छत्ता देखा। उसका पति मोम खरीदना चाहता था पर उसने उसे रोक दिया और कहा—‘मत खरीदो, मैं तुम्हें मधुमक्खी का छत्ता दिखा दूंगी।’ वे दोनों गवाक्ष में गए पर पति को वह छत्ता दिखाई नहीं दिया। तब जुलाहे की उस पुत्री ने रतिमुद्रा में स्थित होकर वह दिखाया। पति ने जान लिया कि यह व्यभिचारिणी है

१. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४९, हाटी. १ पृ. २८०, मटी. प. ५२१।

२. आवनि. ५८८/१४, आवचू. १ पृ. ५४९, हाटी. १ पृ. २८०, २८१, मटी. प. ५२१।

३. (अ) नंदी में यह कथा परिवर्तित रूप से मिलती है। पति पत्नी में कलह होता रहता था। एक दिन दोनों मधुसिक्ख—शहद के छत्ते के पास गए। पति बोला—‘शहद में कितनी मिठास है।’ पत्नी बोली—‘तुम मिठास के हेतु को नहीं जानते। सब मक्खियां रानी के आदेश पर चलती हैं इसलिए शहद में मिठास है। तुम भी मेरी बात मानकर चलो, तुम्हारे जीवन में भी मिठास आ जाएगी।’ पति ने उसकी बात स्वीकार कर ली। कलह समाप्त हो गया। यह पत्नी की औत्पत्तिकी बुद्धि थी।

(ब) नंदी पृ. २०७, अ. भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति, रक्षक संघ सैलाना द्वारा प्रकाशित ‘नंदीसूत्र’ में भी कुछ अंतर के साथ यह कथा मिलती है।

अन्यथा ऐसे कैसे होता है ?

१७१. मुद्रिका

एक गांव में एक पुरोहित रहता था। वह जनता का विश्वासपात्र था। लोगों में यह धारणा थी कि यह सत्यवादी और लोभरहित है। लोग उसके पास अपनी चीजें धरोहर के रूप में रख देते थे। एक बार एक द्रमक हजार सिक्कों से भरी नौली पुरोहित के पास रखकर देशान्तर गया। प्रयोजन पूरा होने पर उसने पुरोहित से नौली मांगी लेकिन पुरोहित ने नौली देने से इंकार कर दिया। द्रमक पागल जैसा हो गया।

एक बार अमात्य उसी रास्ते से जा रहा था। द्रमक ने अपनी बात मंत्री को बताते हुए कहा—‘कृपा करके आप पुरोहित से मेरी हजार द्रमकों से भरी नौली दिला दीजिए।’ अमात्य को उस पर दया आ गयी। राजा ने पुरोहित को बुलाकर नौली वापिस देने को कहा लेकिन पुरोहित ने अस्वीकार करते हुए कहा—‘मेरे पास इसकी कोई नौली नहीं है।’ राजा ने द्रमक को एकान्त में बुलाकर सत्य बात बताने को कहा। उसने राजा को दिन, मुहूर्त, स्थान तथा पार्श्ववर्ती साक्षी की सही-सही जानकारी दे दी।

एक बार राजा पुरोहित के साथ द्यूतक्रीड़ा करने लगा। राजा ने आपस में मुद्रिकाओं का परिवर्तन कर लिया। राजा ने एकान्त में जाकर अपने विश्वासपात्र कर्मचारी को मुद्रिका देते हुए कहा—‘पुरोहित को ज्ञात न हो, इस प्रकार तुम उसके घर जाकर उसकी पत्नी को कहो कि द्रमक ने अमुक दिन, अमुक समय में जो सहस्र द्रमकों वाली नौली दी थी, वह मुझे दो। पत्नी को विश्वास दिलाने के लिए यह पुरोहित की मुद्रिका दिखा देना।’ पुरोहित की मुद्रिका देखकर पत्नी को विश्वास हो गया और उसने वह नौली दे दी। वह नौली को लेकर राजा के पास आया। राजा ने अनेक नौलियों के मध्य वह द्रमक वाली नौली रख दी। पुरोहित के सामने द्रमक को अपनी नौली पहचानने के लिए कहा। द्रमक ने अपनी नौली पहचान ली। राजा ने वह नौली उसे दे दी और पुरोहित की जीभ कटवा दी।^१

१७२. अंक

एक सेठ दूसरों की धरोहर लेकर प्रामाणिकता से उनको वापिस लौटा देता था। लोगों में उसके प्रति प्रशंसा एवं सम्मान के भाव थे। एक बार एक द्रमक ने हजार रुपयों से भरी थैली सेठ के यहां धरोहर के रूप में रखी। सेठ ने थैली के निचले हिस्से में छेद करके खरे रुपए निकाल लिए और उसमें खोटे सिक्के भर दिए। नीचे से थैली की फिर वैसी ही सिलाई कर दी। परदेश से लौटकर जब वह व्यक्ति धरोहर मांगने आया तो सेठ ने उसे वह थैली दे दी। उसने मुद्रा तोड़ी। अंदर खोटे सिक्के देखकर उसने सेठ से पूछा पर सेठ ने इन्कार कर दिया। वह व्यक्ति न्याय के लिए राजकुल में गया। न्यायाधीश ने पूछा—‘तुम्हारी नौली में कितने रुपए थे?’ द्रमक बोला—‘हजार रुपए थे।’ न्यायाधीश ने नौली में हजार रुपए गिनकर डालने शुरू किए। सिलाई के कारण नीचे का भाग कुछ संकड़ा हो गया था अतः रुपए नहीं समा सके। राजा को निवेदन करने पर सेठ को अनैतिकता के लिए दंडित किया गया।^२

१. आबनि. ५८८/१५, आवचू. १ पृ. ५५०, हाटी. १ पृ. २८१, मटी. प. ५२१।

२. आबनि. ५८८/१५, आवचू. १ पृ. ५५०, हाटी. १ पृ. २८१, मटी. प. ५२१, ५२२।

३. आबनि. ५८८/१५, आवचू. १ पृ. ५५०, हाटी. १ पृ. २८१, मटी. प. ५२२।

१७३. नाणक

एक व्यक्ति मोहरों से भरी नौली सेठ के पास धरोहर के रूप में रखकर परदेश चला गया। सेठ ने असली मोहरें निकालकर उसमें नकली मोहरें भर दीं। देशान्तर से आकर व्यक्ति ने जब अपनी नौली खोली तो उसमें नकली मोहरें थीं। उसने सेठ से पूछा। सेठ ने कहा—‘मैं इस बारे में कुछ नहीं जानता।’ निराश होकर व्यक्ति विवाद को लेकर न्यायालय में पहुंचा। न्यायाधीश ने पूछा—‘वह नौली किस समय रखी थी?’ उसने धरोहर रखने का सही समय बता दिया। उस नौली की मोहरें वर्तमान काल की थीं और उस व्यक्ति का धरोहर रखने का समय उससे पहले का था। सेठ का कपट राजा को निवेदन किया गया। सेठ को अपराधी घोषित कर उसे दंडित किया गया और धरोहर के स्वामी को असली मोहरें दिला दी गईं।^१

१७४. भिक्षु

एक संन्यासी के पास मोहरों की नौली धरोहर रूप में रखकर व्यक्ति परदेश चला गया। वहां से लौटकर वह संन्यासी से नौली लेने गया। संन्यासी ने आनाकानी की। तब उस व्यक्ति ने जुआरियों से मदद मांगी। उन्होंने पूछा तब व्यक्ति ने सही-सही बात बता दी। उन जुआरियों ने गेरुए वस्त्र पहने और स्वर्ण-पादुकाएं लेकर संन्यासी के पास पहुंचे। वे संन्यासी से बोले—‘हम तीर्थयात्रा के लिए जा रहे हैं। ये स्वर्णपादुकाएं आप अपने पास रखें। तीर्थयात्रा से लौटकर हम आपसे वापिस ले लेंगे। आपकी सत्यनिष्ठा पर हमें पूरा विश्वास है।’ वे बात कर ही रहे थे कि ठीक उसी समय वह संकेतित नौली वाला पुरुष वहां आ पहुंचा और संन्यासी से अपनी धरोहर मांगी। भिक्षु ने सोचा यदि मैं इसकी धरोहर नहीं लौटाऊंगा तो मेरे प्रति इनको अविश्वास हो जाएगा। संन्यासी ने स्वर्णपादुकाओं के लालच में उसकी धरोहर उसे दे दी। वे भिक्षु वेषधारी पादुका लेकर यह कहते हुए चले गए कि हम इनको मंजूषा में रखकर आपके पास छोड़ जायेंगे।^२

१७५. बालक-निधान

दो मित्र ग्रामान्तर जा रहे थे। उनमें एक कपटी था और दूसरा सरल। मार्ग में उन्होंने निधान देखा। कपट मित्र बोला—‘आज नक्षत्र ठीक नहीं है अतः कल सुनक्षत्र की वेला में इसे ले जायेंगे।’ वह धूर्त मित्र उसी दिन उस निधान को निकालकर घर ले गया और उसके स्थान पर कोयले रख दिए। दूसरे दिन प्रातःकाल दोनों मित्र वहां गए। निधान के स्थान पर कोयले देखकर वे हैरान हो गए। वह धूर्त मित्र सिर पीटकर बोला—‘हम कितने मंदभाग्य हैं? निधान कोयला कैसे हो गया?’ दूसरा मित्र उसके कपट को समझ गया पर उसने अपने हृदय की बात प्रकाशित नहीं की। उसने मित्र से बदला लेने का उपाय ढूँढ़ निकाला। उसने मित्र की मिट्टी की मूर्ति बनवाई और दो बंदर ले आया। वह उस मूर्ति के हाथ आदि पर

१. आवनि. ५८८/१५, आवचू. १ पृ. ५५०, हाटी. १ पृ. २८१, मटी. प. ५२२।

२. आवनि. ५८८/१५, आवचू. १ पृ. ५५०, ५५१, हाटी. १ पृ. २८१, मटी. प. ५२२। मलयगिरि टीका के अनुसार भिक्षु वेषधारी जुआरी यह बहाना करके चले गये कि और भिक्षु भी आने वाले हैं अतः सामूहिक रूप में आपके पास पादुकाएं रखेंगे।

खाने की वस्तुएं रखता तब वे दोनों बंदर भूख मिटाने के लिए उस मूर्ति पर चढ़कर खाद्य वस्तुएं खाते। यह क्रम अनेक दिनों तक चला। बंदर उस प्रतिमा से खेलने लगे।

एक दिन उसने अपने धूर्त मित्र के दोनों बच्चों को भोजन करने बुलाया और उन्हें गुप्त स्थान में छिपा दिया। जब बालक लौटकर घर नहीं पहुंचे तो पुत्र-दुःख से संतप्त होकर उन्हें लेने के लिए वह धूर्त अपने मित्र के घर पहुंचा। उसने वह मिट्टी की प्रतिमा वहां से हटवा दी और उसके स्थान पर मित्र को खड़ा कर दिया। बंदर उछल-कूद मचाते हुए प्रतिमा समझकर उस पर चढ़ने लगे। बालकों के बारे में पूछने पर वह सरल मित्र बोला—‘मित्र! तुम्हारे दोनों पुत्र बंदर हो गए हैं।’ धूर्त मित्र बोला—‘आश्चर्य है, पुत्र बंदर कैसे बन गए?’ वह बोला—‘जैसे दुर्भाग्यवश निधान कोयला बन गया, वैसे ही ये बालक बंदर बन गए।’ धूर्त ने समझ लिया कि इसे निधान वाली घटना का पता चल गया है, अब यदि मैं विवाद करूंगा तो यह मुझे राजकुल में ले जाएगा। कपट मित्र ने निधान का आधा हिस्सा उसे लौटा दिया। तब उसने भी उसको दोनों बालक सौंप दिए।^१

१७६. शिक्षाशास्त्र (धनुर्वेद)

एक कुलपुत्र धनुर्वेद की विद्या में कुशल था। वह कहीं भी जाता तो धनिक पुत्रों को एकत्रित कर धनुर्वेद की शिक्षा देता था। उसने प्रचुर धन अर्जित कर लिया। धनिक पुत्रों के पिताओं को यह बात चुभने लगी कि इसने हमारे पुत्रों से बहुत धन ले लिया है। उन्होंने सोचा—‘जब यह यहां से जायेगा, तब हम इसको मार डालेंगे। इसको किसी भी उपाय से धन नहीं ले जाने देंगे।’ उस कुलपुत्र को यह षड़यंत्र ज्ञात हो गया। तब उसने अपने परिचितों को यह संदेश कहलवाया कि मैं अमुक दिन को रात में गोबर के उपले नदी में डालूंगा, तुम उनको ग्रहण कर सुरक्षित रख देना। उसने गोबर में सारा धन डालकर उपल बना दिए। एक दिन उसने धनिक पुत्रों से कहा—‘हमारी यह कुल-विधि है, कि हम पर्व-तिथि को नदी में उपले डालते हैं।’ बंधुजन उन उपलों को लेकर गांव चले गए। दूसरे दिन उसने धनिकपुत्रों और उनके पितृजनों को बुलाकर कहा—‘मैं अपने गांव जा रहा हूं। मेरे पास इन कपड़ों के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जब उन्होंने उसके पास कुछ नहीं देखा तो उसे मारने का विचार छोड़ दिया। उसने अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि से धन और जीवन दोनों बचा लिए।^२

१७७. अर्थशास्त्र

एक वणिक् के दो पत्नियां थीं। एक पुत्रवती तथा दूसरी वन्ध्या थीं। पुत्र पर दोनों का समान स्नेह था। एक बार वणिक् अपनी पत्नियों के साथ सुमतिनाथ की जन्मभूमि में चला गया। किसी कारण से वहां वणिक् की मृत्यु हो गयी। पुत्र और सम्पत्ति के लिए दोनों में विवाद हुआ। न्याय के लिए दोनों राजकुल में पहुंचीं पर निपटारा नहीं हुआ। तीर्थंकर सुमतिनाथ की मां सुमंगला देवी ने कहा—‘इस समस्या का समाधान मैं करूंगी।’ रानी ने दोनों स्त्रियों को बुलाकर कहा—‘कुछ समय पश्चात् मेरे कोख से एक पुत्र

१. आबनि. ५८८/१५, आबचू. १ पृ. ५५१, हाटी. १ पृ. २८१, मटी. प. ५२२।

२. आबनि. ५८८/१५, आबचू. १ पृ. ५५१, हाटी. १ पृ. २८१, २८२, मटी. प. ५२२।

उत्पन्न होगा। कुछ बड़ा होने पर वह इस अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर विवाद को समाहित करेगा, तब तक तुम दोनों आराम से खाओ-पीओ और बच्चे का पालन-पोषण करो। इस निर्णय को सुनकर बन्ध्या प्रसन्न हो गयी। उसने सोचा कि इतना लम्बा समय मिल गया। आगे जो होगा, देखा जाएगा। उसने रानी के निर्णय को स्वीकार कर लिया। पुत्र की मूल माता उदास हो गयी। रानी सुमंगला ने उसकी उदासी से जान लिया कि यही इसकी सच्ची माता है। उसने निर्णय दिया कि यह गृहस्वामिनी होगी और पुत्र भी इसके साथ रहेगा।^१

१७८. इच्छा

एक वणिक् ब्याज पर दूसरों को रुपये देता था। अचानक उसका देहान्त हो गया। उसकी पत्नी ब्याज पर दिए रुपये वसूल नहीं कर पा रही थी। उसने अपने पति के एक मित्र से कहा—‘तुम मेरे रुपये वसूल करवा दो।’ उसने कहा—‘यदि तुम मुझे उसका कुछ हिस्सा दो तो मैं सहयोग कर सकता हूँ।’ वह बोली—‘तुम जो चाहो, वह हिस्सा मुझे दे देना।’ उसने प्रयत्न किया और सारे रुपये वसूल कर लिए। उसमें से उसने सेठानी को थोड़ा हिस्सा देना चाहा। उसने लेने से इन्कार कर दिया। दोनों में विवाद हो गया। न्यायाधीश के पास विवाद पहुंचा। न्यायाधीश ने सारा धन मंगाकर उसके दो पुंज कर दिए—‘एक छोटा और एक बड़ा।’ वणिक् को पूछा—‘तुम कौनसा पुंज लेना चाहते हो?’ उसने कहा—‘बड़ा पुंज क्योंकि सेठानी ने मुझे कहा था कि तुम जो चाहो वह मुझे दे देना।’ न्यायाधीश बोला—‘इस शर्त के अनुसार तुमने बड़ा ढेर चाहा है, इसलिए यह सेठानी को दो और तुम छोटा ढेर लो क्योंकि तुम्हारी शर्त यही है।’^२

१७९. शतसहस्र

एक व्यक्ति संन्यास से परिभ्रष्ट होकर इधर-उधर घूमता था। उसके पास लाख रुपयों के मूल्य वाला एक स्वर्ण पात्र था। उसने यह घोषणा करवाई कि जो कोई मुझे अपूर्व और अश्रुतपूर्व बात सुनायेगा, उसे मैं यह स्वर्णपात्र दे दूंगा। उसकी यह विशेषता थी कि वह एक बार सुनकर बात याद रख लेता था इसलिए कोई उसे जीत नहीं सकता था। उसकी घोषणा सुनकर अनेक व्यक्ति उसके पास आए पर उसने अपनी स्मृति के आधार पर सबको परास्त कर दिया।

एक सिद्धपुत्र ने उसकी घोषणा सुनी। वह चुनौती देकर अपूर्व बात सुनाने के लिए उपस्थित हुआ। उसने कहा—

तुज्झ पिया मह पिउणो, धारेइ अणूणगं सयसहस्सं।

जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह न सुयं खोरयं देहि॥

अर्थात् तुम्हारे पिता ने मेरे पिता से एक लाख रुपए लिए थे। यह बात तुम्हें याद हो तो लाख रुपए दो अन्यथा तुम्हारा यह स्वर्णपात्र दो। परिव्राजक परास्त हो गया और प्रतिज्ञा के अनुसार उसने यह स्वर्णपात्र उसको दे दिया।^३

१. आबनि. ५८८/१५, आवचू. १ पृ. ५५१, हाटी. १ पृ. २८२, मटी. प. ५२२, ५२३।

२. आबनि. ५८८/१५, आवचू. १ पृ. ५५२, हाटी. १ पृ. २८२, मटी. प. ५२३।

३. आबनि. ५८८/१५, आवचू. १ पृ. ५५२, हाटी. १ पृ. २८२, मटी. प. ५२३।

वैनयिकी बुद्धि के दृष्टान्त

१८०. निमित्त

एक सिद्धपुत्र था। उसने अपने दो शिष्यों को निमित्तशास्त्र का अध्ययन करवाया। दोनों शिष्यों में एक गुरु के प्रति अत्यंत विनीत था। विमर्शपूर्वक गुरु के पास अध्ययन करने से उसकी प्रज्ञा प्रकर्ष को प्राप्त हो गयी। दूसरा शिष्य अविनीत था। उसने केवल ग्रंथों का अध्ययन किया, उसका चिंतन नहीं किया अतः उसकी प्रज्ञा का विकास नहीं हुआ।

एक बार तृण, काष्ठ आदि लाने के लिए वे समीपवर्ती गांव में गए। रास्ते में उन्होंने बड़े-बड़े पदचिह्नों को देखा। अविनीत शिष्य तत्काल बोला—‘ये हाथी के चिह्न हैं।’ विनीत शिष्य ने चिंतनपूर्वक उत्तर दिया—‘ये हाथी के नहीं, हथिनी के चिह्न हैं और वह बाईं आंख से कानी है। हथिनी पर लाल वस्त्र पहने रानी बैठी है और वह गर्भवती है। शीघ्र ही वह पुत्र का प्रसव करेगी।’ नदी के किनारे जाने पर पता चला कि विनीत शिष्य की बात सही थी। अविनीत शिष्य ने पूछा—‘तुम्हें ये सारी बातें कैसे ज्ञात हुईं?’ उसने कहा—‘प्रस्रवण भूमि को देखकर मैंने जाना कि ये पैर हथिनी के हैं। दक्षिण पार्श्व की लताएं एवं तृण खाए हुए थे, इस आधार पर मैंने जाना कि हथिनी बांयी आंख से कानी है। हथिनी पर आरूढ़ व्यक्ति ने एक स्थान पर उतरकर प्रस्रवण किया उसके आधार पर मैंने जाना कि वह स्त्री है। हथिनी पर कोई सामान्य व्यक्ति आरूढ़ नहीं हो सकता, इसके आधार पर मैंने निश्चय किया कि वह रानी होनी चाहिए। वृक्ष पर लाल वस्त्र की किनारी का हिस्सा देखकर मैंने अनुमान किया कि वह सधवा स्त्री होनी चाहिए। प्रस्रवण करके जब वह उठी तो भूमि पर हाथ के सहारे से उठी, इस आधार पर मैंने जाना कि वह गर्भवती थी। उसका दाहिना पैर भारी था, इससे ज्ञात हुआ कि शीघ्र ही वह पुत्र को जन्म देगी।

इसके बाद दोनों मित्र नदी के तट पर पहुंचे। एक वृद्धा पानी से भरा घट सिर पर लेकर उधर आई। दोनों को आकृति से विद्वान् जानकर वह उनके पास आकर बोली—‘मेरा पुत्र देशान्तर गया हुआ है, वह वापिस कब आएगा?’ प्रश्न पूछते ही उसके सिर पर रखा हुआ घड़ा गिरकर फूट गया। अविमृश्यकारी शिष्य तत्काल बोला—‘तेरा पुत्र मर गया।’ विमृश्यकारी शिष्य बोला—‘ऐसा मत कहो। बुढ़िया मां! तुम घर जाओ, तुम्हारा पुत्र घर पहुंच गया है, वह तुम्हें मिल जाएगा।’ बुढ़िया उसको आशीर्वाद देती हुई घर पहुंची। बुढ़िया ने देखा कि पुत्र पहले ही घर आया हुआ था। वह कुछ रुपए एवं वस्त्र-युगल लेकर विनीत शिष्य के पास आई और उसका सत्कार-सम्मान करके बोली—‘तुम्हारा कथन सत्य हुआ, मेरा बेटा घर पर आ गया है।’ बुढ़िया ने कहा—‘तुम दोनों की बात में इतने अंतर का कारण क्या है?’ अविनीत शिष्य बोला—‘घड़े फूटने के आधार पर मैंने कहा कि तुम्हारा पुत्र मर गया।’ विनीत शिष्य बोला—‘जो भूमि से उत्पन्न हुआ था, वह भूमि में मिल गया, इस आधार पर मैंने जाना कि तुम्हारा पुत्र तुम्हें मिल जाएगा।’

कार्य सम्पन्न कर दोनों शिष्य गुरु के पास आए। गुरु के दर्शन करते ही विमृश्यकारी शिष्य ने सिर झुकाकर बहुमानपूर्वक गद्गद हृदय से गुरु को प्रणाम किया लेकिन दूसरा शिष्य ऐसे ही खड़ा रहा। उसने गुरु के चरणों में प्रणिपात नहीं किया।

गुरु ने पूछा—‘आज तुम प्रणाम क्यों नहीं कर रहे हो?’

अविनीत शिष्य बोला—‘आपने मुझे अच्छी तरह ज्ञान नहीं दिया। इसका सारा ज्ञान सत्य निकला और मेरा असत्य निकला।’ उसने गुरु को सारी बात बताई।

गुरु ने अविनीत शिष्य से कहा—‘इसमें मेरा दोष नहीं है। तुमने विनयपूर्वक विद्या ग्रहण नहीं की तथा किसी भी तथ्य पर विमर्श नहीं किया इसलिए तुम्हारी विद्या फलीभूत नहीं हुई। मैं तो केवल शास्त्र का बोध कराता हूँ पर विमर्श और परिणमन अपनी-अपनी बुद्धि के आधार पर होता है।’

१८१. अर्थशास्त्र^१ (राजनीति)

नंदवंश में नंद राजा का शासन चल रहा था। उसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। एक बार उसने अपने मंत्री कल्पक को किसी अपराध के कारण कुंए में डालवा दिया। उसकी मृत्यु की बात सुनकर शत्रु राजाओं ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। नंद राजा ने उसे तत्काल कुंए से निकाला। वह नौका पर आरुढ़ होकर शत्रु राजा के मंत्रियों के पास संधिवार्ता के लिए गया। उसने उनके सामने इक्षुसमूह के ऊपर और नीचे के भाग को छिन्न कर दिया। फिर बीच में क्या बचेगा यह असम्बद्ध बात हाथ के संकेत से बताकर उनको प्रदक्षिणा देकर लौट आया।

शत्रु राजा के मंत्री कल्पक के इस गूढ़ संकेत को नहीं समझ सके कि तुम्हारा समूल शिरच्छेदन कर आवर्त (कूप) में डाल दूंगा। वे लज्जित होकर राजा के पास जाकर बोले—‘कल्पक अनर्गल प्रलाप करता है। हम उसकी बात नहीं समझ सके।’ राजा ने समझ लिया कि कल्पक जीवित है तो उस राज्य को जीतना शक्य नहीं है।^२

१८२. लेख, गणित

लाट, कर्नाटक, द्रविड़ आदि अठारह देश की लिपियों को जानने वाली बुद्धि वैनयिकी है। एक उपाध्याय राजपुत्रों को पढ़ाता था। राजकुमारों का मन पढ़ाई में नहीं लगता था। वे लाक्षा गोलकों से खेलते रहते थे। उपाध्याय ने अपनी बुद्धि का प्रयोग किया। उसने लाक्षा गोलकों से खेल-खेल में राजकुमारों को अक्षर और अंकों का ज्ञान करवा दिया। इस विधि से उसने राजकुमारों को गणित और लिपि का ज्ञान करवा दिया। यह उपाध्याय की वैनयिकी बुद्धि थी।^३

१८३. कूप-खनन

एक भूजलवेत्ता ने एक व्यक्ति से कहा—‘इतने गहरे में पानी है।’ उसके निर्देशानुसार उस व्यक्ति ने खुदाई की। पत्थर की शिला बीच में आने के कारण पानी नहीं निकला। उसने भूजलवेत्ता से कारण पूछा। वह बोला—‘पास वाली भूमि पर एंडी से प्रहार करो।’ प्रहार के साथ ही आवाज करता हुआ पानी बाहर

१. आवनि. ५८८/१७, आवचू. १ पृ. ५५३, हाटी. १ पृ. २८२, २८३, मटी. प. ५२३, ५२४।

२. यह कथा आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में मिलती है, चूर्णि एवं टीकाओं में केवल संकेत मात्र है।

३. आवनि. ५८८/१७, आवचू. १ पृ. ५५३, हाटी. १ पृ. २८३, मटी. प. ५२४।

४. आवनि. ५८८/१७, आवचू. १ पृ. ५५३, हाटी. १ पृ. २८३, मटी. प. ५२४।

निकल आया। यह भूजलवेत्ता की वैनयिकी बुद्धि का उदाहरण है।^१

१८४. अश्व

अश्ववणिक् द्वारिका में पहुंचे। वहां सभी राजकुमारों ने स्थूलकाय और बड़े अश्व खरीदे। वासुदेव कृष्ण ने एक दुर्बल किन्तु लक्षणयुक्त अश्व खरीदा। वह कार्यक्षम था अतः अनेक अश्वों में मुख्य बन गया।^२

१८५. गर्दभ

एक राजकुमार तरुण अवस्था में राजा बना अतः उसे तरुण अधिक प्रिय थे। उसने अपनी सेना में तरुण लोगों को भरती किया और वृद्ध पुरुषों को छुट्टी दे दी। एक बार वह विजय-यात्रा पर जा रहा था। मार्ग में सघन अटवी आई। राजा और स्कन्धावार के सदस्य प्यास से आकुल-व्याकुल हो गए। पानी प्राप्त करने का उपाय कोई भी तरुण जान नहीं पाया। एक युवक ने राजा से कहा—‘किसी अनुभवी स्थविर की बुद्धि से ही हम इस संकट को पार कर सकते हैं अतः आप किसी वृद्ध पुरुष की खोज करें।’ राजा ने स्थविर पुरुष की खोज की लेकिन वहां कोई स्थविर नहीं मिला। राजा ने पटह से घोषणा करवाई कि कोई वृद्ध पुरुष हो तो सामने आए।

एक पितृभक्त सैनिक प्रच्छन्न रूप से अपने पिता को भी साथ लाया था। तरुण बोला—‘राजन्! यद्यपि आपने वृद्ध लोगों का निषेध किया था लेकिन पितृभक्ति के कारण मैं अपने पिता को साथ लेकर आया हूं।’ राजा ने स्थविर को बुलाया और अटवी में जल-प्राप्ति का उपाय पूछा। वृद्ध बोला—‘राजन्! गर्दभ चरते हुए जिस भूभाग को सूंघे, वहां खोदने पर आपको पानी मिल जाएगा।’ वृद्ध के कथनानुसार पानी मिल गया। सभी व्यक्ति संकट से उबर गए।^३

१८६. लक्षण

पारस देश में एक घोड़ों का व्यापारी रहता था। उसने एक अश्वरक्षक को इस शर्त पर रखा कि नियत अवधि के पश्चात् अश्व-रक्षा के स्वरूप उसे दो मनपसंद अश्व दे दिए जाएंगे। उस अश्वरक्षक पर अश्व स्वामी की पुत्री अनुरक्त हो गई। रक्षक ने उससे पूछा—‘दो अच्छे अश्व कौन से हैं?’ उसने कहा—‘निश्चित सोए हुए घोड़े को यदि तेज कर्कश आवाज में उठाया जाए तो भी जो उत्रस्त न हो, वह उत्तम अश्व है।’ दूसरी बात—‘अश्वों के समक्ष ढोल बजाओ, खर-खर शब्द करो तो भी उन शब्दों से जो अश्व त्रस्त न हो, वह अच्छा अश्व है।’ अश्वरक्षक ने उसी विधि से घोड़ों का परीक्षण किया।

वेतन प्रदान करते समय उसने अश्वस्वामी से कहा—‘मुझे अमुक-अमुक दो घोड़े प्रदान करें। अश्वस्वामी ने कहा—‘इन दो घोड़ों के अतिरिक्त तुम सारे घोड़े ले लो।’ अश्वरक्षक ने अस्वीकार कर दिया। तब अश्वरक्षक ने अपनी पत्नी से कहा—‘इस अश्वरक्षक को अपना गृह-जामाता बना लो। अन्यथा वह दोनों श्रेष्ठ अश्वों को ले जाएगा। पत्नी ऐसा नहीं चाहती थी। व्यापारी ने पत्नी को समझाया कि इन

१. आवनि. ५८८/१७, आवचू. १ पृ. ५५३, हाटी. १ पृ. २८३, मटी. प. ५२४।

२. आवनि. ५८८/१७, आवचू. १ पृ. ५५३, हाटी. १ पृ. २८३, मटी. प. ५२४।

३. आवनि. ५८८/१७, आवचू. १ पृ. ५५३, हाटी. १ पृ. २८३, मटी. प. ५२४।

लक्षण सम्पन्न अश्वों से अन्य अनेक अश्वों को पैदा किया जा सकता है। अश्वस्वामी ने एक दृष्टान्त सुनाते हुए कहा—‘एक वर्धकि था। वह अपने मामा के घर गया। मामा ने अपनी पुत्री की शादी उसके साथ कर दी और उसे घर-जंवाई के रूप में रख लिया। वह कुछ काम नहीं करता था। भार्या द्वारा प्रेरित होने पर प्रतिदिन जंगल जाता पर खाली हाथ लौट आता था। छह महीने बीत गए। एक दिन उसे एक विशिष्ट काठ मिला। उसने उस काठ का एक कुलक (धान्य मापने का साधन) बना दिया। उसने भार्या को वह कुलक दिया और एक लाख रुपए में बेचने को कहा। उस कुलक का गुण बताते हुए उसने कहा कि इस कुलक द्वारा धान्य मापकर दिए जाने पर वह कभी समाप्त नहीं होता। एक सेठ ने उसे अपने पास रखा और स्वर्ण मुद्राओं से डलिया भरकर उस कुलक से लाख मुद्राएं दीं। डलिया वापिस लाख मुद्राओं से भर गयी। सेठ ने अत्यधिक सत्कार और सम्मान करके उसे वापिस भेज दिया। वह अक्षयनिधि वाला हो गया।

इस दृष्टान्त को सुनकर भार्या ने अपने पति की सलाह को स्वीकार कर लिया। अश्वस्वामी ने उस व्यक्ति के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया।^१

१८७. ग्रन्थि (बुद्धि-परीक्षा)

पाटलिपुत्र में मुरुण्ड नामक राजा राज्य करता था। वहां आचार्य पादलिप्त विराज रहे थे। राजा की परीक्षा करने के लिए विदेशी राज्य के कुछ बुद्धिमान् व्यक्तियों ने तीन वस्तुएं भेजीं—१. गूढ सूत्र २. सम-यष्टि और ३. चारों ओर से समान मंजूषा, जिसका मुख दिखाई नहीं दे। उन्होंने कहलवाया कि हम जानना चाहते हैं कि सूत्र का अग्रग्र कहां है? यष्टि का मूल भाग कौनसा है? तथा मंजूषा का द्वार कहां है? राजा ने अनेक व्यक्तियों को वे वस्तुएं दिखाई और उनका समाधान पूछा पर कोई भी रहस्य नहीं बता सका। तब राजा ने पादलिप्त आचार्य को बुलाकर पूछा—‘भगवन्! क्या आप इन प्रश्नों का समाधान जानते हैं?’ आचार्य ने कहा—‘हां, जानता हूं।’

आचार्य ने सूत्र को गरम पानी में डलवाया। उस पर लगा हुआ मोम पिघल गया। सूत्र का अग्र एवं अंत भाग पकड़ में आ गया। आचार्य जानते थे कि लकड़ी का मूल भाग भारी होता है। उन्होंने यष्टि को पानी में डलवाया। उसका गुरु भाग नीचे चला गया, जिससे यष्टि का मूल भाग ज्ञात हो गया।

मंजूषा पर लाख लगाया हुआ था अतः उसको गरम पानी में डाला। लाख पिघलने से मंजूषा का द्वार प्रगट हो गया। तीनों प्रश्नों का समाधान हो गया। मुरुण्ड राजा ने आचार्य को भी कुछ दुर्विज्ञेय कौतुक करने का निवेदन किया। आचार्य ने विदेशी बुद्धिमान् व्यक्तियों की परीक्षा के लिए ऊंट के चर्म का एक थैला बनवाया। उसमें रत्न रखकर उस चर्ममय थैले^२ को सीवनी से सीकर उसको राल के रस से सांध दिया। राजा ने उन व्यक्तियों को कहलवाया कि इस थैले को तोड़े बिना रत्नों को निकाल लें। उन्होंने दूत के साथ थैला भेज दिया। उन व्यक्तियों ने प्रयत्न किया पर वे रत्न नहीं निकाल सके।^३

१. आवर्नि. ५८८/१७, आवचू. १ पृ. ५५३, ५५४, हाटी. १ पृ. २८३, मटी. प. ५२४।

२. आवश्यक चूर्णि, हारिभद्राय टीका एवं नंदी हारिभद्राय टिप्पणकम् में आचार्य ने एक तुम्बा लिया। उसमें एक स्थान पर एक खण्ड को हटाकर तुम्बे को रत्नों से भर दिया और पुनः उस खण्ड को इस रूप में सांधा, जिससे कोई जान न सके राजा ने विदेशी दूतों को कहा कि इसको तोड़े बिना रत्नों को ग्रहण करना है पर वे इसमें सफल नहीं हो सके।

३. आवर्नि. ५८८/१७, आवचू. १ पृ. ५५४, हाटी. १ पृ. २८३, मटी. प. ५२४, ५२५।

१८८. औषध (शतसहस्रवेधी विष)

एक नगर के राजा को यह ज्ञात हुआ कि शत्रु राजा नगर को घेरने के लिए सेना के साथ आ रहा है। राजा ने पानी के सारे साधनों को नष्ट करने के लिए पानी में विष डालने की योजना बनाई। उसने विष-वैद्यों को आमंत्रित किया। एक वैद्य चने जितना विष लेकर आया। यह देख राजा रुष्ट हो गया। वैद्य बोला—‘राजन्! यह शतसहस्रवेधी विष है। इससे लाखों-लाखों प्राणी मारे जा सकते हैं।’ राजा ने पूछा—‘इसका प्रमाण क्या है?’ वैद्य बोला—‘राजन्! कोई वृद्ध हाथी मंगाएं।’ राजा के आदेश से एक अत्यंत क्षीणकाय हाथी लाया गया। विष-वैद्य ने उसकी पूंछ का एक बाल उखाड़ा और उसी बाल से उसमें विष संचरित कर दिया। उस विषमय हाथी में वह विष फैलता हुआ दिखाई दिया और पूरा हाथी विषमय हो गया। वैद्य बोला—‘इस विष से यह हाथी भी विषमय हो गया है। जो व्यक्ति इसे खाएगा, वह भी विषमय हो जाएगा। यह इस विष का शतसहस्रवेधी होने का प्रमाण है।’ राजा ने पुनः पूछा—‘क्या विष-प्रतिकार का भी कोई उपाय है?’ वैद्य बोला—‘हां, है।’ वैद्य ने उसी बाल से वहीं एक औषधि का प्रक्षेप किया। हाथी स्वस्थ होकर चलने लगा। राजा वैद्य की वैनयिकी बुद्धि से प्रसन्न हो गया।^१

१८९. रथिक और गणिका

पाटलिपुत्र नगर में कोशा और उपकोशा नाम की दो गणिकाएं रहती थीं। कोशा गणिका के साथ स्थूलिभद्र रहते थे। कालान्तर में वे विरक्त होकर प्रव्रजित हो गये। उन्होंने कोशा के निवासस्थान पर ही वर्षारत्र बिताया। उस समय कोशा श्राविका बन गई और अब्रह्मचर्य सेवन का प्रत्याख्यान कर लिया। राजनियोग (राजाज्ञा) का उसने अपवाद रखा।

सुलस नामक रथिक ने राजा को सेवा द्वारा प्रसन्न कर लिया। उसने राजा से कोशा गणिका का सहवास मांगा। राजा ने उसे आज्ञा दे दी। रथिक कोशा की चित्रशाला में गया। कोशा उसके समक्ष बार-बार स्थूलिभद्रस्वामी का गुणग्राम करती रही। उसने रथिक को स्वामी के रूप में स्वीकार नहीं किया। रथिक अपना कौशल दिखाने की इच्छा से कोशा को अशोकवाटिका में ले गया। रथिक ने भूमि पर खड़े होकर बाण चलाया और उससे आम्रपिंडी को बींध डाला। फिर बाण चलाते-चलाते वह एक दूसरे बाण को पिछले हिस्से से जोड़ता चला गया। आखिरी बाण हाथ के समीप आ गया। उसको अर्द्धचन्द्र शस्त्र से छिन्न कर आम्रपिंडी को हस्तगत कर लिया। इस कौशल से भी कोशा संतुष्ट नहीं हुई। वह बोली—‘अभ्यास से क्या दुष्कर है? अब तुम मेरा कौशल देखो।’

कोशा ने सर्षप के ढेर पर सूई के अग्रभाग से कणेर के फूलों को पिरोया। फिर सूई के अग्रभाग पर नृत्य किया। रथिक ने उसके कौशल की बहुत प्रशंसा की। कोशा ने समझाते हुए कहा—

न दुष्करं तोडिय अंबलुंबिया, न दुष्करं सरिसवनचियाइं।

तं दुष्करं तं च महाणुभावं, जं सो मुणी पमयवणम्मि वुच्छो ॥

अर्थात् शिक्षित व्यक्ति के लिए आम्रलुम्बी को तोड़ना दुष्कर नहीं है तथा सर्षप राशि पर नृत्य करना भी दुष्कर नहीं है। दुष्कर है मुनि स्थूलिभद्र की महान् शक्ति का प्रयोग, जो प्रमदवन में रहकर निर्लिप्त

१. आवनि. ५८८/१७, आवचू. १ पृ. ५५४, हाटी. १ पृ. २८३, मटी. प. ५२५।

रहा। यह कहकर कोशा ने मुनि स्थूलिभद्र का पूर्व वृत्तान्त सुनाया। कोशा की वैनयिकी बुद्धि से रथिक उपशान्त हो गया और श्रावक बन गया।^१

१९०. गीली साड़ी

एक कलाचार्य ने राजपुत्रों को शिक्षित किया। राजकुमारों ने उसे प्रचुर धन दिया। राजा को यह ज्ञात हुआ। वह धन का लोभी था अतः धन की प्राप्ति के लिए उसने कलाचार्य को मार डालना चाहा। राजपुत्रों को यह बात ज्ञात हो गयी। उन्होंने सोचा—‘कलाचार्य ने हमें विद्या का दान दिया है अतः हमें इनको बचाना चाहिए।’ एक दिन जब वह भोजन करने आया तब स्नान से निवृत्त होकर उसने धोती मांगी। राजपुत्रों ने सूखी धोती के लिए भी यह कहा—‘अहो! यह धोती गीली है, इसलिए नहीं दी जा सकती।’ द्वार के सम्मुख तृण रखकर कहा—‘अहो! यह तृण बहुत लंबा है।’ भोजन से पूर्व क्रौंचपक्षी को प्रदक्षिणा कराई जाती थी। उस दिन बिना प्रदक्षिणा किए उसे उतारा गया।

कलाचार्य इन संकेतों को समझ गए। गीली धोती का संकेत है कि राजा उसके प्रति विरक्त हो गया है। दीर्घतृण के संकेत से कुमारों ने भक्तिपूर्वक मुझे लम्बे रास्ते से जाने की ओर संकेत किया है। क्रौंचपक्षी के संकेत से वे कहना चाहते हैं कि मेरा यहां संहार होने वाला है अतः शीघ्र चला जाऊं। संकेत को समझकर कलाचार्य वहां से चला गया।^२

१९१. नीत्रोदक (नेवे का पानी)

एक वणिक् स्त्री का पति परदेश गया हुआ था। चिरकाल तक वह नहीं लौटा। उसने दासी से अपनी यथार्थ दशा बताते हुए कहा—‘जाओ, किसी सुंदर युवापुरुष को ले आओ।’ दासी गई और एक व्यक्ति को ले आई। नाई से उसके नख कटवाए, स्नान करवाया। रात्रि में वह उसे शयनगृह में ले गई और खाना खिलाया। वह प्यास से आकुल हो रहा था।

उस महिला ने उसे वर्षा से टपकते हुए नेवे^३ का पानी पिला दिया। वह जल त्वक् विष वाले सर्प से संसृष्ट था। पानी पीते ही वह पुरुष मर गया। दासी ने उसे शून्य देवकुल में ले जाकर छोड़ दिया। प्रातःकाल दंडरक्षकों ने उसे देखा। नव संस्कारित नखों को देखकर उन्होंने नापित वर्ग से पूछा—‘इसके नख किसने काटे हैं?’ एक नापित बोला—‘अमुक सेठानी की दासी के कहने पर मैंने काटे हैं।’ पहले दासी ने इंकार कर दिया लेकिन पीटे जाने पर उसने यथार्थ बात बता दी। वणिक् स्त्री से पूछने पर उसने नीत्रोदक पिलाने की बात कही। राजपुरुषों ने नेवे के पानी का परीक्षण किया। उन्होंने छप्पर पर त्वक् विष वाला सर्प देखा। दंडरक्षकों की वैनयिकी बुद्धि से यह खोज संभव हो सकी।^४

१९२. बैल, अश्व और वृक्ष से पतन

किसी गांव में एक हतभाग्य पुरुष रहता था। वह जो कुछ करता, वह विपरीत हो जाता। एक बार

१. आवनि. ५८८/१७, आवचू. १ पृ. ५५४, ५५५, हाटी. १ पृ. २८३, २८४, मटी. प. ५२५।

२. आवनि. ५८८/१८, आवचू. १ पृ. ५५५, हाटी. १ पृ. २८४, मटी. प. ५२५।

३. छप्पर का छोर, जहां से वर्षा का पानी टपकता है।

४. आवनि. ५८८/१८, आवचू. १ पृ. ५५५, हाटी. १ पृ. २८४, मटी. प. ५२५।

मित्र से याचित बैलों से उसने हल चलाया। एक दिन उसने विकाल वेला में बैलों को लाकर उस मित्र के बाड़े में छोड़ दिया। उस समय मित्र खाना खा रहा था। शर्म के कारण वह उसके पास नहीं गया।

‘मित्र ने बैलों को देख लिया है’ यह सोचकर वह अपने घर चला गया। असावधानी के कारण वे दोनों बैल बाड़े से निकलकर कहीं अन्यत्र चले गए। चोरों ने उनका अपहरण कर लिया। मित्र ने अपने हतभाग्य मित्र से बैल मांगे। बैल न देने के कारण वह उसे राजकुल में ले गया।

जब वह मार्ग से जा रहा था तब रास्ते में उसे एक अश्वारोही मिला। घोड़े ने उसे गिरा दिया और भागने लगा। अश्वारोही बोला—‘अश्व भाग रहा है अतः इसको एक डंडा लगाओ।’ हतभाग्य पुरुष ने अश्व के मर्मस्थल पर प्रहार किया। एक ही प्रहार से अश्व मर गया। उसने भी उस हतभाग्य पुरुष को राजकुल में चलने के लिए कहा।

चलते-चलते विकाल-वेला आ गयी अतः वे नगर के बाह्य भाग में ठहर गए। वहां वृक्ष के नीचे अनेक नट सोए हुए थे। हतभाग्य ने सोचा—‘राजकुल में मुझे जीवन भर कारागृह में डाल दिया जाएगा अतः अच्छा यही होगा कि मैं फांसी लगाकर मर जाऊं। वह वृक्ष पर चढ़ा और एक कपड़े को गले में बांधकर लटक गया। वस्त्र जीर्ण था अतः फट गया। हतभाग्य पुरुष नीचे गिरा, वहां नटों का सरदार सो रहा था। उसके भार से नट के सरदार का गला दब गया और वह मर गया। उन्होंने भी उसे बंदी बना लिया।

राजकुल पहुंचकर तीनों ने अपनी-अपनी बात कही। अमात्यकुमार ने जब हतभाग्य पुरुष से पूछा तो उसने कहा—‘ये सभी सत्य कह रहे हैं।’ साथ ही उसने यथार्थ स्थिति भी बता दी। अमात्यकुमार को उस पर दया आ गई। उसने फैसला करते हुए बैल के स्वामी से कहा—‘यह तुम्हें दो बैल देगा पर तुम्हारी दोनों आंखें निकाल लेगा क्योंकि तुमने अपनी आंखों से बाड़े में बैलों को देख लिया था।’ अश्वारोही को बुलाकर अमात्यकुमार ने कहा—‘यह तुम्हें अश्व देगा पर तुम्हारी जीभ काट ली जाएगी क्योंकि तुमने स्वयं अपनी जीभ से इसे अश्व को डंडा मारने को कहा था।’ नटों को बुलाकर कहा—‘यह वृक्ष के नीचे सो जाएगा। तुममें जो मुखिया है, वह वृक्ष पर चढ़कर फांसी का फंदा लगाकर नीचे गिरे।’ अमात्यकुमार का न्याय सुनकर सभी ने उसे मुक्त कर दिया।

कार्मिकी बुद्धि का दृष्टान्त

११३. किसान की कला

एक बार एक चोर ने किसी सेठ के यहां पद्म के आकार की सेंध लगाई। प्रातःकाल लोगों ने चोर के कला-चातुर्य की प्रशंसा की। वह चोर भी लोगों की प्रशंसा सुनने वहां आया। लोगों की प्रशंसा सुनकर एक किसान बोला—‘अध्यास कर लेने पर कुछ भी दुष्कर नहीं होता।’ चोर ने जब यह बात सुनी तो आग-बबूला हो गया। चोर ने लोगों से उसका परिचय पूछा। एक दिन उसको खेत में खड़ा देखकर वह उसके पास आया और बोला—‘मैं तुम्हें अभी अपनी छुरी से मारता हूं।’ किसान ने इसका कारण पूछा तो चोर बोला—‘उस दिन तुमने मेरे द्वारा लगाई गयी सेंध की प्रशंसा नहीं की थी।’ उसकी बात सुनकर किसान

१. आठान. ५८८/१८, आबचू. १ पृ. ५५५, ५५६, हाटी. १ पृ. २८४, मटी. प. ५२५, ५२६

बोला—‘मैंने ठीक ही तो कहा था कि जो जिस विषय का अभ्यास कर लेता है, वह उसमें प्रकर्ष प्राप्त कर लेता है। तुम मेरा कौशल देखो।’ किसान ने भूमि पर एक वस्त्र बिछाया और मुट्ठी में मूंग लेकर बोला—‘यदि तुम कहो तो मैं इन सबको अधोमुख गिरा दूँ, यदि कहो तो ऊर्ध्वमुख या तिरछा गिरा दूँ। चोर के कहने पर उसने मूंगों को अधोमुख गिराया। तस्कर बहुत विस्मित और प्रसन्न हुआ और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसका क्रोध उपशान्त हो गया। पद्माकार सेंध लगाना चोर की तथा मूंग को अधोमुख गिराना किसान की कर्मजा बुद्धि थी।’

पारिणामिकी बुद्धि की कथाएं

१९४. अभयकुमार की बुद्धि

एक बार उज्जयिनी के राजा चंडप्रद्योत की सेना ने राजगृह नगरी को घेर लिया। गुप्तचरों द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर चंडप्रद्योत के आने से पूर्व अभयकुमार ने सेना के पड़ावस्थल पर प्रचुर धन गड़वा दिया। चंडप्रद्योत के आने पर अभयकुमार बोला—‘मैं आपके हित की बात बताना चाहता हूँ क्योंकि मेरे लिए आपमें और पिताजी में कोई अंतर नहीं है।’ चंडप्रद्योत के पूछने पर अभयकुमार बोला—‘पिताजी ने सेनापति सहित आपकी पूरी सेना को रिश्वत देकर अपने वश में कर लिया है। यदि विश्वास न हो तो गड़ा हुआ धन देख लो।’ अभयकुमार ने गड़ा हुआ धन दिखाया। अभयकुमार की बात का विश्वास होने पर भयभीत होकर प्रद्योत थोड़े से सैनिकों के साथ वहां से भाग गया। अभयकुमार ने गड़ा हुआ सारा धन पुनः निकाल लिया। राजा के बिना सेनापति भी सेना सहित पुनः उज्जयिनी लौट गया। यह अभयकुमार की पारिणामिकी बुद्धि थी।

कुछ आचार्य इस कथा को इस रूप में स्वीकार करते हैं—वास्तविक स्थिति का ज्ञान होने पर राजा चंडप्रद्योत अत्यंत कुपित हुआ। उसने घोषणा करवाई कि जो अभयकुमार को पकड़कर लाएगा, उसको बड़ा इनाम दिया जाएगा। एक वेश्या ने यह बात स्वीकार की। वह कपट श्राविका बनकर राजगृह नगरी में गयी। अभयकुमार उसके धार्मिक क्रिया-कलाप से अत्यंत प्रभावित हुआ। एक बार उसने अभयकुमार को अपने यहां भोजन के लिए निमंत्रण दिया। श्राविका समझकर अभयकुमार उसके घर भोजन करने गया। वेश्या ने भोजन में मादक पदार्थ मिला दिए, जिसे खाते ही अभयकुमार मूर्च्छित हो गया। कपटपूर्वक वेश्या अभयकुमार को रथ में चढ़ाकर उज्जयिनी ले गयी और राजा के समक्ष उपस्थित किया।

चंडप्रद्योत बोला—‘तुमने मुझे धोखा दिया इसलिए मैंने भी कपटपूर्वक तुमको पकड़वा कर यहां मंगवा लिया है।’ अभयकुमार ने वरदान मांगा—‘मैं अग्नि में प्रवेश करना चाहता हूँ।’ राजा ने उसे मुक्त कर दिया, तब अभयकुमार बोला—‘जिस प्रकार आप मुझे छलपूर्वक यहां लाए हैं, वैसे ही दिन में चिल्लाते हुए मैं आपको राजगृह नगर के मध्य से ले जाऊंगा।’

अभयकुमार ने राजगृह में जाकर एक दास को पागल का अभिनय सिखा दिया। उसका नाम प्रद्योत रख दिया। अभयकुमार बनिए का रूप बनाकर उज्जयिनी गया। वह सुंदर गणिकाओं एवं दास को भी

१. आवनि. ५८८/२०, आवचू. १ पृ. ५५६, हाटी. १ पृ. २८५, मटी. प. ५२६।

अपने साथ ले गया। वह उज्जयिनी के बाजार में एक मकान किराए पर लेकर रहने लगा। चंडप्रद्योत जब उस मार्ग से आता-जाता तब वे वेश्याएं गवाक्ष में बैठकर हाव-भाव दिखाती थीं। चंडप्रद्योत उनके प्रति अनुरक्त हो गया और अपनी दासी के साथ प्रणय-प्रस्ताव भेजा। एक दो बार अस्वीकार करके तीसरी बार गणिकाओं ने प्रद्योत को अपने घर आने का निमंत्रण दे दिया।

वह दास प्रतिदिन बाजार में पागल का अभिनय करता कि मैं प्रद्योत हूं, मुझे जबरदस्ती पकड़कर ले जाया जा रहा है। आठ दिन तक यही क्रम चलता रहा। निर्धारित दिन प्रद्योत गणिका के यहां आया। चंडप्रद्योत एक पलंग पर लेट गया। इतने में ही अभयकुमार के सैनिकों ने उसे पकड़कर बांध दिया। सैनिक उसको बांधकर मुंह ढंककर बीच बाजार में से लेकर चले। प्रद्योत चिल्ला रहा था—‘मैं राजा प्रद्योत हूं, मुझे जबरदस्ती पकड़कर ले जा रहे हैं अतः मुझे कोई बचाओ। लोग इस चिल्लाहट को सुनने के आदी हो गए थे अतः किसी ने ध्यान नहीं दिया।’ उसे बंदी बनाकर अभयकुमार ने श्रेणिक को सौंप दिया। यह अभयकुमार की पारिणामिकी बुद्धि थी।

१९५. श्रेष्ठी

एक नगर में काष्ठ नामक श्रेष्ठी रहता था। उसकी भार्या का नाम वज्रा था। देवशर्मा नामक ब्राह्मण उसके घर पर प्रतिदिन काम करने आता था। एक बार श्रेष्ठी परदेश चला गया। सेठानी उस देवशर्मा में अनुरक्त हो गई। दोनों का संपर्क बढ़ा। सेठ के घर में तीन पक्षी थे—तोता, मैना और मुर्गा। सेठ उन तीनों को शयनकक्ष में रख कर गया था। वह ब्राह्मण रात्रि में वहां आता था। उसको सेठानी के साथ देखकर मैना ने तोते से कहा—‘पिता से कौन नहीं डरता?’ तोते ने उसे टोकते हुए कहा—‘ऐसा मत कहो। जो मां का पति है, वही हमारा पिता है।’ वह मैना ब्राह्मण की दुष्प्रवृत्ति को सहन नहीं कर सकी और ब्राह्मण पर आक्रुष्ट हो गई। सेठानी ने उसे मार डाला पर तोते को नहीं मारा।

एक बार दो मुनि उस घर में भिक्षा के लिए आए। मुर्गे को देखकर एक साधु ने दिशा का अवलोकन किया और बोला—‘जो इस मुर्गे का सिर खाएगा, वह राजा बनेगा।’ यह कथन उस ब्राह्मण ने सुन लिया। उसने सेठानी से कहा—‘इस मुर्गे को मार कर पकाओ। मैं आज इसका मांस खाऊंगा।’ वह बोली—‘दूसरा मूंगा ले आती हूं। पुत्र की भांति पालित-पोषित इस मुर्गे को नष्ट मत करो।’ वह आग्रह करने लगा तब सेठानी ने उस मुर्गे को मार कर पकाया। वह ब्राह्मण स्नान करने गया। इतने में ही सेठानी का पुत्र पाठशाला से आ गया। मुर्गे का मांस पककर तैयार हो गया था। वह भूख से रोने लगा। वज्रा ने तब मुर्गे के सिर वाला मांस उसे परोस दिया। इतने में ही ब्राह्मण स्नान से निवृत्त होकर आ गया और भोजन करने बैठा। वज्रा ने थाली में मांस परोसा। वह मुर्गे के सिर वाला मांस मांगने लगा। वज्रा बोली—‘वह मांस तो मैंने बच्चे को दे दिया।’ ब्राह्मण रुष्ट हो गया। उसने सोचा, मैंने राजा बनने के लिए मुर्गे को मरवाया था। अब यदि मैं इस बालक का सिर खा लूं तो भी राजा बन जाऊंगा। वज्रा और ब्राह्मण—दोनों ने इस मानसिक संकल्प को पूरा करने का निश्चय कर डाला।

घर की दासी ने उनके चिंतन को जान लिया। वह बालक के साथ वहां से भागकर अन्यत्र चली

१. आवनि. ५८८/२२, आवचू. १ पृ. ५५७, ५५८, हाटी. १ पृ. २८५, २८६, मटी. प. ५२७, ५२८।

गई। वह उस नगर में पहुंची, जहां का राजा निःसंतान था। वह मर गया। दासी उसी बालक के साथ गांव के बाहर बैठ गयी। नगर के मंत्रियों ने अश्व को अभिषिक्त करके छोड़ा। उस बालक के पास आकर वह अश्व हिनहिनाया। बालक की परीक्षा की गई। वह राजा बन गया।

काष्ठ श्रेष्ठी परदेश से घर लौटा। उसने अपने घर को खंडहर-सा देखा। उसने वज्रा से पूछा पर वह मौन रही। तोते को पंजरमुक्त कर उसने घर का हालचाल पूछा। भय के कारण वह कुछ बोल नहीं सका। श्रेष्ठी ने आश्वस्त किया तब तोते ने ब्राह्मण के साथ वज्रा के संबंध की सारी कथा सुनाई। सेठ ने सारी बात जान ली। उसने सोचा, संसार का व्यवहार विचित्र है। मैंने इस वज्रा के लिए इतने कष्ट सहन किए लेकिन इसने इस प्रकार नीचता की है। वह विरक्त होकर प्रव्रजित हो गया।

वज्रा और ब्राह्मण—दोनों वहां से चलकर उसी नगर में पहुंचे, जहां पर वह बालक राजा बना था। मुनि के रूप में काष्ठ श्रेष्ठी भी विहार करते-करते उसी नगर में पहुंचे। वज्रा ने उन्हें पहचान लिया और छलपूर्वक भिक्षा के साथ स्वर्ण भी दे दिया। फिर उसने शोर मचाया कि यह मुनि मेरा सोना लेकर जा रहा है। आरक्षकों ने मुनि को पकड़ कर राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा ने मुनि को शूली की सजा सुनाई। उस धायमाता दासी को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने राजा को वस्तुस्थिति बताते हुए कहा—‘ये आपके पिता हैं।’ राजा ने वज्रा और ब्राह्मण को देश से निर्वासित करने का आदेश दे दिया।

राजा ने पिता को भोग के लिए निमंत्रित किया लेकिन मुनि ने उसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने राजा को श्रावक बना दिया। वर्षावास पूर्ण हो गया। मुनि वहां से विहार कर गए। मुनि का अपयश कैसे हो, यह सोचकर उस ब्राह्मण ने एक वेश्या को नियुक्त किया। उसने कुलटा का रूप धारण किया। वह गर्भवती थी। उसने विहार कर रहे मुनि को पकड़कर यह बात कही कि यह गर्भ तुम्हारा है, अब कहां जा रहे हो? प्रवचन (जैन शासन) की अवहेलना न हो इसलिए मुनि ने लोगों के समक्ष कहा—‘यदि यह गर्भ मेरा हो तो वह योनि से बाहर निकले और यदि यह मेरा न हो तो इसके पेट को फाड़कर निकले।’ इतना कहते ही उस स्त्री का पेट फट गया। वह मर गई। प्रवचन और मुनि की बहुत अधिक प्रभावना हुई।^१

१९६. कुमार

एक राजकुमार को लड्डू खाने का बहुत शौक था। एक बार वह मोदक के भंडार में चला गया। वहां अपनी स्त्रियों के साथ उसने जी भरकर लड्डू खाए। अत्यधिक लड्डू खाने से उसको अजीर्ण रोग हो गया तथा अपान वायु भी दूषित हो गयी।

राजकुमार ने चिंतन किया—‘अहो! यह शरीर कैसा अशुचिमय है। इस प्रकार के सुगंधित और मनोहर धान्य के कण भी शरीर के सम्पर्क से दुर्गन्धयुक्त हो गए। अशुचिमय इस शरीर को धिक्कार है। शरीर के प्रति होने वाले इस मोह को धिक्कार है।’^२

१९७. देवी

पुष्पभद्र नगर में पुष्पसेन राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पुष्पवती था। उसके दो

१. आवनि. ५८८/२२, आवचू. १ पृ. ५५८, ५५९, हाटी. १ पृ. २८६, मटी. प. ५२८।

२. आवनि. ५८८/२२, आवचू. १ पृ. ५५९, हाटी. १ पृ. २८६, मटी. प. ५२८, ५२९।

सन्तानें थीं—पुष्पचूल और पुष्पचूला। दोनों भाई-बहिन परस्पर अनुरक्त हो गए और पति-पत्नी की भांति भोग भोगने लगे। यह देख राजा ने उन दोनों की शादी कर दी। रानी पुष्पवती विरक्त होकर प्रव्रजित हो गई। वह देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुई। उसने सोचा, यदि ये दोनों इसी रूप में मृत्यु को प्राप्त होंगे तो निश्चित ही नरक या तिर्यञ्च में उत्पन्न होंगे। उन्हें दुर्गति से बचाने के लिए देवी ने स्वप्न में उनको नैरयिकों के दृश्य दिखाए। पुष्पचूला ने स्वप्न से भयभीत होकर किसी अन्य दार्शनिकों से नारकों के बारे में पूछा। पर वे इस बारे में कुछ नहीं बता सके। उस समय वहां आचार्य अन्निकापुत्र आए। उन्हें बुलाकर उसने नरक के विषय में पूछा। उन्होंने सूत्र बताते हुए नरक का वर्णन किया। पुष्पचूला बोली—‘क्या आपने भी स्वप्न में नरक देखा है?’ आचार्य बोले—‘सूत्र में हमने ऐसा नरक का वर्णन देखा है।’ देवता ने पुनः स्वप्न में पुष्पचूला को देवलोक के दृश्य दिखाए। उसने आचार्य अन्निकापुत्र से देवलोक की बात कही। आचार्य ने सूत्र से उसके स्वप्न का समर्थन किया। वह विरक्त होकर प्रव्रजित हो गई। थोड़े समय में घातिकर्मों का क्षय कर उसने मोक्ष प्राप्त कर लिया। यह पुष्पवती देवी की पारिणामिकी बुद्धि थी।^१

१९८. उदितोदय

पुरिमताल नगर में उदितोदय राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम श्रीकान्ता था। वे दोनों श्रावक थे। एक बार श्रीकान्ता ने एक परिव्राजिका को वाद में पराजित कर दिया। दासियों ने उसे विडंबित कर वहां से निकाल दिया। उसके मन में राजा और रानी के प्रति प्रद्वेष हो गया। वह प्रतिशोध लेने के लिए वाराणसी नगरी के राजा धर्मरुचि के यहां गई। उसने फलक पर महारानी श्रीकान्ता की प्रतिकृति चित्रित कर राजा को दिखाई। वह उसके प्रति आसक्त हो गया। उसने पुरिमताल नगर में राजा के पास दूत भेजा और श्रीकान्ता की मांग की। उदितोदय राजा ने दूत को प्रतिहत और अपमानित कर नगर से निकाल दिया। महाराजा धर्मरुचि तब पुरिमताल पर आक्रमण करने के लिए ससैन्य आ पहुंचा। उसने नगर को चारों ओर से घेर लिया। महाराजा उदितोदय ने सोचा—‘इतने बड़े जनक्षय से क्या प्रयोजन?’ उसने बेलों के तप द्वारा देव वैश्रमण की आराधना की। देव उपस्थित हुआ। राजा ने अपनी भावना उसके सामने रखी। देव ने राजा की भावना को जानकर राजा सहित पुरिमताल नगर का संहारण कर उसे दूसरे स्थान पर रख दिया। प्रातःकाल नगर को न देख महाराज धर्मरुचि को खाली हाथ वाराणसी लौटना पड़ा। भीषण जनसंहार होने से बच गया। यह उदितोदय राजा की पारिणामिकी बुद्धि थी।^२

१९९. साधु और नंदिषेण

नंदिषेण महाराज श्रेणिक का पुत्र था। उसका अनेक लावण्यवती कन्याओं के साथ विवाह हुआ। एक बार विरक्त होकर वह भगवान् महावीर के पास मुनि बन गया। उसका एक शिष्य संयम को छोड़कर गृहवास में जाने के लिए उत्सुक हो गया। नंदिषेण ने सोचा—‘यदि भगवान् महावीर राजगृह में समवसृत हों तो अस्थिर मुनि रानियों को तथा अन्य अतिशायी वस्तुओं को देखकर स्थिर हो सकता है।’ यह सोचकर नंदिषेण राजगृह गए। भगवान् भी वहां पधार गए। महाराज श्रेणिक अपने अन्तःपुर के साथ भगवान् के दर्शन

१. आवनि. ५८८/२२, आवचू. १ पृ. ५५९, हाटी. १ पृ. २८६, २८७, मटी. प. ५२८, ५२९।

२. आवनि. ५८८/२२, आवचू. १ पृ. ५५९, मटी. प. ५२९, हाटी. १ पृ. २८७।

करने निकला। अन्य कुमार भी अपने-अपने अन्तःपुर के साथ प्रस्थित हुए। नन्दिषेण का अन्तःपुर श्वेत परिधान में था। वह पद्मसरोवर के मध्य हंसिनियों की भांति अत्यंत शोभित हो रहा था। सभी रानियां सुअलंकृत थीं। वे अन्यान्य अन्तःपुर की रानियों की शोभा को हरण कर रहीं थीं। अस्थिरमना मुनि ने उन्हें देखकर सोचा—‘मेरे पूज्य आचार्य नन्दिषेण ने इतना सुंदर अन्तःपुर छोड़ा है। हतभाग्य मैंने तो ऐसा कुछ भी नहीं छोड़ा है फिर मैं भोग के लिए गृहवास में क्यों जाऊं? यह चिंतन कर वह निर्वेद को प्राप्त हुआ और आलोचन-प्रतिक्रमण कर संयम में स्थिर हो गया।’ यह नन्दिषेण और साधु दोनों की पारिणामिकी बुद्धि थी।^१

२००. धनदत्त

धनदत्त सुंसुमा का पिता था। चोर सुंसुमा का अपहरण कर पलायन करता हुआ उसका सिर काटकर ले गया, धड़ को वहीं फेंक दिया। चोर का पीछा करने वाले पिता-पुत्र भूख से व्याकुल हो गए। तब सोचा—‘सुंसुमा के धड़ के मांस को खाकर भूख मिटाएं, अन्यथा बीच में ही मर जायेंगे।’^२ कथा के विस्तार हेतु देखें चिलातक और सुंसुमा कथा सं. ११५ पृ. ४५३, ४५४, ज्ञा. १/१८।

२०१. श्रावक

एक श्रावक के परस्त्रीगमन का प्रत्याख्यान था। संयोगवश वह एक दिन अपनी पत्नी की सखी पर आसक्त हो गया। आग्रहपूर्वक पूछने पर पत्नी को यथार्थ बात का ज्ञान हुआ। उसने सोचा कि यदि ये इस आर्तध्यान अध्यवसाय में मृत्यु को प्राप्त होंगे तो नरक अथवा तिर्यञ्च गति में उत्पन्न होंगे। वह पति को आश्वस्त कर अपनी सखी के वस्त्राभूषणों से सज्जित होकर वहां आई। उसने उसे अपनी पत्नी की सखी समझकर कामनापूर्ति की। प्रातःकाल उसे प्रत्याख्यान की बात याद आई। वह ग्लानि से भर गया। उसमें संवेग जागा। तब पत्नी ने यथार्थ बात बताकर उसे आश्वस्त कर दिया। आचार्य के पास जाकर दोषों की आलोचना करके वह शुद्ध हो गया। यह उसकी पत्नी की पारिणामिकी बुद्धि थी।^३

२०२. (अ) अमात्य

ब्रह्मदत्त को लाक्षागृह में जलाकर मारने का षडयंत्र रचा गया। वरधनु के पिता अमात्य थे। उन्होंने लाक्षागृह बनाने की बात सुनकर सोचा—‘ब्रह्मदत्त कुमार इसमें जलकर मर न जाए, उसकी किसी भी प्रकार से रक्षा करनी चाहिए।’ तब उन्होंने सुरंग खुदवाकर उसे सुरक्षित बाहर निकाल दिया। ब्रह्मदत्त वहां से पलायन कर गया।^४ विस्तार हेतु देखें निर्युक्ति पंचक पर. ६ पृ. ५८३, ५८४।

(ब) अमात्य

एक राजा को अपनी पत्नी से बहुत प्रेम था।^५ एक दिन वह अचानक कालगत हो गई। उसकी मौत से राजा मूढ़ हो गया। वह रानी के वियोग से दुःखी होकर अपने शरीर की सार-संभाल नहीं करता था।

१. आवनि. ५८८/२२, आवचू. १ पृ. ५५९, ५६०, हाटी. १ पृ. २८७, मटी. प. ५२९।

२. आवनि. ५८८/२२, आवचू. १ पृ. ५६०, हाटी. १ पृ. २८७, मटी. प. ५२९।

३. आवनि. ५८८/२२, आवचू. १ पृ. २८७ २८८, हाटी. १ पृ. २८७, मटी. प. ५२९।

४. आवनि. ५८८/२२, आवचू. १ पृ. ५६०, हाटी. १ पृ. २८७, मटी. प. ५२९।

५. कुछ आचार्य अमात्य के अन्तर्गत इस कथा को कहते हैं।

मंत्रियों ने निवेदन किया—‘राजन्! यही संसार की स्थिति है, इसमें आप क्या कर सकते हैं?’ राजा बोला—‘जब तक रानी अपने शरीर की सार-संभाल नहीं करेगी तब तक मैं भी कुछ नहीं करूंगा।’ मंत्रियों ने सोचा—‘राजा के मोह के आगे दूसरा कोई उपाय नहीं है।’

कुछ सोचकर मंत्रियों ने राजा से कहा—‘राजन्! देवी स्वर्ग चली गयी है। आप जो कुछ भेजना चाहें वह वहीं भेज दें। जब आपको देवी की शरीर-स्थिति का संवाद ज्ञात हो जाए तब आप भी अपने शरीर की सार-संभाल कर लेना।’ राजा ने यह बात स्वीकार कर ली। मंत्री ने एक व्यक्ति को वहां भेजने का माया जाल रचा। वह व्यक्ति आकर राजा से बोला—‘देवी ने अपने शरीर की सार-संभाल करके उसे सज्जित कर लिया है।’ इस प्रकार वह प्रतिदिन देवी के संवाद राजा को बताता रहा। समय बीतने लगा। देवी को भेजने के बहाने मोह से राजा उसके कपड़े तथा कटिसूत्र आदि चबाने लगा। एक व्यक्ति ने सोचा—‘मैं भी इन्हें खाऊँ।’ वह कटिसूत्र आदि खाता हुआ राजा के पास गया। राजा ने पूछा—‘तुम कहां से आए हो?’ वह व्यक्ति बोला—‘स्वर्ग से।’ राजा ने पूछा—‘क्या वहां तुमने देवी को देखा?’ वह व्यक्ति बोला—‘देवी ने ही मुझे कटिसूत्र आदि लाने के लिए भेजा है।’ राजा ने उसे कटिसूत्र आदि दिखाए। वह बोला—‘ये रानी की इच्छा के अनुकूल नहीं हैं।’ राजा ने पूछा—‘तुम स्वर्ग कब जाओगे?’ वह व्यक्ति बोला—‘कल जाऊंगा।’ राजा ने कहा—‘कल तुमको सब आभूषण मिल जाएंगे।’ राजा ने मंत्री को कटिसूत्र आदि शीघ्र संपादित करने को कहा। मंत्री ने सोचा—‘हमारी योजना विनष्ट हो गई, इस प्रकार तो यह व्यक्ति सदा राजा को ठगता रहेगा। अब क्या उपाय किया जाए, यह सोचकर वह विषण्ण हो गया। एक मंत्री ने कहा—‘तुम चिंता मत करो मैं समय पर सब ठीक कर दूंगा।’ मंत्री ने कटिसूत्र आदि बनवाकर राजा से पूछा—‘राजन्! यह देवी के पास कैसे जाएगा?’ राजा ने पूछा—‘और दूसरे आदमी कैसे जाते हैं?’ मंत्री ने कहा—‘हम जिनको भेजते हैं वे जल में या अग्नि में प्रवेश करके स्वर्ग पहुंचते हैं। स्वर्ग जाने का और कोई रास्ता नहीं है।’ राजा ने कहा—‘इस व्यक्ति को भी इसी प्रकार स्वर्ग भेजो।’ मंत्रियों ने उस व्यक्ति को वैसे ही जाने का आदेश दिया। यह सुनकर वह दुःखी हो गया। एक वाचाल धूर्त राजा के समक्ष जाकर उपहास करने लगा। धूर्त व्यंग्य से उस व्यक्ति को बोला—‘देवी को कह देना कि राजा का तुम्हारे ऊपर बहुत स्नेह है और भी कभी कोई कार्य हो तो आदेश दे देना। वह अंट-संट बोलने लगा। वह व्यक्ति बोला—‘राजन्! मैं इसके समान धारा-प्रवाह बात करने में असमर्थ हूँ अतः आप इसे भेजें, यह अच्छा रहेगा। राजा ने जब यह बात सुनी तो उस वाचाल धूर्त को भेजने का आदेश दे दिया और पहले वाले को मुक्त कर दिया। उसके पारिवारिक जन दुःखी होकर विलाप करने लगे—‘हा देव! अब हम क्या करेंगे?’ मंत्री ने कहा—‘अपने मुख को वश में करना चाहिए।’ उसको तिरस्कृत करके मंत्री ने उसे मुक्त कर दिया। उसके स्थान पर किसी अनाथ मृतक को जला दिया।’

२०३. क्षपक

एक तपस्वी अपने शिष्य के साथ भिक्षा के लिए घूम रहा था। तपस्वी के पैरों के नीचे आकर एक मेंढकी मर गई। सायं आलोचना के समय तपस्वी ने उसकी आलोचना नहीं की। शिष्य बोला—‘मेंढकी

१. आवनि. ५८८/२२, आवचू. १ पृ. ५६०, ५६१, हाटी. १ पृ. २८७, २८८, मटी. प. ५२९, ५३०।

मरने की आलोचना करें।' क्षपक ने शिष्य की बात पर ध्यान नहीं दिया। शिष्य ने पुनः याद दिलाया। तपस्वी रुष्ट होकर शिष्य को मारने दौड़ा। वह एक खंभे से टकरा कर वहीं मर गया और एक स्थान में श्रामण्य से भ्रष्ट जीवों के कुल में दृष्टिविष सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। सर्प के भव में उसे जातिस्मृति उत्पन्न हो गयी। पूर्वभव को देखकर उसे संबोध प्राप्त हो गया। मेरे से कोई जीव मर न जाए इसलिए वह रात्रि में बाहर निकलता था। एक बार एक सर्प ने राजा के पुत्र को डस लिया, जिससे राजकुमार मर गया। राजा का सर्पों के प्रति प्रद्वेष हो गया। उसने यह आदेश दिया कि जो कोई सांप को मारकर लाएगा, उसे एक दीनार दी जाएगी। एक बार सर्पगवेषकों ने सर्प की रेखाएं देखीं। वे रेखाओं के सहारे सर्प के बिल तक पहुंचे और उस बिल में अनेक औषधियां डालीं। वे बाहर निकलते हुए सर्पों के सिर काटने लगे। उस दृष्टिविष सर्प को जातिस्मृति थी। उसने सोचा—'मेरे द्वारा कोई मारा न जाए, इसलिए वह मुंह से बाहर न निकल कर पूंछ से बाहर निकलने लगा।' जितना जितना भाग बाहर निकलता, वे सपेरे उसे काटते रहे। उन्होंने राजा के समक्ष सारे खंड लाकर रखे।

नागदेव ने राजा को प्रतिबोध दिया और वरदान देते हुए कहा—'तुम्हारे पुत्र होगा।' वह क्षपकसर्प मरकर रानी के गर्भ से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। पुत्र का नाम नागदत्त रखा गया। जब वह पुत्र उत्पन्न हुआ तब एक दिन मुनि को देख उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ और वह प्रव्रजित हो गया।^१ उसे भूख बहुत लगती थी। उसने अभिग्रह धारण कर लिया—'मुझे कुपित नहीं होना है।' वह पर्युषित (बासी) भोजन प्राप्त करने के लिए प्रातःकाल घूमता था। उस आचार्य के गच्छ में चार तपस्वी संत थे—एकमासिक, दोमासिक, तीनमासिक और चारमासिक। एक बार रात्रि में उसे वंदना करने के लिए देव आया। वह इन चारों तपस्वियों को लांघकर उस क्षुल्लक मुनि को वंदना करने लगा। देवता जब जाने लगा तब तपस्वी ने उसका हाथ पकड़ कर कहा—'हे कटपूतने! इस त्रिकालभोजी मुनि को तुम वंदना करते हो। हम महातपस्वियों को वंदना नहीं करते।' उसने कहा—'मैं भावक्षपक को वंदना करता हूं, द्रव्य क्षपक को नहीं। यह कहकर देवता चला गया।'^२

दूसरे दिन वह क्षपक बासी भोजन लेने गया। भोजन लेकर उपाश्रय में आकर अन्य साधुओं को निमंत्रित किया। एक तपस्वी ने उसके पात्र में थूक दिया। वह क्षपक बोला—'क्षमा करें, मैं आपके थूकने के लिए श्लेष्म-पात्र नहीं ला सका।' इसी प्रकार शेष तीनों तपस्वियों ने भी उस पात्र में थूक दिया। वह क्षपक अपना लाया हुआ श्लेष्मयुक्त भोजन करने लगा। उन तपस्वियों ने कहा—'तुम कैसे साधु हो जो प्रभात बेला में ही खाने लगे।' इस बात को सुनकर क्षपक निर्वेद को प्राप्त हुआ। शुभ अध्यवसायों से उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। निकटस्थ देवों ने कैवल्य-महोत्सव किया और उन क्षपकों से कहा—'यह भावक्षपक है। तुम लोग प्रतिदिन रोष करते हो अतः द्रव्य क्षपक हो। यह सुनकर पश्चात्ताप और शुभ अध्यवसाय से उन्हें भी कैवल्य उत्पन्न हो गया। पांचों सिद्ध हो गए। नागदत्त मुनि ने प्रतिकूल परिस्थिति में समभाव रखा, यह उनकी पारिणामिकी बुद्धि थी।'^३

१. टिप्पण में—मटी में सर्प को देखकर उसे जातिस्मृति ज्ञान हुआ।

२. आवनि ५८८/२३, आवचू. १ पृ. ५६१, ५६२, हाटी. १ पृ. २८८, मटी. प. ५३०।

२०४. अमात्य-पुत्र (वरधनु)

वरधनु अमात्यपुत्र था। अनेक प्रयोजनों पर उसने पारिणामिकी बुद्धि से सफलता प्राप्त की। जैसे उसने कुमार ब्रह्मदत्त को मुक्त करवाकर उसका पलायन करवाया आदि।^१

२०५. अमात्यपुत्र^२ की परीक्षा

एक मंत्री-पुत्र कार्पटिक राजकुमार के साथ घूमता था। एक बार उसे एक नैमित्तिक मिला। एक रात वे देवकुलिका में ठहरे हुए थे। वहां एक सियारिन चिल्ला रही थी। कुमार ने नैमित्तिक से पूछा—‘यह क्या कह रही है?’ नैमित्तिक बोला—‘यह कह रही है कि नदी के घाट पर पानी के प्रवाह से आया हुआ पुराना कलेवर पड़ा है। उसके कटिभाग में सौ पादांक (मुद्रा विशेष) बंधे हुए हैं। तुम पादांक ग्रहण कर लो और कलेवर मुझे दे दो। मैं उस ढके हुए कलेवर को प्राप्त नहीं कर सकती। कुमार के मन में कुतूहल जागा। वह उनको वहीं छोड़कर अकेला नदी के घाट पर गया। कुमार पादांक लेकर आ गया। सियारिन पुनः रोने लगी। कुमार ने पुनः नैमित्तिक से इसका कारण पूछा। नैमित्तिक बोला—‘यह व्यर्थ रो रही है।’ राजकुमार ने जब कारण पूछा तो नैमित्तिक बोला—‘यह कह रही है कि तुम्हें सौ पादांक मिल गए और मुझे कलेवर।’ यह सुनकर राजकुमार मौन हो गया।

अमात्यपुत्र ने सोचा—‘मैं इसका पराक्रम देखूँ कि इसने कायरता से पादांक ग्रहण किए हैं अथवा वीरता से? यदि इसने कृपणता से पादांक ग्रहण किए हैं तो इसको राज्य नहीं मिलेगा, यह मेरा निर्णय है। प्रातःकाल अमात्यपुत्र बोला—‘तुम सब जाओ। मैं उदर-शूल से पीड़ित हूँ अतः चल नहीं सकता।’ कुमार बोला—‘तुम्हें यहां छोड़कर जाना उचित नहीं है। किन्तु मुझे यहां कोई जान न ले इसलिए हम दोनों पास के गांव में चलते हैं। राजकुमार ने कुलपुत्र के घर ले जाकर उसे समर्पित कर दिया। पादांक शत देकर उसे पोषण करने का सारा मूल्य चुका दिया। मंत्रीपुत्र ने जान लिया कि इसने पराक्रम से पादांक प्राप्त किए हैं। मुझे कोई विशेष कार्य है इसलिए पेट दर्द होने पर भी तुम्हारे साथ चलता हूँ, ऐसा कहकर वह भी कुमार के साथ चला गया। कुमार को राज्य की प्राप्ति हो गई। राजकुमार ने मंत्री-पुत्र को आजीविका का साधन और भोग-सामग्री दे दी।^३

चाणक्य^४

कथा के लिए देखें निर्युक्तिपंचक परि. ६ कथा सं. २७ पृ. ५३०-५३४।

२०६. स्थूलिभद्र

पिता शकडाल के मारे जाने पर नंद ने स्थूलिभद्र से कहा—‘तुम अमात्य बन जाओ।’ वह अशोकवनिका में जाकर चिंतन करने लगा—‘व्याक्षिप्त व्यक्तियों के लिए भोगों का क्या प्रयोजन? मैंने

१. आवनि ५८८/२३, आवचू. १ पृ. ५६२, हाटी. १ पृ. २८८, मटी. प. ५३० विस्तार हेतु देखें निर्युक्ति पंचक परि. ६ कथा सं. ५५, ५६, पृ. ५८०-९६।

२. कुछ आचार्य अमात्यपुत्र में इस कथा का संकेत करते हैं।

३. आवनि ५८८/२३, आवचू. १ पृ. ५६२, हाटी. १ पृ. २८८, २८९, मटी. प. ५३०, ५३१।

४. आवनि ५८८/२३, आवचू. १ पृ. ५६३-६६, हाटी १ पृ. २८९, २९०, मटी प. ५३१, ५३२।

भोगों का परिणाम देख लिया है।' वह विरक्त होकर प्रव्रजित हो गया। इधर राजा ने अपने पुरुषों से कहा—'देखो, यह कपटपूर्वक कहीं गणिका के घर तो नहीं गया है। स्थूलिभद्र मुनि चला जा रहा था। रास्ते में कुत्ते का सड़ा हुआ शव पड़ा था। मुनि ने दुर्गन्ध को रोकने के लिए अपने नाक पर कपड़ा नहीं दिया। पुरुषों ने आकर राजा को सारी बात कही। राजा ने सोचा—'यह पूर्णतः भोगों से विरक्त हो गया है।' तब उसके छोटे भाई श्रीयक को अमात्य के पद पर स्थापित कर दिया।^१

२०७. सुंदरीनंद

नासिक्य नगर में नंद नाम का वणिक् रहता था। उसकी पत्नी का नाम सुंदरी था। सुंदरी के प्रति उसका बहुत प्रेम था। वह एक क्षण के लिए भी उसे नहीं छोड़ता था अतः लोगों ने उसका नाम सुंदरीनंद रख दिया। उसका भाई प्रव्रजित हो गया था। उसने लोगों से सुना कि नंद सुंदरी में बहुत आसक्त है। आसक्ति के कारण कहीं मेरा भाई नरक में न चला जाए, यह सोचकर वह प्रतिबोध देने हेतु उसके यहां भिक्षा के लिए गया। नंद ने भाई को दान दिया। मुनि ने पात्र अपने भाई के हाथ में देकर कहा—'मेरे साथ चलो।' 'मुनि अब मुझे छोड़ देंगे अब मुझे छोड़ देंगे' ऐसा सोचते-सोचते मुनि उसे उद्यान तक ले गए। लोगों ने नंद के हाथ में पात्र देखकर उसका उपहास करते हुए कहा—'सुंदरी नंद प्रव्रजित हो गया है।' उद्यान में जाने पर साधु ने उसे देशना दी। किन्तु नंद का अपनी पत्नी के प्रति तीव्र अनुराग था अतः मुनि उसे संयम मार्ग पर लाने में समर्थ नहीं हुए। मुनि वैक्रियलब्धि से सम्पन्न थे अतः उन्होंने सोचा—'अन्य कोई उपाय सफल नहीं हो सकता इसे कोई अतिशायी वस्तु दिखाकर प्रलोभन दूंगा।'

मुनि ने मेरु पर्वत की विकुर्वणा की लेकिन पत्नी के वियोग के भय से उसने उसकी इच्छा नहीं की। मुनि ने मर्कटयुगल की विकुर्वणा कर नंद से पूछा—'सुंदरी और वानरयुगल में कौन सुंदर है?' नंद बोला—'भगवन्! मेरु और सर्षप की क्या तुलना?' फिर मुनि ने विद्याधर-युगल की विकुर्वणा कर पूछा—'सुंदरी और विद्याधर-युगल में कौन सुंदर है?' नंद बोला—'दोनों समान हैं।' फिर मुनि ने देव-युगल दिखाकर पूछा—'देवयुगल और सुंदरी इन दोनों में कौन सुंदर है?' वह बोला—'भगवन्! इस देवयुगल के समक्ष तो सुंदरी वानरी जैसी लगती है।' नंद ने पूछा—'यह कैसे प्राप्त की जा सकती है?' तब मुनि बोले—'थोड़ा सा धर्माचरण करने से इसे प्राप्त किया जा सकता है।' उसने धर्म स्वीकार कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। अपने भाई को प्रतिबोध देने के लिए साधु की यह पारिणामिकी बुद्धि थी।^२

२०८. वज्रस्वामी

संघ का अपमान न हो इसलिए बचपन में ही वज्रस्वामी ने मां का अनुवर्तन नहीं किया। उज्जयिनी में देवताओं ने उन्हें वैक्रियलब्धि दी इसलिए पाटलिपुत्र में वैक्रियलब्धि का प्रयोग किया। पुरिका नगरी में प्रवचन की प्रभावना हेतु फूलों का ढेर लेकर आए।^३ विस्तार हेतु देखें कथा सं. पृ. ९४।

१. आवनि ५८८/२३, आवचू. १ पृ. ५६६, हाटी. १ पृ. २९०, २९१, मटी. प. ५३३।

२. आवनि ५८८/२३ आवचू. १ पृ. ५६६, हाटी. १ पृ. २९१, मटी. प. ५३३।

३. आवनि ५८८/२३, आवचू. १ पृ. ५६६, हाटी. १ पृ. २९१, मटी. प. ५३३।

२०९. चरणाहत

एक राजा तरुण अवस्था में था। तरुणों ने उसे भ्रमित करते हुए कहा—‘आप स्थविर कुमारामात्यों को हटा दीजिए। उनके स्थान पर तरुणों को रखिए।’ राजा ने तरुणों की परीक्षा करने के निमित्त पूछा—‘जो मेरे सिर पर पैरों से प्रहार करे तो उसे क्या दंड देना चाहिए?’ तरुणों ने तत्काल कहा—‘उसके तिल जितने छोटे-छोटे टुकड़े करके मरवा देना चाहिए।’ राजा ने वही प्रश्न स्थविरों से पूछा। उन्होंने कहा—‘हम चिन्तन करके आपको उत्तर देंगे।’ वे वहां से चले गए। उन्होंने जाकर चिन्तन किया और राजा के पास आकर बोले—‘राजन्! जो पैरों से राजा के सिर पर प्रहार करे उसका सत्कार-सम्मान करना चाहिए क्योंकि आपके सिर पर रानी के अलावा कौन प्रहार कर सकता है? उत्तर सुनकर राजा प्रसन्न हुआ। यह राजा और स्थविर पुरुषों की पारिणामिकी बुद्धि थी।^१

२१०. आंवला

एक कुम्हार ने किसी व्यक्ति को बनावटी आंवला भेंट किया। वह आकार-प्रकार में आंवले जैसा ही लगता था। स्पर्श के आधार पर व्यक्ति ने जान लिया कि यह कृत्रिम आंवला है। यह उस व्यक्ति की पारिणामिकी बुद्धि थी।^२

२११. मणि

एक सांप के मस्तक पर मणि थी। रात्रि के समय सर्प वृक्ष पर चढ़कर पक्षियों के अंडे खा जाता था। एक बार गृद्ध ने वृक्ष पर चढ़े उस सर्प को पक्षियों के घोंसले में मार डाला। मणि नीचे कूप में गिर गई। उसका पानी मणि के प्रभाव से लाल हो गया। उस मणि को कूप से निकाल लेने पर पानी स्वाभाविक हो गया। एक लड़के को यह ज्ञात हुआ। उसने अपने स्थविर पिता से यह बात कही। स्थविर ने कूप से वह मणि निकाल ली। यह वृद्ध पुरुष की पारिणामिकी बुद्धि थी।^३

२१२. खड्गि

किसी नगर में एक श्रावक का पुत्र यौवन के बल से मदोन्मत्त हो गया। वह धर्माचरण नहीं करता था अतः मर कर गेंडा बना। पक्षियों की पांखों की भांति उसके दोनों पाश्वर्कों में चर्म लटकता था। अटवी में भूले-भटके व्यक्तियों और प्राणियों को वह मार डालता था।

एक बार मुनि उसी मार्ग से जा रहे थे। वह वेग से उनको मारने आया परन्तु मुनियों के तेज से वह उन पर आक्रमण नहीं कर सका। वह चिन्तन करने लगा। उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो गई और उसी समय उसने अनशन ग्रहण कर लिया। मरकर वह देवलोक में गया। वर्तमान भव को सुधारने हेतु गेंडे की यह पारिणामिकी बुद्धि थी।^४

१. आवनि. ५८८/२४, आवचू. १ पृ. ५६६, ५६७, हाटी. १ पृ. २९१, मटी. प. ५३३।

२. आवनि. ५८८/२४, आवचू. १ पृ. ५६७, हाटी. १ पृ. २९१, मटी. प. ५३३।

३. आवनि. ५८८/२४, आवचू. १ पृ. ५६७, हाटी. १ पृ. २९१, मटी. प. ५३३।

४. आवनि. ५८८/२४, आवचू. १ पृ. ५६७, हाटी. १ पृ. २९१, मटी. प. ५३३।

२१३. स्तूप

विशाला नगरी के मध्य में मुनिसुव्रत तीर्थकर का स्तूप था। कूणिक उस नगरी को हस्तगत करना चाहता था परन्तु स्तूप के कारण वह उस पर अधिकार नहीं कर सका। आकाश से देवता ने कूणिक से कहा—‘जब श्रमण कूलबालक^१ मागधिका गणिका को प्राप्त होगा, उसके वशवर्ती होगा, उसके साथ भोग भोगेगा तब अशोकचन्द्र (कूणिक) वैशाली नगरी को ग्रहण कर सकेगा।’

कूणिक कूलबाल मुनि की खोज करने लगा। उसने गणिकाओं को बुलाया और मुनि कूलबाल को लाने की बात कही। एक गणिका बोली—‘मैं ले आऊंगी।’ कपट श्राविका बन कर वह एक सार्थ के साथ उस स्थान (नदी के कूल) पर गई और श्रमण कूलबाल को वंदना की। पूछने पर वह बोली—‘भगवन्! मैं विधवा हो गई। घर से चैत्य वंदन करने निकली हूँ। आपके विषय में सुना इसलिए यहां आ गई।’ उसने मुनि को पारणक में चूर्ण मिश्रित मोदक दिए। इससे मुनि अतिसार रोग से आक्रान्त हो गए। उसने प्रयोग कर मुनि को नीरोग कर दिया। वह प्रतिदिन मुनि का उद्धर्तन करती। इससे मुनि का वित्त श्रामण्य से विलग हो गया। वह उस कपट श्राविका के फंदे में फंस गया। वह उसे विशाला नगरी में ले आई। राजा ने कूलबाल से कहा—‘मेरा वचन सफल करो। ऐसा उपाय करो, जिससे वैशाली पर मेरा अधिकार हो जाए।’ वह विशाला में नैमित्तिक बनकर चला गया। विशाला के लोगों ने पूछा—‘कोणिक हमारी नगरी को घेरकर पड़ाव डाले हुए है, यह उपद्रव कब दूर होगा?’ कूलबाल मुनि ने कहा—‘तुम्हारी नगरी के स्तूप को यदि उखाड़कर फेंक दिया जाए तो उपद्रव दूर हो सकता है।’ स्तूप गिरा दिया गया। नगरी प्रभाव रहित हो गयी। नगरी पर कूणिक का अधिकार हो गया।^२

२१४. तपःसिद्ध

एक गांव में एक ब्राह्मण रहता था। वह दुर्दान्त था, किसी को कुछ नहीं समझता था। उसे वहां से निष्कासित कर दिया। वह घूमता हुआ एक चोरपल्ली में पहुंचा। चोर-सेनापति ने उसे पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया। सेनापति की मृत्यु के पश्चात् वह स्वयं चोरों का सेनापति बन गया। वह निर्दयी था अतः उसका नाम दृढप्रहारी हो गया। एक बार वह अपने चोरों के साथ एक गांव को लूटने गया। वहां एक दरिद्र रहता था। उसके पुत्र-पौत्रों ने खीर खाने की याचना की। खीर पकाई गई। वह दरिद्र स्नान करने गया। इतने में ही चोर उसके घर में घुस गए। एक चोर ने खीर का बर्तन देखा। वह भूखा था इसलिए वह उस पात्र को

१. कूलबाल मुनि की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है—एक आचार्य का एक अविनीत शिष्य था। आचार्य उसको उपालंभ देते थे। वह आचार्य के प्रति शत्रुता रखने लगा। एक बार आचार्य उसके साथ सिद्धशैल की वंदना करने गए। वे शैल से उतर रहे थे तब उस अविनीत शिष्य ने आचार्य को मार डालने के लिए एक शिला लुढ़का दी। आचार्य ने लुढ़कते हुए शिला देखी। उन्होंने दोनों पैर फैला दिए अन्यथा वे मर जाते। उन्होंने शाप देते हुए कहा—‘दुरात्मन्! तुम्हारा विनाश स्त्री से होगा।’ शिष्य ने सोचा—‘आचार्य मिथ्यावादी हों अथवा यह शाप मिथ्या हो’, इस दृष्टि से वह तापसों के आश्रम में रहने लगा। वह नदी के तट पर आतापना लेने लगा। उसके समीप बाले मार्ग से जो सार्थ आता, उनसे वह आहार प्राप्त कर लेता। वह नदी के कूल पर आतापना लेता इसलिए उसके प्रभाव से नदी दूसरी दिशा में बहने लगी इसलिए उसका नाम ‘कूलवारक’ हो गया।

२. आवनि ५८८/२४, आवचू. १ पृ. ५६७, ५६८, हाटी. १ पृ. २९१, २९२, मटी. प. ५३३, ५३४।

लेकर भाग गया। रोते हुए छोटे बच्चे पिता के पास गए। वे बोले—‘खीर का पात्र एक चोर ले भागा। वह दरिद्र उस चोर को मारने के लिए पीछे दौड़ा। उसकी पत्नी ने उसे रोका पर वह नहीं माना। चोर-सेनापति गांव में था। वह वहीं गया। चोर-सेनापति के साथ युद्ध हुआ।’ चोर-सेनापति ने सोचा—‘यह मेरे साथी चोरों का पराभव कर देगा इसलिए सेनापति ने पकड़ कर निर्दयता से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।’ इतने में ही उस दरिद्र की पत्नी वहां पहुंची और बोली—‘अरे निर्दयी! तूने यह क्या कर डाला? सेनापति ने उसे भी मार डाला। वह गर्भवती थी। उसके गर्भ को फाड़ डाला। उस समय उसके मन में दया का अंकुरण हुआ और सोचा—‘मैंने अधर्म किया है।’ ये बालक दरिद्र हैं, ऐसा उसे ज्ञात हुआ। उसमें तीव्रतर वैराग्य उत्पन्न हुआ। वह उपाय सोचने लगा। इतने में ही उसे साधु दृग्गोचर हुए। उसने साधुओं से उपाय पूछा। साधुओं ने धर्म का उपदेश दिया। चोर-सेनापति ने उसे स्वीकार किया। वह मुनि बन गया। अपने कर्मों का विनाश करने के लिए उसने क्षमा का विशेष संकल्प धारण किया और वहीं विहरण करने लगा। उसे देखकर लोग उसकी अवहेलना करते, मारते-पीटते। वह सभी कष्टों को समतापूर्वक सहन करके अत्यंत घोर कष्ट सहन करता। भोजन न मिलने पर भी शांत रहता। उसने महान् निर्जरा कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और सिद्ध हो गया।^१

२१५. नमस्कार मंत्र की फलश्रुति

एक श्रावक का पुत्र धर्म में अनुरक्त नहीं था। श्रावक के कालगत होने पर श्रावक-पुत्र व्यवहारशून्य होकर ऐसे ही घूमता था। एक बार उसके परिजनों के आवासस्थल के निकट एक त्रिदंडी परिव्राजक आकर ठहरा। श्रावकपुत्र उसके साथ मैत्री करने लगा। एक बार उस परिव्राजक ने उससे कहा—‘तुम अनाथ व्यक्ति का निरुपहत शव ले आओ, मैं तुम्हें धनवान बना दूंगा।’ उस लड़के ने शव की खोज की। उसे वैसा शव प्राप्त हो गया। परिव्राजक उस लड़के को यह कहकर श्मशान ले गया कि वहां जाकर कुछ विधि करनी है। लड़का नमस्कार मंत्र जानता था। उसके माता-पिता ने कहा था कि भय लगे तब इसका पाठ करना, यह परम विद्या है। लड़के को शव के सामने बिठाया। मृतक के हाथ में एक तलवार दी गई। परिव्राजक विद्या का पाठ करने लगा। शव वैताल के रूप में उठने लगा। लड़का भयाक्रान्त होकर नमस्कार मंत्र का परावर्तन करने लगा। उठा हुआ वैताल नीचे गिर पड़ा। परिव्राजक पुनः विद्या का परावर्तन करने लगा। शव पुनः उठा। लड़का दृढ़ता से नमस्कार मंत्र का परावर्तन करता रहा। शव पुनः गिर पड़ा। परिव्राजक ने लड़के से पूछा—‘कुछ जानते हो?’ लड़का बोला—‘नहीं।’ परिव्राजक ने पुनः विद्या का जाप प्रारंभ किया। शव पुनः उठा। लड़का नमस्कार मंत्र का परावर्तन कर ही रहा था कि शव पुनः नीचे गिर पड़ा। व्यन्तर देव रूष्ट हो गया। उसने आकर उसी तलवार से परिव्राजक (त्रिदंडी) के दो टुकड़े कर डाले। वह सुवर्णपुरुष हो गया। उसके सारे अंगोपांगो को रात भर पृथक्-पृथक् काट कर, स्वर्ण लेकर वह लड़का धनाढ्य बन गया। सुवर्णपुरुष का यह क्रम है कि रात्रि में उसको जितना काटा जाए, प्रातः वह पुनः उन्हीं अवयवों से युक्त हो जाता है, उसका कभी पूर्ण विनाश नहीं होता। यदि लड़के के पास नमस्कार-मंत्र का बल नहीं होता तो वह उस व्यन्तर देव के द्वारा मारा जाता और सुवर्णपुरुष बनकर परिव्राजक के काम आता।^२

१. आबनि. ५८८/२५, आबचू. १ पृ. ५६८, हाटी. १ पृ. २९२, मटी. प. ५३४।

२. आबनि. ६४५, आबचू. १ पृ. ५८९, हाटी. १ पृ. ३०१, ३०२, मटी. प. ५५४।

२१६. नमस्कार मंत्र से कामनिष्पत्ति

एक श्राविका थी। उसका पति मिथ्यादृष्टि था। वह दूसरी पत्नी लाना चाहता था क्योंकि उससे उसे पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई थी। उसने सोचा—‘प्रथम पत्नी के रहते मुझे दूसरी मिलेगी नहीं अतः इसे कैसे मृत्युधाम पहुंचाया जाए?’ एक दिन एक काले नाग को घड़े में डालकर वह घर ले आया और उसे गुप्त स्थान में रख दिया। भोजन करने के पश्चात् उसने अपनी पत्नी से कहा—‘फूल ले आओ। मैंने उन्हें अमुक घड़े में रखा है।’ वह कमरे में गई। अंधकार के कारण वह नमस्कार मंत्र का पाठ करती हुई आगे बढ़ी। उसने सोचा, यदि अंधकार में मुझे कोई जीव काट खाए तो भी मेरा नमस्कार मंत्र न छूटे। उसने घड़े में हाथ डाला। देवता ने घड़े से सर्प का अपहरण कर उसे एक फूल की माला बना दिया। श्राविका ने माला लाकर अपने पति को दी। उसने संभ्रान्त होकर सोचा, यह और किसी घट से ले आई है। पत्नी को पूछा तो उसने कहा—‘जिस घड़े से आपने लाने के लिए कहा था, उसी से लाई हूं।’ वह घड़े के पास गया। घड़े को देखा तो उसमें से फूलों की गंध आ रही थी। घड़े में सर्प था ही नहीं। वह आश्चर्यचकित रह गया। उसने पत्नी से क्षमायाचना की और उसके पैरों में गिर गया। तत्पश्चात् वह श्राविका घर की स्वामिनी बन गई।^१

२१७. नमस्कार मंत्र से आरोग्य प्राप्ति

एक नगर में हिंसक धंधा करने वाला एक व्यक्ति नदी के तट पर शौचार्थ गया। नदी में उसने एक बिजौरे को तैरते देखा। उसने उसे निकाल कर राजा को उपहृत किया। राजा ने उसे अपने रसोइए को दे दिया। राजा जब भोजन करने आया तक उसके सामने रखा। राजा ने देखा कि वह बिजौरा प्रमाण से अतिरिक्त बृहद् तथा वर्ण और गंध में भी अतिरिक्त था। राजा उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। बिजौरा भेंट करने वाले पर वह तुष्ट हुआ और उसे प्रचुर धन दिया। राजा ने अपने आदमियों से कहा—‘और बिजौरे लेकर आना है।’ लोग पाथेय लेकर नदी के तट से चले। वे एक वनखण्ड में गए। वहां से जो फल लेता, वह मर जाता। उन्होंने आकर राजा को सारी बात कही। राजा बोला—‘कुछ भी हो, वे फल अवश्य लाने हैं। अक्षपातनिका के क्रम से जाएं।’ लोग जाकर फल लाने लगे। एक उस वनखण्ड में जाता। फल तोड़कर वह बाहर फेंक देता। दूसरे लोग वहां से फल ले आते। वनखण्ड में जाने वाला व्यक्ति मर जाता। काल बीतने लगा। इसी क्रम में एक श्रावक की बारी आई। वह वहां गया और उसने सोचा कि कोई श्रामण्य से विराधक होकर यहां व्यंतर देव न बना हो इसलिए उसने नैषेधिकी की और नमस्कार महामंत्र का जाप करता हुआ भीतर गया। वहां का अधिष्ठाता व्यंतर देव संबुद्ध हुआ। उसने वंदना कर श्रावक से कहा—‘मैं फल वहीं लाकर दे दूंगा।’ श्रावक ने जाकर राजा से सारी बात कही। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। श्रावक को यथेष्ट धन देकर राजा ने उसकी पूजा की। इस प्रकार श्रावक को अभिरति और भोग प्राप्त हुए साथ ही जीवन-दान भी मिला। इससे बढ़कर और क्या आरोग्य हो सकता है?^२

२१८. परलोक में नमस्कार मंत्र का फल (चंडपिंगलक)

बंसतपुर नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। वहां एक गणिका श्राविका चंडपिंगलक चोर के

१. आवनि. ६४५, आवचू. १ पृ. ५८९, हाटी. १ पृ. ३०२, मटी. प. ५५४।

२. आवनि. ६४५, आवचू. १ पृ. ५९०, हाटी. १ पृ. ३०२, मटी. प. ५५४, ५५५।

साथ रहती थी। एक बार वह चोर राजप्रासाद में चोरी कर एक हार ले आया। दोनों भयभीत हुए और हार को कहीं छुपा दिया। एक बार उद्यानिका उत्सव आया। सभी गणिकाएं विभूषित होकर उसमें भाग लेने चलीं। उस गणिका ने सोचा, मैं सभी गणिकाओं से श्रेष्ठ बनूं, इस दृष्टि से उसने उस दिन वह हार पहना। जिस रानी का वह हार था, वह भी उस महोत्सव में आई थी। उसने गणिका के गले में पहना हुआ हार पहचान लिया। उसने राजा से कहा। राजा ने पूछा—‘वह गणिका किसके साथ रहती है?’ राजपुरुषों के कहने पर राजा ने चंडपिंगलक चोर का निग्रह कर उसे शूली पर चढ़ा दिया। गणिका ने सोचा, यह मेरे दोष के कारण मारा जा रहा है, इसलिए उसने उस चोर को नमस्कार मंत्र सुनाया और कहा—‘ऐसा निदान करो कि मैं इसी राजा के घर पुत्र रूप में उत्पन्न होऊं।’ उसने प्राण निकलने से पूर्व यह निदान कर डाला। वह पट्टरानी के गर्भ में आया। समय पर महारानी ने पुत्र का प्रसव किया। वह गणिका श्राविका उस बालक की क्रीडनकधात्री बनी। उसने एक दिन चिंतन किया कि गर्भ का काल और मरण का काल एक हो सकता है अतः वह उस बालक को क्रीड़ा कराती हुई कहती—‘चंडपिंगल! रो मत।’ वह रोना बंद कर देता। अपना नाम सुनकर वह संबुद्ध हो गया। वह बड़ा हुआ। राजा के दिवंगत होने पर वह राजा बन गया। कालान्तर में वे दोनों प्रव्रजित हो गए।^१

२१९. जिनदत्त श्रावक एवं हुंडिकयक्ष

मथुरा नगरी में जिनदत्त श्रावक रहता था। वहां हुंडिक नामक चोर नगर में चोरी करता। नगर में उसका आतंक फैला हुआ था। एक बार वह पकड़ा गया। उसे शूली की सजा मिली। एक दिन श्रावक जिनदत्त उधर से निकल रहा था। चोर ने उससे कहा—‘श्रावक जी! तुम अनुकंपक हो, मुझे प्यास लगी है अतः पानी पिलाओ मैं मर रहा हूं।’ श्रावक ने कहा—‘मैं पानी लाता हूं, तब तक तुम नमस्कार महामंत्र का जाप करो। यदि तुम भूल जाओगे तो मैं लाया हुआ पानी भी नहीं पिलाऊंगा।’ चोर उस लालसा से नमस्कार महामंत्र का जाप करने लगा। इतने में ही श्रावक भी पानी लेकर आ गया। चोर ने सोचा, अब मैं पानी पीऊंगा, यह सोचते-सोचते तथा नमस्कार मंत्र का घोष करते-करते उसके प्राण निकल गए। वह यक्ष बना। राजपुरुषों ने आकर श्रावक का यह कहकर निग्रह कर लिया कि यह चोर को भोजन देने वाला है। राजा तक बात पहुंची। राजा ने कहा—‘इस श्रावक को भी शूली पर चढ़ा दो।’ उसे शूली पर चढ़ाने ले जाया जा रहा था। यक्ष ने अवधिज्ञान का प्रयोग किया। उसने श्रावक को देखा और साथ ही साथ अपने शरीर को भी देखा। एक भारी शिला की विकुर्वणा कर नगर के बीच आकाश में आकर वह यक्ष बोला—‘श्रावक को मत ले जाओ। उसे क्षमा करो अन्यथा मैं सभी को चकनाचूर कर डालूंगा।’ श्रावक को मुक्त कर दिया गया। हुंडिकयक्ष का आयतन निर्मित किया गया।^२

२२०. द्रव्य प्रतिक्रमण (कुंभकार)

एक कुंभकार के घर में मुनि ठहरे हुए थे। उनके साथ एक बाल मुनि था। वह कुंभकार के मिट्टी

१. आवनि. ६४५, आवचू. १ पृ. ५९०, ५९१, हाटी. १ पृ. ३०२, ३०३, मटी. प. ५५५।

२. आवनि. ६४५, आवचू. १ पृ. ५९१, हाटी. १ पृ. ३०३, मटी. प. ५५५।

के नवनिर्मित बर्तनों को कंकरों से काना बना रहा था, उनमें छेद कर रहा था। कुंभकार ने सावधान होकर देखा और शैक्ष मुनि से कहा—‘तुम मेरे बर्तनों को खण्डित क्यों कर रहे हो?’ क्षुल्लक मुनि बोला—‘मिच्छामि दुक्कडं।’ पुनः वह बर्तनों को ‘काना’ कर ‘मिच्छामि दुक्कडं’ दोहराने लगा। कुंभकार ने तब क्षुल्लक मुनि का कान मरोड़ा। मुनि बोला—‘मेरे कान में पीड़ा हो रही है।’ कुंभकार ने कहा—‘मिच्छामि दुक्कडं।’ ज्यों-ज्यों मुनि कंकर फेंकता कुंभकार आकर उसका कान मरोड़ कर कहता ‘मिच्छामि दुक्कडं।’ तब क्षुल्लक मुनि बोला—‘अहो, तुम्हारा ‘मिच्छामि दुक्कडं’ बहुत विचित्र है।’ कुंभकार ने कहा—‘मुने! तुम्हारा ‘मिच्छामि दुक्कडं’ भी तो ऐसा ही है। मुनि बर्तनों को फोड़ने से विरत हो गया।’

२२१. भाव प्रतिक्रमण (मृगावती)

भगवान् वर्द्धमान स्वामी कौशाम्बी नगरी में समवसृत हुए। वहां चांद और सूर्य अपने मूल विमानों से भगवान् महावीर को वंदना करने आए। उस समय महाराज उदायन की माता साध्वी मृगावती दिवस मानकर चिरकाल तक वहीं उपासना में बैठी रही। शेष साध्वियां तीर्थकर को वंदना कर अपने उपाश्रय की ओर प्रस्थित हो गईं। चांद-सूर्य भी तीर्थकर को वंदना कर चले गए। उनके जाने के बाद अंधेरा हो गया। साध्वी मृगावती संभ्रान्त हो गईं। वह तत्काल वहां से चली और आर्या चंदना के पास पहुंची। उस समय तक साध्वियों ने प्रतिक्रमण कर लिया था। मृगावती आलोचना करने आर्या चंदना के पास गईं। आर्या चंदना ने कहा—‘आर्य! आज चिरकाल तक वहां कैसे रही? तुम्हारे लिए यह उचित नहीं है। तुम उत्तम कुल में जन्मी हो। तुम्हारा लंबे समय तक वहां एकाकी रहना अच्छा नहीं है।’ वह सद्भाव से ‘मिच्छामि दुक्कडं’ कहती हुई आर्या चंदना के चरणों में लुठ गईं। आर्य चंदना उस समय सोने के लिए अपने संस्तरक पर चली गई थी। उसे गहरी नींद आ गई। मृगावती जब पूर्ण संवेग से आर्या चंदना के पैरों में नत हुई, तभी उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। चंदना प्रसुप्त थी। मृगावती पास में स्थित थी। एक सर्प उसी मार्ग पर आ रहा था। आर्या चंदना का हाथ बिछौने से नीचे लटक रहा था। मृगावती ने सोचा—‘सर्प हाथ पर डंक न लगा दे, इसलिए उसने उस लटकते हुए हाथ को बिछौने पर चढ़ा दिया।’ आर्या चंदना जाग उठी। उसने पूछा—‘यह क्या, अभी तक तुम बैठी हो?’ ‘मिच्छामि दुक्कडं’ निद्रा-प्रमाद से मुझे क्यों नहीं उठाया? मृगावती बोली—‘सर्प आपको डस न ले, इसलिए मैंने आपका हाथ बिछौने पर रखा है।’ आर्या चंदना बोली—‘कहां है सर्प?’ मृगावती ने अंगुलिनिर्देश पूर्वक कहा—‘वह देखो, वहां।’ आर्या चंदना को कुछ भी नहीं दिखाई दिया तब उसने पूछा—‘तुमने कैसे जाना? क्या कोई अतिशायी ज्ञान उत्पन्न हुआ है?’ मृगावती बोली—‘हां।’ चंदना ने फिर पूछा—‘वह अतिशय ज्ञान छाद्यस्थिक है अथवा कैवलिक?’ मृगावती बोली—‘कैवलिक।’ आर्या चंदना उठी और मृगावती के चरणों में गिरकर बोली—‘मिच्छामि दुक्कडं, मैंने केवली की आशातना की है।’ यह भावप्रतिक्रमण है।

चित्रकारसुता^१

२२२. प्रसन्नचन्द्र राजर्षि

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में प्रसन्नचन्द्र राजा राज्य करता था। एक बार वहां भगवान् महावीर समवसृत

१. आवनि. ६७३, आवचू. १ पृ. ६१४, ६१५, हाटी. १ पृ. ३२३, मटी. प. ५८४।

२. आवनि. ६७३, आवचू. १ पृ. ६१५, हाटी. १ पृ. ३२३, ३२४, मटी. प. ५८४।

३. आवनि. ६७४, कथा के लिए देखें निर्युक्तिपंचक परि. ६ कथा सं. ५२ पृ. ५६९-७४।

हुए। राजा प्रवचन सुनने गया। प्रवचन सुनकर वह संवेग को प्राप्त हुआ और भगवान् के पास प्रव्रजित हो गया। दीक्षित होकर वह गीतार्थ बन गया।

एक बार वह जिनकल्प साधना को स्वीकार कर सत्त्व आदि भावनाओं से स्वयं को भावित करने लगा। वह राजगृह के श्मशान में प्रतिमा स्वीकार कर स्थित हो गया। भगवान् महावीर राजगृह में समवसुत हुए। लोग भगवान् को वंदन करने आने-जाने लगे। क्षितिप्रतिष्ठित नगर के दो वणिक् वहां से गुजर रहे थे। मुनि प्रसन्नचन्द्र को देखकर एक वणिक् बोला—‘यह हमारा स्वामी राज्यलक्ष्मी को छोड़कर तपःश्री को प्राप्त हुआ है। अहो! यह धन्य है।’ दूसरा वणिक् तत्काल बोला—‘इसकी कैसी धन्यता? अपने शक्तिहीन बालक को राज्य का भार सौंप कर यह स्वयं दीक्षित हो गया। वह बेचारा राज्य में हिस्सा मांगने वाले दायदों से पीड़ित हो रहा है। नगर का प्रायः विनाश हो गया है। कर्तव्यहीनता से इस राजा ने अनेक लोगों को कष्ट में डाल दिया है इसलिए इसको देखना भी नहीं चाहिए।’ यह सुनकर ध्यानस्थ खड़े मुनि प्रसन्नचन्द्र कुपित हो गए। उन्होंने सोचा—‘मेरे पुत्र का अपकार करने वाला कौन है? निश्चित ही अमुक व्यक्ति होना चाहिए। उससे मुझे क्या? मैं इस अवस्था में भी उसे मार सकता हूँ।’ मुनि मानस-संग्राम में लीन होकर रौद्रध्यान में चले गए। अब हाथी पर चढ़कर हाथी को और घोड़े पर चढ़कर घोड़े को मारने लगे। वे मन ही मन संग्राम करने लगे। उसी समय महाराज श्रेणिक भगवान् को वंदना करने उसी मार्ग से जा रहे थे। उन्होंने भी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को प्रतिमा में स्थित देखा, वह मुनि को वंदना कर आगे बढ़ गए। मुनि ने उस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। श्रेणिक ने सोचा—‘ये मुनि अभी शुक्लध्यान में आरूढ़ हैं। इस अवस्था में कालगत होने वाले की क्या गति होती है, यह मैं भगवान् से पूछूंगा।’ श्रेणिक भगवान् के समवसरण में पहुंचा और वंदना कर भगवान् से पूछा—‘भगवन्! मैंने प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को जिस ध्यानावस्था में वंदना की थी, उस अवस्था में यदि वे कालगत होते हैं तो उनका उपपात कहां होगा?’ भगवान् ने कहा—‘सातवें नरक में।’ तब श्रेणिक ने सोचा—‘यह कैसे?’ मैं भगवान् से पुनः पूछूंगा। इतने में ही प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के मानसिक संग्राम के प्रधाननायक और सहयोगी ने आकर कहा—‘हमारे असि, शक्ति, चक्र, कर्तनी आदि प्रमुख शस्त्रास्त्र समाप्त हो चुके हैं। यह सुनकर राजर्षि ने अपने शिरस्त्राण से शत्रुओं को मारने के लिए ज्योंही सिर पर हाथ रखा, उन्हें होश आया। उन्होंने सोचा—‘अरे! मेरा शिर तो लुंचित है।’ उन्हें परम संवेग की प्राप्ति हुई और वे विशुद्ध परिणामों से आत्मा की निन्दा करने लगे। वे पुनः शुक्ल ध्यान में आरूढ़ हो गए। इतने में ही श्रेणिक ने पुनः भगवान् से पूछा—‘भगवन्! जिस ध्यान में अभी मुनि प्रसन्नचन्द्र आरूढ़ हैं, यदि उसमें उनकी मृत्यु हो जाए तो उनका उपपात कहां होगा?’ भगवान् बोले—‘अभी इस अवस्था में उनकी मृत्यु हो तो वे अनुत्तर विमान देवलोक में उत्पन्न होंगे।’ श्रेणिक ने पूछा—‘भगवन्! पहले आपने अन्यथा प्ररूपणा की अथवा मैंने अन्यथा समझा?’ भगवान् बोले—‘मैंने पहले अन्यथा नहीं कहा और न ही तुमने अन्यथा समझा। श्रेणिक बोला—‘तब इतना अंतर क्यों और कैसे आया?’ तब भगवान् ने श्रेणिक को सारा वृत्तान्त बताया। इतने में ही मुनि प्रसन्नचन्द्र के समीप देवदुन्दुभि जैसा दिव्य शब्द होने लगा। श्रेणिक ने भगवान् से पूछा—‘भगवन्! यह क्या?’ भगवान् बोले—‘विशुद्ध परिणामों में प्रवर्तमान मुनि प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है अतः देवता उनकी महिमा कर रहे हैं।’

आवनि. ६७६, हाटी. १ पृ. ३२५, मटी. प. ५८५, ५८६।

तुलनात्मक संदर्भ

आवनि	अन्य ग्रंथ	आवनि	अन्य ग्रंथ
अ			
३० अंगुलमावलियाणं	नंदी १८/३	६०८ इय सव्वकालतित्ता	औ. १९५/१९, देप्र. ३०४, प. २६७/२०
१९ अक्खर सण्णी सम्मं	नंदी १२७/१	६०६ इय सिद्धाणं सोक्खं	औ. १९५/१७, देप्र. ३०२, प. २६७/१८,
४३७ अज्झवसाण निमित्ते	ठाणं ७/७२	ई	
२३६/३९ अट्ठंगडा रामा	तु. समप्र. २४७/३	५९५/६ ईसीपब्भाराए	देप्र. २८३
४८७/९ अट्ठवीसा दो वास	निभा. ५६१५	१२ ईहा अपोह वीमंसा	नंदी ५४/६
२३६/४० अणिदाणकडा रामा	तु. समप्र. २४७/२	उ	
५८८/२१ अणुमाण-हेतु-दिट्ठंत	नंदी ३८/१०	२ उग्गह ईहाऽवाओ	नंदी ५४/१
११६ अणुयोगो य नियोगो	बृभा. १८७	४ उग्गह एक्कं समयं	नंदी ५४/३
३ अत्थाणं ओगहणम्मि	नंदी ५४/२	१४९ उग्गाणं भोगाणं	समप्र. २२७/२
३६२/३५ अद्धद्धं अहिवइणो	बृभा. १२१४	१२५ उद्देसे निद्देसे	अनुद्वा. ७१३/१
२०३/७ अपराजिय विस्ससेणे	तु. समप्र. २२९/३	५८८/११ उप्पत्तिया वेणइया	नंदी ३८/१
४७७ अपुहत्ते अणुओगो	निभा. ६१८५	५८८/१९ उवओगदिट्ठसारा	नंदी ३८/८
१३६/११ अप्पुव्वनाणगहणे	ज्ञा. १/८/१८/३	४३६/२ उवसंपया उ काले	ठाणं १०/१०२/२, अनुद्वा ४३६/२
३६०/१ अभंभंतर-मज्झ-बहिं	बृभा. ११७८	२०१ उसभस्स तु पारणए	समप्र. २३०/२
५८८/२२ अभए सेट्ठि-कुमारे	नंदी ३८/११	२३६/२४ उसभे सुमित्तविजए	समप्र. २३४/१
१३६/९ अरहंत-सिद्ध-पवयण	ज्ञा. १/८/१८	१५२ उसभो य विणीताए	समप्र. २२५/१
५९५ अलोए पडिहता सिद्धा	उ. ३६/५६, देप्र. २८६ प. २६७/३, औ. १९५/२	ऊ	
५९९ असरीरा जीवघणा	औ. १९५/११, देप्र. २९४, प. २६७/१२	२० ऊससियं नीससियं	नंदी ६०/१
३६२/२१ अस्सायमाइयाओ	बृभा. १२००	४८७/२२ ऊहाए पण्णत्तं	उनि. १७२/१४, निभा. ५६१०
७४ अह सव्वदव्वपरिणाम	नंदी ३३/१	ए	
५६५/८ अहिसरिता पादेहिं	मप्र. ४२९	३६२/१० एतं महिड्डियं पणिवयंति	बृभा. ११८९
आ		३६२/९ एक्केक्कीय दिसाए	बृभा. ११८८
२१ आगमसत्थग्गहणं	नंदी १२७/२	५९५/३ एगा जोयणकोडी	देप्र. २८०
४७ आणत-पाणत कप्पे	देप्र. २३५	५९५/१४ एगा य होति रयणी	प. २६७/८, देप्र. २९१, औ. १९५/७
३६२/४ आयाहिण पुव्वमुहो	बृभा. ११८३	१४७/४ एगा हिरण्णकोडी	आचू. १५/२६/२
५४२ आलस्स-मोहऽवण्णा	उनि. १६३	१४८ एगो भगवं वीरो	समप्र. २२७/१
इ		२३६/३८ एगो य सत्तमाए	समप्र. २४७/१
४३६/१ इच्छा मिच्छा तहक्कारो	ठाणं १०/१०२/१, अनुद्वा २३९/१		

आवनि	अन्य ग्रंथ
३६२/२९ एतं चेव पमाणं	बृभा. १२०८
२०३/८ एते कयंजलिउडा	समप्र. २२९/४
१४७/२ एते देवनिकाया	आचू. १५/२६/६
५४३ एतेहि कारणेहिं	उनि. १६४
ओ	
५९६ ओगाहणाय सिद्धा	प. २६७/९, देप्र. २९२, औ. १९५/८
क	
५९४ कहिं पडिहता सिद्धा	उ. ३६/५५, औ. १९५/१, प. २६७/२, देप्र. २८५
३४ काले चतुण्ह वुड्ढी	नंदी १८/७
३६२/२३ कालेण असंखेण वि	बृभा. १२०२
१२६ किं कतिविहं कस्स कहिं	अनुद्वा. ७१३/२
६०० केवलनाणुवत्ता	औ. १९५/१२, प. २६७/१३, देप्र. २९६
७५ केवलनाणेणऽत्थे	नंदी ३३/२
३६२/७ केवलिणो तिउण जिणं	बृभा. ११८६
ख	
५८८/२३ खमगे अमच्चपुत्ते	नंदी ३८/१२
६४७/१ खेत्तस्स नत्थि करणं	तु. सूनि ९
३६२/३६ खेदविणोदो सीसगुण.....	बृभा. १२१५
ग	
४८४ गंगाओ दोकिरिया	उनि. १६९, ठाणं ७/१४१
३६२/१८ गणहर-आहार अणुत्तरा	बृभा. ११९७
च	
४८७/५ चउदस दो वाससता	निभा. ५६१३
१३५/७ चंदजस-चंदकता	ठाणं ७/६३
५९५/१३ चत्तारि य रयणीओ	औ. १९५/६, देप्र. २९० प. २६७/७,
५८८/२४ चलणाहय-आमंडे	नंदी. ३८/१३
३६२/१ चेइदुम पीढछंदय	बृभा. ११८०
४८७/१ चोइसवासाणि तदा	उनि. १७२/१, निभा. ५६११
४८६ चोइस सोलस वासा	निभा. ५६१८, उनि. १७१
५३५ चोल्लग पासग धण्णे	उनि. १६१
छ	
४८ छट्ठिं हेट्ठिम-मज्झिम	देप्र. २३६

आवनि	अन्य ग्रंथ
४८७/२० छव्वाससताइं नवुत्तराईं	निभा. ५६१७
ज	
११०/२ जइ उवसंतकसाओ	चंप्र. १४५
४८१ जं च महाकप्पसुतं	निभा. ६१९०
५९५/१० जं संठाणं तु इहं	प. २६७/५, देप्र. २८७ औ. १९५/३
३५६/२, जत्थ अपुव्वोसरणं	बृभा. ११७७, ११९५
३६२/१६	
५९७ जत्थ य एगो सिद्धो	औ. १९५/९, देप्र. २९३ प. २६७/१०
५०१ जस्स सामाणिओ अप्पा	अनुद्वा. ७०८/१
६०५ जह नाम कोइ मेच्छो	औ. १९५/१६, देप्र. ३०१ प. २६७/१७
६०७ जह सव्वकामगुणितं	औ. १९५/१८, देप्र. ३०३ प. २६७/१९
५४४ जाणावरण-पहरणे	उनि. १५५
२८ जावइया तिसमयाहारगस्स	नंदी. १८/१
४८७/२ जेड्ढा सुदंसण जमालि	उनि. १७२/२, निभा. ५५९७
३६२/५ जे ते देवेहि कया	बृभा. ११८४
५६५/७ जो तिहि पदेहि सम्मं	मप्र. ४२८
५०२ जो समो सव्वभूतेसु	अनुद्वा. ७०८/२
ण	
९७ णाणं पयासगं सोहओ	चंप्र. ८०
४६८ णेगेहिं माणेहिं	अनुद्वा. ७१५/१
त	
३६२/१५ तप्पुव्विया अरहया	बृभा. ११९४
५९५/१२ तिण्णि सया तेत्तीसा	प. २६७/६, औ. १९५/५, देप्र. २८९
१४७/७ तिण्णेव य कोडिसया	आचू. १५/२६/३, ज्ञा. १/८/१९४
३६२/१४ तित्थपणामं काउं	बृभा. ११९३
३६२/६ तित्थाऽतिसेस संजय	बृभा. ११८५
५६५/२ तो समणो जइ सुमणो	अनुद्वा. ७०८/६
द	
१३६/१० दंसण-विणए आवस्सए	ज्ञा. १/८/१८/२

आवनि	अन्य ग्रंथ
४८७/१७ दसपुरनगरुच्छुधो	उनि. १७२/१०, निभा ५६०७
५९५/११ दीहं वा हस्सं वा	प. २६७/४, देप्र. २८८ औ. १९५/४, उ. ३६/६४
५८९ दीहकालिरयं जं तु	तु. मूला. ५०७
३६२/३१ देवाणुवित्ति भती	बृभा. १२१०
४७८ देविंदवदितेहिं	निभा. ६१८७
ध	
३६२/२२ धम्मोदण रूवं	बृभा. १२०१
५६५/९ धीरो चिलायपुतो	मप्र. ४३१
न	
५६५/३ नत्थि य सि कोइ वेसो	अनुद्वा. ७०८/४
४८७/१० नदि-खेड जणव-उल्लुग	निभा. ५६०१, उनि. १७२/६
२३६ नवमो य महापउमो	समप्र. २३६/२
६०२ न वि अत्थि माणुसाणं	औ. १९५/१३, देप्र. २९९, प. २६७/१४
६०१ नाणम्मि दंसणम्मि	देप्र. २९७
२३६/१२ नाभी जितसत्तु या	समप्र. २२०/१
५१२ नामं ठवणा दविण्	तु. आनि. ४०
६७९ नायम्मि गिण्हियव्वे	अनुद्वा. ७१५/५
६१० निच्छिण्णसव्वदुक्खा	औ. १९५/२१, देप्र. ३०६, प. २६७/२२
५८८/१७ निमित्ते अत्थसत्थे य	नंदी ३८/६
५९५/२ निम्मलदगरयवण्णा	देप्र. २७८
६३१ निव्वाणसाहए जोगे	मूला ५१२
६४ नेरइय-देव-तित्थंकरा	नंदी २२/२, देप्र. २३९
प	
२३६/१ पउमाभ वासुपुज्जा	समप्र. २३६/२
२३६/२५ पउमुत्तरे महाहरि	तु. समप्र. २३४/२
६१५/१ पंचविधं आयां	तु. मूला ५१०
४८७/१६ पंचसता चुलसीता	निभा ५६१९, ५६२१, उनि. १७२
४८७/११ पंचसया चोयाला	निभा. ५६१६
३६२/२० पगडीणं अण्णासु वि	बृभा. ११९९

आवनि	अन्य ग्रंथ
४८७/१९ पच्चक्खाणं सेयं	उनि १७२/१२
४७० पच्चुप्पण्णगाही	अनुद्वा. ७१५/१
४९५ पढमम्मि सव्वजीवा	आनि. १५
३६५ पढमेत्थ इंदभूति	नंदी २०
१३५/३ पढमेत्थ विमलवाहण	ठाणं ७/६२
१००/१ पल्लग-गिरि-सरि-उव्वला	तु. बृभा. ९७
५ पुट्टं सुणेति सइं	नंदी ५४/४
४८७/१२ पुरिमंतरंजि भुयगुह	उनि. १२७/७, निभा. ५६०२
५८८/१२ पुव्वमदिट्ठमस्सुत	नंदी ३८/२
२०३/६ पुस्से पुणव्वसू पुण	तु. समप्र. २२९/२
फ	
५९८ फुसति अणंतो सिद्धे	औ. १९५/१०, प. २६७/११, देप्र. २९५
ब	
३६२/३४ बलिपविसणसमकालं	बृभा. १२१३
४८३ बहुरयजमालिपभवा	उनि १६८, ठाणं ७/१४०
४८२ बहुरय-पदेस-अव्वत्त	निभा. ५५९६, उनि. १६७
६२२ बारसंगो जिणक्खातो	मूला ५११
३६२/११ बितियम्मि होंति तिरिया	बृभा. ११९०
४८७/२३ बोडियसिवभूतीओ	उनि. १७२/१५, निभा ५६२०
भ	
३६२/३० भत्तिविभवाणुरूवं	बृभा. १२०९
२३६/३५ भइ सुभद्दा सुप्पभ	समप्र. २४०/१
५८८/१६ भरनित्थरणसमत्था	नंदी ३८/५
३२ भरहम्मि अट्ठमासो	नंदी १८/५
५८८/१४ भरहंसिल-पणिय-रुक्खे	नंदी ३८/३
३६२/८ भवणवई-जोइसिया	बृभा. ११८७
३६२/३३ भाइय-पुणाणियाणं	बृभा. १२१२
६ भासासमसेढीओ	नंदी. ५४/५
म	
३६६ मंडिय-मोरियपुते	नंदी २१

आवनि	अन्य ग्रंथ
७३ मणपञ्चनानां पुण	नंदी २५/१
३६०/२ मणि-रयण-हेमया वि य	बृभा. ११७९
३६२/१३ मणुए चउमण्णयरं	बृभा. ११९२
२३६/१० मरुदेवि विजय सेणा	समप्र. २२१/१
५८९/१५ महुसित्थ मुहियंके	नंदी ३८/४
५३४ माणुस्स-खेत्त-जाती	उनि. १६०
४७९ माता च रुहसोमा	उनि. १७
२३६/३४ मिगावती उमा चैव	समप्र. २३९/१
४८७/८ मिहिलाए लच्छिघरे	उनि. १७२/५, निभा. ५६००
२२/१ मूयं हुंकारं वा	नंदी १२७/४, बृभा. २१०
४८९ मोत्तूण अतो एक्कं	निभा. ५६२४
४८७/१४ मोरी नउलि बिराली	उनि. १७२/९, निभा. ५६०४
र	
४८७/२१ रहवीरपुरं नगरं	उनि. १७२/१३, निभा. ५६०९
३६२/३७ राओवणीयसीहासणे	बृभा. १२१६
४८७/४ रायगिहे गुणसिलए	उनि. १७२/३, निभा. ५५९८
३६२/३२ राया व रायऽमच्चो	बृभा. १२११
व	
११८ वच्छग गोणी खुज्जा	बृभा. १७१
४७१ वत्थूओ संकमणं	अनुद्वा. ७१५/४
१४७/६ वरवरिया घोसिज्जति	ज्ञा. १/८/२००
४८७/१५ वादे पराजिओ सो	निभा. ५६०६
३६२/२५ वासोदगस्स व जहा	बृभा. १२०४
४८७/१३ विच्छुय सप्पे मूसग	उनि. १७२/८, निभा. ५६०३
३६२/२८ वित्ती उ सुवण्णस्सा	बृभा. १२०७
४८७/७ वीसा दोवाससया	निभा. ५६१४
स	
३६२/३८ संखातीते वि भवे	बृभा. १२१७
३३ संखेज्जम्मि तु काले	नंदी १८/६, देप्र. २३७
४६ सक्कीसाणा पढमं	देप्र. २३४

आवनि	अन्य ग्रंथ
४६९ संगहित-पिंडितत्थं	अनुद्वा. ७१५/२
३६२/१९ संघयण-रूव संठाणं	बृभा. ११९८
१३ संतपयपरूवणया	अनुद्वा. १२१/१
२०० संवच्छरेण भिक्खा	समप्र. २३०/१
१४७/३ संवच्छरेण होही	आचू. १५/२६/१
४९० सत्तेता दिट्ठीओ	निभा. ५६२३
४३४ समयावालिय-मुहुत्ता	अनुद्वा. ४१५/१
३५६/१ समुसरणे केवतिया	बृभा. ११७६
३६२/१२ सक्वं च देसविरतिं	बृभा. ११९१
३६२/२४ सक्वत्थ अविमपत्तं	बृभा. १२०३
२९ सक्वबहुअगणिजीवा	नंदी १८/२
३६२/१७ सक्वसुरा जइ रूवं	बृभा. ११९६
३६२/२७ सक्वाउयं पि सोता	बृभा. १२०६
१५० सक्वे वि एगदूसेण	समप्र. २२६/१
६८० सक्वेसिं पि नयाणं	अनुद्वा. ७१५/६
२०३/९ सक्वेहिं पि जिणेहिं	समप्र. २३०/३
३६२/२ साधारणओसरणे	बृभा. ११८१
३६२/२६ साधारणाऽसवत्ते	बृभा. १२०५
१०७ सामाइयत्थ पढमं	उनि. २८/३२
५०५ सामाइयम्मि तु कते	मूला. ५३३
१४७/१ सारस्सयमाइच्चा	भ. ६/११०, ज्ञा. १/८/२०२
११९ सावगभज्जा सत्तवइए	बृभा. १७२
४८५ सावत्थी उसभपुरं	निभा. ५६२२, ठाणं ७/१४२, उनि. १७०
६०९ सिद्ध ति य बुद्ध ति य	औ. १९५/२०, देप्र. ३०५ प. २६७/२१
६०४ सिद्धस्स सुहो रासी	औ. १९५/१५, देप्र. ३०० प. २६७/१६
५८८/१८ सीया साडी दीहं	नंदी ३८/७
२३६/१३ सुग्गीवे दढरहे विण्हू	समप्र. २२०/२
२३६/११ सुजसा सुव्वया अइरा	समप्र. २३१/२
२२/२ सुत्तथो खलु पढमो	नंदी १२७/५, बृभा. २०९
२३६/२३ सुमंगला जसवई भद्दा	समप्र. २३५/१
१५१ सुमतित्थ निच्चभत्तो	समप्र. सू. २२८/१

	आवनि	अन्य ग्रंथ		आवनि	अन्य ग्रंथ
६०३	सुरगणसुहं समतं	औ. १९५/१४, देप्र. २९८प. २६७/१५	१२४	सेलघण-कुडग-चालणि	बृभा. ३३४, नंदी. १/४४
२२	सुस्सूसति पडिपुच्छति	नंदी १२७/३	५४७/१	सो वाणरजूहवती	मप्र. ५११
३५	सुहुमो य होति कालो	नंदी १८/८		ह	
३६२/३	सूरुदय पच्छिमाए	बृभा. ११८२	३१	हत्थम्मि मुहुत्तंतो	नंदी १८/४
२३६/१४	सूरे सुदंसणे कुंभे	समप्र. २२०/३	५८८/२०	हेरण्णिण करिसए	नंदी ३८/९
२०३/५	सेज्जंस बंधदत्ते	तु. समप्र. २२९/१	२३५	होही सगरो मघवं	समप्र. २३६/१
४८७/६	सेयवि पोलासाढे	उनि. १७२/४			

प्रयुक्त ग्रंथ सूची

ग्रंथ-नाम	लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशन
अणुओगदाराई	वा. प्र. आचार्य तुलसी	प्र. सं. सन् १९९६	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
अनुयोगद्वार (नवसुत्ताणि)	सं. आचार्य महाप्रज्ञ		
	वा. प्र. आचार्य तुलसी	प्र. सं. सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
अनुयोगद्वारचूर्णि	सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ		
	ले. जिनदासगणि	सन् १९२८	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम
अभिधान चिंतामणि	आचार्य हेमचन्द्र	वि. सं. २०३२	जैन साहित्य वर्धक सभा, अहमदाबाद
अमरकोश	पं. अमरसिंह	सन् १९६८	चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी
आचारांग चूर्णि	ले. जिनदासगणि	प्र. सं. सन् १९४१	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम
आचारांग टीका	ले. आचार्य शीलांक	द्वि.सं. सन् १९७८	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
आचारांग निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)	ले. आ. भद्रबाहु सं. समणी कुसुमप्रज्ञा	प्र. सं. १९९९	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
आयारचूला (अंगसुत्ताणि भाग १)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	द्वि.सं. सन् १९९२	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
आयारो	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	वि. सं. २०३१	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
आवश्यक चूर्णि भाग १	जिनदासगणि	प्र. सं. सन् १९२८	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम
आवश्यकटिप्पणकम्	सं. कुमुदविजय		शाह नगीनभाई धेलाभाई जवेरी, बम्बई
आवश्यक निर्युक्ति	ले. आचार्य भद्रबाहु सं. समणी कुसुमप्रज्ञा	प्र. सं. २००१	जैन विश्व भारती संस्थान (राज.)

ग्रंथ-नाम	लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशन
आवश्यक निर्युक्ति दीपिका	मुनि मानविजय	सन् १९३९	श्री विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रंथ माला, सूरत
आवश्यक भाष्य		वि. सं. २०३८	भैरुलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, बम्बई
आवश्यक मलयगिरि टीका	आचार्य मलयगिरि	सन् १९२८	आगमोदय समिति, बम्बई
आवश्यक हारिभद्रीय टीका	आचार्य हरिभद्र	वि. सं. २०३८	भैरुलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, बम्बई
भाग १			
इसिभासियाई	सं. मुनि मनोहर	सन् १९६३	सुधर्मा ज्ञान मंदिर, बम्बई
उत्तराध्ययन	वा. प्र. आचार्य तुलसी	द्वि. सं. सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
(नवसुत्ताणि)	सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ		
उत्तराध्ययन चूर्ण	आचार्य जिनदास	वि. सं. १९६३	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	ले. आचार्य भद्रबाहु	प्र. सं. सन् १९९९	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
(निर्युक्ति पंचक)	सं. समणी कुसुमप्रज्ञा		
उत्तराध्ययन शांत्याचार्य टीका	आचार्य शांतिचन्द्र	वि. सं. १९७२	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई
ओघनिर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु	सन् १९१९	आगमोदय समिति, बम्बई देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत
ओघनिर्युक्ति टीका	द्रोणाचार्य	वही	वही
औपपातिक	वा. प्र. आचार्य तुलसी	सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
(उवंगसुत्ताणि भाग १)	सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ		
कर्मग्रंथ		सन् १९८३	मोतीलाल बनारसीदास
कुवलयमाला	आचार्य उद्योतनसूरि	सन् १९५९	भारतीय विद्या भवन, बम्बई
गणधरवाद	सं. पंडित दलसुखभाई	सन् १९८२	सम्यग् ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर
गरुड़ पुराण	डा. अवधबिहारी लाल	सन् १९६८	कैलाश प्रकाशन, लखनऊ
गीता	श्रीकृष्ण	वि. सं. २०५१	गीता प्रेस, गोरखपुर
गुणस्थान सिद्धान्त का	डा. सागरमल जैन		पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस
उद्भव एवं विकास			

ग्रंथ-नाम	लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशन
गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रंथ	सं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	वि. सं. २०२३	अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् वर्णी भवन, सागर
गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	नेमिचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री	सन् १९२७	जैन पब्लिशिंग हाऊस, लखनऊ
जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति (उवंगसुत्ताणि २)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन १९८८	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
जीतकल्पभाष्य	आचार्य जिनभद्रगणि सं. मुनि पुण्यविजय		बबलचन्द्र केशवलाल मोदी, अहमदाबाद
जीवाजीवाभिगम (उवंगसुत्ताणि १)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्र. सं. सन् १९८७	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
जैन धर्म और दर्शन	डा. मोहनलाल मेहता		पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३	पं. दलसुख मालवणिया डॉ. मोहनलाल मेहता	द्वि. सं. सन् १९८९	पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस
ज्ञाताधर्मकथा (अंगसुत्ताणि भाग ३)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्र. सं. सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
ठाणं	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	वि. सं. २०३३	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
तत्त्वार्थवृत्ति	भट्ट अकलंक	वि. सं. २००९	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि	ले. स्थविर अगस्त्यसिंह सं. मुनि पुण्यविजय	सन् १९७३	प्राकृत ग्रंथ परिषद्, बनारस
दशवैकालिक जिनदास चूर्णि	ले. जिनदासगणि	सन् १९३३	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम
दशवैकालिक निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)	ले. आचार्य भद्रबाहु सं. समणी कुसुमप्रज्ञा	सन् १९९९	जैन विश्व भारती, लाडनू
दशवैकालिक हरिभद्रीया टीका	आचार्य हरिभद्र		देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत
दर्शन और चिंतन, खण्ड २	पं. सुखलाल संघवी	प्र. सं. सन् १९५७	सुखलाल सम्मान समिति गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद

ग्रंथ-नाम	लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशन
दशाश्रुतस्कंध (नवसुत्ताणि)	वा. प्र. आचार्य तुलसी	प्र. सं. सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)	सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ ले. आचार्य भद्रबाहु	प्र. सं. सन् १९९९	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
दसवेआलियं	सं. समणी कुसुमप्रज्ञा	सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
धवला	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ वीरसेनाचार्य	सन् १९४२	सेठ शीतलराय लक्ष्मीचंद्र, अमरावती
नंदी (नवसुत्ताणि)	वा. प्र. आचार्य तुलसी	सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
नंदीसूत्र	सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनिश्री पारसकुमार	तृ. सं. १९८४	अ. भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ
नंदी चूर्णि	सं. मुनि पुण्यविजय	सन् १९६६	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, बनारस
नंदी मलयगिरि टीका	ले. मलयगिरि	सन् १९६६	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, बनारस
नवसुत्ताणि	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
नियमसार	आचार्य कुंदकुंद		मूलचंद किशनदास कापड़िया, सूरत
निशीथ चूर्णि	सं. मुनि कमल	सन् १९८२	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
निशीथ भाष्य	सं. मुनि कमल	सन् १९८२	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
पंचकल्प चूर्णि	-	-	अप्रकाशित
पंचकल्प भाष्य	सं. लाभसागरगणि	वि. सं. २०२८	आगमोद्धार ग्रंथमाला, पारडी, बम्बई
पंच प्रतिक्रमण	पं. सुखलालजी	प्र. सं. १९२१	श्री आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा
पडण्यसुत्ताई भाग १	सं. मुनि पुण्यविजय	प्र. सं. १९८४	श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई
पणवणा	अमृतलाल मोहनलाल भोजक		
(उवंगसुत्ताणि भाग २)	वा. प्र. आचार्य तुलसी	सन् १९८८	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
पद्म पुराण	सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९७७	भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन

ग्रंथ-नाम	लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशन
पिंड निर्युक्ति	आचार्य महाप्रज्ञ	सन १९१८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बंबई
पिंड निर्युक्ति टीका	आचार्य मलयगिरि	सन् १९१८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई
प्रबंध पारिजात	मुनि कल्याणमलजी		देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई
प्राकृत व्याकरण	आचार्य हेमचन्द्र	वि. सं. २०१६	जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर
प्राकृत शब्दानुशासन	ले. त्रिविक्रम देव, सं. पी.एल.वैद्य	सन् १९५४	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर
बृहत्कल्प भाष्य	सं. मुनि पुण्यविजय	सन् १९३६	जैन आत्मानंद सभा, भावनगर
बृहत्कल्पभाष्य पीठिका	सं. मुनि पुण्यविजय	सन् १९३६	जैन आत्मानंद सभा, भावनगर
भगवती (अंगसुत्ताणि भाग२)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	द्वि. सं. १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
भगवती आराधना टीका (विजयोदया टीका)	आचार्य अपराजित सूरि	सन् १९७८	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर
भावसंग्रह		वी. २४५४	शोलापुर सखाराम दोसी
महापुराण		सन् १९७९	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
महाभारत	ले. वेदव्यास	सन् १९६१	भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
मुनि हजारीमल स्मृति ग्रंथ	सं. शोभाचन्द्र 'भारिल्ल'	सन् १९६५	मुनि हजारीमल स्मृति ग्रंथ प्रकाशन समिति, ब्यावर
मूलाचार	आचार्य वट्टकेर	द्वि. सं. १९९२	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन	पं. फूलचन्द्र प्रेमी	सन् १९८७	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
मूलाराधना	आचार्य शिवार्य	सन् १९७८	जैन संस्कृति संरक्षक, शोलापुर
योगशास्त्र	आचार्य हेमचन्द्र		श्री आत्माराम जैन पुस्तक प्रचारक मंडल

ग्रंथ-नाम	लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशन
राजप्रश्नीय टीका	आचार्य मलयगिरि	वि. सं. १९९४	गूर्जर ग्रंथ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद
लीलावई कहा वसुदेवहिंडी	सं. रत्नसागर संघदासगणी सं. मुनि चतुरविजयजी मुनि पुण्यविजयजी	सन् १९९० प्र. सं. १९८९	प्राच्य भारती प्रकाशन, आरा गुजरात साहित्य एकेडमी गांधीनगर
विशेषावश्यक भाष्य	आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण	वी. सं. २४८९	दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद
विशेषावश्यक भाष्य कोट्याचार्य टीका	कोट्याचार्य सं. नथमल टांटिया		श्री ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम
विशेषावश्यक भाष्य मलधारी हेमचन्द्र टीका	आचार्य मलधारी हेमचन्द्र	वी. सं. २४८९	दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद
विशेषावश्यक भाष्य मलयगिरि टीका	आचार्य मलयगिरि		देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई
विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ टीका	आचार्य जिनभद्रगणी सं. दलसुखभाई मालवणिया	सन् १९६८	लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर
वीर निर्वाण व्यवहारभाष्य	वा. प्र. आचार्य तुलसी प्र. सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ सं. समणी कुसुमप्रज्ञा	सन् १९९६	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
व्यवहारभाष्य मलयगिरि टीका	सं. मुनि माणेक	सन् १९२८	वकील त्रिकमलाल अगरचन्द
शब्दकल्पद्रुम		सन् १९६९	चौखम्भा संस्कृत ग्रंथमाला, बनारस
षट्खण्डागम	आचार्य पुष्पदंत, भूतबलि सं. हीरालाल जैन	सन् १९४२	सेठ शीतलराय लक्ष्मीचन्द्र, अमरावती
षट्प्राभृत	पं. पन्नालाल सोनी	वि. सं. १९७७	श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई
सन्मति प्रकरण	सं. पं. सुखलालजी		पूजाभाई जैन ग्रंथमाला, अहमदाबाद

ग्रंथ-नाम	लेखक/संपादक	संस्करण	प्रकाशन
समराइच्चकहा	आचार्य हरिभद्र सं. छगनलाल शास्त्री	सन् १९७६	श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर
समयसार	आचार्य कुंदकुंद		अहिंसा मंदिर प्रकाशन, दिल्ली
समवाओ	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८४	जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राज.)
समवायांग प्रकीर्णक (अंगसुत्ताणि भाग १)	वा. प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ		जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राज.)
साहित्य दर्पण	आचार्य विश्वनाथ	सन् १९७७	जानकीनाथ काव्यतीर्थ, कलकत्ता
साहित्य और संस्कृति	देवेन्द्र मुनि	सन् १९७०	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
सामाचारी शतक	समयसुंदरगणि	वि. सं. १९९६	जिनदत्त सूरि ज्ञान भंडार, सूरत
सूत्रकृतांग टीका	आचार्य शीलांक		मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
सूत्रकृतांग निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)	ले. आचार्य भद्रबाहु वा. प्र. आचार्य तुलसी प्र. सं. समणी कुसुमप्रज्ञा	प्र. सं. सन् १९९९	जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राज.)
स्थानांग टीका	अभयदेव सूरि	प्र. सं. सन् १९३७	सेठ भाणेलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद
A History of Indian literature	Maurice winter nitz	Sec. 1993	Motilal Banarsidas
A History of the Canonical literature of the Jainas	Hiralal Rasikdas Kapadia		Hiralal Rasikdas Kapadia
Parisita Parva	Acharya Hemachandra Suri	F. E. 1980	Shreemati gugobai jain turst, Bombay



प्रकाशक :

जैन विश्व भारती संस्थान

लाडनूँ-३४१३०६ (राज.)